कलिकालसर्वज्ञ आचार्यदेवश्री हेमचन्द्रसूरिरचित वीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशान्तर्निहितमर्मद्योतक
न्यायविशारद - न्यायाचार्य - महामहोपाध्यायश्री यशोविजयगणिवररचित
मुनि यशोविजयकृत - जयलतावृत्ति - रमणीयाव्याख्याऽलङ्कृत

स्याद्वादरहस्य

(मध्यम)

(द्वितीय खण्ड)

(दिव्याशिष)

वर्धमानतपोनिधि न्यायविशारद संघहितचिन्तक गच्छाधिपति स्व आचार्यदेवेश
श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

(प्रेरक-प्रोत्साहक)

सिद्धान्तदिवाकर गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय
जयघोषसूरीश्वरजी महाराज

-: प्रकाशक :-

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
३६, कलिकुण्ड सोसायटी,
धोलका
Pin - 387810

-: प्राप्तिस्थान :-

१, प्रकाशक
२, भरतभाइ चतुरदास शाह,
कालुशीपोल, कालुपुर,
अमदावाद
Pin - 380 001



महामहोपाध्यायजी के उद्गार ->

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयोष्विव ।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥
(अध्यात्मोपनिषत् १/६१)

जैसे माता को अपने सब बच्चो के प्रति समान प्यार होता है ठीक वैसे जिस अनेकान्तवाद को सब नयो के प्रति समान दृष्टि होती है उस स्याद्वाद को एक नय मे हीनता की बुद्धि और अन्य नय के प्रति उच्चता की बुद्धि कैसे होगी ? अर्थात् किसी भी नय मे हीनता या उच्चता की बुद्धि स्याद्वाद को नही होती है ।

संशोधक

न्यायादिशास्त्रमर्मज्ञ तपोरत मुनिप्रवरश्री पुण्यरत्नविजयजी महाराज

卐 प्रथम आवृति 卐
- वि.स २०७२
- नकल - ६००

मूल्यः रु १४५-००

कोम्प्युटर्स टाइप सेटीग
श्री पार्श्व कोम्प्युटर्स,
३३, जनपथ सोसायटी, केनाल पर,
घोडासर, अहमदावाद-३८००५०
फोन - 396246

नोध :- यह ग्रथ दार्शनिक अध्ययनशील जैन साधु - साध्वीजी भगवत को भेट रूप मे मिल सकेगा । ज्ञाननिधि से प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण होने से विना मूल्य के गृहस्थ इस पुस्तक को अपनी मालिकी मे नहीं रख सकते ।



वर्धमानतपोनिधि-गच्छाधिपति

प पू आ श्री भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा



सिद्धातदिवाकर गच्छाधिपति

प पू आ श्री जयघोषसूरीश्वरजी महाराजा

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्राज्ञ मुमुक्षुवर्ग के पाणिपद्म मे जयलता (सस्कृत टीका) एव रमणीया (हिन्दी व्याख्या) से सुशोभित स्याद्वादरहस्य (मध्यमपरिमाणवाले) ग्रन्थरत्न का द्वितीय खंड प्रस्तुत करते हुए हम आज अद्वितीय आनद की अनुभूति कर रहे हैं ।

प्रस्तुत द्वितीय खड मे कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज से निर्मित मूलग्रन्थ स्वरूप वीतरागस्तोत्र प्रकरण के अष्टम प्रकाश की १-६-७-८ वी कारिकाओ का महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी गणिवर्यरचित (मध्यम) स्याद्वादरहस्य विवरण एव उसकी जयलता नामक सस्कृत टीका और रमणीया नामक हिन्दी व्याख्या मुद्रित हैं । परिशिष्ट के रूप मे लघुपरिमाणवाला स्याद्वादरहस्य ग्रन्थ भी इस पुस्तकरत्न मे समाविष्ट है । जिस ग्रन्थ की प्रत्येक पक्ति नव्य न्याय की क्लिष्ट पारिभाषिक पदावली से व्याप्त होने से अत्यत गूढ-दुर्ज्ञेय है ऐसे कठिनतम दार्शनिक ग्रन्थ की सस्कृत एव हिन्दी भाषा के माध्यम से रसपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये हम मुनिश्री यशोविजयजी का अभिवादन करते है ।

प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के द्वितीय खड की दोनो व्याख्याओ मे त्रुटि रहने न पाये तदर्थ तर्कादिपरिकर्मितमति तपस्वी मुनिराजश्री **पुण्यरत्नविजयजी** महाराज ने सशोधन के लिये पर्याप्त श्रम किया है । एतदर्थ हम उनके भी ऋणी हैं । मुद्रण आदि कार्य मे कोई भी त्रुटि न रह जाए उसके लिए व्याख्याकार मुनिश्री ने भी प्रुफरिडिंग आदि कार्य मे काफि उद्यम किया है । फिर भी मुद्रण आदि मे छद्मस्थतामूलक कोई क्षति दृष्टिगोचर हो तब उसका परिमार्जन करने के लिये अध्येतावर्ग से हमारी प्रार्थना है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खड के प्रकाशन के बाद अल्प समयावधि मे सर्वांग सुन्दर कम्पोज-सेटिंग-मुद्रण आदि कार्यसहित द्वितीय खड के प्रकाशन मे श्री पार्श्व कोम्प्युटर्स वाले अजयभाई और विमलभाई ने भी अच्छा सक्रिय सौजन्य दिखाया है । एतदर्थ वे भी अवश्य हमारे धन्यवाद के पात्र हैं ।

परमाराध्यपाद वर्धमानतपोनिधि न्यायविशारद सकलसघहितचितक गच्छाधिपति आचार्यदेवेश स्व श्रीमद्विजय **भुवनभानुसूरीश्वरजी** महाराजा की पुनित प्रेरणा से प्रारब्ध हमारी सस्था को आज भी उनकी दिव्य कृपा से ऐसे शास्त्रीय प्रकाशनो का लाभ मिल रहा है । इस बात का हमे गौरव है और आगे भी ऐसे महत्त्वपूर्ण शास्त्र ग्रन्थो के प्रकाशन का लाभ हमारी सस्था को मिलता रहे - ऐसी हम प पू स्व गुरुदेवश्री से याचना करते हैं ।

प्रान्ते, अधिकृत जिज्ञासु मुमुक्षु वाचकवर्ग टीकाद्वयसहित इस ग्रथरत्न का सम्यग् अध्ययन कर के पारमार्थिक विश्वकल्याणकर तत्त्वो के श्रवण-मनन निदिध्यासन से मोक्षमार्ग की ओर प्रगति करे- यही एक शुभेच्छा ।



लि. दिव्यदर्शनट्रस्ट के ट्रस्टी
कुमारपाल वि. शाह
भरतभाई चतुरदास शाह.
मयंकभाई शाह आदि

परमपूज्य सिद्धातदिवाकर गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय जयघोषसूरीश्वरजी म सा की पावन प्रेरणा से प्रस्तुत द्वितीय खड का सपूर्ण आर्थिक सहयोग श्री लालबाग श्वेतांबर मूर्तिपूजक तपगच्छ जैन सघ - मुम्बई-४ ज्ञाननिधि की ओर से प्राप्त हुआ है । एतदर्थ हम उनके ऋणी है और उस सघ के ट्रस्टीओ को हार्दिक धन्यवाद देते है । अस्तु !

प्रास्ताविकम्

ॐ ह्रीं श्री शङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः

मियाँजी जंगल में बिल्ली को छोड़ कर तीन दिन के बाद वापस घर लौटे तब बीबी बिगड़ उठी ।

'हजरत ! इतने दिन कहाँ गये थे ?'

'बेगम साहेबा ! जंगल में बिल्ली को छोड़ने के बाद घर का रास्ता भूल गया था '

'तो फिर यहाँ वापस कैसे लौटे ?'

'अजी, उसी बिल्ली के पीछे पीछे घर आ गया !'

इस प्रसङ्ग में एकान्तवादी मानस का प्रतिबिम्ब दिखता है । अनेकान्तवाद को कुतर्क एवं कुयुक्तियों से एकान्तवाद की सीमा के बाहर निकालने के बाद एकान्तवादी षड्दर्शनी वापस अपने एकान्तवाद के क्षेत्र में प्रवेश पाने की क्षमता खो देते हैं । अपने एकान्तवाद के सिद्धान्त की स्थापना करने के लिये एवं अपनी त्रुटियों दूर करने के लिये स्याद्वाद का ही आश्रय लेना आवश्यक बन जाता है । स्याद्वाद से पराभूत निरपेक्ष एकान्तवाद की प्रतिष्ठा कभी नहीं की जा सकती । अनेकान्तवाद की कुक्षि में रह कर ही सापेक्ष एकान्तवाद का जन्म सुरक्षित है । एकान्तवादी षड्दर्शनों के सिद्धान्त किस तरह अनेकान्तवाद में समाविष्ट है ? इस विषय का सुन्दर समर्थन कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश में किया है । इसी अष्टम प्रकाश में अन्तर्निहित रहस्य के उद्घाटन एवं उसमें अन्तर्गत शास्त्ररस का आस्वाद करने के लिये महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज ने स्याद्वादरहस्य प्रकरण बनाया । नव्य न्याय की शैली में अष्टम प्रकाशस्वरूप बाग को नवपल्लवित करने में न्यायविशारदजी ने कुछ कसर नहीं रखी है - इस बात का भली भाँति परिचय श्रीमद्जी की कृति पर गौर से निगाह करने पर मुज्ञ वाचक महाशयों को अनायास ही मिल जाता है । अष्टम प्रकाश को नव्य न्याय की परिभाषा में संपल्लवित करने के लिये न्यायाचार्यजी के हृदय और दिमाग में इतनी उभार आई कि जिसके फलस्वरूप इसी अष्टम प्रकाश पर जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट परिमाणवाले स्याद्वादरहस्य नाम के तीन प्रकरणरत्न का अनुपम उपहार जिनशासन को मिला । हमारा यह बड़ा सौभाग्य एवं सद्भाग्य है ।

जीव में से शिव बनने की साधना करनेवाले साधकों को परास्त करने के लिये मोहभट सदा सज्ज रहता आया है । अतएव मुमुक्षु के लिये मोहमहाभट के स्वरूप की सर्वाङ्गीण जानकारी एवं उसको हटाने की क्षमता को प्राप्त करना अनिवार्य बन जाता है । ज्ञानयोग से साधक मोहभट के सही स्वरूप को पहचान सकते हैं एवं भक्तियोग से साधक मोह का उन्मूलन करने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं । न तो हम मोह की मायाजाल से अपरिचित होते हुए शक्ति होने पर भी उसे हटा सकते हैं और न तो मोह की इन्द्रजाल का ठीक तरह पहचानते हुए भी, सम्यक् आत्मशक्ति के प्रयोग के बिना, उसका उच्छेद कर सकते हैं । अतः ज्ञानयोग एवं भक्तियोग की नितान्त आवश्यकता है । शुद्धि एवं शक्ति के आद्य उद्गमस्थानस्वरूप अरिहंत परमात्मा एवं शुद्धमहाव्रतधारी गुरुवर तथा साधना में सहायक साधर्मिक की भक्ति से मोह का विच्छेद करने की ताकत पानेवाले आराधक के लिये भी मोहोन्मूलन के लिये मोहराजा की सम्यक् समझ जरूरी बन जाती है ।

द्रव्यानुयोग का महत्त्व

आज हम यहाँ ज्ञानयोग के बारे में कुछ विमर्श करते हैं । षोडशक आदि ग्रन्थ में ज्ञानयोग के तीन भेद बताये है - (१) श्रुतज्ञान (२) चिन्ताज्ञान (३) भावनाज्ञान । श्रुतज्ञान के चार विभाग है, (१) द्रव्यानुयोग (२) गणितानुयोग (३) चरणकरणानुयोग (४) धर्मकथानुयोग । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति-शुद्धि-वृद्धि-स्थिरता के लिए द्रव्यानुयोग का गहरा अभ्यास करना आवश्यक है । यदि षड्जीवनिकाय की आधाकर्मादिपूर्वक श्रद्धा रखते हुए भी द्रव्यानुयोग में कोई अज्ञान है तो वह द्रव्य सम्यग्दृष्टि कहा जाता है, भाव सम्यग्दर्शन का वह भाजन नहीं बन सकता - इस बात की घोषणा करनेवाले 'सम्मतितर्ककार श्रीमद् सिद्धसेनदिवाकर सूरिवर ने द्रव्यानुयोग की गंभीरता और आवश्यकता की ओर अङ्गुलिनिर्देश किया

१ नियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ न सद्दहइ । हंदि अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥ स.त. ३/२८

है । उन्होने तो यहाँ तक साफ साफ प्रतिपादन किया हे कि - 'हेतुवादगम्य पदार्थों का हेतु-तर्क से एव आगमवादगम्य पदार्थों का आगम से प्ररूपण करनेवाला ही जेनसिद्धान्त का प्रज्ञापक है । हेतुवादगम्य पदार्थ का आगम से एव आगमैकगम्य पदार्थ का तर्क ओर युक्ति से प्रतिपादन करने वाला सचमुच सर्वज्ञप्रणीत सिद्धान्त का विराधक हे - भजक हे' ।

इतना ही नही वह ज्ञानगर्भित वेराग्य से भी शून्य हे - यह महोपाध्याय यशोविजयजी महाराजा के उद्गार हे । सम्यक् मीमासा के विना चाहे अनेक शास्त्रो को पढे, जनसम्मत वन जाये, अनेक शिष्यो के परिवार से समृद्ध वन जाये तो भी यदि वह स्वसिद्धात के विषयविभाग से अज्ञात हे, वह चाहे कितना ही चारित्र के मूल गुण एव उत्तर गुण मे उद्यम करे फिर भी चरण-करण के तात्त्विक फल को वह जान नही सकता, अनुभव की तो वात ही कहाँ ? यह पूर्वधर श्रीमत् सिद्धसेनदिवाकर सूरिवर का वक्तव्य 'द्रव्यानुयोग का कितना मूल्याकन करना चाहिऐ ?' इस दिशा मे विचार करने के लिये प्राज्ञ मुमुक्षु के लिये पर्याप्त हे । उन्हाने तो यहाँ तक कह दिया हे कि-[४] 'केवल शासन की भक्ति से सिद्धात का सम्यक् ज्ञाता नही वना जा सकता । एव कुछ इधर से, कुछ उधर से ज्ञान पानेवाला वास्तव मे स्याद्वादगर्भित सिद्धान्त की प्ररूपणा करने मे असमर्थ एव अनधिकारी हे' । 'शास्त्रपरिकर्मित प्रज्ञा के विना केवल आशयशुद्धि का कुछ भी महत्त्व नही हे' - यह सूरिपुरदर हरिभद्रसूरि महाराजा का टकोत्कीर्ण वचन है । '[७]अतएव सूत्रअभ्यास के वाद नय-निक्षेप-प्रमाण से अर्थ का अभ्यास करना यानी द्रव्यानुयोग का अध्ययन करना नितात आवश्यक हे । जो आचार्य होते हुए भी तात्त्विक शास्त्रार्थ से अज्ञात है वह जिनेश्वरदेव की महाआज्ञा की विडवना करता हे ।' उपर्युक्त पूर्वधर महर्षि के वचनो का उल्लेख करने के पीछे हमारा आशय सिर्फ इतना ही हे कि - मोक्षमार्ग की नींव, जो नेश्चयिक सम्यक् दर्शन हे, उसकी प्राप्ति के लिए स्वपरदर्शन के सिद्धान्त का सूक्ष्म प्रज्ञा से तलस्पर्शी अभ्यास जीवननिर्वाहक अन्न-पान-हवा-प्रकाश आदि से भी ज्यादा मूल्यवान् हे । कहने दो कि- वह अमूल्य ही हे । इस वक्तव्य के विधेयात्मक हार्द को सुज्ञ पाठकवर्ग अच्छी तरह समझ पायेगे - यह मगलकामना ।

नव्यन्यायअध्ययन की आवश्यकता

जिनशासनस्वरूप विशाल नभस्थल मे द्रव्यानुयोगमर्म के प्रकाशक पूर्वधर श्रीसिद्धसेनदिवाकर सूरीश्वर, मल्लवादी आचार्य, वादिवेताल शातिसूरिजी, कलिकालसर्वज्ञ श्रीहरिभद्रसूरि-हेमचन्द्रसूरिजी, श्रीवादिदेवसूरिवर, श्रीरत्नप्रभाचार्य आदि अनेक सूरज-चॉद-सितारे उदित हो चुके । उपर्युक्त महर्षियो की प्रतिपादनशैली प्राचीन न्याय की परिभापा से प्लावित है । किसी विषय के वारे मे अनेक सभवित विकल्पो की जाल विछा कर वस्तु के सत्स्वरूप का मडन करना एव असत्स्वरूप का खण्डन करना - यह प्राचीन न्याय की शेली हे । न्यायशब्द का प्रयोग प्राचीनन्याय, जैनन्याय, वौद्धन्याय तथा नव्यन्याय के स्वरूप मे वहुधा भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे प्रसिद्ध हे । न्यायशब्द का अर्थ है तर्क अथवा युक्ति । 'न्याय' शब्द की शास्त्रीय व्युत्पत्ति यह हे कि - 'नीयतेऽनेन वस्तुस्वरूप इति न्यायः' । अर्थात् जिसके आधार पर किसी निर्णय तक पहुँचा जाय वह न्याय हे । भाष्यकार वात्स्यायन ने 'प्रमाणेरर्थपरीक्षण न्यायः' (न्यायसूत्र वा भा १-१-१) ऐसा कह कर 'प्रमाणो के आधार पर अर्थ की परीक्षा का नाम न्याय हे' ऐसी निजी परिभापा वनाई है । परन्तु कालान्तर मे न्यायशब्द मुख्यतः गौतमदर्शन (अक्षपादमत) के लिये रूढ हो गया । महर्षि गोतम के द्वारा प्रतिपादित पञ्च अवयवो के लिये न्यायशब्द का प्रयोग कर के वात्स्यायन ने उसे 'परमो न्यायः' सज्ञा प्रदान की ओर पञ्चावयव तथा उस प्रणालि से दार्शनिक प्रमेयो की स्थापना करनेवाले गोतमीय दर्शन के रूप मे स्थापित किया । यहाँ इस वात पर ध्यान देना आवश्यक हे कि - (१) इन्द्रभूति गौतम गणधर (२) गोतम वुद्ध एव (३) न्यायदर्शनप्रस्थापक गोतम महर्षि - ये तीनो ठीक उसी तरह भिन्न भिन्न व्यक्ति हे जेसे सेधवशब्दवाच्य लवण, वस्त्र ओर अश्व ।

गोतम महर्षि के कई शताब्दियो के पश्चात् प्राचीन न्यायदर्शन की शेली ने नया परिमाण एव नया परिवेष धारण

---

१ जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ । सो ससमयपण्णवओ सिद्धतविराहओ अन्नो ॥ स त ३/४५ ।

२ आज्ञयाऽऽगमिकार्थाना, योक्तिकाना च युक्तितः । न स्थाने योजकत्व चेत् ? न तदा ज्ञानगर्भता । अध्यात्मसार ६-३८ ।

३ जह जह वहुस्सुओ सम्मओ य, सिस्सगणसपरिवुडो य । अविणिच्छिओ य समए, तह तह सिद्धतपडिणीओ ॥ सम्मतितर्क ३-६६ ।

४ चरणकरणप्पहाणा ससमयपरसमयमुक्कवावारा, चरणकरणस्स सार णिच्छयसुद्ध ण याणति ॥ स त ३-६७ ।

५ ण हु सासणभत्तिमेत्तण्ण सिद्धतजाणओ होइ । ण वि जाणओ वि णियमा, पण्णवणाणिच्छिओ णाम ॥ स त ३/-६३ ॥

६ जिणाणाए कुणताण नूण निव्वाणकारण । सुदर पि सवुद्धिए सव्व भवनिवधण ॥

७ तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसपायणम्मि जइयव्व । आयरीय धीरहत्था हदि महाण विलवेन्ति ॥ स त ३/६५ ।

किया, जिससे प्राचीन न्याय एव नव्य न्याय ऐसे दो विभाग प्रचलित हो गये । बौद्ध, मीमासक, वेदान्ती तथा जैनो के साथ लगभग हजार वर्ष के वैचारिक सघर्ष के फलस्वरूप गौतमीय नैयायिको ने अपने विवेचन को प्रमाणमीमासा पर केन्द्रित किया, जिसके फलस्वरूप नव्यन्याय का जन्म हुआ । प्राचीन न्याय मे पञ्चावयवो के विवेचन के साथ साथ 'वाद' के सभी अङ्गो के प्रतिपादन के अतिरिक्त पदार्थमीमासा, तत्त्वमीमासा, तथा ज्ञानमीमासा भी प्रस्तुत की गयी है, जब कि नव्यन्याय प्राचीन नैयायिको के द्वारा विवेचित निग्रहस्थान-वाद-जल्प-वितण्डा आदि के सिद्धातो की ओर उदासीन रहते हुए मुख्यत. प्रमाण के स्वरूप, फल एव हेतु विषयक विचार पर अपना अवधान केन्द्रित करता है । प्रमाण की जिस प्रकार पारिभाषिक शब्दावली नव्यन्याय मे विवेचित है वैसी किसी भी शायद अन्य न्याय मे या दर्शन मे उपलब्ध नही है । नव्य न्याय ने पदार्थों के विशेषरूपो का अन्वेषण कर के उनकी सर्वशुद्ध परिभाषा करने पर विशेष जोर दिया ताकि उनके विषय मे किसी प्रकार की भ्रान्ति या सन्दिग्धता का अवसर ही न रहे । नव्यनैयायिक मोक्षपुरुषार्थ के प्रति आग्रह छोड कर 'वस्तु' के यथार्थ बोध के प्रति अधिक सवेदनशील है । पक्षता, अनुयोगिता, प्रतियोगिता, अवच्छेदकता, अवच्छिन्नता, प्रकारता, विषयता, प्रकारिता, विषयिता, ससर्गता, प्रतिबन्धकता, प्रतिबध्यता, निरूपकता-निरूपितता आदि शब्दावली से गर्भित नव्य न्याय की प्रवृत्ति, शब्दो मे सन्दिग्धता को अवकाश न देते हुए, पदार्थ को विशेष व्यक्त करने की रही है । अतएव नव्य न्याय के आधुनिक पारिभाषिक पदार्थों का परिचय पाना अत्यन्त दुरुह है । वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नि:सन्दिग्धरूप मे प्रस्तुत करने मे प्राचीन न्याय की अपेक्षा नव्य न्याय अधिक सक्षम होता हुआ भी प्रसङ्गवशात् प्रमाण-प्रमेय-प्रमा या व्याप्ति की जटिल परिभाषा दे कर अच्छे अच्छे प्राज्ञ पडितो को भी दिन मे आसमान के तारे दीखाने लगता है । रोमाचित करनेवाली पारिभाषिक अर्वाचीन पदावली मे पदार्थविवेचन की जो सूक्ष्मता है वही नव्यन्याय की मुख्य विशेषता है । विषय की सूक्ष्मता को प्रदर्शित करने के लिये जिन नवीन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है वही उसका प्राचीन न्याय से वैलक्षण्य है । ये नवीन साकेतिक शब्द ही नव्य न्याय को अन्य सभी शास्त्रो से भिन्न शास्त्र के स्वरूप मे स्थापित करते है । नवीन न्याय की इस पारिभाषिक तकनीकी ने उसके नूतन अध्येताओ के लिये अनुत्साह का सृजन किया । जब तक नवीन पारिभाषिक शब्दो के अर्थ ही समझ मे नही आते तब तक 'उनके उपयोग से अर्थच्छटा की सूक्ष्मता कैसे उत्पन्न होती है ?' इसका भी पता नही लगता । परिणामत: प्राज्ञ मुमुक्षु भी नव्यन्याय: से दूरी से ही घबडाते है ।

अलौकिक प्रतिभाशाली गङ्गेश उपाध्याय ने प्राचीन न्यायशास्त्रो का मन्थन कर के उसके सारमय जिस तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ का सृजन किया उससे प्रारभ होनेवाला शास्त्र नव्यन्याय के रूप मे विख्यात हुआ । अतएव गङ्गेश उपाध्याय नव्यन्याय के आद्य प्रस्थापक के रूप मे प्रसिद्ध हुए । बाद मे नवद्वीप के वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, जगदीश तर्कालकार, गदाधर भट्टाचार्य, विश्वनाथ पञ्चानन भट्ट आदि विद्वानो ने नव्यन्यायगङ्गा को अपनी अपनी कृतियो से प्रवहणशीलता प्रदान की । इनके अतिरिक्त मिथिला के पक्षधरमिश्र, वर्धमान उपाध्याय, यज्ञपति उपाध्याय, रुचिदत्तमिश्र, भगीरथ ठकुर, महेश ठकुर आदि ने भी नव्य न्याय के ग्रन्थो की रचना कर के नव्यन्याय सम्प्रदाय को गौरवान्वित किया । जहाँ तक पदार्थप्रतिपादन का सवाल है हम कह सकते है कि नव्य नैयायिको ने प्राचीन न्याय को मान्य वैशेषिक पदार्थों को विशेषस्वरूप से आत्मसात् कर के अपने शास्त्र की मजील खडी की है ।

नव्यन्याय के सृजन के पश्चात् इसका प्रभाव विभिन्न दर्शनो के शास्त्रो पर बडे व्यापकरूप से पडा है । इस शास्त्र के प्रादुर्भाव के पश्चात् भारतीय दार्शनिक विद्या के लगभग हरएक क्षेत्र को इसने प्रभावित किया । नव्य न्याय की सकलनाओ के और दार्शनिक पारिभाषिक पदावली के ठीक तरह परिचय के विना मानो कि धर्मशास्त्र, साहित्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, तन्त्रशास्त्र तथा अन्य दर्शनो के सर्वमान्य ग्रन्थो का सूक्ष्म अध्ययन नामुमकिन हो गया । दीधितिकार आदि से नवीन न्याय पल्लवित ओर पुष्पित होने के बाद प्राय: प्रत्येक दर्शनकार नवीन न्याय की परिभाषा को अपना कर अपने सिद्धातो का सूक्ष्म एव सतर्क प्रतिपादन करने को उद्यत बने । मधुसूदन सरस्वती के अद्वैतसिद्धिग्रन्थ की गोडब्रह्मानदी टीका, काव्यप्रकाश-व्याख्या, परिभाषा शब्देन्दुशेखर, जल्पकल्पतरु, मञ्जूषा आदि वेदान्त आदि दर्शनो के ग्रथो मे नव्य न्याय की पदावली का काफि उपयोग किया गया है, जिनमे स्वसिद्धान्तस्थापन एव परसिद्धान्तनिकन्दन किया गया है । अन्य नव्य दार्शनिको ने स्याद्वाद का भी विना सोचे समझे खण्डन किया । अतएव नवीन न्याय की शैली मे स्याद्वादबाधक कुतर्को का निरसन एव स्याद्वाद का सूक्ष्म समीचीन प्रतिपादन करना जैन मनीषियो के लिये कर्तव्य बना । इस कार्य का श्रीगणेश महामहोपाध्याय

१ न्या सू वा भा १-१-१

यशोविजयजी महाराज ने किया । श्रीसिद्धसेनदिवाकरजी, श्रीहरिभद्रसूरिजी, मल्लवादी आचार्य आदि प्राचीन पूर्वजो के ग्रन्थो का मनन-निदिध्यान कर के उनमे से सुधारस निकाल कर परिवेषण करने की अद्भुत क्षमता महोपाध्याय श्रीमद्जी को वरी हुई थी । स्याद्वाद, सप्तभङ्गी, नय, निक्षेप आदि के हार्द को एव प्राचीन शास्त्र के समीचीन तात्पर्य को परिस्फुरित करती हुई नव्यन्यायगर्भित महोपाध्यायजी की कृतियो का आस्वाद लेने के लिए प्राज्ञ मुमुक्षु के लिए नव्यन्याय की पारिभाषिक पदावली का सही ज्ञान पाना जरूरी वन जाता है । [1]ऐसे देखा जाय तो एकान्तवादावलम्वी परदर्शनवार्ता को स्वदर्शनप्रतिपादन मे कुछ स्थान ही नही हे फिर भी मार्गानुसारी बुद्धि की विशदता एव सूक्ष्मता के लिए तथा नैश्चयिक सम्यग्दर्शन की स्पर्शना के लिये एकान्तवादी-परदर्शननिरसन भी आवश्यक हे, जो जेनन्याय के प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थो मे द्रष्टिगोचर होता है । अनेकान्तवाद के नव्य ग्रथो मे सम्यग् एकान्तवादो का इतना समन्वय किया गया हे कि उसका हार्द समझे विना एकान्तवाद का खण्डन करने पर अनेकान्तवाद पर ही कुठारप्रहार हो जाय एव तन्मूलक द्वादशागी की भी भारी आशातना हो जाय । इसीसे पता चलता है कि नव्यन्याय का अध्ययन कितना आवश्यक है ? जव अनेकान्तवाद को केन्द्रित कर के सव दर्शनो का अभ्यास किया जाय तव तो स्वदर्शन एव परदर्शन का आग्रह ही छूट जाता है[2] । मगर केवल श्रद्धा के स्तर पर इस परमोच्च स्थिति पर पहुँचना मुश्किल ही है किन्तु किसी भी हालत मे इस मनःस्थिति के पाने के वाद भी उसे चिरस्थायी रखना तो वकरे की दाढी से दूध निकालना है । मोहनीयक्षयोपशमानुविद्ध सूक्ष्म प्रज्ञाशक्ति से ही उपर्युक्त शमत्वअवस्था प्राप्य हे एव स्थाप्य है । यूँ तो स्वतत्र केवल बुद्धि वेश्या ही हे मगर मार्गानुसारी क्षयोपशम से नियन्त्रित वन जाने पर स्याद्वाद राजगजेश्वर की वह सुशील महारानी वन सकती हे । तदर्थ सम्यक् एकान्तवादो की नीव पर स्थित स्याद्वाद का परिशीलन एव तदर्थ परदर्शनो का यथावत् अवलोकन अनिवार्य वन जाता हे ।

दार्शनिक अभ्यास

द्रव्यानुयोग का एव सर्वदर्शनअध्ययन का अपने क्षेत्र मे महत्त्व होते हुए भी रत्नत्रयी के समाराधक मुमुक्षु के लिए सस्कृत-प्राकृत-काव्य आदि के निपुण अभ्यास के वाद जैन आचारविज्ञान के लिये दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, आचारागसूत्र, पचसूत्र, पचवस्तु, पचाशक आदि शास्त्रो का अध्ययन एव जैन पदार्थविज्ञान के लिये आवश्यकनिर्युक्ति, विशेपावश्यकभाष्य, लोकप्रकाश, प्रवचनसारोद्धार, प्रज्ञापना आदि शास्त्रो का परिचय तो सव से पहले ही जरूरी है । वाद मे प्रज्ञाशक्ति के अनुसार जैनन्याय के जैनतर्कभापा स्याद्वादभाषा, स्याद्वादमञ्जरी, रत्नाकरावतारिका, धर्मसङ्ग्रहणीटीका आदि का अच्छी तरह वीक्षण करने के पश्चात् महोपाध्यायजी महाराज के रसप्रद साहित्य का मधुर आस्वाद पाने के लिये नव्यन्याय के न्यायभूमिका, तर्कसङ्ग्रह, मुक्तावली, दिनकरी, व्याप्तिपञ्चक, सिद्धान्तलक्षण, अवच्छेदकनिरुक्ति, व्युत्पत्तिवाद आदि ग्रन्थो का अध्ययन उचित समझा जा सकता हे । साथ ही साङ्ख्यदर्शन की साख्यतत्त्वकौमुदी, वौद्धदर्शन के न्यायविन्दु, वेदान्तदर्शन के वेदान्तपरिभापा, मीमासादर्शन के मीमासापरिभापा या अर्थसङ्ग्रह, योगदर्शन के पातञ्जलयोगसूत्र की राजमार्तण्ड या मणिप्रभा टीका आदि का अन्वीक्षण जरूरी हे, क्योकि उपाध्यायजी महाराज अवसरोचित षड्दर्शन के सिद्धातो की समीक्षा करने के लिये लालायित रहते हे । जहाँ तक हम समझते है, हम यह कह सकते है कि उपाध्यायजी महाराज के साहित्य का सानद एव सम्यक् लाभ उठाने के लिये उपर्युक्त क्रम से अभ्यास करना ठीक रहेगा । साथ साथ योगदृष्टिसमुच्चय, योगविन्दु, ललितविस्तरा आदि योगग्रन्थो का अभ्यास करना छूट न जाये यह भी ध्यान मे रखना जरूरी है । विचाररसिक मुमुक्षु के लिये आनन्द की वात यह है कि वहुधा उपदर्शित षड्दर्शनो के प्राथमिक ग्रन्थ हिन्दी या गुजराती मे सविवेचन उपलब्ध होते हे । एव उपाध्यायजी महाराज के भी नवीनन्यायगर्भित अनेक प्रकरणरत्न भी हिन्दी या गुजराती भाषा मे सविवेचन उपलब्ध है । जो मुमुक्षु अधिक प्रज्ञाशाली हे एव उपाध्यायजी महाराज के ग्रन्थो की प्रत्येक पक्ति एव पदो का समीचीन सूक्ष्म हार्द पाने के लिए उत्साही हे उनके लिये प्राचीनन्याय के न्यायकुसुमाजलि, आत्मतत्त्वविवेक, न्याय-तात्पर्यपरिशुद्धि आदि ग्रन्थो का एव नवीनन्याय के सामान्यनिरुक्ति, व्यधिकरण जागदीशी, वादवारिधि, तत्त्वालोक, प्रामाण्यवाद-गादाधारी, तत्त्वचिन्तामणि की माथुरी या दीधिति टीका आदि ग्रन्थो का, साख्यदर्शन के गोडपादभाष्य, साख्यसूत्रभाष्य आदि प्रकरणो का, बोद्धदर्शन के प्रमाणवार्तिक, तत्त्वसङ्ग्रह, माध्यमिककारिका आदि ग्रथो का, मीमासादर्शन के आकर ग्रन्थ श्लोकवार्तिक का, व्याकरणदर्शन के वाक्यपदीय (जो पाच भाग मे साम्प्रतकाल मे सटीक उपलब्ध हे) ग्रथ का, वेशेपिकदर्शन के न्यायलीलावती, प्रशस्तपादभाष्य आदि शास्त्रो का, वेदान्तदर्शन के चित्सुखी (अपरनाम तत्त्वप्रदीपिका), अद्वैतसिद्धि,

१ सीसमइविप्फारणमेत्तोऽय कओ समुल्लाओ । इहरा कहामुह चेव णत्थि एव ससमयमि ॥ स त ३/२५ ।
२ आत्मीयः परकीयो वा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ? ॥। योगविन्दु - ५२५

सिद्धान्तबिन्दु, खण्डनखण्डखाद्य, वेदान्तकल्पलतिका आदि ग्रन्थों का, योगदर्शन मे पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य पर तत्त्ववैशारदी टीका, जो वाचस्पतिमिश्रकृत है, उसका एवं मडनमिश्रकृत विधिविवेक की वाचस्पतिमिश्रकृत न्यायकणिका टीका का अध्ययन हो जाय तो बडा सौभाग्य एवं सद्भाग्य समझा जायेगा ।

पश्चात् जैन नव्यन्याय के अध्ययनार्थ नयरहस्य, नयोपदेश न्यायालोक, आत्मख्याति, वादमाला, प्रमेयमाला, न्यायखण्डखाद्य, स्याद्वादकल्पलता, स्याद्वादरहस्य, अनेकान्तव्यवस्था आदि ग्रन्थों का, नव्यन्याय गर्भित आगमिक एवं योगग्रन्थों के अभ्यासार्थ उपदेशरहस्य, भाषारहस्य, धर्मपरीक्षा, अध्यात्ममतपरीक्षा, आध्यात्मिकमतपरीक्षा, देवधर्मपरीक्षा, गुरुतत्त्वविनिश्चय, ज्ञानबिन्दु, ज्ञानार्णव, प्रतिमाशतक, षोडशकनव्यटीका, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, योगविंशिकावृत्ति, द्रव्यगुणपर्यायरास, ऐन्द्रस्तुति चतुर्विंशतिका आदि का अध्ययन करना उचित समझा जाता है । प्राचीन जैनन्याय के द्वादशार-नयचक्र, सम्मतितर्कटीका, स्याद्वादरत्नाकर, न्यायावतारवार्तिक, प्रमाणमीमासा आदि आकर ग्रन्थ भी मननीय है । दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रवचनसार, बृहद्द्रव्यास्तिकाय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, तत्त्वार्थ-राजवार्तिक, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, प्रमेयरत्नमाला आदि न्यायग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है । एवं शेष आगमग्रन्थों का, योगग्रन्थों का, वैराग्यवर्धक ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् अध्यात्मबिन्दु, अध्यात्मउपनिषद्, अध्यात्मसार, ज्ञानसार, योगसार, योगशतक आदि निश्चयनयप्रधान ग्रन्थों का अध्ययन भी प्रशमरसवाहिता के अनुभवार्थ उपयोगी माने जाते है । यहाँ जो कुछ अध्ययनक्रम बताया गया है वह तो एक दिग्दर्शनमात्र है । इस पद्धति के अनुसार अन्य जितने भी ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय उतना कम है, क्योंकि जैनशासन तो सम्यक् शास्त्ररत्नों का महासागर है । उसका पार कौन पा सकता है ?

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि दार्शनिक ग्रन्थों का ज्ञान जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्व दार्शनिक अध्ययन के दौरान वैराग्यकल्पलता, उपमितिभवप्रपञ्चाकथा, समराइच्चकहा, संवेगरगशाला, अध्यात्मकल्पद्रुम, शांतसुधारस, प्रशमरति आदि आत्मपरिणतिविशुद्धिकारक ग्रन्थरत्नों के अध्ययन का भी है । यदि केवल शुष्क तर्कग्रन्थों के अध्ययनार्थ उपर्युक्त वैराग्यपोषक ग्रन्थों की उपेक्षा की जाय तो जीव में से शिव बनने की साधना निश्चेतन एवं प्राणविहीन बनने की भी पूर्णतया संभावना है । अत दोनों विभागों का अच्छा सन्तुलन गुरुगम से किया जाय यही उपासक का सम्यक् ज्ञानमार्ग है । गंगाजल की भाँति न्यायविद्या-तर्कविद्या अपने आपमें पवित्र एवं निर्मल होते हुए भी अयोग्यस्थान को पाकर जहर भी बन सकती है । इस भयस्थान से मुक्त बनने के लिये भक्तियोग भी एक उत्तम-सुरक्षित-ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक उपाय है । दार्शनिक अभ्यासाथ सयमयोगों की निर्दोष एवं आवश्यक चर्या कुरबान की जाय - यह भी कथमपि सङ्गत नही है ।

श्री सिद्धर्षिगणिवर ने उपमितिभवप्रपञ्चा कथा मे भवभ्रमणहेतुभूत कुविकल्प के दो प्रकार बताये है (१) आभिसंस्कारिक (२) सहज । मिथ्याशास्त्रश्रवण के संस्कार से उत्पन्न होनेवाले कुविकल्प आभिसंस्कारिक कहे जाते है, जो कभी गीतार्थ स्वपरसमयज्ञ भवभीरु सद्गुरु के सत्सग के प्रभाव से निवृत्त होते है तो कभी सम्यग् एकान्तअविनाभावी अनेकान्तवाद के श्रवण-मनन-चिन्तन-निदिध्यासन से भी । पौद्गलिकसुख की लालसा, दुःख से खौफ, कञ्चन-कीर्त्ति-कामिनी में परमार्थसुखबुद्धि ये सब कुविकल्प सहज कहे जाते है, जिनकी निवृत्ति अधिगम सम्यग्दर्शन के बिना नामुमकिन है । अधिगम सम्यक्त्व का मतलब है अनेकांतगर्भित-सद्गुरुउपदेशजन्य नैश्चयिक सम्यक्त्व । नैश्चयिक सम्यग्दर्शनवाले प्रत्येक जीवों को दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा होती है । इसका मतलब यह हुआ कि निश्चय सम्यग्दर्शन और दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा परस्पर समव्याप्त अविनाभावी है और परस्पर के उपष्टम्भक है । दृष्टिवादपद से द्वादशांगी के अन्तिम अङ्गसूत्र, जिसमे १४ पूर्व सामिल है, का भी ग्रहण हो सकता है और अनेकान्तवाद-सापेक्षवाद-स्याद्वाद प्रमाण का भी । दृष्टिवाद अङ्गसूत्र अन्तर्गत १४ पूर्व तो द्रव्यानुयोग-नयवाद-प्रमाणवाद इत्यादि की मीमासा से भरसक है, जो नैश्चयिक सम्यग्दर्शन का मूल आधार है । अनेकान्तवाद के बिना केवल नैश्चयिक दर्शन ही नही बल्कि लौकिकव्यवहार भी कथमपि सङ्गत नही हो सकता । अतएव

१ इह सत्त्वानां कुविकल्पा प्राणिनो भवन्ति । तद्यथा - एके कुशास्त्रश्रवणवासनाजनिताः यदुत - 'अण्डसमुद्भूतमेतत्त्रिभुवन, महेश्वरनिर्मित, ब्रह्मादिकृत, प्रकृतिविकारात्मक, क्षणविनश्वर, विज्ञानमात्र, शून्यरूप वा' इत्यादय । ते हि आभिसंस्कारिका इत्युच्यन्ते । तथा अन्ये सुखमभिलषन्तो दुःख द्विषन्तो द्रविणादिषु परमार्थबुद्ध्यध्यवसायिनः, अत एव तत्संरक्षणप्रवणचेतसोऽदृष्टतत्त्वमार्गस्यास्य जीवस्य प्रवर्तन्ते, यैरयं जीवोऽश्रद्धेयानि श्रद्धत्ते, अचिन्तनीयानि चिन्तयति, अभाषितव्यानि भाषते, अनाचरणीयानि समाचरति । ते तु कुविकल्पा सहजा इत्यभिधीयन्ते । तत्राभिसंस्कारिका प्रथमसुगुरुसम्पर्कप्रभावादेव कदाचिन्निवर्तेरन् । एते पुन सहजा यावदेष जीवो मिथ्यात्वोपप्लुतबुद्धिस्तावन्न कथञ्चिद् निवर्तन्ते । यदि परमधिगमजसम्यग्दर्शनमेव प्रादुर्भूतमेतान्निवर्तयतीति । उपमितिभवप्रपञ्चाया पीठबन्धे स्पष्टता ७२ तमे पृष्ठे प्रता ।

२ जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ । तस्स भुवणेक्कगुरुणो नमो अणेगतवायस्स ॥

अनेकान्तवाद सब के लिये अवश्य नमस्करणीय है । सम्यगेकान्त वादो से अनुप्राणित अनेकान्तवाद की सही जानकारी वर्तमान में परदर्शनो के अभ्यास के बिना अधूरी समझी जाती है । 'एक पदार्थ की सपूर्ण ज्ञप्ति के लिए सब पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है और सब पदार्थों की परिपूर्ण जानकारी के लिये एक पदार्थ का सूक्ष्म बोध आवश्यक है । इस तरह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, स्थिरता एव वृद्धि के लिये परदर्शनअध्ययन की आवश्यकता होने पर भी, बिना विनय-विवेक-वैराग्य के, तर्कअभ्यास मुक्तिसाधना मे विघ्न भी पैदा कर सकता है - यह भयस्थान जरूर है । मगर इस भयस्थान को अवसर ही न मिले तदर्थ हमने पूर्व बताया वेसे भक्तिमार्ग एव वैराग्यपोषक शास्त्रपरिशीलन का अमोघ सहारा लिया जा सकता है । मगर इस भयस्थान से परदर्शनअध्ययन को ही अलविदा करना तो गले में फोडा होने पर गले को ही काटना है । जेसे फोडे की चिकित्सा कर के गले को सुरक्षित रखना ही अक्लमन्द का कार्य हे ठीक वैसे ही परदर्शन-अध्ययनस्थलीय भयस्थान को दूर कर के मोक्षमार्गबीजतुल्य नेश्चयिक सम्यग्दर्शन के योगक्षेमार्थ सर्वदर्शनो का गुरुगम के सहारे मार्गानुसारी बुद्धि से अध्ययन किया जाय- यही विवेकी व्यक्ति का कर्तव्य हे ।

-: द्वितीय खण्ड विषय :-

मध्यमस्याद्वादरहस्य के प्रथम खण्ड मे वीतरागस्तोत्र अष्टम प्रकाश की आद्य ४ कारिका की श्रीमद् महोपाध्यायजीकृत म स्याद्वादरहस्याभिधान व्याख्या, उसकी जयलतानामक सस्कृतटीका एव रमणीया - हिन्दी विवेचन का समावेश किया गया है । प्रस्तुत द्वितीय खण्ड मे वी स्तो अष्टम प्रकाश की ५-६-७-८ कारिका की महोपाध्यायकृत व्याख्या, उसकी सस्कृतटीका एव हिन्दीविवरण उपलब्ध हे । अवशिष्ट ग्रथाश एव व्याख्याए तृतीय भाग मे लभ्य होगी । पचम श्लोक की व्याख्या में महोपाध्यायजी ने 'जिनोक्त नित्यानित्यत्वसभिन्न वस्तुस्वभाव किसी प्रकार के दोष से कलङ्कित नही हे' इस श्लोकार्थ की पुष्टि के हेतु (१) प्रारभ मे सप्तभङ्गी का विस्तार से प्रतिपादन किया । यहाँ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव को व्यधिकरण-सम्बन्धावच्छिन्न अभाव से ही अन्यथासिद्ध बतानेवाले भवदेव आदि नव्य नैयायिकों के मत का नव्य न्याय की गूढ शैली मे उन्मूलन किया गया है । बाद मे एवकार की शक्ति अयोगव्यवच्छेद मे न मान कर अन्ययोगव्यवच्छेद में मानने वाले नवीन नैयायिको के मत का निरसन कर के अयोग एव व्यवच्छेद मे एवपद की खण्डश· शक्ति का समर्थन किया गया हे । वक्तव्यत्वसप्तभङ्गी के द्वितीय-भेद 'स्यादवक्तव्य·' एव चतुर्थ भेद 'स्यादवक्तव्य·' मे अभेद या पुनरुक्ति दोष का समाधान श्रीमद्जी ने यह दिया कि द्वितीयभग मे वक्तव्यत्वाभाव का प्रतिपादन अभिमत हे ओर चतुर्थ भग मे उससे भिन्न अवक्तव्यत्वनामक स्वतत्र-जात्यन्तरभूत धर्म का कथन अभिमत है (पृ न २८१) । यह समाधान उपाध्यायजी की अलोकिक प्रतिभा का दर्शन कराता है । बाद मे प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्र का हवाला देकर सकलादेश एव विकलादेशस्वरूप दो सप्तभङ्गी का निरूपण कर के सप्तभङ्गीवादस्थल पर पर्दा डालने के पूर्व 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेव अर्थं बोधयति' इस न्याय के तात्पर्यार्थ का नव्य पदावली से निरूपण किया हे (पृष्ठ-२८९) ।

(२) तमोद्रव्यत्ववादस्थल मे 'नीलरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नही है' इस प्रबल तर्क से अन्धकार मे द्रव्यत्वबाधक रूपाभाव का निराकरण किया गया हे । त्रसरेणु के स्पर्श में अनुद्भूतत्व का स्थापन, अर्थसमाजसिद्ध धर्म मे कार्यतानवच्छेदकता का प्रतिपादन, तमोद्रव्यत्वसाधक पूर्वाचार्यमतमडन, आलोकगत चाक्षुषकारणता का घूकचाक्षुषादि मे व्यभिचार से निराकरण, उच्छृखलमत-मीमासा, तामसेन्द्रियवादी-तोतातिकेकदेशीयमतसमीक्षा, प्रभाकरमिश्रमत समालोचना, प्रकाशकरूपाभावात्मकतमोवादी प्रगल्भ के मत का समीक्षण, वर्धमानउपाध्यायमत अपाकरण, स्वतन्त्रमतप्रतिपादन मे जन्यभावमात्र मे ससमवायिकारणकत्वनियम का पराकरण एव परिष्कार, अन्धकार मे रत्नप्रभसूरिमतानुसार भावत्व साधन, तम मे पृथ्वीत्वबाधन, व्यवहार के बल से अन्धकार मे द्रव्यत्वसिद्धि, पुनः वर्धमानमतनिरास एव कन्दलीकारमतकर्तन कर के तमोद्रव्यत्वाद को तिलाजलि दी गई है ।

''अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने पर मध्याह्नकाल मे राजमार्ग पर यकायक घट आदि को उलटा करने पर घट आदि के अदर अन्धकारद्रव्य की उत्पत्ति केसे मुमकिन होगी ? क्योंकि तब वातावरण मे अन्धकार के अवयव अनुपस्थित हे ओर प्रौढ आलोक होने के सबब अन्य देश से भी तमोऽवयव का आगमन नामुमकिन है'' - यह वर्धमान उपाध्याय का स्याद्वादी के प्रति आक्षेप हे जिसकी समीक्षा करते हुए उपाध्यायजी ने अपने परिणम्य-परिणामकभाव के सिद्धान्त को लक्ष्य मे रख कर यह बताया कि - 'घनतर आवरण के सहकार से वहाँ आलोकद्रव्य ही अन्धकारात्मना परिणत होता हे । नियतारम्भवादी नेयायिक के मतानुसार इसकी कथमपि सङ्गति नही हो सकती मगर उपर्युक्त रीति से अनियतारम्भवादी जेनो के मतानुसार ही यह सम्भव हे । इस विषय का विस्तार से निरूपण स्याद्वादकल्पलता, वादमाला आदि ग्रन्थों मे

१ जो एग जाणइ सो सव्व जाणइ । जो सव्व जाणइ सो एग जाणइ ॥ आचारागसूत्र

भी उपलब्ध है ।

न्यायकन्दलीकार श्रीधर का मत यह है कि - आरोपित नील रूप ही अन्धकार है, न कि द्रव्यादि । इसका समीक्षण श्रीमद् न्यायविशारदजी इस तरह करते हैं कि - निराश्रय रूप वैशेषिकसिद्धान्तानुसार भी नामुमकिन है । अतः प्रतीयमान नील रूप के आश्रयीभूत द्रव्य को ही अन्धकार कहना मुनासिब है ।

पञ्चम कारिका का आकर्षक तृतीय वादस्थल है ईश्वरकर्तृत्ववाद । क्षिति आदि में ईश्वर कर्तृत्वसाधक कार्यत्व हेतु का विकल्पषट्क से जो निरसन यहाँ उपलब्ध है, हमारी धारणा है - अन्यत्र वह प्राप्य नहीं है (१) प्रयत्न भी विलक्षणसंयोग का ही हेतु है (२) व्यवहार में दण्डादि घट के कारण नहीं किन्तु प्रयोजक हैं । मगर निश्चयतः स्वद्रव्य मिट्टी ही घटजनक है (३) खण्डघटजनक ईश्वरीय कृति के आश्रयविधया महेश्वर के साधक दीधितिकार की तो हवा इस तरह न्यायाचार्य ने निकाली है कि तब घटसामान्य के प्रति कुलालत्वेन हेतुता का ही उच्छेद हो जायगा । स्याद्वादकल्पलता में उपर्युक्त दीधितिकारमत की समालोचना स्वसिद्धान्तानुसार इस तरह प्राप्य है कि - खण्डघटस्थल में हम नवीन घट की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। अतः खण्डघटजनकविधया ईश्वरसिद्धि नामुमकिन है। इसी बात को श्रीमद्जी ने भाषारहस्य स्वोपज्ञविवरण में इस तरह बताई है कि - घट में छिद्र पर्याय उत्पन्न होता है, न कि नूतन छिद्रघट (भा र पृ ३३) । न्यायकुसुमाञ्जलिकार उदयन के धृतिआदिहेतुक अनेक अनुमानप्रयोगों का खण्डन आगे चल कर किया है । ईश्वरसाधक उदयनउपन्यस्त 'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः । वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥ (न्या कु ५/१) इन दस हेतुओं की एवं दशहेतु के नवीन अर्थ की विस्तार से कड़ी समालोचना न्यायाचार्य ने स्याद्वादकल्पलता के तृतीय स्तबक में की है । अष्टसहस्रीविवरण आदि ग्रन्थों में भी यह वादस्थल उपलब्ध है । श्रीसिद्धसेनादि प्राचीन जैनाचार्यों की युक्तिओं का भी अवसरोचित उपयोग न्यायाचार्यजी ने किया है ।

पञ्चम कारिका का चतुर्थ वादस्थल है सर्वज्ञसिद्धि । मीमांसक आदि असर्वज्ञवादी के मत का यहाँ खण्डन करते हुए क्षयपदार्थ का बहुत मार्मिक प्रतिपादन कर के इस वादस्थल को एवं पञ्चम कारिका को दिगम्बर अनुयायी की युक्ति बता कर जलाञ्जलि दी है (पृ ४५८) ।

षष्ठ कारिका सुगम होने के सबब उस पर श्रीमद्जी ने कुछ विवेचन-विवरण मध्यम स्याद्वादरहस्य में नहीं किया है। मगर श्रीलघुहरिभद्रजी ने स्वयं ही स्याद्वादकल्पलता एवं नयरहस्य आदि ग्रंथों में इस कारिका की व्याख्या की है । अन्यत्र भी इस कारिका का अधतः विवरण उपलब्ध है । इन सब विवरणों का सङ्कलन मैंने जयलता में किया है । प्रत्येक दोषकारी होते हुए भी समीलित होने पर गुड और सुण्ठ दोषकारक नहीं रहते हैं किन्तु बल-पुष्टि आदि के हेतु बन जाते हैं । दोषापहारपरक इस दृष्टान्त के बल से इस कारिका में स्याद्वाद की निर्दोषता का प्रतिपादन किया गया है (पृ ४६२)।

सप्तम कारिका का मध्यम स्याद्वादरहस्यविवरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है 'द्वय विरुद्ध नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः ।' इस पूर्वार्द्ध का अन्वय किस तरह लगाया जा सकता है ? इसका जो नव्यपदावलीगर्भित सूक्ष्म विवेचन महोपाध्यायजी ने किया है उसमें उनके व्याकरण, तत्त्वचिन्तामणिशब्दखण्ड नव्यवाद आदि शास्त्रों का गहरा ज्ञान प्रतिबिंबित हो रहा है । गदाधरकृत व्युत्पत्तिवाद के अभ्यासी के लिये यह विषय इतना जटिल नहीं बनेगा, जितना केवल तर्कसङ्ग्रह-मुक्तावली के अध्येताओं को होगा - यह हमारी राय है । बाद में एकत्र सत्त्व और असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व आदि विरुद्ध प्रतीयमान धर्मयुगल किस तरह समाविष्ट होते हैं ? इसका नयवाद से निरूपण किया गया है । सत्त्व की व्याख्या करते करते श्रीमद् उपाध्यायजी ने न्यायसम्मत जाति की आलोचना कर के ऊर्ध्वतासामान्य और तिर्यक्सामान्य की निर्दोषता का प्रतिपादन किया गया है । ऐसे देखा जाय तो ऊर्ध्वतासामान्य एवं तिर्यक्सामान्य का सविस्तर समर्थन स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध है । मगर उस पर जो आक्षेप किया जा सकता है, उसे बता कर नव्यन्याय की परिभाषा के आलंबन से उसको दूर करने की श्रीमद्जी की जो शैली है, उसमें उनकी अभिनवउन्मेषशाली प्रतिभा का दर्शन होता है । 'समकालीन भिन्नद्रव्यों का अनुगत धर्म जैनन्याय की परिभाषा के अनुसार तिर्यक्सामान्यपद से प्रतिपाद्य है और पूर्वापरकालीन विभिन्नपरिणामशाली द्रव्य ही ऊर्ध्वतासामान्य है'- यह प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार सूत्र में बताया गया है । मगर इसको यथावत् मान्यता दी जाय तब तो चिरस्थायी गुण एवं पर्याय में ऊर्ध्वतासामान्यपद की और तिर्यक्सामान्यपद की प्रवृत्ति नामुमकिन बन जायेगी, क्योंकि सूत्र में द्रव्यपदार्थ को केन्द्रस्थान में रख कर ही ऊर्ध्वतासामान्य और तिर्यक्सामान्य का स्वरूप बताया गया है - इस समस्या का हल करते हुए रहस्यकार ने यह सूत्ररहस्य बताया कि - द्रव्यपद धर्मिपरक है । इसका मतलब यह है कि पूर्वापरकालसाधारण धर्मी ही ऊर्ध्वतासामान्य है और एककालीन विभिन्न धर्मीओं का अनुगत अनतिप्रसक्त धर्म ही

तिर्यक्सामान्य है । स्वय द्रव्य न होते हुए भी द्रव्य की भाँति गुण-पर्याय धर्मी ता हो सकते ही हे । चिरकालस्थायी मनुष्यपर्याय भी वाल-युवा-वृद्ध आदि परिणाम = धर्म का आधार होने से धर्मी ता विना किसी हिचकिचाहट के कहा जा सकता है । अतएव उसमे ऊर्ध्वतासामान्यपद प्रतिपाद्यता भी निरावाध हे । एव एककालीन अनेक श्वेत गुण श्वेतत्व धर्म का आश्रय होने से धर्मी तो हे ही । अतएव उसमे रहा हुआ शुक्लत्व तिर्यक् सामान्यशब्द मे अभिलाप्य हे । इस गभीर तत्त्व के परिवेपणार्थ श्रीमद्जी ने केवल इतना ही कहा कि 'सूत्रस्थ द्रव्यपद धर्मिपरक हे' । यही महोपाध्यायजी की विशेपता है कि - वे जितना अर्थप्रतिपादन शब्द से करते है उससे अधिक अर्थ वे शब्द मे ही निहित रखते है। सूक्ष्म एव स्पष्ट रूप से यह विवेचन करने की क्षमता जो नव्यन्याय की पारिभाषिक पदावली मे हे वह प्राचीन परिभाषा मे नही हे । अतएव श्रीमद्जी के साहित्य से लाभान्वित होने के लिये नवीन न्याय का अध्ययन अपरिहार्य हे । नव्यन्यायदर्शन की परिभाषा को अपना कर और स्वसिद्धातो का सन्तुलन रख कर सपरिष्कार निर्दोष प्रतिपादन करना वहुत कठिन है, मगर श्रीमद्जी इसमे सफल रहे है ।

वाद मे प्रवचनसार ग्रन्थ का हवाला दे कर दिगम्वरमतानुसार स्वरूपअस्तित्व का प्रतिपादन कर के उस पर अपनी स्वतत्र मीमासा का भी श्रीमद्जी ने दर्शन कराया है (पृष्ठ-४८४) । आगे चल कर (पृ ४८९) नेयायिकसम्मत सादृश्यपदार्थ का निरूपण एव निराकरण कर के जेनमतानुसार सङ्ग्रह नय के अवलम्वन से सादृश्यपदार्थ को प्रकाशित किया हे । न्यायवशेपिकदर्शनअभिमत विशेपपदार्थ का तो श्रीमद्जी ने कचूवर निकाला है (पृष्ठ-५०९) ।

इस सप्तम श्लोक का महत्त्वपूर्ण वादस्थल हे (पृष्ठ-५२४) अभिलाप्यत्वपदार्थपरीक्षण, जो इस तरह सूक्ष्मरूप से अन्यत्र मुझे दृष्टिगोचर नही हुआ हे । यह वादस्थल वृहत्कल्प भाष्य के वचनो की सूक्ष्म मीमासा से भरा हुआ है । शब्द को प्रमाण नही मानने वाले वोद्धो का निराकरण श्रीमद्जी ने शब्दाद्वेतवादी की युक्ति से किया हे, उसमे यह जानकारी सुज्ञ जनो को मिल सकती है कि 'स्याद्वाद को केन्द्र मे रख कर किस तरह परदर्शन को भी मान्यता दी जाय ?'

--> केवली की देशना शब्दात्मक नही हे किन्तु ध्वनिस्वरूप है, जो शब्दात्मना परिणत हो कर श्रोताओ का विपय वनती हे, क्योकि शब्द का कारण है इच्छा, जो रागात्मक होने से केवली मे नही हो सकती । विना कारण के, केवली शब्दो का प्रयोग केसे कर सकते हे ? यदि ऐसा न माना जाय ओर केवली को वक्ता माना जाय तव तो उनमे वीतरागता का ही विच्छेद हो जायेगा । <-- यह दिगम्वरमत है, जिसका खण्डन महोपाध्यायजी ने इस तरह किया है कि वर्णमात्र के प्रति प्रयत्न कारण हे ओर प्रयत्न का कारण इच्छा हे फिर भी वीतराग केवली शब्द प्रयोग कर सकते हे, क्योकि केवली मे मोहाभिव्यक्त चेतन्यविशेपात्मक इच्छा न होने पर भी मोहानभिव्यक्त चेतन्यविशेपात्मक इच्छा तो निरावाध हे। इच्छामात्र अभिष्वङ्गात्मक ही होती हे - यह कोई नियम नही है। निरुपाधिकपरदुःखप्रहाणेच्छा करुणात्मक है, न कि रागात्मक। विस्तार से इस विपय का निरूपण अध्यात्ममतपरीक्षा, स्याद्वादकल्पलता, तत्त्वार्थनव्यटीका आदि मे श्रीमद्जी ने ही किया हे ।

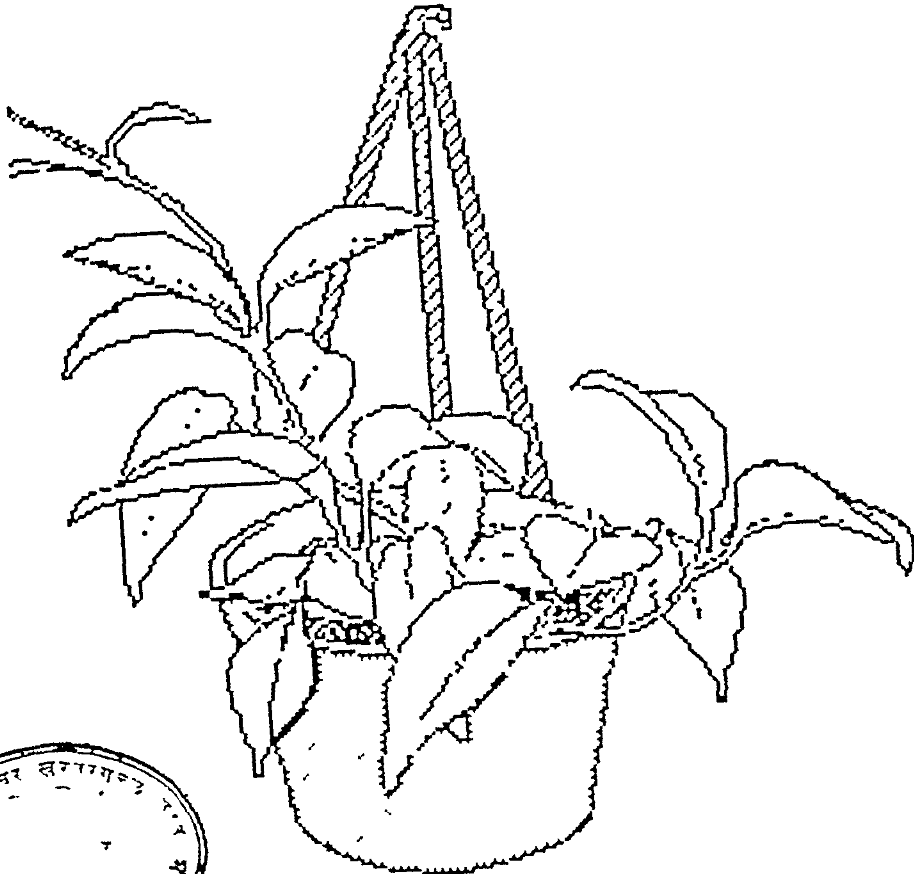
आगे चल कर सप्तम कारिका के उत्तरार्द्ध की विभिन्न व्याख्याओ का आविर्भाव किया गया है । वाद मे सामान्य विशेप मे विरोध के परिहारार्थ मयूरपख आदि मेचक पदार्थो का दृष्टान्त वता कर सप्तम श्लोक का विवरण समाप्त किया हे (पृष्ठ-५४९) । अष्टम कारिका मे विज्ञान को साकार एव निराकार, एकाकार ओर अनेकारात्मक मानने वाले वोद्ध मनीपी भी किस तरह अनेकान्तवाद की नीव पर खडे है ? यह वता कर अनेकान्तवाद की सर्वदर्शन मे व्यापकता का समर्थन किया गया है । वीतरागस्तोत्र के अष्टमप्रकाश की ४-५-६-७ कारिका के (म)स्याद्वादरहस्यनामक महोपाध्यायकृत विवरणग्रन्थ के विपयो का यहाँ जो निर्देश किया गया हे वह सक्षिप्त विवेचन हुआ । उससे ज्ञात उपाध्यायजी की कलम की कुछ कमाल से सुज्ञ वाचको के दिमाग मे 'पूरे ग्रन्थो नव्यन्याय की परिभाषा मे इन सभी विपयो का प्रतिपादन श्रीमद् महोपाध्यायजी ने किस तरह किया हे ?' - यह उत्कण्ठा जिज्ञासा जरूर उत्पन्न होगी । यह उत्कण्ठा ओर जिज्ञासा निरुत्साह न वने तदर्थ गुरुकृपा से क्षयोपशमानुसार जयलता (सस्कृत टीका) एव रमणीया (हिन्दी टीका) को मेने वनाई हे । इस ग्रन्थ के अभ्यास के लिये अभ्यासिओ को एक विवेचन की आवश्यकता पहले महसूस होती थी जिसकी पूर्त्ति करने का मेने एक नम्र प्रयास किया हे । आशा हे सस्कृत-हिन्दी टीकाद्वय के माध्यम से अध्येतागण को उपाध्यायजी के प्रस्तुत ग्रन्थ के पदार्थ-वाक्यार्थ-महावाक्यार्थ-ऐदम्पर्यार्थ को समझने मे सुगमता रहेगी । सभी विपयो के जिज्ञासु विपयानुक्रम से अधिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।

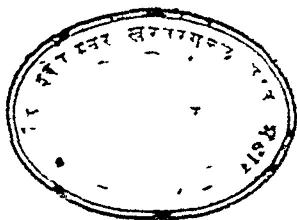
परमाराध्यपाद सिद्धातमहोदधि वात्सल्यवारिधि सुविशालगच्छाधिपति स्वर्गस्थ भगवान् प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के अनगिनत दिव्याशिप से, पूज्यपाद गच्छाधिपति-वर्धमानतपोनिधि प्रगुरुवर्य आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी

म. की महती कृपा से, परमोपकारी कर्मसाहित्यनिष्णात न्यायविशारद सिद्धान्तदिवाकर श्रीमद् विजय जयघोषसूरीश्वरजी महाराज की प्रोत्साहक प्रेरणा से, दीक्षागुरुदेव श्रीमद्भगवतीसूत्रदाता प्रभावक गच्छाधिपति श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म. के अमोघ उपकार से, प्रथमखण्ड के संशोधक पूज्यपाद विद्यागुरुवर्य पन्यासप्रवर श्री जयसुन्दरविजयजी म. के सफल मार्गदर्शन से, सर्वोपकारी पूज्यपाद शासनप्रभावक, पद्ममणितीर्थोद्धारक गुरुवर्यश्री विश्वकल्याणविजयजी महाराज की अनहद कृपा से, सम्पूर्ण टीकाग्रन्थ के संशोधक विद्वद्वर्य तपस्वी पूज्य मुनिराजश्री पुण्यरत्नविजयजी म. की निःस्वार्थ परोपकारपरायणता से, विद्यागुरुवर्य पूज्य मुनिराजश्री अभयशेखरविजयजी म., श्री अजितशेखरवि. म. एवं बंधुवर कल्याणमित्र मुनिराजश्री कल्याणबोधिविजयजी म., मुक्तिवल्लभविजयजी म. युगसुन्दरविजयजी म. आदि के निर्व्याज स्नेह से तथा सहवर्ती सभी मुनिवरों के सहकारभाव से मध्यमस्याद्वादरहस्य ग्रन्थ की टीकारूप की रचना और सम्पादन के द्वारा जो पावन पुण्य का उपार्जन हुआ उससे विश्वकल्याण एवं विश्वमंगल हो यही एक मनःकामना ।

मुनि यशोविजय

…सूरि आराधनाभवन, सूरत   २०४८ पोष सुद-





विषयमार्गदर्शिका

Bold Type जयलता के विपय के सूचक है । Normal Type रमणीया-हिन्दी व्याख्या के ज्ञापक है ।

विषय — पृष्ठ

ॐ नमः सिद्धम् ।

महामहोपाध्याययशोविजयगणिवरविरचितम् ।

मुनियशोविजयकृतजयलताटीका-रमणीयाभिधानव्याख्याभ्या विभूषितम्

स्याद्वादरहस्यम्

(मध्यम)

(द्वितीयः खण्डः)

अथैकान्तवादोपकल्पितकर्कशतरतर्कतिमिरनिकरनिराकरणेन प्रकटीभूतप्रतापं भास्वत-मनेकान्तवादमभिनन्दन्ति -> 'यदा त्वि'ति ।

यदा तु नित्याऽनित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेत् ।
यथाऽऽत्थ भगवन्नैव तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

ननु परेऽपि "पृथिव्यादीन्यपि नित्यानि परमाणुरूपाणि, स्थूलानि पुनरनित्यानि" इति

❀ जयलता ❀

यस्य दृष्टि समाना हि गौशालके च गौतमे ।
त प्रणम्य महावीर वृत्तिरग्रे वितन्यते ॥१॥

पञ्चमकारिकोपाद्घातमाह -> अथेति । एकान्तवादोपकल्पितेति । एकान्तवादिभिर्विरचितो योऽतितिक्ष्णतर्कलक्षणतमोव्यूह. तदपाकरणेनेत्यर्थ. । तदपाकरणपूर्वकमिति यावत् । यदा तु नित्यानित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेदिति । यदा हि नित्यत्वसभिन्नाऽ-नित्यत्वात्मकता वस्तुत्वावच्छिन्ने भवेदित्यर्थ । एतेन 'सर्वथाक्षणिकवादेऽर्थक्रियाकारित्वाद्यसभवेन पारिशेपाद् वस्तुस्वरूपमेकान्त-नित्यत्वे पर्यवस्यती'ति नित्यैकान्तवादिवचन तथा कूटस्थनित्यत्ववादेऽर्थक्रियाकारित्वाद्यसभवेन पारिशेपन्यायेन वस्तुस्वरूप क्षणिकत्वे पर्यवस्यती'ति बौद्धवचन च प्रत्युक्तम्, नित्यानित्यत्वस्वरूपस्याऽपि वस्तुनि जागरितत्वात् ।

शङ्कते - नन्विति । परेऽपि = नैयायिकादयोऽपि, पृथिव्यादीन्यपि वाय्वन्तानि द्रव्याणि नित्यानि = ध्वसाऽप्रतियोगीनि परमाणुरूपाणि, स्थूलानि पृथिव्यादीनि द्व्यणुकादिरूपाणि, पुनरिति विशेषद्योतनाय, अनित्यानि = ध्वसप्रतियोगीनि,

⁂ रमणीया ⁂

इस तरह आद्य चार श्लोक द्वारा एकातवाद से कल्पित अत्यत कर्कश तर्कस्वरूप अधकार के समूह का निरसन करने से जिसका प्रताप-तेज प्रकट हुआ है ऐसे अनेकान्तवादस्वरूप सूर्य का मूलकार पचम कारिका मे अभिनन्दन करते है । कारिका का अर्थ निम्नोक्त है ।

❀ पाँचवी कारिका का सामान्य अर्थ ❀

जिस तरह भगवान जिनेश्वर ने वस्तु के नित्याऽनित्यस्वरूप का निवेदन किया हे वेसा माना जाय तव किसी दोप को अवकाश नही है ।५।

❀ परदर्शनी और जिनेन्द्र से प्रदर्शित वस्तु का नित्यानित्यस्वरूप अलग-अलग है ❀

ननु प इति । यहाँ यह शका हो कि -> "नैयायिक आदि परदर्शनी भी पृथ्वी, जल, तेज आदि को नित्य और अनित्य मानते ही है, क्योकि उनका यह सिद्धात है कि परमाणुस्वरूप पृथ्वी, जल आदि नित्य है और द्वयणुक त्र्यणुक

सगिरन्त इति को विवाद ? इत्यत आहु. - 'यथात्थे'ति । भगवान् (१) स्यान्नित्य, (२) स्यादनित्य, (३) स्यान् नित्याऽनित्य, (४) स्यादवक्तव्य, (५) स्यान्नित्यमवक्तव्य, (६) स्यादनित्यमवक्तव्य, (७) स्यान्नित्य चाऽनित्यश्चाऽवक्तव्यश्चेति प्रकाशयति, न तथा परे स्वप्नेऽपि सविद्रत इति भाव ।

इदमिदानी निरूप्यते –सर्वत्र हि वस्तुनि स्यान्नित्यत्वादय सप्त धर्मा: प्रत्यक्ष प्रतीयन्ते।

❀ जयलता ❀

सगिरन्ते इति को विवाद· ? पृथिव्यादीनि द्रव्याणि पर नित्याऽनित्यरूपाणि स्वीक्रियन्त एवेति विवादोऽनुत्थानहत एवेति नन्वाशय । अत हेतो आहु. श्रीहेमचन्द्रसूरीन्द्रा इति शेष । स्यान्नित्यमिति । भजनया ध्वसाऽप्रतियोगीत्यर्थ । स्यादनित्यमिति । कथञ्चिद् ध्वसप्रतियोगीत्यर्थ । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । भावना चतेषा भङ्गाना स्वयमेवानुपद प्रकरणकृद् वक्ष्यतीति मोत्कण्ठोभव । उपलक्षणात् "स्यात सत्, स्यादसत्, स्यात्सदसत्, स्यादवक्तव्य, स्यात्सदवक्तव्य, स्यादसदवक्तव्य, स्यात्सदसदवक्तव्यम्, स्यादेक, स्यादनेक स्यादेकानेक, स्यादवक्तव्य, स्यादेकमवक्तव्य, स्यादनेकमवक्तव्य, स्यादेकानेकाऽवक्तव्यमि"त्यादिग्रहण स्वयमेव कर्तव्यम् । नेति । व्यवहितसबन्ध । तथेति । एकस्मिन्नेव वस्तुनि यथा भगवता शबलितनित्यत्वानित्यत्व-सत्त्वासत्त्व-कत्वानेकत्व-वाच्यत्वाऽवाच्यत्वादिस्वरूपमुपदर्शित तेन प्रकारेण परे = प्रवचनबाह्या , स्वप्नेऽपि किमुत जागरावस्थाया ? नैव सविद्रते = अनुभवन्ति । परे हि परमाणुरूपेषु पृथिव्यादिषु केवल नित्यत्वमेवाऽऽमनन्ति, द्व्यणुकादिलक्षणेषु च पर ध्वसप्रतियोगित्वमेव, न तु कर्बुरितनित्यत्वानित्यत्वादिस्वरूप कदाऽपि । अतो न तत्र दोषाऽनवकाश किन्तु भगवदाकलिते शबलैकवस्तुस्वरूपे एवेति न साम्यम् । एवञ्च विप्रतिपत्तिर्निराबाधेति न सिद्धसाधनदोषावकाश इति तात्पर्य पर्यालोचनीयम् ।

लिङ्गाद्यर्थव्यतिरिक्तार्थप्रतिपादक घटादिपदसमभिव्याहृत स्यात्पदमनेकान्त द्योतयति = औपसर्गिकस्या शक्त्या बोधयति । एतेन "अस्तीति वर्तमानत्व बोध्यते, स्यादिति कालत्रयाऽनवमर्शिविधेयत्वम् । तयो परस्परविरुद्धयो कथमेकस्मिन्नर्थे पर्यवसान = युगपद्बोध्यत्वम् ' (क त प पृ ५६१ - ब्र सू २/२/३३) इति स्यादस्तीत्यस्याऽप्रामाणिकत्वमाविष्कुर्वन् कल्पतरुपरिमलकार अप्पयदीक्षित प्रतिक्षिप्त , स्यात्पदोत्तरघटादिपदप्रतिपाद्यानेकान्तात्मकघटाद्यर्थे विशिष्य शक्तिस्वीकारात् । औपसर्गिकी शक्तिरेवात्र द्योतनमिति भाव । धर्मिवाचकपदसमभिव्याहृत स्यात्पदमनेकान्तात्मकत्वद्योतक धर्मवाचकपदसमभिव्याहृत तु तत्तत्स्व-परद्रव्यक्षेत्र-कालाद्यवच्छेदकविस्फोरकमित्यादिक स्वसमयनीत्यनुसारेण विभावनीय सुधीभि ।

प्रसङ्गासङ्गत्या सप्तभङ्गीघटकीभूतधर्मान् निरूपयति- इदमिति । प्रत्यक्ष प्रतीयन्त इति । उपदेशसहकारेण साक्षात्

आदि स्थूल कार्यात्मक पृथ्वी, जल आदि तत्त्व अनित्य ह । जसे जिनेन्द्र भगवत वस्तु को नित्यानित्य मानते है, ठीक वैसे ही उक्त रीति से नैयायिकादि भी पृथ्वी आदि तत्त्व को नित्य आर अनित्य मानते ही है । इस परिस्थिति मे विवाद = विप्रतिपत्ति कसे सभव हे ? विवाद तब प्रसक्त हो सकता ह, जब वादी-प्रतिवादी का मतव्य परस्पर विपरीत हो । यहाँ तो वादी-जैन एव प्रतिवादी-नैयायिकादि दोनो ही पृथ्वी आदि को नित्यानित्य मानते हे । अत विप्रतिपत्ति का उत्थान ही नामुमकिन हे" <— तो यह ठीक नही ह, क्योकि अक्षपाद आदि ने जसे नित्यत्वानित्यत्व का पृथ्वी आदि मे प्रतिपादन किया हे वसे वीतराग भगवत ने नही किया ह । भगवान ने तो यह प्रतिपादन किया हे कि प्रत्येक पदार्थ (१) कथचित् नित्य ह, (२) कथचित् अनित्य हे, (३) कथचित् नित्यानित्य है, (४) कथचित् अवक्तव्य है, (५) कथचित् नित्य ओर अवक्तव्य हे, (६) कथचित् अनित्य एव अवक्तव्य ह, (७) कथचित् नित्य, अनित्य एव अवक्तव्य हे । अक्षपाद - कणाद आदि परदर्शनस्थापक मनीषिओ को तो 'प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सात स्वरूप मे विभक्त होता है' - ऐसा ज्ञान स्वप्न मे भी नही होता ह । वे तो परमाणुस्वरूप पृथ्वी, जल आदि को केवल नित्य ही मानते हे । उनके अभिप्रायानुसार परमाणु मे किसी भी अपेक्षा से अनित्यत्व का अवकाश नही ह । उनके मतानुसार द्व्यणुक-घट आदि मे केवल अनित्यत्व ही होने से कथचिदपि नित्यत्व नामुमकिन है । अत वीतरागप्रतिपादित वस्तुस्वरूप ओर परतीर्थिकप्रकाशित पदार्थस्वरूप मे आकाश-पाताल का अतर हे । कहाँ राजा भोज, कहाँ गागू तेली ? ।

⁂ प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सप्तधर्मात्मक है - स्याद्वादी ⁂

इदमिदा इति । अब व्याख्याकार श्रीमद्जी भगवान ने जिस तरह वस्तु का प्रकाशन किया हे, उस तरह प्रत्येक वस्तु मे सप्त धर्म का प्रतिपादन करते हुए कहते है कि सब वस्तु मे कथचित् नित्यत्व आदि सात धर्म प्रत्यक्ष ही जाने जाते

तथाहि (१) घटो द्रव्यत्वेन नित्य (२) पर्यायत्वेन चाऽनित्यः इति संवेद्यते । न च ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्व-तदवच्छेदकपर्यायत्ववत्त्वरूपे नित्याऽनित्यत्वे कथं द्रव्यत्व-पर्यायत्वावच्छेद्ये ? स्वस्य स्वाऽनवच्छेदकत्वादिति वाच्यम्, अत्र ध्वसप्रतियोगित्व-तदभाव-

❀ जयलता ❀

प्रतीतिविपयीभवन्तीति । तदेव दृढीकरणार्थमाह- **तथाहीति** । **द्रव्यत्वेन नित्य** = द्रव्यत्वावच्छिन्नध्वसीयप्रतियोगित्वाभाववान्, द्रव्यत्वश्चोपलक्षण पुद्गलत्वादीनाम् । घट स्यान्नित्य इति प्रथमभङ्गधर्म दर्शयित्वा 'घट स्यादनित्य' इति द्वितीयभगधर्म दर्शयति - **पर्यायत्वेन चाऽनित्य** इति । घटत्वादिलक्षणपर्यायत्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगितावान् घट इत्यर्थ । द्रव्यत्वादिना तदनाश इव घटत्वादिना तन्नाशोऽपि साक्षात् प्रतीयत एव ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय । **नित्याऽनित्यत्वे** इति । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण प्रत्येकमभिसम्बध्यत'इतिन्यायात् नित्यत्वमऽनित्यत्वश्चेत्यर्थ । **कथमिति** । अय भाव ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकीभूतद्रव्यत्वधर्मवत्त्वरूपस्य नित्यत्वस्य द्रव्यत्वावच्छिन्नत्व ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकीभूतपर्यायत्वलक्षणघटत्वादिधर्मवत्त्वरूपस्याऽनित्यत्वस्य च पर्यायत्वावच्छिन्नत्व न सभवति अवच्छेदकाऽवच्छेद्यभावस्य भेदव्याप्यत्वात्, अभिन्नयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीते । न हि वृक्षे कपिसयोग कपिसयोगावच्छिन्नो भवति किन्तु कपिसयोगातिरिक्तशाखाऽवच्छिन्नो भवति । प्रकृते तु द्रव्यत्वस्य स्वावच्छेद्यध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्वाऽनतिरिक्तत्वात् पर्यायत्वस्य च स्वावच्छेद्यध्वसप्रतियोगितावच्छेदकपर्यायत्ववत्त्वाभिन्नत्वात् नावच्छेदकता सभवति, अन्यथा कपिसयोगस्याऽपि स्वावच्छेदकत्व प्रसज्येतेति 'घटो द्रव्यत्वेन नित्य पर्यायत्वेन चानित्य' इति प्रतीतिर्न प्रामाणिकीति शङ्काकृदाशय ।

स्याद्वादी तन्निराकरणाय हेतुमाह - **अत्रेति** । सप्तभङ्ग्यामिति । **ध्वसप्रतियोगित्व-तदभावरूपयोरेवेति** । अभेदान्वयश्चाऽस्य नित्यानित्यत्वयोरित्यत्र व्युत्क्रमेण बोध्य । एवकारेण ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकावच्छेदकवत्त्वरूपयोरित्यस्य व्यवच्छेद. कृत. ।

है । देखिये, घट को देख कर 'यह द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य है ओर पर्यायत्व की अपेक्षा अनित्य हे' ऐसा बोध होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि घट का विनाश घटत्व आदि स्वरूप पर्यायत्वावच्छेदेन ही होता है, न कि द्रव्यत्वावच्छेदेन । इस विपय का निरूपण तो हम प्रथम श्लोक की व्याख्या मे कर चुके है । इसलिए वापस यहाँ उसका निरूपण करना पाठक का अमूल्य समय वरवाद करना समझते हे । अत. उसका विवेचन यहाँ नही किया जाता है ।

❁ शका - द्रव्यत्व-पर्यायत्व क्रमश· नित्यत्व और अनित्यत्व का अवच्छेदक नही हो सकता ❁

शका .- न च ध्व इति । आपने जो अभी वताया कि —> 'द्रव्यत्वावच्छेदेन नित्यत्व आर पर्यायत्वावच्छेदेन अनित्यत्व घट मे रहता हे, जो प्रत्यक्षत· प्रतीयमान हे' <— वह ठीक नही हे, क्योकि वह प्रतीति केवल प्रतीति ही हे, प्रमीति नही । मतलव कि वह प्रतीति भ्रात ह । इसका कारण यह है कि नित्यत्व का अर्थ हे ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व तथा अनित्यत्व का अर्थ हे ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व । ध्वसप्रतियोगिता का अनवच्छेदक द्रव्यत्व ही है एव ध्वस की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म पर्यायत्व ही हे । अत आप द्रव्यत्वावच्छेदेन नित्यत्व का प्रतिपादन करते है, इसका अर्थ यह प्राप्त होता है कि द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्व हे । अर्थात् द्रव्यत्व ही ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्व का अवच्छेदक हे और ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदक द्रव्यत्व ही द्रव्यत्व से अवच्छेद्य हे । इसी तरह घट मे पर्यायत्वावच्छेदेन अनित्यत्व हे - इसका अर्थ यह होता है कि पर्यायत्वावच्छेदेन ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकपर्यायत्ववत्ता है । अर्थात् पर्यायत्व ही ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकीभूत पर्यायत्व का अवच्छेदक है ओर ध्वसनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक पर्यायत्व ही पर्यायत्व से अवच्छेद्य हे । मगर यह कथमपि सभव नही है, क्योकि ऐसा मानने पर अपने को ही अपना अवच्छेदक मानने की आपत्ति आयेगी । मगर अपने मे अपनी अवच्छेदकता नही रहती है । अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव भेदनियत होता हे । अवच्छेदक से अवच्छेद्य भिन्न होने पर ही वह उसका अवच्छेदक हो सकता है, क्योकि अवच्छेदक का अर्थ हे नियामक ओर अवच्छेद्य का अर्थ हे नियम्य । नियामक से नियम्य अलग ही होता है-यह व्यवहार मे भी देखा जाता है । विद्यार्थी शिक्षक से नियम्य होता हे । न्याय की परिभापा मे विचार किया जाय तो हम ऐसा कह सकते हे कि 'वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसयोग ' यह प्रतीति होती है, जिसमे शाखा अवच्छेदक ओर कपिसयोग अवच्छेद्य हे । कपिसयोग का अवच्छेदक कपिसयोग नही होता है और शाखा से अवच्छेद्य शाखा नही होती है । दोनो ही अलग-अलग होते हे । प्रस्तुत मे तादृशद्रव्यत्वस्वरूप नित्यत्व ओर द्रव्यत्व एक ही हे एव तादृशपर्यायत्वात्मक अनित्यत्व और पर्यायत्व भी परस्पर अभिन्न हे । अत उन दोनो मे अवच्छेदक-अवच्छेद्यभाव नही वन पाता । फिर भी उनमे अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव का अवगाहन वह प्रतीति करती हे । अत वह अप्रामाणिक हे ।

रूपयोरेव नित्यानित्यत्वयोरेकत्र समावेशाय द्रव्यत्व-पर्यायत्वाऽवच्छेद्यत्वाभ्युपगमात् ।
अस्तु वा विशिष्टस्य स्वस्यापि स्वावच्छेद्यत्वं कथमन्यथा अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिता-

❋ जयलता ❋

एकत्र धर्मिणि समावेशाय = विरोधपरिहारपूर्वकनिवेशकृते, द्रव्यत्व-पर्यायत्वावच्छेद्यत्वाभ्युपगमात् = द्रव्यत्व-पर्यायत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतोपगमात् । अयं भावः नित्यत्वं यदि ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्वरूपमभ्युपगम्येत तदा तु भवदुक्तरीत्या द्रव्यत्वावच्छिन्नं तत्र स्यात् परन्तु न तथोपेयते इत्यापादकाभावः । मया तु ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपमेव नित्यत्वमुपेयते । तच्च न भवन्मतेऽपि द्रव्यत्वस्वरूपम् । अतः ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूपस्य नित्यत्वस्य द्रव्यत्वावच्छेद्यत्वे न किमपि दूषणम् । एवमनित्यत्वमपि ध्वंसप्रतियोगित्वरूपं घटत्वादिलक्षणपर्यायत्वव्यतिरिक्तमेवेति न तस्य पर्यायत्वावच्छिन्नत्वे किमपि बाधकम् । यद्यपि द्रव्यत्वावच्छिन्न-ध्वंसीयप्रतियोगिताया अप्रसिद्धत्वेन तादृशप्रतियोगिताकाऽभावस्याऽप्यप्रसिद्धिस्तथापि 'इदं द्रव्यमि'-त्यादिज्ञानीयविषयताया द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वस्य प्रसिद्धत्वेन ध्वंसनिरूपितप्रतियोगिताया तदभावप्रतिपादने तात्पर्यमिति न कोऽपि दोषः । अतो द्रव्यत्व-पर्यायत्वयोः तदवच्छेदकत्वं युक्तमेवेति स्याद्वादाशयः ।

ननु नित्यत्वानित्यत्वे ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदक-तदवच्छेदकधर्मवत्त्वरूपे एव न तु ध्वंसाऽप्रतियोगित्व-तत्प्रतियोगित्वस्वरूपे, क्लृप्तं विहायाऽतिरिक्तप्रतियोगित्वादिरूपतत्कल्पने गौरवादित्याशङ्कायामाह-अस्तु वेति । इत्थमभ्युपगमवादेन बोध्यम् । विशिष्टस्य = ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकत्वप्रभृतिविशिष्टस्य, स्वस्याऽपि = द्रव्यत्वादेरपि स्वावच्छेद्यत्वं = शुद्धद्रव्यत्वावच्छेद्यत्वम्, शुद्धधर्मस्य विशिष्टस्यावच्छेदकत्वादिति शेषः । अयं भावः ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकत्वविशिष्टद्रव्यत्ववत्त्वस्वरूपं नित्यत्वं द्रव्यत्वेनाऽवच्छिद्यते ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकत्वविशिष्टपर्यायत्ववत्त्वस्वरूपमनित्यत्वं च पर्यायत्वेनावच्छिद्यत इति घटादि द्रव्यत्वेन नित्यं पर्यायत्वेन चाऽनित्यं इति प्रतीतेर्नाऽप्रामाणिकत्वम् । विपक्षे बाधमाह - कथमन्यथेति । स्वस्य विशिष्टस्यावच्छेदकत्वानुपगमे

❋ ध्वंसाप्रतियोगितात्मक नित्यत्व का अवच्छेदक द्रव्यत्व - समाधान ❋

समाधान :- अत्र ध्वं इति । उस्ताद ! हम क्या कहते हैं यह तो पहले सुनो । हम नित्यत्व को ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्ववत्त्वस्वरूप नहीं मानते हैं, किन्तु ध्वंसाऽप्रतियोगितात्मक मानते हैं । तथा अनित्यत्व भी ध्वंसप्रतियोगितास्वरूप है, न कि ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकपर्यायत्वसत्तास्वरूप - ऐसा हम मानते हैं । द्रव्यत्व तो ध्वंसाऽप्रतियोगितास्वरूप यानी ध्वंसनिरूपितप्रतियोगित्वाभावात्मक नहीं है, क्योंकि द्रव्यत्व भावात्मक धर्म है, जब कि तादृशनित्यत्व अभावात्मक है । इसी तरह ध्वंसप्रतियोगितास्वरूप अनित्यत्व भी पर्यायत्व से भिन्न है । अतः द्रव्यत्व तादृश नित्यत्व का एवं पर्यायत्व तादृश अनित्यत्व का अवच्छेदक हो सकता है । अतः कोई आपत्ति नहीं है । यद्यपि द्रव्यत्वावच्छिन्न ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होने से तादृश प्रतियोगिता के अभाव को नित्यत्व स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव अस्वीकार्य है । अतः तादृश नित्यत्व को मान्यता नहीं दी जा सकती तथापि जिस ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता में द्रव्यत्वावच्छिन्नत्व का अभाव है तादृश प्रतियोगिता को ही नित्यत्वस्वरूप मानी जा सकती है । आशय यह है कि 'इदं द्रव्य' इत्याकारक ज्ञान से निरूपित विषयता में द्रव्यत्वावच्छिन्नत्व है और उसका अभाव है ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता में । द्रव्यत्वावच्छिन्नत्व विषयता में प्रसिद्ध होने से उसका अभाव, जो कि ध्वंसीयप्रतियोगिता में है, अप्रसिद्धप्रतियोगिक नहीं कहा जा सकता । अतः द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वाभावविशिष्ट ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता को ही नित्यत्वस्वरूप मानी जा सकती है । अतः द्रव्यत्व नित्यत्व का एवं पर्यायत्व अनित्यत्व का अवच्छेदक हो सकता है । इस तरह एक धर्मी में ही नित्यत्व और अनित्यत्व का समावेश करने के लिए द्रव्यत्व और पर्यायत्व को उन दोनों का क्रमशः अवच्छेदक माना गया है । विरुद्ध धर्म का एक धर्मी में समावेश करने के लिए अवच्छेदक भेद का अनुसरण आवश्यक है - ऐसा जो नैयायिकादि का सिद्धांत है, उसके अनुसार यहाँ नित्यत्व और अनित्यत्व में क्रमशः द्रव्यत्व और पर्यायत्व से अवच्छेद्यत्व बताया गया है ।

❋ शुद्ध धर्म से अवच्छेद्य विशिष्ट स्व हो सकता है - स्याद्वादी ❋

अस्तु वा इति । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ध्वंसीयप्रतियोगितानवच्छेदकद्रव्यत्वात्मक नित्यत्व का अवच्छेदक द्रव्यत्व ही है और ध्वंसनिरूपितप्रतियोगितावच्छेदकपर्यायत्वस्वरूप अनित्य का अवच्छेदक पर्यायत्व ही है, क्योंकि विशिष्ट स्व (धर्म) का अवच्छेदक शुद्ध धर्म हो सकता है । आशय यह है कि नित्यत्व को उपर्युक्त विशिष्ट द्रव्यत्वात्मक मानने पर भी शुद्ध द्रव्यत्व उसका अवच्छेदक हो-इसमें कोई बाध नहीं है, क्योंकि विशिष्ट धर्म शुद्ध धर्म से अवच्छेद्य हो सकता है । यह

वच्छेदकदंडत्वादिरूपा कारणता दंडत्वाद्यवच्छिन्ना स्यात् ?

(३) क्रमिकविधिनिषेधाऽर्पणासहकारेण स्यान्नित्याऽनित्योऽपि प्रतीयते । न च समुदिताभ्या नित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यामेवैतन्निर्वाहात् धर्मान्तरकल्पन किमर्थकं ? इति वाच्यम्, समुदितयोः

❀ जयलता ❀

कथ **अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकदण्डत्वादिरूपा** = एकादशकारिकावृत्तिवक्ष्यमाणस्वरूपे अनन्यथासिद्धत्वे सति घटादिकार्योत्पादाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणनिरूपितवृत्तित्वावच्छेदकीभूतदडत्वादिलक्षणा **कारणता** = घटादिनिरूपितकारणता, **दण्डत्वाद्यवच्छिन्ना** = स्वात्मकदडत्वाद्यवच्छिन्ना **स्यात्** ? नैव स्यादित्यर्थ । अय भाव 'दण्डो दण्डत्वेन घटकारण न तु द्रव्यत्वादिना' इत्यादिस्वारसिकानुभवबलेन यथा दण्डत्वे प्रोक्तविशिष्टदण्डत्वात्मककारणत्वावच्छेदकत्व तादृशकारणताया च स्वात्मकदण्डत्वावच्छेद्यत्व तथैव 'घटो द्रव्यत्वेन नित्य पर्यायत्वेन चाऽनित्य' इति स्वरसवाह्यनुभवबलेन द्रव्यत्वपर्यायत्वयो· प्रोक्तविशिष्टद्रव्यत्वपर्यायत्वस्वरूपनित्यत्वानित्यत्वावच्छेदकत्वमपि निराबाध, अन्यथाऽर्धवैशसापत्ते ।

वस्तुतस्तु 'विशिष्ट शुद्धान्नातिरिच्यत' इति नियमे मानाभाव । प्रागुक्तदिशा विशिष्टस्य शुद्धातिरेकात् तादृशविशिष्टद्रव्यत्वादिस्वरूपनित्यत्वोपगमे गौरवादिति 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापात । प्रत्युत ध्वसाऽप्रतियोगित्वतत्प्रतियोगित्वरूपनित्यत्वाऽनित्यत्वोपगमे एव लाघव, प्रतियोगिताया सर्वथाऽतिरिक्तत्वाभावादिति **दिक्** ।

तृतीयधर्म निर्दिशति- **क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेणेति** । क्रमश आदिष्टान्वय-व्यतिरेकयो साचिव्येनेत्यर्थ । **स्यान्नित्यानित्योऽपि** = कथञ्चित् नित्योऽनित्यश्चाऽपि. घट इत्यत्रानुवर्तते । एवमग्रे भङ्गचतुष्केऽपि स स्वयमन्वेतव्य । क्रमेण द्रव्यत्वापेक्षया पर्यायत्वापेक्षया च घटो नित्यश्चाऽनित्यश्चेति प्रतीयत इत्यर्थ । **न च** तत्र शब्दयो क्रमव्यापारेऽप्यर्थस्य विशिष्टस्य क्रमाऽघटितत्वात् क्रमाद्यनतिप्रयोजनमित्याशङ्कनीयम्, शब्दगतस्याऽपि क्रमस्याऽर्थेऽध्यारोपात्, ''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, य शब्दानुगमादृते । अनुवद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते'' (वा प का १/का) इति नयाश्रयणात् । अस्तु वा क्रमादिति वचन ज्ञानाकारविशेषोपलक्षकमेवेति **दिक्** ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय । **एतन्निर्वाहात्** = तृतीयभङ्गोपपत्ते., **धर्मान्तरकल्पन** = मिलितनित्यत्वाऽनित्यत्वोभयव्यतिरिक्तनित्यानित्यत्वस्वरूपधर्मविशेषकल्पन, **किमर्थक** ? निरर्थकमिति काक्वा ध्वन्यते । प्रथमद्वितीयभङ्गयोर्विशकलितनित्यत्वानित्यत्वयोरेव समाहारात् तृतीयभङ्गसभवे उभयविलक्षणधर्मकल्पनमनतिप्रयोजनम् । यथा वृक्षसमुदाय एव वन

तो नैयायिक महाशय को मानना ही पडेगा, क्योकि विशिष्टदडत्वस्वरूप कारणता की अवच्छेदकता दंडत्व मे अन्यथा अनुपपन्न होगी । नैयायिकमतानुसार अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तितावच्छेदक धर्मस्वरूप कारणता है । जैसे घटकारणता अनन्यथासिद्धघटनियतपूर्ववर्तितावच्छेदक दडत्व चक्रत्व आदि धर्मात्मक है । इस कारणता का अवच्छेदक दडत्व-चक्रत्व आदि धर्म ही है। घटकारणता तादृशविशिष्ट दडत्वादिस्वरूप है और उसका अवच्छेदक शुद्ध दडत्वादि धर्म है । यदि शुद्ध धर्म विशिष्ट स्व का अवच्छेदक है - यह न माना जाय तो विशिष्टदडत्वादिरूप घटकारणता का अवच्छेदक शुद्ध दडत्वादि धर्म कैसे बनेगा ? अतः विशिष्ट-द्रव्यत्वात्मक नित्यत्व का अवच्छेदक शुद्ध द्रव्यत्व ओर विशिष्ट-पर्यायत्व का अवच्छेदक शुद्ध पर्यायत्व भी निर्विवादरूप से बन सकते है । हॉ, शुद्ध धर्म अपना अवच्छेदक या अवच्छेद्य नही बन सकता है । अत 'घटो द्रव्यत्वेन नित्य· पर्यायत्वेन चानित्य.' यह प्रतीति भी प्रामाणिक है - यह सिद्ध होता ह ।

✧ घट क्रमिक अर्पणा से कथंचित् नित्यानित्य - स्याद्वादी ✧

क्रमिकवि इति । घट मे पृथक् पृथक् दो धर्म का निरूपण करने के पश्चात् व्याख्याकार श्रीमद्जी अब तृतीय धर्म का प्रतिपादन करते है कि नित्यत्व की विधि ओर निषेध की क्रमिक अर्पणा (= विवक्षा) के सहकार से 'घट कथचित् नित्यानित्य है' ऐसा भी प्रत्यक्षत· प्रतीत होता है । तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्व की अपेक्षा और पर्यायत्व की अपेक्षा घट क्या है ? ऐसा सशय-जिज्ञासा-प्रश्न उपस्थित होने पर 'घट द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य और पर्यायत्व की अपेक्षा अनित्य है' ऐसा साक्षात्कार होता है । इस प्रतीति के बल से घट मे कथचित् नित्यानित्यत्व धर्म रहता है । यहाँ यह प्रश्न करना कि –> ''प्रथम ओर द्वितीय धर्म (कथचित् नित्यत्व ओर कथचित् अनित्यत्व) मिलित होने पर ही 'घट कथचित् नित्यानित्य' यह प्रतीति उपपन्न हो सकती है, तो फिर उन दोनो धर्मो से अतिरिक्त कथचित् नित्यानित्यत्व की कल्पना क्यो की जाती है ?'' <– ठीक नही है, क्योकि प्रथम ओर द्वितीय धर्म समुदित (= मिलित) होने पर विलक्षणरूप से कथचित् नित्यानित्यत्व

तयोः विलक्षणत्वेनैतत्स्थानाऽभिषेचनीयत्वात् । न च प्रत्यक्षे इच्छायाः कथं नियामकत्वमिति वाच्यम्, प्रतीतिबलादेतादृशेच्छाविशिष्टबोधं प्रत्येतादृशेच्छायाः कारणत्वकल्पनात् ।

❀ जयलता ❀

न तु तदतिरिक्त तथैव नित्यत्वानित्यत्वसमूह एव नित्याऽनित्यत्वं न तु तदतिरिक्तम् । समालिततृतीयेन वचनप्रयोग इव समुदितयोरेव तयोः नित्यानित्यत्वव्यवहारोऽस्तु, न तु तद्व्यतिरिक्त इति शङ्काशयः ।

प्रकरणकृत्तन्निरासे हेतुमाह - समुदितयोः तयोः = नित्यत्वाऽनित्यत्वयोः, विलक्षणत्वेन = नित्यानित्यात्मकत्वेन रूपेण एतत्स्थानाभिषेचनीयत्वात् = तृतीयभङ्गे स्थापनीयत्वात् । अयं स्याद्वादिनः समाधानाशयः यथा समुदितरूपाणामेव वन्त्वेऽपि घनत्व-निबिडत्व-बहलत्व-योजनविस्तीर्णत्वादयो धर्मा वनत्वात्मकैकत्वेनाऽन्वीयन्ते न तु पृथगात्मकत्वेन तथैव समुदितनित्यत्वाऽनित्यत्वयोरेव नित्याऽनित्यत्वात्मकत्वेऽपि क्रमिकोभयार्पणासहकृतप्रत्यक्षं नित्याऽनित्यत्वात्मकत्वेन जायते न तु तदुभयधर्माविच्छेदेनेति । इदञ्च भेदाभेदवाऽभेदनयमवलम्ब्य बोद्धव्यम् । उभयोपसर्जनभेदनयमते तु नित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यां विलक्षणं नित्याऽनित्यत्वं तृतीयधर्मत्वेन प्रतीयते । अत एव सप्तभङ्ग्यां तृतीयभङ्गोऽपि प्रथमद्वितीयाभ्यामतिरिच्यते, प्रथमभङ्गे नित्यत्वस्य प्राधान्येनाऽनित्यत्वस्याऽप्रधानत्वेन स्यात्पदेन प्रतिपादनात् द्वितीयभङ्गे चाऽनित्यत्वस्य मुख्यत्वेन स्यात्पदान्नित्यत्वस्य गौणत्वेन प्रतिपादनात् तृतीये तु क्रमेण प्राधान्येन नित्यत्वानित्यत्वनिरूपणात् । अनुभूयते च 'स्यात् सन् स्यादसंश्च घटः' इति शब्दात् 'क्रमार्पित-सत्त्वासत्त्वोभयधर्मवत्त्वमनु घटं जानामि' इति तद्व्यवहारविषयतया सिद्धधर्मप्रत्याख्यानस्याऽन्याय्यत्वात्, क्रमार्पितोभयप्राधान्यबोधकत्वात्तथैवोभयपदप्रयोगात् तत्र एकत्र द्वयमिति विषयताशालिना तदितरबोधस्याऽनुभविकत्वात् । एतेन "एकस्मिन् वस्तुनो न सम्भवः अनन्तधर्मात्मकत्वानुप्पत्तेः न च स्वरूपं सम्भवति अवयवात्" (ब्र. सू. २।२।३३ - वे. क. प. पृ. ५६२) इति वेदान्तकल्पतरुकारवचनं प्रतिक्षिप्तम् स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनः सत्त्वे प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपप्रसङ्गा-दिति दिक् ।

ननु भवतु घटे स्यान्नित्यानित्यत्वप्रत्यक्षं परन्तु तत् क्रमिकार्पितोभयार्पणासहकारेण न भवितुमर्हति, प्रत्यक्षे इच्छा-नियम्यत्वाभावात्, अर्पणायाः विवक्षारूपत्वेनेच्छाविशेषरूपत्वात् । न हीच्छामृते सन्निकृष्टघटादिप्रत्यक्षं न भवतीति । इच्छायाः प्रत्यक्षसामग्र्यनन्तर्भूतत्वात् 'क्रमिकार्पितोभयार्पणासहकारेण घटः स्यान्नित्यःऽनित्योऽपि प्रत्यक्षेण संवेद्यते' इति वक्तुं न पार्यते इति शङ्कानिरासायाऽऽह न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । प्रत्यक्षे = कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वप्रकारकसाक्षात्कारे इच्छायाः = विवक्षायाः कथं नियामकत्वं ? नैव नियामकत्वमिति शङ्कायाः व्यनितम् । तन्निरासे स्याद्वादी हेतुमाह - प्रतीतिबलादिति । प्रत्यक्षबलादित्यर्थः । प्रत्यक्षमेव सर्वतो बलवत्प्रमाणम् तदुपजीवकत्वान्नदितरप्रमाणानामिति न तत् तदतिवर्तितुमुत्सहन्ते । अत प्रत्यक्षानुसारेणैव नियमकल्पनाऽर्हति न तु नियमानुसारेण प्रत्यक्षकल्पना उपजीवकस्योपजीव्यापेक्षया दुर्बलत्वात् । अत एव एतादृशेच्छाविशिष्टबोधं प्रति = नियतस्वाऽव्यवहितोत्तरत्वेन विधिनिषेधविषयविशिष्टप्रत्यक्षं प्रति एतादृशेच्छायाः = उपदर्शित-स्वरूपायाः कारणत्वकल्पनात् = हेतुत्वोपगमनात् । अयं भावः घटादिकं दृष्ट्वा "किमयं नित्यो न वा ?" इति शङ्कते जिज्ञासते

के स्थान पर अभिषिक्त होते हैं । विलक्षणरूप से उपस्थित होने से कथंचित् नित्याऽनित्यत्व भी प्रथम द्वितीय धर्म से अतिरिक्त है - यह सिद्ध होता है । अतः प्रथम, द्वितीय धर्म से तृतीय धर्म चरितार्थ नहीं होता है ।

❀ इच्छा भी प्रत्यक्षकारण - स्याद्वादी ❀

न च प्रत्य. इति । यहाँ यह कहना कि --> "प्रत्यक्षमात्र की सामग्री में इच्छा का समावेश नहीं होने से प्रत्यक्ष प्रमाति की स्वोत्पत्ति में इच्छा की अपेक्षा नहीं होती है । अतः आपने जो यह कहा कि - 'क्रमिक उभय अर्पणा के सहकार से तृतीय धर्म का साक्षात्कार होता है'- वह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्पणाशब्द का अर्थ है विवक्षा या जिज्ञासा यानी इच्छाविशेष । इच्छात्वावच्छिन्न का प्रत्यक्षसामग्री में निवेश न होने से तृतीय धर्म के साक्षात्कार के लिए तादृश अर्पणा की अपेक्षा ही नहीं है । इस परिस्थिति में तादृश अर्पणा के सहकार से तृतीय धर्म के प्रत्यक्षोदय की कल्पना भी नहीं की जा सकती, बोलने की तो बात ही क्या ?" <-- भी नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि प्रतीति बलवान है । प्रतीति के अनुसार नियम की कल्पना की जा सकती है, न कि नियम के अनुसार प्रत्यक्ष की कल्पना । तादृश अर्पणा होने पर ही तादृश धर्म का बोध होने से स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्व सबंध से तादृश इच्छाविशिष्ट प्रत्यक्ष के प्रति तादृश इच्छा को कारण मानना आवश्यक है । तात्पर्य यह है कि घट को देख कर 'यह नित्य है या नहीं ?' ऐसा संशय, जिज्ञासा होने पर पुरुष अभियुक्त (आप्त) व्यक्ति से प्रश्न करता है या स्वयं ऊहाऽपोह- चिंतन-मनन करता है । बाद में आप्त पुरुष के उत्तर से या स्वयं

(४) युगपदुभयार्पणासहकारेण स्यादवक्तव्योऽपि, न तु सर्वथा, अवक्तव्यपदेनाऽपि

❀ जयलता ❀

आप्तपुरुपश्च पर्यनुयुक्ते । तत्प्रत्युत्तरेण नित्यत्वप्रकारकबोधे 'जातेऽपि किमय सर्वथा नित्य आहोस्वित् कथञ्चित् ?' इति सशेते वुभुत्सति पृच्छति चाभियुक्तपुरुपम् । तदुत्तर तदुत्तरात् 'स नित्योऽपि अनित्यत्ववानपी'ति जानाति । यस्तु केवल घटादिक पश्यत्येव न तु सदेग्धि, ज्ञातुमिच्छति वा नित्यत्वादिक, स नैव विमर्शति नित्यत्वादिक न वाऽनुयुङ्क्ते शिष्टपुरुपमिति न तदवबोधभाग् भवति प्रेक्षमाणोऽपि घटादिकमितीच्छाया अपि नित्यत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षकारणत्व प्रमीयते । न चैव सर्वत्र प्रत्यक्षस्येच्छाजन्यत्व स्यात् न स्याद् वा नित्यत्वादिप्रकारकप्रत्यक्ष प्रत्यपीति वाच्यम्, सर्वत्रेच्छाया प्रत्यक्षसामग्र्यनन्तर्भूतत्वेऽपि प्रकृते तादृशेच्छा विना नित्यानित्यत्वप्रकारकबोधानुदयात् तत्सत्त्वे चाविर्भावात् अन्वयव्यतिरेकप्रत्यक्षमहिम्ना तस्या त प्रति कारणत्व कल्पनामर्हति, दृष्टानुसारेणैव कल्पनाया. प्रामाणिकत्वात् । यद्यपि विवक्षा शाब्दबोधे एव प्रयोजिका, न प्रत्यक्षे । नाऽपि जिज्ञासा, घटदिदृक्षयोन्मीलितनयनस्य पुर स्थितपटप्रत्यक्षानुपपत्तिप्रसङ्गात्, तथापि प्रधानगुणभावेन तथातथाप्रत्यक्षे तत्तदर्थित्वादिनियन्त्रितक्षयोपशमस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्या विशिष्य हेतुत्वान्नानुपपत्ति । तदुक्त न्यायकणिकाया वाचस्पतिमिश्रेणापि ''विशदतरकार्यसिद्धौ चाऽप्रतीयमानमपि कारण कल्पनीय, न पुनरप्रतीयमानकल्पनाभयात् कार्यवैशद्यमपह्नोतुमुचितम्'' (न्या क पृ ८९) इति ।

चतुर्थधर्म प्रतिपादयति - युगपदुभयार्पणासहकारेण = एकदैव विधिनिषेधोभयविवक्षासाचिव्येन, स्यादवक्तव्योऽपि = कथञ्चिदवक्तव्यत्वविशिष्टोऽपि, यतो द्वयोर्धर्मयो प्राधान्येन गुणभावेन वा युगपत्प्रतिपादने न किञ्चिद्वच समर्थम् सर्वत्र स्यात्पद नियतापेक्षालाभार्थ प्रयुज्यते । तच्च तिङन्तप्रतिरूपक निपातरूप सर्वथात्वनिषेधकमनेकान्तद्योतीति 'प्रागुक्तमनुसन्धेयम् । स्यात्पदव्यवच्छेद्य कण्ठत आह- न तु सर्वथेति । अवक्तव्यमित्यत्राऽप्यनुवर्तते । तत्र हेतुमाह - अवक्तव्यपदेनाऽपि अवक्त-

---

विचार-विमर्श से उसे बोध होता है कि 'घट नित्य है, वह भी सर्वथा नही, मगर द्रव्यत्व आदि धर्म की अपेक्षा से' । यदि तादृश सशय-जिज्ञासा आदि न हो तो घट मे कथचित् नित्यत्व, कथचित् अनित्यत्व, कथचित् नित्यानित्यत्व आदि धर्म का भान नही होता है । अत. तादृश धर्म के साक्षात्कार के प्रति तादृश अर्पणा को कारण मानना आवश्यक हे । अत प्रत्यक्षविशेप की सामग्री मे इच्छाविशेप का निवेश करना आवश्यक है - यह फलित होता है ।

❀ घट युगपत् अर्पणाद्वय से कथंचित् अवक्तव्य - स्याद्वादी ❀

युगपद् इति । इस तरह युगपत् विधिनिपेध की अर्पणा होने पर 'घट कथचित् अवक्तव्य हे' ऐसा साक्षात्कारोदय होने से घट मे कथचित् अवक्तव्यत्व धर्म भी रहता हे । आशय यह है कि विधि-निपेध की क्रमिक कल्पना होने पर कथचित् नित्यानित्यत्व का प्रतिपादन या प्रत्यक्ष हो सकता हे, मगर विधि-निपेध की एक ही काल मे कल्पना होने पर अर्थात् द्रव्यत्व-पर्यायत्व उभय की अपेक्षा घट क्या हे ? ऐसी जिज्ञासा या प्रश्न होने पर कोई एक ऐसा शुद्ध शब्द (= असामासिक शब्द) नही मिलता हे, जिससे एक ही काल मे प्रधानतया नित्यत्व ओर अनित्यत्व धर्म का प्रतिपादन हो सके । अत युगपत् उभय अर्पणा होने पर यही कहना पड़ेगा कि घट उभय (द्रव्यत्व-पर्यायत्व) की अपेक्षा एक ही काल मे घट अवक्तव्य हे - अनिर्वचनीय हे । किसी शब्द से प्रधानतया युगपद् नित्यत्व ओर अनित्यत्व वाच्य नही हो सकते । अत तादृश प्रश्न के प्रत्युत्तर मे 'घट अवक्तव्य हे' यही कहा जा सकता हे । 'पी' कहा जा सकता है, 'पु' कहा जा सकता हे । मगर एक ही काल मे दोनो को 'पुी' इस रूप मे बोला नही जा सकता । यहाँ इस वात पर ध्यान देना आवश्यक हे कि युगपत् उभय अर्पणा होने पर घट सर्वथा अवक्तव्य (वाणी का अविपय) नही है किन्तु कथचित् ही अवक्तव्य है । यदि घट को सर्वथा अवक्तव्य माना जाय तव तो इसका मतलव यह हुआ है कि युगपद् उभयार्पणा होने पर घट किसी भी शब्द का विपय (= वाच्य) नही हे । ऐसा होने पर तो घट अवक्तव्य शब्द से भी अवक्तव्य हो जायेगा । अर्थात् घट अवक्तव्य शब्द का भी विपय (= वाच्य) नही वन सकेगा । तव अवक्तव्यपदजन्य प्रतीति का विपय घट कैसे हो सकेगा ? अत अवक्तव्य शब्द का भी घट मे प्रयोग न होने की आपत्ति आयेगी । मगर अवक्तव्य शब्द का प्रयोग तो युगपत् उभय अर्पणा होने पर घट मे होता हे । अत. यही मानना उचित है कि घट सर्वथा अवक्तव्य नही हे, किन्तु कथचित् ही अवक्तव्य हे । अर्थात् समकालीन विधि-निपेध की कल्पना होने पर घट अवक्तव्य शब्द से वक्तव्य (= वाच्य = प्रतिपाद्य) ह ओर अवक्तव्य शब्द से अतिरिक्त शब्द से अवक्तव्य (= अप्रतिपाद्य) है ।

---

१ दृश्यता चतुर्थपृष्ठे ।

अवक्तव्यत्वाऽऽपत्ते । न चाऽवक्तव्यत्वं शब्दाऽबोध्यत्वरूपं कथं योग्यमिति वाच्यम्, उपदेशसहकारेण पद्मरागादिवत्तद्ग्रहात् ।

'नित्यत्वस्याऽत्र क उपकार ?' इति चेत् ? अवक्तव्यत्वेन परिणतिरित्येव गृहाण ।

❁ जयलता ❁

व्यत्वाऽऽपत्तेरिति । अप्रतिपाद्यत्वापत्तेरित्यर्थः । ननु युगपदुभयार्पणायां वस्तु किं सर्वथाऽवक्तव्यं यदुत कथञ्चित् ? इति विमल-विकल्पयुगलमुपतिष्ठते । आद्ये तु अवक्तव्यपदेनाऽपि वस्तुनोऽवाच्यताऽऽपत्तिः, सर्वपदैरप्रतिपाद्यत्वानस्याऽस्मिन् पक्षे । नाऽपि द्वितीयो मञ्जुलः, अवक्तव्यत्वस्य पदजन्यप्रतीतिनिरूपितविषयताशून्यत्वरूपत्वेनोऽवक्तव्यपदेन वस्तुनो वक्तव्यत्वोपगमे उन्मत्तत्व-प्रसङ्गात्, पदप्रवृत्तिनिमित्तशून्ये पदप्रयोगादित्याशयवन्तं संदेहं निराकर्तुमाह- न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । कथं योग्यं ? नैवाऽवक्तव्यपदेनाऽपि प्रतिपादयितुमर्हति, विरोधादिति शङ्काकृदाशयः । तदपाकरोति- उपदेशसहकारेण = संकेत-सहकारेण, अवक्तव्यपदात् पद्मरागादिवत् = पद्मरागत्वप्रभृतिप्रकारकावबोधवत्, तद्ग्रहात् = अवक्तव्यत्वबोधात् । अयं भावः, प्राभृते मते यथा पद्मरागेन्द्रनीलरिष्ट-रविकान्त-चन्द्रकान्तादिमणिमालिस्थादि पुरोवर्त्ति पश्यन्नपि न गोपालादिः जनः पद्मरागत्वादिकं तत्र ज्ञातुं क्षमः किन्तु तद्विज्ञजनोपदेशसाचिव्येनैव स तत् साक्षात्करोति तथा युगपदेव प्राधान्येन नित्यत्वाऽनित्यत्वयोः कथयि-तुमशक्यत्वेऽपि वृद्धपुरुषोऽवक्तव्यशब्दसंकेतद्वारा तत्प्रतिपादनं करोत्येव श्रोतुरपि च गृहीतशक्तिकस्य तदनन्तरं तज्ज्ञानं भवत्येव ।

नव्यनैयायिकास्तु 'भिन्नप्रमाणयोरेकज्ञानाऽजनकत्वेन न परस्परसहकारित्वमिति पद्मरागत्वप्रत्यक्षे रूपविशेषग्रहणमेव हेतुः 'रूपादिविशेषवान् मणिः पद्मरागः' इत्युपदेशस्तु 'गोसदृशो गवयः' इत्यतिदेशवाक्यवत् पद्मरागपदवाच्यत्वोपमितावेवोपयुज्यते' इत्याहुः । तदसत् रूपविशेष-पद्मरागत्वयोर्ग्रहस्य तुल्यसामग्रीकत्वात्, शिक्षातः पूर्वं रूपविशेषग्रहेऽपि पद्मरागत्वाऽग्रहात्, स्व-विशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन तस्य पद्मरागत्वप्रत्यक्षहेतुत्वे सदृशपद्मरागद्वयस्थले तदविशेष्यसन्निकर्षेणाऽपि पद्मरागत्वप्रत्यक्षापत्तेः उक्तोपदेशस्य तत्रानुपयोगे च पद्मरागतदन्यसंशयनिवृत्त्यर्थं तदाश्रयणस्य 'उपदेशात् पद्मरागं साक्षात्करोमि न तु पश्यन्नपि' त्युत्तर-कालीनानुव्यवसायाकारानुपपत्तेश्चेति दिक् ।

अत एव नोन्मत्तप्रलापप्रसङ्गोऽपि सावकाशः, अवक्तव्यशब्दानिरुक्तपदाऽप्रतिपाद्यत्वे सत्यवक्तव्यपदप्रतिपाद्यत्वस्यैव स्यादवक्तव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, तस्य वस्तुनि विद्यमानत्वात्, श्रोतुरपि तस्यैव बोधसाक्षात्कारप्रयोगताऽऽस्पदत्वम् । एवं शब्दद्वारा सप्तभङ्गीजस्य प्रदर्शिताऽवक्तव्यत्वप्रकारकप्रत्यक्षोत्पादकत्वान्नाऽवक्तव्यत्वं प्रतिपादयितुं बोद्धुं वाऽयोग्यमिति सिद्धमेतावता । एतेन "अवक्तव्यश्चेन्नोच्येरन् । उच्यन्ते चाऽवक्तव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् । उच्यमानाश्च तथैवाऽवधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च' (ब्र. सू. २।२।३३ शा. भा.) इति ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यवचनं प्रतिषिद्धम्, ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयत्वेऽप्यस्याऽनुयोगस्य समानत्वाच्च ।

परः पर्यनुयुङ्क्ते - नित्यत्वस्य = प्रागुपवर्णितस्वरूपस्य । इदञ्चोपलक्षणमनित्यत्वस्य । अत्र = चतुर्थभङ्गनिरूपित-

❁ उपदेशसहकार से अवक्तव्यत्व भी शाब्दबोधयोग्य - स्याद्वादी ❁

न चाऽ इति । यहाँ यह समस्या मुँह फटे खडी है कि —> "अवक्तव्यत्व शब्द का अर्थ है शब्द से अबोध्यत्व यानी शब्दजन्य प्रतीति से निरूपित विषयता की योग्यता का अभाव ही अवक्तव्यत्वशब्दार्थ है । जिसमें शब्दजन्य प्रतीति की विषयता ही नहीं है, वह शब्द से कैसे बताया जा सकता है ? वह शाब्दी प्रतीति के योग्य कैसे हो सकता है । जैसे इन्द्रियजन्य प्रतीति की विषयता के अयोग्य ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान कराने में इन्द्रिय असमर्थ है वैसे ही शब्दजन्य प्रतीति से निरूपित विषयता के अयोग्य ऐसे अवक्तव्य अर्थ का बोध कराने में शब्द भी असमर्थ ही रहेगा । अतः समकालिक विधिनिषेध अर्पणा होने पर घट में अवक्तव्यशब्द का प्रयोग भी अयोग्य ही ठहरेगा" <— मगर इस समस्या का समाधान भी सरल है । जैसे पद्मरागादि मणि को हम देखते हैं फिर भी हमें यह ज्ञान नहीं होता है कि 'यह पद्मराग मणि है' । मगर जोहरी के उपदेशरूप सहकारी कारण से पद्मरागत्वप्रकारक बोध का उदय हमें हो सकता है । वैसे ही सप्तभंगी के ज्ञाता एवं उपदेशक के उपदेशात्मक सहकारी कारण से अवक्तव्यत्वप्रकारक ज्ञान भी हमें हो सकता है । अतएव एक काल में विधि-निषेध उभय जिज्ञासा होने पर अवक्तव्य शब्द का घट में प्रयोग करना भी सुसंगत है - यह सिद्ध होता है ।

☰ अवक्तव्यत्वेन परिणाम ही नित्यत्व का उपकार - स्याद्वादी ☰

नित्य इति । यहाँ एक और उलझन उपस्थित होती है कि —> "घट में अवक्तव्यत्व धर्म मानने पर नित्यत्व का

वक्तव्यत्वेन परिणतिस्तु नित्यत्वादिविशेष एव विश्राम्यतीति न तदतिरेकावकाश । वक्तव्यत्वेन बोधस्तु नित्यत्वविध्यादिकल्पनातो नित्यत्वादिनैव बोधान्नोदेति ।

❀ जयलता ❀

विशेष्यताऽऽक्रान्ते घटे, क उपकारः ? नित्यत्वाऽनित्यत्वयो युगपदुभयविवक्षायामवक्तव्यशब्दप्रतिपाद्यत्वेऽपि तत्र तयो. क. उपकार ? इति प्रश्नार्थ । प्रकरणकृत् प्रत्युत्तरयति - **अवक्तव्यत्वेन** रूपेण **परिणतिरित्येव त्व गृहाण** = जानीहि । युगपदुभयविवक्षाया सत्या नित्यत्वाऽनित्यत्वधर्मौ स्वयमवक्तव्यत्वीभवन्तौ घटमवक्तव्यत्वेन परिणामयति । अयमेव तदुपकार । अत एवाऽवक्तव्यत्वमपि स्वतन्त्रपरिणामो न नित्यत्वादिग्रहणेन गृह्यत इति भाव. ।

नन्वेव सति वक्तव्यत्वमप्यवक्तव्यत्ववदतिरिच्येत, घटस्य वक्तव्यत्वेनापि परिणामात् । ततो घटेऽष्टमधर्मप्रसङ्गो दुर्निवार इत्याशङ्कायामाह - **वक्तव्यत्वेन परिणतिः** = घटपरिणति । तुर्विशेषद्योतनार्थ. । तदेवोपदर्शयति- **नित्यत्वादिविशेषे एव विश्राम्यतीति** । एवकारफलमाह- इति हेतो. **न तदतिरेकावकाशः** = तस्य वक्तव्यत्वस्य नित्यत्वादिविशेषेभ्यो व्यतिरिक्तत्वसभवः । अय भाव वक्तव्यत्वेन रूपेण घटपरिणति स्यान्नित्यत्वादिविशेषपरिणतिस्वरूपैवेति नित्यत्वविधिनिषेधादिकल्पनाया नाष्टमधर्मावकाशो, नित्यत्वादिग्रहणेनैव तद्ग्रहात्, नित्यत्वादिधर्मविशेषै वक्तव्यत्वेन घटस्य परिणामितत्वादेव 'घट स्यान्नित्य स्यादनित्य' इत्यादिकथनसभवात् । अत एव स्यान्नित्यत्वादिधर्माणामपि स्याद्वक्तव्यत्वाभेदोऽपि सिद्ध्यति ।

ननु वक्तव्यत्वपरिणामस्य स्यान्नित्यत्वादिधर्मविशेषभ्योऽनतिरिक्तत्वे यथा 'घट द्रव्यत्वेन नित्य' इति बोधो जायते तथैव 'घटो द्रव्यत्वेन वक्तव्य' इत्यपि प्रतीयेतेत्याशङ्का निराकर्तुमाह- **वक्तव्यत्वेन बोधस्त्विति** । अन्वयश्चाऽस्य 'नोदेती'त्यत्र । अत्र हेतुमाह - **नित्यत्वविध्यादिकल्पनातः** = क्रमिकाऽक्रमिकनित्यत्वविधिनिषेधोभयविवक्षात. **नित्यत्वादिनैव** = स्यान्नित्यत्वादिप्रकारेणैव, **बोधात्** = घटविशेष्यकबोधोदयात् । अय भाव यादृशी अर्पणा तादृशी प्रतीति वस्तुन्युपजायते । अतो नित्यत्व-

यहाँ क्या उपकार हो सकता है ? क्योकि नित्यत्व धर्म को प्रधान बना कर यहाँ प्ररूपणा की जा रही है । अत· नित्यत्व धर्म का उपकार होना जरूरी हे'' <— । इसका समाधान यह हे कि नित्यत्व धर्म का अवक्तव्यरूप से घटपरिणाम होना ही नित्यत्व धर्म का उपकार हे । युगपत् उभय अर्पणा होने पर नित्यत्व ओर अनित्यत्व धर्म घट को अवक्तव्यतया परिणत करते हे ओंर स्वय अवक्तव्यत्वात्मक बनते है । इससे यह फलित होता हे कि अवक्तव्यत्व धर्म भी स्वतत्ररूप से घट मे रहता है, जो नित्यत्वादि के ग्रहण से गृहीत नही होता है । अत घट मे अवक्तव्यत्व धर्म को भी मानना जरूरी हो जाता है ।

❀ अवक्तव्यत्व की भाँति वक्तव्यत्व स्वतंत्र ऑठवा धर्म नहीं - स्याद्वादी ❀

वक्त इति । यहाँ यह शका करना कि —> ''जेसे घट मे अवक्तव्यत्व धर्म स्वतत्र है, ठीक वेसे ही वक्तव्यत्व भी एक स्वतत्र धर्म होगा, जिसके फलस्वरूप मे घट मे सात धर्म नही किन्तु आठ धर्म का अगीकार मान्य करना होगा'' <— नामुनासिव है । इसका कारण यह है कि वक्तव्यत्वरूप से घटपरिणति नित्यत्वादिविशेष धर्म मे ही विश्रान्त हो जाती हैं । मतलब कि नित्यत्वादि धर्म घट को वक्तव्यरूप से परिणत करते हे, मगर वह वक्तव्यत्व धर्म 'स्यात् नित्यत्व, कथचित् अनित्यत्व' आदि धर्म मे ही पर्यवसित होता है । इसलिए तो 'घट. स्यान्नित्य., स्यात् अनित्य' इत्याकारक प्रतीति एव व्यपदेश मुमकिन है । अत. स्यात् नित्यत्व आदि धर्म से अतिरिक्तरूप से वक्तव्यत्व धर्म का अवकाश नही है । कथचित् नित्यत्व, कथचित् अनित्यत्व आदि धर्म वक्तव्यत्वस्वरूप ही है । इसलिए 'कथचित् नित्यत्व' आदि रूप से वक्तव्यत्व धर्म का भी कथन हो जाता हे । अत. स्यान्नित्यत्वादि धर्म से अतिरिक्त वक्तव्यत्व धर्म की सिद्धि नही हो सकती है, जिसके परिणाम मे अष्टम धर्म की एव अष्टभगी की आपत्ति हो सके । यहाँ यह शका करना कि —> ''घट मे कथचित् नित्यत्व आदि धर्म हे वही वक्तव्यत्व धर्म हे - ऐसा मानने पर आपत्ति यह आयेगी कि घट का जेसे कथचित् नित्यत्वरूप से ज्ञान होता हे, ठीक वेसे ही वक्तव्यत्वरूप से भी भान होना चाहिए, क्योकि वक्तव्यत्व स्यान्नित्यत्वादिस्वरूप ही हे'' <— तो यह ठीक नही हे। इसका कारण यह है कि नित्यत्वविधान की विवक्षा होने पर स्यान्नित्यत्वप्रकारक बोध का ही उदय होता हे, नित्यत्वनिषेध की जिज्ञासा होने पर स्यादनित्यत्वप्रकारक ज्ञान का ही जन्म होता है । जिज्ञासा के अनुसार ही बोधोदय होता है । अतएव वक्तव्यत्वेन घटज्ञान का तादृश अर्पणा के सहकार से जन्म नही होता हे । दूसरी बात यह है कि 'स्यान्नित्य' पद से घट का कथन होने से ही घट मे वक्तव्यत्वप्रकारक जिज्ञासा का उदय नही होता हे । विशेष धर्म का ज्ञान होने पर सामान्य धर्म की शका नही होती है । 'यह ब्राह्मण है' ऐसा ज्ञान होने पर 'यह मनुष्य हे या नही ?' ऐसी शका किसीको भी होती नही है । अत. वक्तव्यत्वप्रकारक ज्ञान उदय न होना ठीक ही है ।

(५) क्रमाऽक्रमाभ्यां विध्युभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः स्यादवक्तव्यः। (६) ताभ्यां निषेधोभयकल्पनासहकारेण स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च। (७) ताभ्यामुभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्चेति। अत्राऽपि समुदायाऽवलम्बिनी शङ्का प्राग्वन्निरसनीया।

❀ जयलता ❀

विध्यर्पणात् स्यान्नित्यत्वप्रकारको बोधो जायते, नित्यत्वनिषेधकल्पनासहकारात् स्यादनित्यत्वप्रकारकोऽवबोध उत्पद्यते। अतो वक्तव्यत्वप्रकारको बोधोऽवक्तव्यत्वप्रकारकज्ञानवन्नोदेति। न च वक्तव्यत्वविधिकल्पनासहकारात्तादृशप्रत्ययप्रसङ्गो दुर्निवार इति वाच्यम्, स्यान्नित्यत्वादेर्वक्तव्यत्वव्याप्यत्वात् स्यान्नित्यत्वादिप्रकारकबोधादेव वक्तव्यत्वप्रकारकजिज्ञासोपरमात्। न चैवमपि कथञ्चिन्नित्यत्वप्रकारकबोधोदयात् प्राक् वक्तव्यत्वविधिकल्पनासहकारात् वक्तव्यत्वप्रकारकबोधो दुर्निवार इति वक्तव्यम्, इष्टत्वात्। न चाऽष्टमधर्मप्रसङ्गः, स्यान्नित्यत्वाद्यनतिरिक्तत्वात् वक्तव्यत्वस्य। तदुक्तमष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे —> ''वक्तव्यत्वस्य कथनतागर्भत्वेन विशिष्य विश्रान्तत्वात्, शब्दानुगममात्रस्याऽप्रयोजकत्वात्, सत्त्वादिना वक्तव्यत्वस्य सत्त्वादिगमनियतत्वेन निराकाङ्क्षतया भङ्गान्तरानारम्भकत्वात् अन्यथाऽसद्भिन्नत्वादिनाऽपि भङ्गान्तरापत्तेः'' <— (अ स वि पृ.१८७) प्रकरणकृद्भिरेवेति।

अस्तु वा वक्तव्यत्वं नाम कथनातिरिक्तधर्मस्तथापि वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वाभ्यां विधिनिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरमेव प्राप्नोतीति न सत्त्वासत्त्वादिसप्तविधधर्मव्याघात इति ध्येयम्।

पञ्चमधर्ममाह - **क्रमाक्रमाभ्यामिति**। विध्यादौ यथाक्रममन्वयः। **विध्युभयकल्पनासहकारेणेति**। नित्यत्वविधि-नित्यत्वविधिनिषेधोभयार्पणासान्निध्येनेति। **स्यान्नित्यः स्यादवक्तव्य इति**। प्रतीयत इति शेषः। द्रव्यत्वार्पणा-द्रव्यत्वपर्यायत्वोभयार्पणासाहाय्येन घटे कथञ्चिन्नित्यत्व-कथञ्चिदवक्तव्यत्वप्रकारकं विज्ञानमुत्पद्यते इति भावः।

षष्ठधर्ममुपदिशति- **ताभ्यां** = क्रमाक्रमाभ्यां, **निषेधोभयकल्पनासहकारेण** = नित्यत्वनिषेध-विधिनिषेधोभयभजनासमवधानेन, **स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च**। संवेद्यत इति शेषः। पर्यायत्वविवक्षा-द्रव्यत्वपर्यायत्वोभयविवक्षासमपातेन घटे स्यादनित्यत्व-स्यादवक्तव्यत्वप्रकारकं प्रत्यक्षं जायत इत्यभिप्रायः।

सप्तमधर्मं निर्दिशति- **ताभ्यां** = क्रमाक्रमाभ्यां, **उभयकल्पनासहकारेण** = नित्यत्वविधि-नित्यत्वनिषेध-नित्यत्वविधिनिषेधोभयकल्पनासन्निधानेन, **स्यान्नित्यः स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्चेति**। साक्षात्क्रियत इति शेषः। द्रव्यत्वापेक्षया पर्यायत्वापेक्षया द्रव्यत्वपर्यायत्वोभयापेक्षया च घटः कीदृशः ? इति मीमांसायां सत्यां स्यान्नित्यत्वाऽनित्यत्वाऽवक्तव्यत्वनितयप्रकारको बोधो जायते, तादृशमीमांसाऽऽहितक्षयोपशमजन्यबोधविषयत्वात् तादृशधर्मस्येति भावः।

अत्रापि = चरमधर्मत्रिकेऽपि, **समुदायाऽवलम्बिनी** = पूर्वोक्तधर्मचतुष्कसमूहनिमित्तिका, **शङ्का प्रागवन्निरसनीयेति**। अयं भावः अत्र स्यादियं शङ्का यदुत स्यान्नित्यत्वाऽवक्तव्यत्वधर्मस्य प्रथमचतुर्थधर्मसमुदायेनैवोपपत्तौ किमर्थकं पञ्चमधर्मकल्पनम् ?

◙ घट कथंचित् नित्य और कथंचित् अवक्तव्य - स्याद्वादी ◙

क्रमाक्र इति। इस तरह क्रमशः विधि और युगपत् विधिनिषेध उभय की अर्पणा होने पर 'घट कथंचित् नित्य और कथंचित् अवक्तव्य है' ऐसी प्रतीति होती है। घट में द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्यत्व और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा अवक्तव्यत्व धर्म रहता है। यह पाँचवा धर्म है। इस तरह क्रमशः निषेध कल्पना और युगपत् उभयकल्पना के सहकार से 'घट स्यादनित्य स्यादवक्तव्य' ऐसा प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् पर्यायत्व की अपेक्षा और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में कथंचित् अनित्यत्व और कथंचित् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है। यह छट्ठा धर्म है। इस तरह क्रमशः विधि की और निषेध की कल्पना तथा युगपत् उभय की अर्पणा होने पर 'घट स्यान्नित्य स्यादनित्य स्यादवक्तव्यश्च' ऐसा साक्षात्कार होता है। मतलब कि द्रव्यत्व की अपेक्षा, पर्यायत्व की अपेक्षा और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में कथंचित् नित्यत्व, कथंचित् अनित्यत्व और कथंचित् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है। यह ७ वाँ धर्म है।

अन्तिम तीन धर्म का समावेश पूर्व धर्म में नहीं हो सकता - स्याद्वादी

अत्रापि इति। यहाँ यह शंका हो कि —> ''पाँचवे धर्म का निर्वाह तो प्रथम और चतुर्थ धर्म के समुदाय से ही हो जायेगा। इस तरह छट्ठे धर्म की उपपत्ति तो मिलित द्वितीय और चतुर्थ भंग से ही हो सकेगी। तथा सप्तम धर्म का

न च विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहादाधिक्यमाशङ्कनीयम्, तथाप्येतत्कृतपरिणत्यनतिरेकात् ।

❀ जयलता ❀

एव स्यादनित्यत्वाऽवक्तव्यत्वधर्मस्याऽपि द्वितीयचतुर्थधर्मकलापेनैव निर्वाहसभवात् षष्ठधर्मकल्पनमपि अनतिप्रयोजनमेव । अत एवातिरिक्तसप्तमधर्मकल्पनाऽपि निष्प्रयोजना, तृतीयचतुर्थाभ्या समुदितधर्माभ्यामेव तत्प्रतीत्युपपत्तेरिति । इयश्च शका निरस्तैव प्रागुक्तरीत्या । तथाहि - समुदितयो प्रथमचतुर्थधर्मयो द्वितीयचतुर्थधर्मयो तृतीयचतुर्थधर्मयोश्च यथाक्रम पञ्चमषष्ठसप्तमधर्मेभ्यो विलक्षणत्वेन प्रतीते प्रकृतधर्मकल्पनाया आवश्यकत्वात् । यद् यतो विलक्षणत्वेन प्रतीयते तत्ततोऽतिरिच्यते यथा घटात्पट । तथा चैते, तस्मात् तथेति सप्तधर्मकल्पना युक्तैवेति सिद्धम् । नयमतभेदेन विशेषस्तु प्रागुपदर्शितप्रकारेण स्वयमुन्नेय इत्यल चसुर्या ।

न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वय । **विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात्** = एकतरपक्षपातियुक्तिशून्यत्वात्, **आधिक्य** = सप्तधर्मातिरेक इति । अय शङ्काकृदभिप्राय तृतीयधर्मे यत्तावदुक्त 'क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेण घट स्यान्नित्यत्वविशिष्टाऽनित्यत्ववान्' तत्र मयाऽप्येव वक्तु शक्यते यदुत क्रमिकनिषेधविध्यर्पणासाचिव्येन घट. स्यादनित्यत्वविशिष्टनित्यत्वाश्रय । न चात्र विनिगमकमस्ति किञ्चित्, विनिगमनाविरहेण कथञ्चिन्नित्यत्वविशिष्टानित्यत्वधर्म इव स्यादनित्यत्वविशिष्टनित्यत्वमप्यवश्यमभ्युपेय स्याद्वादिभि भवद्भि । एवमेव क्रमाक्रमाभ्या विध्युभयकल्पनासहकारेण घटे स्यान्नित्यत्वविशिष्टाऽवक्तव्यत्ववत् अक्रमक्रमाभ्यामुभयविध्यर्पणासपातेन स्यादवक्तव्यत्वविशिष्टनित्यत्वमभ्युपेयम् । तथा क्रमाक्रमाभ्या निषेधोभयकल्पनासहकारेण घटे स्यादनित्यत्वविशिष्टावक्तव्यत्वधर्मकल्पनावत् अक्रमक्रमाभ्यामुभयनिषेधभजनासमवधानेन घटे स्यादवक्तव्यत्वविशिष्टानित्यत्वधर्माभ्युपगमस्याऽपि न्याय्यत्वात् । एवमेव ताभ्यामुभयसहकारेण स्यान्नित्यत्वाऽनित्यत्वविशिष्टाऽवक्तव्यत्वधर्मकल्पनेव स्यादनित्यत्वनित्यत्वविशिष्टाऽवक्तव्यत्वधर्मस्य स्यादवक्तव्यत्वनित्यत्वविशिष्टानित्यत्वस्य स्यादवक्तव्यत्वाऽनित्यत्वविशिष्टनित्यत्वस्य स्यान्नित्यत्वाऽवक्तव्यत्वविशिष्टाऽनित्यत्वस्य स्यादनित्यत्वाऽवक्तव्यत्वोभयविशिष्टनित्यत्वस्याऽप्यभ्युपगमप्रसङ्गात् । ततश्च नित्यत्वमधिकृत्य त्रयोदशधर्मकल्पनाऽऽपातेन त्रयोदशभङ्गीप्रसङ्गात् ।

स्याद्वादी तत्समाधानमाह- **तथापीति** । तद्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेऽपीति । **एतत्कृतपरिणत्यनतिरेकात्** = तादृशार्पणाप्रयुक्तपरिणामाभिन्नत्वात्, अधिकषड्धर्माणामिति शेष । अय समाधानाभिप्राय तादृशधर्मचतुष्के विशेषणविशेष्यभावविनिगमनाविरहेऽपि न विलक्षणविशेष्यभावापन्ना धर्मा तदतिरिक्ता , वाचकभेदेऽपि वाच्यपरिणामाऽवैचित्र्यात् । यथा भूतले सयुक्तघटपटसत्त्वदशाया 'घटविशिष्टपट पटविशिष्टघटो वा भूतलनिरूपितवृत्तितावान् ?' इत्यत्र विनिगमकाभावेऽपि तत्परिणामाभेद तथैव प्रकृते तथाविधविनिगमकाभावेऽपि तत्परिणामा नातिरिच्यन्ते, यथाक्षयोपशम तथाविधविशेषणविशेष्यभावावगाहिबोधस्येष्टत्वात् वाच्याऽभेदेऽपि वाचकभेदस्य व्यवहारनयमतप्रसिद्धत्वात् ।

समर्थन तृतीय और चतुर्थ धर्म के समूह से ही सभव है । अत प्रथम चार धर्म से अतिरिक्त अतिम तीन धर्म की घट मे कल्पना नही करनी चाहिए'' <— तो यह ठीक नही हे । इसका कारण यह है कि समिलित प्रथम और चतुर्थ धर्म विलक्षणरूप से पाँचवे धर्म मे स्थापित होते हे । द्वितीय और चतुर्थ धर्म का समूह विशेषरूप से छठ्ठे धर्म के रूप मे प्रतीत होते है । तृतीय और चतुर्थ धर्म का समुदाय भिन्नरूप से ७ वें धर्म के स्वरूप मे सिद्ध होता है । पूर्व चार धर्म उसीरूप से चरम तीन धर्म के स्थान मे ज्ञात नही होते हे । पूर्वोत्तर धर्मो मे अविलक्षण प्रतीति न होने से उत्तर तीन धर्म पूर्व धर्मो से स्वतत्र हे - यह सिद्ध होता हे ।

❋ विशेषण-विशेष्यभाव मे विनिगमक न होने पर भी परिणाम अभिन्न - स्याद्वादी ❋

न च विश इति । यहाँ यह दहशत हो कि —> ''अन्तिम तीन भग मे विशेपण-विशेष्यभाव मे विनिगमनाविरह होने से गोरव दोप प्रसक्त होगा । मतलव कि पाँचवा धर्म कथचित् नित्यत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व माना जाय या कथचित् अवक्तव्यत्वविशिष्ट नित्यत्व माना जाय ? - इस विपय मे दोनो पक्ष मे से एक पक्ष मे भी वलवान् युक्ति न होने से दोनो का स्वीकार करना पडेगा । इसी तरह छठ्ठा धर्म कथचित् अनित्यत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व माना जाय या कथचित् अवक्तव्यत्वविशिष्ट अनित्यत्व माना जाय ? यहाँ एक भी पक्ष मे वलवान् युक्ति न होने से दोनो का स्वीकार करना होगा । इस तरह साँतवे धर्म मे भी यही विनिगमनाविरह होने से अनेक धर्मो का स्वीकार करना होगा । जिसके फलस्वरूप मे केवल सात धर्म नही किन्तु सात से भी ज्यादा धर्म की आपत्ति नित्यत्व को केन्द्र मे रखने पर उपस्थित होगी । अत केवल सात धर्म का ही प्रतिपादन करना असगत है'' <— तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह हे कि विशेपण-विशेष्यभाव मे विनिगमनाविरह होने पर भी तादृश अर्पणाकृत परिणामविशेप मे भेद नही होता हे । जैसे भूतल मे घट ओर पट सयुक्त होने पर भूतल

'नित्यानित्यत्वादयो जात्यन्तररूपा अखण्डा' इत्यप्याहु । अत एवाऽमून् धर्मानवलम्ब्य तत्र तत्रोक्ता सप्तभङ्गी सङ्गतिमङ्गति ।

अथ केय सप्तभङ्गीति चेत् ? एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयो

❋ जयलता ❋

अत्रैवाऽन्यमतमाह- नित्यानित्यत्वादयो जात्यन्तररूपा इति । आदिशब्देन सदसत्त्वादेर्ग्रहणम् । अन्येषामयमभिप्राय तृतीयपञ्चमादिधर्माणां न सखण्डोपाधित्वं येन विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहप्रसङ्ग किन्तु जातित्वमेव । जातित्वावच्छिन्न- स्याऽखण्डत्वादेव न तादृशविनिगमनाविरहापात । भेदाभेदवत् नित्याऽनित्यत्वादयोऽपि जात्यन्तररूपा एवोपगन्तुमर्हन्ति ।

इदन्तु ध्येयम् - सर्वथा जात्यन्तरत्वमपि न युज्यते, तदशनिबन्धनविशेषप्रतिपत्तेरभावप्रसङ्गात् । न चासावस्ति, सदसद्- भयात्मके वस्तुनि स्वरूपादिभि सत्त्वस्य पररूपादिभिरसत्त्वस्य च तदशस्य विशेषप्रतिपत्तिनिबन्धनस्य सुनयप्रतीतिनिश्चितस्य प्रसिद्धे , दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्योद्भवे पानके तदशदध्यादिविशेषप्रतिपत्तिवत् । न चैव जात्यन्तरमेवोभयात्मकमिति वाच्यम्, सर्वथोभयरूपत्वे जात्यन्तरप्रतिपत्तेरयोगात्, पानकवदेव । तत कथञ्चिज्जात्यन्तरत्वमुपेयमिति सूचनार्थं 'आहु'रित्युक्तम् । न च तथापि शब्द-समभिरूढैवम्भूतनयमते तु विशेषण-विशेष्यभावभेदेऽष्टमादिभङ्गप्रसङ्गो दुर्निवार इत्याशङ्कनीयम्, तन्मते आद्य- भङ्गद्वयस्यैवोपगमात् । सुस्पष्टश्चैतत् तत्त्व वादमहार्णवे । न चैवमपि अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादकवचनस्याऽष्टमोऽपि विकल्प किमिति नाऽङ्गीक्रियत इति शङ्कनीयम्, तत्परिकल्पननिमित्तविरहात्, सावयवात्मकस्य निरवयवात्मकस्य चाऽन्योन्य- निमित्तकस्य जिज्ञासाया चतुर्थादि-प्रथमादिविकल्पानामेव प्रवृत्ते । तथाहि - क्रमेण धर्मद्वय गुणप्रधानभावेन प्रतिपादने प्रथम- द्वितीयभङ्गौ, क्रमेण प्राधान्येनाऽभिधित्साया प्रथम-द्वितीयसयोगनिष्पन्न तृतीय , युगपत् प्राधान्येन विवक्षाया चतुर्थ , एक विभज्याऽपरश्चाऽविभज्यार्पणाया प्रथम-चतुर्थनिष्पन्न पञ्चम , द्वितीय-चतुर्थसमुपजात षष्ठो वा द्वा देशौ विभज्य चतुर्थश्चाऽविभज्य प्रतिपिपादयिषाया प्रथम-द्वितीय-चतुर्थसयोगोत्पन्न सप्तमो भङ्ग एव प्रवर्तते । तृतीयादिदेशोपादानेऽपि द्वित्र्यादीनामेक- विभाजकोपरागपर्यवसानान्न सप्तमाद्यतिक्रम , एककरदण्डसयोगे करद्वयदण्डसयोगे वा दण्डित्वाविशेषात् । 'तथाप्यनेकान्त उद्भूत- द्वित्वादिविवक्षया स्यादेव विशेष' इति चेत् ? तर्हि स्यादेव भङ्गावान्तरभेदोऽपि । अत एव द्वादशारनयचक्रादौ श्रीमल्लवादिसूरि- प्रभृतिभि कोटिशो भङ्गा अभिहिता । न चैव सप्तभङ्गव्याघात इति वाच्यम्, विभाजकोपाध्यनतिक्रमात् उपधेयसाङ्कर्येऽ- प्युपाध्यसाङ्कर्यान्न विभागव्याघात इति तात्पर्येणाऽऽह- अत एवेति ।

मध्यस्थ शङ्कते - अथेति । का = कीदृशी इय सप्तभङ्गी ? अत्र प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रमेवोपदर्शयति -

मे पटविशिष्ट पट को माना जाय या पटविशिष्ट घट को माना जाय ? इसमे कोई विनिगमक न होने से भूतल मे दोनो को माने जाते ह फिर भी तथाविध परिणाम मे, जो पटादि मे रहता है, कोई भेद नही होता है । इसी तरह यहाँ घट मे कथचित् नित्यत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व माना जाय या कथचित्अवक्तव्यत्वविशिष्ट नित्यत्व माना जाय ? इस विवाद का कोइ समाधान न होने पर भी घट मे रहा हुआ वह परिणाम तो एक ही है । अत आप उसे कथचित् नित्यत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व कहो या कथचित् अवक्तव्यत्वविशिष्ट नित्यत्व कहो, केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नही । अत. नित्यत्व को केन्द्र बनाने पर सात धर्म से अधिक धर्म का अवकाश नही है ।

❋ नित्यानित्यत्व आदि धर्म जातिविशेषात्मक - एकदेशीमत ❋

नित्या इति । व्याख्याकार श्रीमद्जी उपर्युक्त विशेषणविशेष्यभावविषयक विनिगमनाविरह दोष का निवारण अन्य विद्वानो के मुख से कराते है । अन्य विद्वान मनीषिओ का यह कथन ह कि —> 'नित्यानित्यत्व सखण्डोपाधिस्वरूप नही है, किन्तु जातिविशेषात्मक ही है । जाति सदा के लिए अखड होती है, सखड नही । अत कथचित् नित्यत्वविशिष्टावक्तव्यत्व या कथचित् अवक्तव्यत्वविशिष्ट नित्यत्व - ऐसा विशेषणविशेष्यभावविषयक विनिगमनाविरह नही है' <— । यह अन्य विद्वानो का कथन ह । प्रत्येक वस्तु मे उपर्युक्त रीति से जो सात धर्म सिद्ध होते ह, इनका अवलबन कर के ही अनेक स्थान मे बताई हुई सप्तभगी की सगति होती है । नित्यत्व को केन्द्र मे रखने पर सात धर्म ही सभव ह, न तो न्यून और न तो अधिक। इसलिए अन्यत्र भी सप्तभगी का ही प्रतिपादन किया गया है त्रिभगी या अष्टभगी आदि का नही ।

❋ सप्तभंगीस्वरूपविचार ❋

यहाँ यह प्रश्न हो कि —> 'यह सप्तभगी क्या है ?' जिसके विषय मे आप यह लबा-चोडा निरूपण करते ह ?

समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गीति सूत्रम्

जयलता

एकत्रेति। प्रकृते 'एकत्र वस्तुनी'त्यत्र सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । 'एकैकधर्मपर्यनुयोगवशादि'त्यत्र पञ्चम्यर्थः प्रयोज्यत्वम् । 'अविरोधेने'ति तृतीयार्थो वैशिष्ट्यरूपमवच्छिन्नत्वम् । 'विधिनिषेधयो'रित्यत्र सप्तम्यर्थः विषयत्वं, अन्वयश्च तस्य कल्पनापदार्थे । 'कल्पनने'त्यत्र तृतीयार्थ प्रयोज्यत्वम् । सप्तधे'ति सप्तविधः । सङ्ख्यायाः पर्याप्तिसम्बन्धेनाऽन्वयबोधे साकाङ्क्षत्वात् प्रकृते च एक-वस्तुविषयैकैकधर्मगोचरप्रश्नप्रयुक्ताविरुद्धव्यस्तसमस्तविधिनिषेधविषयककल्पनाप्रयुक्त-स्यात्पदलाञ्छितसप्तविधत्वपर्याप्तिमद् वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गीति श्रीवादिदेवसूरिसूत्रशब्दार्थः ।

अत्र श्रीरत्नप्रभाचार्यकृतव्याख्यालेश एवम् —> ''एकत्र जीवादौ वस्तुन्येकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशादविरोधेन प्रत्यक्षादि-बाधापरिहारेण पृथग्भूतयो समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैः वचनविन्यास सप्तभङ्गी विज्ञेया । भज्यन्ते भिद्यन्तेऽर्था. येस्ते भङ्गाः = वचनप्रकाराः । ततः सप्तभङ्गाः समाहृताः सप्तभङ्गीति कथ्यते । नानावस्त्वाश्रयविधिनिषेधकल्पनया शतभङ्गीप्रसङ्गनिवर्तनार्थमेकत्र वस्तुनीत्युपन्यस्तम् । एकत्राऽपि जीवादौ वस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमानानन्तधर्मपर्यालोचनयाऽनन्तभङ्गीप्रसक्तिव्यावर्तनार्थमेकैकधर्मपर्यनुयोगवशादित्युपात्तम् । अनन्तेष्वपि हि धर्मेषु प्रतिधर्म पर्यनुयोगस्य सप्तधैव प्रवर्तमानत्वात् तत्प्रतिवचनस्याऽपि सप्तविधत्वमेवोपपन्नमित्येकैकस्मिन् धर्मे एकैका सप्तभङ्गी साधीयसी । एवञ्चाऽनन्तधर्मापेक्षया सप्तभङ्गीनामानन्त्य यदायाति तदभिमतमेव । एतच्चाऽग्रे सूत्रत एव निर्णेष्यते । प्रत्यक्षादि-विरुद्धसदाद्येकान्तविधिप्रतिपेधकल्पनयाऽपि प्रवृत्तस्य वचनप्रयोगस्य सप्तभङ्गीत्वाऽनुषङ्गमविरोधेनेत्युक्तम्'' <— (प्र.न.त. ४/१५ रत्ना अव)

'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिपेधकल्पना सप्तभङ्गी'ति दिगम्बरीयलक्षणम् ।

प्रकरणकारो न्यायविशारदस्तु अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे —> ''एकत्र वस्तुनि सत्त्वाऽसत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकता-पर्याप्त्यधिकरण वाक्य सप्तभङ्गीति लक्षणतात्पर्यम् । विरोधस्फूर्त्तौ वाक्यस्याऽबोधकत्वेन 'अविरोधेने'त्यस्य गतार्थत्वात् । प्रश्नस्य च क्वाचित्कत्वाच्छिष्यजिज्ञासयेव क्वचिद् गुरोर्जिज्ञापयिषयैव सप्तभङ्गीप्रयोगसम्भवात्ः 'प्रश्नवशादि'त्यस्याऽपि लक्षणेऽप्रवे-शात् । नानावस्तुनि सत्त्वाऽसत्त्वादिबोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गवारणाय 'एकत्र वस्तुनी'ति । एकत्र घटे सत्त्वासत्त्वादिबोधकवाक्येऽति-प्रसङ्गवारणाय 'सत्त्वाऽसत्त्वादी'ति । खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिः । प्रमाणसप्तभङ्गीनयसप्तभङ्ग्यो नातिव्याप्तिर्नाव्या-तिव्याप्ति । प्रमाणनयसप्तभङ्ग्यो पृथक् पृथक् लक्ष्यते तु सकलादेशत्व-विकलादेशत्वे विशेषणे देये । एकत्र वस्तुन्येक-पर्यायनिरूपितविधिनिपेधकल्पनामूलसप्तधर्मप्रकारकोद्देश्यशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गी, धर्मिणो देशभेदेनैक-द्विबहुवचनान्ततया चरमपदोर्न्नीत्या बहुभदसम्भवेऽपि फलीभूतबोध समधर्मप्रकारकोद्देश्यताया अक्षतत्वान्नाव्याप्तिरित्यपि केचित्'' <— (अ स वि परि १श्लो १४/पृ.१८६) इति विवृतवान् ।

सप्तभङ्गीतरङ्गिणीकार आशाम्बरो विमलदासस्तु ''प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वे सति, एकवस्तुविशेष्यकाऽविरुद्धविधिप्रति

<— तो इसका समाधान देने के लिए व्याख्याकार श्रीमद्जी प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार शास्त्र के सूत्र को बताते हैं । इस सूत्र का अर्थ यह है कि - एक ही वस्तु मे एक-एक धर्मसम्बन्धी प्रश्न के वश, प्रत्यक्षादि प्रमाण का विरोध न हो इस तरह, पृथक् या स्वतंत्र विधि-निषेध की कल्पना से स्यात् पद से युक्त सात प्रकार के वचनप्रयोग के समूह को सप्तभङ्गी कहते हैं । पाठको की सुगमता के लिए यहाँ एक ही स्थल पर सात भंग का संक्षेप से निरूपण किया जाता है । (१) घट में कथंचित् = द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्यत्व है, (२) कथंचित् = पर्यायत्व की अपेक्षा अनित्यत्व है, (३) क्रमशः द्रव्यत्व पर्यायत्व की अपेक्षा स्यात्नित्यत्वाऽनित्यत्व है, (४) एक ही काल में द्रव्यत्व-पर्यायत्व की अपेक्षा से विचार करने पर घट में 'स्याद् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है (५) द्रव्यत्व की अपेक्षा और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में स्याद् नित्यत्व और स्याद् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है, (६) पर्यायत्व की अपेक्षा और द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में स्याद् अनित्यत्व और स्याद् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है (७) क्रमशः पृथक् पृथक् द्रव्यत्व और पर्यायत्व तथा युगपत् द्रव्यत्व-पर्यायत्वोभय की अपेक्षा घट में स्याद् नित्यत्व, स्याद् अनित्यत्व और स्याद् अवक्तव्यत्व धर्म रहता है । [illegible] होता है कि - घट में [illegible] नित्य ही होता है या अनित्य ही ? इत्यादि, इस तरह की घट के [illegible] [illegible] है । यह तो स्वाभाविक ही है कि जिस प्रकार की जिस धर्म की जिज्ञासा होती [illegible]

[प्र न त.परि ४/सू १४] । य खलु प्रागुपदर्शितान् वस्तुन सप्तधर्मानवलम्ब्य संशेते, जिज्ञासते, पर्यनुयुङ्क्ते च त प्रतीय फलवती, प्रश्नस्य तुल्योत्तरनिवर्त्यत्वात् । अत एवैकेनाऽपि भङ्गेन न्यूना सतीय न प्रमाणम्, सप्तप्रतिपाद्यावगाहि-सशयज-जिज्ञासाजन्यानां सप्तानां प्रश्नानाम-निवर्त्तनात् ।

जयलता

पेधात्मकधर्मप्रकारकवोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तसमुदायत्वम्'' (स भ त पृ ३) इति सप्तभङ्गीलक्षण दर्शितवान् ।

'विधिनिषेधार्पणया प्रतिपर्याय वस्तुनि सप्तैव भङ्गा ' इति नियम प्रतिपर्याय प्रतिपाद्यपर्यनुयोगाना सप्तानामेव सम्भवात्, तेषामपि सप्तत्व सप्तविधजिज्ञासानियमात्, तासामपि च सप्तविधत्व सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात्, तस्याऽपि सप्तप्रकारकत्वनियम स्वगोचरवस्तुधर्माणा सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति न स्वाश्रय-परस्पराश्रय-चक्रकादिदोषपङ्किलत्वमित्याशयेनाऽऽह-यः खलु प्रागुप-दर्शितान् वस्तुनः सप्तधर्मानवलम्ब्य सशेत इति । त प्रतीय सप्तभङ्गी फलवती, न त्वसशयितजिज्ञासितपर्यनुयुक्तवन्त पुरुष प्रत्यपि, हेतुमाह- प्रश्नस्य = पर्यनुयोगस्य, तुल्योत्तरनिवर्त्यत्वात् = समानप्रकारकप्रत्युत्तरेणैव निवृत्ते , अन्यथा 'आम्रान् पृष्ट कोविदारानाचष्टे भवानि'ति न्यायापात स्यात् । वस्तुतोऽत्र शङ्कादिक भङ्गप्रयोजक न तु क्वचिदपि भङ्गे विषयावच्छेदक, स्वद्रव्यादीनामेव तत्त्वस्याऽभियुक्तैरुक्तत्वात् ।

अत एव = प्रश्नस्य समानप्रकारकोत्तरनिवर्तनीयत्वादेव, एकेनाऽपि भङ्गेन = सप्तविधान्यतमभङ्गेन न्यूना सती इय सप्तभङ्गी न प्रमाणम् । हेतुमाह - सप्तेति । अय भाव सप्तविधसशयजिज्ञासानिवर्तकशाब्दवोधजनकतापर्याप्तिमद् वाक्यमेव विवक्षित धर्मविषयकपूर्णबोधकृत् । अत एव सप्तभङ्ग्यात्मक प्रमाणमित्युच्यते । सप्तविधभङ्गाऽन्यतमभङ्गविकलतायां सत्या सप्त-विधप्रतिपाद्यधर्मविषयकसशयाना तज्जन्यसप्तजिज्ञासाना तदुत्पन्नसप्तप्रश्नाना च 'एकसत्त्वेऽपि द्वय नास्ती'ति न्यायेन निवर्तन न स्यात् । तादृशसशयाद्यनिवर्तकत्वे कुत तत्प्रामाण्यम् ? इदमेवाऽभिप्रेत्य नयोपदेशे ''सप्तभङ्ग्यात्मक वाक्य प्रमाण पूर्ण-बोधकृत् । स्यात्पदादपरोल्लेखि वचो यच्चैकधर्मगम्'' ॥ (नयो श्लो ६) इति प्रकरणकृद्भिरुक्तम् । अत्र च विषये साम्प्रदायिकमत-भेदतन्निराकरण तदर्थिभि तद्वृत्तितोऽवसेयम् ।

अथ प्रकृते सोपयोगित्वात् सप्तभङ्गीविषयाणि प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्राणि प्रदर्श्यन्ते । तथाहि - तद्यथा स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्ग (प्र न त ४/१५) स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीय ।१६।

अपनी जिज्ञासा को शात करता है, या तो उस विषय के ज्ञाता पुरुष को प्रश्न करता हे कि - 'यह वस्तु ऐसी है या नही ?' इत्यादि । इसी तरह प्रस्तुत उपर्युक्त ७ धर्मों का जिज्ञासु पुरुष भी सप्तभगी के ज्ञाता को प्रश्न करता है कि - 'घट सर्वथा नित्य हे या अनित्य भी ?' इत्यादि । इस तरह प्रश्न करने वाले पुरुष के प्रति सप्तभगी का ज्ञाता पुरुष सप्तभगी का प्रयोग कर के उसकी जिज्ञासा का शमन करता हे, क्योंकि समानविषयक प्रत्युत्तर से ही प्रश्न का समाधान होता है । जिसे कभी भी 'घट नित्य ह या अनित्य ? ऐसी शका ही नही हुई हे, उसे उस विषय मे जिज्ञासा भी नही होती हे, तव वह इन सात धर्म के विषय मे प्रश्न भी कैसे करेगा ? तथा प्रश्न न करने वाले पुरुष के प्रति सप्तभगी का ज्ञाता पुरुष सप्तभगी का प्रयोग क्यो करेगा ? विना पूछे बोलने वाला मूर्ख समझा जाता हे । अतएव उन सात धर्मों के विषय मे शका ओर जिज्ञासा होने के बाद प्रश्न करने वाले पुरुष के प्रति ही यह सप्तभगी सफल हे । जिसे स्वप्न मे भी इन सात धर्म के विषय मे सशय-जिज्ञासा नही हुई हे, वह इन विषय मे प्रश्न भी नही करता हे । अतएव उसके प्रति यह सप्तभगी सफल नही है । कभी गुरुदेव भी वस्तुगत सात धर्मो का बोध कराने के लिये सप्तभगी बताते हे - यह ख्याल मे रहे ।

एक भी भंग से शून्य सप्तभंगी प्रमाण नहीं है

अत एव इति । प्रश्न का समाधान प्रश्न जिस विषय मे होता हे, उस विषय मे प्रत्युत्तर देने से होता है, न कि अन्य विषय मे प्रत्युत्तर से । इसलिए जिसे वस्तु के उपर्युक्त सात धर्म के विषय मे सशय-जिज्ञासा है और सात धर्म के विषय मे आप्त पुरुष को प्रश्न करता हे उसके प्रति यदि आप्त पुरुष एक भी भग से न्यून सात भगो का प्रयोग करेगा तव वह सप्तभगी प्रमाण नही हो सकती । प्रमाण से तो सशय जन्य जिज्ञासा का शमन होता है । सात धर्म विषयक प्रश्न करने पर छ या पाँच धर्मसबधी जवाब देने पर पृच्छक की पृच्छा का समाधान कैसे होगा ? जिस प्रत्युत्तर से अपने सात प्रश्नो की निवृत्ति न हो, उसे प्रमाण कहना कैसे मुनासिब होगा ? अत. यह सिद्ध होता है कि सपूर्ण सप्तभगी का

यथा च सामान्यत· शब्द सर्ववाचकोऽपि संकेतविशेष सहकृत्याऽन्वयं बोधयति तथेयमपि अर्पणाविशेषसहकृत्वरी सतीति ।

जयलता

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीय. ।१७। स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद् विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थ ।१८। स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चम. ।१९। स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठ ।२०। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति ।२१। विधिप्रधान एव ध्वनिरिति न साधु ।२२। निषेधस्य तस्मादप्रतिपत्तिप्रसक्ते. ।२३। अप्राधान्येनैव ध्वनिस्तमभिधत्त इत्यप्यसारम् ।२४। क्वचित्कदाचित्कथञ्चित्प्राधान्येनाऽप्रतिपन्नस्य तस्याऽप्राधान्यानुपपत्ते. ।२५। निषेधप्रधान एव शब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायादपास्तम् ।२६। क्रमादुभयप्रधान एवाऽयमित्यपि न साधीय. ।२७। अस्य विधिनिषेधान्यतरप्रधानत्वाऽनुभवस्याऽप्यबाध्यमानत्वात् ।२८। युगपद्विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्याऽवाचक एवाऽसाविति च न चतुरस्रम् ।२९। तस्याऽवक्तव्यशब्देनाऽप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ।३०। विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचक सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एव स इत्येकान्तोऽपि न कान्त ।३१। निषेधात्मनः सह द्वयात्मनश्चाऽर्थस्य वाचकत्वाऽवाचकत्वाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ।३२। निषेधात्मनोऽर्थस्य वाचक. सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एवाऽयमित्यप्यवधारण न रमणीयम् ।३३। इतरथाऽपि संवेदनात् ।३४। क्रमाक्रमाभ्यामुभयस्वभावस्य भावस्य वाचकश्चाऽवाचकश्च ध्वनिर्नान्यथेत्यपि मिथ्या ।३५। विधिमात्रादिप्रधानतयाऽपि तस्य प्रसिद्धे ।३६। एकत्र वस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमानाऽनन्तधर्माऽभ्युपगमेनाऽनन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतैव सप्तभङ्गीति न चेतसि निधेयम् ।३७। विधिनिषेधप्रकाराऽपेक्षया प्रतिपर्याय वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सम्भवात् ।३८। प्रतिपर्याय प्रतिपाद्यपर्यनुयोगाना सप्तानामेव सम्भवात् ।३९। तेषामपि सप्तत्व सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् ।४०। तस्या अपि सप्तविधत्व सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात् ।४१। तस्याऽपि सप्तप्रकारकत्वनियम स्वगोचरवस्तुधर्माणा सप्तविधत्वस्यैवोपपत्ते. ।४२। इति । प्रायशो व्याख्यातत्वात् सुगमत्वाच्च नेहैतानि विव्रियन्ते ।

ननु स्याद्वादे सर्वेषामनन्तधर्मात्मकत्वेन कुत विशेषधर्मबोध तदितरधर्मविनिर्मोकेण सप्तभङ्ग्याऽपि भविष्यति । न हि मधुविषसपृक्तमन्न विष परित्यज्य समधु शक्य शिल्पिवरेणाऽपि भोक्तुमित्याशङ्कायामाह- यथा चेति । **सामान्यतः शब्दः** एकोऽपि शब्द , **सर्ववाचकोऽपि** = सर्वार्थवाचकोऽपि, विशेषत **संकेतविशेष सहकृत्य** = संकेतविशेषसाचिव्येन, **अन्वय बोधयति** = सङ्केतितार्थविशेषविषयकान्वयबोध जनयति । **तथा इय सप्तभङ्गी अपि अर्पणाविशेषसहकृत्वरी सती** = विवक्षाविशेषसाहाय्या सती, उपसर्जनानुपसर्जनभावेन क्रमाक्रमाभ्या प्रातिस्विकधर्मगोचरबोध जनयतीति शेष । अय भाव 'सर्वे शब्दा सर्वार्थवाचका सति तात्पर्ये' इतिप्रवादेनैकस्याऽपि शब्दस्य सर्वार्थवाचकत्व निराबाध तथापि प्रतिनियतसंकेतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थबोध जनयति यथा गूर्जरादौ चोरशब्दस्य तस्करे द्रविडादौ पुनरोदने प्रतिनियतसङ्केतवशात्प्रतीतिरुपजायते तथेयमपि सप्तभङ्गी एकेनाऽपि भङ्गेन स्यात्पदमहिम्नाऽशेषधर्मप्रतिपादने समर्थाऽपि भजनाविशेषसहकारेण गौण-मुख्यभावेन क्रमिकाऽक्रमिकविवक्षितधर्मोपरागेण वस्तु बोधयति ।

प्रयोग करने पर ही वह प्रमाणभूत है, न कि अल्प भगवाली का ।

संकेत भी शाब्दबोध में सहकारी है

यथा च इति । यहाँ यह शका हो कि —> 'स्यात्पदगर्भित सप्तभगी से अनतधर्मात्मक वस्तु के प्रतिनियत धर्म का बोध केसे होगा ?' <— तो इसका समाधान यह है कि - जैसे एक ही शब्द सर्वार्थ का वाचक होने पर भी जिस व्यक्ति ने जिस अर्थ मे सकेत का ग्रहण किया है उस व्यक्ति के प्रति वह शब्द तादृश सकेतित अर्थ का ही बोधक होता है ठीक वेसे ही यह सप्तभगी विवक्षाविशेष के सहकार से विवक्षा के अनुसार ही आपेक्षिक धर्म का बोध कराती है । यहाँ यह कहना कि —> "सप्तभगी तो शब्दविशेष के समूहात्मक है । अत· सप्तभगी के श्रवण से तो श्रोता को शाब्दबोध होता हे । शाब्दबोध मे तो शक्तिनियामक होती है, न कि इच्छा । यहाँ तो आपने विवक्षा के सहकार से आपेक्षिक धर्म का बोध होने का कहा हे । मगर विवक्षा-अर्पणा भी इच्छाविशेषस्वरूप ही हे । इच्छामात्र शाब्दबोध मे नियामक नही होती है, तो इच्छाविशेषरूप अर्पणा भी कैसे शाब्दबोध मे नियामक होगी ?" <— भी ठीक नही है । इसका कारण यह है

शाब्दे इच्छाया अनियामकत्वं तु दुर्बलयुक्तिकम् ।

सप्तभङ्गीविनिर्मुक्तशब्दमात्रस्याऽबोधकत्वं तु न वाच्यम्, 'विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधान' इत्यनेनार्पणाविशेषस्थल एव तदनुवर्तनाभिधानात् ।

❀ जयलता ❀

ननु सप्तभङ्गी च शब्दविशेषसमूहात्मिका, शब्दश्च व्याकरणकोशादिदर्शितसङ्केतानुसारेणवाऽर्थं बोधयति, न तु यथाकथञ्चिद्वक्त्रिच्छानुसारेण, शाब्दबोधस्य शब्दानुल्लिखितार्थानवगाहित्वादित्याशङ्कायामाह- शाब्दे इति । शब्दजन्यबोधे । इच्छायाः = शब्दानुपस्थापितार्थबुभोधयिषायाः, अनियामकत्वं = अकारणत्वम्, इति कस्यचित् परस्य वचनं तु दुर्बलयुक्तिकम् । अयं भावः शब्दे द्विविधाऽर्थप्रतिपादनशक्तिः स्वाभाविकी सङ्केतरूपा च । स्वाभाविकी सहजं सामर्थ्यं योग्यताऽपरपर्याय, ज्ञानस्य ज्ञेयज्ञापनशक्तिवत् । सङ्केतश्च 'इदमस्य वाच्यमिदञ्चाऽस्य वाचकमि'त्येवरूपः वाच्यवाचकयोर्विनियोगः । स यस्य पुरुषादेरस्ति तं प्रत्येव शब्दस्याऽर्थबोधकत्वम् ।

सङ्केतं क्वचिद् व्याकरणकोशादिकं नियामकं क्वचिच्च वक्तुरिच्छाऽपि, कथमन्यथा कोङ्कणादिदेशे पिचादिपदात्पय प्रभृत्यर्थबोधः स्यात् ? न च स भ्रमात्मक इति वाच्यम्, अस्खलत्प्रवृत्तेः । न च तत्र शक्त्यभावादेवाऽबोधकत्वमिति शङ्कनीयम्, तत्रापि शक्तेः महता प्रबन्धेनाऽस्माभिः 'मोक्षरत्नाया' अपभ्रंशशब्दशक्त्यनङ्गीकर्तृमतचर्वणपूर्वकं व्यवस्थापितत्वात् ।

वस्तुतस्तु प्रकृते स्यात्पदस्य प्रयोगादेव न कश्चिद्दोषः । तदादिपदवत् स्याच्छब्दस्य स्वातन्त्र्येण बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नेऽपि शक्तिः, तद्बोधकताया वैचित्र्यादिति किं नश्छिन्नम् ? अस्माकं स्याद्वादिना नित्यानित्याद्यनेकान्तक्रोडीकरणं विना व्यवहारमात्रस्याऽयोगाच्छब्दत्वावच्छेदेन नित्याऽनित्याद्यनेकान्तात्मक एव शक्तिग्रहात् आद्यव्युत्पत्त्यनुरोधेन जीवादिपदस्यापि नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थ एव शक्तिर्गृह्यते इत्यानुभाविकी शक्तिः । तथाऽनुभवजननेऽनेकान्तवाचकस्यात्पदादिपदापेक्षणात् केवलजीवादिपदाज्जीवाद्यर्थोपस्थितिमात्रम्, अनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थानुभवस्तु स्यात्पदप्रयोगादिति सर्वं चतुरस्रम् ।

नन्वेवं सप्तभङ्गीबाह्यशब्दानामर्थबोधजनकत्वं न स्यादित्याशङ्कायामाह - सप्तभङ्गीविनिर्मुक्तशब्दमात्रस्य = सप्तभङ्गीबहिर्भूतशब्दत्वावच्छिन्नस्य, अबोधकत्वं = शाब्दबोधाऽजनकत्वं, तु न वाच्यम् । हेतुमाह - विधीति । सम्पूर्णं सूत्रं त्वेवम् "सर्वत्राऽयं ध्वनिर्विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानः सप्तभङ्गीमनुगच्छति" (प्र.न.त. परि ४/सू. १३)

यद्यपि रत्नाकरावतारिकायां तद्विवरणञ्चैवम् —> इह यथैवान्तर्बहिर्वा भावराशिः स्वरूपमाबिभर्ति तथैव तं शब्देन प्रकाशयता प्रयोक्त्रा प्रावीण्यमुपजायते । तं च तथाभूतं सप्तभङ्गीसमनुगत एव शब्दः प्रतिपादयितुं पटीयानित्याहुः विधीति । सदसन्नित्यानित्यादिसकलैकान्त-पक्षविलक्षणानेकान्तात्मके वस्तुनि विधिनिषेधविकल्पाभ्यां प्रवर्तमानः शब्दः सप्तभङ्गीमङ्गीकुर्वाण एव प्रवर्तत इति भावः <— (रत्ना. अव. ४/१३) इति तथापि विधिप्रतिषेधाभ्यामिति विशेषणोपादानेन ताभ्यां विनिर्मुक्तस्य शब्दस्य सामान्यतः स्वार्थबोधकत्वमव्याहतमेव । सुस्पष्टश्च सप्तभङ्गीबाह्यशब्दानां वाचकत्वं "अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवद् यथार्थायथार्थत्वे पुनः पुरुषगुणदोषावनुसरतः" (प्र.न.त. ४/११) इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रे तद्व्याख्यायाञ्च । ततो युक्तमुक्तं अर्पणाविशेषस्थल एव तदनुवर्तनाभिधानादिति ।

कि सामान्यतः इच्छा शाब्दबोध के प्रति कारण न होने पर भी यहाँ अन्वय-व्यतिरेक से उसमें शाब्दबोधकारणता का प्रत्यक्ष से अनुभव होने की वजह इसका अपलाप नहीं किया जा सकता । प्रत्यक्ष सबसे बलवान् प्रमाण है । अतः प्रत्यक्ष के अनुसार ही नियम की कल्पना करनी चाहिए । जहाँ भी प्रत्यक्ष का विरोध आदि उपस्थित हो वहाँ नियम में भी संकोच करना आवश्यक होता है । यह तो सब विद्वान् पुरुषों को मान्य है । अतः सप्तभंगी स्थल के अनुरोध से अर्पणारूप इच्छाविशेष में शाब्दबोध की कारणता का स्वीकार करना ठीक ही है । मगर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि - 'सप्तभंगी से अतिरिक्त शब्दमात्र (सब शब्द) अर्थ का बोधक नहीं होगा',- क्योंकि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के चतुर्थ परिच्छेद के १३ वे सूत्र में कहा गया है कि - 'सर्वत्र शब्द विधि-प्रतिषेध के द्वारा स्वार्थ (अपने अर्थ) को कहता हुआ सप्तभंगी में प्रवृत्त होता है' । इस सूत्र में ऐसा नहीं कहा है कि शब्द अपने अर्थ का बोध कराता हुआ सप्तभंगी में प्रवृत्त होता है, मगर 'विधि-प्रतिषेध के द्वारा' ऐसा कहा है । इससे सिद्ध होता है कि अर्पणाविशेषस्थल में ही शाब्दबोध के प्रति इच्छा के अनुसरण का विधान

१ देखिये दिव्यदर्शनट्रस्ट प्रकाशित भाषारहस्यप्रकरण - पृ. ८८

अत्र च स्यान्नित्यत्वादिषु सप्तसु भङ्गेषु एवकारोऽवधारणार्थोऽन्यथाऽनुक्तसमत्वाऽऽपातात् । स्यात्पदं तु तत्तदवच्छेदकरूपपरिचायकम्, तदपरिचये सांकर्यादिशङ्काऽनिवृत्तेः ।

❀ नयलता ❀

नन्वत्र प्रत्येकं भङ्गे एवकारोपादानं किमर्थं ? 'स्यान्नित्यो जीव' इत्यादिकमेवाऽस्त्वित्याशङ्कायामाह- अत्र चेति । सप्तभङ्गेषु चेति । स्यान्नित्यत्वादिषु सप्तसु भङ्गेषु एवकारः अवधारणार्थः = अनभिमतधर्मव्यावृत्तिपूर्वं आपेक्षिकधर्मविनिश्चयार्थः । विपक्षे बाधमाह-अन्यथेति । सप्तसु भङ्गेष्वेवपदाऽप्रयोगे तु, अनुक्तसमत्वापातात् = अनभिहिततुल्यतैव तादृग्वाक्यानां प्रसज्येत, प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके "वाक्येऽवधारणं तावत् अनिष्टार्थनिवृत्तये । कर्तव्यमन्यथाऽनुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित्" ॥ (त. श्लो. वा. १।६।५३) इति ।

ननु तथापि 'जीवो नित्य एवे'त्यादिकमेवाऽस्तु, किमर्थं स्यात्पदोपादानमित्याशङ्कायामाह- स्यात्पदं त्विति । 'स्यान्नित्यत्वादिषु सप्तसु भङ्गेष्वि'त्यत्राऽप्यनुपज्यते । तत्तदवच्छेदकरूपपरिचायकमिति । नित्यत्वाद्यवच्छेदकीभूतद्रव्यत्वादिपरिचयजनकम् । परिचेयस्थितिश्च न परिचायकस्थित्यधीनेति व्यवहारे क्वचित्तदप्रयोगेऽपि न क्षतिः, सामर्थ्यात् तत्प्रतीतेः । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्राऽर्थात्प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ (त. श्लो. वा. १।६।५६) इति । तत्तदवच्छेदकधर्मापरिचये का क्षतिरित्याशङ्कायामाह- तदपरिचये प्रतिनियतस्वावच्छेदकधर्मानवबोधे, सांकर्यादिशङ्काऽनिवृत्तेः । संकर-व्यतिकरादिसंशयाऽनिवृत्तिप्रसङ्गात् । अयं भावः 'नित्य एव जीव' इत्याद्युक्तेः जीवस्य मनुष्यत्व-चैत्रत्वादिरूपेणाऽपि नित्यत्वं प्रसज्येत । ततश्च प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः प्रत्यक्षादिविरोध-संकरादिकं च प्रसज्येताम् । ततः स्यात्पदं प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः । ततः 'कथञ्चित् = द्रव्यत्व-जीवत्वादिनैव जीवो नित्यः न तु मनुष्यत्वादिनाऽपि' इत्येवं असंकीर्णाऽबाधितप्रतिनियतस्वरूपप्रतीतिर्भवेत् ।

एतेन "यदि खलु भवन्तः खरोष्ट्रसूकरादिकं जिनमिव कदाचिदुपासते, पाषाणपुरीषादिकञ्च गुडदधितक्रादिवद् भक्षयन्ति तदा न स्यादेकान्तसिद्धिः । को हि जिनस्याऽतिशयो यः खरोष्ट्रादौ नास्त्येव ? को वा खरोष्ट्रादेर्निकृष्टभावो यो नास्त्येव जिने यतः खरोष्ट्रादिपरिहारेण स एवोपास्यते ? तथा पाषाणपुरीषादीनां को दोषो यो गुडादिषु नास्त्येव, गुडादीनां वा कोऽतिशयो यः पाषाणादिषु नास्त्येव, यतः पाषाणादिपरिहारेण गुडादीन्येव भक्ष्यन्ते ? अथाऽस्त्येव कश्चिदत्रैवाऽतिशयो यद्वशादत्रैव प्रवृत्तिरिति न तर्हि सर्वत्राऽनेकान्तः" (न्या. भू. पृ. ५५७) इति न्यायभूषणकारप्रलापः परास्तः, जिनोऽपि स्वकेवलज्ञान-जिननामकर्मोदयाऽपेक्षया जिनः, न तु छाद्मस्थिकज्ञानाद्यपेक्षयाऽपि, अन्यथा सर्वजीवानां जिनत्वप्रसङ्गो जिनस्य वा छद्मस्थत्वप्रसङ्गः सपनीपद्येत । एवं पाषाणपुरीषादीनामपि स्वरूपापेक्षयैव पाषाणादिरूपता न तु गुडादिपररूपाऽपेक्षया । ततो न भोजनार्थिनां मनुष्याणां पाषाणादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गः । न चैवमेकान्तवादप्रवेशः, सम्यगेकान्ताऽविनाभावित्वादनेकान्तस्येत्यसकृदुक्तत्वात् ।

अत एव "निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाऽविशेषात्, 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ती'त्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणतात्मकतैव स्यात् । एवं निर्धारयितुः निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तितेति । एवं सति कथं प्रमाणभूतः सन्तीर्थकरः प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृ-प्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात् ? कथं वा तदभिप्रायानुसारिणः

किया जाता है, न कि सामान्यरूप से । सप्तभंगी से बहिर्भूत लौकिक-व्यावहारिक शब्द से जन्य बोध के प्रति इच्छा की कारणता का स्वीकार नहीं करने में तादृश शब्द में अर्थबोधजनकता के अभाव का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित नहीं होगा।

❊ सप्तभंगी में एवकार और स्यात्कार का प्रयोजन ❊

अत्र च इति । सप्तभंगी के प्रत्येक भंग में जो 'एव' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह अवधारण के लिए किया जाता है । जैसे कि - 'जीवः स्यात् नित्य एव' इत्यादि में यदि एवकार का प्रयोग न किया जाय तो जीव में विवक्षित धर्म = द्रव्यत्व की अपेक्षा से नित्यत्व का बोध होने पर द्रव्यत्व की अपेक्षा से ही अनित्यत्व के अभाव का भान नहीं होगा । अत एव इन भंगों में प्रत्येक में एवकार का प्रयोग किया जाता है, जिससे अनभिमत अर्थ का निषेध होता है । उसका प्रयोग न करने पर तो वस्तु के अनभिमत स्वरूप का निराकरण न होने से वस्तु का प्रतिनियतस्वरूप में अभिधान नहीं होगा । फलतः वस्तु अभिहित = कथित होने पर भी अनभिहित = अकथित के तुल्य हो जायेगी । अतः प्रत्येक भंग में एवकार का प्रयोग वस्तु के अनभिमत स्वरूप के निराकरणपूर्वक अभिमतवस्तुस्वरूप के निर्णय के लिए आवश्यक

❀ जयलता ❀

तदुपदिष्टेऽर्थे निर्धारितरूपे प्रवर्तेरन् ? ऐकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुल प्रवर्तते, नाऽन्यथा । अतश्चाऽनिर्धारितार्थ शास्त्र प्रणयन् मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचन स्यात्'' (ब्र सू २।२।३३-श भा) इति ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यवचनमपि प्रत्युक्तम्, वस्तुस्वरूपान्यथानुपपत्त्या स्वपरपर्यायात्मकत्वेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वाऽभ्युपगमात् 'अनेकान्तस्या-ऽपि स्यात्कारलाञ्छनैकान्तगर्भस्य अनेकान्तस्वभावत्वात्' (स त ३।५।२७।६३८ पृ) इति वादमहार्णववचनात् । शङ्करस्याऽपि ''नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं'' (ऋ म.सू १०, सूत्र-१२१) इति ऋग्वेदवचनस्य, 'सच्चाऽसच्चाऽहमर्जुन ' (भ गी ९.१९) इति भगवद्गीतावचनस्य, 'न बद्धोऽस्मि न मुक्तोऽस्मि' (महोप ६/६८) इति महोपनिषद्वचनस्य, 'नान्त प्रज्ञो न बहि प्रज्ञो नोभयत प्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाऽप्रज्ञ ' (सु ३५ पृ) इति सुबालोपनिषद्वचनस्य, 'नैव चिन्त्य न चाऽचिन्त्य अचिन्त्य चिन्त्यमेव च' (ब्र बि उप ६) इति ब्रह्मबिन्दूपनिषद्वचनस्य, 'मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि, मोक्षहीनोऽस्म्यह सदा' (मै उप ३।२२) इति मैत्रेय्युपनिषद्वचनस्य विरोधपरिहारे भगवतोऽनेकान्तवादस्यैव शरणीकरणीयत्वादिति 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापात ।

यच्च शान्तरक्षितेन तत्त्वसङ्ग्रहे

''तत्राऽप्यविकृत द्रव्य पर्यायैर्यदि सङ्गतम् । न विशेषोऽस्ति तस्येति परिणामि न तद्भवेत् ॥

स्वभावाऽभेद एकत्व तस्मिन् सति च भिन्नता । कथञ्चिदपि दु साधा पर्यायात्मस्वरूपवत् ॥

अगौणे चैवमेकत्वे द्रव्यपर्याययो स्थिते । व्यावृत्तिमद् भवेद् द्रव्य पर्यायाणा स्वरूपवत् ॥

यदि वा तेऽपि पर्याया सर्वेऽप्यनुगतात्मका । द्रव्यवत् प्राप्नुवन्त्येषा द्रव्येणैकात्मका स्थिते ॥

ततो नाऽवस्थित किञ्चिद् द्रव्यमात्मादि विद्यते । पर्यायाऽव्यतिरिक्तत्वात् पर्यायाणा स्वरूपवत् ॥

न चोदयव्ययाक्रान्ता पर्याया अपि केचन । द्रव्यादव्यतिरिक्तत्वात्तद्द्रव्यनियतात्मवत् ॥

ततो निरन्वयो ध्वस स्थिर वा सर्वमिष्यताम् । एकात्मनि तु नैव स्तो व्यावृत्त्यनुगमाविमौ ॥

न चोपलभ्यरूपस्य पर्यायानुगतात्मन । द्रव्यस्य प्रतिभासोऽस्ति तत्रास्ति गगनाब्जवत् ॥

विविधार्थक्रियायोग्यास्तुल्यादिज्ञानहेतव । तथाविधार्थसङ्केतशब्दप्रत्ययगोचरा ॥

उदयव्ययधर्माण पर्याया एव केवला । सवेद्यन्ते तत स्पष्ट नैरात्म्य चातिनिर्मलम् ॥ (त स श्लो ३१० तथा ३०६ त ३२४ पर्यन्ता श्लोका)

इत्युक्त तत्र हि मया

''स्यादविकारि हि द्रव्य पर्यायैश्च सङ्गतम् । अत एव विशेषोऽस्ति, परिणाम्यप्यतो हि तत् ॥१॥

स्वभावाऽभेद एकत्व तस्मिन् सति च भिन्नता । चित्रज्ञाने यथा दृष्टा तद्वदिह प्रतीयताम् ॥२॥

है । इसी तरह सप्तभगी के प्रत्येक भग मे 'स्यात्'कार का प्रयोग किया जाता है, वह वस्तु के प्रतिनियत स्वरूप के अवच्छेदक = नियामक धर्म का परिचय = ज्ञान कराने के लिए किया जाता है । यदि प्रतिनियत अवच्छेदक धर्म का ज्ञान श्रोता को न हो तब साकर्यादि दोष का निराकरण नही हो सकता । देखिए, 'जीव. नित्य एव' इस तरह स्यात्कारशून्य प्रथम भग का प्रयोग किया जाय तब श्रोता को इस वाक्य को सुन कर द्रव्यत्व की भाँति पर्यायत्व की अपेक्षा भी जीव मे नित्यत्व का बोध होगा एव 'जीव अनित्य एव' इस तरह स्यात्काररहित द्वितीय भग का प्रयोग किया जाय तब श्रोता को इस वाक्य से पर्यायत्व की भाँति द्रव्यत्व की अपेक्षा भी जीव मे अनित्यत्व धर्म का बोध होगा । इस परिस्थिति मे वस्तु का स्वरूप परस्पर सकीर्ण हो जायेगा । एव एक ही धर्म की अपेक्षा या निरपेक्षतया नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म का जीव मे समावेश का बोध होने से विरोध दोष भी प्रसक्त होगा । ऐसे ही अनेक व्यतिकर, वैयधिकरण्य, सशय आदि भी दोष प्रसक्त होंगे, यदि प्रतिनियत अवच्छेदक धर्म का सप्तभगी से श्रोता को ज्ञान न हो । अत इन दोषो को दूर करने के लिए प्रत्येक भग मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है । स्यात् पद का प्रयोग करने पर 'जीव स्यात् नित्य एव' इस भग से 'द्रव्यत्व की अपेक्षा जीव मे नित्यत्व ही है' ऐसा बोध होगा एव 'स्यात् जीव· अनित्य एव' इस वाक्य से 'जीव मे पर्यायत्व की अपेक्षा अनित्यत्व ही हे' ऐसा बोध होगा । परस्पर असकीर्ण धर्म का बोध होने से अब सकर-विरोध आदि

❀ जयलता ❀

कथञ्चिच्चैवमेकत्वे, द्रव्यपर्याययो स्थिते । व्यावृत्तिमत् कथ द्रव्य पर्यायाणा स्वरूपवत् ॥३॥
अतो हि तेऽपि पर्याया सर्वेऽननुगतात्मका । द्रव्य ह्यनुगत तत्र भेदाऽभेदस्थिति. तत ॥४॥
अत एव नित्य तत्र द्रव्यमात्मादि विद्यते । पर्यायव्यतिरिक्तत्वात्, तद्विगमेऽप्यनाशत ॥५॥
प्रत्यक्षत प्रमीयेते कुम्भहारोदयव्ययौ । सुवर्णाद् व्यतिरिक्तत्वात्, सुवर्णश्चानुवृत्तिमत् ॥६॥
ततो निरन्वयो ध्वस स्थिर वा नास्ति किञ्चन । पर्यायद्रव्ययो स्तो हि व्यावृत्त्यनुगमाविमौ ॥७॥
न चोपलभ्यरूपस्य पर्यायानुगतात्मन । आत्मन उपलम्भो नास्ति ततोऽस्ति प्रतिपन्नवत् ॥८॥
विविधार्थक्रियायोग्यास्तुल्यादिज्ञानहेतव । तथाविधार्थसङ्केतशब्दप्रत्ययगोचरा. ॥९॥
उदयव्ययधर्माण पर्याया एव केवला । न वेद्यन्ते परन्तु द्रव्यमप्यभेदभेदत ॥१०॥
तस्मान्नार्हति नैरात्म्य प्रत्यभिज्ञादिबाधत । तस्मादङ्गीकुरु द्रव्यपर्यायौ पारमार्थिकौ ॥११॥ इत्येव **प्रतिविधीयते** ।

यत्तु भासर्वज्ञेन ''यदि भावानामुभयात्मकत्व स्यात्, तदा स्वरूपेणैव घटश्चाऽघटश्च स्यात् । पररूपेणाऽघटत्वे हि गौण तदऽघटत्व बटुमाणवकादेरग्नित्वसिहत्वादिवत् । अतो गौण तदुभयात्मक वस्तु, मुख्यतस्तु स्वरूपेणैव यदात्मक यत्तदात्मकमेव तत्'' (न्या भू पृ ५५९) **इत्युक्त, तन्न** मनोरमम्, न हि स्वरूपाऽपेक्षयाऽपितु दशरथस्य रामापेक्षयाऽपि पितृत्व गौणमेव, न तु मुख्यमिति वक्तु शक्यते, अन्यथा सापेक्षधर्माणामुच्छेद. काल्पनिकत्व वा प्रसज्येत । न चैवमिष्टम् । अत परद्रव्याद्यपेक्षयाऽघटत्वमपि स्वद्रव्याद्यपेक्षया घटत्ववन्मुख्यमित्युपगन्तव्यम् । न ह्यय नियमो यदुत स्वरूपेणैव मुख्यधर्म. पररूपेण तु गौण एवेति, अन्यथा पररूपेणैव मुख्यधर्म स्वरूपेण तु गौण एवेति वदतो मुखस्याऽपि पिधातुमशक्यत्वादिति **दिक्** ।

इद त्ववधेयम् - स्यात्पदात् एकान्तबुद्धिविलक्षणबुद्धिविशेषविषयतावच्छेदकत्वेनैव अनन्तधर्मघटितसप्तभङ्गीबोधेऽपि प्रातिस्विकरूपेण तद्बोधनार्थ विशेषप्रयोगोऽवश्यमाश्रयणीय. । यथा वृक्ष इत्युक्ते वृक्षत्वेन प्लक्षबोधेऽपि प्लक्षत्वेन तद्बोधार्थ विशेषप्रयोग आश्रीयत इति । इदमेवाऽभिप्रेत्योक्तम् - ''स्याच्छब्दादप्यनेकान्तसामान्यस्याऽवबोधने । शब्दान्तरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये ॥'' स्याच्छब्दस्य द्योतकत्वे तु न्यायप्राप्त एवाऽस्त्यादिशब्दप्रयोग इत्यादिक स्वसमयानुसारेण विभावनीयम् ।

सम्मतितर्कवृत्त्यादौ तु तृतीय-चतुर्थभङ्गयो' विपर्ययोऽपि दृश्यते । **श्रीचन्द्रसूरिभिः उत्पादादिसिद्धिस्वोपज्ञवृत्तौ** सप्तभङ्गीभावना –> ''तत्र यदा द्रव्यस्य प्राधान्यविवक्षा क्रियते तदा 'स्यादस्ती'ति कथ्यते, विवक्षितपर्यायरूपतया कार्यस्याऽभावेऽपि द्रव्यरूपतया सत्त्वात् । यदा पर्यायाणा प्राधान्यविवक्षा क्रियते तदा 'स्यान्नास्ती'ति कथ्यते, द्रव्यरूपतया कार्यस्य सत्त्वेऽपि तद्विधपर्यायाऽपेक्षया असत्त्वात् । यदा तु युगपदुभयप्राधान्यविवक्षा क्रियते तदा 'स्यादवक्तव्यमि'ति व्यपदिश्यते । तथाहि - तत्सदिति वक्तु न शक्यते, द्रव्यरूपतया सत्त्वेऽपि पर्यायरूपतयाऽसत्त्वात् । 'असदि'त्यपि वक्तु न शक्यते, पर्यायरूपतयाऽसत्त्वेऽपि द्रव्यरूपतया सत्त्वात् । तत तस्य सच्छब्देनाऽसच्छब्देन वा युगपत्प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् अवक्तव्यम् । यदा परनिरपेक्ष द्रव्यरूपतया सत्त्व पर्यायरूपतया चाऽसत्त्व स्वात्मनिमग्नमेव विवक्ष्यते तदोभयावयवापेक्षया 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति चे'ति व्यपदेश प्रवर्तते, भेदमवलम्ब्योभयशब्दसमावेशेन तस्य प्रतिपादयितु शक्यत्वात् । द्रव्याकारार्पणद्वारेण सत्त्वेनोक्ताऽवक्तव्यस्वरूपनिरूपणेन चोपदेशे 'स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यश्चेति सप्तभङ्गी'' <– (उत्पा सि का ९ वृ) इत्यादिरूपेण कार्यसत्त्वासत्त्वविधिप्रतिषेधकल्पनाद्वारेण प्रदर्शिता ।

प्राचा प्रलपित लीलया निराकृत्य साम्प्रतम् । नव्याना जटिला वाच पराणेतु समुद्यत ॥१॥

अथ 'स्यादस्ति एव घट ' इत्यादौ अस्तिशब्दवाच्यादर्थादभिन्नस्वभावो घटशब्दवाच्योऽर्थस्स्यात् आहोस्वित् भिन्नस्वभाव ? इति द्विपक्षी राक्षसी प्रत्यक्षीबोभवीति । आद्ये तु घटशब्दार्थोऽस्तिशब्दार्थश्चैक एवेति सामानाधिकरण्य-विशेषणविशेष्यभावादिक न स्यात् । 'घट कलश' इत्यादिसामानाधिकरण्याद्यभाववत्, तदन्यतरपदाऽप्रयोगप्रसङ्गश्च दुर्निवार । किञ्च सत्त्वाऽपराऽभिधानस्याऽस्तित्वस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापितया तदभिन्नस्वभावस्य घटस्य तथात्व प्राप्तमिति समग्रविश्वस्य घटत्वप्रसङ्ग । द्वितीये त्वाह-

दोष का अवकाश नही है । अत सप्तभगी के प्रत्येक भग मे एवकार और स्यात्पद का निवेश उचित एव आवश्यक है, निरर्थक नही ।

ननु 'स्यादस्ति स्यान्नास्ती'त्यादिसप्तभङ्ग्या घटत्वादिना घटास्तित्वं कथं विधीयता ? अस्तित्वत्वेनैव तद्विधानसम्भवात् । पटत्वादिना वा घटाऽस्तित्वं कथं प्रतिषिध्यता ? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाऽभावस्याऽप्रामाणिकत्वात् ।

❋ जयलता ❋

नन्विति । अथ दीर्घं पूर्वपक्षं तृतीयचेत्यदपर्यन्तं बोध्यं, तदनु 'मैवमि'त्यनेनोत्तरपक्षप्रारम्भ इत्यवधेयम् । स्यादस्ति = स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्ति = 'स्यान्नास्त्येव घटः' इत्यादिसप्तभङ्ग्या घटत्वादिना धर्मेण घटास्तित्वं = घटप्रतियोगिकास्तित्वं, कथं विधीयता ? नैवेत्यर्थः काकुन्यायेन व्यज्यते । तर्हि केन धर्मेण तदस्तित्वविधानं सम्भवेदित्याशङ्कायामाह - अस्तित्वत्वेनैव = घटप्रतियोगिकास्तित्वनिष्ठास्तित्वत्वधर्मेणैव, तद्विधानसम्भवात् = घटास्तित्वविधानस्य शक्यत्वात् । एवकारेण घटत्वादिव्यवच्छेदः कृतः । अयमत्र नव्याभिप्रायः घटास्तित्वं तु घटाद्भिन्नमिति द्वितीयपक्षकक्षीकरणे घटत्वधर्मो विधीयमानाऽस्तित्वस्य प्रतियोगिनि घटे वर्तते, न तु घटास्तित्वे । विधेयवृत्तिधर्मेणैव विधानं सम्भवति न तु विधेयाऽवृत्तिधर्मेणाऽपि, अन्यथा पटत्वेनाऽपि घटास्तित्वं विधीयेत । न चैवं भवति । ततः पटत्ववत् घटत्वस्याऽपि विधीयमानाऽस्तित्वावृत्तित्वेन न घटत्वेन तद्विधानं शक्यं किन्तु घटास्तित्वत्वेनैव, तस्य विधेयवृत्तित्वात् ।

पटत्वादिना धर्मेण वा घटास्तित्वं = घटप्रतियोगिकसत्त्वं, कथं प्रतिषिध्यता ? नैवेत्यर्थः । हेतुमाह - व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाऽभावस्य = प्रतियोग्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽत्यन्ताभावस्य, अप्रामाणिकत्वात् = प्रमाणबाधितत्वात् । अयं नव्याभिप्रायः प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदको भवति । अतः तदवच्छिन्ना प्रतियोगिताऽप्यप्रसिद्धा भवति । अत एव तन्निरूपकोऽत्यन्ताभावोऽपि वन्ध्यास्तनन्धयवदप्रसिद्धो भवति । अत एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नात्यन्ताभावस्याऽप्रामाणिकत्वं गीयते । न च प्रतियोगिताया स्वाश्रयाऽवृत्तिधर्मानवच्छिन्नत्वे किं मानमिति वक्तव्यम्, प्रतियोगिता स्वाश्रयाऽवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना, प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्याऽवगाहिबुद्धित्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकप्रकारतावच्छेदकानुयोगितानिरूपितत्वादि'त्यनुमानमेव तत्र मानमिति गृहाण । ततश्च प्रकृतेऽत्यन्ताभावप्रतियोगिनि घटास्तित्वे पटत्वादेरवृत्तित्वेनाऽत्यन्ताभावनिरूपितप्रतियोगितावच्छेदकत्वं न सम्भवति । अत एव तदवच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकात्यन्ताभावप्रतिपादनपरः द्वितीयभङ्गोऽप्रामाणिकः । सिद्धे चैवं प्रथमद्वितीयभङ्गयोरप्रामाणिकत्वे तत्संयोगनिष्पन्ना शेषभङ्गा अपि काल्पनिका एव । ततः नेयं सप्तभङ्गी प्रमाणमिति फलितम् ।

❋ सप्तभंगी अप्रामाणिक है - दीर्घपूर्वपक्ष ❋

पूर्वपक्षी :- ननु इति । सप्तभंगी का आपने जो निरूपण किया है, वह ठीक नहीं है । वह इस तरह - 'घट स्यादस्ति' यह सप्तभंगी का प्रथम भंग है, जिससे आप यह विधान करते है कि - घटत्वेन घटास्तित्व है । अतः यहाँ घटास्तित्व धर्म विधेय बनता है और घटत्व विधेयतावच्छेदक । मगर यह असंगत है, क्योंकि विधेयतावच्छेदक धर्म विधेयनिष्ठ ही बनता है । घट और अस्तित्व परस्पर अभिन्न तो नहीं है । अतः घट में रहता हुआ घटत्व धर्म घटास्तित्वरूप विधेय में नहीं रह सकता है । अतएव घटत्वरूप से घटास्तित्व का विधान भी नामुमकिन है । घटास्तित्वरूप विधेय में तो घटास्तित्वत्व नाम का धर्म रहता है । अतः विधेयवृत्ति घटास्तित्वत्वरूप धर्म से ही घटास्तित्व का विधान मुमकिन है । अतः घटत्वेन घटास्तित्व का विधान करने वाला प्रथम भंग असंगत है । इसी तरह सप्तभंगी का द्वितीय भंग भी नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि 'घटः स्यान्नास्ति' इस द्वितीय भंग का अर्थ आपको यह अभिमत है कि - 'पटत्वेन घटास्तित्वं नास्ति' अर्थात् 'पटत्व धर्म से घटास्तित्व का निषेध द्वितीय भंग से किया जाता है । यहाँ निषेध्य है घटास्तित्व, जो अभाव का प्रतियोगी है और प्रतियोगितावच्छेदक है पटत्व । पटत्व पट में रहता है, न कि घटास्तित्वरूप प्रतियोगी में । प्रतियोगितावच्छेदक धर्म तो वही हो सकता है, जो प्रतियोगी में रहता हो । अर्थात् प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्म प्रतियोगिताअवच्छेदक नहीं बन सकता है । अतएव प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता भी अप्रसिद्ध है । अतएव प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता का निरूपक अत्यन्ताभाव भी अप्रामाणिक कहा जाता है । अप्रसिद्ध धर्म का निरूपक कोई भी नहीं बन सकता है। अतएव प्रस्तुत में पटत्वरूप धर्म से घटास्तित्वाभाव का प्रतिपादन करना भी अप्रामाणिक है । इस तरह द्वितीय भंग भी असंगत है । प्रथम और द्वितीय भंग अप्रामाणिक होने से उन दोनो से घटित (= उन दोनो के संयोग से निष्पन्न) शेष भंग भी अप्रामाणिक सिद्ध होते है । अतः संपूर्ण सप्तभंगी अप्रामाणिक = काल्पनिक है- यह निर्विवादरूप से सिद्ध होता है ।

(Z) न च 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरेव तत्र मानम्, (A) न चान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव व्युत्पत्तिलभ्यत्वात् कथमत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वलाभ ?

जयलता

स्याद्वादिन शङ्का (Z) **न चे**त्यनेन प्रदर्शयति । अन्वयश्चाऽस्य द्वितीयवाच्यमिति पदेन सह । **'घटत्वेन पटो नास्ती'-त्यादिप्रतीतिरेव तत्र** = प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वे, **मान** = प्रमाणम् । अय स्याद्वादिन आशयः, घटत्वेनेत्यत्र तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वम्, अन्वयश्च तस्य नास्तिपदार्थात्यन्ताभावनिरूपितप्रतियोगितायाम् । तस्याश्चाऽन्वय. पटे । अत घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितावान् घट इति तत्प्रतीत्याकार. । ततश्च घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकस्याऽत्यन्ताभावस्य सिद्धि निराबाधा । अत एव द्वितीयभङ्गस्य प्रामाणिकत्वमव्याहतमिति ।

परकीयशङ्का (A) **न चे**ति अनेन दर्शयति । अन्वयश्चाऽस्य प्रथमवाच्यपदेन साकम् । **अन्वयिते**ति । अयमवान्तरशङ्काकृदाशय. 'भूतले पटो नास्ती'त्यत्र 'भूतलवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगी पट' इत्येव बोधो जायते । तत्र अन्वेय प्रतियोगित्वम्, अन्वयी पट. अन्वयितावच्छेदक च पटत्वम् । अत्र प्रतियोगित्वमन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नमेव भवति न त्वन्वयितातिरिक्तधर्मावच्छिन्नम् । अत· तादृशोऽत्यन्ताभावोऽप्यन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य निरूपको भवति । तेन तत्र भूतलवृत्त्यत्यन्ताभावे पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वभान भवति । अत नञ्स्थलेऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नाया प्रतियोगिताया निरूपकत्वमत्यन्ताभावे भासत इति व्युत्पत्ति । प्रस्तुते प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकश्च पटत्व न तु घटत्व, यत प्रतियोगिता पटेऽन्वीयते न तु घटे । अन्वयितावच्छेदकधर्मश्चान्वयिवृत्तिर्भवति । अत. प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकीभूतघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताया एव निरूपकत्वमभावे सम्भवति । घटत्वाच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व तु न कुतोऽपि लभ्यते । अत· तेन सम्बन्धेन पटत्वस्यैवात्यन्ताभावे भान सभवति, न तु घटत्वस्य । स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वससर्गेणाभाववृत्तिधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात् 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यत्र पटत्वस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वम्, न तु घटत्वस्य । अतो न स्याद्वादिभि 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतिबलेन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव. साधयितु शक्यते । कथ अत्र = 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतिविषयीभूतात्यन्ताभावे **घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वलाभ·** ? व्युत्पत्त्यनतिक्रमेण शब्दस्य शाब्दबोधजनकत्वनियमात् दर्शितव्युत्पत्तिमहिम्ना न प्रतियोग्यसमानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव सिध्यतीति ।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव प्रामाणिक होने से द्वितीयादि भंग प्रामाणिक - स्याद्वादी

स्याद्वावादी :- न च घटत्वेन इति । उस्ताद ! आपने यह क्या कह दिया कि प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्म प्रतियोगितावच्छेदक नही होता है ? देखिये, 'घटत्वेन पटो नास्ति' यह प्रतीति ही प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव की साधक है । इसका कारण यह है कि दर्शित प्रतीति मे पट प्रतियोगी है और प्रतियोगितावच्छेदक है घटत्व । उपर्युक्त अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता है पट मे ओर प्रतियोगितावच्छेदक हे घट मे । अतः प्रतियोगिता और प्रतियोगितावच्छेदक परस्पर व्यधिकरण (= एक अधिकरण मे अवृत्ति) है । प्रतियोगिता स्वावच्छेदक से अवच्छिन्न होती है और अभाव उस प्रतियोगिता का निरूपक होता है-यह तो निर्विवाद सिद्ध हे । अत. यहॉ घटत्वरूप व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का, जो कि पटवृत्ति है, निरूपक अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है । अतः आपने जो कहा है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक अभाव अप्रामाणिक है - वह वचन ही अप्रामाणिक सिद्ध होता है । अतएव सप्तभगी का द्वितीय भग प्रामाणिक सिद्ध होता है ।

'घटत्वेन पटो नास्ति' यहाँ पटत्व प्रतियोगितावच्छेदक - अवान्तर शंका

शका ·- न चान्व इति । जनाव ! आपने जो कहा कि —> 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति से घटत्वावच्छिन्न पटनिष्ट प्रतियोगिता का निरूपक अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है <— वह ठीक नही है । इसका कारण यह है शाब्दवोध मे यह एक नियम है कि - अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व ही अभावाश मे ससर्ग होता है । जेसे कि 'पटो नास्ति' यहॉ अभाव का प्रतियोगी पट है । पट मे प्रतियोगिता रहती है । अत प्रतियोगिता अन्वेय ओर पट अन्वयी वनता हे । पट मे रहने वाला धर्म अन्वयितावच्छेदक वनता है । पट मे उसी प्रतियोगिता का अन्वय = सम्वन्ध हो सकता है जो अन्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व से अवच्छिन्न = नियन्त्रित है, न कि अन्वयितानवच्छेदक दडत्वादि से अवच्छिन्न । अतः पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता का पट मे अन्वय होता है । वह अन्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व ही प्रतियोगितावच्छेदक वनता है, जो स्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्व ससर्ग से अभाव मे रहता है, क्योकि अन्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता

इति (A) वाच्यम्, तृतीयान्तपदस्थले एव तदुल्लिखितधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव संसर्गत्वात्, अन्यथा 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीतेरप्यप्रामाण्यापत्तेरिति वाच्यम्, (Z)

❀ जयलता ❀

स्याद्वादी अवान्तरशङ्काकर्तुराशयस्याऽश्रद्धेयत्वमाविष्करोति- तृतीयान्तपदस्थले एवेति । एवकारेण प्रथमान्तस्थलव्यवच्छेदः कृतः । तदुल्लिखितधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव = तृतीयान्तपदोल्लिखितधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वस्यैव संसर्गत्वात् = तृतीयान्तपदोल्लिखितधर्मसम्बन्धत्वादिति । अयं स्याद्वादिनोऽभिप्रायः, 'पटो नास्ती'त्यत्र तृतीयान्तपदोपस्थापितधर्मस्य विरहात् तत्राऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वसंसर्गेण पटत्वस्यात्यन्ताभावे भानं युक्तिमत्, परन्तु तृतीयान्तपदसमभिव्याहारस्थले तु तृतीयान्तपदोपस्थापितधर्मावच्छिन्नाभावीयप्रतियोगिताकत्वस्यैव संसर्गत्वम् । अतः 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यत्र तृतीयान्तपदेनोपस्थापितस्य घटत्वस्य स्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वसंसर्गेणाभावांशे भानं युक्तिसहमेव ।

विपक्षबाधमुपदर्शयति - अन्यथेति । तृतीयान्तपदोपसन्धानस्थले तृतीयान्तपदवाच्यधर्मावच्छिन्नाभावीयप्रतियोगिताकत्वं विहायाऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैवाऽभावांशे संसर्गत्वोपगमे इत्यर्थः । 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'ति प्रतीतेरप्यप्रामाण्यापत्तेरिति । दर्शितप्रतीतौ कम्बुग्रीवादिमान् प्रतियोगी । अतः प्रतियोगिता कम्बुग्रीवादिमति अन्वेति । अतः अन्वयितावच्छेदकं कम्बुग्रीवादिमत्त्वं भवति, अन्वयिवृत्तिधर्मस्यैवाऽन्वयितावच्छेदकत्वनियमात् । अतः अन्वयितावच्छेदकीभूतकम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेनात्यन्ताभावे कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्यैव भानं सम्भवति, न तु घटत्वस्य । अतः 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान् नास्ती'त्यत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं न कुतोऽपि लभ्येतेति तत्प्रामाण्यापत्त्याऽजा निष्काशयता क्रमेलकापातन्यायागमः प्रसक्तः । ततोऽकामेनाऽपि तृतीयान्तपदोपस्थाप्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेनाऽभावांशे तृतीयान्त-

का निरूपक अत्यन्ताभाव है। इसी तरह प्रस्तुत में भी 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति में, प्रतियोगिता पट में रहने से उसका अन्वयितावच्छेदक पटत्व बनेगा। अतः तादृश अत्यन्ताभाव में भी प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व रहेगा। अतः पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व ही अभाव में प्रतियोगितावच्छेदक का संसर्ग बनेगा। मगर घटत्व तो उक्त संसर्ग से अत्यन्ताभाव में नहीं रह सकता है। अतएव घटत्व तादृश अत्यन्ताभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक भी नहीं बन सकता है। हाँ, घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व अभाव में तब रह सकता, यदि घटत्व प्रतियोगिताऽन्वयितावच्छेदक बनता। मगर प्रतियोगी पट में घटत्व नहीं रहने से वह प्रतियोगितान्वयितावच्छेदक नहीं बन सकता। अतएव घटत्व तादृशाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक भी नहीं बन सकता है। जो स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सबन्ध से अभाव में रहता है, वही तादृश अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है - यह नियम प्रसिद्ध होने की वजह 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक भी पटत्व ही है, जो प्रतियोगिता का समानाधिकरण है। इसलिए आपने प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अत्यन्ताभाव को सिद्ध करने का प्रयास किया है - वह ठीक नहीं है। अतएव सप्तभंगी का द्वितीय भंग भी अप्रामाणिक सिद्ध होता है। एवं समूची सप्तभंगी ही अप्रामाणिक सिद्ध होती है।

तृतीयांतपदोपस्थापित धर्म प्रतियोगितावच्छेदक होता ही है - स्याद्वादी

स्याद्वादी :- तृतीयान्त इति। हजूर ! आपने 'घटो नास्ति' इस स्थल में घटत्व को अभावनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक कहा वह तो ठीक है। मगर जहाँ तृतीयांत पद का प्रयोग होता है, वहाँ तो तृतीयांत पद से उल्लिखित धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व ही अभाव में संसर्ग बनता है - यह भी एक शाब्दबोधस्थलीय व्युत्पत्तिविशेष है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति में तृतीयांत पद से उपस्थापित घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व तादृश अभाव में मानना आवश्यक है। जैसे 'घटत्वेन घटो नास्ति' यहाँ तृतीयांत पद का समभिव्याहार होने की वजह तृतीयांत पद से उपस्थित घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व अभाव में है और वही घटत्व को अभाव में रहने के लिए संसर्ग का भी कार्य करता है, ठीक वैसे ही 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस स्थल में भी तृतीयांत पद का सन्निधान होने के सबब तृतीयांत पद से उपस्थित घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व पटाभाव में सिद्ध होता है। अतएव स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से घटत्व पटप्रतियोगिक अभाव में रहता है- यह भी सिद्ध होता है। तब घटत्व को पटनिष्ठ प्रतियोगिता का अवच्छेदक निर्विवादरूप से माना जा सकता है। यदि तृतीयांत पद का सान्निध्य होने पर भी तृतीयांतपदोपस्थापित धर्म को अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक न मान कर प्रतियोगितान्वयितावच्छेदक को ही प्रतियोगिताअवच्छेदक माना जाय, तब तो 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति' यह प्रतीति भी अप्रामाणिक बन जायेगी। इसका कारण

तद्धर्मस्य विशेषणतावच्छेदकतया भासकसामग्र्या एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वात्, पटादौ घटत्वादिभानस्य आवश्यकत्वात्, तस्य च प्रमारूपस्याऽसम्भवात् भ्रमस्य च

जयलता

पदोपस्थापितधर्मान्वयोऽङ्गीकार्य । तत 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादौ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावसिद्धि निष्प्रत्यूहा । **अनेन** गुरुधर्मस्याऽपि प्रतियोगितावच्छेदकत्व प्रामाणिकमिति **ध्वनितम्**, 'घटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र यथा घटत्वेऽभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वभानमभावे च स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन घटत्वमान प्रामाणिक तथैव 'कम्बुग्रीवादिमत्त्वेन घटो नास्ती'त्यत्र कम्बुग्रीवादिमत्त्वेऽत्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वभानस्यात्यन्ताभावे च स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वससर्गेण कम्बुग्रीवादिमत्त्वभानस्यापि प्रामाणिकत्वात् । इदमेवाऽभिप्रेत्य **अवच्छेदकत्वनिरुक्तिदीधितौ** ''गौरवप्रतिसन्धानदशायामपि 'कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'ति प्रतीतिबलाद् गुरुरपि धर्मोऽवच्छेदक. प्रतियोगिताया.'' (अव नि दी पृ.१२५) इत्युक्तम् । ततश्च द्वितीयभङ्गोऽपि प्रामाणिक एवेति फलितमिति स्याद्वादिनोऽभिप्राय. ।

ननुवादी मौलपूर्वपक्षी प्रकृतस्याद्वाद्याशय प्रत्याचष्टे- **तद्धर्मस्येति** । तृतीयातपदोपस्थापितधर्मस्येति । **विशेषणतावच्छेदकतया** = अभावीयविशेषणतावच्छेदकविधया **भासकसामग्र्याः** = ज्ञापकसामग्र्या. एव **प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वात्** = अभावीयविशेषणतावच्छेदकनिष्ठस्य अभावनिरूपितप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य उपलम्भकत्वात्, 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादौ घटत्वादे पटादिप्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभ्युपगमे **पटादौ घटत्वादिभानस्य** = पटस्य स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासम्बन्धेन अभाववृत्तित्वेनाऽभावविशेषणीभूत-पटादिनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टघटत्वादिज्ञानस्य, **आवश्यकत्वात्**, अभावीयविशेषणतावच्छेदकत्वेनाऽज्ञातस्य तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽसम्भवात् । परन्तु **तस्य** = पटादिवृत्तितया घटत्वादिभानस्य, च **प्रमारूपस्य** = तद्वति तत्प्रकारकत्वविशिष्टस्य, **असम्भवात्**, घटत्वादे. पटाद्यवृत्तित्वात् । अस्तु तर्हि भ्रमात्मकमेव तज्ज्ञानमित्याशङ्कायामाह - **भ्रमस्य च वस्त्वसाधकत्वात्** = वैज्ञानिकसम्बन्धेन घटत्वादिविशिष्टपटादिविषयकज्ञानस्य घटत्वादौ

यह है कि उक्त अभाव का प्रतियोगी है कम्बुग्रीवादिमान् । अत प्रतियोगिता उसमे रहेगी । अतः प्रतियोगिता का अन्वयितावच्छेदक बनेगा कम्बुग्रीवादिमत्त्व । तादृश अन्वयितावच्छेदकीभूत कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से घटत्व तो तादृश अत्यन्ताभाव मे नही रह सकता है । अत. तादृश प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व नही बनेगा, किन्तु कम्बुग्रीवादिमत्त्व होगा मगर कम्बुग्रीवादिमत्त्व गुरुभूत होने से प्रतियोगितावच्छेदक नही होता है - यह तो आपका मूल सिद्धात है । अतः फलत. तादृश प्रसिद्ध प्रतीति को भी अप्रामाणिक माननी पडेगी, जो आप नैयायिक महाशय को इष्ट नही है । अतः उपर्युक्त प्रतीति के प्रामाण्य का निर्वाह करने के लिए तृतीयातपदसमभिव्याहार स्थल मे तृतीयातपदवाच्य धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपकत्व अभाव मे मानना आवश्यक है । तब तो 'घटत्वेन पटो नास्ति' यह प्रतीति भी उपदर्शित पद्धति से प्रामाणिक होगी, जिसके फलरूप मे प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की सिद्धि हो जायेगी । इस परिस्थिति मे सप्तभगी के द्वितीय भग का प्रामाण्य भी अबाधित रहेगा ।

* अभावविशेषणतावच्छेदकत्व और अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व की ज्ञापक सामग्री एक - पूर्वपक्ष *

पूर्वपक्षी :- तद्धर्मस्य इति । स्याद्वादी महाशय ! आपने उपर्युक्त रीति से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म मे अभावविशेषणतावच्छेदकत्व का भान नही होता है । यह एक अकाट्य नियम है कि जिस सामग्री से जिस धर्म मे अभावविशेषणतावच्छेदकत्व का भान होता है उसी सामग्री से उसी धर्म मे अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्व का भान होता है । यह नियम इस तरह स्पष्ट हो जायेगा । देखिये, 'घटो नास्ति' इस प्रतीति मे घट है प्रतियोगी और अभाव है अनुयोगी । अतः घट मे प्रतियोगिता और अभाव मे अनुयोगिता रहती है । प्रतियोगिता ओर अनुयोगिता परस्पर सापेक्ष होने से एक-दूसरे से निरूपित बनती हे । अनुयोगी विशेष्य बनता है ओर प्रतियोगी विशेषण । अत घट स्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासबध से अभाव मे रहता है । तादृश सबध से घटविशिष्ट अभाव बनता हे । विशेषण मे रहने वाला धर्म विशेषणतावच्छेदक कहा जाता है। अत. यहाँ विशेष्यभूत अभाव के विशेषणरूप घट मे रहने वाला घटत्व अभावविशेषणतावच्छेदक कहा जाता है । वही घटप्रतियोगिकाभावनिरूपितप्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है । अत. घटत्व धर्म मे अभावविशेषणतावच्छेदकत्व की भासक सामग्री ही घटत्वरूप धर्म मे अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व की भासक = ज्ञापक होती है । अब 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि

वस्त्वसाधकत्वाद्, घटत्वादे घटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्, घटत्वादे पटादिप्रतियोगि-

❀ जयलता ❀

पटादिप्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वसाधनेऽप्रत्यलत्वात् । किं घटत्वादेः नैव कस्याश्चित्प्रतियोगिताया अवच्छेदकत्व-मित्याशङ्कायामाह- घटत्वादेः घटाद्यभावविशेषणीभूतघटादिनिष्ठतया घटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्, एकत्र विशेषणतयाऽ-न्वितस्याऽन्यत्र विशेषणत्वायोगात् घटादिविशेषणीभूतस्य घटत्वादेः पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽसिद्धेरिति । अथ मूलपूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः प्रतियोग्यवृत्तिर्धर्मः प्रतियोगितावच्छेदको भवितुं नार्हति, किन्तु अभावविशेषणीभूतप्रतियोगिविशेषणीभूतधर्म एवात्यन्ताभावीयप्रतियोगितावच्छेदको भवितुमर्हति, विद्यमानं सद्व्यावर्त्तकं विशेषणं विशेषणवृत्ति च विशेषणतावच्छेदकं भवतीत्यत्र न काऽपि विप्रतिपत्तिः किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकः प्रतियोगिवृत्त्येव न वा ? इति विप्रतिपत्तिरत्र । विधिकोटिः ननुवादिनः निषेधकोटिश्च स्याद्वादिनः । किन्तु विधिकोटिरेवाऽङ्गीकर्तुमर्हति, यतः अभावविशेषणतावच्छेदकत्वाभावप्रतियोगितावच्छेदके समानवित्तिवेद्ये = एकसामग्रीग्राह्ये । यथा 'घटो नास्ती'त्यत्र स्ववृत्तिप्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासम्बन्धेनाऽभावविशेषणी-भूतघटविशेषणतया ज्ञातस्य घटत्वस्यैव तदभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वम्, यतः समकालमेव घटत्ववृत्तितया अभावस्य विशेषणतावच्छेदकत्व-प्रतियोगितावच्छेदकत्वे ज्ञायेते । यत्र चाभावविशेषणतावच्छेदकत्वं न ज्ञायते तत्राऽभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमपि नावबुध्यते । 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादौ यदि घटत्वादेः पटादिप्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वमभिमतं तर्हि अभाव-विशेषणीभूतपटादिवृत्तित्वेन तज्ज्ञानमावश्यकम् । 'भवत्येवेति' चेत् ? तर्हि अत्र विमलविकल्पयुगली समवतेतीर्यते - तज्ज्ञानं प्रमात्मकं यदुत भ्रमात्मकं भवति ? नाऽऽद्यः क्षोदक्षमः, घटत्वादेः घटादिवृत्तित्वेन पटादिवृत्तित्वेन तत्प्रमाया असम्भवात् । नाऽपि द्वितीयः मतिमता रतिप्रीतिदायी, तदभाववति तत्प्रकारकत्वविशिष्टरूपस्य भ्रमस्य वस्तुसिद्धिकृतेऽसमर्थत्वात्, अन्यथा त्रैलोक्यमदरिद्रतामविकलामञ्चेत । इदमेवाभिप्रेत्य व्यधिकरणदीधितौ –> ''विशेषणतावच्छेदकविशिष्टज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्य-यहेतुत्वात्, अभावप्रत्ययो हि घटत्वादिविशिष्टस्य घटादेः प्रतियोगित्वमवगाहमानो विशेषणस्यापि घटत्वादेः तदवच्छेदकत्वम-वगाहते, न स्वातन्त्र्येण, 'घटो नास्ती'त्येव प्रतीतेः । तदिहाऽभावप्रत्ययो यदि व्यधिकरणेन धर्मेण विशिष्टं प्रतियोगिनं नावगाहते, नावगाहते एव तदा तस्यापि प्रतियोगितावच्छेदकत्वम् । अथाऽवगाहते तर्हि भ्रम एव, न हि ततोऽर्थसिद्धिरिति भावः'' <– (व्य दी पृ २७६) इत्युक्तम् ।

वस्तुतस्तु घटत्वादेः घटादिवृत्तित्वेन घटादिवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव । घटत्वादेः घटादिप्रतियोगिकात्यन्ताभावविशे-षणतावच्छेदकत्वादेव पटादिप्रतियोगिकात्यन्ताभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकत्वमेव । अतो न 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादौ पटाद्य-भावप्रतियोगिता स्वव्यधिकरणीभूतघटत्वादिधर्मावच्छिन्ना सम्भवति । अतः प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ता-भावस्याऽप्रामाणिकत्वमेवेति सिद्धम् । अत एव द्वितीयभङ्गस्याऽप्यप्रामाण्यं न केनाऽपि दूरीकर्तुं शक्यते । इत्थमेव सकलाऽपि सप्तभङ्गी अप्रामाणिकीति सिध्यति ।

स्थल मे यदि घटत्व को ही पटप्रतियोगिकाभावनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक माना जाय तो उपर्युक्त नियम के अनुसार घटत्वादि का पटादिप्रतियोगिक अभाव के विशेषणताअवच्छेदकविधया भान मानना आवश्यक है । अर्थात् अभाव के विशेषणीभूत पटादि मे घटत्वादि धर्म का भान मानना आवश्यक है, क्योंकि घटत्वादि धर्म मे पटादिप्रतियोगिक अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकत्व के भान की सामग्री ओर पटादिप्रतियोगिक अभाव के विशेषणतावच्छेदकत्व के ज्ञान की सामग्री एक ही है । दोनो की सामग्री एक ही होने की वजह घटत्वादि मे अभावविशेषणतावच्छेदकत्व के ज्ञान के लिए अतिरिक्त कारण की अपेक्षा तो है ही नही । मगर घटत्वादि मे पटादिप्रतियोगिकाभावविशेषणतावच्छेदकत्व का ज्ञान प्रमात्मक होना तो नामुमकिन है, क्योकि अभाव के विशेषणीभूत पटादि मे घटत्वादि नही रहता है । विशेषण मे न रहने वाला धर्म विशेषणतावच्छेदक कैसे बन सकता है ? अत. घटत्वादि का अभावविशेषणीभूत पटादि के विशेषणरूप से भान प्रमात्मक नही हो सकता । हाँ, भ्रमात्मक तादृश बोध हो सकता है कि 'घटत्वादि अभावविशेषणीभूत पटादि मे रहता है' । मगर भ्रम तो वस्तुसाधक नही होता है । अत तादृश भ्रमात्मक बोध से घटत्वादि मे पटादिप्रतियोगिकाभाव का विशेषणतावच्छेदकत्व या प्रतियोगितावच्छेदकत्व की सिद्धि नही हो सकती । घटत्वादि तो घटादि मे रहते है । अत घटादिप्रतियोगिक अभाव के विशेषणतावच्छेदक बनने के सबब घटत्वादि घटादिप्रतियोगिकाभाव के प्रतियोगितावच्छेदक बन सकते है । मगर पटादिप्रतियोगिक अभाव का प्रतियोगितावच्छेदकत्व तो घटत्वादि मे नामुमकिन ही है, क्योकि पटादिअभाव का विशेषणतावच्छेदक घटत्वादि नही बन सकता है - यह प्रतिपादन हम उपर कर चुके है । यहाँ यह तो नही कहा जा सकता कि –> ''व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव समानाधिकरण-

तावच्छेदकत्वाऽसिद्धेः अतिरिक्ताभावकल्पने गौरवाच्च ।

एतेन 'पटादौ घटत्वादिवैशिष्ट्यांशभाने भ्रमत्वेऽपि घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वांशे बाधकाभावादभ्रमत्वमि'ति निरस्तम् ।

जयलता

ननु 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्याद्यबाधितप्रतीतिबलेन प्रतियोगित्वसमानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो विलक्षण एवास्तु । तद्धर्मस्य विशेषणतावच्छेदकत्वेन भासकसामग्र्या एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वनियमस्तु समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्थले एव प्रवर्तते । अत एव न तादृशनियमभङ्गो न वा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽप्रामाणिकत्वमिति सर्पाऽमृतिदण्डाऽभङ्गन्यायागम इत्याशङ्कायामाह- **अतिरिक्ताऽभावकल्पने गौरवाच्चेति** । समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाद् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽतिरिक्तत्वकल्पनाया गौरवाच्चेत्यर्थ. । चकारेण तादृशनियमसंकोचे मानाभावाच्चेत्युपदर्शितं भवति । यद्वा समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव प्रसिद्धत्वात् अदृष्टपूर्वस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य कल्पनाया गौरवमपि दुर्निवारमित्यर्थ कार्य. । ततो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाऽप्रामाण्यमूलकद्वितीयादिभङ्गाऽप्रामाण्यमेव [1]प्रागुक्तरीत्या प्रथमभङ्गस्याऽप्यप्रामाण्यमिति स्थितमिति ननुवादिनोऽभिप्राय ।

एतेनेति । तद्धर्मस्य विशेषणतावच्छेदकविधया भासकसामग्र्या एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकत्वनियमेनेति । अन्वयश्चास्य 'निरस्तमि'त्यनेन । 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रतीतौ **पटादौ घटत्वादिवैशिष्ट्यांशभाने** = 'घटत्वादिमान् पटादि'रित्येव विशिष्टत्वांशे, **भ्रमत्वेऽपि** = तदभाववति तत्प्रकारकत्वावगाहित्वेऽपि, **घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वांशे** = घटत्वादि पटादिवृत्तिप्रतियोगिताया अवच्छेदक इत्यंशे, **बाधकाभावात्** = बाधकतर्कविरहात्, **अभ्रमत्व** = तद्वति तत्प्रकारकत्वावगाहित्वमिति । 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादिप्रमीते. घटत्वादिशून्यपटादौ घटत्वादिविशिष्टत्वावगाहित्वेन भ्रमत्वमस्तु किन्तु पटादिवृत्तिप्रतियोगिताया घटत्वाद्यवच्छिन्नत्वावगाहित्वे तु नैव भ्रमत्व, बाधकाभावात् । अतो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वमिति शङ्काशय. । पर पाटच्चरविलुण्टिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमेतदनुसरतीति ननुवादिनोऽभिप्राय., यत घटत्वादे. पटादिवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वोपगमे तत्समनियतत्वेनाऽभावविशेषणीभूतपटादिवृत्तित्वमापतित

धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अतिरिक्त होने से उपदर्शित नियम की प्रवृत्ति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव मे नही हो सकती, किन्तु समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव मे ही'' <— क्योकि समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को अतिरिक्त = भिन्न मानने मे गोरव है । अत. व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अप्रामाणिक है । अतएव द्वितीय भग आदि भी अप्रामाणिक है । अतः सप्तभगी को प्रमाण मानने मे कोई प्रमाण नही है ।

घटत्वेन पटो नास्ति - इस प्रतीति में अप्रमात्मकत्व और प्रमात्व की शंका

शका :- एतेन पटा इति । जनाव ! पटादि मे घटत्वादि धर्म का अभाव होने से 'पटादिः घटत्वेन नास्ति' यह ज्ञान पटादि मे घटत्वादिवेशिष्ट्यांश मे भले ही भ्रमात्मक हो मगर 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति, घटत्वादि मे पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व अंश मे तो कोई बाध नही होने की वजह, प्रमात्मक मानी जा सकती है । घटत्वादि पटादि मे न रहता हो तो क्या हुआ ? पटादि मे रहने वाली प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व का घटत्वादि मे भान मानने मे तो कोई बाधा नही हे । अत. तादृश अवच्छेदकताऽवगाही अंश मे वह प्रतीति प्रमात्मक हो सकती हे । तब तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव भी प्रामाणिक हो जायेगा ।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता की कल्पना अप्रामाणिक - पूर्वपक्षी

पूर्वपक्षी :- निरस्तम् इति । उस्ताद ! अब पछताये होत क्या जब चिडियॉ चुग गई खेत ! हमने पूर्व मे ही कह दिया हे कि धर्म मे अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व ओर अभावविशेषणतावच्छेदकत्व के ज्ञान की सामग्री एक ही होती है । अतः 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति मे यदि घटत्वादि को पटादिअभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानोगे

१ दृश्यता २३७ तमे पुटे

अथ व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव इति न तदतिरेककल्पनाप्रयुक्तगौरवावकाश इति चेत् ? न, तथापि पटादिनिष्ठघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगि-

❀ जयलता ❀

न शक्यते पश्चात्कर्तुं बृहस्पतिनाऽपि, तादृशाऽभावविशेषणीभूतपटादिवृत्तित्वस्य परित्यागे भ्रान्तत्वोपगमे वा घटत्वादेः पटादिवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य त्यागो भ्रान्तत्वं वा प्रसज्येत, अन्यथा अर्धवैशसप्रसङ्गात् । अतो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वं विचार्यमाणं विशरारुतामाविभर्ति । ततो न द्वितीयादिभङ्गस्याऽपि प्रामाण्यं चारुतामश्नुते इति ननुवादिनो मौलपूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः ।

शङ्कते-अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव इति । अयमाशयः येन सम्बन्धेन प्रतियोगी कुत्रापि न वर्तते स व्यधिकरणसम्बन्ध उच्यते यथा संयोगसम्बन्धेन वृक्षत्वादिजाते कुत्राऽप्यसत्त्वेन संयोगसम्बन्धस्य वृक्षत्वादिव्यधिकरणतया संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृक्षत्वादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकात्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वम् । एवमेव प्रतियोग्यवृत्तिर्धर्मः प्रतियोगिताव्यधिकरण उच्यते यथा घटत्वादि पटाद्यवृत्तित्वात् पटादिनिष्ठप्रतियोगिताव्यधिकरणो व्यपदिश्यते । घटत्वादिना रूपेण पटादेः कुत्राऽप्यसत्त्वेन घटत्वादिधर्मावच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावस्यापि केवलान्वयित्वम् । समनियतपदार्थयोरैक्यात् संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृक्षत्वादिवृत्तिप्रतियोगितानिरूपक-घटत्वादिधर्मावच्छिन्नपटादिवृत्तिप्रतियोगितानिरूपकाभावयोरैक्यम् । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्तूभयमते क्लृप्त एव । तत्स्वरूप एव च मया व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः स्वीक्रियते, तत्समनियतत्वात् इति न तदतिरेककल्पनाप्रयुक्तगौरवावकाशः = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावातिरिक्तत्वकल्पनाप्रयोज्यगौरवदोषसंभवेन न व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽप्रामाण्यमिति । अत एव न द्वितीयभङ्गस्याप्यप्रामाण्यमित्यथाशयः ।

ननुवादी मौलपूर्वपक्षी अथमतं प्रत्याचष्टे-नेति । तथापि = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य समनियतत्वेन प्रतियोगिव्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावानतिरिक्तत्वोपगमेऽपि, पटादिनिष्ठघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितान्तरकल्प-

तब तुल्य न्याय से घटत्वादि को अभावविशेषणीभूत पटादि में वृत्ति मानना ही होगा । यदि घटत्वादि को पटादिप्रतियोगिक अभावविशेषणतावच्छेदक न माना जाय या अप्रामाणिक माना जाय तब तो तुल्य न्याय से घटत्वादि को पटादिप्रतियोगिकाभावीय-प्रतियोगितावच्छेदक भी नहीं माना जा सकता या भ्रान्त माना जायेगा । अतः सिद्ध होता है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव अप्रामाणिक है । अतएव द्वितीयादि भंग और उनके समुदायात्मक सप्तभंगी भी अप्रामाणिक है ।

व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्न अभाव ही व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव - स्याद्वादी

स्याद्वादी :- अथ इति । उस्ताद ! आपने जो 'पूर्व में कहा कि —> ''व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की कल्पना करने में गौरव दोष उपस्थित होता है'' <— वह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव आपके अभिमत व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अतिरिक्त नहीं है । समनियत पदार्थ में ऐक्य होता है - यह न्यायदर्शन का मौलिक सिद्धांत है, जो हमें भी व्यवहारनय से मान्य है । जहाँ जहाँ आपका अभिमत व्यधिकरण-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव रहता है, वहाँ वहाँ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी अवश्य रहता है । समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक वाच्यत्वाभाव और घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक पटाभाव समनियत ही है । अतएव दोनों में अभेद है । अतः अतिरिक्त व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष का अवकाश हमारे पक्ष में नहीं है । अतएव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी प्रामाणिक है - यह सिद्ध होता है । जब यह सिद्ध हो गया तब तो सप्तभंगी का द्वितीयादि भंग और उनसे घटित सप्तभंगी भी प्रामाणिक सिद्ध हो जायेगी ।

❖ द्वितीय भंग में अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना का गौरव - पूर्वपक्ष ❖

पूर्वपक्षी :- न, त इति । समनियत अभाव में ऐक्य होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को व्यधिकरण-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावस्वरूप मानने पर आपके मत में एक अतिरिक्त अभावस्वरूप धर्मी की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष भले ही अप्रसक्त हो, मगर अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष तो आपके मत्थे पर चढ़

१ द्रष्टव्य पृ. २४२

तान्तरकल्पने गौरवात् । न च घटत्वादिपर्यवसितेन घटादितादात्म्येन पटाद्यभावस्य क्लृप्त-

※ जयलता ※

गौरवात् । 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रतीते प्रामाणिकत्वोपगमे घटत्वादे स्वव्यधिकरणप्रतियोगितावच्छेदकत्व पटादिनिष्ठ-प्रतियोगितायाश्च स्वव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्व कल्पनीयम् । तच्च नोभयमते क्लृप्तम् । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमेवो-भयमते सिद्धम् । अतोऽतिरिक्तधर्मिकल्पनाविरहेऽपि अक्लृप्तधर्मद्वयकल्पन त्वतिरिच्यत एवेति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरिति मौलपूर्वपक्षाशय ।

न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वय. । **घटत्वादिपर्यवसितेन** = घटत्वादिस्वरूपेण, **घटादितादात्म्येन** = घटादि-प्रतियोगिकभेदाभावेन, **पटाद्यभावस्य** = पटादिप्रतियोगिकाभावस्य, **क्लृप्तत्वात्** = प्रमाणान्तरसिद्धत्वात्, **नोक्तदोषः** = न समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताऽतिरिक्तव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकल्पनाप्रयुक्तगौरवदोष इत्यर्थ । शङ्काकृतोऽयमाशयो यदुत समनियतपदार्थयोरैक्यात् घटत्व घटभेदाभावरूपमेव । भेदाभावस्याऽभेदपदार्थस्य तादात्म्यरूपत्वात् घटत्व घटतादात्म्यात्मकमेव । 'घटो न पट' इत्यादिप्रतीतिरुभयमतसिद्धा । अत्र च घटादितादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिता एव पटादौ भासत इत्यप्युभयप्रतिपन्नम् । उपदर्शितरीत्या घटादितादात्म्यस्य घटत्वादिरूपत्वात् पटादिनिष्ठा प्रतियोगिता यथा घटादितादात्म्येनाऽवच्छिद्यते तथैव घटत्वादि-नाऽप्यवच्छिद्यते । अत. पटादिनिष्ठप्रतियोगिताया स्वव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्वमुभयमतसिद्धमेव । अतो नाऽतिरिक्तप्रतियोगिता-कल्पनाप्रयुक्तगौरवदोषगधलेशोऽपि । अत एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वमपि सिद्धिसौधमधिरोहति । एवमेव द्वितीयादिभङ्गप्रामाण्यमपि निराबाधमिति स्याद्वादिनोऽभिप्राय ।

ही दिया जायेगा । इसका कारण यह हे कि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति मे पटादि प्रतियोगी है और घटत्वादि प्रतियोगितावच्छेदक है । प्रतियोगिता स्वाश्रयवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न होती हे यह तो 'घटत्वेन घटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति से उभय मत मे सिद्ध है । मगर प्रतियोगिता स्वाश्रय मे अवृत्ति धर्म से भी अवच्छिन्न होती हे - यह हमने न तो कभी सुना हे, न तो पढा । मगर अभाव के प्रतियोगी पटादि मे रहने वाली प्रतियोगिता को स्वाश्रयाऽवृत्ति (= स्वव्यधिकरण) ऐसे घटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न मानने के लिए तेयार हे, जो 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति के प्रामाण्य का आपके द्वारा स्वीकार होने से स्पष्ट हो जाता है । पटादि मे रही हुई प्रतियोगिता को स्वव्यधिकरण घटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न मानने पर स्वसमानाधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता से अतिरिक्त स्वव्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता की कल्पना से प्रयुक्त गोरव दोप आपके मत मे प्रसक्त होता है, जिसका निवारण आप नही कर सकते है । इस दोप का निवारण करने के लिए तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का ही त्याग करना होगा जिसके फलस्वरूप मे द्वितीयादि भग ओर तद्गर्भित सप्तभगी भी अप्रामाणिक हो जायेगी ।

※ घटत्वादि घटादिभेदाभावरूप होने से अतिरिक्त प्रतियोगिता अनावश्यक - स्याद्वादी ※

स्याद्वादी :- न च घटत्वादि इति । जनाव ! आपने जो कहा कि --> ''पटत्वेन घटो नास्ति' इत्यादि प्रतीति से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को प्रामाणिक मानने पर अतिरिक्त अभाव की कल्पना न करने पर भी अतिरिक्त प्रतियोगिता की तो कल्पना करनी पडेगी'' <-- यह ठीक नही हे । इसका कारण यह है कि 'घट. पटभिन्न ' इत्यादि प्रतीति मे पटादिनिष्ट प्रतियोगिता मे घटादितादात्म्यावच्छिन्नत्व तो आप को भी मान्य है । अव देखिये, घटतादात्म्य का अर्थ है घटाभेद यानी घटभेदाभाव । यह घटभेदाभाव घटत्व का समनियत हे, क्योकि जहॉ जहॉ घटत्व रहता हे, वहॉ वहॉ घटभेदाभाव रहता है और जहॉ जहॉ घटभेदाभाव रहता हे, वहॉ वहॉ घटत्व रहता है । समनियत होने की वजह घटत्व और घटभेदाभाव एक है । एक होने की वजह पटादिनिष्ट प्रतियोगिता जैसे घटादिभेदाभाव = घटादितादात्म्य से अवच्छिन्न है, ठीक वैसे ही घटत्वादि से भी अवच्छिन्न होगी । अत. पटादिनिष्ट प्रतियोगिता मे स्वव्यधिकरणीभूत घटत्वादि से अवच्छिन्नत्व तो आपको भी मान्य करना होगा । तव भला ! यूँही ऑखे मूँद कर क्या वोलते हो कि --> 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को प्रामाणिक मानने पर अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोप उपस्थित होगा' <-- ? अत उपर्युक्त पद्धति से पटादिनिष्ट प्रतियोगिता घटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न होती है - यह उभयमत से सिद्ध होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी प्रामाणिक है । अतएव द्वितीयादि भग और उनसे गर्भित सप्तभगी भी प्रामाणिक हे - यह सिद्ध होता हे । हाथ कगन को आरसी क्या ?

त्वान्नोक्तदोष इति वाच्यम्, उक्तनीत्या घटत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगिताकल्पनेऽपि घटत्वादिधर्मावच्छिन्नतदकल्पनात् । न च तादृशप्रतियोगिता-तदवच्छेदकत्वादेः स्वरूपानतिरिक्ततया न तत्कल्पनागौरवमिति वाच्यम्, एवं सति गुरुधर्मे कारणतावच्छेदकत्वादेरप्या-

✻ जयलता ✻

ननुवादी तं प्रत्याचष्टे - उक्तनीत्येति । 'समनियतत्वेन घटादितादात्म्य-घटत्वादेरैक्यमि'तिप्रदर्शितदिशेति । घटत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगिताकल्पनेऽपि = 'घटो न पटः' इत्यादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितायाः घटादितादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वेन घटत्वाद्यवच्छिन्नत्वसम्भवेऽपि घटत्वादेः सम्बन्धविधयाऽवच्छेदकत्वं न तु धर्मविधया, भेदीयप्रतियोगितायाः संसर्गावच्छिन्नत्वनियमात् । अत एव घटत्वादिधर्मावच्छिन्न-तदकल्पनात् = घटत्वादिधर्मावच्छिन्नपटादिनिष्ठप्रतियोगित्वाऽकल्पनात्, धर्मविधया घटत्वादेः स्वानाश्रयपटादिनिष्ठभेदीयप्रतियोगिताया अनवच्छेदकत्वात् । ततः 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतौ घटत्वादिधर्मे पटादिवृत्तिप्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकत्ववत्त्वस्याऽक्लृप्तत्वेन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽप्रामाणिकत्वात् न द्वितीयादिभङ्गप्रामाण्यम् । अतः प्रमाणावष्टम्भविकलैव सप्तभङ्गीति मौलपूर्वपक्षिणः तात्पर्यम् ।

न चेति । अन्वयश्चाऽस्य वाच्यमित्यनेन सह । तादृशप्रतियोगिता-तदवच्छेदकत्वादेः = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता-तादृशप्रतियोगितावच्छेदकत्वादेः, स्वरूपानतिरिक्ततया = प्रतियोगि-प्रतियोगितावच्छेदकरूपतया, न कल्पनागौरवं = अतिरिक्तत्वकल्पनाप्रयुक्तगौरवम् । आदिशब्देन कारणता-विषयताऽधिकरणता-तत्त्व-तदवच्छेदकत्वादेर्ग्रहणम् । अयं भावः यदि प्रतियोगिता प्रतियोगिव्यतिरिक्ता कल्प्येत प्रतियोगितावच्छेदकत्वञ्च प्रतियोगितावच्छेदकातिरिक्तं कल्प्येत तदा तु समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितातो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य विलक्षणत्वेन तत्कल्पनायां गौरवं स्यादेव । एवमेव समानाधिकरणप्रतियोगितावच्छेदकाद् व्यधिकरणप्रतियोगितावच्छेदकस्य विलक्षणत्वेन तत्राऽप्यतिरिक्तावच्छेदकत्वकल्पना प्रसज्येत । न चैवम्, यतः प्रतियोगिता प्रतियोगिस्वरूपैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वञ्च प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपमेवेत्यङ्गीकारात् । तयोः तत्स्वरूपत्वे तु नैव कल्पनागौरवम्, तत्स्वरूपाणां क्लृप्तत्वात् । अत एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रामाण्योपगमे न तत्कल्पनागौरवमपि । अतः द्वितीयादिभङ्गानां तद्घटितसप्तभङ्ग्याश्च प्रामाण्यमक्षतमेवेति स्याद्वादिन आशयः ।

ननुवादी मौलपूर्वपक्षी तन्निराकुरुते - एवं सतीति । प्रतियोगिता-तदवच्छेदकत्वादेः प्रतियोगि-प्रतियोगितावच्छेदकाद्यनतिरिक्तत्वाभ्युपगमे सतीत्यर्थः । गुरुधर्मे = लघुधर्मसमनियतगुरुधर्मे, कारणतावच्छेदकत्वादेरिति । आदिशब्देनाधिकरण-

⊒ पटादिवृत्ति प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्मविधया घटत्वादि नहीं हो सकता - पूर्वपक्षी ⊒

पूर्वपक्षी :- उक्तनीत्या इति । उस्ताद ! आपने घटत्व और घटतादात्म्य में समनैयत्य के बल पर अभेद सिद्ध करने का प्रयत्न किया वह ठीक है । मगर भेदनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक संबंध होता है । अतः 'घटः पटभेदवान्' इत्यादि प्रतीति में पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता का अवच्छेदक जैसे घटादितादात्म्य संबंध बन सकता है वैसे उससे अभिन्न घटत्वादि भी बन सकता है, मगर वह सम्बन्धविधया अवच्छेदक हो सकता है, धर्मविधया नहीं । अतः पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता में हम संबंधविधया घटत्वादि से अवच्छिन्नत्व की कल्पना करते है, न कि धर्मविधया घटत्वादि से अवच्छिन्नत्व (= नियंत्रितत्व) की । अतः उक्त उदाहरण के बल से 'घटत्वेन पटो नास्ति' इत्यादि स्थल में आप घटत्वादिधर्मावच्छिन्न पटादिनिष्ठ प्रतियोगिता की कल्पना नहीं कर सकते है, क्योंकि वह उभय मत से सिद्ध नहीं है । अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव अप्रामाणिक ही है । अतएव तन्मूलक द्वितीयादि भंग एवं सप्तभंगी भी अप्रामाणिक ही है -यह सिद्ध होता है ।

☰ प्रतियोगितादि प्रतियोगी आदि स्वरूप है - शंका ☰

स्याद्वादी :- न च ताद् इति । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता एवं तादृश प्रतियोगिता के व्यधिकरण धर्म में रही हुई अवच्छेदकता स्वरूप से अतिरिक्त नहीं होती है । मतलब कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता प्रतियोगिस्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है । एवं प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म में रही हुई प्रतियोगितावच्छेदकता तादृश व्यधिकरण धर्मस्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं । प्रतियोगितावच्छेदक और प्रतियोगी का स्वरूप तो उभयमत से सिद्ध ही है । अतः व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव के स्वीकार में न तो अतिरिक्त प्रतियोगिता की कल्पना में प्रयुक्त गौरव है और न तो अतिरिक्त प्रतियोगितावच्छेदकता की कल्पना से प्रयोज्य गौरव दोष है । अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को

पत्ते शास्त्रे गौरवपदार्थस्य दु प्रचारत्वापत्ते ।

❀ जयलता ❀

तावच्छेदकत्वादे. परिग्रह. । अपि आपत्तेः । अय भाव. यदि प्रतियोगिता प्रतियोगिस्वरूपा प्रतियोगितावच्छेदकत्व च प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपमित्यङ्गीक्रियते तदा कारणतावच्छेदकत्वमपि कारणतावच्छेदकरूप स्यात् । एव च सति घटरूपकारणतावच्छेदकत्व यथा घटत्वे स्यात् तद्वदेव कम्बुग्रीवादिमत्त्वेऽपि स्यात्, घटत्ववत् कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूपस्याऽपि क्लृप्तत्वात् । अस्त्वेव का क्षतिरित्याशङ्कायामाह - **शास्त्रे गौरवपदार्थस्य दुःप्रचारत्वापत्तेरि**ति । सर्वत्रैव शक्यत एव वक्तु यदुताऽधिकरणतावच्छेदकत्वविषयतावच्छेदकत्वादे स्वरूपाभिन्नत्वमेव । तत्स्वरूपाणा क्लृप्तत्वादेव गुरोरपि तत्त्वोक्तौ न किञ्चिद्बाधकमिति गौरवपदार्थ एव विलीयेत ।

यद्यपि गौरवज्ञानमात्र नाऽवच्छेदकत्वधीप्रतिबन्धक, विशिष्टसत्तात्वस्य द्रव्यत्वत्वाऽपेक्षया गुरुत्वग्रहेऽपि 'विशिष्टसत्ता नास्ती'ति प्रतीत्या तदवच्छेदकत्वग्रहस्य प्राच्यैरपि स्वीकृतत्वात् । न च तद्धर्मसमानाधिकरणधर्मधर्मिक तदपेक्षया लघुत्वग्रह तद्धर्मस्याऽवच्छेदकत्वधीप्रतिबन्धक', नीलधूमत्वसमानाधिकरणधूमत्वे तदपेक्षया लघुत्वग्रहेऽपि 'नीलधूमो नास्ती'ति प्रतीत्या नीलधूमत्वस्याऽवच्छेदकत्वावगाहनस्य सर्वसम्मतत्वात् । नापि तद्धर्मसमनियतधर्मधर्मिक एव तद्धर्मापेक्षया लघुत्वग्रह तद्धर्मस्याऽवच्छेदकत्वधीप्रतिबन्धक., घटज्ञानत्वाऽपेक्षया लघुनोऽपि ज्ञानत्वस्य घटज्ञानत्वसमनियतत्वविरहाद् गुरुणोऽपि घटज्ञानत्वस्य सयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटज्ञानाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वापत्ते. । **तथापि** अवच्छेदकत्वसम्बन्धेन प्रतियोगितादिप्रकारकबुद्धौ तादात्म्येन गुरुधर्म प्रतिबन्धक इति न कदाचिदपि ससर्गमर्यादया गुरौ अवच्छेदकत्वग्रह ।

ननु गुरुत्वस्य किञ्चित्सापेक्षतया कम्बुग्रीवादिमत्त्वादेरपि प्रमेयकम्बुग्रीवादिमत्त्वाऽपेक्षया लघुत्वेन तस्य प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिरिति **चेत् ? मैवम्**, विशेष्यतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वससर्गावच्छिन्नकम्बुग्रीवादिमत्त्वनिष्ठप्रकारताशालिग्रह प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धावच्छिन्ना कम्बुग्रीवादिमत्त्वापेक्षया लघुधर्मनिष्ठा प्रकारता तच्छालिज्ञान प्रतिबन्धकमित्यत्र तात्पर्यमित्यन्यत्र विस्तर ।

किञ्च, प्रतियोगिताया स्वरूपानतिरिक्तत्वोपगमे सा कि अभावस्वरूपा प्रतियोगिस्वरूपा वेति ? पक्षोभयी समवतिष्ठते । आद्ये 'घटोऽभावप्रतियोगी'त्यस्य 'घटोऽभाववानि'त्यर्थ स्यात् । द्वितीये च 'घटो घटवानि'त्याकार प्रसज्येतेति प्रतियोगिताऽ-

---

प्रामाणिक मानना आवश्यक है, जिसके फलरूप मे द्वितीयादि भग ओर उनसे निष्पन्न सप्तभगी भी प्रामाणिक सिद्ध हो जायेगी ।

⁂ प्रतियोगिता-प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि अतिरिक्त है - पूर्वपक्षी ⁂

पूर्वपक्षी :- एव सति इति । जी हजरत ! आपकी यह वात कि —> 'प्रतियोगिता प्रतियोगिस्वरूप है और प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि प्रतियोगितावच्छेदकादिस्वरूप है' <— असगत हे । इसका कारण यह है कि आपकी इस मान्यता के अनुसार कारणतावच्छेदकता भी कारणतावच्छेदक स्वरूप मानी जा सकती हे । तव तो घटवृत्ति वर्ण-गध-रसादि के कारणतावच्छेदकधर्म से घटत्व की भाँति कम्बुग्रीवादिमत्त्व का भी स्वीकार किया जा सकेगा । घटत्व की अपेक्षा गुरुधर्मभूत कम्बुग्रीवादिमत्त्व मे कारणतावच्छेदकता के अगीकार करने मे कोई वाधा उपस्थित नही होगी, क्योकि कारणतावच्छेदकता तो आपके मतानुसार कारणतावच्छेदकस्वरूप ही है । घट मे घटत्व और कम्बुग्रीवादिमत्त्व दोनो ही रहते हे एव दोनो का अपनी निजी स्वरूप भी विद्यमान हे ही, उसकी कल्पना करने की आवश्यकता नही हे । जो विद्यमान है, उसकी कल्पना करने की क्या आवश्यकता ? इस तरह तो गुरु धर्म अधिकरणतावच्छेदक, विषयतावच्छेदक, कार्यतावच्छेदक आदि भी बन जायेगा । तव तो न्यायशास्त्र मे गौरव पदार्थ का दोषरूप से प्रचार ही नही हो सकेगा, क्योकि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार सर्वत्र गोरव दोष का परिहार हो सकता हे । मगर ऐसा नही हे । गुरुभूत धर्म मे कारणतावच्छेदकता आदि का स्वीकार तर्कशास्त्र को मान्य नही है। अत कारणतावच्छेदकता आदि को भी अतिरिक्त मानना आवश्यक हे । जव यह सिद्ध हुआ तव तो प्रतियोगितासमानाधिकरण धर्म मे रही हुई प्रतियोगितावच्छेदकता की अपेक्षा प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म मे रही हुई प्रतियोगितावच्छेदकता को अतिरिक्त माननी पड़ेगी । एव समानाधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता की अपेक्षा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता को भी अतिरिक्त माननी पड़ेगी । तव तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का स्वीकार करने मे अतिरिक्त प्रतियोगिता एव अतिरिक्त प्रतियोगितावच्छेदकत्व की कल्पना से प्रयुक्त गौरव अपरिहार्य बन जायेगा । इस गौरव दोष के कारण हम व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को अप्रामाणिक कहते है । तव तो द्वितीयादि भग एव उनसे घटित सप्तभगी भी अप्रामाणिक

यत्तु -> 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतेः घटत्वसम्बन्धावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावावगाहित्वेनैवोपपत्तेर्न तया व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावसिद्धिः, अन्यथा घटत्वाद्यवच्छिन्नघटादिनिष्ठप्रतियोगिताकाऽभावत्वेन घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुताकल्पने (१ घटत्वाद्यवच्छिन्न-

❁ जयलता ❁

स्यातिरिक्तैव कल्पनीया । एवमेव विषयता-विषयितादिकमप्यतिरिक्तमेवेत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

यत्त्विति । अन्वयश्चास्य 'भवदेवाभिमतमि'त्यत्र । भवदेवः तत्त्वचिन्तामणिव्याख्याकारः प्रकृतेऽभिमतः । 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतेरिति । इदमुपलक्षणं 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रतीतेः । घटत्वसम्बन्धावच्छिन्न-पटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावावगाहित्वेनैवेति घटतादात्म्यलक्षणघटत्वसंसर्गेणाऽवच्छिन्ना या पटवृत्तिप्रतियोगिता तन्निरूपकात्यन्ताभावविषयत्वेनैवेति । एवकारेण धर्मविधया घटत्वेनावच्छिन्नायाः पटवृत्तिप्रतियोगिताया निरूपकस्याभावस्य व्यवच्छेदः कृतः । उपपत्तेः = सङ्गतेः न तया = दर्शितप्रतीत्या व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावसिद्धिः = अतिरिक्तव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावसिद्धिः । विपक्षबाधमाह - अन्यथेति । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसमनियतस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽतिरिक्तत्वोपगमे इति । घटत्वाद्यवच्छिन्नेति । अयं भवदेवाशयः यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावातिरिक्तत्वमङ्गीक्रियते तदा घटत्वावच्छिन्नवत्ताबुद्धिं प्रति घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रतिबन्धकत्वं न स्यात्, घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावसत्त्वेऽपि घटत्वविशिष्टप्रकारकबुद्धेर्जायमानत्वात् किन्तु घटत्वावच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगिताकाऽभावस्यैव तत्त्वं स्यात् । ततो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याऽतिरिक्तत्वकल्पने तादृशप्रतियोगितायां प्रतियोगितावच्छेदकसामानाधिकरण्यनिवेशावश्यकत्वेन गौरवापातः । न च तत्राऽपि संयोगेन घटवति समवायेन घटाभावबुद्धेर्जायमानत्वात्तुल्यगौरवमिति वाच्यम्, स्वप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन स्वप्रतियोगिमत्ताबुद्धिं प्रत्येवाऽभावस्य

ही बन जायेगी ।

❁ भवदेव के मत का निरूपण ❁

ननु इति । यहाँ पूर्वपक्षी (ननुवादी) प्रासंगिक रूप से तत्त्वचिन्तामणि के ऊपर टीका की रचना करने वाले भवदेव नाम के नव्य नैयायिक के मत का खंडन करने के लिए सब प्रथम उसके मत का निरूपण कर रहे हैं । भवदेव का मत यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की सिद्धि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति के बल से नहीं हो सकती है, क्योंकि वह प्रतीति - "घटतादात्म्यस्वरूप घटत्वसम्बन्ध से अवच्छिन्न पटवृत्ति प्रतियोगिता के निरूपक अभाव को ही विषय करती है" - ऐसा स्वीकार करने पर भी उपपन्न हो सकती है, तब घटत्वधर्मावच्छिन्न पटवृत्ति प्रतियोगिता के निरूपक अभाव को उस प्रतीति का विषय मानने की क्लिष्ट कल्पना क्यों की जाय ? मतलब कि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति के विषयभूत अभाव से निरूपित प्रतियोगिता धर्मविधया घटत्व से अवच्छिन्न नहीं है किन्तु सम्बन्धविधया घटत्व से अवच्छिन्न है । अतः उक्त प्रतीति के बल से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता और इसके निरूपक अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है । उपर्युक्त प्रतीति प्रतियोगिता के आश्रय में अविद्यमान घटत्व धर्म को स्वव्यधिकरण प्रतियोगिता का अवच्छेदक बना कर धर्मरूप से घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अत्यन्ताभाव को अपना विषय बनाती है - ऐसा मानने पर गौरव भी उपस्थित होता है । वह गौरव दोष इस तरह प्रसक्त होता है । देखिए, घटवत्ता बुद्धि की प्रतिबन्धक घटाभावबुद्धि होती है । घटत्वावच्छिन्नवत्ता बुद्धि की प्रतिबन्धकता घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबुद्धि में होती है - यह सर्वजनविदित है । अगर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबुद्धि को व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयक न मानी जाय, तब घट-त्वावच्छिन्नवत्ताबुद्धि की प्रतिबन्धक घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव की बुद्धि नहीं हो सकेगी । इसका कारण यह है कि घटत्वरूप से पटाभाव भूतल में, जो घटविशिष्ट है, रहने की वजह घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव भूतल में रहता ही है । उसकी बुद्धि होने पर भी 'घटवत् भूतल' ऐसी घटत्वावच्छिन्नवत्ताऽवगाहि बुद्धि उत्पन्न होती है । भूतल में घटत्वेन पटाभाव रहने पर भी घट रह सकता है । अतः घटत्वावच्छिन्नघटवृत्तिप्रतियोगितानिरूपक अभाव की बुद्धि को ही घटत्वावच्छिन्नवत्ताबुद्धि का प्रतिबन्धक मानना होगा । मतलब कि घटत्व से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता है वह घट में वृत्ति हो, तभी तादृश प्रतियोगिता के निरूपक अभाव का ज्ञान घटप्रकारक बुद्धि का प्रतिबन्धक हो सकता है - ऐसा मानना होगा, जिसकी वजह अभावीय प्रतियोगिता में प्रतियोगितावच्छेदकीभूत घटत्व के आश्रय घट से निरूपित वृत्तित्व का विशेषणविधया प्रवेश करने का गौरव

वत्ताबुद्धिं प्रति प्रतिबन्धकताकल्पने) गौरवादिति भवदेवाभिमतं <– तच्चिन्त्यम् ।

घटत्वविशिष्टपटवत्ताभ्रमप्रतिबन्धिकाया तस्या घटत्वविशिष्टपटाभावाऽवगाहित्वस्य बाधकसहस्रेणाऽपि पराकर्तुमशक्यत्वात् । न खलु सहस्रेणाऽपि बाधकै. 'इद रजतमि'ति प्रतीते. रङ्गत्वावलम्बनत्व व्यवस्थापयितु शक्यते । तदिदमभिप्रेत्योक्त दीधितिकृता 'यदि पुनरानुभविको लोकाना स्वरसवाही 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिप्रत्ययो न तदा

❀ जयलता ❀

प्रतिबन्धकताया उभयमतसिद्धत्वात्, तव तु प्रतिबन्धकीभूताभावनिरूपितप्रतियोगिताया स्वावच्छेदकधर्माश्रयवृत्तित्वेनाऽक्लृप्तेन विशेषणीयत्वाद्गौरवमव्याहतमिति व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव 'पटत्वेन घटो नास्ती'ति बुद्धिविषयत्वमर्हतीति ।

यद्यपि प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवे सति प्रतिबन्धकतावच्छेदकावच्छिन्नाभावरूपस्य प्रतिबन्धकाभावस्य प्रतिबध्यनिष्ठ-कार्यतानिरूपकस्य गुरुतरशरीरकत्वेऽपि कारणताकुक्षौ तदप्रवेशात्कारणताशरीरे गौरवानापातेन प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवस्य न दोषत्वमिति वक्तु युज्यते **तथापि** तस्य स्पष्टत्वात्तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण प्रदर्शितभवदेवमतनिराकरणकृते आह - **घटत्वेति** । अयमाशय कस्यचित् भूतले घटत्वविशिष्टरूपेण पटवत्ताप्रकारको भ्रम सञ्जात तस्य प्रतिबन्धिका तु घटत्वविशिष्टपटा-भावप्रकारकभूतलविशेष्यकप्रतीतिरेव सम्भवति, विशिष्टतद्वत्ताबुद्धिं प्रति विशिष्टतदभाववत्ताबुद्धेरेव प्रतिबन्धकत्वात् । यदि चोप-दर्शितभ्रमप्रतिबन्धकप्रतीतेर्घटत्वावच्छिन्नपटवृत्तिप्रतियोगिताकप्रकारकत्व न स्यात् तर्हि तद्विरोधित्वमेव न स्यात्कुत तत्प्रतिबन्ध-कत्वम् ? **तस्याः** प्रतीते **घटत्वविशिष्टपटाभावाऽवगाहित्वस्य** = घटत्वावच्छिन्नपटवृत्तिप्रतियोगिताकाभावगोचरत्वस्य बाधक-सहस्रेणापि **पराकर्तु** = निराकर्तु **अशक्यत्वात्**, अन्यथा प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्यैवाऽनुपपत्ते । तदेव दृढयति - **न खल्विति** । अन्वयश्चाऽस्य 'शक्यत' इत्यत्र । **रङ्गत्वावलम्बनत्व** = रङ्गत्वप्रकारकत्व **व्यवस्थापयितु** = प्रमाणयितु **शक्यते**, 'इद रजतमि'ति व्यवसायज्ञानोत्तर जायमानेन 'इद रजततया जानामि' 'रजततयेद मया ज्ञातमि'त्याद्यनुव्यवसायेनैव पूर्वोत्पन्नव्यवसायज्ञानस्य रजतत्वप्रकारकत्वसिद्धे , अनुव्यवसायस्यैव व्यवसायस्वरूपनिर्णायकत्वात्, स्वरसवाहिप्रत्यक्षस्य सर्वतो बलवत्त्वात् । तरय रङ्गत्व-प्रकारकत्वावगाहनेऽनुव्यवसायस्य भ्रान्तत्वमापद्येत । तदुक्त **भवानन्देन तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रकाशे विशेषव्याप्तौ** "अतत्प्रकारके तत्प्रकारकत्वस्याऽनुव्यवसायेन विषयीकरणेऽनुव्यवसायस्य तत्प्रकारकत्वांशे भ्रान्तत्वापत्ते 'इद रजतमि'तिप्रतीते रजतत्वप्रकार-कत्वस्याऽनुव्यवसायेन विषयीकरणात्" (त चि दी प्र वि व्या प्रक पृ ४६९) इति ।

तदिदमभिप्रेत्येति । 'सार्वजनीनानुभवस्यैव बलवत्त्वमि'त्यनुविचिन्त्येति । **उक्त दीधितिकृता रघुनाथशिरोमणिना** व्यधिकरणप्रकरणदीधिताविति शेष । **यदि पुनरिति** । **स्वरसवाही** = अस्खलित स्वारसिक । **'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादि-प्रत्यय** इति । आदिपदेन 'घटत्वेन द्रव्य नास्ति', 'द्रव्यत्वेन घटो नास्ती'त्याद्यनुभवस्य परिग्रह । तुल्ययुक्त्या तद्वृत्तिधर्मेण तस्यैव विशेषरूपेण सामान्यस्य सामान्यरूपेण च विशेषस्याऽभावे बाधकाभावादिति ध्येयम् । **तादृशाभावनिवारण** = स्वसम-नियतान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावापाकरणम् । तेन विशेषरूपेण सामान्यस्य सामान्यरूपेण य विशेषस्याभाव सङ्गृहीत

उपस्थित होता है । इस गौरव दोष के सबब 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस प्रतीति को घटत्व = घटभेदाभाव = घटतादात्म्यात्मक सम्बन्ध से अवच्छिन्न = नियन्त्रित प्रतियोगिता के निरूपक अभावविषयक माननी जरूरी है ।

❀ भवदेव के मत की समालोचना ❀

पूर्वपक्षी :- घटत्व इति । उपर्युक्त भवदेव का सिद्धात ठीक नही है । इसका कारण यह है कि जब किसी पुरुष को भ्रम हो जाता है कि 'भूतल मे घटत्वविशिष्ट पट है' तब उस भ्रम की प्रतिबन्धक बुद्धि वही हो सकती है जो भूतल मे घटत्वविशिष्टपटाभाववत्ता का अवगाहन करती हो । तद्वत्ताबुद्धि के प्रति तदभाववत्ताबुद्धि प्रतिबन्धक होती है, न कि अतद्वत्ता-बुद्धि । प्रस्तुत मे भ्रम घटत्वविशिष्टपटवत्ताविषयक है । अत. उसकी प्रतिबन्धक बुद्धि घटत्वविशिष्टपटाभाववत्ताऽवगाही ही होनी चाहिए । ऐसा मानने पर ही दोनो मे विरोध का सपादन होने से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव उपपन्न हो सकता है । असमानविषयक ज्ञान मे विरोध न होने से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव नही हो सकता है । दडवत्ताबुद्धि का प्रतिबन्धक रक्तदडाभाववत्ता अवगाही ज्ञान नही हो सकता है । अत. यदि प्रस्तुत मे घटत्वविशिष्टपटाभावविषयक बुद्धि का स्वीकार न किया जाय तब तो घटत्वविशिष्ट-पटवत्ता अवगाही भ्रम की कोई भी बुद्धि प्रतिबन्धक नही बनेगी । ऐसा होने पर फलत उस भ्रम का उच्छेद नही हो सकेगा । मगर यह तो भवदेव को भी अभिमत नही है । अत उस बुद्धि के प्रतिबन्धकरूप मे घटत्वविशिष्टपटाभावभावविषयक बुद्धि

[१]तादृशा(ऽभावनिवारणं गीर्वाणगुरूणामपि शक्यमिति मन्तव्यम्) ।

न च घटत्वेनाऽनाहार्यपटवत्तानिश्चये कथमेतादृशधीरिति वाच्यम्, अवच्छेदकोदासीनाया तस्या अविरोधात् ।

❋ जयलता ❋

इति जगदीशव्याख्यालेशः ।

यत्तु नव्यैः "दीधितिकृता 'यदि तदा' इति पदाभ्यां तादृशप्रतीतेरनुभविकत्वे विवादं सूचयता व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्याऽपारमार्थिकत्वं ध्वनितमि"त्युच्यते, तदसत्, शतशः तर्काकुशलप्रयोगानन्तरमपि विपक्षबाधकविरहात् तादृशव्याप्तिशैथिल्यविमर्शं विना तादृशपदद्वयप्रयोगाऽसम्भवात् । अत एव 'गीर्वाणगुरूणामपी'ति प्रयोगः तेन कृत इति दृढमवधेयम् ।

भवदेवमतनिराकरणं विस्तरतः [२]अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणादवनुसन्धेयम् ।

ननु घटत्वविशिष्टपटवत्ताबुद्धिर्यदाऽकृत्रिमस्वरूपा जाता तदा तु घटत्वविशिष्टाभाववत्ताबुद्धिर्नैव सम्भवति । अतः साऽकृत्रिमरूपा अनाहार्यबुद्धिः कथं केन प्रतिबध्या स्यादिति शङ्कां निराकर्तुमुपन्यस्यति - न चेति । घटत्वेनाऽनाहार्यपटवत्तानिश्चये = घटत्वविशिष्टपटप्रकारकेऽकृत्रिमनिश्चये सति, कथं एतादृशधीः = घटत्वविशिष्टपटाभावप्रकारकबुद्धिः ? ततः नैवातिरिक्तव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसिद्धिरिति व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूप एव स स्वीकर्तुं योग्य इति शङ्कातात्पर्यम् ।

मौलपूर्वपक्षी तन्निराचष्टे - अवच्छेदकोदासीनाया = अवच्छेदकत्वानवगाहिन्याः तस्याः घटत्वविशिष्टपटाभावप्रकारकनिश्चयरूपायाः बुद्धेः अविरोधात् = अप्रतिबध्यत्वात्, समानावच्छेदकावगाहितद्वत्ता-तदभाववत्ताबुद्ध्योरेव प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावसम्भवात् अवच्छेदकतानवगाहिन्यास्तस्य प्रतिबध्यताकोटिनिष्क्रान्तत्वान्न प्रतिबन्धः इति भावः । 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यत्र

का स्वीकार करना ही होगा । ऐसा मानने पर तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की सिद्धि अनायास हो जायेगी, क्योंकि उक्त बुद्धि में घटत्व का भान धर्मविधया ही होता है, न कि संसर्गविधया । अतः हजार बाधक उपस्थित होने पर भी घटत्वविशिष्टपटवत्ता अवगाही भ्रम की प्रतिबन्धक बुद्धि में घटत्वविशिष्टपटाभाववत्ता अवगाहित्व का निराकरण नहीं हो सकता है । चाकचिक्यादि दोष की वजह रंग = कलाई धातु में 'इदं रजतं' ऐसी भ्रमात्मक बुद्धि में हजार बाधक उपस्थित होने पर भी रंगत्वप्रकारकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । उसका कारण यही है कि 'इदं रजतं' इत्याकारक व्यवसाय ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर होने वाले अनुव्यवसाय ज्ञान 'इदं रजतत्वेन जानामि' अर्थात् 'मैं इसे रजतरूप से = चाँदी के रूप से जानता हूँ' इत्याद्याकारक होता है, जिसमें फलित होता है कि तादृश अनुव्यवसाय के पूर्व उत्पन्न 'यह चाँदी है' इत्याकारक व्यवसाय ज्ञान रजतत्वप्रकारक है, न कि रंगत्वप्रकारक । अनुभव ही सब से बड़ा प्रमाण है । इसलिए तो तत्त्वचिंतामणि ग्रंथ की दीधिति नाम की टीका के रचयिता रघुनाथशिरोमणि ने व्यधिकरणप्रकरण में कहा है कि - "यदि 'घटत्वेन पटो नास्ति' ऐसा अनुभव लोगों का स्वारसिक = अस्खलित स्वारसिक हो तब तो तादृश बुद्धि का निवारण करना देवों के गुरु बृहस्पति के लिए भी अशक्य है, दूसरों की तो बात क्या ?"

❋ निरवच्छिन्न प्रतीति विरुद्ध नहीं हो सकती ❋

न च घट इति । यहाँ यह शंका हो कि —> "घटत्वेन पटवत्ता की अनाहार्य = अकृत्रिम बुद्धि उत्पन्न होने पर घटत्वेन पटाभाववत्ता की बुद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योंकि घटत्वविशिष्ट पटवत्ता की अनाहार्य = अकृत्रिम बुद्धि घटत्वविशिष्टपटाभावप्रकारक बुद्धि की विरोधी होती है" <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटत्वेन पटवत्ता अवगाही अनाहार्य = अकृत्रिम बुद्धि सावच्छिन्न बुद्धि की ही विरोधी होती है, निरवच्छिन्न बुद्धि की नहीं । घटत्वेन पटवत्ता के अनाहार्य = अकृत्रिम निश्चय के उत्तर काल में जो घटत्वेन पटाभाववत्ता की बुद्धि होती है, वह अवच्छेदकता अवगाही नहीं है, किन्तु अवच्छेदकता अनवगाही है । अतः पूर्वोत्पन्न बुद्धि उसकी विरोधी नहीं हो सकती । अतएव उसकी उत्पत्ति में पूर्वोत्पन्न घटत्वेन पटवत्ता का अनाहार्य

१ मूलादर्श तादृशशब्दानन्तरमनन्वयात् शेषा पङ्क्तिः नव्यनिर्मितव्यधिकरणदीधितितो योजिता ।

२ "यत्तु परम्परावच्छिन्नाभावो व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभावेनैव गतार्थ इति भवदेवमतम्, तत् गतार्थमेव, विनिगमकाभावात् प्रतीतिशरणप्रथमकल्पनाया उभयत्र तौल्यात् 'भूतले घटत्वेन घटो नास्ति न तु पटः' इत्यस्याऽयाथार्थ्यापत्तेश्च, घटवत्यपि घटत्वसम्बन्धेन तदभावाधिकरणत्वाभिलापतायाम्" (अ स ता वि पृ २१८) इति अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे प्रकरणकृतोक्तमिति ध्येयम् ।

'तदौदासीन्यमेव कथमि'ति चेत् ? तृतीयांतपदोल्लिखितधर्मेऽवच्छेदकत्वस्य गौरवेण बाधात्, तृतीयांतपदस्थलेऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य च व्युत्पत्त्यलभ्यत्वात् । गौरवाऽप्रतिसन्धानदशाया घटत्वाशेऽवच्छेदकत्वाऽनुदासीनामपि च 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति धिय घटत्वेन घटवत्ताधीर्न विरुणद्धि, तस्या घटत्वावच्छिन्नाऽभावधिय एव विरोधित्वात् ।

❧ जयलता ❧

तृतीयाया सत्त्वे कथ नाऽवच्छेदकत्वावगाहित्व तस्याः ? इति शङ्कते-**तदौदासीन्य** = अवच्छेदकत्वानवगाहित्व **एव कथ** = कस्माद्धेतो ? तस्याऽपि निश्चयस्याऽवच्छेदकतावगाहित्वमेवार्हतीति प्रश्नाशय । मौलपूर्वपक्षी समाधत्ते - **तृतीयान्तपदोल्लिखित-धर्मेऽवच्छेदकत्वस्य** कल्पनाया **गोरवेण** = अप्रामाणिकगौरवेण **बाधात्** = प्रतिबध्यत्वात् । 'तर्हि प्रागुपदर्शितदिशा अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव व्युत्पत्तिलभ्यत्वात् 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यत्र पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वलाभेन वृद्धिमिच्छतो मूलहानिरायातेत्याशङ्काया ननुवादी मौलपूर्वपक्षी आह-**तृतीयान्तपदस्थले** = तृतीयान्तपदसमभिव्याहारस्थले **अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य** = प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वस्याऽभावांशे **व्युत्पत्त्य-लभ्यत्वात्**, अन्यथा 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'ति प्रतीतेरप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् ।

ननु 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्याकारक अवच्छेदकत्वानवगाहि ज्ञान घटत्वेन पटवत्ताऽनाहार्यनिश्चयो न प्रतिबध्नाती कुतोऽवसितमित्याशङ्काया ननुवादी मौलपूर्वपक्षी आह- **गौरवाऽप्रतिसन्धानदशायामिति** । गौरवज्ञानस्य प्रतिबध्यतावच्छेदकत्व-ग्रहविरोधितया तज्ज्ञानदशाया तादृशप्रतीतिर्न सम्भवति । गौरवज्ञानमात्रमप्रयोजकम्, अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितस्यैव विरोधिज्ञानस्य सर्वत्र प्रतिबन्धकत्वात् । अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितगौरवज्ञानविरहलाभाय 'गौरवाऽज्ञानदशायामि'त्यनुक्त्वा 'गौरवाऽप्रतिसन्धान-दशायामि'त्युक्तम् । **घटत्वाशेऽवच्छेदकत्वानुदासीनामपि** = पटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितस्यावच्छेदकत्वस्य घटत्वेऽवगाहिनी । इय बुद्धि भ्रमात्मिका समवसेया अपिशब्देन तदनवगाहिधीसमुच्चय कृत । **'घटत्वेन पटो नास्ती'ति धिय घटत्वेन घटवत्ताधीः** = घटत्वविशिष्टघटप्रकारकबुद्धि', **न विरुणद्धि** = प्रतिबध्नाति । कस्माद्धेतो. ? इत्याशङ्कायामाह- **तस्याः** = घटत्वविशिष्टघटप्रकारकधिय., **घटत्वावच्छिन्नाभावधियः** = घटत्वविशिष्टघटप्रतियोगिकाभावधिय घटत्वावच्छिन्न-घटनिष्ठप्रतियोगिता-निरूपकाभावबुद्धेरिति यावत् । एवकारेण घटत्वावच्छिन्न-पटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावप्रतीतेर्व्यवच्छेद कृत । **विरोधित्वात्,**

निश्चय प्रतिवन्धक नही हो सकता । अतएव उत्तरकाल मे उसकी उत्पत्ति होने मे कोई बाध नही है । यहाँ यह प्रश्न हो कि --> ''तादृश उत्तर काल मे उत्पन्न वुद्धि अवच्छेदकता अनवगाही कैसे होगी ? क्योकि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस वुद्धि मे तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया हे । जहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता हे, उस स्थल मे अवच्छेदकता अवगाही वुद्धि होती है'' <-- तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि तृतीयात पद से उपस्थापित पदार्थ मे अवच्छेदकत्व की कल्पना करने मे गौरव है । गोरव दोप ही तृतीया विभक्ति वाले पद के वाच्यार्थ मे अवच्छेदकत्व का बाधक है । यहाँ यह शका करना कि --> ''यदि 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस वुद्धि मे घटत्व मे अवच्छेदकत्व धर्म की कल्पना न की जाय तव तो पटत्व धर्म मे अवच्छेदकत्व की कल्पना करने का अनिष्ट प्रसग उपस्थित होगा, क्योकि प्रतियोगिता स्वान्वयितावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न होती है ओर तादृश प्रतियोगिता का निरूपकत्व जिस अभाव मे रहता हे उस अभाव मे अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सवध से रहने वाला धर्म ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता हे । अत. प्रस्तुत मे स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सवध से अभाव मे रहने वाले पटत्व धर्म मे अवच्छेदकत्व धर्म की कल्पना करनी होगी जिसके फलस्वरूप मे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव की सिद्धि नही होगी'' <-- ठीक नही हे, क्योकि अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सवध का लाभ तृतीयात पद के समभिव्याहार के अभाव मे ही होता है - यह व्युत्पत्ति है । तृतीया विभक्त्यत पद के समभिव्याहार स्थल मे अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व का लाभ शाब्दवोधस्थलीय नियम से प्राप्त नही होता हे । अत. प्रतियोगितान्वयितावच्छेदकीभूत पटत्व मे अवच्छेदकत्व की कल्पना का अनिष्ट प्रसग उपस्थित नही होगा । यहाँ यह शका करना कि --> ''अवच्छेदकताअवगाही वुद्धि अवच्छेदकताअनवगाही वुद्धि की विरोधी नही है- यह किसी स्थल मे देखा गया है ? जिसके वल पर आप उपर्युक्त प्रतिपादन कर रहे हे'' <-- ठीक नही हे । इसका कारण यह हे कि गौरव का प्रतिसन्धान न होने पर घटत्व अश मे अवच्छेदकत्व की अवगाही 'घटत्वेन पटो नास्ति' इस वुद्धि की भी 'घटत्वेन घटोऽस्ति' यह पूर्वोत्पन्न वुद्धि प्रतिवन्धक नही होती है । इसका कारण यह हे कि 'घटत्वेन घटोऽस्ति' ऐसी घटत्वविशिष्ट घटवत्ता अवगाही वुद्धि मे घटत्वविशिष्ट घटप्रतियोगिक अभावविपयक वुद्धि का प्रतिवन्धकत्व है । अत घटत्वविशिष्ट घटवत्ता का निश्चय केवल घटत्वविशिष्ट

अथ व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक इति न तदतिरेककल्पनागौरवम् । न च तथापि घटत्वादे पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकसामग्र्या घटत्व-पटत्वादिज्ञानस्य नानाविधतद्विरोधज्ञानस्य च सहकारित्वकल्पने महद्गौरवमिति वाच्यम्, घटत्वादे पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वभ्रमोपपत्तये

जयलता

तयोरेव समानाकारकत्वेन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावसम्भवात् । अयमाशय घटत्वविशिष्टघटप्रकारकबुद्धे घटत्वविशिष्टघटाभावप्रकारकबुद्धिविरोधित्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वमेव सम्भवति न तु घटत्वविशिष्टपटाभावप्रकारकभ्रमप्रतिबन्धकत्वम् । न च घटत्वविशिष्टप्रकारकबुद्धे घटत्वविशिष्टप्रतियोगिकाभावप्रकारकबुद्धिप्रतिबन्धकत्वमेवोचितम्, न तु घटत्वविशिष्टघटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावबुद्धिप्रतिबन्धकत्वम्, प्रतिबध्यतावच्छेदकगौरवादिति वाच्यम्, तर्हि घटत्वविशिष्टाभावप्रमात्वस्यैव लाघवात् प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वमस्तु । तावतैव घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावबुद्धे भ्रमत्वेन प्रतिबध्यताकोटिबहिर्भावसम्भवात् । न च तथापि ज्ञानत्वाऽपेक्षया प्रमात्वनिवेशे गौरवमव्याहतमेव प्रमात्वस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपत्वादिति वाच्यम्, अत एव 'बाधाऽप्रतिसन्धानदशायामि'त्युक्तत्वात् । इत्थञ्चाऽवच्छेदकत्वावगाहिन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावज्ञानस्याऽपि तद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकप्रमाऽप्रतिबध्यत्वे कुतो - ऽवच्छेदकत्वानवगाहिनोऽभावप्रत्ययस्य तत्प्रतिबध्यत्वम् ? तत घटत्वेन पटवत्ताऽनाहार्यनिश्चये सत्यपि अवच्छेदकत्वानवगाहिन 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रत्ययस्य सुतरामप्रतिबध्यत्वमिति स्थितम् । अत एव तृतीयान्तपदोपस्थाप्यधर्मेऽवच्छेदकत्वस्य कल्पनमपि नातिप्रयोजनम् । अवच्छिन्नत्वञ्चाऽत्र वैशिष्ट्यरूप सामानाधिकरण्यरूप वा बोध्यमिति दिक् ।

कश्चिच्छङ्कते - अथेति । अन्वयश्चाऽस्य 'चेदि'त्यनेन सह बोध्य. । व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एवेति । तत्समनियतत्वादिति शेष । न तदतिरेककल्पनागौरवम् = व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावातिरिक्तव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावकल्पनाप्रयुक्तगौरवमित्यर्थ । मध्यस्थस्य शङ्का निरसितुमुपदर्शयति- न चेति । तथापि = अतिरिक्ताभावलक्षणधर्मिकल्पनाप्रयुक्तगौरवविरहेऽपि, घटत्वादे पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वभासकसामग्र्या = घटत्वादिनिष्ठस्य पटादिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकत्वस्य ज्ञापकसामग्र्या घटत्व-पटत्वादिज्ञानस्य घटत्वादि-पटत्वादिविषयकज्ञानस्य नानाविधतद्विरोधज्ञानस्य च प्रतियोगित्वस्य विरोधित्वलक्षणत्वात् सहकारित्वकल्पने महद्गौरवमिति । अयमाशय व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव-व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैक्यकल्पनेऽपि पटादिनिष्ठप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वेन घटत्वादिभानमावश्यकम् । अत तद्भानार्थमतिरिक्तसामग्री कल्पनीया, घटत्वादेरभावविशेषणतानवच्छेदकत्वेन पटादिप्रतियोगिकाभावविशेषणतावच्छेदकत्वभासकसामग्र्या घटत्वादिनिष्ठप्रतियोगिताऽवच्छेदकत्वभासकत्वाऽयोगात् । तदर्थं प्रतियोगितावच्छेदकीभूतपटादिविशेषणतावच्छेदकीभूतपटत्वादिगोचरज्ञानस्य सहकारित्व कल्पनीयम् । तादृशाभावीयप्रतियोगिताया व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्वेन घटत्वादि-पटत्वादिविषयकविरोधित्वज्ञानस्याऽपि सहकारित्व कल्पनीयम् । एवञ्चातिगौरव प्रसज्येतेति ।

अथवादी तत्प्रत्याचष्टे-घटत्वादेरिति । अयमाशय घटत्वादे पटाद्यभावविशेषणतानवच्छेदकत्वेन प्रतियोगितावच्छेदकत्वभान

घटप्रतियोगिक अभाव का विरोधी है, न कि घटत्व अश मे अवच्छेदकत्व की अवगाही 'घटत्वेन पटो नास्ति' ऐसी बुद्धि का भी, क्योंकि यह बुद्धि अभाव के प्रतियोगी पट मे घटत्ववैशिष्ट्य (= घटत्वावच्छिन्नत्व) का अवगाहन करने पर भी घट मे अवगाहन नही करती है । इसी तरह प्रस्तुत मे घटत्वविशिष्टपटवत्ता का अनाहार्य निश्चय घटत्वविशिष्टपटाभावविषयक बुद्धि, जो घटत्व अश मे अवच्छेदकता अनवगाही है, विरोधी नही हो सकती है । अतएव यह माना जा सकता है कि घटत्वविशिष्ट पटवत्ता का अनाहार्य निश्चय 'घटत्वेन पटो नास्ति' ऐसी अवच्छेदकता अनवगाही बुद्धि का प्रतिबन्धक नही होता है । अत उत्तर काल मे तादृश बुद्धि की उत्पत्ति का अगीकार करने मे कोई क्षति नही है-यह सिद्ध होता है ।

शका :- अथ व्य इति । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव वस्तुत व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावस्वरूप ही है । अत गौरव दोष का अवकाश नही है । यहाँ यह नही कहना कि —> ''व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अभिन्न मानने पर अतिरिक्त अभाव की कल्पना से प्रयुक्त गौरव दोष का अवकाश न होने पर भी आपके पक्ष मे महागौरव दोष उपस्थित होता है, जिसका निवारण आप नही कर सकते

तत्कल्पनाया आवश्यकत्वादिति चेत् ? न, तथापि घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पने गौरवात् । न च तत्र स्वरूपसम्बन्धरूपतत्कल्पने गौरवधीर्न विरोधिनी, एव सति गुरुणि कारणतावच्छेदकत्वादेरप्यापत्ते शास्त्रे गौरवपदार्थप्रचारशैथिल्यापातादिति

❀ जयलता ❀

प्रमात्मक न सम्भवति किन्तु भ्रमात्मकमेव । अत तादृशभ्रमोपपत्तये दर्शितसहकारित्वादिकल्पनाया आवश्यकत्वमेव । न च गौरवम्, प्रथममतिरिक्ताभावाऽकल्पनलाघवनयेन प्रवृत्तौ पश्चादुपस्थितस्य तस्याऽदोषत्वात् ।

ननुवादी मौलपूर्वपक्षी अथमत प्रत्याचष्टे - नेति । **तथापि** = तादृशभ्रमोपपत्तये तत्कल्पनाया आवश्यकत्वेऽपि, घटत्वादो प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मे **पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पने गौरवात्** । अन्यत्र समानाधिकरणधर्मे एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य दृष्टत्वात् प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मे स्वानाश्रयवृत्तिप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पनाया अदृष्टचरत्वात् तत्कल्पने गौरवमव्याहतमेवेत्यर्थ ।

नन्ववच्छेदकत्वमवच्छेदकस्वरूपविशेषरूपमेव न तु तदतिरिक्तम्, तदतिरिक्तत्वकल्पने गौरवात्, तत्स्वरूपस्य च क्लृप्तत्वादेव व्यधिकरणधर्मेऽवच्छेदकत्वकल्पनाया न गौरवमिति शङ्का निरसितुमुपदर्शयति - न चेति । **तत्र** = प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मे, **स्वरूपसम्बन्धरूपतत्कल्पने** = स्वरूपविशेषरूपस्य स्वव्यधिकरणप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य कल्पने, **गौरवधीः** = अतिरिक्तावच्छेदकत्वबुद्धि , **न विरोधिनी** = न प्रतिबन्धिका । मौलपूर्वपक्षी ननुवादी दर्शितशङ्कानिरासे हेतु दर्शयति- **एव सतीति** । अवच्छेदकत्वस्य स्वरूपसम्बन्धरूपत्वकल्पने, **गुरुणि** = गुरुधर्मे, **कारणतावच्छेदकत्वादेः** आदिशब्देन प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकार्यतावच्छेदकत्वादेः परिग्रह. अपि किमुत प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्येत्यपिशब्दार्थ , **आपत्तेः** । तत. किमित्याह - गुरोरप्यवच्छेदकत्वापाते **शास्त्रे गौरवपदार्थप्रचारशैथिल्यापातादिति** । ततोऽवच्छेदकत्वमतिरिक्तमेवाभ्युपगन्तव्यम् । तत व्यधिकरण-

हे । महागोरव दोप का प्रतिपादन इस तरह किया जा सकता हे कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव का स्वीकार करने पर प्रतियोगिताव्यधिकरणीभूत घटत्वादि धर्म मे पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व की भासक सामग्री की कल्पना करनी पड़ेगी । एव घटत्व-पटत्वादि धर्म के ज्ञान मे सहकारित्व की कल्पना करनी होगी । इसी तरह घटत्वादि व्यधिकरणप्रतियोगिता का अवच्छेदक होने की वजह घटत्वादि और प्रतियोगितान्वयितावच्छेदक पटत्वादि मे और विरोध ज्ञान मे सहकारिकारणत्व की कल्पना करनी पड़ेगी" <— इसका कारण यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अभिन्न सिद्ध होता है तव तो घटत्वादि मे पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व की भ्रमात्मक वुद्धि के उपपादन के लिए वह कल्पना आवश्यक होने से गोरवरूप नही है ।

❊ प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म में अवच्छेदकत्व की कल्पना में गौरव - पूर्वपक्षी ❊

पूर्वपक्षी :- न तथा इति । जनाव ! आपकी यह वात ठीक नही हे, क्योकि तादृश सहकारित्व की कल्पना आवश्यक होने पर भी आपके मत मे प्रतियोगिता के व्यधिकरण घटत्वादि धर्म मे पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व की कल्पना करने का गोरव तो अपरिहार्य ही हे । प्रतियोगितासमानाधिकरण धर्म मे ही प्रतियोगितावच्छेदकता होती है - यह तो सर्वजनप्रसिद्ध हे । मगर आप के मत मे प्रतियोगिताव्यधिकरण धर्म मे प्रतियोगितावच्छेदकत्व की कल्पना से प्रयुक्त गोरव दोप प्राप्त होता है। यहाँ यह नही कहना चाहिए कि —> "प्रतियोगितावच्छेदकत्व तो प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप ही होता हे । पटादिवृत्ति प्रतियोगिता के अवच्छेदकीभूत घटत्वादि का स्वरूप तो क्लृप्त = प्रमाणसिद्ध हे, कल्पनीय नही है । घटत्वादि मे रही हुई पटादिवृत्ति प्रतियोगिता की अवच्छेदकता भी घटत्वादि के स्वरूपसम्वधात्मक ही है, अतिरिक्त नही । अत प्रतियोगिताऽनाश्रयवृत्ति धर्म मे अवच्छेदकत्व की कल्पना करने मे कोई गोरव नही है" <— इसका कारण यह हे कि अवच्छेदकत्व को अवच्छेदकस्वरूपविशेषात्मक ही माना जाय तव तो कारणतावच्छेदकता कारणतावच्छेदकस्वरूप हो जायेगी, कार्यतावच्छेदकता कार्यतावच्छेदकस्वरूप हो जायेगी । ऐसा होने पर तो गुरुभूत धर्म मे भी कारणतावच्छेदकत्व की आपत्ति आयेगी । जैसे कि घटगधादि का कारणतावच्छेदक घटत्व की भाँति कम्वुग्रीवादिमत्त्व भी हो सकेगा, क्योकि कम्वुग्रीवादिमत्त्व मे कल्पनीय घटगधादिकारणतावच्छेदकत्व कम्वुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप ही हे । घटत्व की भाँति कम्वुग्रीवादिमत्त्व को कारणता का अवच्छेदक मानने मे कोई गोरव नही होगा, क्योकि कारणतावच्छेदकता कारणतावच्छेदकस्वरूपसवधात्मक ही है ओर कम्वुग्रीवादिमत्त्व घट मे विद्यमान है = सिद्ध है = क्लृप्त है, कल्पनीय नही । ऐसा होने पर तो शास्त्र मे गौरवपदार्थ का जो दोपरूप से प्रचार है - वह शिथिल हो जायेगा । मगर ऐसा नही है । अत प्रति-

चेत्' ?

मैवम्, यतो न ह्यत्र घटत्वेन घटस्येव घटत्वेन घटास्तित्वस्य विधि , न वा घटत्वेन घटस्येव पटत्वादिना घटास्तित्वस्य प्रतिषेध । किन्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयपरद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन मूलाग्रावच्छेदेन वृक्षे सयोगतदभावाविव घटेऽस्तित्वविधिनिषेधौ ।

❀ जयलता ❀

धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावकल्पने अक्लृप्तावच्छेदकत्वगौरवमव्याहतमेवेति द्वितीयादिभङ्गाना तद्गर्भितसप्तभङ्ग्याश्चाऽप्रामाणिकत्वमेवेति मौलपूर्वपक्षिणोऽभिप्राय ।

अधुना स्याद्वादिन उत्तरपक्ष प्रारभ्यते- मैवमिति । अनभ्युपगतोपालम्भदानान्न ननुवाद्युक्त सम्यगिति भाव. । तदेव प्रकटयति - यत इति । यत्तु ननुवादिना ''घटत्वादिना घटास्तित्व कथ विधीयता ? अस्तित्वेनैव तद्विधानसम्भवादि''त्युक्त तत्राऽऽह न हीति । अस्य विधिरित्यनेनाऽन्वय । घटत्वेन घटस्येवेति । अन्वयोदाहरणमिदम् । दार्ष्टान्तिकमाह- घटत्वेन घटास्तित्वस्य विधिरिति । घटत्वेन यथा घटस्य विधान भवति तथाऽस्माभि प्रथमभङ्गे घटत्वेन घटास्तित्व न विधीयत इत्यनुक्तोपालम्भदानेन प्रतिवादी निगृहीत इति भाव । यच्च ननुवादिना 'पटत्वादिना वा घटास्तित्व कथ प्रतिषिध्यता ? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्याऽप्रामाणिकत्वात्' (दृश्यता २३७ तमे पृष्ठे) इत्युक्त तन्निरासकृते स्याद्वादी प्राह- न वेति । अस्य प्रतिषेध इत्यनेनाऽन्वय । घटत्वेन घटस्येवेति । अन्वयदृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकमाह- पटत्वादिना घटस्तित्वस्य प्रतिषेध इति । यथा घटत्वेन घटस्य प्रतिषेध क्रियते तथाऽस्माभि द्वितीयभङ्गे पटत्वादिना प्रतियोगिताव्यधिकरणधर्मेण घटास्तित्वस्य निषेधो न क्रियते । अतोऽनुक्तोपालम्भदानेनाऽपरत्राऽपि ननुवादी निगृहीत इति प्रदर्शितम् । तर्हि केन रूपेण कस्य प्रथमे भङ्गे विधि केन रूपेण कस्य द्वितीये भङ्गे निषेधश्च स्याद्वादिभि क्रियत इति पराशङ्कायामाह- किन्त्विति । निषेधपूर्वमभ्युपगमसूचकोऽय निपात । स्वद्रव्यादिचतुष्टय-परद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छेदेन = स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूपचतुष्टयावच्छेदेन परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूपचतुष्टयावच्छेदेन इत्यर्थ । यथाक्रममग्रे अस्तित्वविधिनिषेधयोरन्वयो बोध्य । दार्ष्टान्तिकप्रतीतिदार्ढ्यार्थं दृष्टान्त विद्योतयति मूलाग्रावच्छेदेन वृक्षे सयोगतदभावाविवेति । यथा वृक्षे मूलावच्छेदेन कपिसयोगस्य विधि अग्रभागावच्छेदेन च कपिसयोगस्य निषेधो भवत इति दृष्टान्तार्थ । घटेऽस्तित्वविधिनिषेधाविति । घटे स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन अस्तित्वस्य विधि परद्रव्यादिचतुष्टयेन चाऽस्तित्वस्य निषेध इत्यपि सभवति । तथाहि घटे स्वद्रव्यपार्थिवत्वाऽवच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधि

योगितावच्छेदकता, कारणतावच्छेदकता, कार्यतावच्छेदकता आदि को प्रतियोगितावच्छेदकादि से अतिरिक्त मानना आवश्यक है। ऐसा सिद्ध होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव के अगीकार पक्ष मे उपर्युक्त रीति से गौरव अनिवार्य हो जायेगा। अत. व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का अगीकार करना अप्रामाणिक है। अत सप्तभगी के द्वितीय भग मे अप्रामाण्य वज्रलेप हो जायेगा। प्रथम भग का अप्रामाण्य तो पूर्व मे बता दिया ही है। फलत इन दोनो के समिलन से निष्पन्न सप्तभगी भी अप्रामाणिक हो जायेगी। अत सप्तभगी मे प्रामाण्य की जो घोषणा स्याद्वादी ने की है वह ठीक नही है।

❀ सप्तभंगी प्रामाणिक है - उत्तरपक्ष ❀

स्याद्वादी :- मैवम् इति । आपने सप्तभगी के अप्रामाण्य का जो उपालभ दिया है - वह ठीक नहीं है, क्योकि आपने जैसा कहा है वैसा हम मानते ही नही है । जैसे घट का घटत्वरूप मे विधान होता है वैसे हम घटत्व धर्म की अपेक्षा घटास्तित्व का विधान नही करते है । अत आपने जो पूर्व मे कहा था कि —> ''घटत्वरूप से घटास्तित्व का विधान शक्य नही है, घटास्तित्वत्वरूप से ही घटास्तित्व का विधान हो सकता है'' <— वह निराकृत हो जाता है । जैसे घटत्वरूप से घट का निषेध होता है वैसे पटत्वरूप से हम घटास्तित्व का निषेध नही करते है । अतएव पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि —> ''पटत्वादि धर्म से घटास्तित्व का निषेध नही हो सकता है, क्योकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव अप्रामाणिक होता है'' <— वह भी परास्त हो जाता है । जो हम मानते नही है, उसका उपालम्भ देना नामुनामिव है । अब सप्तभगी के प्रथम, द्वितीय भग मे हम क्या मानते है, उसे कान खोल कर सुनिये । 'घट स्यादस्ति एव' इस प्रथम भग मे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप चतुष्टयअवच्छेदेन घट मे अस्तित्व का विधान होता है एव 'घट स्यात् नास्त्येव' इस द्वितीय भग मे पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप चतुष्टयअवच्छेदेन घट मे अस्तित्व का निषेध होता है - ऐसा हम मानते

1 २३७ तम पृष्ठत प्रारब्ध ननुवादिद्वीयपूर्वपक्ष समाप्त ।

'अवच्छेद्याधिकरणसम्बद्धमेवावच्छेदकमिति परद्रव्यादे· नास्तित्वावच्छेदकत्वं कथमनु-

जयलता

परद्रव्यभूतजलाद्यवच्छेदेनाऽस्तित्वस्य निषेध , स्वक्षेत्रपाटलिपुत्रत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधि परक्षेत्रभूतकान्यकुब्जत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य प्रतिषेध , स्वकालशैशिरत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधान परकालवासन्तिकत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य प्रतिषेध , स्वभावरक्तत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधि परभावश्यामत्वाद्यवच्छेदेन चाऽस्तित्वस्य निषेध· इत्येव विचार्यमाण आद्यभङ्गद्वय चारुतामश्नुत्येव । एवमेव तद्गर्भितसप्तभङ्ग्यपि प्रामाण्यकोटिमाकलयत्येव । न ह्यय स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति ।

विमलदासेनाऽपि सप्तभङ्गीतरङ्गिण्या –> ''स्यादस्त्येव घट , 'स्यान्नास्त्येव घट ' इत्यस्य स्वरूपाद्यवच्छिन्नास्तित्वाश्रयो घट पररूपाद्यवच्छिन्ननास्तित्वाश्रयो घट इति च बोध.'' <– (स न त पृ ३८) इत्येव प्रतिपादितम् । युक्तश्चैतत् यदि घटे स्वद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधानमिव परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेनाऽपि तद्विधान स्यात्, घटो वैश्वरूप्यमादधीत । यदि परद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेन घटेऽस्तित्वस्य प्रतिषेध इव स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेनाऽपि तन्निषेध स्यात् घटो वन्ध्यास्तन्धयतामनुवीत । न चैवम्, अत घटे स्वद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेनाऽस्तित्वस्य विधान परद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेन तत्प्रतिषेधश्चोपगन्तुमर्हत एवेति स्वसमयोक्तदिशा सम्यगवसेयम् ।

ननु अवच्छेदकत्व स्वावच्छेद्याश्रयसम्बद्धे एव भवितुमर्हति यथा स्वावच्छेद्यकपिसयोगाधिकरणीभूतवृक्षसम्बद्धमूले कपिसयोगावच्छेदकत्व कपिसयोगे च तदवच्छेद्यत्वम् । अतो घटवृत्तिनास्तित्वस्याऽवच्छेदकत्व परद्रव्यादिचतुष्के न सभवि, तस्य स्वावच्छेद्यनास्तित्वाधिकरणीभूतघटाऽसम्बद्धत्वात् । तत कथ घटे परद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेन नास्तित्वप्रतिपादन घटाकोटिमाटीकेतेत्याशयेन पर प्रत्यवतिष्ठते - **अवच्छेद्याधिकरणसम्बद्धमेवेति** । एवकारेणावच्छिन्नाश्रयासम्बद्धस्य व्यवच्छेद कृत. । परमते मूले वृक्षाश्रितत्वविरहात् सम्बद्धपदोपादानम् । अवच्छेदकमिति नियमादिति शेष । यथा 'इह पर्वते नितम्बे हुताशन' इति बोधे 'नितम्बावच्छिन्नपर्वतनिरूपितवृत्तितावान् हुताशन' इत्याकारके नितम्बस्य वह्निनिष्ठवृत्तितावच्छेदकत्वम्, अवच्छेद्यीभूताया वह्निनिष्ठाया पर्वतनिरूपितवृत्तिताया अधिकरणीभूतपर्वतसम्बद्धत्वात् । अत **परद्रव्यादेः** घटापेक्षया परद्रव्यक्षेत्रकालादे **नास्तित्वावच्छेदकत्व** = घटवृत्तिनास्तित्वस्याऽवच्छेदकत्व, **कथ अनुपप्लव** ? नैव सङ्गतमित्यर्थ., अवच्छेद्यावच्छेदकयोर्वैयधिकरण्यादिति पराकृतम् ।

है । इसकी उपपत्ति ठीक उसी तरह हो सकती है, जैसे वृक्ष मे मूलावच्छेदेन कपिसयोग का विधान ओर अग्रभागावच्छेदेन कपिसयोग का निपेध । जव वृक्ष के मूलभाग मे वदर वेठता है तव कपिसयोग का अवच्छेदक मूलभाग होता है और अधिकरण वृक्ष । उस अवस्था मे वृक्ष के अग्रभाग मे कपिसयोग नही होता है । अत· कपिसयोगाभाव का अवच्छेदक अग्रभाग होता है और अधिकरण वृक्ष । अवच्छेदकभेद से एक ही वृक्ष मे कपिसयोग का विधान और निपेध हो सकता है । इसी तरह घट भी स्वद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा सत् होता है, न कि परद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से भी । परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा घट असत् होता है । अत. घट मे भी स्वद्रव्यादिचतुष्टय अवच्छेदेन अस्तित्व का विधान और परद्रव्यादिचतुष्टय अवच्छेदेन अस्तित्व का निपेध हो सकता हे । अवच्छेदकभेद से एक ही द्रव्य मे अस्तित्व का विधान और निपेध होने मे कोई वाधा नही हो सकती है - यह तो हम अभी ही वृक्ष मे अवच्छेदकभेद से कपिसयोग के विधान और निपेध के दृष्टात से प्रतिपादन कर चुके है । अत सप्तभगी का प्रथम और द्वितीय भग भी प्रामाणिक ही है । एव प्रथम और द्वितीय भग के सयोग से निष्पन्न सप्तभगी मे अप्रामाण्य की घोपणा करना सिर्फ अज्ञान का ही सूचक है । अतः पूर्वपक्षी की उपर्युक्त रामकहानी नितात अप्रामाणिक एव उन्मत्त प्रलाप की भॉति अनुपादेय ही है - यह सिद्ध होता है ।

परद्रव्यादि चतुष्टय में अवच्छेदकता मुमकिन - स्याद्वादी

अवच्छेद्या इति । यहाँ इस शका का उद्भावन करना कि –> ''अवच्छेदक वही हो सकता है जो स्वावच्छेद्य के अधिकरण से सवद्ध हो । जेसे वृक्ष मे कपिसयोग की अवच्छेदक शाखा हो सकती है, क्योकि शाखा अपने से अवच्छेद्य = नियत्रित कपिसयोग के अधिकरणीभूत वृक्ष से सवद्ध होती है । अतएव प्रस्तुत मे द्वितीय भग मे घटवृत्ति नास्तित्व के अवच्छेदकविधया परद्रव्यादिचतुष्टय का स्वीकार नही हो सकता है, क्योकि परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूप चतुष्टय स्वावच्छेद्य नास्तित्व के अधिकरणीभूत घट से असवद्ध है । घट को स्वद्रव्यादि चतुष्टय के साथ सम्वन्ध होता है; परद्रव्यादि चतुष्टय के साथ नही । अत. घट के परद्रव्यादि चतुष्क मे घटनिष्ठ नास्तित्व का अवच्छेदकत्व कैसे सगत होगा ?'' <– ठीक नही है । इसका कारण

पप्लवमि'ति चेत् ? तादृग्नियमे मानाभावादित्येव ब्रूम ।

उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यरूप घटास्तित्व स्वद्रव्यादिचतुष्टयनिर्वृतं, तदभावस्तु परद्रव्यादि-

❀ जयलता ❀

प्रकरणकृत तत्प्रत्याचक्षते - तादृग्नियमे = स्वाश्रयसम्बधिन एव स्वावच्छेदकत्वमिति नियमे, मानाभावात् विपक्ष-बाधकतर्कविरहात् । अवच्छेद्यावच्छेदकयोरसामानाधिकरण्ये को दोष ? इत्यत्र नैव किञ्चिदपि परेण वक्तु शक्यते ।

वस्तुतस्तु यथा गौरवप्रतिसन्धानदशायामपि 'कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'त्यादिप्रत्ययबलात् प्रकारतावच्छेदकवद् गुरुरपि धर्म प्रतियोगितावच्छेदक । अत एव तथाविधयत्किञ्चिद्व्यक्तिसत्त्वे तादृशप्रतीतेरनुदय तत्सामान्यशून्य एव च तदुदय । तथा घटत्वादौ पटादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकत्वकल्पने गौरवप्रतिसन्धानदशायामपि 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिस्वारसिकप्रतीत्युदय-महिम्नाऽवच्छेद्याधिकरणाऽसम्बद्धोऽपि धर्मो व्यधिकरणप्रतियोगिताया अवच्छेदक इत्युपगमे बाधकाभावात् ।

सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेवाऽवच्छेदकावच्छेद्ययोर्व्यधिकरणत्वेऽपि न क्षति । प्रत्यक्षानुसारेणैव नियमकल्पनात् । न हि प्रत्यक्षातिक्रमेण नियमस्य प्रवृत्ति , प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेभ्यो बलवत्त्वात्, नियमस्य तदुपजीवकत्वात्, उपजीवकस्योपजीव्य-प्रतिक्षेपाऽयोगात् । अत एव सामान्यतोऽभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वे क्लृप्तेऽपि संयोगाद्यभावे तथात्वाऽप्रतीते तादृग्नियमस्य सार्वत्रिकत्व त्यज्यते परेण । तद्वदेवाऽवच्छेदकाऽवच्छेद्ययो सामानाधिकरण्ये क्लृप्तेऽपि 'घटत्वेन पटो नास्ती'त्यादिस्वारसिक-प्रतीतिबलात् तयो सामानाधिकरण्यनियमस्य सार्वत्रिकत्व त्याज्यमेव अन्यथा घटत्वेनाऽपि पटास्तित्वविधानप्रसङ्गस्य बृहस्पतिनाऽप्य-निराकार्यत्वापातात् ।

न चैव परस्याऽपसिद्धान्तोऽपि प्रसज्यते, तत्सिद्धान्तानुसारित्वादेतत्कल्पनाया । तदुक्त शङ्करमिश्रेण 'सच्चाऽसत्' (वै सू अ ९, आ १, सू ४) इति वैशेषिकसूत्रोपस्कारे --> "भवति हि असन्नश्वो गवात्मना, असन् गौरश्वात्मना, असन् पटो घटात्मना" <-- (वै सू उप पृ ३१३) । तदीयभाष्येऽपि --> 'अश्वात्मना सन्नप्यश्वो न गवात्मनास्ती' <-- (वै सू भा पृ ३१५) त्युक्तम् । अनेन पटादिनिष्ठघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितान्तरकल्पने गौरवादित्यपि प्रत्युक्तम् ।

अत एव घटे परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन नास्तित्वस्य प्रतिपादनमपि सङ्गतिमङ्गति ।

यच्च श्रीरामप्रपन्नाचार्येण जागदीशीव्यधिकरणदीपिकाया "प्रतियोगिता स्वाश्रयाऽवृत्ति धर्मानवच्छिन्ना प्रतियोगितावच्छेदक-विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धित्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकप्रकारतावच्छेदकानुयोगितानिरूपितत्वात्' (जा व्य दी पृ ०७) इत्युक्त, तन्न चारु, अप्रयोजकत्वात् ।

स्वमतेनाऽऽद्यभङ्गद्वय व्यवस्थाप्य श्वेताम्बरचूडामणि प्रकरणकारो दिगम्बरमतेनाऽऽद्यभङ्गद्विकमुपदर्शयति- उत्पादव्यय-ध्रौव्यैक्यरूप = सभव-विलय-स्थित्यभेदात्मक घटास्तित्व स्वद्रव्यादिचतुष्टयनिर्वृत = स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावनिष्पन्न, तदभावस्तु

यह है कि - स्वावच्छेद्य के अधिकरण से सबद्ध ही अवच्छेदक हो सकता है - यह नियम ही अप्रामाणिक होने से मान्य नही हो सकता है - ऐसा हम स्याद्वादी कहते है । तादृश नियम के विपरीत मे ऐसा कहा जाय कि --> अवच्छेदक से अवच्छेद्य का जो अधिकरण है, उससे अवच्छेदक असबद्ध हो तो क्या क्षति है ? <-- तो इसके प्रत्युत्तररूप मे पूर्वपक्षी की ओर से कुछ भी कथन नही किया जा सकता । विपक्षबाधक तर्क के विरह से वह नियम उपादेय नही है । अत घटनिष्ठ नास्तित्व का अवच्छेदक परद्रव्यादि चतुष्क भी हो सकता है । अनुभव भी इस बात का पोषक है कि घट मिट्टीरूप से सत् है, जलादिरूप से नही । अत परद्रव्यादि चतुष्कावच्छेदेन घट मे नास्तित्व का प्रतिपादन करने मे कोई बाधा नही है । अत द्वितीय भग भी प्रामाणिक ही है - यह सिद्ध होता है । एव तद्गर्भित सप्तभगी भी प्रामाणिक ही है - यह सिद्ध होता है ।

❋ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैक्यात्मक घटास्तित्व - दिगम्बर का अभिप्राय ❋

उत्पाद इति । व्याख्याकार श्रीमद्जी श्वेतावर आम्नाय के अनुसार सप्तभगी के प्रथम और द्वितीय भग का प्रतिपादन करने के बाद दिगम्बर आम्नाय के अनुसार प्रथम और द्वितीय भग का निरूपण करते है । दिगम्बर मनीषियो का यह कथन है कि - 'घट स्यादस्ति एव' इस भग = वाक्य मे जिस घटास्तित्व का प्रतिपादन किया गया है वह उत्पादव्ययध्रौव्य से अभिन्न होता है एव स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से निष्पन्न होता है । आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ मे प्रतिक्षण नवीन पर्याय की उत्पत्ति होती है, पूर्व-पूर्व पर्याय की निवृत्ति होती है और मूल द्रव्यरूप से वस्तु स्थिर रहती है । उत्पाद, व्यय और

चतुष्टयनिर्वृत इति तदर्थ इत्यप्याहु ।

ननु 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र 'अस्तित्वाऽभाववान् घट' इति न धीर्येन पटत्वस्य

❀ जयलता ❀

= घटास्तित्वाभावश्च **परद्रव्यादिचतुष्टयनिर्वृतः** = परद्रव्यक्षेत्रकालभावसञ्जात इति **तदर्थः** = 'स्याद् घटोऽस्त्येव, स्याद् घटो नास्त्येवे'ति भङ्गद्वयार्थ., इत्यपि आहुः आशाम्बरा इति शेष. । तदुक्त **प्रवचनसारतत्त्वप्रदीपिकाया अमृतचन्द्रेण** ''यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानै कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणा स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तै कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यै यदस्तित्व कार्तस्वरस्य स स्वभाव । तथाहि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानै कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणा स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तै. उत्पादव्ययध्रौव्यै यदस्तित्व द्रव्यस्य स स्वभाव· । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्य पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तै कुण्डलाऽङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यै निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तै निष्पादित यदस्तित्व स स्वभाव तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्य पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्व स स्वभाव '' (प्र सा त दी २/४-पृ ११६) इति । **जयसेनेनाऽपि** ''स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्येभ्य सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायव्यय-सुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणा सद्भाव '' (प्र सा २/४ ता वृ पृ ११६) इति **प्रवचनसारतात्पर्यवृत्तावुक्तम्** ।

समन्तभद्रस्वामिनाऽपि आप्तमीमासाया 'सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ (आ मी १५) इत्यादिनाऽस्तित्वस्य स्वद्रव्यादिचतुष्टयनिमित्तकत्व प्रतिपादितम् ।

स्वमते स्वद्रव्यादिचतुष्टय घटेऽस्तित्वावच्छेदक परद्रव्यादिचतुष्टय च नास्तित्वावच्छेदकम् । आशापटमते तु स्वद्रव्यादिचतुष्टय घटवृत्त्यस्तित्वस्य जनक परद्रव्यादिचतुष्टय च घटवृत्तिनास्तित्वस्य जनकम् । आहुरित्यनेन स्वकीयाऽस्वरसप्रदर्शन कृतम् । तद्बीज त्विदम् - स्वपरद्रव्यादिचतुष्टययो घटास्तित्वनास्तित्वयो जनकत्वोपगमे स्वपरद्रव्यादिचतुष्कयोरनन्यथासिद्धत्वे सति कार्याऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्याधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वरूपस्य कारणत्वस्य कल्पना कर्तव्या स्यात् तदपेक्षया नियामकत्वरूपस्याऽवच्छेदकत्वस्य कल्पनैव लघीयसी । न हि 'इदानीमत्र घटोऽस्ति' इत्यत्र लोका अपि कालदेशयोर्घटास्तित्वस्य जनकत्व प्रतियन्ति किन्तु तदवच्छेदकत्वमेव । न च तयोरवच्छेदकत्वाविशेषेऽपि तदाधारतया तज्जनकत्वमिति वाच्यम्, आधारत्वस्याऽऽधेयस्थितिनियामकत्वरूपत्व न तु तत्स्थितिजनकत्वरूपत्वम्, अन्यथा परमतप्रवेशप्रसङ्गादिति दिक् ।

द्वितीयभङ्गे कश्चित् शङ्कते **नन्विति** । अस्य 'चेदि'त्यनेनाऽन्वय । **'पटत्वेन घटो नास्ती'**ति अत्र द्वितीयभङ्गे **'अस्तित्वाऽभाववान् घट·'** = घटोऽस्तित्वाभावाऽऽधार' **इति न धीः**, जायत इति शेष· । तत किमित्याह- **येन तद्धीबलेन पटत्वस्य**

ध्रौव्य तीनो अविनाभावी है । इनके विना किसी पदार्थ की सत्ता नामुमकिन है । अत अस्तित्व भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से अभिन्न होता है । घटास्तित्व भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से अभिन्न ही हे । मगर यह अस्तित्व स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से निष्पन्न होता है । घट की सत्ता मिट्टीद्रव्य, अपने विवक्षित क्षेत्र, अपने विवक्षित काल एव अपने विवक्षित रक्तत्वादिस्वरूप भाव से उत्पन्न होती हे । इसके विपरीत 'घट. स्यान्नास्ति एव' इस द्वितीय भग मे घट के नास्तित्व का प्रतिपादन किया जाता हैं । यह नास्तित्व अस्तित्व का प्रतिषेध है । अर्थात् घटास्तित्व का अभाव घटनास्तित्व है । यह नास्तित्व भी पर द्रव्य, क्षेत्र, काल ओर भाव से उत्पन्न होता हे । घट मे जलादि पर द्रव्य, अपने क्षेत्र से विपरीत क्षेत्र, स्वकाल से भिन्न काल एव रक्तत्वादि स्वभाव से विपरीत श्यामत्वादिरूप परभाव से नास्तित्व उत्पन्न होता है । इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्क से घटास्तित्व और परद्रव्यादि-चतुष्क से नास्तित्व घट मे उत्पन्न होता है । यह दिगम्बर विद्वानो का मत प्रवचनसार की टीकाएँ आदि मे विस्तृतरूप से वताया गया हे । विशेष जिज्ञासु उन ग्रथो का अवलोकन कर के अपनी जिज्ञासा का शमन कर सकते हे ।

☫ 'घटो नास्ति' यहाँ घटाभाव अस्तित्व का आश्रय - पूर्वपक्ष ☫

पूर्वपक्ष ·- ननु पट इति । सप्तभगी के 'पटत्वेन घटो नास्ति' इस द्वितीय भग मे आपने (स्याद्वादी ने) पटत्व का

तदवच्छेदकत्वं कल्प्येत, किन्तु 'पटत्वेन घटाभावोऽस्तित्वाऽऽश्रय' इति, अन्यथा 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्राऽपि 'भूतलास्तित्वाऽभाववान् घट' इत्येव बोध स्यात्, तथा च 'क्व ?'' इत्यधिकरणाऽकाङ्क्षा केन पूर्यतामिति चेत् ?

❦ जयलता ❦

तदवच्छेदकत्व = नास्तित्वावच्छेदकत्व कल्प्येत । तर्हि तत्र कीदृशी बुद्धिर्जायते ? इत्याशङ्कायामाह - किन्त्विति । 'पटत्वेन घटाऽभावोऽस्तित्वाश्रय इति बुद्धि जायत इति शेष । घटे नास्तित्व पटत्वावच्छेदेन न प्रतीयते पर पटत्वावच्छिन्नघटवृत्तिप्रतियोगिताकाभावेऽस्तित्व ज्ञायत इत्यर्थ । अतो घटवृत्तिनास्तित्वावच्छेदकविधया पटत्वस्य प्रतिपादन न कल्पनामर्हतीति भाव. ।

विपक्षबाधमाह - अन्यथेति । 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र पटत्वेन घटाभावोऽस्तित्वाश्रय इति बोध तिरस्कृत्य 'घटो नास्तित्वाश्रय' इति बोधस्याऽभ्युपगमे इत्यर्थ । आपादक दर्शयित्वा साम्प्रतमापाद्यमाह- 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्रापीति । वाक्य इति शेष । भूतले घटाऽसत्त्वदशायामिति स्वयमेव गम्यते । 'भूतलाऽस्तित्वाभाववान् घट·' = भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावाश्रयो घट इत्येव बोध· = शाब्दबोध स्यात् । एवकारेण 'भूतलनिरूपितवृत्तित्वाभाववान् घट ' इत्यस्य व्यवच्छेद कृत । यत 'अग्रे वृक्षो न कपिसयोगी'त्यत्र 'अग्रावच्छिन्नकपिसयोगाभाववान् वृक्ष ' इति शाब्दबोधो जायते तथा 'भूतले घटो नास्ति' इति प्रकृतेऽपि 'भूतलावच्छिन्नास्तित्वाभावाश्रयो घट' इत्येव शाब्दबोधो जायते न तु 'पर्वते धूमध्वज' इत्यत्र 'पर्वतनिरूपितवृत्तित्वाश्रयो धूमध्वज' इतिवत् 'भूतलनिरूपितवृत्तित्वाभाववान् घट' इत्येव शाब्दबोध स्यादिति भाव । 'तत कि नश्छिन्न ?' इत्याशङ्कायामाह- तथा चेति । 'क्व ?' इत्यधिकरणाकाक्षा = 'कुत्र भूतलावच्छिन्नवृत्तित्वाभाववान् घट ?' इत्याकारिका श्रोतु तादृशघटाधिकरणविषयिणी शाब्दी आकाङ्क्षा, केन शब्देन, पूर्यता = निवर्तताम् ? वस्तुत 'घटप्रतियोगिकोऽत्यन्ताभावो भूतलाधिकरणक' इति बुभोधयिषयैव वक्ता 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्य प्रयुङ्क्ते । पर त्वन्मते दर्शितरीत्या श्रोतु. भूतलेऽस्तित्वाभावस्याऽवच्छेदकत्वमेव भासते, न त्वधिकरणत्वमिति तदधिकरणाकाङ्क्षाया अनुपशान्तत्वेन तादृशवाक्याच्छ्रोतुर्निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिर्न स्यादिति 'भूतले पटत्वेन घटो नास्ती'त्यादिरूपेणैव सर्वदा प्रयोग स्यान्न तु 'भूतले घटो नास्ती'त्यादिरूप । न चैतद् दृष्टमिष्ट वा । अत 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र पटत्वावच्छिन्नघटवृत्तिप्रतियोगिताकाभावोऽस्तित्वाश्रय' इत्येव बोधोऽङ्गीकर्तव्यो न तु पटत्वावच्छेदेनाऽस्तित्वाऽभाववान् घट इत्याकारक इति नन्वभिप्राय ।

घटवृत्ति अस्तित्वाभाव के अवच्छेदकरूप मे निर्देश किया है। मगर यह ठीक नही है, क्योकि 'पटत्वेन घटो नास्ति' इस वाक्य से यदि 'घट अस्तित्वाभाववान्' ऐसा घटविशेष्यक अस्तित्वाभावप्रकारक शाब्दबोध हो, तभी पटत्व घटनिष्ठ नास्तित्व का अवच्छेदक हो सकता हे। मगर तादृश वाक्य से उपर्युक्त शाब्दबोध नही होता हे। उक्त वाक्य से जो शाब्द बोध होता है उसका आकार हे- 'पटत्वेन घटाभाव अस्तित्वाश्रय.' अर्थात् पटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक घटाभाव अस्तित्व = विद्यमानत्व का अधिकरण हे। मतलब कि पटत्व घटवृत्ति नास्तित्व का अवच्छेदक न हो कर विद्यमान ऐसे घटाभाव से निरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। अत· सप्तभगी के द्वितीय भग के द्वारा घट मे पटत्वावच्छेदेन नास्तित्व धर्म का प्रतिपादन करना असगत है।

▣ द्वितीय भंग में निराकांक्ष शाब्दबोधानुपपत्ति - पूर्वपक्ष चालु ▣

अन्यथा इति । यदि 'पटत्वेन घटो नास्ति' इस वाक्य से जन्य शाब्द बोध को घटाभावविशेष्यक-अस्तित्वप्रकारक न मान कर नास्तित्वप्रकारताक-घटविशेष्यताक माना जाय तब तो 'भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य से निराकाक्ष शाब्द बोध का उदय न हो सकेगा। इसका कारण यह है कि आपके (= स्याद्वादी के) मतानुसार उक्त वाक्य से शाब्दबोध घटाभावविशेष्यक न हो कर घटविशेष्यक होगा अर्थात् 'भूतलास्तित्वाभाववान् घट.' = 'भूतलावच्छेदेन घट अस्तित्वरहित है' ऐसा शाब्द बोध होने की वजह 'भूतलास्तित्वशून्य घट कहाँ है ?' ऐसी तादृशघट-अधिकरणताविषयिणी शाब्दी आकाक्षा शात नही होती हे। घट मे तादृश अस्तित्वाभाव का भान होने पर 'तादृश घट कहाँ रहता है ?' इस विषय का ज्ञान नही हो सकता हे। अधिकरणता अवगाही आकाक्षा की पूर्ति न होने की वजह श्रोता को उक्त वाक्य से निराकाक्ष शाब्द बोध नही हो सकता हे। भूतल का तो घटाधिकरणविधया ज्ञान नही हो सकता, क्योकि तब भूतल मे घट नही होता है ओर उपर्युक्त प्रतीति मे भूतल तो घटवृत्ति नास्तित्व का अवच्छेदक है। अत सप्तभगी के द्वितीय भग मे जन्य शाब्दबोध को घटविशेष्यक और नास्तित्वप्रकारक न मान कर अस्तित्वप्रकारक ओर घटाभावविशेष्यक ही मानना युक्तिसगत है।

❦ द्वितीय भंग में घट ही विशेष्य है, न कि घटाभाव - उत्तरपक्ष ❦

' ख प्रतौ 'कृत्यभिक' इत्यशुद्ध पाठ ।

न 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र 'भूतलावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वाभाववान् घट' इत्येव बोधात्, अन्यथा घटवत्यपि भूतले 'घटो नास्ती'तिधियः प्रामाण्याऽऽपत्ते· ।

जयलता

प्रकरणकृत्तन्निराकरोति -नेति । विपक्षबाधमुन्मूलयति - 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र वाक्ये, सप्तम्यर्थो जन्यत्वम्, अन्वयश्चास्य बोधे । **'भूतलावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वाभाववान् घट' इत्येव बोधादिति** । एवकारेण भूतलास्तित्वाभाववान् घट' इत्याकारकबोधस्य व्यवच्छेदः कृत. । विपक्षबाधमुपदर्शयति- **अन्यथेति** । तत्र तादृशशाब्दबोधानुपगम इत्यर्थ । अय समाधानग्रन्थाशय महानसादौ घटसत्त्वे घटशून्यभूतलदशाया घटे महानसाद्यवच्छेदेन कालससर्गाश्रयत्वस्य सत्त्वेऽपि भूतलावच्छेदेन कालसबन्धाधिकरणत्व नास्तीति 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यात् 'भूतलावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वाभाववान् घट' इत्याकारक एव शाब्दबोध उदेतीति स्वीकर्तु युज्यते, न तु 'घटत्वेन घटाभावो भूतलनिरूपितवृत्तित्वाश्रय' इत्याकारक. । **न च** शब्दाऽबोधितकालसामान्यस्य प्रकारांशे भानमप्रामाणिकमिति **वाच्यम्**, कालपदस्याऽस्तिपदसमभिव्याहारवलेन वर्तमानकालपरत्वात्, अस्तिपदादेव वर्तमानकालससर्गाश्रयत्वरूपस्य वर्तमानकालीनत्वरयोपस्थितेर्नाऽप्रामाणिकगौरवमपि । **न च** तथापि 'भूतले न घट' इत्यत्र का गति. ? इति **वक्तव्यम्**, 'यत्राऽन्यत्क्रियापद न श्रूयते तत्राऽस्तिर्भवन्तीपर प्रयुज्यते' (न्या सग्र पृ ६५) इति वैयाकरणन्यायेन अस्तिपदाऽध्याहारात्, अन्यथाऽऽख्यातपदविरहेण वाक्यात्वानापत्ति स्यात् । यदि च परेण 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र 'घटाभावो भूतलनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयतावान्' इति शाब्दबोध उपेयते, तदा परमतेऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेन भूतले घटसत्त्वदशायामपि 'भूतले घटो नास्ती'ति प्रमीत्यापत्ति स्यात् । **न च** कालविशेषविशिष्टाधिकरणस्याऽभावसम्बन्धत्वोपगमेऽपि घटवति भूतले घटात्यन्ताभावबुद्ध्यापत्ति निराकर्तु **शक्या**, परमते विशिष्टस्य शुद्धानतिरिक्तत्वात् कालस्य नित्यत्वेनैकत्वेन च विशेषाभावाच्च । **अत एव** विशिष्टातिरिक्तवादिसार्वभौममतानुज्ञायामपि न **निस्तारः**, अतिरिक्ताभावमङ्गीकृत्य कालविशेषविशिष्टाधिकरणस्य तत्ससर्गत्वकल्पनापेक्षया घटे भूतलावच्छेदेन कालससर्गानाश्रयत्वकल्पनाया एव युक्तत्वाच्च । **एतेन** 'घटकालस्य सम्बन्धाघटकत्वात् अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धि ' (मुक्ता पृ १६३) इति **विश्वनाथपञ्चाननभट्टवचनमपि प्रत्याख्यातम्** ।

किञ्च 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र 'भूतलवृत्तिर्घटाऽभावे' इत्येव शाब्दबोध उपेयते तदा तस्य 'भूतले घटोऽस्ती'तिवाक्यजन्यबोधेन साक विरोधो नोपपद्येत, ग्राह्याभावाऽनवगाहित्वात् । न हि समानप्रकारकाऽभावाऽनवगाहिज्ञानविरोध. कदापि सम्भवति, अन्यथा भूतले घटसत्त्वे 'पटो नास्ती'त्यादेरपि विरोधप्रसङ्गात् । अतो 'भूतले घटोऽस्ती'तिवाक्यजो घटविशेष्यकभूतलवृत्तित्वप्रकारकबोधो 'भूतले घटो नास्ती'तिवचनजन्या भूतलवृत्तित्वप्रकारकघटनिष्ठप्रतियोगिताप्रकारकाऽभावविशेष्यकधिय नैव विरुन्ध्यात् । तथा च भूतले घटसत्त्वदशायामपि 'भूतले घटो नास्ती'तिज्ञानस्य प्रामाण्य वज्रलेपायित स्यात् ।

किञ्च 'प्रतियोग्यभावाऽन्वयौ तुल्ययोगक्षेमा'विति नियमेन 'चैत्रो न पचती'त्यादौ चैत्रे आश्रयतासम्बन्धेन पाकानुकूलकृत्यभावान्वयवत् 'भूतले नास्ति घट' इत्यत्राऽपि त्वदुक्तरीत्यैव घटविशेष्यक शाब्दबोध· सिध्यति, अन्यथा सुबन्तविशेष्यताकशाब्दबोधनियमोऽपि विशीर्येत । **एतेन** 'भूतले न घट' इत्यादौ नञोऽभाववल्लाक्षणिकतयाऽभाववता सममनुयोगिनोऽभेदान्वयबोध एवोपेयत इति तत्र 'घटाभाववदभिन्न भूतलमि'त्येव बोध उपजायत इति **प्रत्युक्तम्**, तथा सति 'भूतले घट' इत्यादिवाक्यजन्यबोधे 'भूतले न घट' इत्यादिवाक्यजबोधस्याऽविरोधित्वापत्ते सर्वत्राऽभाववत एव नञर्थतया मुख्यार्थपरस्य नञो दुर्लभत्वापत्तेश्च । **अनेन** तादृशलक्षणाया वन्ध्यास्तनन्धयप्रियतमात्वमुपदर्शितम् । न हि मुख्यार्थाभावे सति शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा सम्भवति ।

उत्तरपक्ष :- न भूत इति । जनाव ! सप्तभगी के द्वितीय भग से घटाभाव मे अस्तित्व का विधान न मान कर घट मे नास्तित्व का विधान मानने पर आपने जो आपत्ति वताई कि --> 'तव ''भूतले घटो नास्ति'' इस वाक्य से अधिकरणतावगाही आकाक्षा का शमन न होने से निराकाक्ष शाब्दबोध अनुपपन्न हो जायेगा' <-- वह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि 'भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य से जिस शाब्दबोध का उदय होता है उसका आकार हम यह मानते है कि - 'भूतलावच्छिन्न कालसबधाश्रयताशून्य. घट·' । इसका विश्लेपण हिन्दी भापा मे न्याय की परिभापा के अनुसार यह होगा कि अन्यत्र = पर्वत आदि मे घट विद्यमान होने से वह पर्वतादि अवच्छेदेन कालसवध का आश्रय है, मगर भूतलावच्छेदेन वर्तमान काल के सवध का अनाश्रय = आश्रयताऽभाववाला है । मतलव कि उक्त प्रतीति का विशेष्य घट ही है, न कि घटाभाव । यहाँ यह शका करना कि --> ''आप भले ही 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति को घटविशेष्यक मानो मगर

अत एव सुप्तिङोर्वचनैक्यनियमोऽपि सङ्गच्छते, अन्यथा 'घटो नास्ती'त्यस्याप्यापत्तेः,

❁ जयलता ❁

इत्थमेव 'निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थयोः भेदेन साक्षादन्वयबोधस्याऽव्युत्पन्नत्वनियमेऽपि निपातातिरिक्तत्वविशेषणस्यावश्य-कत्वमुपपद्यते । तदुक्तं व्युत्पत्तिवादे गदाधरेण —> "'भूतले न घट' इत्यादौ घटाद्यभावे भूतलाद्यन्वितसप्तम्यर्थाधेयत्वस्यैव तात्पर्यवशाद् घटादौ सप्तम्यन्तार्थभूतलादिवृत्तित्वाभावस्याऽन्वयबोधोऽप्यनुभवसिद्ध , अन्यथा तादृशवाक्यजन्यस्याऽप्रामाण्यज्ञानाना-स्कन्दितबोधस्य 'भूतले घट ' इत्यादिवाक्यजन्यघटादिविशेष्यकभूतलाद्याधेयत्वप्रकारकबोधविरोधिताया सर्वानुभवसिद्धाया अनुपपत्ते । नञ्पद विना यत्र धर्मिणि यस्य विशेषणतया भान यादृशसमभिव्याहाराद् भवति तादृशसमभिव्याहारस्थले नञ्सत्त्वे तत्र धर्मिणि तदभाव प्रतीयत इत्यनुभवापलापप्रसङ्गाच्च । एवञ्च नञर्थाभावेऽनुयोगितया घटाद्यन्वयबोधोपपत्तये निपातातिरिक्तत्वविशेषण-मावश्यकम्" <— (व्यु वा प्र थ का पृ ११९) इति ।

स्वोक्तमेव दृढयति - अत एवेति । 'घटो नास्ती'त्यत्राऽस्तित्वाऽभावप्रकारक-घटविशेष्यकशाब्दबोधोपगमादेवेति । सुप्तिङो = प्रातिपदिकविभक्ति-धातुविभक्त्यो , वचनैक्यनियमोऽपि = समानवचनकत्वव्युत्पत्तिरपि, अपिशब्देन घटवति भूतले जायमानाया 'घटो नास्ती'ति धियोऽप्रामाण्य समुच्चीयते, सङ्गच्छते = उपपद्यते ।

विपक्षबाधमुपदर्शयति- अन्यथेति । 'घटो नास्ती'त्यत्र 'अस्तित्वाश्रयो घटाभाव इति शाब्दबोधाभ्युपगमे इति । 'घटो

मानने न मानने से दर्शनशास्त्र मे पदार्थ की - तत्त्व की सिद्धि नही होती है, अन्यथा विनिगमनाविरह से उक्त प्रतीति को घटाभावविशेष्यक भी मानी जा सकती है" <— अनुचित है । इसका कारण यह है कि यदि 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रतीति को घटाभावविशेष्यक मानी जाय तब तो भूतल मे घट होने पर भी 'भूतले घटो नास्ति' यह प्रतीति प्रामाणिक हो जायेगी । देखिये, भूमितल मे घट होने पर आपके मतानुसार जो प्रतीति होती है उसका आकार है - 'भूतलवृत्तिमान् घट ' । अर्थात् बुद्धि भूतलनिरूपित-वृत्तिताप्रकारक-घटविशेष्यक है । तथा 'भूतले घटो नास्ति' इस बुद्धि का आपके मतानुसार - भूतलनिरूपितवृत्तिताप्रकारक घटाभावविशेष्यक - यह आकार है । उपर्युक्त दोनो ज्ञानाकार मे परस्पर विरोध नही है । विरोध तब होता, यदि दोनो मे विशेष्य एक होता और तद्वत्ता और तदभाववत्ता का अवगाहन होता । मगर 'भूतले घट ' इस बुद्धि मे विशेष्य है घट और 'भूतले घटो नास्ति' इस बुद्धि का विशेष्य है घटाभाव (पूर्वपक्षमतानुसार) तथा दोनो मे प्रकार भूतलनिरूपितवृत्तिता होने से ग्राह्याऽभावाऽवगाहिता नही है । अत उक्त दो ज्ञानो मे परस्पर विरोध नही होता । तामिलनाडु की खान मे ग्रेफाइट होता है और राजस्थान की खान मे ग्रेफाइट नही होता है - इन वाक्यो मे कोई भी विरोध का अवगाहन नही मानते है । परस्परविरुद्ध न होने की वजह पूर्व की भूतलनिरूपितवृत्तितानिष्ठप्रकारतानिरूपितघटनिष्ठविशेष्यतानिरूपक बुद्धि से उत्तरकालीन भूतलनिरूपितवृत्तितानिष्ठप्रकारतानिरूपितघटाभाववृत्तिविशेष्यताप्रकारक बुद्धि का बाध नही होगा । अतएव भूमितल मे घट विद्यमान होने पर भी 'भूतले घटो नास्ति' ऐसी घटाभावविशेष्यक प्रतीति भ्रमात्मक प्रतीति न हो कर प्रमात्मक प्रतीति (= प्रमीति) बन जायेगी, जो आप को या किसीको भी इष्ट नही है । इस आपत्ति का निराकरण करना हो तो एक ही उपाय है । वह यह कि 'भूतले घटो नास्ति' इस बुद्धि को घटाभावविशेष्यक न मान कर घटविशेष्यक मानी जाय । तब तो 'पटत्वेन घटो नास्ति' यहाँ भी घटाभाव मे अस्तित्व का विधान न हो कर घट मे नास्तित्व का विधान होगा, जिसके फलस्वरूप 'घट मे पटत्वावच्छेदेन नास्तित्व है' (= पटत्वेन घटोऽस्तित्वाभाववान्)- यह द्वितीय भग भी प्रामाणिक सिद्ध होगा । अत पटत्व को घटवृत्ति नास्तित्व का अवच्छेदक मानना ही युक्त है, न कि घटाभावनिरूपित प्रतियोगिता का ।

❋ परमत में 'घटो नास्ति' इस प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति ❋

अत एव सु इति । 'घटो नास्ति' यहाँ जायमान शाब्द बोध को अस्तित्वाभावप्रकारक एव घटविशेष्यक मानने से ही सुब्विभक्ति और तिङ्विभक्ति मे ऐक्य = समानवचनकत्व के नियम की उपपत्ति हो सकती है । नामोत्तर विभक्ति को सुब्विभक्ति कहते है जैसे 'घट ' मे घटपदोत्तर सु विभक्ति वगैरह । धातूत्तर विभक्ति को 'तिङ्विभक्ति' कहते है जसे कि 'अस्ति' मे अस् धातु के उत्तर मे 'तिप्' प्रत्यय ह वह तिङ् विभक्ति । 'रामो चलति' मे रामपदोत्तर सु विभक्ति एकवचन है एव चल् धातु उत्तर तिप् विभक्ति भी एकवचन है । दोनो मे समान वचन होने से वह प्रयोग सम्यक् कहा जाता है । 'रामो चलत ' यह प्रयोग अप्रामाणिक है, क्योकि सुब्विभक्ति एकवचनवाली है और तिङ्विभक्ति द्विवचनवाली है । समान वचन न होने की वजह वह प्रयोग अप्रामाणिक माना जाता हे । यदि 'घटो नास्ति' इस वाक्य से जन्य शाब्द बोध को घटाभावविशेष्यक माना जाय, तब तो 'घटो नास्ति' यह प्रयोग भी प्रामाणिक हो जायेगा, क्योकि भावनाविशेष्यभूत घटद्वयप्रति-

भावनाविशेष्यस्य घटद्वयादिप्रतियोगिकाभावस्याऽप्यैक्यात् ।

❦ जयलता ❦

नास्ती'त्यस्य वाक्यप्रयोगस्य अपि आपत्तेः = प्रामाण्यापत्ते. । अत्रैव हेतुमाह **भावनाविशेष्यस्य** = आख्यातार्थभावनाविशेष्यभूतस्य, **घटद्वयादिप्रतियोगिकाभावस्य** = द्वित्वावच्छिन्नघटप्रतियोगिकाभावस्य **अपि ऐक्यात्** = एकत्वसख्याविशिष्टत्वात् । अय भाव 'भावनान्वयिनी सख्या' इति नियमात् आख्यातार्थभावनाया यत्रान्वयो भवति तद्विशेष्यकसख्यान्वयबोध एवाख्यातेन जन्यते । तथा च 'वर्तमाने लट्' (अष्टा ३/२/१२३) इति **पाणिनिसूत्रात्** प्रकृते वर्तमानत्वरूपाया लडाख्यातार्थभावनाया यदि द्वित्वसख्याविशिष्टघटप्रतियोगिकात्यन्ताभावेऽन्वय स्वीक्रियेत तदा 'घटौ अस्ती'ति वाक्यप्रयोग प्रामाणिक एव स्यात्, आख्यातार्थैकत्वसख्याया घटद्वयप्रतियोगिकाभावेऽन्वयस्याऽबाधितत्वात्, अभावस्यैकत्वात् । **न च** आख्यातार्थैकत्वसख्यान्वयस्य घटद्वये बाधितत्वान्नाय प्रयोग प्रामाणिक इति **वक्तव्यम्**, भावनाया अविशेष्ये घटद्वयादौ सख्यान्वयबोधस्याऽव्युत्पन्नत्वात् । तत सुप्तिङो समानवचनकत्वनियमान्यथानुपपत्त्या अपि 'घटो नास्ती'त्यादौ 'वर्तमानकालसबन्धाश्रयत्वाभाववान् घट' इत्यादिरूप एवाऽन्वयबोधोऽभ्युपगन्तव्य परेणाऽकामेनाऽपि ।

वस्तुतस्तु 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छत ' इत्याद्यबाधितप्रयोगदर्शनात् क्रियापदस्य विशेष्यवाचकपदसमानवचनकत्वनियमो नास्त्येव । **न च** तत्र सुबेकवचनस्यैव द्वित्वादौ लक्षणाऽस्तिविति **वक्तव्यम्**, आनुशासनिकार्थातिरिक्तार्थे सुब्विभक्तेर्लक्षणाया अनङ्गीकारादिति पूर्वमेवोक्तत्वात्, अन्यथा 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छत' इत्यादाविव च्छन्दसि लक्षणयैव स्वादिना द्वित्वादिबोधनसम्भवाद् औ-जसादिरूपादेशिस्मृतिद्वारा द्वित्वादिबोधनिर्वाहाय छन्दसि 'सुपा सुलुक्' इत्यादिसूत्रेण औ-जसादिस्थाने स्वाद्यादेशस्य वैयर्थ्यात्, चैत्रादिपदोत्तरैकवचनस्य द्वित्वादिलाक्षणिकत्वोपगमे तदप्रकृत्यर्थमैत्रादिसाधारणद्वित्वादिबोधस्य 'प्रत्ययाना स्वप्रकृत्यर्थान्वित-स्वार्थबोधकत्वमि'ति व्युत्पत्तिविरोधेनाऽनुपपत्तेश्च । आख्यातार्थसख्यान्वयबोधे च समानविशेष्यकतदर्थभावनान्वयबुद्धिसामग्री अपेक्षिता, भावनाया बाधादिग्रहकाले तात्पर्यादिग्रहशून्यकाले चोक्तस्थले द्वित्वान्वयाऽबोधात् भावनाप्रकारकशाब्दबोधसामग्र्या. सख्यान्वयबुद्धित्वाच्छिन्न प्रति स्वातन्त्र्येण हेतुता । **अत एव** 'घट तिष्ठत' इत्यादय प्रयोगा कथ न प्रामाणिका स्यु ? इति **नारेकणीयम्**, आख्यातोपस्थापितद्वित्वादिकमुभयादिरूपान्वयितावच्छेदकावच्छिन्ने एवान्वेतीति व्युत्पत्ते । **अत एव** घटद्वयप्रतियोगिकाभावस्याख्यातार्थभावनाविशेष्यत्वोपगमे 'घटौ नास्ती'ति प्रयोगस्य प्रामाणिकत्वप्रसङ्गोऽपि परमते **वज्रलेपायितः** । **एवमेव** 'घटौ न स्त' इत्यादेर-प्रामाण्यप्रसङ्गोऽपि **दुर्निवार**, भावनाविशेष्याभावे आख्यातार्थद्वित्वसख्याया बाधात् । एकवचनान्तक्रियापदस्यैकत्वसख्याविशिष्टविशेष्यवाचकपदप्रयोगे साधुत्वात् । अत एव 'घटौ अस्ती'त्यादयो न प्रयोगा ।

योगिकाभाव भी एक = एकत्वसख्याविशिष्ट ही हे । आशय यह है कि लट्, लोट्, लिट्, लङ् आदि दश लकार पाणिनि ने बताये हे, जिन्हे आख्यात कहते हे । आख्यातार्थ भावना, सख्या आदि हे । आख्यातार्थ भावना का जहाँ अन्वय होता है वही आख्यातार्थ सख्या का अन्वय होता हे - यह शाब्दिको (वैयाकरणो) का नियम है । जैसे 'रामो गच्छति' मे आख्यातार्थ वर्तमानत्वरूप भावना का अन्वय राम मे होने की वजह आख्यातार्थ एकत्व सख्या का अन्वय भी राम मे ही होता है । मतलब कि आख्यातार्थ भावना के विशेष्य मे सख्या का अन्वय होता है । यदि भावना के विशेष्य मे आख्यातार्थ सख्या का अन्वय बाधित हो तब वह वाक्य अप्रमाण कहा जाता है और अबाधित हो तब वह प्रमाण - सत्य कहा जाता है । अब प्रकृत मे देखिये, 'घटो नास्ति' इस वाक्य से जन्य बोध मे घट के स्थान मे घटाभाव को भावना का विशेष्य माना जाय तब 'घटो नास्ति' यह वाक्य भी प्रामाणिक हो जायेगा, क्योंकि आख्यातार्थ भावना के विशेष्यभूत द्वित्वविशिष्टघटप्रतियोगिक अभाव मे आख्यातार्थ एकत्व सख्या अबाधित हैं । एक घट का, दो घट का या हजारो घट का जो अभाव है वह एक ही है, अलग-अलग नही । अत दो घट का अत्यन्ताभाव भी एक ही है, दो नही । अत 'घटौ नास्ति' यह प्रयोग प्रामाणिक हो जायेगा । मगर वह प्रामाणिक नही हे । 'घटौ न स्त.' यह प्रयोग ही प्रामाणिक है । मगर वह प्रामाणिक वचन आपके मतानुसार अप्रामाणिक हो जायेगा, क्योंकि भावनाविशेष्यभूत घटद्वयप्रतियोगिकाभाव एक होने से उस मे आख्यातार्थ द्वित्व सख्या का अन्वय बाधित है । यह तो उल्टी सृष्टि हो गई । अत. आपको यह मानना ही उचित है कि 'घटौ नास्ति' इत्यादि स्थल मे प्रतियोगिविशेष्यक शाब्दबोध का ही अगीकार किया जाय । तब 'घटौ नास्ति' यह प्रयोग प्रामाणिक बनने की आपत्ति नही होगी, क्योकि भावना का विशेष्य घटद्वय हे, जिनमे आख्यातार्थ एकत्व सख्या का अन्वय बाधित है । अत· 'पटत्वेन घटो नास्ति' इस स्थल मे भी पटत्वावच्छेदेन घट मे ही नास्तित्व का अन्वय करना उचित है, न कि घटाभाव मे अस्तित्व का अन्वय । अतएव वहाँ पटत्व मे घटाभावीयप्रतियोगिता की अवच्छेदकता नही है किन्तु घटवृत्तिनास्तित्व की

इयांस्तु विशेषो यत् अस्तित्वनास्तित्वोभयसमावेशाय घटेऽवच्छेदकभेदापेक्षा, केवलभूतलास्तित्वाभाववति तु नापातत सेति ।

❀ जयलता ❀

अत्रेदमवधेयम् - 'घटौ न स्तः'इत्यत्र न द्वित्वसामान्यं तत्प्रतियोगितावच्छेदकं, यत्किञ्चिद्द्वयवति 'घटौ न स्तः' इति प्रत्ययात् । नाऽपि द्वित्वविशेषस्तथा, तत्तद्द्वित्वानामननुगमात् तत्तत्कालीन-तत्तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्ध्या जन्यानां व्यङ्ग्यानां वा द्वित्वविशेषाणामानन्त्यात् । न च तत्तद्द्वित्वत्वेनाऽवच्छेदकत्वे नाननुगम इति वाच्यम्, तत्तद्द्वित्वत्वेनाऽनुपस्थितेः । नाऽपि घटत्वं तथा एकघटवत्यपि 'घटौ न स्तः' इति प्रतीतेः । किन्तु द्वित्वं पर्याप्तिसम्बन्धेन घटत्वञ्च द्वित्वाश्रयांशे विशेषणत्वेनाऽवच्छेदकम् । तादृशधर्मितावच्छेदकत्वञ्चाऽन्यूनवृत्तित्वेन बोध्यम्, तेन एकघटवत्यपि पटमादाय द्वित्ववद्घटसत्त्वेऽपि 'घटौ न स्तः' इतिप्रतीतिर्नानुपपन्ना । एवं 'घटपटौ न स्तः' इत्यत्र न घटत्वं पटत्वं वा केवलं प्रतियोगितावच्छेदकम्, एकैकघटपटवत्यपि तथाप्रत्ययात् । नापि घटपटवृत्तिद्वित्वं तथा, द्वित्वस्य घटपटवृत्तित्वानुपस्थितावपि तथाप्रत्ययोदयात् । नापि घटत्वं द्वित्वञ्च तथा, घटवत्यपि तथाप्रतीतेः । नापि पटत्वं द्वित्वञ्च तथा, पटवत्यपि तादृशबोधात् । किन्तु द्वित्वं तद्धर्मितावच्छेदकं घटत्वं पटत्वञ्च तथा । न च त्रयाणामवच्छेदकत्वे केवलघटादिमति तादृशप्रतीतिर्न स्यादित्याशङ्कनीयम्, प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वोपगमे क्षतिविरहात् । प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नञ्च घटपटोभयम् । एतेन तादृशसमुदायस्य विरुद्धघटत्वपटत्वरूपधर्मद्वयघटिततया तदवच्छिन्नाऽप्रसिद्धिरिति प्रत्याख्यातम्, घटत्वपटत्वयोर्विरुद्धत्वेऽपि द्वित्वधर्मिविशेषणतया तयोस्तत्र पर्याप्तिमत्त्वेन द्वित्वधर्मिणि घटत्वपटत्वावच्छिन्नत्वादित्येवमन्यत्राऽपि यथानुभवं स्वयमूहनीयम् ।

यत्तु 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्राऽपि 'भूतलास्तित्वाभाववान् घट' इत्येव बोधः स्यात् तथा च 'क्व ?' इत्यधिकरणाकाङ्क्षा केन पूर्यतामिति (दृष्टव्या २०७) इत्युक्तम् तन्मन्दम्, यथा 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्र शाखावच्छेदेन वृक्षे कपिसंयोगः प्रतीयते तथैव 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र भूतलावच्छेदेन घटेऽस्तित्वाभाव एव प्रतीयते । अत एव घटस्य प्रथमान्तत्वात्कथमधिकरणत्वेन भानं ? इत्याशङ्कापि परिहृता शाब्दबोधे विशेष्यतया भासमानस्य विशेषणाधिकरणताव्याप्यत्वात् । न च तथापि घटाधिकरणताकाङ्क्षा कथं पूर्णा ? इति वाच्यम्, वृक्षाधिकरणताकाङ्क्षायामपि प्रकृतपर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् ।

अथ 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्र वृक्षस्य नाऽऽधेयत्वेन निर्देशः, 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र तु घटस्यैवाधेयत्वेन निर्देश इति 'भूतलास्तित्वाभाववान् घटः क्व ?' इत्यधिकरणाकाङ्क्षाया उत्थिताया अनुपशमेनाऽत्र निराकाङ्क्षशाब्दबोधानुपपत्तिरिति चेत् ? अत्रोच्यते किमिदं स्वतन्त्रसाधनमाहोस्वित् प्रसङ्गापादनं ? इति विकल्पयामलं समुज्जृम्भते । नाद्यः 'घटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र 'घटत्वेन घटाभावोऽस्तित्वाश्रय' इति पूर्वमुक्त्वा साम्प्रतं 'भूतले घटो नास्ती'त्यत्र घटस्याऽऽधेयत्वोपगमेऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयकः, मन्मते साम्प्रतकालस्यव तादृशघटाधिकरणत्वसम्भवात्, 'इदानीं भूतले घटो नास्ती'तिप्रतीतेः सर्वानुभवसिद्धाया तादृशघटाधिकरणताकाङ्क्षोपशामकत्वात्, देशे कालस्येव काले देशस्याऽप्यवच्छेदकत्वस्याऽपलापानर्हत्वादिति दिक् ।

एतावता स्थितमेतत् - 'घटो नास्ती'त्यादौ प्रतियोगिविशेष्यक एव शाब्दबोधः । ततः 'पटत्वेन घटो नास्ती'त्यत्र पटत्वं न घटाभावीयप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वं किन्तु घटवृत्तिनास्तित्वस्यैवेति । अत एव परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेन घटादौ अस्तित्वनिषेधप्रतिपादकस्य द्वितीयभङ्गस्य प्रामाण्यमव्याहतमेवेति । एतेन प्रतियोग्यवृत्तिधर्मस्याऽनवच्छेदकत्वनियमे मानाभावोऽपि प्रदर्शित इत्यादिकं दिव्यदृशा निरीक्षणीयं स्वयमेव ।

अत्रैव विशेषमुपदर्शयति प्रकरणकृत् - इयांस्त्विति । घटेऽवच्छेदकभेदाऽपेक्षेति । अस्तित्वनास्तित्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन घटे तदुभयसमावेशस्य भिन्नावच्छेदेनैव सम्भवात् । केवलभूतलास्तित्वाभाववति भूतलावच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वविरहवति धर्मिणि तु न आपाततः = विचारमृते सा = अवच्छेदकभेदापेक्षा, अस्तित्व-नास्तित्वोभयसमावेशायेत्यत्रानुवर्तते । धर्मिता-

अवच्छेदकता है । इसलिए सप्तभंगी के द्वितीय भंग का हमने (स्याद्वादी ने) जो निर्वचन किया है, वही मुनासिब है- यह तर्क से भी उपदर्शित पद्धति के अनुसार सिद्ध होता है ।

❈ सावच्छिन्न नास्तित्व और निरवच्छिन्न अस्तित्व में विरोध नहीं है ❈

इयांस्तु इति । यहाँ प्रकरणकार श्रीमद्जी एक धर्मी मे अस्तित्व और नास्तित्व धर्म के समावेश मे अवच्छेदक भेद की अपेक्षा कब होती है ? इस विषय का निरूपण करते हैं । घट मे अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का समावेश करना

टवत्यपि भूतले क्वचिद्घटे भूतलास्तित्वाभावात् 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यं योग्य यादिति चेत् ? स्यादेव, घटत्वसामानाधिकरण्येन भूतलास्तित्वाऽभावाद्, घटत्वावच्छेदेन

❀ जयलता ❀

छेदकविधया सावच्छिन्नविरुद्धधर्मस्य भानादिति हेतुर्गम्यते । अय भाव. 'पर्वतो वह्निमान् वह्न्यभाववाश्च' इति ज्ञानमवच्छेदक-कृते नोदेतुमर्हति किन्तु 'नितम्बावच्छेदेन वह्न्यभाववान् पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञान भवितुमर्हति । न हि नितम्बा-च्छिन्नवह्न्यभाववत्ताज्ञान स्वप्रकारविशिष्टे वह्निमत्ताज्ञान विरुणद्धि, ग्राह्याभावाऽनवगाहित्वात् । एव प्रकृते 'घटोऽस्ति नास्ति ति ज्ञानमवच्छेदकभेदज्ञानमपेक्षते किन्तु 'भूतलावच्छिन्नास्तित्वाभाववान् घटोऽस्ती'ति ज्ञानमवच्छेदकभेदज्ञान नापेक्षते वच्छिन्ननास्तित्वज्ञानस्य समानधर्मिकाऽस्तित्वज्ञानाऽविरोधित्वात् । ततश्च धर्मितावच्छेदकीभूतसावच्छिन्ननास्तित्व-विधेयात्म-ऽस्तित्वोभयसमावेशोऽवच्छेदकभेदमृतेऽपि एकत्र सिद्ध्यति ।

ननु यथैकत्र सावच्छिन्ननास्तित्ववत्ताज्ञानमवच्छेदकभेद विनाऽपि निरवच्छिन्नास्तित्वधिय न विरुणद्धि तथैकत्र सावच्छिन्नाऽ-त्वबोधोऽपि निरवच्छिन्ननास्तित्वबुद्धि न विरुन्ध्यात्, तुल्यत्वात्, अन्यथा पक्षपातमात्रात् । एवञ्चोपगमे भूतले घटसत्त्वदशा-मपि 'भूतले घटो नास्ति' इति वाक्य प्रमाण स्यादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते - **घटवत्यपि भूतल इति** । 'भूतले घटवति यपी'ति विपरिणतान्वय कार्य । **क्वचिद्घटे** = कस्मिश्चिद् घटे, घटविशेषे इति यावत् । **भूतलास्तित्वाऽभावात्** = तलावच्छेदेन नास्तित्वसद्भावात्, **'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्य योग्य** = प्रमाण स्यात् । उपलक्षणात् भूतले घटाऽसत्त्व-ाया 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यमपि प्रमाण प्रसज्येत भूतलविशेषावच्छेदेन घटेऽस्तित्वसद्भावादिति स्वतो ज्ञेयम् ।

'इष्ट मिष्ट वैद्योपदिष्टञ्चे'ति न्यायेन समाधत्ते- **स्यादेवेति** । तादृश वाक्य प्रमाण **स्यादेवेति** । हेतुमाह - **घटत्वसामानाधि-रण्येन** = घटत्ववति कस्मिश्चिद् घटे धर्मिणि, **भूतलास्तित्वाऽभावात्** = निषेध्यभूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वस्य विरहात् । तलस्थघटे भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वसत्त्वेऽपि पर्वतीयादिघटे तद्विरहेण तदा 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्य प्रमाणमेव, अबाधिताऽ-च्छेदकसामानाधिकरण्याऽवगाहिप्रतीतिजननात् । अत्राऽनेकान्त दर्शयति- **घटत्वाऽवच्छेदेन तु** = यावति घटत्वविशिष्टे तु,

तव भिन्न भिन्न अवच्छेक धर्म का ज्ञान जरूरी है । यहाँ घट धर्मी हे और अस्तित्व-नास्तित्व धर्म है । अत. घटात्मक क धर्मी मे उपर्युक्त विरुद्ध धर्म के समावेश के लिए भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा ठीक उसी तरह सगत हो सकती है, से एक वृक्षरूप धर्मी मे कपिसयोग और कपिसयोगाभाव के समावेशार्थ शाखा और मूलस्वरूप भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा । ार केवल भूतलाऽस्तित्वरहित पदार्थ मे अस्तित्व-नास्तित्वोभय समावेश के लिए भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा नही होती है । ाशय यह है कि वृक्ष मे कपिसयोग और कपिसयोगाभाव का समावेश अवच्छेदक मे भिन्नता की अपेक्षा रखता है मगर लावच्छिन्नकपिसयोगाभावविशिष्ट वृक्ष मे कपिसयोग के समावेशार्थ मूल से भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा नही होती है, क्योकि वच्छिन्नधर्मविशेषप्रतियोगिक अभाव कभी भी निरवच्छिन्नतद्धर्मवृत्तिता का विरोधी नही होता है । इसी तरह घट मे अस्तित्व-ास्तित्वोभय धर्म के समावेश मे अवच्छेदकभेद की अपेक्षा होने पर भी भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वशून्य घट मे अस्तित्व धर्म का न्वय करने मे कोई विरोध उपस्थित नही होता है । अतएव अवच्छेदकभेद की अपेक्षा के विना भी भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावविशिष्ट ट मे अस्तित्व सामान्य का समावेश हो सकता है । घट भूतल मे भले ही न हो, मगर पर्वत-तालाव, वृक्ष आदि पर ो हो सकता है । अतः घट मे अस्तित्व और भूतलावच्छिन्ननास्तित्व उभय का समावेश भिन्न भिन्न अवच्छेदक के ज्ञान विना भी हो सकता है । न्याय की परिभाषा मे यह भी कहा जा सकता है कि - अवच्छेदकभेद की अपेक्षा तब उपस्थित ोती है, जब दो या अनेक धर्म का एक धर्मी मे समावेश करने पर विरोध उपस्थित हो । प्रस्तुत मे भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाभावप्रकारक-टविशेष्यक ज्ञान सिर्फ भूतलाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वप्रकारक-घटविशेष्यक ज्ञान का विरोधी हो सकता है, न कि अस्तित्वप्रकारक-टविशेष्यक ज्ञान का, क्योकि उन दोनो के बीच समान आकार नही है । ग्राह्याऽभावाऽवगाही होने पर ही ज्ञान मे विरोध ो सकता हे । भूतलाऽवच्छिन्नास्तित्वाभावविशिष्ट घट मे निरवच्छिन्न अस्तित्व का समावेश करने मे विरोध ही अनुपस्थित । अतएव सामान्यतः घट मे भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाभाव और अस्तित्व, इन दोनो धर्म का समावेश भिन्न भिन्न अवच्छेदक ो अपेक्षा के विना भी हो सकता है ।

एक वाक्य का तात्पर्यभेद से प्रामाण्य-अप्रामाण्य - स्याद्वादी

घटवत्यपि इति । यहाँ यह शका हो कि —> 'जैसे निरवच्छिन्नाऽस्तित्व का सावच्छिन्न नास्तित्व विरोधी नही है वैसे िरवच्छिन्ननास्तित्व का सावच्छिन्न अस्तित्व भी विरोधी नही हो सकता, क्योकि दोनो के ज्ञान मे ग्राह्याऽभावाऽनवगाहित्व

तु तदभावान्नैवमिति तात्पर्यभेदेन तस्य योग्याऽयोग्यत्वे ।

अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनैव नञर्थाऽभावान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादऽयोग्यमेव तदिति पुनरत्त्ये ।

❀ जयलता ❀

तदभावात् = भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाभावाऽभावात्, नेव = न प्रामाण्य, इति = अस्माद्धेतो , 'इतिशब्दः स्मृतो हेतौ प्रकारादिसमाप्तिषु' (हला ५/८८७) इति हलायुधकोशवचनात्, तात्पर्यभेदेन तस्य वाक्यस्य योग्याऽयोग्यत्वे । अवच्छेदकसामानाधिकरण्यतात्पर्ये 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यस्य प्रामाण्य, अवच्छेदकावच्छेदेन बुभोधयिषाया त्वप्रामाण्यमित्यर्थ । यथा वाय्वादौ रूपविरहेऽपि 'द्रव्य रूपवदि'ति वाक्यस्य तात्पर्यभेदेन प्रामाण्याऽप्रामाण्ये तथा भूतले घटसत्त्वेऽपि 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यस्य तात्पर्यभेदेन तत्त्वे । अत एव भूतले घटाऽसत्त्वदशाया 'भूतले घटोऽस्ती'ति वाक्य योग्य स्यादित्युक्तावपि न क्षति', अवच्छेदकसमानाधिकरणाऽवच्छेदकावच्छिन्नप्रतीतिजननतात्पर्यप्रयुक्ततद्योग्याऽयोग्यत्वयोरनिराकार्यत्वात् ।

वस्तुतस्तु सर्वत्रैवाऽस्तित्वादे सावच्छिन्नत्वमेव भेदनयाऽवतारे । अत एव 'आपातत' इत्युक्तम्, निरवच्छिन्नसत्त्वादे क्वचिदपि कदापि अप्रतीते । एतेन पराभिमता निरवच्छिन्ना महासत्तापि प्रत्युक्ता ।

स्वमतमुक्त्वा साम्प्रतमत्राऽन्येषा मतमाविष्करोति - अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनैव = धर्मितावच्छेदकावच्छेदेनैव, एवकारेणाऽनुयोगितावच्छेदकसामानाधिकरण्यव्यवच्छेद कृत । नञर्थाऽभावान्वयस्य = नञर्थाऽत्यन्ताभावसम्बन्धस्य, व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्, प्रकृतेऽभावस्येदमन्योन्याऽभावपरतया न सम्भवति, 'घटो न रक्तघट ' इत्यादौ नञर्थभेदान्वयस्य घटत्वावच्छेदेन बाधात् । नाऽपि तत् ससर्गाभावपरतया सम्भवति, प्रागभावाऽवगाहिप्रतीतौ बाधात् ध्वसे चाऽसम्भवात् । अतोऽत्यन्ताभावपरतया तद्व्याख्यातम् । तादृशव्युत्पत्तिमहिम्ना अयोग्यमेव = अप्रमाणमेव भूतले घटसत्त्वदशाया तत् = 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्यम्, नञर्थात्यन्ताभावाऽनुयोगिताऽच्छेदकीभूतघटत्वावच्छेदेन भूतलास्तित्वाऽभावस्य बाधात्, भूतलस्थघटे भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाभाव-

= समानप्रकारकाऽभावाऽनुल्लेखित्व समान है । मगर ऐसा मानने पर तो भूतल मे घट होने पर भी 'भूतले घटो नास्ति' = 'भूमितल मे घट नही है' यह वाक्य योग्य = प्रामाणिक हो जायेगा । इसका कारण यह है कि विवक्षित घट मे भूतलास्तित्व होने पर भी अन्य पर्वतादिवर्ती घट मे तो भूतलवृत्तिता न होने से भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव का अन्वय हो सकता है, दोनो मे विरोध नही है' <— तो यह नामुनासिब है, क्योकि यह तो हमे इष्ट है । घटत्वसामानाधिकरण्य से भूतलावच्छिन्नास्तित्व का सद्भाव होने से भूतल घटवाला होने पर भी तादृश वाक्य योग्य हो सकता है । भूमितल मे एक दो या दस-बारह घट हो सकते है मगर 'भूतल घटवाला है' इसका मतलब यह नही है कि सारे जहाँ के घट इस भूमितल पर आ गये है । भूतल से भिन्न पर्वत आदि मे भी घट हो सकते है, जिससे पर्वतादि मे अवच्छिन्न अस्तित्व (= कालसबन्धाश्रयत्व) होता है, न कि भूतलावच्छिन्नास्तित्व । तादृश घट मे भूतलास्तित्व का अभाव होने से 'भूतले घटो नास्ति' यह वाक्य योग्य है । भले ही भूतल मे दो-चार घट पड़े हो, मगर घटत्व के आश्रय यत् किंचित् घट मे तो भूतलास्तित्वाऽभाव है ही । हाँ, यदि भूमितल मे घट होने पर 'घटत्वावच्छेदेन भूतलास्तित्व नही है' अर्थात् 'घटमात्र मे = सभी घट मे भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्व नही है' इस तात्पर्य से वक्ता 'भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य का प्रयोग करे तब तो वह वाक्य अयोग्य = अप्रामाणिक ही होगा, क्योकि भूतलस्थ घट मे भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव बाधित है । इस तरह भूतल मे घट होने पर 'भूतले घटो नास्ति' यह वाक्य घटत्वसामानाधिकरण्य से (यत् किञ्चित् घट मे) भूतलास्तित्वाभावप्रतिपादन के तात्पर्य से योग्य है और घटत्वावच्छेदेन (सब घट मे) भूतलास्तित्वाऽभावप्रतिपादन के तात्पर्य मे अयोग्य है - यह सिद्ध होता है ।

◙ नञर्थान्वय अनुयोगितावच्छेदकावच्छिन्न में होता है - अन्यमत ◙

अनुयो इति । व्याख्याकार यहाँ अन्य मनीषिओ के मत का प्रतिपादन करते है । उन मनीषिओ का कहना है कि - 'नञ् के अर्थ अत्यताभाव का अन्वय अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन होता है यानी धर्मितावच्छेदकावच्छिन्न सकल मे होता है, यह एक व्युत्पत्ति - शाब्दबोधस्थलीय नियम सिद्ध - प्रमाणप्रसिद्ध है । जैसे 'शख मे श्याम वर्ण नही होता है' - 'शङ्खे श्यामवर्णो नास्ति' यहाँ अनुयोगी = धर्मी है श्याम रूप, अनुयोगितावच्छेदक है श्यामरूपत्व । अत उक्त नियम के अनुसार यहाँ शङ्खाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव का श्यामरूपत्वाऽवच्छेदेन = सकल श्याम रूप मे अन्वय होगा । वह अबाधित है, क्योकि सभी शख श्वेतरूपविशिष्ट होने से श्याम रूप मे शखाऽस्तित्वाऽभाव रहता है । अतएव वह वाक्य योग्य = प्रमाण है । मगर अब भूमितल के उपर घट रहता है, तब 'भूतले घटो नास्ति' यह वाक्य तो अयोग्य ही है, क्योकि यहाँ अनुयोगी

एतन्मते कपिसयोगवति वृक्षे 'वृक्षे कपिसयोगो नास्ती'ति न प्रमाण, कपिसयोगत्वा-वच्छेदेन वृक्षास्तित्वाऽभावाऽभावात् । 'मूले वृक्षे कपिसयोगो नास्ती'तितु प्रमाणमेव, कपि-सयोगत्वावच्छेदेनैव मूलावच्छिन्नवृक्षावच्छिन्नकालसम्बन्धाऽभावात् । 'घट. स्यादस्तित्ववान् स्यादस्तित्वाऽभाववानि'ति बोधान्तरादप्यस्तित्व-नास्तित्वयो समावेशसिद्धिरिति दिक् ।

❀ जयलता ❀

विरहात् । एतेनैकत्र सावच्छिन्नास्तित्वधर्मज्ञानस्य निरवच्छिन्ननास्तित्वधीविरोधित्वमावेदितम् ।

प्रकरणकार आह **एतन्मते** = प्रकृतेऽन्यमते, **कपिसयोगवति वृक्षे** सति **'वृक्षे कपिसयोगो नास्ती'ति** वाक्य **न प्रमाण** = प्रमाजनक, हेतुमाह-**कपिसयोगत्वावच्छेदेन** = नञर्थाभावधर्मितावच्छेदकीभूतकपिसयोगत्वावच्छिन्ने, **वृक्षास्तित्वाभावाभावात्** = वृक्षावच्छिन्नसाम्प्रतकाल-ससर्गाश्रयत्वाऽभावविरहात्, पर्वतादिवृत्तिकपिसयोगे वृक्षावच्छिन्नास्तित्वाऽभावसत्त्वेऽपि वृक्षवृत्तिकपि-सयोगे तद्विरहात् । तर्हि किम्भूत तत्प्रमाणमित्याशङ्कायामाह प्रकरणकृत् - **'मूले वृक्षे कपिसयोगो नास्ती'ति तु प्रमाण-मेवे'**ति । शाखावच्छेदेनैव वृक्षे कपिसयोगसत्त्वदशायामिति गम्यते । तत्प्रमाणत्वे हेतुमाह-**कपिसयोगत्वावच्छेदेनैवे**ति । एवका-रोऽयोगव्यवच्छेदार्थ । **मूलावच्छिन्नवृक्षावच्छिन्नकालसम्बन्धाभावात्** = मूलावच्छिन्नो यो वृक्ष = वृक्षविशेष. तदवच्छिन्नो य काल वर्तमानकालः तत्ससर्गस्याऽऽश्रयत्वविरहसत्त्वात् । विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेनाऽन्वयाऽबाधात्तादृश वाक्य योग्यमिति भाव । एव च पुरोवर्तिनि भूतले घटसत्त्वदशाया 'भूतले घटो नास्ती'ति वाक्य न प्रमाणम्, 'अन्यत्र भूतले घटो नास्ती'ति प्रमाणमिति भावनीयम् ।

नन्वेव नञर्थात्यन्ताभावस्य धर्मितावच्छेदकावच्छेदेनैवाऽन्वयाङ्गीकर्तृमतेऽस्तित्वनास्तित्वोभयधर्मनिवेश कथ युक्त स्यात् ? अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनाऽनुयोगितावच्छेदकसामानाधिकरण्येन वाऽस्तित्वबोधेऽनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन नास्तित्वाऽन्वयबोध-स्याऽसम्भवादित्याशङ्कायामाह- **'घटः स्यादस्तित्ववान् स्यादस्तित्वाभाववानि'ति बोधान्तरादपी**ति । 'घट. स्वद्रव्यादि-चतुष्टयावच्छेदेनाऽस्तित्वान् परद्रव्यादिचतुष्टयावच्छेदेनाऽस्तित्वाऽभाववानि'त्याकारकज्ञानविशेषादपीति । **अस्तित्व-नास्तित्वयोः** परस्परविरुद्धधर्मयो एकत्र धर्मिणि **समावेशसिद्धिः** । स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नाऽस्तित्ववति घटेऽन्वयितावच्छेदकीभूतघटत्वाऽ-वच्छेदेन नञर्थपरद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावान्वयस्याऽबाधात् । अपिशब्देन 'स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छेदेन घटोऽस्ती'-त्यस्य 'परद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छेदेन घटो नास्ती'त्यस्याऽपि ग्रहणम् । **एतेन** 'एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वाऽसत्त्वयोर्विरुद्धयो-धर्मयोरसम्भवात् सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्याऽसम्भवादसत्त्वे चैव सत्त्वस्याऽसम्भवादसङ्गतमिदमार्हत मत' (ब्र सू २/२/३३ शा भा) इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यवचन प्रत्याख्यातम् घटत्वाद्यवच्छेदेन घटादावेकस्मिन् धर्मिणि स्वद्रव्यादिलक्षण-

---

है घट और अनुयोगितावच्छेदक है घटत्व, मगर घटत्वाऽवच्छेदेन भूतलास्तित्वाऽभाव रहता नही है । जहॉ जहॉ घटत्व रहता है, वहॉ वहॉ भूतलावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव नही हे । घटत्व तो भूतलस्थ घट मे भी रहता हे, मगर भूतलास्तित्वाभाव वहॉ रहता नही है । प्रस्तुत मे नञ् (न पद) का समभिव्याहार होने के सबब अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन नञर्थ अभाव का अन्वय साकाक्ष हे । मगर उपर्युक्त प्रकार से वह बाधित है । अतएव यह प्रयोग अयोग्य ही है ।

एतन्मते इति । इस तरह प्रकरणकार अन्य मत का उल्लेख करके उसके मतानुसार अपना वक्तव्य प्रकट करते है कि - प्रस्तुत विद्वानो के मतानुसार जब पेड़ की शाखा मे बदर का सयोग होता है तब 'वृक्षे कपिसयोगो नास्ति' यह वचन अयोग्य है, क्योकि अनुयोगितावच्छेदकीभूत कपिसयोगत्वाऽवच्छेदेन वृक्षावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव बाधित है । जहॉ जहॉ कपिसयोगत्व रहता हे, वहॉ वहॉ वृक्षाऽवच्छिन्नाऽस्तित्व नही रहता हे । कपिसयोगत्व तो वृक्षीयशाखास्थ कपिसयोग मे भी रहता है, मगर उसमे वृक्षाऽवच्छिन्नास्तित्वाऽभाव नही रहता है, क्योकि वह अनुयोगी वृक्षवृत्ति होने की वजह वृक्षाऽवच्छिन्नवर्तमानकालससर्गा-श्रयत्वविशिष्ट है । मगर 'मूले वृक्षे कपिसयोगो नास्ति' यह वाक्य तो योग्य ही हे । वह इस तरह उक्त वाक्य मे प्रथमाविभक्त्यन्त पद हे 'कपिसयोगः' । अतः बदरसयोग अनुयोगी = धर्मी है, क्योकि प्रथमाविभक्तिविशिष्ट पद का अर्थ वाक्यजन्य शाब्दबोध मे अनुयोगी = धर्मी = विशेष्य होता है । अत अनुयोगितावच्छेदक होगा कपिसयोगत्व । नञ् का सन्निधान होने की वजह प्रकृत मे अनुयोगितावच्छेदकाऽवच्छेदेन ही अभाव का अन्वय हो सकता हे । अतः कपिसयोगत्वाऽवच्छेदेन ही मूलावच्छिन्न वृक्ष से अवच्छिन्न वर्तमान काल के सम्बन्ध के आश्रयत्वरूप मूलावच्छिन्नवृक्षास्तित्व के अभाव का अन्वय हो सकेगा और वह अबाधित ही है । अतएव वह वाक्य प्रमाण है । यहॉ यह प्रश्न उपस्थित हो कि –> 'अनुयोगिताअवच्छेदकावच्छेदेन ही अभाव का अन्वय अङ्गीकार किया जाय तो एक धर्मी मे अस्तित्व नास्तित्वोभय धर्म का समावेश कैसे हो सकेगा ? क्योकि अस्तित्व नास्तित्व का विरोध करेगा' <– तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि 'घट. स्यादस्तित्ववान् स्यादस्तित्वाऽभाववान्'

स्यादेतत् –> जीवादिद्रव्याणां स्वद्रव्यान्तराऽभावात्स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कथमस्तित्व सम्भवतु ? 'तेषामपि स्वाश्रयप्रदेशाना जागरुकत्वान्न स्वद्रव्यादिचतुष्ट्यहानिरिति चेत् ? तथापि परमाणुकालयो का गति· ? परमाणो स्वद्रव्यान्तराऽभावात् कालस्य च स्वकालान्त-

❀ जयलता ❀

हिरण्यमयत्व-नागरत्व-वासन्तिकत्व-घटत्वाद्यवच्छिन्नाऽस्तित्वस्य परद्रव्यादिरूपजलमयत्व-ग्राम्यत्व-ग्रैष्मिकत्व-पटत्वाद्यवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावस्य च सर्वैरेव प्रतीयमानत्वेनाऽपह्नोतुमनर्हत्वात् । एतेन जातेरव्याप्यवृत्तित्वविरहात् स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न सत्त्व परद्रव्याद्यवच्छिन्नश्चाऽसत्त्व कथ सङ्गतिमङ्गेत ? इति परास्तम्, 'मार्त्तत्वादिना घट सन् न तु तन्तुजनितत्वादिना', 'इदानी पट सन् न तु प्राक्' इत्याद्यनुभववलेन सत्त्वस्य सापेक्षत्वात् । वुद्धिविशेषकृताऽपेक्षयाऽपि आदेशाऽपराऽभिधानया सापेक्षमेव तत् सर्व प्रतीयते, यथा 'अयमेक अयश्चैक' इति कल्पनाकृताऽपेक्षया द्वित्वादीति । एवञ्चाऽसत्त्वस्याऽपि सापेक्षत्वे वाधकाऽभावादित्यादि सूचनार्थ 'दिगि'त्युक्तम् ।

ननु जीवादिद्रव्याणा षण्णामपि कि स्वद्रव्य ? यत सत्त्व व्यवतिष्ठेत, द्रव्यान्तरस्याऽसम्भवादिति स्वद्रव्यादिचतुष्टय-पर-द्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छेदेनाऽस्तित्वविधिनिषेधाविति नाऽभ्युपगन्तुमर्हतीत्याशयेन कश्चिच्छङ्कते-**स्यादेतदिति** । **स्वद्रव्यादि-चतुष्टयेन कथमस्तित्व सम्भवतु** ? स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नाऽस्तित्व नैव सम्भवेदित्याक्षेपाशय । मध्यस्थ कश्चित्समाधत्ते-**तेषामपीति** । जीवादिद्रव्याणा षण्णामपीति । **स्वाश्रयप्रदेशाना** = जीवादिद्रव्याश्रयभूतनिरवयवाऽवयवाना, **जागरूकत्वात्** = विद्यमानत्वात्, **न स्वद्रव्यादिचतुष्टयहानिः**, जीवत्वाद्यवच्छेदेन स्वाश्रयप्रदेशलक्षणद्रव्य-शरीराद्यवच्छिन्नाऽकाशप्रदेशात्मकक्षेत्र-स्वकाल-जीवत्वादिरूपस्वभावावच्छिन्नाऽस्तित्वस्याऽवाधात् । मौलशङ्काकारोऽन्यत्राऽनुपपत्तिमुपदर्शयति- **तथापीति** । जीव-धर्माऽधर्माकाश-पुद्गलस्कन्धद्रव्येषु स्वाश्रयप्रदेशाद्यवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽन्वयाऽवाधात् स्वद्रव्यादिचतुष्केन तत्राऽस्तित्वसम्भवेऽपि, **परमाणुकालयोः का गतिः** ? पुद्गलस्कन्धेषु तद्देशस्य तद्देशे च प्रदेशानामस्तित्वाऽवच्छेदकत्वसम्भवात् 'पुद्गल' विहाय परमाणूपादानम् । तयो स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽसम्भवे पूर्वपक्षी हेतुमाह - **परमाणोः** निरशत्वेन **स्वद्रव्यान्तराऽभावात्** स्ववृत्त्य-स्तित्वाऽवच्छेदकस्वाश्रयद्रव्यान्तराभावात्, **कालस्य च** समयरूपत्वेन **स्वकालान्तराऽभावात्** न तत्र स्वद्रव्यादिचतुष्टयेनाऽस्तित्व सम्भवति । रूपत्वाऽसिद्धौ तदवच्छिन्नभेदाऽप्रसिद्ध्या परत्वस्याऽप्यप्रसिद्धि । ततश्च सर्वत्र स्वद्रव्यादिचतुष्क-परद्रव्यादि-चतुष्टयाऽवच्छेदेनाऽस्तित्वविधिनिषेधकृतान्तभङ्गेन सप्तभङ्गी भज्यत इति शङ्काग्रन्थाशय. ।

शुद्ध द्रव्य स्व सत्त्वाऽवच्छेदकम्, अशुद्धश्च पर असत्त्वाऽवच्छेदकम् । अशुद्धशुद्धत्वे च भेदाऽभेदप्रधानव्यवहार-निश्चयनयसाक्षिकावखण्डोपाधिविशेषौ, प्रतिभासविशेषादपि तत्सिद्धे , तत्तेदन्तादौ दर्शनादिति नाऽनुपपत्तिरित्याद्याशयेन प्रकरणकार

इस अतिरिक्त वोध से भी अस्तित्व-नास्तित्व का एक धर्मी मे समावेश हो सकता है । आशय यह है कि घट स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽ-वच्छेदेन सत् और परद्रव्यादिचतुष्कावच्छेदेन असत् होता है । अत. घटत्वाऽवच्छेदेन स्वद्रव्यादिचतुष्कावच्छिन्नाऽस्तित्व एव परद्रव्यादि-चतुष्कावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव का घट मे समावेश निर्विवाद सिद्ध हो सकता है । अत धर्मितावच्छेदकावच्छेदेन ही अभावान्वयवोध को मान्यता देने वाले विद्वान मनीषिओ के मतानुसार भी एक धर्मी मे अस्तित्व और नास्तित्व का समावेश मान्य करने मे कोई वाध नही है । अतएव सप्तभगी भी प्रामाणिक सिद्ध होती है ।

पूर्वपक्ष :- स्यादं इति । जनाव ! आपने स्वद्रव्यादिचतुष्टय अवच्छेदेन अस्तित्व और परद्रव्यादिचतुष्कावच्छिन्न नास्तित्व का प्रतिपादन किया है वह ठीक नही है, क्योकि जीवादि छ द्रव्यो मे अतिरिक्त स्वद्रव्य नही है, जो अस्तित्व का अवच्छेदक वन सके । जैसे पट का स्वद्रव्य ततु है वैसे जीवादि द्रव्य मे अतिरिक्त द्रव्य नही है । जव कि अस्तित्व का अवच्छेदक स्वद्रव्यातर ही नही हे, तव स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न अस्तित्व जीवादि द्रव्य मे कैसे मुमकिन होगा ? घटक अप्रसिद्ध होने पर उससे घटित भी अप्रसिद्ध हो जाता है । यहाँ यह शका करना कि –> "जीव लोकाकाशप्रदेशप्रमाण प्रदेशवाला हे, जो जीव के आश्रय है । जेसे पट का आश्रय तन्तु होने से ततु पटवृत्ति अस्तित्व का अवच्छेदक होता हे ठीक वेसे जीवद्रव्य का आश्रय जीवप्रदेश होने से वे जीवनिष्ट अस्तित्व के अवच्छेदक वन सकते हे । इसी तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि मे भी समझा जा सकता है । इस तरह जीवादि द्रव्यवृत्ति अस्तित्व के अवच्छेदकस्वरूप जीवादिआश्रय प्रदेश का सद्भाव होने मे स्वद्रव्यादिचतुष्टय से अवच्छिन्न अस्तित्व की जीवादि द्रव्य मे हानि नही होती है" <– ठीक नही है, क्योकि जीव, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य सप्रदेश (प्रदेशवाले) होने की वजह स्वाश्रयप्रदेशादि से अवच्छिन्न अस्तित्ववाले सभव होने पर भी परमाणु और काल मे स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न अस्तित्व नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि परमाणु द्रव्य निरश है । अतएव उसका अतिरिक्त स्वाश्रय द्रव्य नही है, जो स्वाश्रित अस्तित्व का अवच्छेदक वन सके । इसी तरह काल द्रव्य

राऽभावादिति <– । मैवम् तत्र शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाऽस्तित्वावच्छेदकत्वात् तन्निर्वर्तकत्वाच्च । 'अन्यत्राऽपि' स्वेनैव तथा भूयता' इति चेत् ? न, व्यवहाराऽतिक्रमे निरङ्कुशत्वापातात् ।

जयलता

समाधत्ते-मैवमिति । **तत्र** = परमाण्वादिस्थले **तन्निर्वर्तकत्वाच्च** = स्वाऽस्तित्वजनकत्वाच्चेति विपरिणामेनाऽन्वयः कार्य. । शुद्ध स्वद्रव्य स्वावच्छिन्नकालससर्गाश्रयत्वस्याऽवच्छेदक जनकश्चेत्यर्थ । न च तथापि शुद्धद्रव्यत्वावच्छिन्नधर्मिताकस्थले का गति. ? तद्व्यतिरेकेणाऽन्यद्रव्याद्यभावादिति **शङ्कनीयम्**, तत्राऽपि स्वद्रव्यपरद्रव्यशब्दाभ्या व्यापकत्वाऽव्यापकत्वोपलक्षणात् तदवच्छिन्नाऽस्तित्वनास्तित्वादिघटिताया. सप्तभङ्ग्या अनुपपत्तिविरहात् ।

अथ परमाण्वादौ शुद्ध स्वद्रव्यमपेक्ष्य सत्त्वस्य तत्प्रतिपक्षसद्भावमपेक्ष्याऽसत्त्वस्य च प्रतिष्ठोपगमे अन्यत्राऽपि तथाप्रसङ्गात् अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते- **अन्यत्राऽपीति** । घटादिस्थलेऽपि **स्वेनैव** द्रव्येण, **तथा** = स्वास्तित्वोपपादन **भूयता**, एवकारेण द्रव्यान्तरादिव्यवच्छेद कृत । स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नेति । **व्यवहारातिक्रमे** = प्रसिद्धव्यवहारोल्लङ्घने, व्यवहारश्चोपलक्षण प्रतीतेरपि, तस्य तन्मूलत्वात् । अय भाव प्रकृते वस्तुप्रतीतिव्यवहारावेवोपक्रान्तौ प्ररूपयितु । वस्तुनो हि यथैवाऽबाधिता प्रतीतिस्तथैव तद्व्यवहार. तत्स्वरूपश्च, अन्यथा नानानिरङ्कुशविप्रतिपत्तीना निवारयितुमशक्यत्वात् । तत परमाण्वादौ शुद्धद्रव्यस्यैव स्वाऽस्तित्वाऽवच्छेदकत्वेऽपि प्रतीतिव्यवहारबलेनाऽन्यत्र न द्रव्यान्तरादेरस्तित्वाऽवच्छेदकत्वबाध । **एतेन** स्वरूपादौ स्वरूपाद्यन्तराऽभावात्कथ सत्त्व, तद्भावे वा कथ नाऽनवस्था ? इति पर्यनुयोग. **परास्तः**, अनर्पितदृष्ट्या अनवच्छिन्नेऽप्यर्पितदृष्ट्याऽवच्छिन्नत्वप्रतीते सार्वजनीनत्वात्, केनचिन्नयेन स्वरूपादे स्वरूपतोऽवच्छेदकत्व निर्णीयैवाऽस्तित्वादिप्रवृत्तेरनवस्थाया अभावात्, अन्यथा शाखावच्छेदेन वृक्षे कपिसयोगप्रत्ययोऽपि दुरुपपादः स्यात्, सम्पूर्णा परमाण्वाद्यवच्छिन्ना वा शाखाऽनवच्छेदिकेति ग्रहे शाखात्वाऽवच्छेदेनाऽवच्छेदकत्वग्रहाऽसम्भवात्, प्रतिनियताऽवयवाऽवच्छिन्नशाखात्वेन तदवच्छेदकत्वस्य च दुर्गमत्वादिति दिक् ।

ननु लाघवेन स्वरूपसत्त्वस्यैव पररूपाऽसत्त्वत्वम्, स्वरूपाऽस्तित्वसमव्यापकत्वात्पररूपनास्तित्वस्य । स्वपररूपादिसत्त्वाऽसत्त्वयोर्भेदाभावात् अतिरिक्त- प्रथमद्वितीयभङ्गौ न युक्तौ, तदन्यतरेण गतार्थत्वात् । तदघटने च मिलितप्रथमद्वितीयभङ्ग-

भी निरश समयस्वरूप होने से उसका कोई अन्य स्वकाल स्वाश्रय नही है, जो कालाश्रित अस्तित्व का अवच्छेदक हो सके । इस तरह स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न अस्तित्व परमाणु और काल मे असभव हे, क्योकि अस्तित्वाऽवच्छेदकसमूह के घटक अप्रसिद्ध हे । अत. सर्वत्र स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्नास्तित्व का आपने जो विधान किया था, वह असगत है ।

उत्तरपक्ष :- मैव इति । हजूर ! आपकी यह बात ठीक नही है । इसका कारण यह है कि परमाणुवृत्ति अस्तित्व का अवच्छेदक शुद्ध परमाणु ही हो सकता हे । एव निरश कालनिष्ठ अस्तित्व (सत्त्व) का अवच्छेदक शुद्ध कालस्वरूप स्वद्रव्य होता है । तथा परमाणु एव काल मे स्ववृत्ति अस्तित्व की जनकता है । इस तरह शुद्ध स्वद्रव्य मे अस्तित्वावच्छेदकता मुमकिन होने से 'सर्वत्र अस्तित्व का अवच्छेदक स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है' यह वचन सगत ही हे । यहॉ यह शका करना कि –> "यदि शुद्ध परमाणु और कालात्मक स्वद्रव्य मे स्ववृत्ति अस्तित्व की अवच्छेदकता हो सकती है, तव तो सर्वत्र शुद्ध स्वद्रव्य ही स्ववृत्ति अस्तित्व का अवच्छेदक हो जायेगा । तव तो पटवृत्ति अस्तित्व का अवच्छेदक भी पट ही वनेगा, न कि ततु" <– ठीक नही है । इसका कारण यह हे कि जैसा व्यवहार प्रसिद्ध हो उसके अनुसार कल्पना की जाती है । व्यवहार का अतिक्रमण कर के कोई कल्पना की जाय तव भारी गड़वड़-अव्यवस्था हो जायेगी । वस्तु का जैसा स्वरूप हे, वैसा सामान्यत. सभी को ज्ञान उत्पन्न होता है । जैसा ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अनुसार व्यवहार होता है । अतः प्रसिद्ध व्यवहार का अपलाप कर के कोई कल्पना नही की जा सकती । पटवृत्ति अस्तित्व के अवच्छेदकरूप से पटाश्रय ततुस्वरूप स्वद्रव्य प्रसिद्ध है । पटत्वावच्छेदेन अस्तित्व हे, वह पटावच्छिन्न नही हे, किन्तु तन्तुअवच्छिन्न हे - यह व्यवहार होता है । अत. वहॉ अपने को ही अपने मे रहे हुए अस्तित्वादि धर्म का अवच्छेदक नही माना जा सकता । परमाणु और समयलक्षण काल अतीन्द्रिय है । अतएव उसके अस्तित्व का अवच्छेदक कौन है ? यह आम जनता से अज्ञात है । अतएव सामान्य तौर पर परमाणु ओर काल मे रहे हुए अस्तित्व के अवच्छेदक का व्यवहार भी नही होता है । इसलिए यहाँ शुद्ध स्वद्रव्य-स्वकाल मे अस्तित्व के अवच्छेदकत्व की कल्पना करने मे किसी प्रसिद्ध व्यवहार का अतिक्रमण नही हे । अतएव यह कल्पना मान्य की जा सकती है । मगर घट, पट आदि के अस्तित्व के अवच्छेदकविधया घट, पट आदि की कल्पना नही हो सकती, क्योकि वैसा करने पर प्रसिद्ध व्यवहार का अतिक्रमण = उल्लघन = अपलाप हो जाता है ।

'स्वरूपाऽस्तित्वेनैव पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहात्कथमनयोर्भेद' इति चेत् ? स्वेतरवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वाऽप्रमीयमाणत्वरूपविरुद्धधर्माऽध्यासात् । 'अस्तित्व प्रतिषेध्येनाऽ-

❀ जयलता ❀

सम्पादितसत्ताकतृतीयभङ्गाऽभावात्कुतस्सप्तभङ्गी स्वावकाशं लभेतेत्याशयेन शङ्कते - स्वरूपास्तित्वेनैवेति । एवकारेण पर-रूपनास्तित्वव्यवच्छेद कृत । पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहात् = पररूपाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावप्रत्ययोपपत्ते , कथमनयो-र्भेद· ? घटभेदाभाव-घटत्वयोरिव प्रकृते स्वरूपाऽस्तित्व-पररूपनास्तित्वयोर्नैव वैलक्षण्य स्यादित्यर्थ । प्रकृतग्रन्थमाचष्टे-स्वेतरवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वाऽप्रमीयमाणत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासादिति । यथाक्रम पररूपावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावे स्वरूपा-वच्छिन्नाऽस्तित्वे चाऽन्वय कार्य । अयमाशय 'घटो घटत्वेनाऽस्ति पटत्वेन च नास्ती'त्यत्र घटत्वाऽवच्छिन्नाऽस्तित्व केवल घट एव वर्तते न तु घटेतरकुटादौ, पटत्वाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाभावस्तु घटेऽपि वर्तते घटेतरकुटादावपि । एतेन स्वरूपाऽवच्छिन्नाऽ-स्तित्व-पररूपावच्छिन्ननास्तित्वयो समनियतत्व प्रत्याख्यातम्, घटत्वलक्षणस्वरूपावच्छिन्नाऽस्तित्व घटेतरकुटादौ न प्रमीयते, पटत्वाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावस्तु घटभिन्नकुटादावपि प्रमीयते । अनेन स्वरूपास्तित्व-पररूपनास्तित्वयोरैक्य प्रत्युक्तम्, अस्ति-त्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नभिन्नवृत्तित्वविधया स्वरूपाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वेऽप्रमीयमाणत्वस्य पररूपाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावे च प्रमीय-माणत्वस्य सद्भावात्, प्रमाविषयत्व-तदविषयत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासस्य स्वाश्रयभेदकत्वात्। तत स्वातन्त्र्येण प्रथम-द्वितीयभङ्गावपि घटेते एव । अनेन सप्तभङ्ग्या अनाविलत्वमुपदर्शितम् ।

ननु रत्नाकरावतारिकाया 'अस्तित्व नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाऽविनाभावि (रत्ना ४/१६) इत्याद्युक्तम् । भवद्भिस्तु नास्तित्वस्याऽस्तित्वाऽव्याप्तत्वमुपदर्शितमिति कथ न विरोध ? इति मुग्धाशङ्कायामाह- 'अस्तित्व प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येक-

❀ स्वास्तित्व और परनास्तित्व में अभेद नहीं है ❀

स्वरूपा इति । यहाँ यह शका हो कि —> ''स्वरूपाऽवच्छिन्न अस्तित्व और पररूपावच्छिन्न अस्तित्वाऽभाव को भिन्न भिन्न मानने की जरूरत क्या है ? जहाँ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाऽवच्छिन्नाऽस्तित्व रहता है, वहाँ परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावावच्छिन्नाऽ-स्तित्वाऽभाव रहता ही है । पररूपावच्छिन्न नास्तित्व को छोड कर स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व कहीं भी नहीं रहता है । अत 'घट· पटत्वेन नास्ति' इस प्रतीति की उपपत्ति घटत्वाऽवच्छिन्न अस्तित्व से ही हो सकती है । स्वरूप से ही वस्तुमात्र का अस्तित्व है । इसका मतलब यही है कि पररूप से वस्तु का नास्तित्व है । अत पररूपावच्छिन्न नास्तित्व प्रकारक प्रतीति का समर्थन स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व से अतिरिक्त पररूपावच्छिन्न नास्तित्व से न मान कर स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व से अभिन्न ऐसे पररूपावच्छिन्न नास्तित्व से मानना उचित है । अत सप्तभगी के द्वितीय भग की प्रथम भग से ही उपपत्ति हो जायेगी । अत प्रथम भग से अतिरिक्त द्वितीय भग की कल्पना बिनजरूरी है'' <— तो यह असगत है । इसका कारण यह है कि स्वास्तित्व और परनास्तित्व मे विरुद्ध धर्म की आश्रयता है । वह इस तरह - 'घट घटत्वेनाऽस्ति पटत्वेन च नास्ति' इस वाक्य से घटत्वाऽवच्छिन्न अस्तित्व का और पटत्वावच्छेदेन नास्तित्व का घट मे बोध होता है । मगर घटत्वावच्छिन्नाऽस्तित्व केवल घट मे ही है, न कि पर्वत, वृक्ष आदि मे भी । जब कि पटत्वावच्छिन्न नास्तित्व घट मे भी है और पर्वत, वृक्ष आदि मे भी है, क्योंकि पर्वतादि का अस्तित्व पटत्वाऽवच्छेदेन (=जहाँ पटत्व रहता है वहाँ) नहीं है । इस तरह घटत्वादिस्वरूपा-वच्छिन्न अस्तित्व घटेतर (परद्रव्य) वृत्तित्वरूप से प्रमा ज्ञान का विषय नहीं होने की वजह स्वरूपावच्छिन्नाऽस्तित्व मे स्वेतरवृत्तित्वविधया अप्रमीयमाणत्व (=प्रमाविषयत्वाभाव) धर्म रहता है और पटत्वादिपररूपाऽवच्छिन्न नास्तित्व घटेतरवृत्तित्वरूप से प्रमा ज्ञान का विषय होने के सबब पररूपावच्छिन्ननास्तित्व मे स्वेतरवृत्तित्वविधया प्रमीयमाणत्व (=वर्तमानकालीन प्रमाविषयत्व धर्म रहता है । स्वरूपास्तित्व और पररूपनास्तित्व मे उपदर्शित पद्धति (प्रक्रिया) के अनुसार परस्पर विरुद्ध धर्म रहने की वजह वे परस्पर भिन्न भी सिद्ध होते है । यदि स्वरूपाऽस्तित्व से पररूपनास्तित्व सर्वथा अभिन्न होता, तब तो पररूपनास्तित्व की भाँति स्वरूपास्तित्व मे भी स्वेतरवृत्तित्वविधया प्रमीयमाणत्व धर्म ही रहता या तो स्वरूपास्तित्व की भाँति पररूपनास्तित्व मे भी स्वेतरवृत्तित्वरूप से अप्रमीयमाणत्व धर्म ही रहता । मगर वैसा नहीं है, यह हम अभी ही पढ चुके है - जान चुका है । इसलिए इन दोनों को अलग-अलग मानना आवश्यक हो जाता है । यदि आप ऐसा कहे कि —> ''अस्तित्व तो एक धर्मी मे प्रतिषेध्य (= नास्तित्व) से अविनाभावी है अर्थात् स्वरूपावच्छिन्नाऽस्तित्व तो पररूपावच्छिन्ननास्तित्व का व्याप्य है'' <— तो इससे केवल यह सिद्ध होगा कि जहाँ जहाँ स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व है, वहाँ वहाँ पररूपाऽवच्छिन्न नास्तित्व अवश्य रहता है और जहाँ जहाँ पररूपावच्छिन्न नास्तित्व नहीं रहता है, वहाँ वहाँ स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व नहीं रहता है । मतलब

विनाभाव्येकधर्मिणी'त्यादिना स्वाऽस्तित्वस्य प्रतिषेध्याऽविनाभावित्वोक्तावपि प्रतिषेध्यस्य स्वास्तित्वविनाभावित्वस्य यौक्तिकत्वात्, पटत्वादिना नास्तित्वस्य घटेतरकुटादिवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्व तु निराबाधम् ।

'स्वपररूपादिचतुष्टयभेदात्तद्भेद' इति अष्टसहस्रीकारवचनं तु विचारणीयम्, अवच्छेद्यभेदादवच्छेदकभेदः अवच्छेदकभेदाच्चाऽवच्छेद्यभेद इत्यन्योन्याश्रयात् ।

❀ जयलता ❀

धर्मिणी'त्यादिनेति । 'स्वरूपावच्छिन्नकालससर्गाश्रयत्व पररूपाऽवच्छिन्नकालसम्बन्धाश्रयत्वाभावव्याप्यमभिन्नाधिकरणे इति सिद्ध' इति वचनेन । **स्वाऽस्तित्वस्य** = स्वरूपावच्छिन्नास्तित्वस्य, **प्रतिपेध्याऽविनाभावित्वोक्तावपि** = पररूपावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावाऽभावाश्रयत्वाऽवच्छिन्ननिरूपितवृत्तित्वाऽभाववत्त्वप्रतिपादनेऽपि, **प्रतिपेध्यस्य** = पररूपाऽवच्छिन्ननास्तित्वरूपस्य, **स्वाऽस्तित्वविनाभावित्वस्य** = स्वरूपाऽवच्छिन्नास्तित्वाऽव्याप्यत्वस्य, **यौक्तिकत्वात्** - युक्तिसिद्धत्वात् । तदेव दर्शयति- **पटत्वादिनेति** । **घटेतरकुटादिवृत्तित्वेनेति** । यद्यपि कुटतीति कुट इतिव्युत्पत्त्या कुटशब्दार्थो घट. सम्भवति **तथापि** इतरपदसमभिव्याहारात् कुट्यतेऽस्मिन्निति कुट इति व्युत्पत्त्या गृह इत्यर्थो बोध्य , यद्वा कोशविशेषात् कुटशब्देन पर्वत-लौहमुद्गर-वृक्ष-प्राकारादयोऽर्था ज्ञेया । धूमस्य वह्निव्याप्यत्वेऽपि वह्नयव्यापकत्ववत् स्वरूपावच्छिन्नाऽस्तित्वस्य पररूपाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावव्याप्यत्वेऽपि तदव्यापकत्वमुपपद्यत इति भाव. । शेषार्थश्चाऽनुपदमेव भावित इति न पुनः प्रतन्यते ।

अत्रैव **विद्यानन्दाभिप्राय** खण्डयितुमुपक्रमते - **'स्वपरचतुष्टयभेदात्तद्भेदः'** इति । स्वद्रव्यपरद्रव्यादि-चतुष्कलक्षणाऽवच्छेदकभेदात् अस्तित्वनास्तित्वयोर्भेद इत्यर्थ । साम्प्रतन्तु **अष्टसहस्र्या** 'स्वपररूपादिचतुष्टयाऽपेक्षया स्वरूपभेदात्सत्त्वाऽसत्त्वयोरेकवस्तुनि भेदोपपत्ते·' (अ स परि-१ श्लो १५, पृ १९३ A) इत्येव पाठो लभ्यत इति ध्येयम् । अय अष्टसहस्रीकारस्य विद्यानन्दस्याऽभिप्राय. सर्व स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन सत् परद्रव्यादिचतुष्टयेन चाऽसत् । वस्तुनि सत्त्वासत्त्वयोरवच्छेदकभेदात् भेद सिध्यति, कपिसयोग-तदभावयो स्वाऽवच्छेदकीभूतशाखामूलभेदाद्भेद इवेति । **विचारणीयमित्यनेन** स्वाऽस्वरस प्रदर्शित प्रकरणकृता । विचारबीजमेवाऽऽह- **अवच्छेद्यभेदात्** = सत्त्वाऽसत्त्वभेदात्, **अवच्छेदकभेदः** = स्वपरद्रव्यादिभेद , सिध्यतीति शेष. । **अवच्छेदकभेदात्** = स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयलक्षणाऽवच्छेदकभेदात् च **अवच्छेद्यभेदः** = स्वास्तित्व-परनास्तित्वविभेद , सिध्यतीति गम्यते । तत किमित्याह- **इति** = एतस्माद्धेतो , **अन्योन्याश्रयात्** । अत्र परस्पराश्रयो नोत्पत्तौ, नाऽपि स्थितौ

कि स्वरूपास्तित्व पररूपनास्तित्व को छोड़ कर कही भी रहता नही है । मगर पररूपनास्तित्व का स्वरूपास्तित्व विनाभावित्व तो युक्तिसगत ही हे अर्थात् पररूपनास्तित्व स्वरूपास्तित्व को छोड कर भी अन्यत्र रह सकता है । यह तो हम ऊपर देख ही चुके है कि पररूपनास्तित्व घटेतर पर्वत, वृक्ष आदि मे भी रहता ही है । अत. पररूपावच्छिन्नास्तित्वाऽभाव मे घटेतर कुट (= पर्वतादि) आदि वृत्तित्वविधया प्रमीयमाणत्व निरावाध ही है, जव कि घटेतरवृत्तित्वरूप से प्रमीयमाणत्व स्वरूपावच्छिन्न अस्तित्व मे नही रहता है । तात्पर्य यह है कि जैसे 'धूम अग्नि का व्याप्य है' ऐसा प्रतिपादन करने पर भी 'धूम अग्नि का व्यापक नही है', 'अग्नि हो वहाँ धूम अवश्य हो ऐसा नही है' यह कहा जा सकता है, जिसके फलस्वरूप धूम और अग्नि मे भेद सिद्ध हो सकता है । ठीक वैसे ही स्वरूपास्तित्व पररूपनास्तित्व का व्याप्य हे' ऐसा प्रतिपादन करने पर भी ''स्वरूपास्तित्व पररूपनास्तित्व का व्यापक नही है'' अर्थात् - 'पररूपनास्तित्व जहाँ रहे वहाँ स्वरूपास्तित्व अवश्य हो ऐसा नही हे' - यह कहा जा सकता है, जिसका निरूपण अभी ही हमने किया है । इसके फलस्वरूप स्वरूपास्तित्व और पररूपनास्तित्व मे भेद सिद्ध हो जायेगा, जिसकी वजह प्रथम भग से अतिरिक्त द्वितीय भग की आवश्यकता सिद्ध हो जायेगी । अत तत् तत् प्रामाणिक भगो के समूह से निर्मित सप्तभगी भी प्रामाणिक सिद्ध होती है, इसमे लेश भी सदेह नही है ।

❁ अष्टसहस्रीकारमतनिकंदन ❁

स्वपर इति । यहाँ प्रकरणकार श्रीमद्जी अष्टसहस्रीकार दिगम्बर विद्यानन्द के मत को निराकरणार्थ वताते है । अष्टसहस्रीकर्ता का यह कथन है कि –> ''स्वाऽस्तित्व और परनास्तित्व के भेद की सिद्धि उनके अवच्छेदक के भेद से होती है । आशय यह हे कि स्वास्तित्व और परनास्तित्व यदि एक = अभिन्न हो, तव तो परनास्तित्व की भाँति स्वास्तित्व का भी अवच्छेदक परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होना चाहिए या स्वास्तित्व की भाँति परनास्तित्व का भी स्वद्रव्यादिचतुष्टय अवच्छेदक वनना चाहिए ।

'स्वाऽस्तित्वेनैव पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहान्नास्तित्वमलीकमि'ति तु पापीयांसः,

❊ जयलता ❊

किन्तु ज्ञप्तौ ज्ञेयः । तल्लक्षणञ्च - 'स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वमि'त्यामनन्ति मनीषिणः । प्रकृतेऽयं भावः, अवच्छेदकभेदो हि अवच्छेद्यविरोधे सत्यपेक्ष्यते । अवच्छेद्यविरोधश्चाऽवच्छेद्याऽभेदे सति नैव सम्भवति, स्वस्य स्वाऽविरोधित्वात् । अवच्छेद्यभेदे सिद्धे सत्येव क्वचित् अवच्छेद्यविरोधः सम्भवति । सिद्धे चाऽवच्छेद्यविरोधेऽवच्छेदकभेदो मृग्यते । ततोऽवच्छेदकभेदसिद्धयर्थं परम्परयाऽवच्छेद्यभेदज्ञानमावश्यकम् । किन्तु विद्यानन्दमते तु अवच्छेद्यभेदसिद्धिरवच्छेदकभेदसिद्धयधीना, तेन अवच्छेदकभेदेन सत्त्वासत्त्वभेदसाधनात् । ततोऽवच्छेद्यभेदग्रहसापेक्षोऽवच्छेदकग्रहः तत्सापेक्षश्चाऽवच्छेद्यबोधः इति ज्ञप्तावितरेतराश्रयदोषात्नैव सत्त्वाऽसत्त्वलक्षणाऽवच्छेद्यभेदः सिध्येत् । एतेन 'स्वरूपाद्यवच्छिन्नं सत्त्वं पररूपाद्यवच्छिन्नमसत्त्वमित्यवच्छेदकभेदात्तयोर्भेदसिद्धे (स न त पृ ११) इति सप्तभङ्गीनयतरङ्गिणीकारस्य विद्यानन्दानुगामिनो दिगम्बरस्य विमलदासस्य वचनं प्रतिक्षिप्तम् । न चैव स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षयेव परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽपि सत्त्वप्रसङ्गः, तदपेक्षयेव स्वरूपाद्यपेक्षयाऽपि वाऽसत्त्वप्रसङ्ग इति शङ्कनीयम्, विरुद्धधर्माध्यासप्रदर्शनेन तद्भेदप्रत्यवप्रदर्शनतः, तदनवकाशात् ।

अन्ये तु वदन्ति स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्नास्तित्वमेव परद्रव्यादिचतुष्कावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावप्रकारकप्रतीतिविषयः । अतो न तद्भोचरतया पररूपावच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभावसिद्धिरित्यनुमन्यन्ते । तन्मतमपहस्तयितुमुपक्रमते- स्वाऽस्तित्वेनैवेति । एव-कारेण पररूपनास्तित्वं व्यवच्छिन्नम् । पररूपेण नास्तित्वप्रतीतिनिर्वाहात् = पररूपावच्छिन्नास्तित्वाभावप्रकारकज्ञानोपपत्तेः, नास्तित्वं = परद्रव्यादिचतुष्कावच्छिन्नास्तित्वाऽभावात्मकं, अलीकं = काल्पनिकं, इति वदन्तः तु पापीयांसः = कदाग्रह-

मगर ऐसा नहीं है । स्वास्तित्व का अवच्छेदक केवल स्वद्रव्यादि चतुष्क है और परनास्तित्व का अवच्छेदक केवल परद्रव्यादि चतुष्टय है । अवच्छेदक में भेद होने की वजह अवच्छेद्य अस्तित्व और नास्तित्व में भी भेद सिद्ध होता है । अतः प्रथम और द्वितीय भंग भी स्वतंत्र है, एक-दूसरे में चरितार्थ नहीं होते हैं'' <— मगर महोपाध्यायजी महाराज कहते हैं कि विद्यानंद का यह वचन विचारणीय है । मतलब कि वह मीमांसा - परीक्षा करने योग्य है, क्योंकि वैसा प्रतिपादन कर के प्रथम-द्वितीय भंग में स्वातन्त्र्य की सिद्धि करने पर ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है । A के ज्ञान के लिए B के ज्ञान की अपेक्षा हो और B का ज्ञान A विषयक ज्ञान से सापेक्ष हो, यह ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रय कहा जाता है । प्रस्तुत में अस्तित्व और नास्तित्व में विरोध सिद्ध होने पर ही एक धर्मी में उन दोनों के समावेश के लिए भिन्न भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा सिद्ध हो सकती है । यदि अस्तित्व और नास्तित्व अभिन्न हो, तब तो उन दोनों में विरोध ही नहीं हो सकता । भला ! अपना विरोध स्वयं कौन करेगा ? अतः अवच्छेदकभेद के लिए अपेक्षित अवच्छेद्यविरोध अपनी सिद्धि के लिए उससे कम अवच्छेद्यभेद की अपेक्षा रखता है । अर्थात् अवच्छेदक (= स्वपरद्रव्यादि चतुष्क) में भेद की सिद्धि परंपरा से स्वाऽवच्छेद्य सत्त्व और असत्त्व के भेद पर अवलम्बित है । कम से कम जब तक सत्त्व और असत्व में भेद की सिद्धि न हो, तब तक उनके अवच्छेदक में भेद की सिद्धि नहीं हो सकती । मगर विद्यानन्द के मतानुसार अवच्छेद्य में भेद की सिद्धि अवच्छेदक के भेद की सिद्धि पर अवलम्बित है, क्योंकि पृथक् पृथक् अवच्छेदक होने की वजह ही सत्त्व और असत्त्व में वैलक्षण्य होता है - यह उसका कथन है । अतः पृथक् पृथक् अवच्छेद्य (सत्त्व और असत्त्व) सिद्ध होने पर अवच्छेदक में वैजात्य की सिद्धि होगी और अवच्छेदक (स्व-पर द्रव्यादि चतुष्टय) में पार्थक्य की सिद्धि होने पर उनसे अवच्छेद्य सत्त्व-असत्त्व अलग-अलग सिद्ध होंगे । फलतः भेदसिद्धि न तो अवच्छेद्य में होगी, न अवच्छेदक में । ऐसा होने पर परवादी का जो आक्षेप था कि —> 'प्रथम भंग में ही द्वितीय भंग चरितार्थ हो जाने की वजह दो अलग अलग भंग बताने की क्या जरूरत है ?' <— उसका समाधान न हो सकेगा । उसके समाधान के लिए हमने (प्रकरणकार ने) जो पूर्व में विरुद्धधर्माध्यास से सत्त्व और असत्त्व में भेद की सिद्धि की थी, वही उचित है ।

▣ पररूपनास्तित्व काल्पनिक नहीं है - स्याद्वादी ▣

स्वा इति । यहाँ —> ''स्वास्तित्व से ही पररूपनास्तित्व का निर्वाह - समर्थन हो जाने से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाऽवच्छिन्नाऽस्तित्वाऽभाव काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं । मतलब स्वद्रव्यादिचतुष्काऽवच्छिन्नाऽस्तित्व ही प्रामाणिक है, न कि परद्रव्यादिचतुष्कावच्छिन्न नास्तित्व'' <— ऐसा कथन करने वाले लोग अत्यंत पापी (= कदाग्रहदोषग्रस्त अन्तःकरण वाले) हैं, क्योंकि एक की प्रामाणिकता से अन्य में अप्रामाणिकता सिद्ध करने पर तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि - 'स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽवच्छिन्न अस्तित्व विषयक प्रतीति की उपपत्ति परद्रव्यादिचतुष्कावच्छिन्न नास्तित्व में ही हो जाने के सबब स्वद्रव्यादिचतुष्कावच्छिन्न

ते पुनः 'अस्ती'तिप्रतीतेर्नास्तित्वेनैव निर्वाहे कथमस्तित्वे गच्छन्ति हस्तावलम्बदायिनः ?

सङ्गीता सप्तभङ्गी यदि निखिलजगन्न्यस्तवस्तुव्यवस्था,
मूलं कूलंकषाया कषतु तटमियं तत्प्रमाणव्यवस्था ।
येन स्यादप्रमाणं भुवनगुरुवचः सर्वथा न प्रमाणं,
तस्मादेकान्तवादो हित इति गदति स्पष्टमेकान्तवादी ॥१९॥

❀ जयलता ❀

लक्षणनिकृष्टावद्यग्रस्तान्तःकरणाः । तदभिनिविष्टत्वमेव काकुन्यायेनाविष्करोति- **ते** इति । **'अस्ती'तिप्रतीतेः** = स्वरूपावच्छिन्नाऽस्तित्वप्रकारकधियः, विषयविधया **नास्तित्वेनैव निर्वाहे** सम्भवे **कथं अस्तित्वे गच्छन्ति हस्तावलम्बदायिनः ?** स्वरूपावच्छिन्नास्तित्वहस्तालम्बनग्रहीतारो न न्यायसभायां सुष्ठु भ्राजन्त इत्यर्थः । स्वरूपास्तित्वेन पररूपनास्तित्वापलापे पररूपनास्तित्वेन स्वरूपास्तित्वनिराकरणमपि न दुष्करम् । न चैवम्, इति स्वास्तित्ववत् पररूपावच्छिन्ननास्तित्वमपि प्रामाणिकमित्यभ्युपेयम् । कथमन्यथा हेतोः त्रैरूप्यं पञ्चरूपत्वं वा परस्याऽपि सम्भवेत् ? सपक्षास्तित्वेनैव विपक्षनास्तित्वप्रतीतेर्निर्वाहसम्भवात्, विपक्षनास्तित्वविरहे तत्सत्त्वप्रसङ्गाच्चेति **दिक्** ।

पद्येन परमतमपसारयितुमुपन्यस्यति- **सङ्गीतेति** । **सप्तभङ्गी यदि निखिलजगन्न्यस्तवस्तुव्यवस्था** = सम्पूर्णविश्वस्य न्यस्ता = निहिता वस्तुव्यवस्था यस्या सा, इति **सगीता**, तदा इयं **तत्प्रमाणव्यवस्था** = सप्तभङ्गीप्रमाणव्यवस्था, **कूलकषायाः** = जलभृतनद्याः **मूलं तटं कषतु** । सप्तभङ्ग्या अखिलप्रमेयव्यवस्थापकत्वे प्रमाणव्यवस्था विप्लवेतेत्यर्थः । हेतुमाह- **येन** कारणेन **भुवनगुरुवचः** = जिनेन्द्रवचनं **अप्रमाणं** अपि **स्यात्** = भवेत् यद्वा **स्यादप्रमाणं** = कथञ्चिदप्रमाणं, यतः सा **न सर्वथा प्रमाणं**, भगवद्भारत्याः सर्वथा प्रमाणत्वे सप्तभङ्गीभङ्गप्रसङ्गात्, 'तदपि स्यात्प्रमाणं स्यादप्रमाणमि'त्युपगमे च प्रामाण्यव्यवस्थापनं दुर्घटं स्यात्, अनवधारणात् । ततः किमित्याह - **तस्मात्** = प्रामाण्यव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः, **एकान्तवाद** एव **हित इति स्पष्टं एकान्तवादी** सदसि **गदति** = जल्पति ।

अयमत्र एकान्तवादिनोऽभिप्रायः 'जिनेन्द्रवचनं स्यात्प्रमाणं स्यादप्रमाणमि'त्यङ्गीकारे साङ्कर्यादिदोषाऽनिराकरणेन निष्कम्पप्रवृत्त्यादिकं नोपपद्येत, 'अर्हद्वचः प्रमाणमेवे'त्यङ्गीकारे च तत्र मानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽयोगव्यवच्छेदापातेनैकान्तवादप्रवेशप्रसङ्गात् । एवकारमर्यादाऽत्रैवं ज्ञेया, विशेष्यसङ्गतैवकारस्याऽन्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थः यथा 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यादौ एवकारार्थस्याऽन्ययोगव्यवच्छेदस्यैकदेशेऽन्यत्वे प्रतियोगितासम्बन्धेन पार्थान्वयः, पार्थान्यनिरूपितवृत्तित्वाभावान्वयो विशेषणैकदेशे धनुर्धरत्वे, तादृशधनुर्धरत्ववदन्वयोऽभेदसम्बन्धेन पार्थपदार्थे । ततः पार्थान्याऽवृत्तिधनुर्धरत्वाश्रयाऽभिन्नः पार्थ इति बोधो जायते । विशेषणसङ्गतैवकारार्थोऽयोगव्यवच्छेदः, यथा 'शङ्खः पाण्डुर एवे'त्यादौ । अयोगस्य सम्बन्धाभावरूपस्यैकदेशे सम्बन्धे विशेषणैकदेशस्य पाण्डुरत्वस्याऽन्वयः, अयोगव्यवच्छेदस्य च स्वरूपसम्बन्धेन विशेष्यपदार्थे शङ्खेऽन्वयः । ततः 'पाण्डुरत्वसम्बन्धाऽभावप्रतियोगिका-

---

अस्तित्व काल्पनिक = असत् है ।' यदि अस्तित्व से नास्तित्वगोचर प्रतीति का समर्थन करके नास्तित्व को अन्यथासिद्ध = असत् माना जाय तो तुल्य न्याय से नास्तित्व से अस्तित्वविषयक ज्ञान की उपपत्ति हो जाने से अस्तित्व भी झूठा = काल्पनिक माना जा सकता है । तो फिर वे स्वरूपास्तित्व को अपनी मान्यतारूप हस्त का आलम्बन क्यों बनाते है ? मतलब कि नास्तित्व से अस्तित्व का अपलाप नहीं होता है, वैसे अस्तित्व से नास्तित्व का निराकरण नहीं किया जा सकता । स्वरूपसत्त्व और पररूपाऽसत्त्व दोनों प्रामाणिक है ।

सप्तभंगी जिनवचन में प्रवृत्त नहीं हो सकती - एकान्तवादी

एकान्तवादी :- सगीता इति । जी हजूर ! आपने जिस सप्तभंगी का बयान किया है वह यदि संपूर्ण विश्व की वस्तुओं की व्यवस्थापक होगी यानी 'प्रत्येक वस्तु में वह सप्तभंगी प्रवर्त्तमान है' ऐसा माना जाय तब तो यह सप्तभंगी की प्रमाणव्यवस्था नदी के, जिसके दोनों किनारे पे पानी उभर रहा है, मूल तट में जाकर गिरेगी । अर्थात् प्रमाणव्यवस्था ही अव्यवस्थित बन जायेगी । इसका कारण यह है कि 'जिनेन्द्र का वचन प्रमाण है या नहीं ?' इस प्रश्न के जवाब में या तो जिनवचन में प्रामाण्यधर्मविषयक सप्तभंगी में यही स्याद्वादी की ओर से कहा जा सकता है कि - जिनवचन कथंचित् प्रमाण है, कथञ्चित् अप्रमाण है, कथञ्चित् प्रमाणाऽप्रमाणोभय है इत्यादि । मतलब कि तीर्थंकरवचन को भी सर्वथा प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिनवचन में अपेक्षा से अप्रामाण्य भी है - यह सप्तभंगी से जाना गया है । तब तो जिनवचन

अत्र ब्रूम प्रमाण भवति भववच किं सदप्यप्रमाण,
येन प्रामाण्यमुद्रा परपरिचयत संकरोत्कीर्णकुक्षिः ।

❀ जयलता ❀

भाववान् शङ्ख' इत्यर्थबोध उपजायते । क्रियासङ्गतैवकारार्थश्चाऽत्यन्तायोगव्यवच्छेद यथा 'सरोज नील भवत्येवे'त्यादौ अत्यन्तायोगव्यवच्छेदेकदेशेऽत्यन्तायोगे नीलकर्तृकभवनक्रियाऽन्वयो भवति तथा सरोजत्वव्यापकस्वरूपसम्बन्धेन नीलकर्तृकोत्पत्तिप्रतियोगिकाभावान्वय सरोजपदार्थे भवति । तत सरोज नीलकर्तृकोत्पत्त्यभावप्रतियोगिकाभाववदिति शाब्दबोध समुपजायत इति प्राञ्चो नैयायिका ।

नव्यास्तु एवकारस्य द्वयमेवार्थ अयोगव्यवच्छेदोऽन्ययोगव्यवच्छेदश्च, न त्वत्यन्तायोगव्यवच्छेद , गौरवादिति यद्वा अन्ययोगव्यवच्छेद एव वा तदर्थ इति वदन्ति ।

इतरे तु - एवकारस्याऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चार्थ इत्याहु ।

सप्तभङ्ग्या सार्वत्रिकत्वाऽभ्यनुज्ञायामेवकारो निरर्थक प्रसज्येत सार्थकत्वे वा एकान्तमतानुप्रवेश इति द्विपक्षी राक्षसी प्रत्यक्षीवाभवतीति एकान्तवादिमतमेव विश्वकल्याणकरमिति परस्याऽऽशय ॥१॥

साम्प्रत प्रकरणकृत् समाधत्ते - **अत्र ब्रूमः** इति । **भववचः** = भवानीपतिवचन, कि **प्रमाण एवेति भवति** ? 'शिववचन प्रमाणमेव' इति भवितु नार्हति । कस्माद्धेतो ? इत्याशङ्कायामाह- **अप्रमाणमपि सद्** = भवनार्हम् । कथ ? इत्याकाङ्क्षायामाह **येनेति** । **परपरिचयतः** = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितासमर्गत **प्रामाण्यमुद्रा सङ्करोत्कीर्णकुक्षिः** = अप्रामाण्यसाङ्कर्यव्यामिश्रितगर्भा । अत्र भाव 'उमापतिवचन प्रमाणमेवे'त्यत्र विशेषणसङ्गतैवकारसमभिव्याहारात् प्रमाणत्वाऽयोगव्यवच्छेद नव्यमतेन प्रमाणान्ययोगव्यवच्छेदो वा भवतु तथापि 'महेशवचसि प्रत्यक्षत्वेन न मानत्वम्', 'त्रिलोचनवचन प्रत्यक्षत्वेन न प्रमाण' इति प्रतीत्या विशेषरूपेण सामान्याभावस्य प्रत्यक्षत्वनिष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपित-प्रमाणत्वनिष्ठप्रतियोगिताकाऽभावरूपस्य विशेषरूपेण सामान्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितप्रमाणसामान्यनिष्ठ-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूपस्य वा सिद्धौ न सर्वथा तद्व्यवच्छेद शक्य ।

किञ्च व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य प्रामाणिकत्वात् प्रमाणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य घटाभावस्य परमेश्वरवचसि सत्त्वात्कथ तद्व्यवच्छेद ? न च प्रमाणत्वावच्छिन्नप्रमाणनिष्ठप्रतियोगिताकस्य सामान्यरूपेण विशेषाऽभावसत्त्वे वा तादृशतत्सामान्यनिष्ठप्रतियोगिताकस्याऽभावस्य व्यवच्छेद्यत्वान्न दोष इति वाच्यम्, प्रमाणत्वेन प्रमाण-घटोभयाऽभावस्य तथात्वात् । न च प्रमाणमात्रनिष्ठप्रतियोगितोपादानान्न दोष इति वक्तव्यम्, तथापि 'शङ्करवचोघटौ न मानम्' इति प्रतीते शङ्करवचोघटोभयत्वावच्छेदेन तादृशप्रमाणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य सत्त्वेन तद्व्यवच्छेदाऽयोगात्, त्रिपुरारिवचनत्वावच्छिन्नाधिकरणताकस्य च तादृशाऽभावस्य सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वेन व्यवच्छेतुमशक्यत्वात् । तत प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्गिरीशवचनेऽपि सत्त्वमुपगन्तव्यमायुष्मतेति साङ्कर्यम् । तदनुपगमे चेश्वरवचसि प्रत्यक्षानुमानादिवृत्तिप्रामाण्यापातेन परकीयधर्मसत्त्वलक्षण साङ्कर्यमिति तन्न गीर्वाणगुरुणापि निवारयितु शक्यम् ।

अत एव "त्वत्तीर्थकरवचन कि सत्य ? आहोस्विदसत्यमिति ? सत्यमेवेति न युक्तम्, एकान्तवादप्रसङ्गात् । अथाऽत्रापि

मे प्रवृत्ति-निवृत्ति नही हो सकेगी, क्योकि निश्चितप्रामाण्यवाला वचन ही प्रवर्तक हो सकता है । जिनवचन मे अपेक्षा से अप्रामाण्य का ज्ञान प्रामाण्य निश्चय का विरोधी है । अत जिनवचन से प्रवृत्ति आदि की उपपत्ति के लिए भी जैन को जिनवचन मे सर्वथा प्रामाण्य मानना उचित ह । अतएव सप्तभगी-स्याद्वाद अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेगा । इसलिए सर्वत्र एकान्तवाद ही उचित है ।

❀ सप्तभंगी शिववचन में भी अव्याहत - अनेकान्तवादी ❀

अनेकान्तवादी :- अत्र ब्रू इति । अरे ओ, एकान्तवादी ! जरा हमारा भी जवाब सुनियेगा । आपने अरिहतवचन के विषय मे जो आक्षेप किया है वह शिववचन मे भी समान है । 'क्या आपके शकर का वचन प्रमाण ही है ?' इस प्रश्न के प्रत्युत्तर मे यह तो नही कहा जा सकता कि - शकर भगवान का वचन प्रमाण ही है', क्योकि वह अप्रमाण भी है । इसका कारण यह है कि परपरिचय से यानी अन्यवृत्ति धर्म की अपेक्षा वह प्रमाण नही है । शिववचन मे आगमत्वरूप धर्म मे प्रमाणत्व होने पर भी प्रत्यक्षत्व, अनुमानत्व, घटत्व आदि स्वाऽवृत्ति व्यधिकरण धर्म की अपेक्षा प्रामाण्य नही है ।

एकान्तः कान्त एवेत्यपि यदि मनुषे किं तवाऽम्बा तदेयं,
ब्राह्मण्यं भो ! तपस्विन् ! प्रथयति नियतं शूद्रदारानुरूपम् ॥२१॥
[1]अथ विशेषणसङ्गतैवकारस्य विशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं,

❋ जयलता ❋

सप्तभङ्गीष्टा-स्यात् सत्यम्, स्यादसत्यम्, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यमित्यादिका, तदा प्रमाणाऽप्रमाणव्यवस्थानुपपत्तिः'' (न्या भू. पृ.५६०) इति भासर्वज्ञवचनमपि प्रत्याख्यातम्, स्वविषयाऽपेक्षयाऽर्हद्वचसि सत्यत्वस्य स्वाऽगोचरापेक्षया चाऽसत्यत्वस्योपगमेऽपि स्वविषयेऽबाधित-बाधितवचस्त्वयो. व्यवहारसत्यत्वाऽसत्यत्वनियामकत्वेन प्रमाणाऽप्रमाणव्यवस्थानिर्वाहात् अनेकान्ते सम्यगेकान्ताविनाभावित्वस्य बहुश उक्तत्वात् ।

पद्यपूर्वार्धवलादेव 'एकान्तवादो हित' (पश्यता २७० तमे पृष्ठे) इति पूर्वोक्तं जर्जरीकृतं तथापि तत्र विशेषत आह प्रकरणकृत् - 'एकान्तः कान्त एवे'त्यपीति । यदि त्वं एकान्तः = एकान्तवाद एव कान्तः मनोहारी इत्यपि मनुषे । किं मनुषे ? कामं चेत् ? तदा भोः ! तपस्विन् ! तव एकान्तवादिन इयं एकान्तवादरुचिलक्षणा अम्बा = जननी नियतं ध्रुवं शूद्रदारानुरूपं ब्राह्मण्यं प्रथयति = प्रकटयति, शम्भुवचस्येव प्रामाण्यैकान्तविरहात् । 'घटः सन्नेवे'त्यत्राऽपि सत्त्वैकान्तो न कान्तः, घटे कृत्स्नसत्त्वप्रसङ्गेन परसत्त्वस्य दुर्निवारत्वात् । न चैवम् । अतः पराऽसत्त्वमपि तत्रोपगन्तुमर्हति । ततः स्थितमिदमनेकान्तस्य सर्वव्यापितत्वमिति समाधानग्रन्थाशयः ।

पूर्वपक्षयति नव्यनैयायिकः अथेति । द्वितीयचेत्पदपर्यन्तं पूर्वपक्षो बोध्योऽत्र । विशेषणसगतैवकारस्य = विशेषणवाचकपदाऽव्यवहितोत्तरैवपदस्य, विशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं = विशेष्यार्थवृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावनिरू-

मतलब की प्रत्यक्षत्वादि धर्म की अपेक्षा महेश वचन मे अप्रामाण्य भी है । प्रत्यक्षत्वादि धर्म की अपेक्षा शिववचन मे प्रामाण्य मानने पर वह वचन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि स्वरूप बन जायेगा । अत. अप्रामाण्य के संकर = मिश्रण से एकान्तप्रामाण्य की कुक्षि उत्कीर्ण-दूपित हो जाती है । अत. शिववचन मे भी स्यात् प्रामाण्य, स्यात् अप्रामाण्य, कथञ्चित्प्रामाण्य-अप्रामाण्य आदि का स्वीकार नैयायिक आदि एकान्तवादिओ को भी करना पडेगा । इस तरह सप्तभगी की प्रवृत्ति सर्वत्र अव्याहत है । एकान्तवादी ने जो कहा था कि —> 'एकान्तवाद ही हितकर है' <— इसका निराकरण प्रकरणकार श्लोक के पश्चार्द्ध से करते है । हे तपस्वी श्रोत्रिय ब्राह्मण ! क्या तुम 'एकान्त ही कान्त = रम्य है' यह मानते हो ? यदि वैसी मान्यता का स्वीकार करोगे तब इस मान्यतारूपी तुम्हारी मा जिस ब्राह्मणत्व को प्रकट करेगी वह अवश्य शूद्रपत्नी के अनुरूप = समान होगा, न कि ब्राह्मणस्त्री के समान । इसका कारण यह है कि शिववचन मे भी प्रामाण्य का एकान्त नही है । 'घट. सन् एव' = 'घट सत् ही है' यहाँ भी एकान्तत. घट मे सकल सत्त्व प्रतीत नही होता है, अन्यथा पटत्वादि पररूप से भी घट सत् बन जायेगा । अतः एकान्तवाद व्यापक नही है, मगर अनेकान्तवाद ही सर्वव्यापक है । अतएव वही हितकर है ।

❋ विशेषणसंगत एवकार का अर्थ - पूर्वपक्ष ❋

'नव्यनैयायिक :- अथ विशे इति । 'घट. सत् एव' यहाँ आपने (स्याद्वादी ने) जो अनेकान्तोद्भावन किया है वह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि उक्त वाक्य मे विशेष्य है घटपद और विशेषणवाचक है सत्पद । सत्पदस्वरूप विशेषणवाचक पद से समभिव्याहृत है 'एव'पद । विशेषणसगत एवकार का अर्थ है अन्ययोगव्यवच्छेद जिसको नव्य न्याय की परिभापा मे इस तरह कहा जा सकता है- विशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व । जैसे 'घटः सन् एव' यहाँ विशेष्यपदार्थ घट मे रहा हुआ व्याप्यवृत्ति अभाव है गुणत्वाभाव, कर्मत्वाभाव आदि । उनका प्रतियोगी है गुणत्व, कर्मत्व आदि । अतः तादृश अभाव का प्रतियोगित्व गुणत्व आदि मे रहेगा । मगर घट विद्यमान होने की वजह उसमे अस्तित्व का अभाव नही रहता है । अतः घटवृत्ति व्याप्यवृत्ति अभाव का अप्रतियोगी बनेगा अस्तित्व = सत्त्व । अत सत्त्व मे घटवृत्ति व्याप्यवृत्तिअभाव का अप्रतियोगित्व रहेगा । यहाँ शाब्दबोध का आकार होगा-घट स्ववृत्ति व्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी सत्त्ववाला है ।

शका :- यदि विशेषणसमभिव्याहृत एवकार का अर्थ विशेष्यार्थनिष्ठ व्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व माना जायेगा, तब तो 'वृक्षः सयोगी एव' इत्यादि स्थल मे एवकारार्थ अप्रसिद्ध बन जायेगा । इसका कारण यह है कि यहाँ 'वृक्ष.' पद विशेष्यवाचक है और विशेषणवाचक 'सयोगी'पद से एवकार सगत है । वृक्षात्मक विशेष्य पदार्थ मे जो व्याप्यवृत्ति

१ यह दीर्घ पूर्वपक्ष २७७ पृष्ठ पर समाप्त होता है ।

विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वाऽर्थ, तेन 'वृक्षः संयोग्येवे'त्यत्र नाऽप्रसिद्धिः । अयोगव्यवच्छेदस्तु नार्थः, 'प्रमेयमभिधेयमेवे'त्यत्रैवाऽभावात् ।

※ जयलता ※

पितप्रतियोगित्वाभाव , अर्थ इत्यत्राऽनुपज्यते । तथाहि - 'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यत्र विशेष्यलक्षणशङ्खवृत्तिः व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिको योऽत्यन्ताभावः स न तावत् पाण्डुरत्वाभावः किन्तु श्यामत्वाद्यभावः तत्प्रतियोगित्वं श्यामरूपादौ, तदभावश्च पाण्डुरत्वे वर्तते इति 'शङ्खः स्ववृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकाभावनिरूपितप्रतियोगित्वा-भावविशिष्टपाण्डुरत्ववान्' इत्युक्तस्थले बोधः ।

नन्वेवं सति 'वृक्षः संयोगी एवे'त्यत्र तादृशैवकारार्थोऽसङ्गतिः स्यात् व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकाभावीयप्रतियोगिताया संयोगाननुयोगिकत्वाऽप्रसिद्ध्या संयोगे वृक्षवृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकाऽत्यन्ताभावनिरूपितप्रतियोगितानिषेधाऽयोगादित्याशङ्कायामाह- विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वाऽर्थ इति । विशेष्यपदार्थवृत्तिः यो भेदः तदीयप्रतियोगिताया अनवच्छेदकत्वविरहो वा तदर्थ इति । यथा 'शङ्खः पाण्डुर एवे'त्यत्र शङ्खवृत्तिः यो भेदः स न पाण्डुरप्रतियोगिकः किन्तु घटादिप्रतियोगिकः तदीयप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वं घटत्वादौ तदभावश्च पाण्डुरत्वे इति 'शङ्खः स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वशून्यपाण्डुरत्ववान्' इत्युक्तस्थले शाब्दबोधः । तत्फलमाह- तेनेति । विशेषणवाचकपदोत्तरैवकारस्य द्वितीयार्थोपगमेनेति । 'वृक्षः संयोगी एवे'त्यत्र स्थले नाऽप्रसिद्धिः तादृशैवकारार्थस्येति शेषः । तथाहि वृक्षवृत्तिर्यो भेदः स न तावत् संयोगिप्रतियोगिकः किन्तु घटादिप्रतियोगिकः तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वं घटत्वादौ तदभावश्च घटवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्ववति संयोगे वर्तते इति तत्र 'वृक्षः स्ववृत्ति-भेदप्रतियोगितानवच्छेदकसंयोगवानि'त्याकारको बोधो जायते इति नाऽप्रसिद्धिः ।

ननु विशेषणसङ्गतैवकारस्याऽर्थोऽयोगव्यवच्छेद एवास्तु सम्बन्धाभावाऽभावात्मकः, 'शङ्खः पाण्डुर एवे'त्यादौ 'शङ्खः पाण्डुरत्वसम्बन्धाभावप्रतियोगिकाऽभाववानि'त्याद्याकारकबोधस्यैवाऽनुभवसिद्धत्वादिति प्राचीनन्यायमतं दूषयितुमुपक्रमते नव्य - अयोगव्यवच्छेदस्तु नार्थः इति । 'विशेषणसङ्गतैवकारस्ये'त्यत्राऽप्यनुपज्यते । हेतुमाह- 'प्रमेयमभिधेयमेवे'त्यत्रैवाऽभावादिति ।

अभाव है उसका प्रतियोगित्व घट, पट आदि में रहता है, क्योंकि घटाभाव, पटाभाव आदि वृक्ष में विद्यमान है । संयोग अव्याप्यवृत्ति है, क्योंकि संयोग के आश्रय में अन्य भाग में उसका अभाव भी रहता है । वृक्ष में जो संयोगाभाव रहता है वह अव्याप्यवृत्ति है, क्योंकि वह संपूर्ण वृक्ष में नहीं रहता है । शाखा में संयोग होने की वजह मूलादि अवच्छेदेन ही यानी मूलादि अमुक भाग में ही संयोगाभाव रहता है । संयोग अव्याप्यवृत्ति होने की वजह उसमें कभी भी व्याप्यवृत्तिप्रति-योगिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रहता ही नहीं है । जो धर्म जहाँ कभी भी न रहता हो उसका वहाँ निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसक्त का ही निषेध हो सकता है, अप्रसक्त का नहीं । एवकार का प्रयोग प्रसक्त का व्यवच्छेद करने के लिए ही होता है । संयोग में व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही प्रसक्त नहीं है तो वृक्षवृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व कैसे प्रसक्त होगा ? जब कि वह कभी भी संयोग में प्रसक्त = संभव = प्रसिद्ध ही नहीं है तो उसका व्यवच्छेद भी कैसे होगा ? अतः संयोगात्मक विशेषण में तादृशाऽप्रतियोगित्व अप्रसिद्ध हो जायेगा । फलतः विशेष्यवृत्तिव्याप्यवृत्तिप्रतियोगि-कात्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व को विशेषणसंगत एवकार का अर्थ नहीं माना जा सकता ।

※ विशेषणसंगत एवकार का द्वितीय अर्थ - नैयायिक ※

समाधानः - विशेष्यनिष्ठभे इति । विशेषणसंगत एवकार के अर्थ विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व मानने में उपदर्शित अप्रसिद्धि दोष का निराकरण हो सकता है । वह इस तरह - 'वृक्षः संयोगी एव' यहाँ वृक्ष विशेष्य है । उसमें जो जो भेद रहते हैं, उनका अवच्छेदक संयोग नहीं है, किन्तु घट, पट आदि है । 'वृक्षः घटवान् न, पटवान् न' इत्यादि प्रतीति होती है, एवं वृक्ष में घटभेद, पटभेद आदि रहते हैं । मगर न तो 'वृक्षः न संयोगी' ऐसी प्रतीति होती है और न तो वृक्ष में संयोगिभेद रहता है । अतः वृक्षवृत्तिभेदप्रतियोगिता की अनवच्छेदकता संयोग में अबाधित है । यत् किञ्चित्भेदप्रतियोगि-तावच्छेदकता संयोग में है, क्योंकि 'गुणो न संयोगी' इत्यादि प्रतीति से गुणवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकता संयोग में प्रसिद्ध है । अतः संयोग में वृक्षवृत्तिभेदप्रतियोगिताअवच्छेदकता का निषेध हो सकता है । इस तरह विशेषणसमभिव्याहृत एवकार का अर्थ विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वाभाव मानने में 'वृक्षः संयोगी एव' इत्यादि स्थल में अप्रसिद्धि दोष की संभावना नहीं है । अतः विशेषणसंगत एवकार का वही अर्थ उचित है ।

※ विशेषणसंगत एवकार का अयोगव्यवच्छेद अर्थ नहीं है - नव्य नैयायिक ※

नव्या इति । प्राचीन नैयायिक आदि 'विशेषणसंगत एवकार का अर्थ अयोगव्यवच्छेद है' ऐसा मानते हैं । उसका

तत्र च खण्डशः शक्तिर्लक्षणा वेत्यन्यदेतत् ।

❀ जयलता ❀

अभावपदार्थोऽत्राऽसम्भवो बोध्य., अयोगव्यवच्छेदस्येति गम्यते । न चाऽत्र सम्बन्धाभावलक्षणाऽयोगैकदेशसम्बन्धेऽन्वितस्याऽभिधेयपदार्थैकदेशस्याऽभिधेयत्वस्य प्रतियोगितासम्बन्धेनाऽभावेऽन्वयात्, तस्याऽपि स्वप्रतियोगितयाऽभावान्तरेऽन्वयात्, 'प्रमेय स्वरूपसम्बन्धेन अभिधेयत्वसम्बन्धाभावाभाववदि'ति बोध उपगन्तु शक्यः; अभिधेयत्वस्याऽभिधाविषयत्वरूपस्य केवलान्वयित्वेन तदभावाऽप्रसिद्धे., असतोऽनिषेधात् । न च तत्र विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगिज्ञानावच्छेदकत्वस्य तत्त्वेऽपि अन्यत्र अयोगव्यवच्छेदस्यैव तत्त्वमिति वक्तव्यम्, शक्तिद्वयकल्पने गौरवात् । ततश्च लाघवेनाऽपि सर्वत्र विशेषणसमभिव्याहृतैवकारस्य विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव एवार्थ. । 'घटो नीलघटो न भवति, द्रव्य न घट' इत्यादिवत् 'प्रमेय न द्रव्य' इति प्रतीत्या प्रमेयवृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्व द्रव्यत्वादौ तदभावश्चाऽभिधेयत्वे इति प्रमेयनिष्ठभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वशून्याऽभिधेयत्ववदि'त्युक्तस्थले बोध इत्यङ्गीकारान्न दोष ।

ननु अभिधेयत्वे भेदीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य सत्त्वे प्रमेयवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वनिषेधो घटामश्चेत्, प्रसक्तस्यैव प्रतिषेधात् । न चैव प्रकृते सम्भव., अभिधेयत्वस्य केवलान्वयित्वेनाऽभिधेयभिन्नस्याऽप्रसिद्धे. । ततो न दर्शितार्थे विशेषणसङ्गतैवकारशक्ति., अन्यथा 'वृक्ष सयोगी एवे'त्यत्र विशेष्यवृत्तिव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वसम्भवेन विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वकल्पानुसरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इत्याशङ्कायामाह- तत्र च खण्डशः शक्तिरिति । 'पटो न घटाभिधेय' इति प्रतीत्या अभिधेयत्वे भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य प्रसिद्धे. प्रमेयत्वावच्छिन्नवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वव्यवच्छेदस्य युक्तत्वादिति तत्तद्विशेषणसङ्गतैवकारस्य तत्तद्विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वे व्यवच्छेदे च शक्तिरिति खण्डश शक्तिकल्पने दोषाभावात् । अत एव द्वितीयकल्पानुसरणमपि सङ्गच्छते; सयोगेऽखण्डस्य वृक्षवृत्तिव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेऽपि खण्डश तदसम्भवात्, तादृशप्रतियोगित्वस्य तत्राऽप्रसिद्धत्वेन तन्निषेधाऽयोगादित्युक्तत्वात् ।

नन्वेव शक्तिद्वयकल्पने गौरवमव्याहतमिति 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापात इत्याशङ्कायामाह- लक्षणा वेति । व्यवच्छेदे एव शक्ति., समभिव्याहारादिवलोपस्थिते विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वे लक्षणेत्यर्थ । न चैव लक्ष्य-शक्ययो एवकारार्थयो. परस्परमनन्वयप्रसङ्ग इत्यारेकणीयम्, 'एवपदप्रयोज्यलक्ष्यार्थनिष्ठविषयतानिरूपितशक्यार्थनिष्ठविषयतासम्बन्धेन शाब्दबोध प्रति एवपदनिष्ठशक्तिज्ञानजन्योपस्थिति. विशेष्यतासम्बन्धेन कारणमि'ति कार्यकारणभावलब्धात्मलाभाया 'एवपदप्रयोज्यलक्ष्यार्थनिष्ठविषयतानिरूपितशक्यार्थविषयता एवपदप्रयोज्या भवती'तिव्युत्पत्तेर्महिम्ना तयो. परस्परमन्वयात् । अत एव घटपदस्य नीले लक्षणामङ्गीकृत्य 'नीलो घटो न शुक्ल' इति तात्पर्येण 'घटो न शुक्ल.' इत्यस्याऽनापत्ते. ।

निराकरण करने के लिए नव्य नैयायिक कहते है कि - विशेषणसगत एवकार का अर्थ अयोगव्यवच्छेद तो नही हो सकता, क्योकि 'प्रमेय अभिधेय एव' इत्यादि स्थल मे अयोगव्यवच्छेद अर्थ अप्रसिद्ध है । वह इस तरह समझा जा सकता है । 'प्रमेय अभिधेय एव' यहाँ विशेष्य है प्रमेयपदार्थ और विशेषण है अभिधेयपदार्थ । अयोगव्यवच्छेद के घटकीभूत अयोग का मतलब है सम्बन्धाभाव और व्यवच्छेद का मतलब है अभाव या निषेध । अयोग के एकदेश सम्बन्ध मे अभिधेयत्व का, जो अभिधेयशब्दार्थ का एक देश है, अन्वय करने पर 'अभिधेय एव' का अर्थ होगा अभिधेयत्वससर्गाभाव का अभाव । उसका स्वरूपसम्बन्ध से प्रमेयपदार्थ मे अन्वय होने से उक्त वाक्य का अर्थ होता है 'प्रमेय अभिधेयत्वससर्गाभावऽभाववत्' अर्थात् प्रमेयपदार्थ मे अभिधेयत्व का सम्बन्धाभाव नही है । मगर यह नही माना जा सकता, क्योकि सभी चीज-वस्तु अभिधेय यानी अभिधा = शब्द का विषय होने की वजह कोई भी चीज अभिधेयत्व = अभिधाविषयत्व के ससर्ग से शून्य नही है । मतलब कि अभिधेयत्वससर्गाभाव कही भी प्रसिद्ध नही है । निषेध उसीका हो सकता है जो वस्तु अन्यत्र विद्यमान हो, सत् हो, प्रसिद्ध हो । अभिधेयत्वससर्गाभाव सर्वथा अप्रसिद्ध होने से उसका निषेध नही हो सकता, क्योकि अप्रसिद्धप्रतियोगिक निषेध नही होता है । अत. 'प्रमेयपदार्थ अभिधेयत्वससर्गाभावाऽभाववान् है' यह अर्थ असगत हे । इस असगति की वजह विशेषणसगत एवकार का अर्थ अयोगव्यवच्छेद नही माना जा सकता । प्रदर्शित अर्थ मे एवकार की खडशः = पृथक् शक्ति मानी जाय या लक्षणा ? इस विषय मे हमारा कोई आग्रह नही है ।

❀ नव्यनैयायिक मतानुसार 'घटः सन् एव' वाक्य का अर्थ ❀

तथा च 'घटः सन्नेवे'त्यत्र स्ववृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसत्त्ववान्, स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्त्ववान् वा घट' इति बोधः, न तु सर्वसत्त्ववानिति । तथा च क्व साङ्कर्यम् ? एकान्तवादे परौदासीन्येन सत्त्वमात्रबोधनात् ।

❀ जयलता ❀

एतावत्पर्यन्तकथनफलमाह- तथा चेति । 'विशेषणसङ्गतैवकारस्य स्वविशेष्यनिष्ठव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं स्वविशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वाऽर्थः' इति समर्थनप्रकारेण चेति । 'घटः सन्नेवे'त्यत्र स्थले स्ववृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसत्त्ववानिति । 'घट इति बोध' इत्यनुकृष्यते । स्वपदेन घटो बोध्यः, 'विशेषणकुक्षिप्रविष्टस्वपदस्य विशेष्यपरत्वमिति सर्वसम्मतत्वात् । तथा च घटवृत्ति योऽत्यन्ताभावः तदप्रतियोगि यत् सत्त्वं तदाश्रयो घट इत्यर्थः । घटवृत्तिरत्यन्ताभावः घटादि-प्रतियोगिको न तु सत्त्वप्रतियोगिक इति तस्य तत्प्रतियोगित्वमव्याहतम् । विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य तदर्थत्वकल्पे आह- स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्त्ववान्वेति । घटवृत्तिर्यः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकोऽभावः पटादिभेदलक्षणः तन्निरूपितप्रतियोगिताऽवच्छेदकत्वस्य पटत्वादिवृत्तेः अभाववत् सत्त्वं, 'घटो न सन्' इत्यप्रतीतेः । तादृशसत्त्ववान् घट इति वा बोध उक्तस्थले उपजायत इति । व्यवच्छेदमाह- न तु सर्वसत्त्ववानिति । अनेन घटस्य पटादिरूपताप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः । तथा च क्व साकर्यं ? इति । तादृशवाक्यजन्यबोधस्य घटेतरवृत्तिसत्त्वाऽनवगाहितया घटे परवृत्तिधर्मवत्त्वरूपं सत्त्व-विरोध्यसत्त्वसमावेशरूपं वा साङ्कर्यमनवकाशमित्यर्थः । तदेवाऽऽह- एकान्तवादे उक्तवाक्यात् परौदासीन्येन = परकीयधर्म-विषयकास्तित्वनास्तित्वविचारनिरपेक्ष्येण, सत्त्वमात्रबोधनात् = घटे केवलं सत्त्वबोधजननात् । ततः एकान्तवाद एव विश्वकल्याण-करः न त्वनेकान्तवादः साङ्कर्यादिदोषानतिवृत्तेरिति नव्यनैयायिकस्याऽभिप्रायः ।

तथा च इति । विशेषणसंगत एवकार का उपदर्शित अर्थ मानने की वजह 'घटः सन् एव' = 'घट सत् ही है' इस वाक्य में विशेषणवाचक सन् पद से संगत एवकार का अर्थ होगा घटवृत्ति व्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व या घटवृत्ति भेद की प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व । उसका अन्वय सत्पदार्थ के एकदेश सत्त्व में होगा । अतः उक्त वाक्य से (१) घटः स्ववृत्तिव्याप्य-वृत्त्यत्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसत्त्ववान्' ऐसा शाब्दबोध श्रोता को होगा । घट में जो व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिक अभाव रहते हैं वे घट, पट, मठ आदि प्रतियोगिक हैं, मगर सत्त्वप्रतियोगिक नहीं हैं । अतः सत्त्व तादृश अभाव का अप्रतियोगी है, जो कि घट में रहता है । इसलिए 'घट अपने में रहे हुए व्याप्यवृत्तिप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगि सत्त्ववाला है' ऐसा शाब्द बोध का आकार हिन्दी भाषा में बताया जा सकता है । यदि विशेषणसंगत एवकार के द्वितीय अर्थ का स्वीकार किया जाय तब उक्त वाक्य से श्रोता को शाब्दबोध होगा कि 'घटः स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्त्ववान्' । यहाँ एवकार का अर्थ होगा, घटनिष्ठ भेद की प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व (= अवच्छेदकत्वाऽभाव) । उसका अन्वय स्वरूप संबंध से सत्त्व में होगा और उसका अन्वय विशेष्यभूत घटपदार्थ में होगा । अतः उक्त वाक्य से जन्य शाब्दबोध का आकार - 'घट अपने में रहने वाले भेद की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक सत्त्व वाला है' - यह होगा । घट में जो भेद रहते हैं, वे पटआदिप्रतियोगिक हैं । मगर सत्प्रतियोगिक नहीं है । 'घटो न सन्' ऐसी प्रतीति नहीं होती है । अतः घटवृत्ति तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक पटत्व आदि धर्म होंगे, न कि सत्त्व । तादृश सत्त्व का आश्रय घट है । मतलब कि घट में जो सत्त्व प्रतीयमान होता है, वह सर्व सत्त्व (= सत्ता) नहीं है, मगर सावच्छिन्न है, घटवृत्तिभेदप्रति-योगितानवच्छेदकत्वावच्छिन्न है । इसलिए साकर्य दोष का यहाँ अवकाश ही नहीं है । साकर्य दोष तब प्रसक्त होता यदि घट में सत्त्व के साथ साथ असत्त्व का भी भान उक्त वाक्य से होता । मगर यहाँ तक के विवरण में हम यह देख चुके हैं कि उक्त वाक्य से घट में सावच्छिन्न (= विशिष्ट) सत्त्व का ही केवल बोध होता है, न कि यत् किञ्चित् असत्त्व का भी, क्योंकि एकान्तवाद में, जो हमारा प्राणप्रिय है, व्यधिकरण धर्म की उदासीनता = निरपेक्षता में सत्त्व मात्र का ही बोध होता है । मतलब कि व्यधिकरण धर्म की अपेक्षा घट आदि पदार्थ में कौनसा धर्म रहता है ? इस विषय में उदासीन हो कर एकान्तवाद यह प्रतिपादन करता है कि - उक्त वाक्य से विशेष्य घट में केवल सत्ता का ही बोध होता है, जो सत्ता घटनिष्ठाभावाप्रतियोगी या घटनिष्ठभेदप्रति-योगितानवच्छेदक होती है । उक्त रीति से साकर्यादि दोष को अवकाश नहीं होने के सबब एकान्तवाद ही हितकर = विश्वकल्याणकर है । अनेकान्तवाद के स्वीकार में तो साकर्यादि दोष की वजह प्रमाणव्यवस्था ही विलीन हो जाती है । अतएव वह त्याज्य है - यह हम नव्यनैयायिक मनीषियों का तात्पर्य है ।

❀ 'द्रव्यं सदेव' इस प्रतीति की अनुपपत्ति - आक्षेप ❀

नन्वेव 'द्रव्यं सदेवे'तिधी. कथं ? सत्तानतिरिक्ताया गुणत्वविशिष्टसत्ताया द्रव्यनिष्ठ-भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वादिति चेत् ? न, विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्य-नधिकरणत्वस्य विवक्षितस्य तत्र सत्त्वादिति चेत् ?

❀ जयलता ❀

नव्यमते कश्चिच्छङ्कते - **नन्वेवमिति** । विशेषणसमभिव्याहृतैवकारस्य विशेष्यवृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगितानवच्छेद-कत्वार्थोपगमे इति । **'द्रव्य सदेवे'तिधीः कथम्** ? हेतुमाह- **सत्तानतिरिक्तायाः** = शुद्धसत्तानतिरेकिण्या., **गुणत्वविशिष्टसत्तायाः** = सामानाधिकरण्येन गुणत्वजातिविशिष्टसत्ताया , **द्रव्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्** = विशेष्यभूतद्रव्यनिष्ठभेदत्वावच्छिन्न-निरूपकतानिरूपितप्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकतावत्त्वात् । अयमाशयः उक्तस्थले द्रव्य विशेष्य सत्त्वञ्च विशेषणम् । द्रव्ये या सत्ता वर्तते सा न गुणत्वसमानाधिकरणत्वविशिष्टा किन्तु द्रव्यत्वसामानाधिकरण्यविशिष्टा । अत द्रव्ये सामानाधिकरण्येन गुणत्वविशिष्टसत्तावत्प्रतियोगिको भेदो वर्तते । तत्प्रतियोगितावच्छेदिका गुणत्वविशिष्टसत्ता । सा च शुद्धसत्तानतिरिक्ता, 'विगिष्ट शुद्धान्नातिरिच्यत' इति न्यायात् । अतो द्रव्यवृत्तिभेदस्य गुणत्वविशिष्टसत्ताधिकरणप्रतियोगिकस्य प्रतियोगितावच्छेदकता गुणत्व-विशिष्टसत्तावत् शुद्धसत्तायामपि वर्त्तते । अतो द्रव्यविशेषणीभूतसत्ताया द्रव्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽभावो नास्ति । तत 'द्रव्य स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकसत्तावदि'ति बोध प्रकृते भवितु नार्हतीति विशेषणसङ्गतैवकारस्य विशेष्यवृत्तिभेदप्रति-योगितानवच्छेदकत्वाऽर्थकत्व न चारुतामञ्चति ।

नव्यनैयायिकस्ता प्रत्याचष्टे-नेति । **विशेष्यनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनधिकरणत्वस्य** = विशेष्यार्थवृत्तिभेदनिरू-पितप्रतियोगितानिरूपिताया अवच्छेदकताया या पर्याप्ति तन्निरूपित यदधिकरणत्व तदभावस्य, **विवक्षितस्य** = विशेष्यवृत्ति-भेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वपदेन वक्तुमभिप्रेतस्य, **तत्र** = शुद्धसत्ताया, **सत्त्वात्** = विद्यमानत्वादिति । अय नव्याशय प्रतियो-गितानवच्छेदकत्वपदेनाऽत्र प्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽभावो न विवक्षित किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यधिकरणत्वाभाव । स च न सत्ताया वर्तते । तथाहि - 'द्रव्य न सामानाधिकरण्येन गुणत्वविशिष्टसत्तावत्' इति प्रतीत्या यो भेदो द्रव्ये ज्ञायते

शका :- नन्वेव इति । जनाव ! यदि एवकार का अर्थ अयोगव्यवच्छेद न माना जाय और विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगि-तानवच्छेदकत्व ही माना जाय तव तो 'द्रव्य सत् एव' यह प्रतीति आपके मत मे अनुपपन्न वन जायेगी । इसका कारण यह है कि द्रव्य मे शुद्ध सत्ता रहती है मगर गुणत्वविशिष्ट सत्ता नही रहती है । गुणत्वविशिष्ट सत्ता का मतलव है गुणत्वजाति-समानाधिकरण सत्ता = सामानाधिकरण्य सवध से गुणत्वविशिष्ट सत्ता = जिसके अधिकरण मे गुणत्व जाति रहती हो वैसी सत्ता । गुणत्वविशिष्ट सत्ता का आश्रय गुण है, न कि द्रव्यादि । अतः 'द्रव्य न गुणत्वविशिष्टसत्तावद्' यह प्रतीति एव व्यवहार होने मे कोई बाध् नही हे । द्रव्यवृत्ति गुणत्वविशिष्टसत्तावद्भिन्नत्व का प्रतियोगितावच्छेदक है गुणत्वविशिष्टसत्ता । मगर न्यायनयमतानुसार गुणत्व-विशिष्ट सत्ता तो शुद्ध सत्ता से अतिरिक्त नही है । अतः द्रव्यवृत्ति गुणत्व-विशिष्टसत्ताश्रयभेद से निरूपित प्रतियोगिता की अवच्छेदकता जैसे गुणत्वविशिष्ट सत्ता मे रहती है, ठीक वैसे ही शुद्ध सत्ता मे भी रहती है, जो कि द्रव्य मे भी रहती है । द्रव्यवृत्तिसत्ता मे स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व न होने से द्रव्यनिष्ठभेद-प्रतियोगितानवच्छेदकसत्ताश्रय द्रव्य नही होगा । अतः 'द्रव्य सदेव' यह बोध अनुपपन्न हो जायेगा ।

❀ प्रतियोगितानवच्छेदकत्व का अर्थ - नव्यनैयायिक ❀

समाधान :- न, विशि इति । उस्ताद ! आपकी यह शका ठीक नही है, क्योकि विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व एवकारार्थ हे - यह कहने का मतलव आप जानते नही है । हमारा मतलव यह है कि प्रतियोगितानवच्छेदकत्व प्रतियोगिता-वच्छेदकत्वाभावस्वरूप नही हे किन्तु प्रतियोगितानिरूपित अवच्छेदकता की पर्याप्ति से निरूपित अधिकरणत्व का अभाव है । अतः विशेपणसगत एवकार का अर्थ होगा विशेष्यनिष्ट भेद से निरूपित प्रतियोगिता की अवच्छेदकता से निरूपित पर्याप्ति के अधिकरणत्व का अभाव, जो विशेषण मे रहना चाहिए । प्रस्तुत मे 'द्रव्य सदेव' यहाँ विशेष्यात्मक द्रव्य मे जो भेद रहता है वह सामानाधिकरण्यसवन्ध से गुणत्वविशिष्टसत्तावत्प्रतियोगिक है । विशेष्यवृत्ति भेद का प्रतियोगितावच्छेदक गुणत्वविशिष्ट्य और सत्ता है । अतः प्रतियोगितावच्छेदकता तादृश प्रत्येक धर्म मे रहती है । मगर विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकता की पर्याप्ति प्रत्येक धर्म मे नही रहती है, किन्तु मिलित उभय धर्म मे ही रहती है, क्योकि 'तादृशप्रतियोगितावच्छेदकता प्रत्येक धर्म मे ही रहती है, क्योकि 'तादृशप्रतियोगितावच्छेदकता प्रत्येक धर्म मे पर्याप्त नही है किन्तु उभय मे ही पर्याप्त है' ऐसा

मैवम्, 'घट· सन्नेवे'त्यत्र 'घट सन्न त्वसन्नि'ति एव हि स्वारसिको बोधः । तथा च प्रत्यक्षत. प्रतीयमानमपि पररूपेणाऽसत्त्वं घटे प्रतिक्षिपत फलत. पररूपेणाऽपि सत्त्वाऽभ्यु-

❀ जयलता ❀

तन्निरूपितप्रतियोगितावच्छेदकत्व न वैशिष्ट्यम्, यत्किञ्चिद्विशिष्टसत्ति द्रव्ये 'द्रव्य न गुणत्वविशिष्टमि'ति प्रत्ययात् । न वा सत्ता, तत्र सत्ताया समवेतत्वेऽपि 'द्रव्य न गुणत्वविशिष्टसत्तावदि'ति प्रतीत्युदयात् । नाऽपि वैशिष्ट्यसत्तोभयम्, द्रव्यत्वविशिष्ट-सत्तावत्यपि तथाप्रत्ययात् । किन्तु गुणत्ववैशिष्ट्य सत्त्वञ्च । प्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकत्वञ्चाऽत्र पर्याप्तिसम्बन्धेन बोध्यम् । द्रव्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्तिनिरूपिताधिकरणत्व गुणत्वविशिष्टसत्तायामेव वर्तते । तदभावस्तु शुद्धसत्ताया वर्तते । सा च द्रव्ये वर्तते । अत 'द्रव्य स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यनधिकरणसत्त्ववदि'त्यन्वयबोधोपगमे बाधकाभावात् । ततो विशेष्यनिष्ठभेदवृत्तिभेदत्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितप्रतियोगितानिरूपितावच्छेदकतानिरूपितपर्याप्तिनिरूपिताधिकरणत्वप्रति-योगिकात्यन्ताभावस्य विशेषणसमभिव्याहृतैवकारार्थत्वोपगमे न कश्चिद्दोष इत्येकान्तवाद एव सार्वजनीन इति नव्यनैयायिकाशय ।

अत्रेदमवधेयम् - विशेषणसगतैवकारार्थघटकीभूता पर्याप्ति अनित्यत्वे सति व्याप्यवृत्तित्वे च सति स्वरूपसम्बन्धभिन्नसंसर्ग-रूपा । शिरोमणिनये तु स्वरूपसम्बन्धविशेषात्मिका सा । तदुक्त अवच्छेदकत्वनिरुक्तिदीधितौ "पर्याप्तिश्च 'अयमेको घट इमौ द्वौ' इत्यादिप्रतीतिसाक्षिक स्वरूपसम्बन्धविशेष" इति । नानासमवायवादिमते तु तत्तत्समवाय एव तत्तत्पर्याप्तिर्न्यतिरिक्तपदार्थ स्वरूप वेति ।

साम्प्रत स्याद्वादी नव्यनैयायिकमत प्रतिक्षिपति - मैवमिति । 'घटः सन्नेवे'त्यत्र स्थले 'घटः सन् न तु असन्' इत्येव हि स्वारसिकः स्वरसग्राही सार्वलौकिक बोध समुपजायते इति शेष । 'घट स्ववृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगितानिरूपि-तावच्छेदकत्वपर्याप्तिनिरूपिताधिकरणताप्रतियोगिकाभावाश्रयसत्त्ववान्' इति बोधस्तु स्वप्नेऽपि नोदेतीति तद्व्यवच्छेद एवकारेण कृत । अय भाव विशेषणसगतैवकारस्य अयोगो व्यवच्छेदश्चार्थ । विशेषणार्थस्य चैवकारोपस्थितेऽन्यपदार्थेऽन्वय । ततश्चोक्त-स्थले 'घट सन्, न सदन्य 'इत्येव बोध । तदर्थश्च 'घट घटत्वावच्छिन्नसत्त्ववान्, न तु घटत्वावच्छिन्नसत्त्वाऽभाववानि'त्येव । एवञ्च घटवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूताऽत्यन्ताभावप्रतियोगिसत्त्वस्य घटत्वावच्छिन्नत्वप्रतीतौ सत्या पटत्वाद्यनवच्छिन्नत्वमपि प्रत्यक्षत प्रतीयत एव । उक्तस्थले 'घट स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्त्यधिकरणत्वाभावाश्रयसत्त्ववानि'ति बोधोपगमे तूपदर्शितरीत्या घटे प्रत्यक्षप्रतीतमपि पटत्वाद्यवच्छिन्नासत्त्व घटवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूत-व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नसत्त्वसमान-वित्तिवेद्यमपह्नुत स्यात् । तेन च पटत्वादिपररूपावच्छिन्न सत्त्व, घटेऽभ्युपगत स्यात् । तत परकीयसत्त्वसमावेशलक्षण साकर्यं दुर्निवारमित्याशयेनाऽऽह - तथा चेति । उक्तरीत्या चेति । प्रत्यक्षतः = प्रत्यक्षमाश्रित्य प्रतीयमानमपि पररूपेणाऽसत्त्व = व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाऽसत्त्व, घटे प्रतिक्षिपतः = अपलपत नव्यनैयायिकस्य, फलतः = अर्थत , पररूपेणाऽपि सत्त्वा-

सार्वलौकिक अनुभव है । दो पच्चास रूपये की प्रत्येक नोट (Money) मे सौ रूपये पर्याप्त = समाविष्ट नही होते किन्तु मिलित उभय मे ही । अतः द्रव्यवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्ति की अधिकरणता गुणत्ववैशिष्ट्य और सत्ता उभय मे रहती है, न कि केवल सत्ता मे । शुद्ध सत्ता मे, जो कि द्रव्यवृत्ति है, तो तादृश अधिकरणत्व का अभाव ही रहता है । अत 'द्रव्य स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकतापर्याप्त्यनधिकरणसत्तावत्' यह अर्थ सगत हो जाता है । अत· विशेषणसगतैवकारार्थस्वरूप विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व का विशेष्यनिष्ठभेदनिरूपितप्रतियोगितानिरूपितपर्याप्तिनिरूपिताधिकरणत्वप्रतियोगिकाऽभावरूप से स्वीकार करने पर कोई दोष नही है । इस तरह एकान्तवाद मे साकर्य आदि दोष का सभव नही है, क्योकि तादृशसत्ता का ही घट, द्रव्य आदि मे भान होता है - यह एकान्तवाद का सिद्धान्त-अभिप्राय है । इसलिए यह सिद्ध होता है कि अनेकान्तवाद हेय है और एकान्तवाद उपादेय है - यह नव्य नैयायिक मनीषियो का स्याद्वादी के प्रति आक्षेप है ।

स्याद्वादी :- मैवम् इति । जनाब ! आपकी यह बात ठीक नही है । 'घट· सन् एव' इस वाक्य से श्रोता को 'घट सत् है, न कि असत्' ऐसा ही स्वारसिक बोध होता है । उक्त बोध के उत्तर अश से घट मे परकीय सत्त्व का निषेध फलित होता है । घट मे घटत्वरूप से सत्त्व और पटत्वादिरूप से असत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित होता है । मगर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नसत्त्वाऽभाव का घट मे निषेध किया जाय तब तो अर्थत· व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न सत्त्व का स्वीकार हो जायेगा । तब तो घट मे स्वरूप की भाँति पररूप से सत्त्व प्रसक्त होने से घट का स्वरूप सकीर्ण बन जायेगा । सभी

पगमापातात् साकर्यशंकाशंकुसंकुलचेतस्कता दुर्निवारा चिरमायुष्मतः ।

अथ एवं 'प्रमेय वाच्यमेवे'त्यत्र का गति ? इति चेत्,

'किं तत्राऽवाच्यता न प्रतिषिध्यते ?'

'अप्रसिद्धा सा कथं प्रतिषिध्यतामिति चेत् ?'

तर्हि तत्र योग्यताऽभावादेवकारोऽबोधक एवास्तु ।

❀ जयलता ❀

भ्युपगमापातात् = परधर्मावच्छिन्नसत्त्वोपगमप्रसङ्गात्, द्वौ नञौ प्रकृतमर्थ गमयत इति न्यायेन, **साकर्यशङ्काशङ्कुसङ्कुल-चेतस्कता** = स्वकीयपरकीयधर्मसमावेशव्यतिकीर्णस्वरूपलक्षणसङ्करसशयाख्याकुलमनस्कता, **दुर्निवारा** सुरगुरुणाऽपि **चिर आयुष्मतः** भवत इति । स्वसत्त्वविरोधि न पराऽसत्त्वमिति तत्स्यादेव, अन्यथा तदभावनियत परसत्त्वमेव स्यात् । एतेन पराऽ-सत्त्वस्य काल्पनिकत्वमपि **परास्तम्** । तदुक्त **शास्त्रवार्तासमुच्चये श्रीहरिभद्रसूरिपुरन्दरेण** –> 'परिकल्पितमेतच्चेन्नन्वित्थ तत्त्वतो न तत् । तत· क इह दोषश्चेन्ननु तद्भावसङ्गति ॥ (शा.स स्त.७। श्लो०२३) इति ।

नव्यनैयायिक. शङ्कते - **अथेति** । **एवमिति** । 'घट. सन्नेवे'त्यत्र 'घट. सन् न तु असन्' इत्यवबोधाङ्गीकारे इति । **'प्रमेय वाच्यमेवे'त्यत्र का गतिः ?** 'प्रमेय वाच्य, न त्ववाच्यमि'त्यस्योपगन्तुमनर्हत्वात्, वाच्यत्वस्य केवलान्वयित्वेन भेद-प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् वाच्यभेदस्याऽप्रसिद्धे. तदाश्रयस्यालीकत्वेन निषेधाऽयोगात् ।

स्याद्वादी नव्यमाक्षिपति काकुन्यायेन - **किमिति** । **तत्र** = 'प्रमेय वाच्यमेवे'त्यत्र, **अवाच्यता** = वाग्विषयत्वाऽभावलक्षणा, **न प्रतिषिध्यते** ? 'प्रमेय वाच्यमेवे'त्यत्राऽवाच्यता प्रतिषिध्यते न वा ? इति पक्षोभयी समुपतिष्ठते । तत्र नाद्योऽनवद्य , तुल्यन्यायेन तदाश्रयस्याऽपि प्रतिषेध्यत्वसिद्धे । नाऽपि द्वितीय , तद्धेतोरप्रदर्शनादिति स्याद्वाद्याशङ्काया नव्योऽपि काक्वा आह - **'अप्रसिद्धेति** । **सा** = अवाच्यता, **कथ प्रतिषिध्यता** ? वाच्यताया. केवलान्वयित्वेन तदभावलक्षणाया अवाच्यताया अप्रसिद्धत्वात् तस्या निषेधाऽयोगादिति नव्याशय ।

यदि चाऽवाच्यताया अप्रसिद्धत्वेन तन्निषेधो न भवितुमर्हति तर्हि अवाच्यस्याऽप्रसिद्धत्वेन तन्निषेधोऽपि न भवितुमर्हतीत्याशयेन स्याद्वाद्याह - **तर्हीति** । **तत्र** = 'प्रमेय वाच्यमेवे'ति स्थले, **योग्यताऽभावात्** = अवाच्यत्वाऽप्रसिद्धिमूलकतदाश्रयाऽप्रसिद्धि-प्रयोज्यप्रतिषेधाऽप्रतियोगित्वलक्षणायोग्यत्वहेतो., **एवकारः** विशेषणसङ्गत·, **अबोधकः** साधुत्वार्थ एव **अस्तु** । **एतेन** 'प्रमेय वाच्यमेवे'त्यत्र का गति. ? इति **निरस्तम्** ।

ननु 'प्रमेय वाच्यमेवे'त्यत्र प्रमेय स्ववृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगितानवच्छेदकवाच्यत्ववदि'ति बोध स्वरसवाहीति वाच्य-पदसगतैवकारस्य प्रमेयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वार्थकत्व सिद्धमिति तत्रैवकारस्य न निरर्थकत्वमुपगन्तुमर्हतीति नव्याऽऽ-

रूप से घट मे सत्त्व होने से घट का विशेपस्वरूप अनिश्चित रहेगा । सकर दोप की वजह आपका चित्त चिरकाल तक चचल ही रहेगा ।

'प्रमेयं वाच्यं एव' स्थल का निरूपण

अथेव इति । यहाँ नव्यनैयायिक की ओर से यह शका की जा सकती है कि –> ''घटः सन् एव इस वाक्य से 'घटः सन् न तु असन्' ऐसा शाब्दवोध माना जाय तो 'प्रमेय वाच्यमेव' इस स्थल मे एवपद का अर्थ सगत नही हो सकेगा। इसका कारण यह है कि वाच्यत्व केवलान्वयिधर्म होने से वाच्यत्व का अनाश्रय अवाच्य पदार्थ कोई है ही नही, जिसका निपेध हो सके । जो पदार्थ प्रसिद्ध होता है उसीका निपेध हो सकता है, अप्रसिद्ध का नही । अतः 'प्रमेय वाच्य न तु अवाच्य' ऐसा शाब्दवोध 'प्रमेय वाच्यमेव' इस वाक्य से नही हो सकता'' <– इस सवध मे स्याद्वादी की ओर से नव्य नैयायिक को प्रश्न किया जा सकता है कि - 'प्रमेय वाच्यमेव' इस वाक्य से प्रमेय मे क्या अवाच्यत्व का निपेध नही किया जाता हे ? यदि नैयायिक का यह जवाव हो कि –> 'अवाच्यता तो अप्रसिद्ध = असत् है । उसका निपेध कैसे हो सकता है ? क्योकि असत् का निपेध नही हो सकता' <– तो स्याद्वादी की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि अवाच्यत्व मे प्रसिद्धत्वस्वरूप योग्यता न होने से वाच्यपदसगत एवकार अवोधक हे । अतः 'प्रमेय वाच्यमेव' यहाँ 'प्रमेय वाच्य' ऐसा ही वोध होता है, न कि 'प्रमेय वाच्य न तु अवाच्य' इत्याकारक । यदि नैयायिक की ओर से ऐसा कहा जाय कि

'प्रमेयवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वबोधः स्वारसिकश्चेत् ?' तदाऽस्तु तत्र तस्य लक्षणैव । शक्तिस्तु लाघवादयोगे(?दन्यस्मिन्) व्यवच्छेदे च खण्डश एवेति युक्तमुत्पश्याम ।

अस्तित्वं यत्पटादौ न तदिह कलशे, यद्घटे तत्तु बाढम् ।
रूपं तस्यैव कुम्भे न भवति हि यथेत्यत्र नो नो विवादः ।

❋ जयलता ❋

शङ्कायां स्याद्वाद्याह-प्रमेयेति । तदा = तर्हि, तत्र प्रमेयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वविशिष्टं वाच्यत्वप्रकारकशाब्दबोधाङ्गीकारे इति यावत् । तत्र = प्रमेयवृत्तिभेदीयप्रतियोगितानवच्छेदकत्वे, तस्य = वाच्यपदसमभिव्याहृतैवकारस्य, लक्षणैवेति । ननु लक्षणाया जघन्यवृत्तित्वात् तत्र शक्तिरेव युक्तेत्याशङ्कायां स्याद्वाद्याह - शक्तिस्त्विति । विशेषणसङ्गतैवकारशक्तिस्त्विति । लाघवात् अयोगे व्यवच्छेदे च खण्डश एवेति । विशेष्यवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वे विशेषणसङ्गतैवकारस्य शक्तत्वोपगमापेक्षया खण्डशः सदन्याभावलक्षणेऽयोगेऽभावरूपे व्यवच्छेदे चैव शक्तत्वाङ्गीकारे लाघवाद् युक्तमित्यर्थः ।

नन्वत्र 'अन्यस्मिन्' इत्येव पाठः युक्तः, 'घटः सन्नेव नास्ती'ति बोधस्य 'घटः सन्नेवे'ति वाक्यात् प्रकृतग्रन्थकारेणोपगमात् । 'न त्वसत्त्वं तस्य सद्भिन्नभेदवानित्येव स्वारसिकबोधाभ्युपगमात् । अयोगे व्यवच्छेदे च खण्डशः शक्तत्वाङ्गीकारे तु तत्र 'घटः सत्त्वायोगाभावाभाववान्' इति यद्वा 'घटः सत्त्वाभाववद्भेदवान्' इत्येव बोधः स्यात् । न चानुभवविरोधः । न हि 'न पर्वतोऽयोगी' त्यत्र 'पर्वतः संयोगाभाववद्भिन्नः' इति बोध उदेति किन्तु 'पर्वतः संयोगिभिन्नभेदवानि'त्येव । 'घटः सन्नेवे'त्यत्र अन्यो व्यवच्छेदश्चैवकारार्थ इत्युपगमे तु समभिव्याहृतप्रातिपदिकार्थस्यैवकारोपस्थितेऽन्यपदार्थेऽन्वयात् 'घटः सन्, न सदन्यः' इति बोध उपपद्येतेति । किञ्च विशेषणविशेष्यक्रियान्वितसमभिव्याहृतैवकारशक्तिरप्यनुगता स्यात् 'शङ्खः पाण्डुर एवे'ति अत्र 'शङ्खः पाण्डुरः न पाण्डुरान्यः', 'पार्थ एव धनुर्धर' इति अत्र 'पार्थो धनुर्धरः पार्थान्यो न धनुर्धरः', 'सरोजं नीलं भवत्येवे'त्यत्र 'सरोजं नीलकर्तृकोत्पत्तिमद् नीलकर्तृकोत्पत्तिमदन्यद् न' इत्युपपत्तेः । अयोगे व्यवच्छेदे च विशेष्यसमभिव्याहृतैवकारशक्तिर्न सम्भवति । न चात्र पार्थो धनुर्धरः पार्थत्व-सम्बन्धाऽभाववान् न धनुर्धर इति बोध उत्पत्तुमर्हतीति वक्तव्यम्, अननुभवात्, गौरवाच्चेति अन्यो व्यवच्छेदश्चैवकारार्थ इति चेत् ? न, 'घटः सन्नस्त्वसती'त्यत्र 'घटः घटत्वावच्छिन्नसत्त्ववान् न तु घटत्वावच्छिन्नसत्त्वाभाववानि'त्येव बोधोपगमात्, इत्यमेवाग्रिमग्रन्थसङ्गतेः । अन्यपदार्थे तच्छक्त्यभ्युपगमे तु 'प्रमेयं वाच्यमेवे'त्यत्र लक्षणाप्रतिपादनानुपपत्तिरित्यादिकं विभावनीयमवहितमानसैः ।

प्रस्तुतधर्ममीमांसाफलितं पद्येन प्रकरणकृदाह - अस्तित्वमिति । तद्व्याख्यालेशस्त्वेवम् - इह = जगति यत् अस्तित्वं = सत्त्वं पटादौ धर्मिणि वर्तते तत् = पटादिनिष्ठाऽस्तित्वं कलशे = घटे न अस्ति । यत् अस्तित्वं घटे वर्तते तत् अस्तित्वं तु बाढं निःशङ्कं कलशपदवाच्येऽस्त्येव । एतत्कथं सङ्गच्छेत ? इत्याशङ्कायामाह - यथा हि तस्य पटादेः रूपं = नीलादि स्वरूपं वा पटत्वादिकं कुम्भे नैव भवति । यथा 'घटे पटादिरूपं न भवति तथा पटादिसत्त्वमपि । यथा घटे घटरूपमेव भवति तथा घटसत्त्वमेव । यथा 'घटे पटादिरूपं नास्ती'त्यत्र नः = अस्माकं विवादः = विप्रतिपत्तिर्नास्ति, तथैव भवतामपि

—> ''प्रमेयं वाच्यमेव इस वाक्य से 'प्रमेयं स्ववृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकवाच्यत्ववत्' इत्याकारक बोध होता है । यह सर्वजनविदित होने से वाच्यपदसङ्गत एवकार का अर्थ प्रमेयवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व है, जो कि वाच्यत्व में रहता है । एवकारार्थ का वाच्यत्व में और वाच्यत्व का प्रमेयात्मक विशेष्यार्थ में अन्वय होने से उपर्युक्त बोध सम्पन्न हो सकता है'' <— तो स्याद्वादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि - ''यदि 'प्रमेयं वाच्यमेव' इस वाक्य से एवकार से यदि प्रमेयवृत्तिभेदनिरूपितप्रतियोगितानवच्छेदकता का वाच्यत्व में स्वरसवाही बोध होता हो, तब उस अर्थ में वाच्यपदसङ्गत एवकार की लक्षणा ही माननी चाहिए, न कि शक्ति, क्योंकि तादृश गुरुभूत अर्थ में शक्ति मानने पर गौरव दोष प्रसक्त होता है । एवकार की शक्ति तो लाघवसहकार से अयोग और व्यवच्छेद = अभाव में खण्डशः ही माननी चाहिए । यह हमें (महोपाध्यायजी को) युक्तिसङ्गत लगता है ।

इस विचारविमर्श से यह फलित होता है कि 'घटः सन् एव' इस वाक्य से या तो प्रत्यक्ष से पट आदि पदार्थ में जो अस्तित्व = सत्ता है, वह कलश (= घट) में नहीं रहता है, मगर घट में जो अस्तित्व है वह तो घटपदवाच्य अर्थ में है ही । इस विषय में कोई सन्देह नहीं है । यह उसी तरह सङ्गत होता है जैसे पट का ही रूप (अथवा स्वरूप-पटत्वादि) घट में नहीं होता है, मगर घट का रूप (अथवा स्वरूप घटत्वादि) तो घट में होता ही है । इस विषय में हमारा कोई विवाद नहीं है । भावाभावैकस्वभाववाली वस्तु के स्वीकार को छोड़ने वाले हे नैयायिक ! आपका यह वचन कि 'एकान्तवाद

भावाभावैकभावाऽभ्युपगमविमुचो नो वचो युज्यतेऽदो ।
यस्मादस्माकमेतद्द्वयमिह मिलितं सप्तधा धर्मशालि ॥१॥

ननु तथापि 'नास्ती'त्यत्राऽस्तित्वाभावस्येव 'नास्ती'तिपदवाच्यत्वादिधर्मस्यापि घटादौ सम्भवाद् भङ्गाना सप्तसीमातिक्रम इति चेत् ? न, 'नास्ती'त्यनेन प्रतिषेधकल्पनाऽवतीर्णप्रश्नोन्मग्नस्याऽस्तित्वाऽभावस्यैव आकाङ्क्षितत्वात् ।

❀ जयलता ❀

'घटे पटाद्यसत्त्व नास्ती'त्यत्र विप्रतिपत्तिर्भवितु नार्हतीति भाव । तदेव पद्यपश्चार्द्धेनाऽऽह - **भावाभावैकभावाभ्युपगमविमुचः** = अस्तित्वनास्तित्वस्वभावशालिवस्तूपगमप्रतिक्षेपिणो भवतो नैयायिकादे **अदो वचः** = 'एकान्तवाद एव सार्वजनीन' इति वचन **नो युज्यते** = नैव युज्यत इत्यर्थ , 'सर्व वाक्य सावधारणमि'ति न्यायात् । हेतुमाह - **यस्मात्** कारणात् **एतद्द्वय** = भावाभावोभय, **इह** = वस्तुनि, **मिलित** = कर्बुरित, सत् **सप्तधा धर्मशालि** भवति **अस्माक** नये । यथा चैतत्तत्त्व तत्तु प्रज्ञापितमेव पूर्वम् । प्रयोग एवम् - पटास्तित्व घटाऽवृत्ति घटेतरवृत्तित्वात्, पटरूपवत् । न च द्रव्यत्वेन व्यभिचार उद्भावनीय , एकमात्रवृत्तित्वे सतीति हेतोर्विशेषणात् । यदि च विशेपणविशेष्यभावे विनिगमनाविरह उद्भाव्यते परेण तदा 'पटनिष्ठास्तित्व पटेतरवृत्ति पटमात्रवृत्तिप्रतियोगिकत्वात्, पटीयरूपाभाववदि'ति वक्तव्यम् ।

पर शङ्कते - **नन्विति** । **तथापीति** । अस्तित्वनास्तित्वयोरेकत्र समावेशेऽपि । **'नास्ती'त्यत्र** = 'घट स्यान्नास्ती'त्यादौ, **अस्तित्वाभावस्येव 'नास्ती'तिपदवाच्यत्वादिधर्मस्यापि** = 'नास्ती'तिपदनिष्ठवाचकतानिरूपितवाग्विपयत्वस्यापि, **घटादौ** धर्मिणि **सम्भवाद् भङ्गाना सप्तसीमातिक्रमः** इति । 'नास्ति'पदेन घटादावस्तित्वाभावस्येव तत्पदवाच्यत्वस्याऽपि भानसम्भवात् तस्य तत्र सत्त्वाच्चाऽष्टमभङ्गप्रसङ्गेन सप्तभङ्ग्यतिलङ्घन दुर्निवारमिति शङ्काशय । प्रकरणकृत्तत्प्रत्याचष्टे - **नेति** । 'घट· स्यान्नास्ती'-त्यत्र **'नास्ती'त्यनेन** पदेन **प्रतिपेधकल्पनावतीर्णप्रश्नोन्मग्नस्य** = घटेऽस्तित्वधर्मनिषेधस्य कल्पनया विवक्षया अवतीर्णेन लब्धात्मलाभेन प्रश्नेन पर्यनुयोगेन उन्मग्नस्य जिज्ञासितस्य, **अस्तित्वाभावस्यैव आकाङ्क्षितत्वात्** तस्यैव बोधो जायते न तु 'नास्ति'पदवाच्यत्वस्य । यथा 'घटो नीलो न वा ?' इति जिज्ञासाया 'घटोऽनील' इति कथिते श्रोतु घटे नीलभेदस्यैव बोध उपजायते न त्वनीलपदवाच्यत्यस्याऽपि, तस्यानाकाङ्क्षितत्वात् । तथा 'घट सर्वथाऽस्ति न वा ?' इति बुभुत्साया सत्या 'घट स्यान्नास्ती'त्युक्ते घटे कथञ्चिदस्तित्वाभावस्यैव भान भवति न तु 'नास्ति'पदप्रतिपाद्यत्वस्यापि, 'आकाङ्क्षितमेवाऽभिधीयतेऽवबुध्यते चे'ति न्यायात् । ततोऽष्टमभङ्गानापातेन सप्तभङ्ग्यनतिक्रमात् 'सप्तधा धर्मशालि' इति सुष्ठूक्तमिति समाधानाशय ।

अथाऽवक्तव्यत्व यदि धर्मान्तर तर्हि वक्तव्यत्वमपि धर्मान्तर स्यात् । तथा चाऽष्टमस्य वक्तव्यत्वधर्मस्य सद्भावेन तेन सहाऽष्टभङ्गी स्यान्न तु सप्तभङ्गीति चेत् ? न सामान्येन वक्तव्यत्वस्याऽतिरिक्तस्याऽभावात् । सत्त्वादिरूपेण तु वक्तव्यत्व प्रथमादिभङ्गान्तर्भूतम् । अस्तु वा वक्तव्यत्व नाम कश्चनाऽतिरिक्तधर्म तथापि वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वाभ्या विधिप्रतिषेधकल्पना-

ही हितकर है' युक्त नही होता है, क्योकि भाव ओर अभाव अर्थात् सत्त्व और असत्त्व दोनो एक ही पदार्थ मे समिलित होते हे । अस्तित्व और नास्तित्व से व्याप्त पदार्थमात्र सात प्रकार के धर्म से सपन्न-समृद्ध होता हे । यह हमारे मत से पूर्वोक्त और उपर्युक्त युक्ति से सिद्ध होता है । इस वात को प्रकरणकार ने पद्य के द्वारा वताई है ।

❁ सप्तभङ्गी में आधिक्यदोषशंकानिरास ❁

ननु त इति । यहाँ यह शङ्का हो सकती हे कि --> ''घटः स्यात् नास्ति-इस द्वितीय भग मे जेसे 'नास्ति' पद से अस्तित्वाभाव धर्म का घट मे वोध होता है, ठीक वेसे ही 'नास्ति'पदवाच्यत्व धर्म का भी भान होगा, क्योकि घट मे 'नास्ति' ऐसा जो शब्द है उसकी वाच्यता रहती है । इस तरह द्वितीय भग से घट मे अस्तित्वाभाव एव नास्तिपदनिरूपितवाच्यता, इन दो धर्म का वोध होने की वजह सप्तभगी के स्थान मे अष्टभगी प्रतिष्ठित हो जायेगी'' <-- मगर यह शका अयोग्य होने का कारण यह है कि 'घटः स्यात् नास्ति एव' इस द्वितीय भग का उत्थापक जो प्रश्न है उसका आकार 'क्या घट सर्वथा असत् है या नही ?' यह है, जो कि घट मे अस्तित्व के निपेध की कल्पना = विवक्षा से उपस्थित होता है । इस प्रश्न से घट मे अस्तित्वाभाव धर्म का ही आक्षेप होता है, क्योकि यह आकाक्षित = जिज्ञासित है । शाब्द व्यवहार मे यह देखा जाता है कि जैसी जिज्ञासा होती हे उसके अनुरूप ही प्रश्न किया जाता है । अभियुक्त पुरुप भी प्रश्न के अनुरूप ही उत्तर देता है और उससे श्रोता को जिज्ञासित धर्म का ही वोध होत्ता है, न कि अन्य धर्म का । अत. प्रस्तुत मे अस्तित्वाभाव

अत एव वक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्या द्वितीय-चतुर्थभङ्गयोर्नाभेदः, प्रतिषेधकल्पनासाचिव्येन द्वितीयभङ्गेन वक्तव्यत्वाभावस्यैव बोधनात् ।

❀ जयलता ❀

विषयाभ्यां सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरमेव प्राप्नोतीति न सप्तभङ्ग्यतिक्रम इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । न चैवं न्यूनता-बुभुक्षितराक्षसी वक्तव्यत्वसप्तभङ्गीललनाकण्ठलग्ना न निवारयितुं शक्या तन्मते द्वितीयचतुर्थभङ्गयोरव-क्तव्यत्वाऽविशेषेण भेदाभावादिति वक्तव्यम्, निषेधकल्पनया द्वितीयभङ्गेन वक्तव्यत्वाभावस्येवाऽऽकाङ्क्षितत्वेन बोधादित्याशयेन प्रकरणकृदाह - अत एवेति । प्रत्युत्तरजन्यबोधस्य बुभुत्सितविषयकत्वादेवेति । वक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्या = वक्तव्यत्वाऽवक्तव्य-त्वसप्तभङ्ग्या, द्वितीयचतुर्थभङ्गयोः 'घटः स्यादवक्तव्यः' इत्येवंरूपयोः नाऽभेदः = नानतिरेकः प्रसज्येत । हेतुमाह - प्रति-षेधकल्पनासाचिव्येन = निषेधविवक्षासहायेन, द्वितीयभङ्गेन वक्तव्यत्वाऽभावस्यैव बोधनात्, न तु तदतिरिक्ताऽवक्तव्य-त्वस्य । 'किं घटः सर्वथा वक्तव्यः ?' इति पर्यनुयोगे सति 'घटः पटादिपदेन न वक्तव्यः' इति निषेधकल्पनया 'घटः स्यादव-क्तव्योऽपी'त्युक्ते श्रोतुर्घटे स्याद्वक्तव्यत्वप्रतियोगिकाभावोऽस्ती'ति बोधो जायते, न तु 'घटः तदतिरिक्ताऽवक्तव्यत्वधर्मवान्' इत्येवम् । यदा तु 'घटः कुम्भपदपटपदोभयापेक्षया किं वक्तव्यः ?' इति पर्यनुयुज्यते तदा 'घटः स्यादवक्तव्यः' इति प्रत्युत्तरेण 'घटः कुम्भपटपदोभयापेक्षयाऽवक्तव्यत्वधर्मशाली'ति बोधः जायते । अतोऽत्र द्वितीय-चतुर्थयोर्नाऽवैलक्षण्यम् । एतेनाऽवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वाभावरूपमेवेति प्रत्युक्तम्, चतुर्थभङ्गे तस्यातिरिक्तत्वसाधनात् ।

एतेन वक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्या तृतीयपञ्चमयोरभेदः प्रत्येकं षष्ठसप्तमयोः पौनरुक्त्यञ्च प्रत्युक्तम् । स्यात्पदार्थोल्लेखेन वक्त-व्यत्वसप्तभङ्ग्याः स्वरूपञ्चैवम्, (१) घटः घटपदापेक्षया वक्तव्य एव (२) घटः पटपदापेक्षया अवक्तव्य एव, (३) घटः घटपदापेक्षया वक्तव्यः पटपदापेक्षयाऽवक्तव्यश्च, (४) घटः घटपदपटपदोभयापेक्षया अवक्तव्य एव, (५) घटः घटपदापेक्षया वक्तव्यो घटपदपटपदोभयापेक्षया अवक्तव्यश्च, (६) घटः पटपदापेक्षया अवक्तव्यः घटपदपटपदोभयापेक्षया अवक्तव्यश्च (७) घटः घटपदापेक्षया वक्तव्यः पटपदापेक्षया अवक्तव्यः घटपदपटपदोभयापेक्षया अवक्तव्यश्चेति ।

ननु वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्या न्यूनत्वाभावेऽपि 'घटः स्यात्सन्नि'त्यादिरूपायां सप्तभङ्ग्यामष्टमभङ्गप्रसङ्गो

धर्म की जिज्ञासा से प्रयुक्त प्रश्न के 'घटः स्यात् नास्ति एव' ऐसे प्रत्युत्तर से श्रोता को जिज्ञासित ऐसे अस्तित्वाभाव का ही भान होता है, न कि नास्तिपदनिरूपित वाच्यता का । इस तरह आठवें धर्म का भान नहीं होने की वजह 'घटः स्यात् अस्ति एव, स्यात् नास्ति एव' इत्यादि सप्तभंगी अपने स्थान से च्युत नहीं है, अष्टभंगी की प्रतिष्ठा भी नहीं होगी ।

❀ वक्तव्यत्वसप्तभंगी के द्वितीय-चतुर्थ भंग में अभेदनिरास ❀

अत एव व. इति । यहाँ यह शंका हो सकती है कि —> जब 'घट वक्तव्य है या नहीं ?' इत्यादि सात जिज्ञासा से जो वक्तव्यत्वसप्तभंगी प्रवृत्त होती है, उसका आकार (१) घटः स्यात् (= घटपदापेक्षया) वक्तव्य एव, (२) घटः स्यात् (पटादिपदापेक्षया) अवक्तव्य एव, (३) घटः स्यात् (= घटपदापेक्षया) वक्तव्यः स्यात् (= पटादिपदापेक्षया) अवक्तव्यश्च, (४) घटः स्यात् (= घटपदपटपदोभयापेक्षया) अवक्तव्य एव इत्यादिस्वरूप होगा । यहाँ जो द्वितीय और चतुर्थ भंग प्रदर्शित किये गये हैं वे अवक्तव्यत्वधर्मविषयक हैं । समानविषयक होने के नाते वे दोनों अभिन्न हो जाँयेगे । समानधर्मविषयक होने पर भी यदि उक्त भंगो में ऐक्य का अंगीकार न किया जाय तब तो अनंतभंगी भी हो सकती है । इसलिए दर्शित वक्तव्यत्वसप्तभंगी में द्वितीय और चतुर्थ भंग में अभेद मानना आवश्यक है । ऐसा होने पर तो षट्भंगी हो जायेगी । अतः सर्वत्र सप्तभंगी की व्यापकता का जो स्याद्वादी का सिद्धान्त है वह धराशायी हो जायेगा'' <— मगर यह शंका भी उचित नहीं है । इसका कारण यह है कि द्वितीय भंग से वक्तव्यत्वाभाव का और चतुर्थ भंग से अवक्तव्यत्व धर्म का उक्त सप्तभंगी से बोध होता है । आशय यह है कि पटादि पद की अपेक्षा घट वक्तव्य नहीं है ऐसी निषेधमुखी अर्पणा = विवक्षा से प्रवृत्त होने वाले उक्त द्वितीय भंग से घट में पटादिपद की अपेक्षा वक्तव्यत्व धर्म के अभाव का ही बोध होता है । जब कि चतुर्थ भंग में, जो युगपत् विधि-निषेध की कल्पना के सहकार से प्रयुक्त होता है, अवक्तव्यत्व नाम के धर्म का, जो कि वक्तव्यत्वाभाव से अतिरिक्त है, बोध होता है । इस तरह वक्तव्यत्वसप्तभंगी के द्वितीय भंग में अभावात्मक धर्म का और चतुर्थ भंग में भावात्मक धर्म का बोध होता है । इसलिए उनमें ऐक्य नहीं है । अतएव षड्भंगी का अवकाश नहीं है और सप्तभंगी की सार्वत्रिकता का भंग भी प्रसक्त नहीं है ।

अत एव च प्रकृतसप्तभङ्ग्या वक्तव्यत्वमपि नाधिकं, सप्तकल्पनावतीर्णप्रश्नानुन्मज्जनादिति ध्येयम् ।

सा चेय सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च । तत्र "प्रमाणप्रतिपन्नाऽनन्त-

❋ जयलता ❋

दुर्वार एव अवक्तव्यत्ववत् वक्तव्यत्वस्यापि बोधसम्भवादित्याशङ्का दूरीकर्तुमाह - **अत एवेति** प्रत्युत्तरजाऽवबोधस्य बुभुत्सितगोचरत्वादेवेति । **प्रकृतसप्तभङ्ग्या** = 'घट स्यात् सन्नेव, स्यादसन्नेवे'त्यादिरूपाया, **वक्तव्यत्वमपि नाधिक** = नाष्टमभङ्गविपयत्वापन्नम् । हेतुमाह - **सप्तकल्पनावतीर्णप्रश्नानुन्मज्जनादिति** । अय भाव 'घट सर्वथा सन्न वा ?' इत्यादिरूपाया जिज्ञासाया सत्या वक्तव्यस्यापि सतो घटस्य बुभुत्सितेन सत्त्वादिरूपेणैव भान भवति, न तु वक्तव्यत्वेन रूपेण, यथा 'रामो राजपुत्रो न वा ?' इति प्रश्ने सति 'रामो राजपुत्र' इत्युत्तरेण मनुष्यस्याऽपि सतो रामस्य राजपुत्रत्वेन भान भवति; न तु मनुष्यत्वेन रूपेण, तस्य प्रश्नेनाऽबुभुत्सितत्वात् । अत एव राजपुत्रत्वस्य मनुष्यत्वव्याप्यत्वेऽपि दर्शितोत्तरेण मनुष्यत्वस्य न शाब्दबोधगोचरत्वम् । अनुमानेन तु तज्ज्ञान भवत्यपि । तद्वदेव प्रकृतसप्तभङ्ग्या सप्तधर्मप्रकारकबुभुत्सालब्धजन्मपर्यनुयोगेन वक्तव्यत्वस्याऽनाक्षेपात् प्रत्युत्तरेण न तच्छाब्दबोधो भवितुमर्हति । अतो नाऽष्टमभङ्गप्रसङ्ग ।

सप्तभङ्गीद्वैविध्यप्रतिपादनार्थमुपक्रमते - **सा चेयमिति** । प्राग्व्यावर्णितस्वरूपा चेय सप्तभङ्गीति । **सकलादेशस्वभावा** = सकलादेशलक्षणा, **विकलादेशस्वभावा** = विकलादेशलक्षणा चेति । सकलादेशमुपदर्शयितु **प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रमाह - प्रमाणेति । रत्नाकरावतारिकाया** तद्व्याख्या चैवम् - "कालादिभिरष्टाभि कृत्वा यदभेदवृत्तेधर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्य तस्मात् । कालादिभि भिन्नात्मनामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद्वा समकालमभिधायक वाक्य सकलादेश प्रमाणवाक्यमित्यर्थ । अयमर्थ यौगपद्येनाऽशेषधर्मात्मक वस्तु कालादिभिरभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेश , तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद् भेदप्राधान्याद्वाऽभिधत्ते, तस्य नयायत्तत्वात् । क पुन क्रम ? कि वा यौगपद्यम् ? यदाऽस्तित्वादिधर्माणा कालादिभि. भेदविवक्षा, तदैकस्य शब्दस्याऽनेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभाव । यदा तु तेषामेव धर्माणा कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते, तदैकेनाऽपि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्याऽनेकाशेषरूपस्य वस्तुन प्रतिपादनसम्भवात् यौगपद्यम् । के पुन कालादय ? (१) काल , (२) आत्मरूप, (३) अर्थ (४) सम्बन्ध , (५) उपकार , (६) गुणिदेश (७) ससर्ग', (८) शब्द इत्यष्टौ । तत्र स्याज्जीवादिवस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्व तत्काला शेपानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेपा कालेनाऽभेदवृत्ति १। यदेव चाऽस्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपम्, तदेव चान्याऽनन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाऽभेदवृत्ति २। य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य, स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाऽभेदवृत्ति ३। य एव चाविष्वग्भाव कथञ्चित्तादात्म्यलक्षण सम्बन्धोऽस्तित्वस्य, स एवाऽशेपविशेपाणामिति सम्बन्धेनाऽभेदवृत्ति

❋ सत्त्वसप्तभंगी में वक्तव्यत्व धर्म अतिरिक्त नहीं ❋

अत एव च इति । यहाँ यह शका हो कि —> "घटः स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति च, स्यादवक्तव्यः इत्यादिरूप से जो सप्तभगी प्रवृत्त होती है उसमे चतुर्थ भग मे जैसे अवक्तव्यत्व धर्म का प्रवेश होता हे, ठीक वेसे ही उसके प्रतिपक्ष वक्तव्यत्व धर्म का भी सप्तभगी मे समावेश एव उसका ज्ञान भी होना चाहिए । वैसा होने पर अष्टभगी की पुनः आपत्ति होगी" <— तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि सप्तभगी के प्रयोजक सात प्रश्न हे, जो सात प्रकार की शका एव जिज्ञासा से प्रयोज्य है, उनसे वक्तव्यत्व धर्म का आक्षेप नही होता हे, क्योकि वह शका, जिज्ञासा और प्रश्न का विपय नही है । जिस विपय मे शका, जिज्ञासा, प्रश्न होते नही हे, उसका प्रत्युत्तर एव ज्ञान नही हो सकता । पृच्छक को सत्त्वादि धर्म की शकादि है, न कि वक्तव्यत्व की । अतः वक्तव्यत्व धर्म का सत्त्वसप्तभगी मे'समावेश हो सकता नही है । इसलिए आठवे धर्म या अष्टभगी की आपत्ति नही है । इस तरह सप्तभगी की सार्वत्रिकता अव्याहत हे - यह सिद्ध होता हे ।

❋ सप्तभंगी के दो भेद ❋

सा चेय इति । उपर्युक्त सप्तभगी के दो भेद हे - सकलादेश सप्तभगी और विकलादेश सप्तभगी । इनमे सकलादेश सप्तभगी उस वचन को कहते है, जो वचन प्रमाणसिद्ध अनन्तधर्मात्मक वस्तु का कालादि के द्वारा अभेदवृत्ति प्राधान्य से या अभेदोपचार से एक ही काल मे प्रतिपादक होता है । आशय यह है कि प्रमाण द्वारा यह निश्चित हो चुका है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है । वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता ही उसकी समग्रता है, जो वस्तु मे एक ही काल मे विद्यमान रहती

धर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः'' (प्र.न.त. ४/४४) तदन्यो विकलादेशः ।

❦ जयलता ❦

४ । य एव चोपकारोऽस्तित्वे स्वाऽनुरक्तत्वकरणम्, स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाऽभेदवृत्तिः ५ । य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य, स एवाऽन्यगुणानामिति गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तिः ६ । य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवाऽशेषधर्माणामिति संसर्गेणाऽभेदवृत्तिः । ननु प्रागुक्तसम्बन्धादस्य कः प्रतिविशेषः ? उच्यते, अभेदप्राधान्येन भेदगुणभावेन च प्रागुक्तः सम्बन्धः, भेदप्राधान्येनाऽभेदगुणभावेन चैष संसर्ग इति ७ । य एवाऽस्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्याऽपीति शब्देनाऽभेदवृत्तिः ८ । पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यादुपपद्यते । द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति, समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात् सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसङ्गात् १। नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, आत्मरूपाभेदे तेषां भेदस्य विरोधात् २ । स्वाश्रयस्याऽर्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात् ३ । सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाऽघटनात् ४ । तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्याऽनेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात् ५ । गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाऽभेदप्रसङ्गात् ६ । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् ७ । शब्दस्य च प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यापत्तेः ८। तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसम्भवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । तदेताभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्याऽपरपर्याय इति स्थितम्'' कालात्मरूपसम्बन्धा संसर्गोपक्रिये तथा । गुणिदेशार्थशब्दाश्चेत्यष्टौ कालादयः स्मृताः ॥ (रत्ना. अव. ४-४४) ।

केचन तु 'अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाऽविशेषेऽपि प्रथम-द्वितीय-चतुर्थभङ्गाः निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः, शेषास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशा' इति व्याचक्षते । श्रीवादिदेवसूर्यादिमते तु - 'इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा चे'(प्र.न. ४/४३)ति ध्येयम् ।

तदन्यो विकलादेश इति । सकलादेशान्यो विकलादेशः । तथाहि नयप्रतिपन्नवस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद्वा क्रमेण यदभिधायकं वचः तत् विकलादेश इत्यर्थः ।

है । वस्तु की समग्रता का प्रतिपादन करने वाला वचन ही सकलादेश कहा जाता है । यह प्रतिपादन कभी कालादि के द्वारा उपपन्न अभेदवृत्ति की प्रधानता से होता है और कभी अभेदोपचार = अभेद में लक्षणा से होता है । अभेदवृत्ति की प्रधानता का अर्थ यह है कि द्रव्यार्थिकनयानुसार काल आदि के द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु के अनन्त धर्मों में अभेद का ज्ञान होने से वस्तु के अनन्त धर्मों में अभेदबुद्धि द्वारा पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सत् आदि पद से होने वाले शाब्दबोध का विघटन होना । द्रव्यार्थिक नय द्वारा सत्‌आदि पदों का सत्ता आदि में अभिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु में शक्तिज्ञान होता है । अतः सत् आदि पदों से घटित वाक्य से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध होना चाहिए । मगर पर्यायार्थिक नय द्वारा वस्तु के विभिन्न पर्यायों की उपस्थिति होने पर एक वस्तु में विभिन्न धर्मों की अभिन्नता बाधित होने से सत् आदि पदों से घटित वाक्य का अर्थबोध दुर्घट हो जाता है । ऐसी स्थिति में जब काल आदि की दृष्टि से प्रतिपाद्य वस्तु के धर्मों में अभेद का ज्ञान होने से वस्तु में अभिन्नरूप से गृहीत अनन्त धर्मों के अभेद का ज्ञान होता है तब उससे उक्त रीति से पर्यायार्थिकनयप्रयुक्त वाक्यार्थ बाध का अवरोध होने से सत् आदि पदों से घटित वाक्य से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध सम्पन्न होता है । इस प्रकार होने वाला वस्तु की समग्रता का बोध ही अभेद वृत्ति की प्रधानता से अनन्त धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादनस्वरूप सकलादेश है । अभेदोपचार का अर्थ है अभेद से अनन्त धर्मात्मक वस्तु में सत् आदि पद की लक्षणा । काल आदि पदार्थ की, जिनकी दृष्टि से वस्तुधर्मों में अभेद का ज्ञान होता है, संख्या आठ है । जैसे १ काल, २ आत्मरूप, ३ अर्थ, ४ सम्बन्ध, ५ उपकार, ६ गुणिदेश, ७ संसर्ग और ८ शब्द । जिस काल में किसी वस्तु में अस्तित्व धर्म रहता है, उस काल में नास्तित्वादि अनन्त धर्म भी होते हैं । ये सभी धर्म एक काल में होने से काल की दृष्टि से अभिन्न होते हैं । वस्तु के अनन्त धर्मों की यह अभिन्नता कालमूलक अभेदवृत्ति है । इस तरह आत्मरूप आदि दृष्टि से भी ज्ञातव्य है । प्रस्तुत मूल ग्रन्थ में उसका विशेषतः उल्लेख न होने से यहाँ विस्तार से निरूपण नहीं किया जाता है ।

नित्यत्वादीनां कालादिभिरभेदविवक्षाया हि एकेनाऽपि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेनाऽनेकधर्मरूपस्य तदात्मकतापन्नस्य वस्तुन प्रतिपादनसम्भवाद् यौगपद्यम् ।

☙ जयलता ☙

समकालमनन्तधर्मप्रतिपादनासम्भवात्सूत्रे 'यौगपद्येने'ति वक्तु नार्हतीत्याशङ्कायामाह - **नित्यत्वादीनामिति** । आदिशब्देन सत्त्ववाच्यत्वादेर्ग्रहणम् । **कालादिभिरिति** । आदिपदेन आत्मरूपार्थ-सम्बन्धोपकार-गुणिदेश ससर्ग-शब्दाना ग्रहणम् । **अभेदविवक्षाया** = तादात्म्यार्पणाया सत्या, हि **एकेनापि शब्देन** सदादिरूपेण, **एकधर्मप्रत्यायनमुखेन** = सत्त्वाद्येकधर्मबोधनपरेण, **अनेकधर्मरूपस्य** = प्रमाणसिद्धानन्तधर्मस्वभावस्य **तदात्मकतापन्नस्य** = अनेकधर्मात्मकतामापन्नस्य सत **वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवात् यौगपद्यमिति** । धर्मिमुखेन धर्म्यभिन्नधर्माणामपि समकाल प्रतिपादन सम्भवति । एतेनैकत्र युगपदनेकधर्मप्रतिपादनसम्भवे चतुर्थभङ्गो विलीयेतेति **प्रत्युक्तम्,** धर्मिरूपेण तत्प्रतिपादनसम्भवेऽपि प्रातिस्विकरूपेण युगपत् तदसम्भवेन, अवक्तव्यत्वस्य न्याय्यत्वात् ।

अत्राऽभेदवृत्तिप्राधान्यतदुपचारौ इत्थ बोद्धव्यौ । द्रव्यार्थिकनयेन सदादिपदस्य सत्ताद्यभिन्नानन्तधर्मात्मके वस्तुनि शक्तिर्वर्तते । अत सदादिपदघटितवाक्येन अनन्तधर्मात्मकवस्तुगोचरशाब्दबोधेन भाव्यम् । परन्तु पर्यायार्थिकनयेनाऽस्तित्व-नास्तित्वादिभेदोपस्थापिते सदादिपदघटितवाक्यजन्यबोधो दुर्घट , तद्विषयबाधात् । तदा कालाद्यष्टकापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वादीनामभेदग्रहे सति वस्तुन्यभिन्नत्वेन गृहीतानामनन्तानामस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणा भेदाभावग्रहेण पर्यायार्थादिशगृहीतबाधप्रतिरोधो भवति । स एवाऽभेदवृत्तिप्राधान्यपदार्थ । ततोऽनन्तधर्मात्मकवस्त्ववबोध सुघट । अभेदोपचारश्चोक्तार्थे लक्षणा । पर्यायार्थिकनयेनातद्व्यावृत्तिलक्षणसत्तादावेव सदादिपदशक्ति । तन्मतेऽन्यपर्यायेभ्य सत्तादिपर्यायाणा भिन्नत्वात् सत्त्वाऽभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुबोधो न भवितुमर्हति । सत्तादिमात्रे सदादिपदशक्तिग्रहे सत्त्वाभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुबुभोधयिषान्यथानुपपत्त्या तत्र सदादिपदलक्षणा भवति । अयमेवाऽभेदोपचारपदार्थ । तदुक्त **स्याद्वादकल्पलतायां** → 'अभेदवृत्तिप्राधान्य = द्रव्यार्थिकनयगृहीतसत्त्वाद्यनन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिपदस्य कालाद्यभेदविशेषप्रतिसन्धानेन पर्यायार्थिकनयपर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यार्थबाधप्रतिरोध । अभेदोपचारश्च पर्यायार्थिकनयगृहीतान्यापोहपर्यवसितसत्तादिमात्रशक्तिकस्य तात्पर्यानुपपत्त्या सदादिपदस्योक्तार्थे लक्षणा' ← (स्या क ल ७/२३-पृ १७३) इति ।

उक्तरीत्या कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वाऽनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादक वच सकलादेश इति भण्यते । तथाहि - 'स्यादस्त्येव घट ' इत्यत्र हि यादृशकालावच्छेदेन घटात्मके धर्मिणि अस्तित्व वर्तते, तत्कालावच्छेदेन शेषानन्तधर्मा अपि घटे वर्तन्ते इति तेषामेककालावच्छिन्नैकाधिकरणतात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितवृत्तित्व कालेनाऽभेदवृत्तित्वम् १। यदेवाऽस्तित्वस्य घटगुणत्व स्वरूप तदेवानन्ताशेषगुणानामपि स्वरूपमिति घटगुणत्वत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावत्त्वमात्मरूपेणाभेदवृत्तित्वम् २ । य एव घटद्रव्यलक्षणोऽर्थोऽस्तित्वस्याऽऽधार स एवान्यधर्माणामप्याधार इति एकाधिकरणनिरूपिताधेयतावत्त्वमर्थेनाऽभेदवृत्तित्वम् ३ । य एवाऽविष्वग्भाव तादात्म्यलक्षणोऽस्तित्वस्य सम्बन्ध स एवानन्तधर्माणामपीति एकसम्बन्ध-

---

जिज्ञासु वाचक यहाँ जयलता टीका पर अपनी निगाह डाल सकते हे ।

नित्य इति । वस्तु मे रहे हुए नित्यत्वादि अनन्त धर्मो की कालादि की दृष्टि से अभेदविवक्षा हो तब एक ही काल मे एक शब्द से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन हो सकता हे। जेसे 'नित्य आत्मा' इस वाक्य मे नित्य शब्द यद्यपि नित्यत्वलक्षण एक धर्म का ही बोधक है । मगर जिस काल मे आत्मा मे नित्यत्व धर्म रहता है, उसी कालावच्छेदेन अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, वाच्यत्व, अवाच्यत्व आदि अनन्त धर्म रहते हे । ये सभी धर्म एककालावच्छेदेन आत्मवृत्ति होने के सबब परस्पर अभिन्न होते हे । कालमूलक अभेदवृत्ति की वजह 'नित्य आत्मा' इस वाक्य से एक ही काल मे नित्यत्वादि अनन्तधर्मात्मक आत्मा का प्रतिपादन हो सकता है । जिस तरह एक ही काल मे आत्मा की समग्रता का प्रतिपादन सकलादेश करता है, उसी तरह एक काल मे सब वस्तु की समग्रता का निरूपण सकलादेश के द्वारा मुमकिन है । मगर जब पर्यायार्थिक नय के पुरस्कार से आत्मवृत्ति नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मो मे भेद की विवक्षा की जाती है, तब 'नित्य आत्मा' इस वाक्य से एक काल मे नित्यत्व, अनित्यत्व आदि आत्मधर्मो का भान नही हो सकता । किन्तु केवल नित्यत्व धर्म का ही भान हो सकता है, क्योकि 'सकृत् उच्चरितः शब्द. सकृदेव अर्थ गमयति' यह न्याय है । इस न्याय का अर्थ यह हे कि एक बार बोला गया शब्द सिर्फ एक बार ही अर्थ का बोधक होता हे । एक शब्द मे अनेक धर्म का बोध कराने की शक्ति एक काल मे नही होती हे जेसे 'घटोऽय' इस वाक्य मे रहे हुए घटशब्द से पुरोवर्ती पदार्थ मे घटत्व

भेदविवक्षायां तु 'सकृदुच्चरित'इत्यादिन्यायाद् एकशब्दस्याऽनेकार्थाना युगपदबोधकत्वात्क्रम. ।

अथ 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्य प्रामाणिकत्वे एकशिष्टघटादिपदस्यानेकघटादिबोधक-

❀ जयलता ❀

निरूपितप्रतियोगितामत्त्व सम्बन्धेनाऽभेदवृत्तित्वम् ४। य एव चोपकारोऽस्तित्वेन वस्तुन स्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वलक्षण स एवान्येषामित्युपकारेणाऽभेदवृत्तित्वम् ५ । कश्चित्तु 'य एव चोपकारोऽस्तित्वस्य स्वानुरक्तत्वकरणम् तच्च स्ववैशिष्ट्यसम्पादनमेव तदपि स्वप्रकारकधर्मिविशेष्यकज्ञानजनकत्वपर्यवसन्नम् । अस्तित्वस्य स्वानुरक्तत्वकरण हि अस्तित्वप्रकारकघटविशेष्यकज्ञानजनकत्वम् । तादृशोपकार एव नास्तित्वादिभिरशेषधर्मै क्रियत इत्येककार्यजनकत्वमुपकारेणाऽभेदवृत्ति ' इत्याह । एकदेशावच्छिन्नवृत्तित्व हि गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तित्वम् । घटनिष्ठास्तित्वनास्तित्वादिसकलधर्माणा भिन्नदेशनिरूपितवृत्तिताविरहात् स्वाश्रयेनाऽभेदवृत्तित्व निराबाधम् । न हि घटेऽग्रावच्छेदेनाऽस्तित्व पृष्ठावच्छेदेन नास्तित्व वर्त्तते ६ । पृथग्भावप्रधानाऽऽधाराधेयभावलक्षणससर्गनिष्ठनिरूपकतानिरूपितप्रतियोगितामत्त्व हि ससर्गेणाऽभेदवृत्तित्व घटनिष्ठाऽस्तित्वनास्तित्वादीनाम् ७ । अस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो नास्तित्वादिधर्मात्मकत्वेन अस्तिशब्दनिष्ठवाचकतानिरूपितवाच्यतामत्त्वस्याऽस्तित्वनास्तित्वादिधर्मेषु सद्भावो हि शब्देनाऽभेदवृत्तित्वमुच्यते । पर्यायार्थिकनयावतारे तूक्तरीत्याऽभेदे उपचार = लक्षणा क्रियते सर्वथाऽभेदस्य तन्मते बाधितत्वात् एव द्वितीयादिष्वपि भङ्गेषु भावनीयम् ।

विकलादेशस्तु क्रमेण भेदाप्राधान्येन भेदोपचारेण वा सुनयैकान्तात्मक घटादिक प्रतिपादयति, विकलादेशस्य नयरूपत्वात् । भेदप्राधान्य नाम पर्यायार्थिकनयगृहीतान्यापोहपर्यवसितसत्तादिमात्रशक्तिकस्य सदादिपदस्य विरुद्धधर्माध्यासादिना भेदविशेषप्रतिसन्धानाद् द्रव्यार्थिकनयपर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यार्थबाधप्रतिरोध । भेदोपचारश्च द्रव्यार्थिकनयगृहीतसत्त्वाद्यभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिपदस्य तात्पर्यानुपपत्त्या प्रदर्शितार्थे लक्षणात्मक बोध्य । प्रकृते क्रमपदप्रवेशप्रयोजनमाह - भेदविवक्षायामिति । विरुद्धधर्माध्यासादिप्रयुक्तास्तित्वनास्तित्वादिधर्मभेदार्पणाया, तुर्विशेषणार्थ , 'सकृदुच्चरित' इत्यादिन्यायात् = 'सकृदुच्चरित शब्द सकृदेवार्थ गमयती'तिन्यायात्, एकशब्दस्य 'अस्ती'त्यादिलक्षणस्य, अनेकार्थाना = नास्तित्वाद्यशेषधर्माणा, युगपत् = समकाल, अबोधकत्वात् = बोधजननशक्तिविरहात्, क्रमः विकलादेशलक्षणे निवेशित इति शेष ।

मुग्ध शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्य प्रामाणिकत्वे = एकस्य शब्दस्य युगपदेकार्थबोधकत्वमेव न त्वनेकार्थबोधकत्वमित्यर्थकस्य प्रकृतन्यायस्य प्रमाणमूलकत्वोपगमे, एकशिष्टघटादिपदस्य = एकशेषसमासत्वमापन्नस्य 'घटौ', 'घटा ' इत्याकारकघटपदस्य, अनेकघटादिबोधकत्व न स्यादिति । युगपदनेकार्थबोधजनने एकशब्दस्य शक्तिविरहात् । ननु एकशेषस्थले द्वाभ्यामेव घटशब्दाभ्या घटद्वयस्य बहुभिरेव घटशब्दैर्बहूना घटानामभिधानान्नैकशब्दस्य समकालमनेकार्थबोधकत्वम् । लुप्ताऽवशिष्टशब्दयो साम्यात् घटात्मकार्थस्य समानत्वाच्चैकत्वोपचारात्तत्रैकशब्दप्रयोगो-

धर्म का ही बोध होता है, न कि मृत्त्व, पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व, सत्त्व, प्रमेयत्व आदि अनन्त धर्मों का । उन धर्मों का बोध कराने के लिए 'मार्त्तोऽय' 'पृथ्वी इय', 'द्रव्य इद' इत्यादि वाक्य का प्रयोग आवश्यक है । इससे यह फलित होता है कि एक शब्द एक काल मे विभिन्न धर्मो का बोध नही कराता हे । यह इस न्याय का तात्पर्य है । पर्यायार्थिक नय की प्रधानता होने पर आत्मा आदि मे रहे हुए नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्म विभिन्न होते हे । अतः एक शब्द से एक ही काल मे उन सभी का प्रतिपादन नही हो सकता है, किन्तु क्रमशः ही हो सकता है । अतः विकलादेश सप्तभगी भेदप्राधान्य से या भेदोपचार से क्रमशः वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रतिपादन करती है ।

❁ सकृदुच्चरित न्याय में दोषोद्भावन ❁

पूर्वपक्ष :- अथ स० इति । यदि 'सकृदुच्चरितः शब्द. सकृदेवार्थं गमयति' इस न्याय को प्रामाणिक माना जाय तव तो एकशेषसमासगर्भित घट आदि पद से अनेक घटादि अर्थ का बोध नही होगा । मतलव यह हे कि 'घटौ', 'घटाः' यह प्रयोग एकशेष समासात्मक है, जिससे दो घट का और वहुत घट का क्रमशः बोध होता है । मगर एक पद एक काल मे एक ही अर्थ का बोध कराने मे समर्थ होता है - ऐसा मानने पर 'घटौ' पद से दो घट का बोध नही होगा किन्तु एक घट का ही बोध होगा । व्यवहार मे देखा जाता है कि 'घटौ' पद से एक ही काल मे घट का बोध होता है और

त्व न स्यात्, न स्याच्च कस्मादपि घटपदाद् घट-घटत्वयोरपि स्वारसिको बोध इति चेत् ? न, अग्रिमसकृत्पदस्यैकधर्मावच्छिन्नार्थकत्वात् । 'एव सति भेदविवक्षायामप्येकेन शब्दे-

※ जयलता ※

पपत्ति , 'य शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी'ति ( ) वचनात् । अत एव शब्दाना द्रव्याभिधायकत्वपक्षे एकशेपारम्भोऽप्युपपद्यते । तदुक्त **सिद्धहेमलघुन्यासे** मूलकारै –> ''एकेन शब्देनाऽनेकस्य द्रव्यस्याऽभिधान नोपपद्यत इत्यनेकस्याऽर्थस्य प्रतिपादनेऽनेकशब्दाना वाचकाना प्रयोग प्राप्नोतीति द्रव्यपदार्थदर्शने एकशेषारम्भ'' <– (सि हे.ल न्या. ३/१/११८ - पृ.५०९) इति स्याद्वादिना समाहित स्यात्तदा दोषान्तरमाह - **न स्याच्चेति कस्मादपि घटपदात् घटघटत्वयोरपि स्वारसिको बोधः** इति । शब्दाना केवलजात्यभिधायकत्वपक्षे केवलद्रव्यवाचकत्वमते वा प्रस्तुतदोषापादन न सम्भवति किन्तूभयशक्तत्वदर्शने एवेति ध्येयम् ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नेति । **अग्रिमसकृत्पदस्य** = 'सकृदुच्चरित शब्द सकृदेवार्थ गमयती'त्यत्र द्वितीयसकृत्पदस्य, **एकधर्मावच्छिन्नार्थकत्वादिति** । तत एक पदमेकधर्मावच्छिन्नमेवार्थ बोधयती'त्येतन्न्यायार्थ इति प्राप्तम् । तत 'घट' इत्यत्र घटत्वावच्छिन्नगोचरबोधो नानुपपन्न । एव 'घटा'वित्यत्र द्वित्व द्विचनार्थ, प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थेऽन्वयात् 'द्वित्वविशिष्टौ घटावि'ति बोध । 'घटा' इत्यत्र बहुवचनार्थो बहुत्वमिति 'बहुत्वविशिष्टा घटा' इति बोध ।

वस्तुत 'एकपदस्य प्रधानतयाऽनेकधर्मावच्छिन्नबोधकत्व युगपन्नास्ती'त्येव प्रकृतन्यायार्थ । **एतेन** 'सुप्तिङन्त पद' (पा १/४/१४) इति **पाणिनिसूत्रात्** 'घटा' इति बहुवचनान्तप्रकृतिनैकेन पदेन बहुत्व-घटत्वरूपानेकधर्मावच्छिन्नस्य बोधाद् एकपदस्य युगपदेकधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वनियमभङ्ग इति **पराकृतम्**, प्रधानभावेन घटत्वावच्छिन्नस्य गुणभावेन च बहुत्व-सख्याया प्रतीते , घटपदेन घटत्वावच्छिन्नद्रव्य बोधयित्वैव सख्यादिबोधनात् ।

तदुक्त 'स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।
समवेतस्य तु वचने लिङ्ग सख्या विभक्तियुक्तस्सन् ॥ ( ) इति ।

ननु एकस्य पदस्य वाक्यस्य वा प्रधानभावेनाऽनेकधर्मावच्छिन्नवस्तुबोधकत्वानङ्गीकारे प्रधानभावेनाऽशेषधर्मात्मकस्य वस्तुन प्रमाणवाक्य न घटाकोटिमाटीकेत । **न च** कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा सकलस्य वस्तुन प्रतिपादनस्य प्राग् विवेचितत्वादिति **वक्तव्यम्**, एकधर्मावच्छिन्नविषयकबोधजनकेनैकेन पदेन वाक्येन वाऽभेदविवक्षाया नानाधर्मावच्छिन्न-गोचरधीजनने तु भेदविवक्षायामपि तथात्वप्रसङ्गादित्याशयेन पर शङ्कते - **एव सतीति** । स्याद्वादी तन्निरस्यति - **नेति** ।

'घटाः' पद से अनेक घट का एक काल मे बोध होता हे । मगर उपर्युक्त न्याय को मान्य करने पर वह नही हो सकेगा । दूसरी बात यह हे कि 'घटः' इस पद से घटत्व से विशिष्ट घट का बोध होता है वह भी उपर्युक्त न्याय के सबब नही हो सकेगा । 'घटः' पद से या तो केवल घटत्व का या तो केवल घट का बोध हो सकेगा, क्योकि एक पद से एक अर्थ का बोध हो सकता हे । मगर दोनो का बोध नही हो सकेगा ।

द्वितीय 'सकृत्' पद का अर्थ

उत्तरपक्ष :- न, अ इति । सकृदुच्चरित न्याय मे जो आगे दूसरा सकृत् पद है, उसका अर्थ केवल 'एक अर्थ' ऐसा नही हे, किन्तु 'एक धर्म से अवच्छिन्न' यह हे । मतलब कि एक पद एक काल मे एकधर्मावच्छिन्न वस्तु का बोध कराता हे - यह उक्त न्याय का अर्थ है । यह अर्थ मान्य करने पर उपर्युक्त दोप का अवकाश नही है । वह इस तरह - 'घटो' इस एकशेप समास से द्वित्वावच्छिन्न घट अर्थ का बोध होता है, वह द्वित्वस्वरूप एक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ को ही अपना विपय बनाता है, न कि अनेक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ को । तथा 'घटाः' इस एकशेपसमासगर्भित पद से बहुत्वधर्मावच्छिन्न घट का बोध होता है, वह बहुत्वात्मक एक धर्म से अवच्छिन्न घट को अपना विपय बनाता है । एव 'घटः' पद से घटत्वावच्छिन्न अर्थ का बोध होता है, जो घटत्वलक्षण एक धर्म से अवच्छिन्न वस्तु को अपना विपय बनाता है । उपर्युक्त प्रत्येक पद एक एक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ को ही बोध करा सकते है, न कि अनेक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ का - यह उपर्युक्त न्याय का तात्पर्य हे, जो उपर्युक्त बोध की उत्पत्ति मे बाधक नही है । अतः उक्त न्याय को मान्यता प्रदान करने पर एक भी दोप की सभावना नही है ।

※ अभेदविवक्षा से नानाधर्मावच्छिन्नबोधोपपत्ति ※

नैकधर्मप्रत्यायनमुखेन वस्तुतोऽनेकधर्मात्मकस्यैव धर्मिणो बोधाद् यौगपद्यं निराबाधमि'ति चेत् ? न, अभेदविवक्षायामेवैकपदेन नानाधर्मावच्छिन्नधर्मिबोधसम्भवे यौगपद्यप्रवृत्ते ।

एकशेषस्थले तु वस्तुत पदान्तरस्मरणमेव कल्प्यं, अन्यथा घटपदात् समवाय-कालिकविशेषणताभ्यां घटत्वावच्छिन्नयो युगपद्बोधप्रसक्तिभिया एकधर्मावच्छिन्नत्वस्य बोध्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नत्वगर्भतावश्यकतया विषयितासमवायाभ्यां गुणत्व-

❀ जयलता ❀

अभेदविवक्षायामेवेति । द्रव्यार्थिकादेशेनाऽस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणामभेदार्पणायां सत्यामेव, एवकारेण भेदकल्पनाव्यवच्छेद कृत । एकपदेन = एकधर्मावच्छिन्नार्थवाचकेन नानाधर्मावच्छिन्नधर्मिबोधसम्भवे = अनन्तधर्मावच्छिन्नविशेष्यकबोधसम्भवे, यौगपद्यप्रवृत्तेः । अय समाधानाशय , द्रव्यार्थिकनयावतारे घटादिवृत्तीनामस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणामभेदग्रहात् सत्त्वाऽभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुज्ञान युगपद् भवितुमर्हति । द्रव्यार्थादेशेन वस्तुन सत्त्वाद्यभिन्नाऽसत्त्वाद्यनन्तधर्मात्मकत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयपुरस्कारेऽस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणा विभिन्नत्वेन स्वाश्रयभेदकत्वात् सदादिपदेन शक्त्या युगपन्न नानाधर्मावच्छिन्नधर्मिबोध सम्भवति, तन्नये विरुद्धनानाधर्मावच्छिन्नस्यैकस्य धर्मिण एवाऽसत्त्वात् । ततश्च कालादिभिरभेदविवक्षायामेव स्वाभिन्नाऽनन्तधर्मात्मकत्वसंसर्गेण स्वाश्रयविशेष्यकैकधर्मप्रकारकबोधतात्पर्यकत्व पदे वाक्ये चाऽविरुद्धमिति स्थितम् ।

एकशेषस्थले तु वस्तुत इति । व्यवहितान्वयात् वस्तुतस्त्वेकशेषस्थल इति । पदान्तरस्मरणमेव = लुप्तपदस्मरणमेव कल्प्यम् । प्रत्यर्थं शब्दनिवेशात्, तस्यैवैकशेषबीजत्वात् । तदुक्त काशिकाया –> ‘प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनाऽनेकस्याऽभिधानम् । तत्राऽनेकार्थाऽभिधानेऽनेकशब्दत्व प्राप्त तस्मादेकशेष ’ <– (पा का पृ ३०) । ततश्च ‘घटा’वित्यत्र लुप्तघटपदस्मरणमहिम्ना प्रत्येकपदेन घटत्वावच्छिन्नस्यैकैकघटस्य बोधो जायत इति फलितम् । विपक्षबाधमाह - अन्यथेति । एकशेषस्थले लुप्तपदस्मरणनियमाऽनुपगमे इत्यर्थ । अन्वयश्चाऽस्य ‘उभयप्रतीतिर्न प्रादुर्भवेदि’त्यत्र बोध्य । घटपदात् = घटत्वावच्छिन्नवाचकात्, समवाय-कालिकविशेषणताभ्यां संसर्गाभ्या, घटत्वावच्छिन्नयोः = घटत्वविशिष्टयो घट-पटाद्योः, युगपत् = समकाल बोधप्रसक्तिभिया = ज्ञानोत्पादप्रसङ्गभयेन, एकधर्मावच्छिन्नत्वस्य एकपदजन्यबोधविषयनिष्ठस्य, बोध्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नत्वगर्भतावश्यकतया = शक्यतावच्छेदकीभूतधर्मनिष्ठावच्छेदकताया अवच्छेदकीभूतैकसंसर्गेणाऽवच्छिन्नत्व यत् तेन घटितत्वस्य क्लृप्तत्वेन, विषयिता-समवायाभ्या, गुणत्ववद्बोधकैकशिष्टतदादिपदात् = विषयितया गुणत्ववत समवायेन

एव स० इति । यहाँ यह शका हो सकती है कि –> “कालादि अष्टक के द्वारा सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मों मे अभेद की विवक्षा हो या भेद की विवक्षा हो, मगर प्रमाण से वस्तुमात्र अनन्त धर्मात्मक सिद्ध है । अतएव सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मों मे भेदविवक्षा होने पर भी वस्तुतः अनन्त धर्मात्मक धर्मी का ही बोध होगा । अतः एक धर्म के बोधक एक पद से एक ही काल मे अनेक धर्म से अवच्छिन्न धर्मी का बोध तो निराबाध ही होगा” <– मगर यह शका इसलिए निराकृत हो जाती है कि कालादि अष्टक की अपेक्षा सपादित सत्त्वासत्त्व आदि धर्म मे अभेदविवक्षा होने पर ही एक पद से नानाधर्मावच्छिन्न धर्मी का बोध हो सकता है इसलिए ‘या तो सर्वत्र अविशेषरूप से नानाधर्मावच्छिन्न धर्मी का युगपत् बोध होगा या तो कहीं भी नही होगा’ इस समस्या को भी अवकाश नही है, क्योंकि पूर्वोक्त रीति मे अनेक धर्म मे अभेदविवक्षा होने पर नानाधर्मावच्छिन्न धर्मी का एक पद से एक ही काल मे बोध हो सकता है ।

▣ एकशेष में पदान्तरस्मरण आवश्यक ▣

एकशेष इति । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ‘घटौ, घटा.’ इत्यादि एकशेषसमासगर्भित पद को सुन कर श्रोता को पूर्व मे लुप्त घट आदि पद का स्मरण अवश्य होता है और बाद मे दो या अनेक घट का बोध होता है । ‘यह मानना क्यों जरूरी है ?’ ऐसी शका यहाँ हो सकती है । मगर इसका समाधान सुनने से पहले यह बात समझना आवश्यक है कि ‘सकृदुच्चरित ’ न्याय का सपूर्ण अर्थ क्या है ? यदि उक्त न्याय का अर्थ यह समझा जाय कि –> “एक पद एक काल मे एक धर्म से अवच्छिन्न अर्थ का ही बोधक होता है - यह एक अटल नियम है,” <– तो यह ठीक नही है। इसका कारण यह है कि ‘घटौ’ इस पद से श्रोता को जैसे समवाय सम्बन्ध से घटत्वविशिष्ट घटद्वय का बोध होता है, ठीक वैसे ही समवाय सम्बन्ध से और कालिकविशेषणता सम्बन्ध से घटत्वविशिष्ट धर्मी का बोध होने लगेगा, क्योंकि वह एकधर्मावच्छिन्नार्थविषयक है । मगर ऐसा शाब्द बोध होता नही है । अतः इसका वारण करना आवश्यक है । तदर्थ एकधर्मावच्छिन्न

वद्बोधकैकशिष्टतदादिपदादुभयप्रतीतिर्न प्रादुर्भवेत् ।

❀ जयलता ❀

गुणत्ववत बोधकात् एकशेषसमासगर्भितात् 'तौ' इत्यादिपदात्, उभयप्रतीतिः = गुणद्वयावबोधो न प्रादुर्भवेदिति । अयमभिप्राय 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्य 'एक पदमेकधर्मावच्छिन्नमर्थ बोधयती'त्यर्थकत्वे 'घटौ स्त'इति वाक्यात् समवायेन घटत्वावच्छिन्नस्य घटस्य कालिकविशेषणतासम्बन्धेन घटत्वावच्छिन्नस्य जन्यस्य सत पटादेश्च युगपद् बोध प्रामाणिक स्यात्, तस्यैकधर्मावच्छिन्नार्थगोचरत्वात् । न च कालिकेन घटत्व पटादौ कुत सम्भवेदिति वक्तव्यम्, जन्यमात्रस्य कालोपाधित्वेन घटत्वविशिष्टत्वात् । न च पटादे कालोपाधित्वेऽपि घटत्वस्य नित्यत्वेनाऽतथात्वान्न कालिकसम्बन्धप्रतियोगित्व स्यादिति स्वाज्ञान प्रकटनीयम्, कालिकेन वृत्तावनुयोगिन एव जन्यत्वस्य नियामकत्वान्न तु प्रतियोगिनोऽपि । तत तादृशप्रतीतिप्रामाण्य पराकर्तु 'एक पद एकसम्बन्धावच्छिन्ना या एकधर्मनिष्ठा प्रकारता तदाश्रयविशेष्य युगपद् बोधयितु समर्थमि'त्येवैतन्न्यायार्थ इत्यवश्यमुपगन्तव्यमायुष्मताऽकामेनाऽपि । न चैव गौरवम्, प्रमाणप्रवृत्तिसमये सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वेन फलमुखस्य तस्याऽदोषत्वात् । स चैक सम्बन्ध शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धो ज्ञेय । घटपदशक्यतावच्छेदकीभूतघटत्वनिष्ठावच्छेदकताया अवच्छेदक एकससर्गश्च समवाय घटत्वस्य समवायेन घटे वर्तमानत्वात् यद्वा कालिकविशेषणता, न तूभयम् । ततो 'घटौ' पदात् समवाय-कालिकविशेषणताभ्या न घटत्वविशिष्टबोधप्रसङ्ग , तस्य सम्बन्धद्वयावच्छिन्नप्रकारतावगाहित्वात् । एतेन विषयितासयोगाभ्या घटत्वावच्छिन्नबोधोऽपि परास्तः, एव स्थिते एकशेषस्थले पदान्तरस्मरणाऽनभ्युपगमे विषयितासम्बन्धेन गुणत्ववतो ज्ञानादे समवायेन गुणत्ववतो गन्धादे बोधनार्थ 'तौ'पदप्रयोगे कृतेऽपि युगपत् प्रकारिताद्यन्यतर-विषयितासम्बन्धावच्छिन्नगुणत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावत समवायावच्छिन्नगुणत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावतश्च शाब्दबोधो न स्यात्, इष्टतादृशबोधनिष्ठविशेष्यितात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितविशेष्यतानिरूपकप्रकारतयोरेकधर्मावच्छिन्नत्वेऽप्येकससर्गानवच्छिन्नत्वात् । तादृशबोधनिर्वाहकृते एकशेषस्थले पदान्तरस्मरणमुपगन्तव्यमेव । तदा 'तौ' इत्यादिपदात् लुप्ततदादिपदस्मरणे सति विषयितया गुणत्ववत समवायेन गुणत्ववतश्च बोधकाभ्यामुपस्थिततदादिपदाभ्यामुभयबोधोऽपि निर्वहेत् ।

प्रकरणकार एतादृशजटिलमीमासाविधुरीभूतबुद्धे शिष्यस्योपकाराय 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्य फलितार्थमाविष्करोति -

प्रकारता को एकसम्बन्धाच्छिन्नत्व विशेषण से विशिष्ट मानी जाय, यह जरूरी है । मतलव कि एक पद से एकसम्बन्धावच्छिन्न ओर एकधर्मावच्छिन्न ऐसी प्रकारता से निरूपित विशेष्यता का अवगाही शाब्द वोध होता हे - ऐसा उक्त न्याय का अर्थ मानना पटेगा । एकधर्मावच्छिन्न प्रकारता का अवच्छेदक सम्बन्ध वही हो सकेगा, जो शक्यता(वोध्यता) अवच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध होगा । शक्यतावच्छेदक धर्म जिस सम्बन्ध से शक्यार्थ (वाच्यार्थ) मे रहता है, वह शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध कहा जाता है । जैसे 'घटौ' पद का शक्यार्थ है दो घट और शक्यतावच्छेदक है घटत्व । शक्यतावच्छेदकीभूत घटत्व धर्म (जाति) स्वाश्रय घट मे समवाय सम्बन्ध से वृत्ति होने की वजह धटपदशक्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध समवाय होगा । अतः घटपद एक काल मे समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ प्रकारता के निरूपक शाब्दवोध को ही उत्पन्न करेगा, न कि समवाय ओर कालिकविशेपणता सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रकारता के निरूपक शाब्दवोध को । इस तरह एकधर्मावच्छिन्नत्व को शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नत्व से घटित मानना आवश्यक है । जव यह उक्त रीति से सिद्ध होता है, तव एकशेपस्थल मे पदान्तरस्मरण का अगीकार न करने पर एक आपत्ति मुँह फाडे खड़ी है । इसका वयान इस तरह किया जा सकता है । सुनिये, गुणत्व जाति समवाय सवध से गन्ध, रस आदि २४ गुणो मे रहती हे ओर विपयितासम्बन्ध से 'अय गुणत्ववान्' इत्याकारक ज्ञान आदि गुण मे रहती है । उक्त दो सम्बन्ध से गुणत्वविशिष्ट दोनो का वोध कराने के तात्पर्य से जव 'तौ' शब्द का, जो एकशेप समासगर्भित तत्पदस्वरूप हे, प्रयोग करेगा तव उभय का शाब्दवोध श्रोता को नही हो सकेगा, क्योकि उक्त वोध की विशेष्यता से निरूपित प्रकारता एक सवन्ध से अवच्छिन्न नही है, किन्तु समवाय ओर विपयितारूप दो सम्बन्ध से अवच्छिन्न है । एकशेप समास गर्भित 'तौ' पद समवाय सवन्ध से गुणत्वविशिष्ट और विपयितासवन्ध से गुणत्वविशिष्ट उभय का वोध तभी करा सकता है, जव लुप्त पदान्तर का स्मरण माना जाय । लुप्तपदान्तरविपयक स्मरण होने पर दो तत् पद उपस्थित होते है, जिससे समवायसवधावच्छिन्नगुणत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताआश्रय का एव विपयितासम्बन्धावच्छिन्नगुणत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्ट का युगपत् वोध उपपन्न हो सकता है । अतः एकशेपस्थल मे पदान्तर का स्मरण आवश्यक है - यह निर्विवाद सिद्ध होता है ।

एकपदस्यैकस्मिन् काले एकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालि-बोधोपधायकत्वमिति तु निष्कर्ष, तेन नैकपदस्य वस्तुतो नानाधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वेऽपि क्षति । एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमत्पदातिरिक्तस्थले चाय नियम, तेन न पुष्पदन्तपदादे-

❀ जयलता ❀

एकपदस्येति । एतेन पृथगुच्चरितनानापदाना व्यवच्छेद कृत । एकस्मिन् काले इति । अनेन विभिन्नकालव्यवच्छेद कृत । एकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालिबोधोपधायकत्व = एकससर्गेणावच्छिन्ना या एकधर्मनिष्ठा प्रकारता तन्निष्ठनिरूपकतानिरूपिताया विशेष्यताया अवगाही गृहीतशक्तिकपुरुषनिष्ठो य शाब्दबोध तदुत्पत्तिव्याप्यत्वम् । व्याप्यतावच्छेदकसम्बन्धश्च स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्वम् । यथा 'घट' इति पदोच्चारानन्तरोत्तरक्षणे घटपदशक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतसमवायसम्बन्धावच्छिन्नया घटत्वलक्षणकधर्मनिष्ठया प्रकारतया निरूपिताया तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाया विशेष्यताया अवगाहिन शाब्दबोधस्यावश्य जायमानत्वेन घटपदस्य स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्वससर्गेण तादृशशाब्दबोधोदयव्याप्यत्वम् । तत्फलमाह-तेनेति । 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायस्योक्तार्थकत्वेनेति । न क्षतिरित्यन्वय । एकपदस्य = घटादिलक्षणस्य, वस्तुतः युगपत् नानाधर्मावच्छिन्नार्थबोधकत्वेऽपि = अनेकधर्मविशिष्टविषयकबोधजननेऽपीति । अयमभिप्राय वस्तुगतिमनुसृत्य सर्वस्य वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वमेवेति स्याद्वादिदर्शने एकस्मादपि घटपदान्नानाधर्मावच्छिन्नवस्तुसबोधो जायते तथापि न प्रकृतन्यायभङ्गप्रसङ्ग, घटपदजन्यशाब्दबोधविशेष्यस्याऽनन्तधर्मात्मकत्वेऽपि तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताया घटत्वस्वरूपैकधर्मनिष्ठाया अनेकससर्गावच्छिन्नत्वविरहात् । वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेऽपि एकस्मात् घटादिपदात् प्रातिस्विकरूपेणैव तद्बोधो, न तु नानाविधरूपेणेति भाव । एतेन शङ्कादिदोषा अपि परिहृता भवन्ति ।

ननु पुष्पदन्तपदाद् युगपत् सूर्यत्वचन्द्रत्वाभ्यामुभयोर्बोधेन प्रकृतन्यायोऽसार्वत्रिक इत्याशङ्कायामपवादमाह-एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमत्पदातिरिक्तस्थले चाऽय दर्शितो नियम बोध्य । अय भाव पद द्विविध समस्तमसमस्त च । तत्र समस्तपदे एकोच्चारान्तर्भावेनैव शक्ति यथा 'रामलक्ष्मणा' इति सहोच्चारे सत्येव रामलक्ष्मणोभये तच्छक्ति । न हि 'राम' इति पृथगुच्चारे सति तदुभये शक्तिर्भवति । असमस्तपदे तु स्वातन्त्र्येणैव शक्ति, न तु सहोच्चारणान्तर्भावेन । दर्शितनियम एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमति पदे नास्ति । ततस्तत्रैकैकससम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालिबोधप्रादुर्भावेऽपि नाय नियमो भग्न, तादृशनियममर्यादावहिर्भूतत्वात्तस्येत्याशयेनाऽऽह - तेनेति । दर्शितनियमस्यैकोक्तस्य-

❀ 'सकृदुच्चरित..' न्याय का निष्कर्ष ❀

एकपदस्य इति । यहाँ तक के विचारविमर्श से 'सकृदुच्चरित पद सकृदेवाऽर्थं गमयति' न्याय का ऐदम्पर्य यह फलित होता है कि एक पद एक काल मे एकससर्गावच्छिन्न जो एक धर्मनिष्ठ प्रकारता, उससे निरूपित विशेष्यता के अवगाही शाब्दबोध का उपधायक = जनक है । एक पद मे तादृशशाब्दबोधोपधायकत्व का अर्थ है एक पद स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्व सबन्ध से तादृशशाब्दबोधोत्पत्ति का व्याप्य है । मतलब कि एक पद के उच्चारण के अव्यवहित उत्तर क्षण मे अवश्य तादृश शाब्दबोध का जन्म होता है । 'सकृदुच्चरित' न्याय का यह गूढार्थ होने की वजह यहाँ यह कहा जाय कि –> 'वस्तुमात्र अनन्त धर्मात्मक होने से एक पद से जिस वस्तु का बोध होगा वह भी अनन्त धर्मात्मक ही होगी । अत एक पद से भी अनन्तधर्मावच्छिन्न अर्थ का ही बोध होगा । इसलिए एक पद मे अनेकधर्मावच्छिन्न धर्मी का बोध हो सकता है' <– तो भी कोई दोष नही है । इसका कारण यह है कि एक पद से एक धर्म के पुरस्कार से ही अनेकधर्मावच्छिन्न धर्मी का बोध होता है, न कि अनेक धर्म के पुरस्कार से । अनतधर्मावच्छिन्न घट का ही घटपद से शाब्दबोध होता है, मगर वह घटत्वरूप धर्म से ही होता है, न कि द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व, सत्त्व आदि धर्म से । घटपद से घट का घटत्वेन ही बोध होता है, न कि सत्त्व, पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व आदि रूप से - यह सर्वजनसिद्ध है । इसलिए 'सकृदुच्चरित' न्याय का जो निष्कर्ष बताया गया है कि - एक पद से एक काल मे एकसम्बन्धावच्छिन्न एकधर्मनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता के अवगाही शाब्द बोध का उदय होता है - वह सगत ही है । तादृश विशेष्यता का आश्रय नानाधर्मावच्छिन्न (= अनेकधर्मात्मक) हो, इसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है । उस न्याय से - तादृश विशेष्यता का आश्रय एक धर्म से ही विशिष्ट हो - ऐसा नियमन नही किया जाता है ।

❀ पुष्पदन्तपद से सूर्यचन्द्र का युगपत् बोध संमत ❀

एको इति । यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि 'सकृदुच्चरित ' न्याय से जिस नियम का विधान किया गया है, वह

ककाले सूर्यचन्द्रत्वाभ्या सूर्यचन्द्रमसयोर्बोधेऽपि क्षतिरिति ध्येयम् । धर्मे एकत्वश्चैकसङ्केत-

❀ जयलता ❀

न्तर्भावप्रयुक्तशक्तिमत्पदजन्यशाब्दबोधाऽनियामकत्वेनेति । न क्षतिरित्यनेनाऽस्याऽन्वय । **पुष्पदन्तपदात्** = 'पुष्पदन्तौ' इति पदात्, **एककाले** = युगपत्, **सूर्यचन्द्रत्वाभ्या** = सूर्यत्वचन्द्रत्वाभ्या, **सूर्यचन्द्रमसयोः बोधेऽपि न क्षतिः** । अय भाव 'पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ' इति कोशवचनात् एकोच्चारणान्तर्भावेन गृहीतनानार्थशक्तिकपुष्पदन्तादिपदस्य व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् हि चन्द्रसूर्ययोरेकैव शक्ति शक्यतावच्छेदकत्व तु चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्व्यासज्यवृत्ति । 'पुष्पदन्तादिपद चन्द्रे सूर्ये च शक्तमि'त्याकारक शक्तिग्रह । तत्कार्यतावच्छेदकञ्च चन्द्रत्वप्रकारकत्वे सति सूर्यत्वप्रकारकस्मृतित्व, तादृशशाब्दत्वञ्च । अत्र शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतपर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नचन्द्रत्वसूर्यत्वोभयनिष्ठप्रकारतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नचन्द्रसूर्योभय-निष्ठविशेष्यतावगाहिशाब्दबोधो न त्वेकधर्मावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशाली । 'एकयोक्त्या' इति कोशस्वारस्यात् सहो-च्चारणान्तर्भावेनैकैव शक्ति सिद्धेति न प्रदर्शितनियमाक्रान्तत्व तादृशबोधस्येति भाव ।

स्यादेतत् - यथा हि 'चन्द्रसूर्यौ पुष्पदन्तपदजन्यैकबोधविषयौ भवतामि'त्याकारिकैव शक्ति , 'एकयोक्त्या पुष्पदन्तौ दिवाकरनिशाकरौ' (अ को का १/श्लो १०) इत्य**मरकोशवचनात्**, लाघवाच्च । अत एव न चन्द्रसूर्यपर्यायिता, नानार्थे गणन वा । शक्तितदवच्छेदकतयोर्व्यासज्यवृत्तितया च'चन्द्रत्वेन चन्द्र शक्य सूर्यत्वेन च सूर्य' इत्यादिर्न धी किन्तु चन्द्रत्वेन सूर्यत्वेन च चन्द्रसूर्यौ शक्यावित्येव । तथैवोभयपदस्याऽपि प्रकृते शबलवस्तुन्येकैव शक्ति., शक्यतावच्छेदकत्व तु सत्त्वासत्त्वयोर्व्यासज्य-वृत्ति' इति कि न स्यात् ? एवञ्चोभयपदेन युगपदुभयप्राधान्यबोधसम्भवादवक्तव्यत्वभङ्गोऽनुत्थानोपहत इति । **मैवम्** पुष्प-दन्तपदवदुभयपदस्याऽसाधारणत्वाऽभावात्, बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वादस्त्यादिधर्मद्वयावच्छिन्नबोधकत्वे च प्राधान्येनोभयाकारबोधा-सिद्धे । किञ्च, व्यासज्यवृत्तिशक्यतावच्छेदकताकस्य पदस्य द्विवचनान्तस्यैव साधुत्वेन न पुष्पदन्तपदवदुभयपदस्यात्र बोधकत्व-मित्यादिसूचनार्थ **'ध्येयमि'**त्युक्तम् ।

ननु एकोच्चारणान्तर्भावेन शक्तिमत्पदान्यस्यैकपदस्य शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकैकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मनिष्ठप्रकारतानिरू-पितविशेष्यतावगाहिशाब्दबोधोपधायकत्वमिति नियमघटकीभूतधर्मनिष्ठैकत्व किस्वरूपमित्याशङ्कायामाह-**धर्मे एकत्वश्चेति** । सप्तम्यर्थो

एकोच्चारण अन्तर्भाव से जिस पद मे शक्ति रहती हे, उससे अन्यपद विपयक है । ऐसा कहने का कारण यह है कि 'पुप्पदन्तो' यह समस्त (= समासगर्भित) पद एक ही काल मे चन्द्रत्व और सूर्यत्व उभय धर्म से चन्द्र-सूर्योभय का वोधक होता है । तादृश शाब्दवोध से निरूपित विशेप्यता चॉद-सूरज मे रहती हे ओर उससे निरूपित प्रकारता चन्द्रत्व और सूर्यत्व जाति मे रहती है । अतएव तादृश शाब्द वोध की विशेप्यता चन्द्रत्व-सूर्यत्वस्वरूप दो धर्म से निरूपित होती है, न कि एक धर्म से । यदि 'सकृदुच्चरित ' न्याय को सार्वत्रिक माना जाय तो प्रस्तुत चॉद-सूरज उभयविशेप्यक शाव्द वोध की उपपत्ति नही हो सकती, क्योकि वह एकधर्मनिष्ठप्रकारता से निरूपित विशेप्यता का अवगाहन नही करता है । यह शाव्द वोध प्रसिद्ध एव प्रामाणिक है । अत. इसको अप्रमाण कहना ठीक नही है । इसलिए तादृश नियम मे सकोच करना आवश्यक है, जिससे यह शाव्दवोध उस नियम की मर्यादा से वहिर्भूत हो जाय । प्रदर्शित न्याय से फलित नियम मे सकोच करने के पहले यह समझना जरूरी हो जाता है कि पुप्पदन्त पद मे अर्थवोधक शक्ति कैसी रहती है ? पुप्पशब्द के पृथक् उच्चारण से या दन्तशब्द के पृथक् उच्चारण से चॉद-सूरज दोनो का वोध नही होता है किन्तु 'पुप्पदन्तो' ऐसा एक - अखड उच्चारण करने पर ही उभय का वोध होता है । मतलव कि 'पुप्पदन्तौ' पद एकोच्चारण के अन्तर्भाव से चॉद-सूरज उभय की वोधक शक्ति वाला हे । अत. पुप्पदन्तपदजन्य शाव्दवोध को उक्त नियम का अविपय वनाने के लिए यह कहा जा सकता है कि 'सकृदुच्चरित ' न्याय का फलितार्थरूप नियम एकोक्ति के अन्तर्भाव से शक्तिमत् पद से अन्य पद को अपना विपय वनाता है । ऐसा कहने से पुप्पदन्तपद तादृश नियम की मर्यादा से वहिर्भूत वन जाता है ओर उससे अन्य घटपद, पटपद आदि मे उपर्युक्त नियम प्रवृत्त होता हे । अत. घटपट आदि पद ऐसे है जो एक काल मे एकसम्वन्धावच्छिन्न ऐसी एकधर्मनिष्ट प्रकारता से निरूपित विशेप्यता के अवगाही शाव्द वोध का जनक है । यह 'सकृदुच्चरित ' न्याय का निप्कर्प है ।

❀ धर्मनिष्ठ एकत्व का निर्वचन ❀

धर्म इति । यहॉ यह शका हो सकती है कि —> ''शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूत एक सम्वन्ध से अवच्छिन्न एकधर्मनिष्ट-प्रकारता से निरूपित विशेप्यता का अवगाही शाव्द वोध एक काल मे एक पद से होता हे - ऐसा आपने कहा है । मगर यह नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि एकधर्मनिष्ट प्रकारता का अर्थ प्राप्त होता हे एकत्वसख्याविशिष्ट ऐसे धर्म मे

विषयतावच्छेदकत्वादिकम् ।

जयलता

वृत्तित्वमिति धर्मवृत्त्येकत्वमित्यर्थः । एकसङ्केतविषयतावच्छेदकत्वादिकमिति । एकसङ्केतनिरूपितविषयताया अवच्छेदकत्वादिकम् । यथा 'कम्बुग्रीवादिमान् घटपदवाच्य' इत्याकारकस्य एकसङ्केतस्य विषयः कम्बुग्रीवादिमान् तद्वृत्तैरेकसङ्केतविषयताया अवच्छेदकं लाघवात् घटत्वम् । तादृशविषयतावच्छेदकत्वञ्च घटत्वे निराबाधम् । एतेन घटपदजन्यशाब्दबोधीयविशेष्यतानिरूपितप्रकारताया शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतसमवायावच्छिन्नत्वेऽपि एकधर्मनिष्ठत्वं बाधितम्, घटत्वस्य जातित्वेन गुणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्वादेकत्वसख्यात्मकगुणविशिष्टत्वविरहादिति परास्तम्, एकधर्मस्य एकत्वसख्याविशिष्टधर्मत्वाऽविवक्षणात्, तादृशविशेष्यतानिरूपकप्रकारताश्रयीभूते घटत्वलक्षणे धर्मे एकसङ्केतविषयताऽवच्छेदकत्वलक्षणैकत्वविशिष्टत्वस्याऽबाधात् ।

ननु एकपदजन्यशाब्दबोधीयविशेष्यतानिरूपितप्रकारताया शक्यतावच्छेदकीभूतैकसम्बन्धावच्छिन्नत्वं कथं स्यात् ? समवायादौ एकत्वादिसख्यालक्षणगुणबाधात् । न चैकसङ्केतविषयतावच्छेदकत्वरूपमेकत्वं तत्र सम्भवत्येवेति वाच्यम्, एवं सति घटपदात् समवायकालिकविशेषणताभ्यां घटत्वावच्छिन्नयोर्युगपद्बोधप्रसङ्गात्, 'समवाय-कालिकविशेषणतादयः सम्बन्धाः पदवाच्या' इत्याकारकैकसङ्केतविषयतावच्छेदकत्वलक्षणैकत्वस्य समवायकालिकविशेषणतासंसर्गयोरबाधात् । न च तत्र स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यगतमेकत्वमेव भासत इत्यङ्गीकरणीयम्, 'घटो' इत्यादिपदजन्यशाब्दबोधानुपपत्तिप्रसङ्गात्, समवाये तादृशसम्बन्धेन द्वित्वादेः परिसमाप्ततया तादृशशाब्दबोधीयप्रकारताया द्वित्वविशिष्टसमवायावच्छिन्नत्वादिति चेत् ? मैवम्, अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वलक्षणस्यैकत्वस्य तत्राऽबाधितत्वात् । इदञ्च सम्बन्ध इव धर्मेऽपि बोध्यम् । अत एव आदिशब्दसाफल्यमप्युपपद्यते । एतेन एकसङ्केतविषयतावच्छेदकत्वघटकीभूतसङ्केतस्येच्छाविशेषरूपत्वेनैकत्वविशिष्टत्वबाधेन न तादृशमेकत्वं प्रकारताश्रयीभूतधर्मे सम्भवतीति प्रत्युक्तम्, अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वलक्षणैकत्वस्य तत्राऽप्यबाधितत्वात् । ततश्च एकोच्चारणान्तर्भावप्रयुक्तशक्तिमत्तदन्यतिरिक्तस्यैकपदस्य एकस्मिन् काले अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपैकत्वविशिष्टस्वशक्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नदर्शितैकत्वविशिष्टधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावगाहिशाब्दबोधव्याप्यत्वं स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्वसम्बन्धेनेति प्रकृतन्यायनिष्कर्ष इति तात्पर्यम् ।

लघुस्याद्वादरहस्ये तु प्रकृते --> "धर्मे एकत्वञ्च यावद्बोध्यवृत्तित्वादिकम् । यत्तु - स्वाश्रयबोध्यतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनैकवृत्तिमत्त्वं तद्बोध्यत्वम्, तेन न पशुत्वादेर्नानात्वेऽपि दोष इति न्यायनयानुयायिनः तन्न सर्वस्य सर्वपदशक्यत्वात्" <-- (ल.स्या. र.पृ. १३) इत्युक्तमिति ध्येयम् ।

रही हुई प्रकारता । देखिये, 'घट' इस पद से समवायावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता का अवगाहन करने वाला शाब्द बोध उत्पन्न होता है । मगर तादृशशाब्दबोधीयविशेष्यतानिरूपक प्रकारता का आश्रय घटत्व एकत्व सख्या से विशिष्ट नहीं है, क्योंकि घटत्व जाति है ओर जाति मे गुणमात्र का अभाव होता है । सख्या नैयायिकमतानुसार गुणविशेष है । अत घटत्व जाति एकत्वसख्यात्मक गुण से विशिष्ट नहीं है । तो फिर समवायावच्छिन्न प्रकारता एक धर्म (= एकत्वसख्याविशिष्ट धर्म) मे कैसे रहेगी ? फलत वह शाब्द बोध अनुपपन्न रह जायेगा" <-- मगर इसका समाधान यह है कि धर्मनिष्ठ एकत्व है वह यहाँ सख्यात्मक अभिमत नहीं है किन्तु एक सकेत की विषयता के अवच्छेदकत्वस्वरूप अभीष्ट है, जो घटत्व मे अबाधित है । वह इस तरह - 'घटपदवाच्य कम्बुग्रीवादिमान्' इत्याकारक एक सकेत का विषय है कम्बुग्रीवादिविशिष्ट । उसमे रही हुई विषयता का अवच्छेदक लाघव सहकार से घटत्व है । जहाँ जहाँ घटत्व रहता है वहाँ वहाँ तादृश एक सकेत की विषयता अवश्य रहती है । इस तरह अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति होने की वजह घटत्व तादृश एक सकेत की विषयता का अवच्छेदक हो सकता है । अत तादृश एकसकेतीयविषयतानिरूपित अवच्छेदकत्वस्वरूप विवक्षित एकत्व प्रकारताश्रयीभूत धर्म मे अबाधित है । अत विवक्षित एकत्व से विशिष्ट घटत्वादिस्वरूप धर्म मे रही हुई प्रकारता से, जो समवायसम्बन्धावच्छिन्न है, निरूपित विशेष्यता का अवगाही शाब्द बोध घटपद से हो सकता है । इस विषय मे किसी विवाद को अवकाश नहीं है । यहाँ तक के विचारविमर्श से 'सकृदुच्चरित शब्द सकृदेवार्थं गमयति' इस न्याय का अर्थ यह फलित होता है कि एक पद एक काल मे स्वशक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूत एक सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रकारता से, जो एकसकेतविषयताअवच्छेदकत्वस्वरूप एकत्वविशिष्ट धर्म मे रहती है, निरूपित विशेष्यताशाली शाब्द बोध का जनक होता है ।

अत्र नव्या --> ननु किमर्थमयं नियमः ? न तावन्नानार्थकपदान्नानार्थानां युगपद्बोधनिर्वाहाय, नानार्थकपदस्य प्रकरणादिना शक्तिर्यत्र नियम्यते तस्यैव बोधनियमेन तन्निर्वाहात्, अन्यथा भोजनवेलायां सैन्धवपदाल्लवणमेव प्रतीयते, न त्वश्व इति नियमो न स्यात् ।

❀ जयलता ❀

नव्यनैयायिकमतमुपदर्शयितुमाह- अत्रेति । 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्यायप्रामाणिकत्वपरीक्षायां प्रस्तुतायामिति । **नन्विति** प्रश्ने, तदुक्तं **हलायुधकोशे** 'ननु प्रश्नेऽवधारणे' (हला ५/८८४) **किमर्थं** = कस्मै प्रयोजनाय, **अयं** प्रदर्शितस्वरूपः **नियमः** ? किं नानार्थकपदजन्यनानार्थबोधस्य युगपदुदयनिरासाय यदुत शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थबोधानुत्पादनिर्वाहाय ? इति विकल्पयुगली समवतिष्ठते । तत्र प्रथमे आह- नेति । अन्वयश्चाऽस्य युगपद्बोधनिर्वाहायेत्यत्र । **तावदिति** प्रथममित्यर्थे यथा **शकुन्तलायां** 'आर्ये ! इतस्तावदागम्यताम्' (श १) इत्यत्र । **नानार्थकपदात्** सैन्धवादिपदात्, **नानार्थानां** अश्वलवणादिरूपाणां, **युगपद्बोधनिर्वाहाय** = समकालं ज्ञानानुत्पादोपपत्तये । अत्र हेतुमाह- **नानार्थकपदस्येति** । **प्रकरणादिनेति** आदिशब्देन संयोग-वियोग-साहचर्यादीनां ग्रहणम् । **तस्यैव** = प्रकरणादिनियन्त्रितशक्तिविषयस्यैव, **बोधनियमेन** = शाब्दबोधोदयव्याप्त्या, **तन्निर्वाहात्** = नानार्थैकपदजन्यनानार्थविषयकसमकालीनशाब्दबोधानुदयोपपत्तेः । विपक्षबाधमाह- **अन्यथेति** । प्रकरणादिना नानार्थैकपदशक्तिविषयनियमानभ्युपगमे इति । **भोजनवेलायां** = भुक्तिप्रकरणे, **सैन्धवपदात्** लवणाश्वाद्यर्थकात् **लवणमेव प्रतीयते** = शाब्दबोधविषयीभवति । एवकारफलमाह- **न त्वश्व** इति । **इति** = एवंप्रकारकः, **नियमो न स्यादिति** । अयं नव्याशयः, यदि नानार्थकपदजन्यशाब्दबोधविषयप्रतिनियमस्य प्रकरणादिप्रयुक्तत्वं नोपेयते तदा अश्वलवणबोधौपयिकसामग्र्याः अविशिष्टत्वात्सर्वदाऽश्वलवणबोधस्यात्, एकसामग्र्या अपरशाब्दबोधप्रतिबन्धकत्वे तादृशवाक्याच्छाब्दबोध एव न स्यात् । न चैवं भवति, लवणतात्पर्यग्राहकभोजनप्रकरणे लवणस्यैव बोधात्, अश्वतात्पर्यग्राहकप्रयाणप्रकरणे चाऽश्वस्यैव । ततश्च तात्पर्यग्राहकत्वेन क्लृप्तानां प्रकरणादीनां क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकत्वेनाऽनन्यथासिद्धत्वमात्रकल्पने लाघवात्प्रकरणादिभिरेव नानार्थकपदशक्तिप्रतिनियमोऽङ्गीकार्यः । तथा चैकपदस्यैकस्मिन् काले शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूतैकसम्बन्धावच्छिन्नैकधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताकशाब्दबोधोपधायकत्वमिति नियमो नातिप्रयोजनः, तन्निर्वाहस्य प्रकरणादिनैव निर्वाहात् । एवं 'घटोऽपसारणीयः' इत्यत्र

❖ 'सकृदुच्चरित...' न्याय अप्रामाणिक - नव्यनैयायिक ❖

पूर्वपक्ष :- अत्र नव्या इति । उपर्युक्त वक्तव्य के खिलाफ नव्य नैयायिकों का यह मन्तव्य है कि 'सकृदुच्चरित ' यह न्याय अप्रामाणिक है, क्योंकि उसकी कल्पना का कोई बीज ही नहीं है । वह इस तरह - इस न्याय से 'एक पद एक काल में एकधर्मावच्छिन्नार्थबोध का जनक है' इस नियम की कल्पना क्यों की जाती है ? इसके प्रत्युत्तर में यह तो नहीं कहा जा सकता कि - 'अनेक अर्थ के वाचक एक पद से एक काल में अनेकअर्थविषयक शाब्दबोध के अनुदय का निर्वाह-उपपादन करने के लिए उस न्याय का आश्रय लिया जाता है' -, क्योंकि अनेकार्थवाचक पद की शक्ति अनेक अर्थ में कोश आदि से सिद्ध होने पर भी प्रकरण आदि से जिस अर्थ में उसकी शक्ति का नियमन होगा उसीका शाब्द बोध अनेकार्थक पद से होता है - यह नियम है । इसीसे अनेकार्थक एक पद से एक काल में अनेक अर्थ के शाब्दबोध के अनुदय का निर्वाह हो सकता है । यदि अनेकार्थवाचक पद की शक्ति का अर्थविशेष में नियंत्रण न माना जाय, तब तो भोजनप्रकरण में सैन्धवपद से लवण = नमक का ही बोध होता है, न कि अश्व का - यह नियम नहीं हो सकेगा । आशय यह है कि सैन्धवशब्द का अर्थ है लवण और अश्व आदि । जब भोजन का समय = अवसर होता है, तब 'सैन्धव आनय' इस वाक्य से श्रोता को लवण लाने का ही ज्ञान होता है, न कि अश्व को लाने का, क्योंकि भोजनप्रकरण से 'यह सैन्धव पद लवण का बोध कराने की इच्छा से वक्ताने बोला है' ऐसा तात्पर्यग्रह श्रोता को होने से वहाँ सैन्धव पद की शक्ति लवण अर्थ में नियन्त्रित होती है । यदि भोजनप्रकरण से सैन्धव पद की शक्ति का लवण में नियमन न हो, तब तो भोजन के अवसर श्रोता लवण के स्थान में अश्व को या दोनों को लायेगा । मगर ऐसा नहीं होता है । भोजन के अवसर 'सैन्धवमानय' इस वाक्य से श्रोता को मालूम हो ही जाता है कि-भोजन में नमक कम होने की वजह श्रीमान् मुझे नमक लाने की आज्ञा दे रहे हैं । अतः प्रकरण आदि को ही अनेकार्थकपदजन्य शाब्दबोध के विषयविशेष का नियामक मानने से एक काल में नानार्थवाचक एक पद से अनेकार्थगोचर शाब्द बोध के अनुदय का निर्वाह हो सकता है । उसके लिए 'सकृदुच्चरित ' इस न्याय की आवश्यकता नहीं है । मतलब कि निष्प्रयोजन होने के सबब तादृश नियम अप्रामाणिक है ।

नाऽपि शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थबोधनिर्वाहाय, 'प्रजयती'त्यत्रैकस्मादेव जिधातोः शक्त्या जयस्य लक्षणया प्रकृष्टजयस्य च बोधाभ्युपगमात् । अत एव 'चित्रगु'रित्यत्र शक्त्या गोर्लक्षणया स्वामिनश्च बोधो नाऽनुपपन्नः । 'नामार्थयोर्भेदेनाऽन्वयः कथमि'ति चेत् ?

❀ जयलता ❀

सान्निध्यलक्षणसंयोगेन सन्निकृष्टघटगोचरो बोधो जायते न तु विप्रकृष्टघटविषयकः । 'घटमानय' इत्यत्र दूरस्थत्वलक्षणवियोगेन घटपटात् दूरस्थघटविषयको बोधो जायते, न तु समीपस्थघटविषयकः । 'घट पटश्चानये'त्यत्र साहचर्यात् एकदेशवृत्तिघटपटविषयकबोधो जायते । एवञ्च प्रकरणादिभिरेवाऽर्थविशेषबोधनियमसम्भवेन तादृशनियमपरिकल्पनमकिञ्चित्करमित्यर्थः ।

द्वितीये आह- नापीति । तत्र हेतुमाह- 'प्रजयती'त्यत्रेति । लक्षणयोपस्थितेन प्रकृष्टजयेन सम शक्त्योपस्थितस्य जयस्याऽभेदान्वयबोधोऽभीष्ट एवाऽस्माकमिति भावः । एवमेव च मुख्यलक्ष्योभयपरे 'गङ्गायां घोषमत्स्यौ स्त' इत्यादौ सकृदुच्चरितेऽपि गङ्गापदेऽनेकार्थतात्पर्यग्रहेणैकदैव शाब्दबोधाभ्युपगमात् सामान्यतः उभयतात्पर्यग्रहे प्रथमस्यैव बोधो नान्यस्येति नियन्तुमशक्यत्वाच्च नाऽऽवृत्त्या तन्निर्वाह इति 'सकृदुच्चरिते'त्यादिन्याये मानाभाव इति नव्याभिप्रायः ।

अत एवेति । एकस्मादपि पदात् शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थबोधाभ्युपगमादेवेति । 'चित्रगु'रित्यत्र बहुव्रीहिसमासस्थले शक्त्या = समासघटकीभूतगोपदस्य शक्त्या, गोः = सास्नादिमतः, लक्षणया द्वितीयवृत्त्या स्वामिनश्च = स्वामित्वसम्बन्धेन गोमतश्च, बोधः = शाब्दबोधः, नानुपपन्नः । शक्यार्थे गवि चित्राऽभेदान्वयः लक्ष्यार्थे पुरुषे च गोः स्वनिष्ठस्वत्वनिरूपितस्वामित्वसम्बन्धेनाऽन्वय इति शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थान्वयबोधस्याऽनुभवप्रसिद्धत्वात्र तन्निषेधार्थं 'सकृदुच्चरिते'त्यादिनियमस्याऽऽवश्यकत्वम् ।

ननु गवि चित्राऽभेदान्वयः पुरुषे च गोर्भेदान्वय इति न युज्यते, निपातातिरिक्तनामार्थयोः साक्षाद् भेदान्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वादिति चित्रगुरित्यादौ शक्तिलक्षणाभ्यां युगपदनेकार्थान्वयबोधस्य न प्रामाणिकत्वम्, अन्यथा 'राजा पुरुषः', 'भूतलं घट' इत्यादेरपि प्रसङ्गादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते - नामार्थयोः = निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थयोः, भेदेन = साक्षात् भेदेन, अन्वयः कथम् ? निपातातिरिक्तनामार्थनिष्ठविभक्त्यर्थातिरिक्तभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति नामपदनिरूपितवृत्तिज्ञानजन्योपस्थितेर्विशेष्यतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वान्नतच्छाब्दबोधो भवितुमर्हतीत्याशयः शङ्काकारस्य ।

❀ शक्ति-लक्षणा से युगपदनेकार्थबोध मान्य - नव्य नैयायिक ❀

नापि श॰ इति । यहाँ यह शंका हो कि --> ''अनेकार्थवाचक एक पद से एक काल में शक्ति और लक्षणा से अनेकार्थबोध के अनुदय के निर्वाहार्थ 'सकृदुच्चरित ' यह न्याय प्रामाणिक है, अन्यथा शक्ति और लक्षणा के द्वारा एक पद से एक काल में अनेक अर्थ का बोध होने लगेगा'' <-- तो यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि शक्ति और लक्षणा से एक ही काल में अनेक विषय का शाब्द बोध तो हमें अभिमत है । वह इस तरह - 'प्रजयति' पद में एक ही जिधातु की शक्ति से जय का और लक्षणा से प्रकृष्ट जय का एक ही काल में बोध होता है - ऐसा हम स्वीकार करते हैं । मतलब कि प्र उपसर्ग का समभिव्याहार होने पर जिधातु के शक्यार्थ जय से अभिन्न प्रकृष्ट जय का, जो जिधातु का लक्ष्यार्थ है, शाब्द बोध होता है । एक ही काल में एक पद के शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ का अन्वयबोध अभिमत होने से ही 'चित्रगु' इत्यादि पद के घटक गोपद के शक्यार्थ धेनु और लक्ष्यार्थ स्वामी का एक ही काल में बोध हो सकता है । 'चित्रगु' यह बहुव्रीहिसमास है, जिसका अर्थ है चित्र गाय का स्वामी है । यह बोध तभी उपपन्न होता है जब कि गोपद के शक्यार्थ गो में चित्र का अभेदान्वय एवं चित्र गाय का गोपद के लक्ष्यार्थ स्वामी पुरुष में भेदान्वय एक ही काल में माना जाय। अतः एक ही काल में एक ही पद के शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ की पदशक्ति और पदलक्षणा के द्वारा उपस्थिति होनी न्यायसंगत है । यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि --> ''गोपद का शक्यार्थ धेनु और लक्ष्यार्थ स्वामी, ये दोनों नामार्थ हैं । यह एक नियम है कि नामार्थ का नामार्थ के साथ भेदान्वय नहीं होता है । अतः धेनु का स्वामित्वसम्बन्ध से, जो कि तादात्म्यसम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध होने से भेदसम्बन्ध है, पुरुष में अन्वय नहीं हो सकता है'' <-- यह अनुचित होने का कारण यह है, कि व्युत्पत्तिविशेष के बल से तादृश अन्वयबोध भी हो सकता है । तात्पर्य यह है कि दो प्रातिपदिकार्थ (= नामार्थ) का साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय तब निषिद्ध होता है, जब दो नामार्थ शक्यार्थ हो । मगर जब एक नामार्थ की पदशक्ति से और अन्य नामार्थ की पदलक्षणा से उपस्थिति होती है, तब उन दोनों में भेदसम्बन्ध से भी अन्वय हो सकता है । इस

व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । अत एव 'गङ्गाया घोष' इत्यत्र गङ्गातीरत्वेनोपस्थितिर्निराबाधा ।
वस्तुतो 'यद्धर्मविशिष्टे लक्षणाप्रतिसन्धान तद्धर्मविशिष्टस्यैवोपस्थितिः शाब्दबोधश्च' इति नियमादेव गङ्गापदाद् गङ्गातीरत्वेनोपस्थितिः ।

जयलता

तत्र नव्या. समादधति - व्युत्पत्तिवैचित्र्यादिति । स्थलविशेषनियन्त्रितव्युत्पत्तिमहिम्न इत्यर्थ , शक्तिलक्षणाभ्यामुपस्थितयो प्रातिपदिकार्थयो. साक्षाद् भेदेनाऽन्वयोऽप्यदुष्ट इति, व्युत्पत्तिविशेषादिति यावत् । 'राजा पुरुष.' इत्यादौ तयो. साक्षाद् भेदेनाऽन्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वेऽपि प्रकृते तान्त्रिकाणा स्वारसिकानुभवबलादेव तादृशव्युत्पत्तौ सङ्कोच आवश्यक एवेति न शक्तिलक्षणाभ्यामुपस्थितयो. क्वचित् प्रातिपदिकार्थयो साक्षाद् भेदेनाऽन्वयेऽपि दोष इति भाव. । **अत एवेति** । एकपदशक्तिलक्षणाभ्या भेदेन युगपदनेकप्रातिपदिकार्थान्वयबोधस्य क्वचिददुष्टत्वादेवेति । **'गङ्गाया घोष'** इत्यत्र स्थले **गङ्गातीरत्वेन** धर्मेण गङ्गातीरस्य **उपस्थितिः** = स्मृति. **निराबाधा** = अदुष्टा । अय भाव 'गङ्गाया घोष' इत्यत्र गङ्गापदस्य शक्त्योपस्थिताया गङ्गाया लक्षणयोपस्थितेन तीरेण साक भेदेनाऽन्वयोपगमे एव गङ्गातीरत्वेन गङ्गातीरे घोषान्वय. सम्भवति । 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ सम्भूयैकार्थबोधकत्वज्ञानानुरोधादेव लक्षणास्वीकारात्, अन्यथा 'गङ्गाया जल तीरे घोष' इति पदद्वयाध्याहारादेवोपपत्तौ लक्षणाया अनतिप्रयोजनत्वापत्ते. । अत एव च 'दण्डी चैत्रो द्रव्य नील घटमानये'त्यादौ चैत्रो न दण्डी, घटो न नील' इत्यादिबाधधीकाले 'चैत्रो द्रव्य घटमानये'त्यादिशाब्दबोधानुदय., सम्भूयोच्चारितत्वेन गृहीतानामेक विनाऽन्यस्याऽबोधकत्वात् । ततश्चैकपदशक्यलक्ष्ययोः प्रातिपदिकार्थयोः साक्षाद् भेदेनाऽन्वयोऽदुष्ट इति फलितम् ।

नन्वपदार्थगगातीरत्वादे शाब्दबोधविषयत्वे घटादेरपि तद्विषयत्वापत्तिरिति **चेत्** ? न, प्रकृतेऽपदार्थत्वस्य पदजन्यप्रतीत्यविषयत्वरूपत्वस्वीकारेण लक्षणया गङ्गापदजन्यस्मृत्यादौ गगातीरत्वस्यापि विषयत्वेन तस्याऽपदार्थत्वाभावादित्याशयेनाऽऽह- **वस्तुत** इति । **यद्धर्मविशिष्टे** वस्तुनि **लक्षणाप्रतिसन्धान** = लक्षणाग्रह , **तद्धर्मविशिष्टस्येव उपस्थितिः** = स्मृति., **शाब्दबोधश्चेति नियमादेव** = नियमाभ्युपगमादेव, **गङ्गापदात्** लक्षणया **गगातीरत्वेन** गङ्गातीरविषयिणी **उपस्थितिः** = स्मृति **निराबाधा**, तादृशशाब्दबोधश्चेति गम्यम् । **एतेन** वृत्त्या पदजन्योपस्थित्यविषयस्यापि शाब्दबोधे भानोपगमे घटादिपदात् पटादिविषयकशाब्दबोधप्रसङ्गो दुर्निवार इति प्रत्युक्तम्, यद्धर्मविशिष्टविशेष्यकशक्यसम्बन्धग्रह. तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकमेव पदार्थस्मरण शाब्दबोधश्चेति नियमोपगमेनैव घटादिपदात् पटादिविषयकशाब्दबोधानापत्ते । तद्धर्मविशिष्टे लक्षणाग्रहस्य तेन रूपेणोपस्थिति-

व्युत्पत्ति के बल से 'चित्रगु' समास के घटक गोपद के शक्यार्थ धेनु का गोपदलक्ष्यार्थ स्वामी मे भेदसम्बन्ध से = स्वामित्व सम्बन्ध से अन्वय हो सकता हे । एक ही काल मे शक्यार्थ ओर लक्ष्यार्थ का भेदसम्बन्ध से अन्वय होने से ही तो 'गगाया घोष.' यहाँ गगातीरत्वरूप से गगातीर की उपस्थिति बिना किसी हिचकिचाहट के हो सकती है । आशय यह हे कि 'गगाया घोष.' इस वाक्य का 'गगा (= विशिष्ट जलप्रवाह) मे गोशाला हे' यह अर्थ पदशक्ति से प्राप्त होता है । मगर यह अर्थ बाधित हे, क्योकि जलप्रवाहस्वरूप गगानदी के ऊपर गोशाला का होना नामुमकिन हे । अतः शक्यार्थ जलप्रवाह के सबधी तट मे गगापद की लक्षणा से 'गगातट पर गोशाला' हे' यह शाब्दबोध होता हे, जो अबाधित एव तात्पर्यानुसारी है । यहाँ गगातीर की उपस्थिति इस तरह होती हे - गगापद की शक्ति से गगानदी की और लक्षणा से तीर की उपस्थिति होती है । पश्चात् गगानदी का अन्वय भेदसम्बन्ध (सयोगससर्ग) से तीर मे होता हे । इस तरह गगातीर की स्मृति होती है । मगर दो नामार्थ मे साक्षात् भेदान्वय सर्वथा निषिद्ध हो, तब तो गगातीरत्वेन रूपेण गगातीर की उपस्थिति नही हो सकती, क्योकि दोनो ही प्रातिपदिकार्थ हे । अत. तादृश बोध की अनुपपत्ति से शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ मे साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय मानना भी प्रामाणिक हे - यह सिद्ध होता है । इसलिए 'चित्रगु' इस समास मे धेनु का स्वस्वामी पुरुष मे भेदसम्बन्ध से अन्वय होना भी प्रामाणिक है ।

शक्यताअवच्छेदक में भी पदशक्ति अबाधित - नव्यनैयायिक

वस्तुता इति । वास्तव मे तो नियम यह है कि जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु मे लक्षणा का ग्रह (= प्रतिसन्धान) होता हे, उसी धर्म से विशिष्ट वस्तु का स्मरण एव शाब्दबोध होता है । इस नियम के अनुसार गगातीरत्व धर्म से विशिष्ट गगातीर मे गगापद की लक्षणा का प्रतिसन्धान होने से ही गगातीरत्वरूप धर्म से तट की उपस्थिति और शाब्दबोध सिद्ध हो सकता हे । यहाँ यह शका हो कि -> "जैसे जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु मे लक्षणाग्रह होता है, उसी धर्म से विशिष्ट

न चैवं शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिर्न स्यात्, यद्धर्मविशिष्टशक्तिग्रहस्तेन रूपेणोपस्थिति. शाब्दबोधश्चेति नियमादेव शक्यतावच्छेदकबोधसम्भवादिति चेत् ? न, शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तेरबाधादित्याहु. <— ।

अत्र वदन्ति - प्रकरणादीनामननुगताना नाऽर्थविशेषबोधे शक्तेः सहकारित्वं,

❀ जयलता ❀

शाब्दबोधं प्रति हेतुत्वादेव लक्ष्यतावच्छेदके तीरत्वादौ गगापदशक्यप्रवाहसयुक्तसमवायरूपलक्षणा न स्वीक्रियते, तीरत्ववृत्ति-तादृशसमवायस्य प्रयोजनविरहेण लक्षणात्वानुपगमादिति भाव ।

ननु यद्धर्मविशिष्टे लक्षणाप्रतिसन्धान तद्धर्मविशिष्टस्यैवोपस्थिति शाब्दबोधश्चेति नियमवत् यद्धर्मविशिष्टे शक्तिग्रह तद्धर्म-विशिष्टस्यैवोपस्थिति शाब्दबोधश्चेति नियमस्याऽप्यनिगकार्यत्वेन घटत्वादौ शक्यतावच्छेदके घटादिपदशक्तिस्वीकारोऽप्रामाणिक स्यात्, घटत्वादेरपि घटपदजन्यप्रतीतिविषयत्वात्, अवच्छेदकतासम्बन्धेन घटपदनिरूपितशक्तिमत्त्वाच्च तस्यापि घटादिपदार्थत्वेन तादृशशाब्दबोधविषयत्वसम्भवादित्याशङ्का निराकर्तुमाह- न चेति । इति चेदित्यनेनास्याऽन्वय । एव = वृत्तिज्ञान-स्मरण-शाब्दबोधाना समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणभावस्वीकारे, शक्यतावच्छेदकेऽपि, अपिशब्देन लक्ष्यतावच्छेदकसमुच्चय , शक्ति = पदमुख्यवृत्ति , न स्यात् = न सम्भवेत् । अत्र हेतुमाह- यद्धर्मविशिष्टशक्तिग्रह' = घटत्वादिलक्षणयद्धर्मावच्छिन्ने शक्ति-प्रतिसन्धान, तेन रूपेण = घटत्वादिरूपेण, घटादे उपस्थितिः = स्मृति शाब्दबोधश्चेति नियमादेव घटत्वादिप्रकारकस्मरण-शाब्दबोधोदयेन शक्यतावच्छेदकबोधसम्भवात् = घटत्वादिशाब्दबोधाऽवश्यभावात्, विशेषणज्ञानमृते विशिष्टबोधाऽसम्भवात् ।

नव्य तन्निराकरोति-नेति । प्रदर्शितशङ्काऽपाकरण हेतुमाह - शक्यतावच्छेदकेऽपि = घटत्वादावपि, शक्तेः = घटादि-पदशक्ते , स्वविषयत्वसम्बन्धेन अबाधात् = अव्याहतत्वादिति, अन्यथा यद्वृत्तित्वेन वृत्तिग्रह तद्वृत्तित्वेनोपस्थितिशाब्दबोधौ भवत इति नियमस्यापि सुवचत्वाद् घटादावपि शक्तिर्न स्यात् । किञ्च, शक्यतावच्छेदके शक्त्यस्वीकारे पृथिवीपदात् कदाचिदष्ट-द्रव्याऽतिरिक्तद्रव्यत्वेन, कदाचित् गन्धवत्त्वेन कदाचित्पृथिवीत्वेन च शाब्दबोध आपद्येत । पृथिवी पृथिवीपदशक्येतिवत् अष्ट-द्रव्यातिरिक्तद्रव्य गन्धवद्वा पृथिवीपदशक्यमित्याकारकस्य शक्तिज्ञानस्य सम्भवात् तीर गङ्गातीर वा प्रवाहसयोगवदिति लक्षणाग्रहेण शक्तिग्रहस्य तुल्ययोगक्षेमत्वात् । तथा च लक्षणया यत्किञ्चिदेकधर्मावच्छिन्नविषयक एव शाब्दबोध इति यथा न नियमस्तथा शक्यार्थविषयकशाब्दबोधेऽपि नियमो न स्यात् । शक्यतावच्छेदके शक्तिस्वीकारे तु पृथिवीपदात्पृथिवीत्वेनैव शाब्दबोध इति नियम उपपद्यते । पृथिवीपदस्य पृथिवीत्वपृथिव्योरेव शक्ततया शक्त्या शक्यार्थस्यैव शाब्दबोधे भानमिति नियमेन च तदुप-पादनसम्भवात् । इत्थमेव 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इत्यस्यापि नियमस्योपपत्तिरिति नव्यनैयायिकाशयः ।

प्रथमविकल्पमङ्गीकृत्य नव्यमत पराकर्तु परिशीलित पन्थानमाविष्कुर्वन्ति- अत्र वदन्तीति । यत्तावदुक्त 'नानार्थकपदस्य प्रकरणादिना यत्र शक्तिर्नियम्यते तस्यैव बोधनियमेन नानार्थकपदान्नानार्थाना युगपदबोधनिर्वाहादि'ति (पृ २९०) तन्निराकुर्वन्ति-प्रकरणादीनामिति । अननुगतानामिति । विशेषणमुखेनाऽय हेतुनिर्देश । नेत्यस्य व्यवहितान्वय । प्रयोगश्चात्रैवम् - प्रकरणा-

वस्तु की उपस्थिति (= स्मरण) और शाब्दबोध होता है, इस नियम का प्रदर्शन किया जाता है, ठीक वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि - 'जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु मे पदशक्ति का ग्रह होता है उसी धर्म से विशिष्ट का पद से स्मरण एव शाब्दबोध होता है, यह नियम है' । इसका अगीकार करने पर तो शक्यतावच्छेदक धर्म मे भी पदशक्ति न हो सकेगी, क्योंकि शक्यतावच्छेदकधर्मविशिष्ट मे शक्तिग्रह होने से शक्यतावच्छेदक से विशिष्ट का शाब्द बोध होगा, जिसके विशेषणरूप से शक्यतावच्छेदक का भी भान अनायास ही हो जायेगा, क्योकि विशेषण के ज्ञान के बिना विशेष्य का भान नहीं होता है । इस तरह शक्यतावच्छेदक मे शक्ति का स्वीकार न करने पर भी उसका भान हो सकता हैं, तब क्यो उसमे पदशक्ति की कल्पना का गौरव किया जाय ?'' <— तो इसका समाधान यह है कि पदजन्यप्रतीति का विषय होने की वजह शक्यतावच्छेदक मे भी शक्ति अबाधित है । जिस पद से जिस अर्थ का अवश्य भान होता हो, उस अर्थ मे उस पद की शक्ति का होना आवश्यक ह, अन्यथा शक्ति का नियमन ही दुर्घट हो जायेगा । घटपद से घटत्वविशिष्ट का भान होता है । अत. घटत्व और उसके आश्रय घट मे घटपद की शक्ति का होना जरूरी है । अत शक्य की भाँति शक्यतावच्छेदक मे भी स्वविषयत्वसबन्ध से शक्ति अवश्य रहती है - यह सिद्ध होता है । निष्कर्ष .- 'सकृदुचरित ' न्याय अप्रामाणिक है ।

❋ 'सकृदुच्चरित...' न्याय प्रामाणिक है - स्याद्वादी ❋

उत्तरपक्ष :- अत्र वद इति । नव्य नैयायिक के उपदर्शित वक्तव्य की समालोचना करते हुए श्रीमद्जी कहते है कि

तात्पर्यग्राहकत्वेन तदनुगमे तु लाघवात्तात्पर्यग्रहत्वेनैव तत्सहकारित्वकल्पनमुचितमिति एकदोभयतात्पर्यग्रहे एकपदादेकदोभयबोधाऽस्वारस्यनिर्वाहाय 'सकृदुच्चरिते'त्यादिनियमो युक्त

❀ जयलता ❀

दय प्रतिनियतार्थविषयकशाब्दबोध प्रति न शक्तिसहकारिण , अननुगतत्वात् । अनुगतत्वविरहेऽपि तृणारणिमणिन्यायेन तत्सहकारित्वो-पगमे कार्यकारणभावे महद्गौरवप्रसङ्गात् ।

ननु प्रकरणसयोगविभागादीना प्रकरणत्व-सयोगत्व-विभागत्वादिरूपेणाऽननुगतत्वेऽपि तात्पर्यग्राहकत्वेनाऽनुगतत्वसम्भवेन व्यतिरेकव्यभिचारविरहात् नाऽर्थविशेषबोधे शक्तिसहकारित्वाऽसम्भव इति पराऽऽशङ्कायामाह- **तात्पर्यग्राहकत्वेनेति** । एतत्पदा-देतदर्थविषयक. शाब्दबोधो भवत्वित्याद्याकारकप्रयोक्तृनिष्ठेच्छाग्रहजनकत्वेनेति । **तदनुगमे** = प्रकरणादीनामशेषाणा सङ्ग्रहे । **तुः** विशेषे, तदुक्त **हलायुधकोशे** 'तु स्याद्भेदेऽवधारणे' (हला ५/८८१) इति । **यद्यपि** तात्पर्यज्ञानजनकत्वस्य व्यक्तिभेदेन भिन्नतया इदमपि न सर्वानुगत **तथापि** जनकतासम्बन्धेन तात्पर्यज्ञानत्वावच्छिन्नवत्त्व सर्वानुगत प्रसिद्धमित्याशयेन तथोक्तमिति ज्ञेयम् । **लाघवादिति** । तात्पर्यज्ञानजनकत्वरूपगुरुधर्मेण प्रकरणादीना बहूना कारणत्वाऽपेक्षया तात्पर्यज्ञानत्वरूपलघुधर्मेण एकस्य कारणत्वे लाघवादित्यर्थ । **तात्पर्यग्रहत्वेनैवेति** । एवकारेण तात्पर्यज्ञानजनकत्वस्य, जनकतासम्बन्धेन तात्पर्यज्ञान-त्वावच्छिन्नवत्त्वस्य वा व्यवच्छेद कृत । **तत्सहकारित्वकल्पन** = प्रतिनियतार्थबोधे शक्ते. सहकारित्वमिति कल्पन **उचितम्** । **इति** = उक्तलाघवबलेन शाब्दबोधत्वावच्छिन्न प्रति तात्पर्यग्रहत्वावच्छिन्नस्य हेतुत्वसिद्धौ, **एकदा** = युगपत्, **उभयतात्पर्य-ग्रहे** नानाधर्मावच्छिन्नविषयकतात्पर्यज्ञाने सति, **एकपदात्** 'श्वेत'आदिलक्षणात्, **एकदा** = समकाल, **उभयबोधाऽस्वारस्य-निर्वाहाय 'सकृदुच्चरिते'त्यादिनियमो युक्त** इति । 'श्वेतो धावती'त्यादावेकदा श्वेतवर्णो धावति, श्वा = कुक्कुर इतो धावती'-

- नव्य नैयायिक का उक्त कथन असगत है । इसका कारण यह है कि नानार्थवाचक एक पद से एक काल मे अनेक अर्थ के बोध के अनुदय के निर्वाह के लिए प्रदर्शित न्याय का आश्रयण करना आवश्यक ही हे । नव्य नैयायिक मनीषियो ने जो कहा था कि –> 'प्रकरणादि से ही नानार्थक पद की शक्ति का अर्थविशेष मे नियमन मुमकिन होने से उसके लिए 'सकृदुच्चरित न्याय का आलवन करना नामुनासिव है' <– वह युक्त नही है, क्योकि प्रकरण आदि अननुगत होने से अर्थविशेषविषयक शाब्द बोध के प्रति पदशक्तिसहकारिकारणता प्रकरणादि मे सभवित नही है । मतलव यह है कि अनेकार्थक पद की अर्थविशेषनिष्ठ शक्ति का नियमन कभी प्रकरण से, तो कभी सयोग से, तो कभी विभाग से, तो कभी आभिमुख्य आदि से होता है । प्रकरण, सयोग, विभाग, आभिमुख्य आदि मे कोई अनुगत धर्म नही है, जिसकी अपेक्षा प्रकरणादि मे प्रतिनियतार्थविषयक शाब्दबोध के प्रति अनेकार्थकपदशक्ति का नियमन हो सकेगा । प्रकरण आदि अननुगत होने से तादृश-शक्तिनियमनस्वरूप कार्य मे व्यतिरेकव्यभिचार प्रसक्त होता है । अतः तादृशशक्तिनियमनार्थ 'सकृदुच्चरित ' न्याय का आश्रयण सगत ही हे ।

यहाँ यह शका हो सकती है कि –> ''नानार्थक पद की अर्थविशेषनिष्ठ शक्ति का नियमन प्रकरण, सयोग, विभाग, आभिमुख्य आदि मे तात्पर्यग्राहकत्वस्वरूप अनुगत धर्म से मुमकिन होने से तदर्थ 'सकृदुच्चरित ' न्याय का आश्रय करना असगत है । आशय यह है कि प्रकरण, सयोग, विभाग आदि मे प्रकरणत्व, सयोगत्व, विभागत्व आदि धर्म अननुगत होने पर भी तात्पर्यग्रहजनकत्वस्वरूप धर्म अनुगत है, क्योकि वे सभी वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान करा के ही अर्थविशेष मे नानार्थक पद की शक्ति का नियमन कराते है । 'सैन्धवमानय' इत्यादि स्थल मे भोजनप्रकरण 'लवणविषयक शाब्दवोध कराने के अभिप्राय से सेन्धव पद यहाँ प्रयुक्त हे' ऐसा तात्पर्यग्रह उत्पन्न करता है । 'घटमपनय' यहाँ सयोग ही घटपद की समीपस्थ घट मे शक्ति का, 'घटपद से समीपवर्ती घट का श्रोता को वोध हो, इस अभिप्राय से वक्ता ने घटपद का प्रयोग किया है', ऐसा तात्पर्यज्ञान (= वक्ता की इच्छा का ज्ञान) उत्पन्न कर के नियमन करता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रकरण, सयोग आदि तात्पर्यग्रहजनक है । अतः तात्पर्यग्राहकत्वरूप धर्म उन सव मे अनुगत है । तात्पर्यग्राहकत्वलक्षण अनुगत धर्म से ही प्रकरणादि नानार्थक पद की शक्ति का अर्थविशेष मे नियमन कर के अर्थविशेषविषयक शाब्दबोध के प्रति पदशक्ति के सहकारी हो सकते हे । अत. तदर्थ 'सकृदुचरित ' न्याय का अवलवन लेना निरर्थक है ।'' <–

तात्पर्यग्रह को शक्तिसहकारी मानने में लाघव - स्याद्वादी

तात्प इति । मगर यह शका ठीक नही होने का कारण यह है कि प्रकरण, सयोग, विभाग आदि को तात्पर्यग्राहक मान कर अर्थविशेषविषयक शाब्द बोध के प्रति नानार्थक पद की शक्ति के सहकारी मानने की अपेक्षा लाघव सहकार से तात्पर्यज्ञान को ही उसका सहकारी कारण मानना उचित हे । प्रकरणादि को तात्पर्यग्राहकत्वेन = तात्पर्यज्ञानजनकत्व धर्म

इति । एकपदमेकया वृत्त्या एकमेवाऽर्थं बोधयतीति 'सकृदुच्चरिते'त्याद्यर्थ इति तु न युक्तम्, 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इत्यभ्युपगमेनैकया शक्त्याऽप्येकपदस्याऽनेकार्थबोधकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

त्युभयतात्पर्यग्रहे सति 'श्वेतवर्णं कुक्कुर इतो धावती'त्युभयविषयकशाब्दबोधस्य युगपदनुदयनिर्वाहः, प्रदर्शितनियमस्याऽऽवश्यकत्वम्, अन्यथा हरिपदादुपस्थितयोः सिंहकृष्णयोर्योगाद्यधेयभावसम्बन्धेनाऽन्वयबोधप्रसङ्गादिति । एतेन वेदाऽपौरुषेयकल्पनाऽपि प्रत्युक्ता, तात्पर्यज्ञानस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां शाब्दबोधहेतुत्वनिश्चयादिति तात्पर्यम् ।

विद्यानन्दमतमपाकर्तुमुपदर्शयति - एकपदमिति । एकया वृत्त्या = शक्त्या एकमेवार्थं बोधयति = शाब्दबोधविषयीकरोति, इति = एवंप्रकारं, 'सकृदुच्चरिते'त्याद्यर्थः = 'सकृदुच्चरितं पदं सकृदेवाऽर्थं गमयती'ति न्यायार्थः, इति मतं तु न युक्तम् । तदुक्तमष्टसहस्र्यां –> 'शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, सर्वस्य पदस्यैकपदार्थविषयत्वप्रसिद्धेः, सदिति पदस्याऽसदविषयत्वात्, असदिति पदस्य च सदविषयत्वादिति' <– (अ स पृ १०७/१) । एतदनुवादरूपेण तद्विवरणे प्रकृतप्रकरणकृद्भिरपि 'एकं पदमेकया वृत्त्या एकमेवार्थं बोधयतीति स्वभावकल्पनादिति' (अ स वि पृ २०१/१) विवृतम् । एतन्मताऽयुक्तत्वमाविष्करोति - 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः', सति तात्पर्ये इति शेषः । इत्यभ्युपगमेन = इतिनियमाऽङ्गीकारेण, एकया एव शक्त्या = पदशक्त्या, अपि एकपदस्य अनेकार्थबोधकत्वात् = नानाविषयविषयकशाब्दबोधजनकत्वात् । 'सति तात्पर्ये सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः' इतिन्यायेन प्रतिशब्दं सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिर्योग्यताऽपरपर्याया वर्तते । अत एव प्रत्येकं शब्दः सर्वदा एकयैव शक्त्या नानार्थबोधजनको न तु भिन्नशक्त्येति सिद्धे एकं पदं एकया शक्त्या एकमेवाऽर्थं बोधयतीति वक्तुं न पार्यते किन्तु यथासङ्केतमनेकानर्थानपीति भावः ।

से सहकारी कारण मानने पर कारणताअवच्छेदक तात्पर्यज्ञानजनकत्व धर्म होगा । जब कि तात्पर्यज्ञान को ही सहकारी कारण मानने पर तात्पर्यज्ञानत्व कारणताअवच्छेदक धर्म होगा । अतः प्रकरण आदि की अपेक्षा तात्पर्यज्ञान को पदशक्ति का सहकारी मानने में कारणतावच्छेदक धर्म में लाघव है । इस तरह तात्पर्यज्ञान को ही पदशक्ति का सहकारी मानना आवश्यक है, तब एक काल में उभय वस्तुविषयक एक पद का तात्पर्य होने पर एक पद से एक काल में उभयविषयक शाब्द बोध प्रसक्त होता है, जिसका निवारण करने के लिए यानी उसके अप्रामाण्य का निर्वाह करने के लिए 'सकृदुच्चरित ..' न्याय को मान्यता प्रदान करना आवश्यक है । जैसे, 'श्वेतो धावति' इस वाक्य के घटक 'श्वेतो' पद 'श्वेतवर्णविशिष्ट का एव श्वा = कुक्कुर, इतः = यहाँ से' ऐसा उभयविषयक बोध के तात्पर्य से प्रयुक्त है - ऐसा उभयविषयक तात्पर्य का ज्ञान होने पर 'श्वेतवर्णविशिष्ट कुक्कुर (कुत्ता) यहाँ से दौडता है' ऐसे शाब्द बोध की अस्वाभाविकता - अप्रामाण्य के लिए 'सकृदुच्चरित ...' न्याय आवश्यक है, जो 'एक पद एक काल में शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीभूत सम्बन्ध से अवच्छिन्न एकधर्मनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता के अवगाही शाब्द बोध का जनक है' इस नियम का विधान करता है । अब श्वेतत्व और कुक्कुरत्व, इन दो धर्म से निरूपित विशेष्यता के अवगाही तादृश शाब्द बोध की अप्रामाणिकता सिद्ध हो सकती है । अतः 'सकृदुच्चरितं पदं सकृदेवाऽर्थं गमयति' यह न्याय प्रामाणिक है - यह निर्विवाद सिद्ध होता है ।

❖ 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' प्रवाद का स्याद्वाद में स्वीकार ❖

एकप इति । अन्य विद्वान् मनीषिओं की यह मान्यता है कि –> 'सकृदुच्चरित ...' इस न्याय का फलितार्थ यह है कि एक पद एक शक्ति से एक ही अर्थ का बोध करता है, न कि अनेक अर्थ का' <– मगर यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः सति तात्पर्ये' यह न्याय स्याद्वादमत में स्वीकृत है । मतलब कि प्रत्येक पद सभी अर्थ का बोध कराता है । इससे यह सिद्ध होता है कि एक पद एक शक्ति से भी अनेक अर्थ का बोध करा सकता है । जैसे चोर शब्द से गुजरात में चोरी करने वाले का बोध होता है, मगर उसीसे दक्षिणदेश में (कालविशेष की अपेक्षा) पके चावल का बोध होता है । अभी तामिलनाडु में सोरशब्द पक्व चावल का बोध कराता है । मालूम होता है कि चौरशब्द का तामिल भाषा में अपभ्रंश होकर सोर शब्द बना हो । हिन्दी भाषा में भी यह प्रसिद्ध है । जैसे 'और आगे बढो', राम और सीता' इत्यादि स्थल में और शब्द से क्रमशः 'अधिक' एवं 'समुच्चय'- इन दो अर्थ का बोध होता है । एक ही शब्द एक शक्ति से अनेक अर्थ का शाब्द बोध कराता है - इस विषय में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । इसलिए 'एक शब्द एक शक्ति से एक ही अर्थ का बोध कराता है' - ऐसा मानना असंगत है । हाँ, एक शक्ति से एक पद एक काल में अनेक अर्थ का बोध नहीं करा सकता है । इसीलिए तो 'सकृदुच्चरित ...' न्याय का आश्रय करना जरूरी है ।

न चैवं लक्षणाद्युच्छेद., नियन्त्रितसङ्केताऽसम्भवे तदवकाशात् । न च घटत्व-पटत्वादिना शक्तिकल्पने गौरवम्; प्रमेयत्वेनैव तत्कल्पनात्, तत्तद्धर्मेण बोधस्य सङ्केतविशेषनियम्यत्वात् ।

❀ जयलता ❀

नन्वेकया वृत्त्यैकपदस्याऽनेकार्थबोधकत्वे तु गत लक्षणया, पदशक्त्या एवाभिमतार्थबोधसिद्धेरिति शङ्कामपनोदयितु-माह- **न चेति** । **एव** = एकया शक्त्याऽप्येकपदस्याऽनेकार्थबोधकत्वसम्भवे । **लक्षणाद्युच्छेदः** इति । आदिशब्देन व्यञ्जनापरि-ग्रह. । तदनुच्छेदे हेतुमाह- **नियन्त्रितसङ्केताऽसम्भवे** = कोशादिनियमितसङ्केतविरहे, **तदवकाशात्** = लक्षणाद्यात्मलाभ-सम्भवात् । यथा गङ्गापदस्य जलप्रवाहविशेषे कोशादिना सङ्केते कृते तत तत्तीरे सङ्केताऽसम्भवे गङ्गापदस्य गङ्गातीरे लक्षणा तात्पर्यानुपपत्त्यादित· सम्भवति ।

नन्वेकपदस्यैकया शक्त्या नानार्थबोधकत्वे घटत्ववत् पटत्व-कटत्वादावपि घटपदशक्यतावच्छेदकत्वकल्पनागौरवमतिरिच्ये-तेति शङ्कामपहस्तयितुमाह- **न चेति** । **घटत्व-पटत्वादिना शक्तिकल्पने** = घटत्व-पटत्वाद्यवच्छिन्नाया घटपदशक्त्या. कल्पने, **गौरव** = शक्यतावच्छेदकत्वगौरवम् । तदपोहे हेतुमाह - **प्रमेयत्वेनैवेति** । एवकारेण प्रमेयत्वव्याप्यघटत्व-पटत्वादेर्व्यवच्छेद कृत. । **तत्कल्पनात्** = घटपदशक्तिकल्पनात् । प्रमेयत्वस्यैव प्रत्येकपदशक्यतावच्छेदकत्वे तु घटपदात् घटत्ववत् पटत्वादिनाऽपि शाब्दबोधस्य दुर्निवारत्वम्, प्रमेयत्वव्याप्यत्वाऽविशेषादित्याशङ्कायामाह- **तत्तद्धर्मेण बोधस्य** = प्रातिस्विकधर्मावच्छिन्नप्रकारताक-शाब्दबोधस्य, **सङ्केतविशेषनियम्यत्वात्** = तत्तत्सङ्केतनियन्त्रितत्वात् । एतेनैकशब्दस्याऽनेकार्थप्रतिपादने शक्तिसद्भावे एकस्मादपि पदात् समसमय नानार्थप्रतीतिप्रसक्ते प्रतिनियते वस्तुनि प्रवृत्तिर्न प्राप्नोतीति **प्रत्याख्यातम्**, शब्दस्याऽनेकार्थप्रतिपादने नैसर्गिकशक्तिसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्ते. । अनुभूयते हि एकस्यापि पदस्य देशादि-भेदेन प्रतिनियतः सङ्केत । यथा गूर्जरादौ चौरशब्दस्य तस्करे द्रविडादौ पुनरोदन इति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्य-स्याऽपि चक्षुष. प्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते दूरतिमिरसामर्थ्याच्च सन्निहिते रूपे विशिष्टाऽञ्जनादिवशादन्धकारान्तरितेऽपि काचकामलादिदूषणबलाच्च विवक्षितरूपाऽभावेऽपि ज्ञानजनकत्वम् । ततो यथाऽनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्याऽपि चक्षुषो दूरतिमि-रादिप्रतिनियतसन्निहितरूपादिविज्ञानजनकत्व तथाऽनेकार्थप्रतिपादनयोग्यस्याऽपि शब्दस्य प्रतिनियतपदार्थप्रतिपादकत्व सङ्केतसा-

❖ लक्षणा का अवकाश - स्याद्वादी ❖

न चैव ल इति । यहाँ यह शका हो सकती है कि —> "एक ही शब्द मे अनेक अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शक्ति मानने पर तो लक्षणादि का उच्छेद ही हो जायेगा । वह इस तरह 'गगाया घोषः' यहाँ गगापद मे जैसे जलप्रवाहविशेष की प्रतिपादक शक्ति है, ठीक वैसे ही गगानदीतट की बोधक शक्ति भी रहती हे - ऐसा मानने पर तो गगातट भी गंगापद का शक्यार्थ वन जायेगा । इस तरह गगापद से गगातट का वोध गगापद की शक्ति से ही हो जाता है तव तो लक्षणा का आश्रय करना जरूरी नही है । लक्षणा का अवकाश तव हो सकता है जव कि शक्यार्थ का अवलवन करने पर अन्वय की या तात्पर्य की अनुपपत्ति हो । मगर एक शब्द मे सर्वार्थप्रतिपादक शक्ति मानने पर तो लक्षणा के विना भी वक्ता के अभिमत अर्थ का पदशक्ति से वोध हो सकता हे । अत. 'सर्वे शब्दा. सर्वार्थवाचका.' इस न्याय को मान्यता देने पर तो लक्षणा का उच्छेद ही हो जायेगा" <— मगर इसका समाधान यह है कि प्रत्येक पद मे सर्वार्थप्रतिपादक शक्ति होने पर भी श्रोता विवक्षित पद मे जिस सकेत का ग्रहण करेगा उसी अर्थ का पदशक्ति से वोध होता है । जव विवक्षित शब्द मे कोशादि से नियन्त्रित सकेत का असभव होता है, तव लक्षणा का भी अवकाश है । जैसे 'गगाया घोष.' यहाँ गगापद का सकेत, जो कोशादि से नियन्त्रित है, जलप्रवाहतट मे असभव हे । अतएव गगापद की गगातट मे लक्षणा का अवकाश हे । यहाँ यह शका हो कि —> "एक पद की शक्ति सव अर्थ मे मानने पर तो शक्यतावच्छेदक धर्म मे गौरव होगा । वह इस तरह - घटपट की शक्ति घट, पट आदि अनेक अर्थ मे मानने पर शक्यतावच्छेदक घटत्व, पटत्व आदि अनेक धर्म वनेगे, न कि केवल घटत्व । अत. अनेक धर्म मे शक्यतावच्छेदकता की कल्पना का गौरव होगा" <— तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह हे कि घटपद की शक्ति सव अर्थ मे रहने पर भी घटपदशक्यतावच्छेदकता तो प्रमेयत्वावच्छेदेन ही मानी गई हे । प्रमेयत्वावच्छेदेन घटपद की शक्ति मानने पर भी घटपदजन्य शाब्दवोध प्रमेयत्वरूप से अवच्छिन्न प्रकारता का अवगाहन नही करता है, किन्तु सकेतविशेष से नियन्त्रित धर्मविशेष से अवच्छिन्न प्रकारता का ही अवगाहन करता है । अतएव प्रवृत्ति आदि की अनुपपत्ति को भी अवकाश नही हे, क्योकि सकेतविशेष की वजह नियतरूप से अर्थ विशेष का

न चैवं शक्तिरन्तर्गडुरिति वाच्यम्, वाच्यवाचकभावप्रतिनियमाय तत्कल्पनमित्याद्याकरे स्पष्टत्वात् ।

न च शब्दत्वेनैवाऽस्तु वाचकता प्रमेयत्वेन च वाच्यता, तथापि शब्दादेवाऽर्थबोधोऽर्थात्तु न (तत्) कुतः ? इति पर्यनुयोगस्य वाच्यवाचकभावप्रतिनियामकशक्त्यनभ्युपगमे दुरुद्धर-

❀ जयलता ❀

त्वात्सम्भवत्येव ।

ननु शक्तिरस्वाभाविकः शब्दसम्बन्धः कल्पयित्वाऽपि प्रातिस्विकधर्मप्रकारकप्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या तद्व्यञ्जकस्य सङ्केतस्याऽवश्याऽऽश्रयणीयत्वे तु कृतं सर्वार्थगोचरप्रत्येकशब्दशक्तिकल्पनया, सङ्केतेनैव तदुपक्षयात् । तत्परिकल्पने वा न कस्यचित्सङ्केतापेक्षा स्यात्, तन्मात्रेणैव शब्दस्याऽर्थप्रकाशकत्वापपत्तेः । न चैवमस्ति, सङ्केतमपास्य विपश्चितोऽपि शब्दादर्थप्रतीतेरनुपपत्तेः । किञ्च क्वचिद्देशविशेषे कश्चिच्छब्दो देशान्तरप्रसिद्धमर्थमुत्सृज्य ततोऽर्थान्तरे प्रयुज्यते, यथा कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः, कर्कट्यादयः शब्दाश्च देशविशेषे योन्यादिवाचकाः । यथेन्द्रः च शब्दः पुत्रादिषु नियुज्यते । स्वाभाविकसम्बन्धसद्भावे त्वेकार्थनियतत्वमेव सर्वदा वा सर्वार्थवाचकत्वं प्रसज्येतेति शक्तिकल्पनमनतिप्रयोजनमित्याशङ्कामपनोदयितुमुपदर्शयति - न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । एवं = सङ्केतकल्पनाया अवश्यक्लृप्तत्वे, शक्तिः = सर्वार्थगोचरस्वाभाविकशब्दसम्बन्धः अन्तर्गडुः = निरर्थिका, सङ्केतेनैवाऽर्थसिद्धेः ।

दर्शितशङ्काया अश्रद्धेयत्वमाविष्करोति - वाच्यवाचकभावप्रतिनियमायेति । अर्थस्य वाच्यत्वमेव, शब्दस्तु तद्वाचक एवेति नियमायेति । तत्कल्पनं = स्वाभाविकशक्तिकल्पनम् । आकरे = स्याद्वादरत्नाकरे । तदुक्तं स्याद्वादरत्नाकरे 'सङ्केतबलादेव तत्र तदुपपत्तेरिति, तदसत्, सङ्केतो हि पुरुषाधीनवृत्तिः । न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्प्यते, अन्यथा तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वादर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति शब्दश्च वाच्यः ? सुकरमेव हीदं वक्तुमस्य शब्दस्याऽयमर्थो वाचकोऽस्य चाऽर्थस्याऽयं शब्दो वाच्य इति । न चैवमस्ति । किञ्चेच्छया वस्तुनियमेऽभिप्रेते पुरुषस्य न धूमादपि वह्नेः प्रतीतिः स्यात्, इच्छतस्तु जलस्याऽपि ततः सा स्यात् । तत्र यथा धूमाग्न्योः नैसर्गिक एवाऽविनाभावो नाम सम्बन्धः तत्प्रतिपत्तौ चोपलम्भादिकं निमित्तमाश्रीयते । एवं सांसिद्धिक एव शब्दार्थयोः शक्त्यात्मा सम्बन्धः, तत्प्रतीतये सङ्केतसमाश्रयणम् । 'शक्त्यभावेऽपि शब्दस्यैव वाचकत्वं योग्यत्वान्न वाच्यवाचकभावेऽनत्ययमि'ति चेत् ? तर्हि किमिति कलहायसे ? भवताऽपि योग्यत्वशब्देन शक्तेरेव स्वीकारात्' (स्या. रत्ना. ४/११) इति ।

परकीयशङ्कामपाकर्तुमुपदर्शयति - न चेति । तां निराकरोति - तथापीति । विभावितार्थमेवेति न पुनः तन्यते । एतद्विस्तरस्तु बुभुत्सुभिः 'स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः इति (प्र. न. त. ४/११) इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रव्याख्याने स्याद्वादरत्नाकरे रत्नाकरावतारिकायाञ्च ज्ञातव्यः ।

बोध हो सकता है । यहाँ यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि –> "नियत अर्थ में नियन्त्रित संकेतविशेष से अर्थविशेष के बोध की कल्पना करने पर प्रत्येक पद में सर्वार्थविषयक शक्ति की कल्पना निरर्थक बन जायेगी । आशय यह है कि प्रत्येक पद में सर्वार्थविषयक शक्ति मानने पर भी अर्थविशेषविषयक शाब्दबोध की उपपत्ति के लिए संकेतविशेष की कल्पना आवश्यक ही है । तब तो अच्छा यही है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहार के जनक अर्थविशेषविषयक शाब्दबोध के नियामक संकेतविशेष की ही कल्पना की जाय । शक्ति की कल्पना अनावश्यक है ।" <– यह शंका अनुचित होने का कारण यह है कि शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचकभाव का नियमन शक्ति के बिना अनुपपन्न है । शब्द में वाचकता है और अर्थ में वाच्यता है - यह तभी संगत हो सकता है, यदि शब्द में अर्थप्रतिपादक स्वाभाविक शक्ति का अंगीकार किया जाय । यह विषय स्याद्वादरत्नाकर ग्रन्थ में स्पष्टरूप से विवेचित है । यद्यपि शक्ति का, जो शब्दनिष्ठ है, अंगीकार किये बिना भी शब्दत्वावच्छेदेन वाचकता और प्रमेयत्वावच्छेदेन वाच्यता का अंगीकार हो सकता है, तथापि शब्द से ही अर्थबोध क्यों होता है, अर्थ से शाब्द बोध क्यों नहीं ? इस समस्या का समाधान शब्द में शक्ति की, जो वाच्य-वाचकभाव की नियामक है, कल्पना के बिना मिलना मुश्किल है । शब्द में अर्थप्रतिपादक स्वाभाविक योग्यता = शक्ति का स्वीकार करने पर ही यह कहा जा सकता है कि शब्द ही अर्थबोधक है, क्योंकि उसीमें अर्थप्रतिपादक शक्ति रहती है । अर्थ में तादृश स्वाभाविक योग्यता न होने की वजह उससे अर्थबोध नहीं होता है । सकलादेश में कालादि आठ की अपेक्षा अभेदप्राधान्य का पूर्व में निरूपण

त्वात् । कालाद्यष्टकस्वरूपञ्च[१] श्रीपूज्यलेखादवसेयम् । अधिकतर्का. त्वत्रत्याः मत्कृत[१]सप्तभङ्गीतरङ्गिणीतोऽवसेया ।

ननु भवतु कदाचिदन्यस्य वस्तुनो नित्याऽनित्यत्व, प्रदीपादेस्तु सर्वथाऽनित्यत्वमेवोचितमिति चेत् ? न, प्रदीपादिपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणमनाद्, द्रव्यार्थतया ध्रुवत्वात् ।

अथैव तमसो द्रव्यत्व स्यादिति चेत् ? स्यादेव । 'स्यादेव तथापि परमतप्रवेशः', तमस

❀ जयलता ❀

कालाद्यष्टकस्वरूपञ्चेति । अस्माभि रत्नाकरवचनोल्लेखादत्रोपदर्शितमेव । **श्रीपूज्यलेखादिति** । नाऽय साम्प्रतमुपलभ्यते । **अधिकतर्काः तु अत्रत्याः** सप्तभङ्गीगोचरा **मत्कृतसप्तभङ्गीतरङ्गिणीत** इति । प्रकृतप्रकरणकृद्विनिर्मितेय प्रकरणमञ्जूषाऽपि साम्प्रत न दृग्गोचरीभवति, **सप्तभङ्गीनयप्रदीपाभिधानः** तत्कृतः सक्षिप्त ग्रन्थस्तूपलभ्यत एव । एतद्विस्तरार्थिभिरधुनाऽष्टसहस्रीविवरण-स्याद्वादकल्पलता-नयोपदेशाऽनेकान्तव्यवस्थादयो निभालनीया निपुणतरम् ।

उपनिषदनेकान्तस्योक्त सङ्क्षेपतोऽधुना ।
विदुषा भातु कण्ठे तत् सप्तभङ्गीविभूषणम् ॥१॥

तमोद्रव्यत्ववादोपोद्घातसङ्गतिमाविष्करोति- **नन्विति** । **भवत्विति** । अभ्युपगमवादेनेद बोध्यम्, अन्यथा एकान्तवादिभि. कुत्राऽपि नित्याऽनित्यत्वयो सम्भिन्नत्वाऽनुपगमात् । **प्रदीपादेस्तु**, आदिशब्देन शब्दादेर्ग्रहणम् । **सर्वथाऽनित्यत्वमेव** = नित्यत्वाऽसम्भिन्नाऽनित्यत्वम् । एवकारेण नित्यत्वसमानाधिकरणाऽनित्यत्वव्यवच्छेदः कृत । साक्षादेव सर्वथातत्क्षयित्वोपलम्भादिति भाव' ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे- **नेति** । **प्रदीपादिपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणमनादिति** । अत्रैव हेतुमाह- **द्रव्यार्थतया ध्रुवत्वादिति** । अय भाव प्रदीपपर्यायाऽऽपन्ना तैजसा परमाणव स्वभावत. तैलक्षयाद् वाताभिघाताद्वा ज्योतिष्पर्याय परित्यज्य तमोरूप पर्यायान्तरमाश्रयन्तोऽपि नैकान्तेनाऽनित्या , पुद्गलरूपतयाऽवस्थितत्वात्तेषाम् । सर्वेषा हि भावाना पर्यायार्थनयेनाऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यार्थादेशेन नित्यत्वाऽनतिलङ्घनात् । तत प्रदीपादेरेकान्ताऽनित्यत्वमिति प्रलापमात्रम् । तदुक्त मूलकारैरपि **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाया** - 'आदीपमाव्योम समस्वभाव स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु । तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापा ॥ (अन्य यो व्य श्लो ५) इति । **एतेन** भावात्मको दीप आलोकाभावात्मकान्धकारस्वरूपता प्रतिपद्यत इति **प्रत्युक्तम्**, दीपस्याऽन्धकारपरिणामस्याऽपि सर्वथाऽभावात्मकत्वविरहात्, भास्वरपरिणामपरित्यागेऽपि द्रव्यत्वाऽपरित्यागात् ।

पर शङ्कते- **अथेति** । एव = प्रदीपपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणामेऽभ्युपगते सति, **तमसः द्रव्यत्व स्यादिति** । तत्तत्परिणामानुस्यूतपरिणामित्वस्य द्रव्यत्वव्याप्यत्वादिति भाव. । स्याद्वादीष्टापत्तित्वेन तदङ्गीकरोति **स्यादेवेति** । तस्य द्रव्यत्वमभिमतमेवेत्यर्थ । स्याद्वादिप्रत्युत्तराकर्णनाऽनन्तर पर प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवतिष्ठते - **स्यादेव तथापि परमतप्रवेश** इति । तमस

किया गया है, उन काल आदि आठ का स्वरूप 'श्रीपूज्यलेख से ज्ञातव्य है । सप्तभगी के विषय मे अधिक तर्क का निरूपण 'सप्तभगीतरगिणी ग्रन्थ से ज्ञातव्य हे, जो मैने (प्रकरणकार महोपाध्यायजी महाराज ने) वनाया है ।

❧ प्रदीपादि भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य ❧

ननु भ इति । यहाँ यह कहा जाय कि —> ''घट, पट आदि वस्तु मे प्रागुक्त रीति से नित्याऽनित्यत्व का स्वीकार किया जाय तो भी इससे सव पदार्थ नित्याऽनित्य सिद्ध नही होते हे । इसका कारण यह है कि दीप, विजली, शब्द आदि का तो सर्वथा ही नाश होता है । अत. वे एकान्ताऽनित्य माने जॉय यही उचित है, न कि नित्याऽनित्य'' <— तो यह ठीक नही हे । इसका कारण यह है कि दीप का तेलक्षय आदि से सर्वथा नाश नही होता है, किन्तु अन्धकाररूप से परिणमन होता हे । वस्तुमात्र का सर्वथा नाश नही होता है, किन्तु पर्यायविशेषविशिष्टरूप से नाश होता हे, द्रव्यात्मना तो वस्तुमात्र मे ध्रुवत्व = नित्यत्व अवाधित है । अत. प्रदीप आदि भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्यत्वरूप से नित्य है ।

यहाँ यह कहा जाय कि —> ''प्रदीप आदि का अन्धकाररूप से परिणमन माना जाय तव तो अन्धकार भी द्रव्य वन जायेगा । आशय यह है कि जैसे 'दूध का परिणाम दही है' ऐसा कहने पर दही द्रव्यस्वरूप सिद्ध होता हे, न कि अभावात्मक ।

१ साम्प्रत काल मे ये दोनो ग्रन्थ अनुपलब्ध हे । सभव हे किसी भाण्डागार मे सुरक्षित हो ।

उत्पत्तौ प्रदीपादेरवश्यं विपत्तेस्तस्य प्रदीपादिध्वंसरूपस्याऽभ्युपगमादि'ति चेत् ? न, भावाऽभावकरम्बितैकवस्तुन परैरनभ्युपगमात् ।

तेजसोऽतिनिवृत्तिरूपता, स्वीकृता तमसि या कणाशिना ।
द्रव्यतां वयममी समीक्षिणस्तत्र पत्रमवलम्ब्य चक्ष्महे ॥१९॥

❀ जयलता ❀

प्रदीपपरिणामत्वाऽभ्युपगमेऽपि नैयायिकादिमतप्रवेश स्यादित्यर्थ । अत्र हेतुमाह- तमस उत्पत्तौ प्रदीपादेरवश्य विपत्तेरिति । अवश्यमन्धकारोत्पत्तिप्रयोज्यप्रदीपानुपलब्धेरिति । 'तत किम् ?' इत्याशङ्कायां पर प्राह- तस्य = अन्धकारस्य, प्रदीपादि-ध्वंसरूपस्याऽभ्युपगमादिति । स्याद्वादिना त्वयेति शेष । अय पराशय., 'यदुत्पत्तौ कार्यस्याऽवश्य विपत्ति. सोऽस्य प्रध्वं-साभाव' (प्र न त ३/५७) इति सूत्रेणाऽन्धकारोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य प्रदीपस्य प्रध्वंसाभाव तम इति सिध्यति। एवं स्याद्वादिसिद्धान्तेनाऽपि तमसोऽभावरूपता सिद्ध्यति । तस्याऽभावात्मकत्वे सिद्धे ध्रुवो नैयायिकादिमतप्रवेश स्याद्वादिन , परेणाऽन्धकारस्य तेजोऽभावरूपताऽङ्गीकारादिति तन्निरासकृते प्रदीपादेरेकान्ताऽनित्यत्वमेव श्रेय स्याद्वादिनोऽ'पीतो व्याघ्र इतस्तटी'ति न्यायादिति ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे- नेति । यथा कपालस्य घटध्वंसत्वेन रूपेणाऽभावात्मकत्वेऽपि द्रव्यत्व-पृथ्वीत्वादिना भावात्मकता-ऽबाधिता तथैव तमस प्रदीपध्वंसत्वेन रूपेणाऽभावात्मकत्वेऽपि द्रव्यत्वादिना भावात्मकताऽबाधितैवेति तमसोऽपि भावाऽ-भावोभयात्मकत्वमव्याहतम् । न चैव परै स्वीक्रियते । अत एव नाऽन्यमतप्रवेशप्रसङ्ग इत्याशयेनाऽऽह- भावाऽभावकरम्बितैक-वस्तुन = भावानुविद्धाभावलक्षणवस्तुमात्रस्य, परै: = नैयायिक-कणादादिभि अनभ्युपगमादिति । तत. प्रदीपादे द्रव्यात्मना स्थिरत्वोपगमेऽपि न परमतप्रवेश इति सिद्धम् ।

ननु तमसस्तेजोऽभावरूपताऽङ्गीकारेणैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अनुचितत्वात्, गौरवात्, प्रमाणाभावात् । तस्य द्रव्यत्वाऽसिद्धौ कुत तद्व्यापक नित्यत्व प्रदीपादे सिद्धिसौधमध्यास्ते ? इति पराऽऽशङ्का पद्येनाऽपहस्तयति- तेजस इति । तद्व्याख्यालेशस्त्वेवम् - कणाशिना = कणादेन वैशेषिकदर्शनप्रणेत्रा तमसि = अन्धकारे या तेजसः द्रव्यस्य अतिनिवृत्ति-रूपता = संसर्गाभावात्मकता स्वीकृता तत्र = तमसि द्रव्यता = द्रव्यान्तरत्व समीक्षिण अमी वय = स्याद्वादिन पत्र

वैसे ही 'प्रदीप का परिणाम अन्धकार है' ऐसे कहने-मानने पर अन्धकार भी द्रव्यात्मक हो जायेगा । अत अन्धकाररूप से दीप का परिणमन मानना युक्तिसह नहीं है'' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्याद्वादियों ने अन्धकार को तेजोऽभावात्मक नहीं माना है, किन्तु द्रव्यात्मक भास्वरूप माना है । अत अन्धकार में द्रव्यत्व का आपादन वस्तुत अनिष्ट आपत्तिरूप नहीं है, किन्तु इष्टापत्तिस्वरूप ही है । यहाँ यह कहा जाय कि —> ''अन्धकार को द्रव्यस्वरूप मानने पर भी नैयायिक आदि मनीषियों के मत में स्याद्वादी का प्रवेश हो जायेगा । इसका कारण यह है कि 'पूर्व में (प्रथम कारिका की व्याख्या के प्रारंभिक ध्वंसस्वरूपविचार के अवसर पर) स्याद्वादी की ओर से यह कहा गया था कि - 'जिसकी उत्पत्ति से 'जिसकी अवश्य अनुपलब्धि प्रयोज्य हो वह उसका ध्वंस है, जैसे कपाल की उत्पत्ति से घट की अवश्य अनुपलब्धि प्रयोज्य होने से कपालोत्पाद ही घटध्वंस है' । वैसे यहाँ अन्धकार की उत्पत्ति होने पर प्रदीप का अवश्य विनाश होता है । अर्थात् प्रदीप की अनुपलब्धि अन्धकारोत्पाद से प्रयोज्य होती है । अत अन्धकार प्रदीपध्वंसस्वरूप ही सिद्ध होगा । ध्वंस अभाव का ही एक प्रभेद होने से अन्धकार अभावात्मक सिद्ध होता है'' <— तो यह मुनासिब नहीं है । इसका कारण यह है कि अन्धकार प्रदीपध्वंसत्वरूप से अभावात्मक होने पर भी द्रव्यत्वरूप से भावात्मक है । यह ठीक उस तरह संगत हो सकता है, जैसे कि कपाल घटध्वंसत्वरूप से अभावात्मक होने पर भी द्रव्यत्व-मृत्त्वरूप से भावात्मक भी है । इस तरह अन्धकार को भावाऽभावोभयात्मक मानने से नैयायिक आदि परवादी के मत में प्रवेश की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि वे वस्तु को भाव-अभाव उभयात्मक नहीं मानते हैं । अत प्रदीप को भास्वर पर्यायरूप से अनित्य एवं द्रव्यत्वरूप से नित्य मानना ही संगत प्रतीत होता है ।

❀ अन्धकार अभावरूप नहीं है - स्याद्वादी ❀

तेजसा इति । यहाँ महामहोपाध्यायजी का कहना है कि कणाद ने जिस अन्धकार को अत्यन्ताभावस्वरूप माना है,

[1] देखिये, पृ ८४

तत्र तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानम् । न च तदेवाऽसिद्धम्, 'तमो नीलमि'तिप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् । न च सा भ्रम, बाधकाभावात् । न च उद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शव्याप्यम्,

❀ जयलता ❀

= प्रमाण अवलम्ब्य = आश्रित्य चक्ष्महे = तन्महे । पत्रलक्षण तु 'प्रसिद्धावयव वाक्य, स्वेष्टस्याऽर्थस्य साधकम् । साधु गूढपदप्राय पत्रमाहुरनाकुलम् ॥' इति परीक्षका समामनन्ति । यथा परै तमस तेजोऽभावरूपतासाधनार्थ पञ्चावयविवाक्यमुपदर्श्यते तथैवाऽस्माभिरपि तस्य द्रव्यत्वसिद्धिकृते पञ्चावयविपरार्थानुमानमुपन्यस्यते इति भाव. । **एतेन** प्रमाणाभावान्न तमसो द्रव्यान्तरत्वमिति **प्रत्युक्तम्** ।

'मानाधीना मेयसिद्धि न तु वचनमात्रादि'ति न्यायेन तमोद्रव्यत्वसाधक प्रमाणमेवाविष्करोति- **तत्रेति** । **रूपवत्त्वमेवेति** । तथा च तमो द्रव्य रूपवत्त्वादित्यनुमान तमसो द्रव्यत्वे प्रमाणमिति सूचितम् । प्रकृते एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थो बोध्य । तत. कर्माद्याश्रयत्वादेरपि तत्त्वे न क्षति । अत्र स्वरूपासिद्धिशङ्कामपनोदयितुमुपदर्शयति- **न चेति** । **तदेव** = रूपवत्त्वमेव, **असिद्ध** = हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन पक्षाऽवृत्ति । तन्निरासे हेतुमाह- **'तमो नीलमि'ति प्रतीतेरिति** । इदञ्चोपलक्षण 'तमश्चलती'त्यादिप्रतीते. । तदुक्त **मीमासकैरपि** - 'तम खलु चल नील पराऽपरविभागवत् । प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यात् नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥ ( ) इति । **न च सा** = 'तमो नील' इति प्रतीति , **भ्रमः** = तदभाववति तत्प्रकारकत्वाऽवगाहिनी 'नील नभ' इतिवत् । अत्र हेतुमाह- **बाधकाभावादिति** । अय भाव 'इद रजतमि'ति भ्रमानन्तर 'नेद रजतमि'ति बाधनिश्चयादेव पूर्वतनप्रतीतेर्भ्रमत्व कल्प्यते न तूत्तरकाले बाधनिश्चयाऽभावे, अन्यथा घटादिविषयकप्रतीतीनामपि भ्रमत्वकल्पनाऽऽपत्त्या शून्यवादप्रवेशप्रसङ्गात् । प्रकृते च 'तमो न नीलमि'ति उत्तरकाले बाधज्ञानाभावान्नैव प्रतीतेर्भ्रान्तित्वम् ।

परकीयबाधाशङ्कामपहस्तयितुमुपदर्शयति - **न चेति** । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वय । **उद्भूतरूप उद्भूतस्पर्शव्याप्यमिति** । अन्वयश्चाऽस्याऽग्रे- 'तथा च तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक' इत्यत्र । अय नैयायिकाद्याशय - पृथ्व्यादौ उद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्व निश्चितम् । ततश्च यदि 'तमो नीलमि'ति प्रतीत्या तमसि उद्भूतरूपमङ्गीक्रियेत तदा तत्र तद्व्यापक उद्भूतस्पर्शोऽपि स्यात् । न च तत्रोद्भूतस्पर्शस्पार्शनप्रत्यक्षमनुभूयते । तथा च व्यापकीभूतोद्भूतस्पर्शविरहादेव तत्रोद्भूतरूपाभाव सिध्यति । अनुद्भूतरूपश्च नोपगन्तुमर्हति प्रमाणविरहात् । विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावसाधकत्वात्तत्र रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसिद्धि । अत 'तमो नीलमि'ति प्रतीते 'नील नभ' इतिप्रतीतिवद् भ्रमत्वमेवास्थेयमिति स्थितम् ।

ननूद्भूतरूप नोद्भूतस्पर्शव्याप्यम्, इन्द्रनीलमणे तैजसत्वेन तत्प्रभाया स्वभावत शुभ्रत्वात्, तत्र नीलिमाप्रतीत्युपपत्तये इन्द्रनीले उद्भूतस्पर्शशून्यनीलभागानुस्यूत्या आवश्यकत्वात्, तत्रैवोद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वात् । अत तमस्युद्भूत-

उसी अन्धकार मे द्रव्यत्व का समीक्षण करने वाले हम प्रमाण (= पत्र) का अवलम्बन कर के बोलते है । पचावयवी (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन से घटित) वाक्य पत्र कहा जाता है । मतलब कि अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि हम यूँही नही करते है, किन्तु प्रमाण के बल से करते है । वह प्रमाण प्रस्तुत मे अनुमान है । जैसे 'अन्धकार द्रव्यस्वरूप है, क्योकि वह (नील) रूप का आश्रय है । जो रूप का आश्रय होता है, वह द्रव्यस्वरूप होता है, जैसे घट । अन्धकार मे रूपात्मक हेतु की असिद्धि नही है, क्योकि 'तमो नील' = 'अन्धकार नील होता है' इस सार्वजनिक प्रतीति से अन्धकार मे रूप सिद्ध है । अन्धकार मे नीलत्व (= नील रूप) की प्रतीति भ्रमात्मक नही है, क्योकि अन्यविध प्रतीति से उसका बाध नही होता है ।

❀ उद्भूतरूपव्याप्य उद्भूतस्पर्श की अन्धकार में आपत्ति ❀

न चोद् इति । यहाँ यह शङ्का की जा सकती हे कि —> ''उद्भूत रूप उद्भूत स्पर्श का व्याप्य है । अतः अन्धकार मे उद्भूत रूप मानने पर उसमे उद्भूत स्पर्श की भी आपत्ति होगी । इसलिये यह आपत्ति ही अन्धकार के नीलरूपवान होने मे बाधक हे । अतएव 'नील तम.' इस प्रतीति को भ्रमात्मक मानना आवश्यक है । इस स्थिति मे अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि नही होगी, क्योकि रूपवत्त्वस्वरूप हेतु स्वरूपाऽसिद्ध है । अतः लाघव तर्क के सहकार से अन्धकार को तेजोऽभावस्वरूप मानना उचित है ।

इन्द्र इति । यदि यह कहे कि - 'इन्द्रनील मणि की प्रभा तैजस द्रव्य होने से स्वभावत. शुभ्र है, किन्तु उसमे नीलिमा की प्रतीति होती हे । उसके अनुरोध से उस प्रभा मे उद्भूत स्पर्श से शून्य किसी नील द्रव्य की अनुस्यूति मानना आवश्यक हे । उस नील द्रव्य मे उद्भूत रूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी है, क्योकि उस द्रव्य के उद्भूत स्पर्श का भान नही

इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणारोपेणैव तत्प्रभायां नीलधीनिर्वाहाद् गौरवान्न कल्प्यत इति न तत्र व्यभिचारः, कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डे बहिरारोप्यमाणपीताश्रयेऽपि न व्यभिचारः, तत्रापि स्मर्यमाणारोपेणैव बहिः पीतधीनिर्वाहात्,

❀ जयलता ❀

रूपसत्त्वेऽपि नोद्भूतस्पर्शापादनसम्भवः, आपादकविरहादिति स्याद्वाद्याशङ्कामपाकर्तुं पर आह- **इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्त्विति**। अस्य **'न कल्प्यत'** इत्यनेनाऽन्वयः। तदकल्पने हेतुमाह- **स्मर्यमाणारोपेणैवेति**। दूरस्थनीलद्रव्यसमवेतस्य स्मर्यमाणस्य नीलरूपस्य आरोपेण। एवकारेण तत्सहचरितनीलाश्रयव्यवच्छेदः कृतः। **तत्प्रभाया** = इन्द्रनीलप्रभाया **नीलधीनिर्वाहात्** = नीलिमाप्रतीत्युपपत्तिसम्भवात्। ततः किमित्याह- **गौरवादिति**। इन्द्रनीलप्रभायां तत्सहचरितनीलभागाऽकल्पनेऽपि गत्यन्तरेण तत्प्रतीतिसम्भवे सहचरितनीलभागकल्पनायां गौरवग्रस्तत्वादित्यर्थः। **इति** = इन्द्रनीलमणिप्रभासहचरितनीलभागाऽकल्पनाहेतोः, **न तत्र** = नीलभागे उद्भूतरूपस्य **व्यभिचारः** = उद्भूतस्पर्शव्यभिचारः। ततोऽन्धकारस्योद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शवत्त्वाभावस्य बाधकत्वमनिराकार्यमिति पराशयः।

नन्वेवमपि नोद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शाभाववदवृत्ति, स्फटिकभाण्डस्य तैजसत्वेन स्वभावतः शुभ्रत्वेऽपि तदन्तःकुङ्कुमादिपूरणदशायां तद्बहिः पीतिमोपलब्ध्यन्यथानुपपत्तिभिया तद्बहिः पीतिमाश्रयानुद्भूतस्पर्शवद्भागकल्पनायां अवश्याश्रयणीयत्वे अनुद्भूतस्पर्शाश्रयतादृशपीतद्रव्ये उद्भूतरूपस्य व्यभिचारित्वात्। न च तादृशपीतद्रव्यस्योद्भूतस्पर्शवत्त्वान्नैव न व्यभिचार इत्युदीरणीयम्, तत्स्पर्शाऽस्पार्शनान्यथानुपपत्तेरित्याशङ्कामपाचिकीर्षुः पर आह- **कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डे** = केशरादिनिभृतस्फटिकपात्रे, **बहिरारोप्यमाणपीताश्रये** = बहिर्भागे आरोप्यमाणस्य पीतरूपस्य अधिकरणे, **अपि** उद्भूतरूपस्य **न व्यभिचारः** = न उद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वम्। एकान्तवादी अत्र हेतुमाह- **तत्रापीति**। बहिरारोप्यमाणपीतत्वाधिकरणे, किमुत इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागे इत्यपिशब्दार्थः। **स्मर्यमाणारोपेणैव** = स्मर्यमाणस्य दूरस्थपीतद्रव्यसमवेतोद्भूतरूपस्य आरोपेणैव, **बहिःपीतधीनिर्वाहात्** = कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डबहिः पीतरूपवत्ताबुद्धिसम्भवात्, तादृशस्फटिकभाण्डबहिर्भागेऽनुद्भूतरूपाश्रयपीतद्रव्याऽकल्पनात्, स्मर्यमाणपीतरूपाश्रयीभूतदूरस्थद्रव्ये तूद्भूतस्पर्शस्याऽबाधात् नोद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वमित्यन्धकारे उद्भूतरूपोपगमे उद्भूतस्पर्शप्रसङ्गस्तत्र वज्रलेपायित एवेति पराशयः।

ननु भवतु स्मर्यमाणरूपारोपेणैव स्फटिकभाण्डे पीतरूपवत्ताधीः परं तत्र गन्धोपलम्भः न स्मर्यमाणगन्धारोपेण भवितुमर्हति। अतो गन्धाश्रयद्रव्यसन्निधानेनाऽवश्यं कुङ्कुमपूरितस्फटिकभाण्डे भवितव्यम्। प्रतीयमानगन्धाश्रयसन्निधानस्य तत्राऽवश्यक्लृप्तत्वे तूपलभ्यमानपीतरूपाश्रयत्वेनाऽपि लाघवात् गन्धाश्रयेणैव भवितव्यम्, सति सम्भवे त्यागानौचित्यात्, गौरवात्। न च तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वमिति शङ्कनीयम्, प्रमाणप्रवृत्तिसमये एव तदुपस्थितेः, लघुगत्यन्तरस्य सत्त्वात्,। अतो

होता है और उद्भूत नीलरूप का भान होता है। अतएव उद्भूत रूप को उद्भूत स्पर्श का व्याप्य नहीं माना जा सकता' - तो यह नामुनासिब है। इसका कारण यह है कि दूरस्थ उद्भूतस्पर्शवान् नीलद्रव्य के नील रूप का स्मरण मान कर उसके आरोप से भी इन्द्रनील की प्रभा में नीलिमा की प्रतीति का निर्वाह किया जा सकता है। अतः प्रभा में उद्भूतस्पर्शशून्य नीलद्रव्य की अनुस्यूति की कल्पना गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है।

कुङ्कु इति। यहाँ स्याद्वादी यदि यह कहे कि - 'स्फटिक मणि से निर्मित शुक्ल भाण्ड में कुङ्कुम भर देने पर भाण्ड के बहिरंग में पीत वर्ण की प्रतीति होती है। उसकी उपपत्ति के लिए भाण्ड के ऊपरी भाग में किसी ऐसे पीत द्रव्य का अस्तित्व मानना आवश्यक है, जिसमें उद्भूत स्पर्श न हो और जिसके सन्निधान से शुभ्र भाण्ड के बाहर पीतिमा की प्रतीति हो सके। उस पीत द्रव्य में उद्भूत रूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी है, क्योंकि उसके स्पर्श का भान नहीं होता है। केवल स्फटिक के स्पर्श का ही ज्ञान होता है। अतः अन्धकार में उत्कट रूप के सबब उत्कट स्पर्श की आपत्ति नहीं दी जा सकती' - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्फटिक भाण्ड कुङ्कुम से पूरित होने की दशा में भाण्ड के बाहर जो पीतिमा प्रतीत होती है, उसका निर्वाह भी किसी दूरस्थ उद्भूतस्पर्शयुक्त पीतद्रव्य में समवेत पीत रूप का स्मरण मान कर उसके आरोप द्वारा सम्पन्न हो सकता है। अतः स्फटिक भाण्ड के बाहरी भाग में किसी पीतद्रव्य के सन्निधान की कल्पना अनावश्यक है। अतः उद्भूत रूप में उत्कट स्पर्श की व्याप्ति (= व्याप्यता) ज्यों की त्यों बनी रहती है, जिसके बल पर अन्धकार में उत्कट नील रूप का अंगीकार करने पर उद्भूत स्पर्श की आपत्ति वज्रलेप होती है।

बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूपभागान्तरेणैवोपपत्ते , तथा च तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाऽभाव एव बाधक इति वाच्यम्, तादृशव्याप्तौ मानाभावात्,

❀ जयलता ❀

नोद्भूतरूपश्रोत्रियस्य व्यभिचारित्वचाण्डालस्पर्शकलङ्कितत्व क्षालयितु शक्य परै । अत एवान्धकारे उद्भूतरूपाङ्गीकारेऽपि नोद्भूतस्पर्शस्य तत्रावकाश इति सिद्ध तमसो द्रव्यत्वमिति स्याद्वाद्याशङ्काया पर आह- **बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु** = कुङ्कुमादिपूरित-स्फटिकभाण्डबहिर्भागे गन्धोपलम्भस्य तुर्विशेषार्थे । तदेवाह - **वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूपभागान्तरेणैव** = वायूपनीतानुत्कटरूप-शालिद्रव्याशविशेषेणैव, **उपपत्तेः** । एवकारेण स्फटिकभाण्डबहिर्भागेऽनुद्भूतस्पर्शाश्रयद्रव्याशान्यवच्छेदः कृत । अयमेकान्तवादि-नोऽभिप्राय स्फटिकभाण्डबहिर्भागे यो गन्ध उपलभ्यते तन्निर्वाहार्थ नेदमावश्यक यदुत स्फटिकभाण्डबहिर्भागाऽवच्छेदेन गन्धा-श्रयद्रव्याशेन भवितव्यम्, तत्र भागान्तर-तत्सम्बन्धादिकल्पनागौरवात्, लघुगत्यन्तरस्य सत्त्वात् । तथाहि शक्यत इद कल्पयितु यद् वायूपनीतगन्धाश्रयद्रव्याशेनैवोपाधिना तत्र गन्धोपलब्धि । न चैव गन्धाश्रयसमवेतरूपोपलब्धिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्व स्यादिति **वक्तव्यम्**, तस्यानुद्भूतरूपाश्रयत्वेनाऽपि तद्वारणसम्भवात्, कल्पनाया दृष्टानुसारितयैव प्रवृत्तेर्न्याय्यत्वात् । अत एव प्रतीयमान-पीतरूपस्याऽऽरोप्यमाणत्वमपि घटाकोटिसण्टङ्कमाटीकते । **अनेनोद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वमपि प्रत्युक्तम्**, स्फटिकभाण्डस्य पीतरूपाश्रयभागाऽसवलित्वात्, स्मर्यमाणदूरस्थद्रव्यवृत्तिपीतरूपस्योद्भूतस्पर्शाश्रयवृत्तित्वात् ।

तत. कि ? इत्याशङ्कायामाह- **तथा चेति** । उद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावीयाधिकरणताश्रयनिरू-पितवृत्तित्वशून्यत्वादित्यर्थ. । **तमस उद्भूतरूपवत्त्वे** अभ्युपगम्यमाने, **उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक** इति । उद्भूतरूपस्योद्भूत-स्पर्शव्याप्यत्वात् तमसि उद्भूतरूपस्य सत्त्वे तद्व्यापक उद्भूतस्पर्शोऽपि तत्र स्यादेव । न च सोऽस्ति, उपलब्धियोग्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानत्वात् । ततो व्यापकाभावादेव तत्र व्याप्याभाव सिध्यति । अत एव 'तमो नीलमि'ति प्रतीतेरपि भ्रान्तत्व सुवचम् । एवञ्च रूपवत्त्वहेतो स्वरूपासिद्धिकलङ्कितत्वेन न तत तमसि द्रव्यत्वसिद्धिरिति तमोऽभाववादिनोऽभिप्राय ।

तमोद्रव्यत्वदर्शनी स्याद्वादी दर्शितदीर्घशङ्कामपाकरोति - **तादृशव्याप्ताविति** । उद्भूतरूपनिष्ठायामनुद्भूतस्पर्शाभाववद्वृत्ति-त्वलक्षणाया व्याप्तौ, **मानाभावात्** = विपक्षबाधकतर्कविरहात् । 'अस्तु तमस्युद्भूतरूप माऽस्तूद्भूतस्पर्श ' इत्यत्र बाधकयुक्ति-विरहान्नोपदर्शितव्याप्ति. स्वीकर्तुमर्हति, 'मानाधीना मेयसिद्धिरि'ति वचनात्, अन्यथा वह्नेरपि धूमव्याप्यत्वप्रसङ्गात् ।

ननु वह्ने. धूमाभाववदयोगोलकवृत्तित्वेन तद्व्यभिचारित्वादस्तु वह्ने धूमव्याप्यत्वे मानाभाव परन्तु प्रकृते तूद्भूतरूपस्य नोद्भूतस्पर्शाभाववद्वृत्तित्व क्वापि दृष्टम् । अत तादृशव्याप्तौ बाधाभाव एव मान, कि मानान्तरगवेषणगौरवेण ? इति पराऽऽशङ्काया

बहिर्गन्धो इति । यदि स्याद्वादी की ओर से यह कहा जाय कि - 'स्फटिक भाण्ड के बाहर पीतिमा के साथ गन्ध की भी उपलब्धि होती है । पीतिमा की प्रतीति का निर्वाह तो दूरस्थ द्रव्य के स्मर्यमाण पीत रूप के आरोप से किया जा सकता है, मगर गन्ध की उपलब्धि तो गन्धवान् द्रव्य के सन्निधान के विना नही हो सकती है । गन्धवुद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति से गन्धवान् द्रव्य सन्निहित मानना आवश्यक है । तो फिर प्रतीयमान पीत रूप भी लाघव से उसीका रूप माना जायेगा, क्योकि अनारोपित का भान हो सके वहाँ भी आरोप की कल्पना करना गौरवग्रस्त है । अतएव उद्भूत रूप मे उत्कट स्पर्श का व्यभिचार अपरिहार्य हे, क्योकि अन्धकार मे स्फटिक भाण्ड की भाँति दूरस्थ द्रव्य के स्मर्यमाण रूप का आरोप नही किया जा सकता । अतएव अन्धकार मे उद्भूत नील रूप होने पर भी उत्कट स्पर्श का आपादन नही किया जा सकता हे' - तो यह भी अयुक्त है । इसका कारण यह हे कि कुकुमपूरित स्फटिकभाण्ड मे गन्ध की उपलब्धि वायु द्वारा आकृष्ट अनुद्भूत-रूपवान् द्रव्य के गन्ध से भी सम्भव होने से उक्त रीति से व्यभिचार की शका अनुचित है । मतलव कि जिस द्रव्य की गन्ध उपलब्ध होती है, वह उत्कट रूप से शून्य होने की वजह, प्रतीयमान रूप को आरोपित मानना आवश्यक हे । फलत उद्भूत रूप मे उत्कट स्पर्श की व्याप्ति निर्वाध होने के सवव अन्धकार मे उद्भूत स्पर्श की आपत्ति उसके उद्भूतनीलरूपवान् होने मे वाधक हो सकती है । अतः 'नील तम.' यह प्रतीति भ्रमात्मक सिद्ध हो सकती है । इस तरह अन्धकार मे रूपवत्त्व हेतु स्वरूपाऽसिद्ध होने से अन्धकार को द्रव्यान्तरस्वरूप नही माना जा सकता, वल्कि उसे आलोकाभावात्मक मानना ही उचित हे । इसके फलरूप मे नैयायिक आदि मनीपियो का जय और स्याद्वादी का पराजय सिद्ध हो जायेगा'' <—

❀ उद्भूतरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नही है - स्याद्वादी ❀

तादृश इति । मगर विचार करने पर यह शङ्कित आपत्ति निराधार हो जाती है, क्योकि उद्भूत रूप मे उद्भूत स्पर्श की

प्रभायां व्यभिचाराच्च ।

न च उद्भूतनीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यम्; न च धूमे व्यभिचार., तत्राऽप्युद्भूत-

❀ जयलता ❀

स्याद्वादी हेत्वन्तरं प्राह- प्रभाया व्यभिचाराच्चेति । प्रभाया उद्भूतरूपवत्त्वेऽप्युद्भूतस्पर्शविरहेण हेतोर्व्यभिचारित्वादित्यर्थः । एतेनोद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शव्याप्यं, तस्य उद्भूतस्पर्शाभाववद्वृत्तित्वस्य क्वाप्यदृष्टत्वादिति प्रत्युक्तम् । अत एव 'नीलं तमः' इत्यादि-प्रतीतेर्भ्रान्तत्वमपि प्रत्याख्यातम् । इत्थञ्च सा सूक्तम् - 'तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानमि' (दृश्यतां ३०२ तमे पृष्ठे) ति ।

यत्तु -> 'इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणारोपेणैव तत्प्रभाया नीलधीनिर्वाहाद् गौरवान्न कल्प्यते' <- (दृश्यतां ३०३ तमे पृष्ठे) इति तदप्यसत्, अनुभवाननुसारित्वात् । न हि तत्र दूरस्थनीलद्रव्यरूपस्मरणाऽऽरोपाऽनुभवोऽस्ति, इन्द्रनीलप्रभाया दृग्विषयत्वे सत्येवाऽऽबालाङ्गनानां नीलत्वप्रतीतेरुदयात् । एतेन 'कुङ्कुमादिपूरितभाण्डे स्मर्यमाणारोपेणैव वह्नि-पीतधीनिर्वाहादि' (दृश्यतां ३०३ तमे पृष्ठे) ति प्रत्युक्तम्, मानाभावात् । यदपि -> 'वह्निगन्धोपलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूप-भागान्तरेणैवोपपत्ते <- (दृश्यतां ३०४ तमे पृष्ठे) इत्युक्तं, तदपि न चारु, गन्धद्रव्यस्य वाय्वाकृष्टत्वानुद्भूतरूपवत्त्वकल्पनाया मानाभावेन गौरवात् । स्थिते चैवमुद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वे न तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावो बाधक इति सिद्धमन्धकारस्य द्रव्यत्वमिति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ।

वस्तुतस्तु इन्द्रनीलमण्यादेः पृथ्वीत्वमेव न तु तैजसत्वम्, -> 'फलिहमणिरयणविद्दुम' <- (जी वि श्लो ३) इति जीवविचारवचनात् । अत एव न तत्राऽऽरोपितनीलादिभागकल्पनाया आवश्यकत्वमिति ।

ननु प्रभाया व्यभिचारात् मास्तूद्भूतरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वम् उद्भूतनीलरूपस्य तु तत्त्वमबाधितमेव । अतः तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वमव्याहतम् । अत एव 'नीलं तमः' इति प्रतीतेर्भ्रान्तत्वमनपायम्, व्यापकाभावेन व्याप्याभावनिश्चयादिति न तमसो द्रव्यत्वमिति नैयायिकाद्यभिप्रायमपाकर्तुं तदाशङ्कां स्याद्वाद्याविष्करोति - न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । उद्भूतनीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यमिति । एवकारेण उद्भूतरूपवत्त्वं व्यवच्छिन्नम् । प्रयोगश्चात्रैवम् - तमो नीलरूपवन्न, उद्भूतस्पर्शशून्यत्वात्, गुणवत् । अत एव 'नीलं तमः' इति प्रतीतिः भ्रमात्मिका, तदभाववति तदवगाहित्वात् 'पीतः शङ्खः' इति प्रतीतिवत् । न च तस्या नीलत्वांशे भ्रमात्मकत्वेऽपि रूपत्वांशेऽभ्रमत्वात् रूपवत्त्वहेतोस्तमसि द्रव्यत्वमबाधितमिति वाच्यम्, नीलरूपस्याऽसत्त्वेन नीलेतररूपस्य चाऽसम्भवेन यावद्रूपविशेषाभावकूटस्य रूपसामान्याभावसाधकत्वात् । अतस्तमो न द्रव्यमिति स्थितम् ।

ननूद्भूतरूपवदुद्भूतनीलरूपमपि नोद्भूतस्पर्शव्याप्यम्, उद्भूतस्पर्शशून्यधूमवृत्तित्वात् । अतो नाऽन्धकारस्य उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वमित्याशङ्कां निराकर्तुं पर आह- न च धूमे व्यभिचार इति । वक्तव्यमिति शेषः । तन्निरासे परः हेतुमुपदर्शयति-तत्रापीति । धूमेऽपीति । उद्भूतस्पर्शसत्त्वादिति । धूमस्योद्भूतरूपाश्रयत्वेनोद्भूतनीलरूपस्य नोद्भूतस्पर्शव्यभि-

व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्युत उक्त व्याप्ति को विघटित करने वाला प्रभा के उद्भूत रूप में उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार विद्यमान है । प्रदीप आदि की प्रभा में उद्भूत रूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श नहीं होता है । दूरस्थ द्रव्य के स्मर्यमाण रूप के आरोप की कल्पना गौरवग्रस्त एवं अप्रामाणिक होने से त्याज्य है । अतः अन्धकार में उद्भूत रूप की वजह उद्भूत स्पर्श का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उद्भूत रूप में उद्भूत स्पर्श की आपादकता ही नहीं है । अत एव 'नील तम ' यह प्रतीति भ्रमात्मक सिद्ध नहीं की जा सकती । इसलिए रूपवत्त्व हेतु से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध है ।

❀ उद्भूत नीलरूप भी उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं है - स्याद्वादी ❀

न चा इति । यदि एकान्तवादी की ओर से यह कहा जाय कि -> "प्रभा में व्यभिचार होने से यदि उद्भूत रूप में उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति नहीं है, तो मत हो, पर उद्भूत नील रूप में तो उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति निर्बाध ही है । अतः अन्धकार में उद्भूत नील रूप रहने की वजह उद्भूत स्पर्श की आपत्ति तो अपरिहार्य है । इस व्याप्ति में यह शङ्का की जाय कि - 'धूम में उद्भूत नील रूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श की उपलब्धि नहीं होने से उद्भूत स्पर्श का अभाव सिद्ध होता है । उद्भूत स्पर्श से शून्य धूम में उद्भूत नील रूप रह जाने से उद्भूत नील रूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी सिद्ध होता है, जिससे तादृश व्याप्ति बाधित होती है । अतः अन्धकार में उद्भूत नील रूप से उत्कट स्पर्श का आपादन नहीं किया जा सकता' - तो यह व्यर्थ है, क्योंकि चक्षु के साथ धूम का सम्बन्ध होने पर चक्षु से अश्रुपात होने के कारण धूम में उद्भूत स्पर्श

स्पर्शसत्त्वात्, अत एव तत्सम्बन्धाच्चक्षुषि जलनिपात इति वाच्यम्, चक्षुर्धूमसंयोगेनैव जलनिपातजनकत्वात्, उद्भूतस्पर्शस्य धूमेऽसिद्धे., नीलत्रसरेणौ व्यभिचाराच्च ।

न च पाटितपटसूक्ष्मावयववत्तत्राऽप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानम्; अनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूप-

❀ जयलता ❀

चारित्वम् । अत्राऽपि हेतुमाह - **अत एवेति** । धूमस्योद्भूतस्पर्शवत्त्वादेवेति । **तत्सम्बन्धात्** = धूमसयोगात्, **चक्षुषि जलनिपातः** = अश्रुपतनम् । यदि धूम उद्भूतस्पर्शवान् न स्यात्, तदाऽनुद्भूतस्पर्शाधिकरणपरमाणुसयोगवत् तत्सम्बन्धात् नेत्रजलनिपतन न स्यात् । न चैवमस्ति । अतो धूमस्योद्भूतस्पर्शवत्त्वमभ्युपेयम् । अतो न धूमे उद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वमिति परेपामाशय ।

स्याद्वादी तन्निराकरोति - **चक्षुर्धूमसयोगत्वेनैव जलनिपातजनकत्वादिति** । जलनिपातनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताया चक्षुर्धूमसयोगत्वावच्छिन्नत्वादित्यर्थ । एवकारेण चक्षुरुद्भूतस्पर्शाश्रयसयोगत्वस्य जलनिपातकारणतावच्छेदकत्व व्यवच्छिन्नम् । अय स्याद्वादिनोऽभिप्राय. चक्षुर्धूमसयोगो न चक्षुरुद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यसयोगत्वेनाश्रुपातजनक , चक्षुरुद्भूतस्पर्शाश्रयद्रव्यान्तरसयोगत्वावच्छिन्नादपि जलनिपातप्रसङ्गात् । न चैवमस्ति । अत चक्षुर्धूमसयोगत्वेनैव तत्त्वमुपगन्तव्यम् । अतो न जलनिपातकारणतावच्छेदकघटकतया धूमे उद्भूतस्पर्शसिद्धि । अनेन तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक इति **प्रत्याख्यातम्**, धूमे उद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वात् । अन्यत्रापि व्यभिचारमुपदर्शयति स्याद्वादी- **नीलत्रसरेणौ व्यभिचाराच्चेति** । नीलरूपाश्रये द्व्यणुकत्रयात्मके पटाद्यवयवे उद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वाच्चेत्यर्थ । नीलत्रसरेणावुद्भूतनीलरूपस्य सत्त्वेऽपि उद्भूतस्पर्शविरहात्तस्य तत्र व्यभिचार. । न च तत्रोद्भूतनीलरूपमेव नास्तीति न व्यभिचार इति **वक्तव्यम्**, तच्चाक्षुषानुपपत्तिप्रसङ्गात् । अत तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वमिति भाव ।

ननु नीलत्रसरेणावप्युद्भूतस्पर्शोऽस्त्येव, अन्यथा तज्जन्यचतुरणुकादावुद्भूतस्पर्शानुत्पत्तिप्रसङ्गान्न कदापि नीलद्रव्यस्य स्पार्शनत्व घटकोटिमश्चेतेति नैयायिकाद्याशङ्कामपाकर्तु दर्शयति - **न च पाटितपटसूक्ष्मावयववत्तत्राऽप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानमिति** । वाच्यमिति शेष । प्रयोगस्त्वेवम् - नीलद्रव्यत्रसरेणु उद्भूतस्पर्शवान् स्वसमवेतद्रव्यसमवेतोद्भूतस्पर्शजनकत्वात्, पाटितपटसूक्ष्मावयववत्, यद्वा नीलत्रसरेणुस्पर्श· उद्भूत स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवेतोद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणत्वात्, पाटितपटसूक्ष्माऽवयवस्पर्शवत् । हेतुतावच्छेदक तु उद्भूतस्पर्शासमवायिकारणतात्वमेव । अनुद्भूतस्पर्शस्योद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणत्वाऽसम्भवात् चतुरणुकसमवे-

का होना अनिवार्य होने से उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार असिद्ध हे । इस प्रकार जब उद्भूत नील रूप मे उत्कट स्पर्श की व्याप्ति निर्वाध हे, तव अन्धकार मे यदि उद्भूत नील रूप माना जायगा तो उसमे उद्भूत स्पर्श की भी आपति होगी । अतः उसमे उद्भूत नील रूप नही माना जा सकता और नीलेतर रूप उसमे प्रमाण के अभाव से मान्य नही हो सकता । इस तरह रूपविशेपाऽभावकूट से अन्धकार मे रूपसामान्याभाव की सिद्धि होती हे । अव अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि केसे होगी ? क्योकि द्रव्यत्वव्याप्य रूप का उसमे अभाव रहता है । फलत अन्धकार मे द्रव्यत्व का अनुमान दुर्घट है'' <— तो यह कहना उचित नही हे, क्योकि चक्षु-धूमसयोग को अश्रुपात का जनक मान लेने से धूम मे उद्भूत स्पर्श मानना आवश्यक नही हे । मतलव कि चक्षुधूमसयोगत्वरूप से अश्रुपात की जनकता लाघव सहकार से मानी जा सकती है, न कि चक्षु-उद्भूतरूपविशिष्टसयोगत्वेन । अतः धूम मे उद्भूत स्पर्श की सिद्धि नही हो सकती हे । अतएव धूम के उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार दुर्निवार हे। इसलिए उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति न होने से उद्भूत नील रूप से उद्भूत स्पर्श की आपत्ति का कोई भय नही हे । इस तरह कोई बाधक न होने से अन्धकार मे उद्भूत नील रूप सिद्ध हे और इसलिये रूप से अन्धकार मे द्रव्यत्व का अनुमान करने मे कोई बाधा नही हो सकती । दूसरी बात यह है कि नीली द्रव्य के त्रसरेणु मे भी उद्भूत रूप मे उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार अपरिहार्य हे, क्योकि नील त्रसरेणु मे उद्भूत नील रूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श उपलब्ध नही होता है । अत उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति अप्रामाणिक है ।

❋ नील त्रसरेणु में व्यभिचारापत्ति के उद्धार का प्रयत्न ❋

न च पाटि इति । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि —> ''किसी पट को फाडने पर जो उसके सूक्ष्म अवयव निकलते हे, उनका स्पर्श उद्भूत होता है, क्योकि यदि वह उद्भूत न होगा तो उससे पट मे उद्भूत स्पर्श की उत्पत्ति न होगी और न उसके सम्बन्ध से अश्रुपात होगा । तव पट के उन सूक्ष्म अवयवो के दृष्टान्त से नीली द्रव्य के त्रसरेणु मे

जनकताया इवाऽनुद्भूतस्पर्शस्याऽपि निमित्तभेदसंसर्गेणोद्भूतस्पर्शजनकतासम्भवात् दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्ते ।

जन्याऽनुद्भूतरूपं प्रत्यनुद्भूतेतररूपाभावस्य कारणत्वपक्षे तमस्तैलस्थादनुद्भूतरूपात् वह्ने उद्भूतरूपभागान्तराऽऽकर्षणेनैवोद्भूतरूपोत्पत्तिस्वीकारात् अत्र दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तिरिति चेत् ?

❀ जयलता ❀

तोद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणीभूतस्य नीलत्रसरेणुस्पर्शस्योद्भूतत्वमेवेति नीलत्रसरेणौ नोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वमिति तमसो नीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव व्यापकाभावत्वेन रूपेण बाधक इत्यैकान्तवादिनामाशय ।

स्याद्वादी तन्निराकरणे हेतुमाह - अनुद्भूतरूपस्य = तन्मते तमस्तैलस्थाद्ददहनावयवाऽनुद्भूतरूपस्य, उद्भूतरूपजनकताया = दहनोद्भूतरूपाऽसमवायिकारणतायाः इव अनुद्भूतस्पर्शस्यापि = नीलत्रसरेणुसमवेतानुद्भूतस्पर्शस्यापि निमित्तभेदसंसर्गेण = अदृष्टादिनिमित्तविशेषसम्बन्धवशेन उद्भूतस्पर्शजनकतासम्भवात् = चतुरणुकसमवेतोद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणत्वसम्भवात् दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्ते = पाटितपटसूक्ष्मावयवोदाहरणे विप्रतिपत्ते । प्रयोगस्त्वेवम् - नीलत्रसरेण्वनुद्भूतस्पर्शोऽसमवायिकारणक-स्पर्श उद्भूत अदृष्टादिनिमित्तविशेषसमवहितत्वात्, अतितमस्तैलान्त पातितदहनावयवानुद्भूतरूपाऽसमवायिकारणकरूपविशेषवत् । एतेन यदि तमो द्रव्यं, रूपवद्द्रव्यस्य स्पर्शाऽव्यभिचारात् स्पर्शवद्द्रव्यस्य महत प्रतिघातकत्वात् तमसि सञ्चरत प्रतिबन्ध स्यात्, महान्धकारे च भूगोलकस्येव तदवयवभूतानि खण्डाऽवयविद्रव्याणि प्रतीयेरन्निति प्रत्युक्तम्, यथा प्रदीपाङ्गिंतकर्परादृष्ट-वशादनुद्भूतस्पर्शमनिबिडावयवमप्रतीयमानखण्डाऽवयविद्रव्यप्रविभागमतिघातिरश्मामण्डलमारभ्यते तद्वदेव तम परमाणुभिरपि तमो-द्रव्यारम्भसम्भवात् ।

एकदेशीय पर शङ्कते जन्याऽनुद्भूतरूपमिति । 'इति चेदि'ति पर्यन्त शङ्काग्रन्थ । जन्याऽनुद्भूतरूप प्रति अनुद्भूते-तररूपाभावस्य प्रतिबन्धकाभावविधया कारणत्वपक्षे तमस्तैलस्थात् अनुद्भूतरूपात् = अनुद्भूतरूपाश्रयात् वह्ने. अनुद्भूतरूपोत्पत्ति न सम्भविनी, तस्य उद्भूतरूपाश्रयदहनभागान्तरसवलितत्वात्, उद्भूतरूपस्य प्रतिबन्धकत्वात् । रूपसामान्यसामग्रीसत्त्वात्, अनुद्भूतरूपप्रतिबन्धकसत्त्वाच्च ततोद्भूतरूपोत्पत्ति । एवमप्यनुद्भूतरूपादुद्भूतरूपोत्पत्ता दुर्निवार इत्यत आह- उद्भूतरूपभागान्त-राकर्षणेनैवोद्भूतरूपोत्पत्तिस्वीकारादिति । एवकारेणाऽतितमस्तैलस्थदहनाऽवयवसमवेतानुद्भूतरूपस्य व्यवच्छेद कृत । अत्र = उद्भूतस्पर्शस्याऽनुद्भूतस्पर्शजन्यत्वे, दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्ति = तमस्तैलस्थदहनाऽनुद्भूतरूपजन्योद्भूतरूपनिदर्शनविप्रतिपत्तिरित्यर्थ ।

भी उद्भूत स्पर्श का अनुमान हो जायेगा । अत नील द्रव्य के त्रसरेणु मे भी उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार नही हो सकता'' <— किन्तु यह नामुनासिब होने का कारण यह है कि फाडे हुए नील पट के सूक्ष्म अवयव मे भी उद्भूत स्पर्श के होने मे प्रमाण न होने से सम्प्रतिपन्न = स्वीकृत नही है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि - —> ''पट के सूक्ष्म अवयवो मे उद्भूत स्पर्श न मानने पर पट = अवयवी मे उद्भूत स्पर्श ही नही हो सकेगा'' <— तो यह ठीक नही है, क्योकि जैसे उद्भूत रूप की उत्पत्ति अनुद्भूत रूप मे होती है, ठीक वैसे ही अनुद्भूत स्पर्श से अदृष्ट आदि निमित्तविशेष के सहयोग से उद्भूत स्पर्श की भी उत्पत्ति हो सकती है । पट के सूक्ष्म अवयव के सम्बन्ध से चक्षु से अश्रुपात की उत्पत्ति भी अश्रुनिपात के प्रति चक्षु और फाड़े हुए पट के सूक्ष्मावयव के संयोग को कारण मान लेने से सम्पन्न हो सकती है । अत पट के सूक्ष्म अवयवो मे उद्भूत स्पर्श की कल्पना अप्रामाणिक एव गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है । इस प्रकार उद्भूत रूप पट के सूक्ष्म अवयवो मे भी उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी सिद्ध होता है ।

अथवा 'न च पाटित ' से 'दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्ते ' पर्यन्त ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि - पट के सूक्ष्म अवयवो का दृष्टान्त नीलद्रव्य के त्रसरेणु मे उद्भूत स्पर्श की अनुमिति के अनुकूल दृष्टान्त के रूप मे स्वीकार्य नही हो सकता है, क्योकि अनुद्भूत रूप मे उद्भूत रूप की जनकता के समान निमित्तविशेष के सहयोग से अनुद्भूत स्पर्श मे उद्भूत स्पर्श की जनकता सभव होने से यह अनुमान कि —> ''नील द्रव्य का त्रसरेणु उद्भूतस्पर्शवान है, क्योकि उद्भूतस्पर्शवान् चतुरणुक आदि का जनक है, जैसे पाटित पट का सूक्ष्म अवयव, अथवा 'नीलद्रव्य के त्रसरेणु का स्पर्श उद्भूत है, क्योकि वह चतुरणुक मे उद्भूत स्पर्श का जनक है, जैसे पाटित पट के सूक्ष्मावयव का स्पर्श'' <— निराधार है ।

‡ त्रसरेणु मे उद्भूत स्पर्श नामुनासिब - स्याद्वादी ‡

जन्यानु इति । यदि नैयायिक-वैशेषिक मनीषियो की ओर से यह कहा जा सकता है कि - ''स्याद्वादी का यह

न, तथापि त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पार्शनप्रसङ्गात् ।

❀ जयलता ❀

एतेन नीलत्रसरेण्वनुद्भूतस्पर्शाऽसमवायिकारणकस्पर्श उद्भूत अदृष्टादिनिमित्तविशेषसमवहितत्वात्, अतितप्ततैलान्त पातिदहनाऽवयवाऽनुद्भूतरूपाऽसमवायिकारणरूपविशेषवदिति **पराकृतम्** । इत्थञ्चोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वेन तमसि प्रकटस्पर्शाभाव एवोद्भूतनीलरूपवत्त्वे वाधक इति न तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति नैयायिकैकदेशीयाशय ।

इदन्त्वत्राऽवधेयम् - **न्यायसिद्धान्तनये** नियतारम्भवादस्वीकारात् समवायेन कार्यसमवेतगुण प्रति कारणसमवेतसदृशगुणस्य स्वसमवायिसमवायसम्बन्धलक्षणया कारणैकार्थप्रत्यासत्त्याऽसमवायिकारणत्वम्, यथा घटनीलरूप प्रति कपालनीलरूपस्य । अत एव तन्मते जन्यसमवेतोद्भूतगुण प्रति स्वसमवायिसमवायेनोद्भूतगुणस्यैव कारणत्वम्, जन्यसमवेताऽनुद्भूतगुण प्रति त्वनुद्भूतगुणस्य । **न्यायैकदेशिनये** तूद्भूतगुण प्रत्युद्भूतगुणस्यैव स्वसमवायिसमवायससर्गेण कारणत्वेऽपि जन्याऽनुद्भूतगुण प्रति नाऽनुद्भूतगुणस्य कारणत्व किन्तूद्भूतगुणाऽभावस्यैव प्रतिवन्धकाभावविधया कारणत्वम् । एवमेव जन्याऽनुद्भूतस्पर्श प्रति स्वाश्रयसमवायेनोद्भूतस्पर्शाऽभावस्य प्रतिबन्धकाभावविधया कारणत्वम् । तथा जन्याऽनुद्भूतरूप प्रत्युद्भूतरूपाऽभावस्य कारणत्वम् । **न चोद्भूतरूपाभावस्यैवाऽनुद्भूतरूपत्व लाघवादिति वाच्यम्,** नीरूपे आत्मादावुद्भूतरूपाऽभावस्य सत्त्वेऽप्यनुद्भूतरूपविरहेण तयोरसमनैयत्यात् । घट प्रति तन्तुभिन्नस्य कपालस्य कारणत्वे यथा तन्तोरकारणत्व तथैव जन्याऽनुद्भूतरूप प्रत्यनुद्भूतरूपभिन्नस्योद्भूतरूपाऽभावस्य कारणत्वेऽनुद्भूतरूपस्याऽन्यथासिद्धत्वमिति । **न च** विनिगमकाभावेनाऽनुद्भूतेतररूपाभाववत् अनुद्भूतरूपस्याऽपि जन्याऽनुद्भूतरूप प्रति कारणत्वमनिराकार्यमिति **वाच्यम्** अनुद्भूतरूप प्रति प्रतिवन्धकाऽभावविधया अनुद्भूतेतररूपाभावकारणताया उभयमतसिद्धत्वात्, अनुद्भूतरूपकारणताया उभयमताऽसिद्धत्वेनाऽक्लृप्तत्वात् । उद्भूतरूपाभावस्यैवाऽनुद्भूतरूपजनकत्वेनाऽनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूपजनकत्वदृष्टान्तविप्रतिपत्ते , तप्ततैले उद्भूतरूपाश्रयज्वालालक्षणाऽनलस्य तप्ततैलस्थाऽनुद्भूतरूपाश्रयवह्न्यवयवैरुद्भूतरूपविशिष्टदहनाऽवयवसहकारिभिर्जन्यत्वेऽपि यथा घटरूपाऽसमवायिकारणत्व कपालस्यस्य रूपस्यैव न तु गन्धादे. तथैव प्रकृते ज्वालोद्भूतरूपाऽसमवायिकारणत्वमुद्भूतरूपस्यैव न त्वनुद्भूतरूपस्येति फक्किकार्थ ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - **नेति** । **तथापि** = उद्भूतस्पर्शस्य कदाप्यऽनुद्भूतस्पर्शजन्यत्वाऽनुपगमेऽपि, **त्रसरेणोः** = नीलचतुरणुकसमवायिकारणीभूतत्रसरेणो., **उद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पार्शनप्रसङ्गात्** = तादृशनीलत्रसरेणुसमवेतोद्भूतस्पर्शविषयक-

कथन युक्त नही है कि - 'अनुद्भूत रूप से उद्भूत रूप की उत्पत्ति होती है, वैसे अनुद्भूत स्पर्श से उद्भूत स्पर्श की उत्पत्ति हो सकती है' - इसका कारण यह है कि अनुद्भूत रूप से उद्भूत रूप की उत्पत्ति ही हमे अस्वीकार्य है । वास्तविकता तो यह है कि जन्य अनुद्भूत रूप के प्रति अनुद्भूतेतर (= उद्भूत) रूप का अभाव कारण है, जो अनुद्भूतरूपस्वरूप नही है । जेसे नील रूप के प्रति नीलेतररूपाभाव प्रतिवन्धकाभावविधया कारण हे, ठीक वैसे ही अनुद्भूत रूप के प्रति अनुद्भूतेतररूपाभाव प्रतिवन्धकाभावविधया कारण होता है । अत्यन्त गरम तेल आदि मे जो अग्नि रहती हे, वह अनुद्भूतरूपविशिष्ट होती हैं, मगर उस गरम तेल आदि मे भीतर उद्भूतरूपवाले अनलावयव रहते है । उद्भूतरूप अनुद्भूत रूप की उत्पत्ति का प्रतिवन्धक होने की वजह अतितप्त तेल मे अनुद्भूतरूप की उत्पत्ति नही हो सकती हे । वहाँ रूप सामान्य की सामग्री उपस्थित है ओर अनुद्भूत रूप का प्रतिवन्धक भी विद्यमान हे । अत पारिशेष न्याय से उत्कटरूपवाले सूक्ष्म दहनावयव से अतितप्त तैल मे ज्वाला के रूप मे उत्कट रूपविशिष्ट अग्नि की उत्पत्ति हो सकती है । अत. अनुद्भूत रूप से उद्भूत रूप की उत्पत्ति का दृष्टात हमे मान्य नही है । तप्त तेल मे अनुद्भूत रूप वाले दहनावयव होने पर भी ज्वालास्वरूप अग्नि के उद्भूत रूप की उत्पत्ति अन्य दहनावयव के उत्कट रूप से ही होती हे । प्रदर्शित दृष्टात असगत होने से उस पर अवलवित दार्ष्टान्तिक भी असगत ही है । अत अनुद्भूत स्पर्श से उद्भूत स्पर्श की उत्पत्ति की कल्पना अप्रामाणिक है । अत आप स्याद्वादी ने जो कहा था कि - पाटित पट के सूक्ष्म अवयव (त्रसरेणु) मे उद्भूत रूप न होने पर भी तत्स्थित अनुद्भूत रूप से उद्भूत रूप की उत्पत्ति हो सकती है - यह ठीक नही हें । उद्भूत रूप से ही उद्भूत रूप की उत्पत्ति मुमकिन होने से चतुरणुक आदि मे उत्कट रूप के जनक त्रसरेणु के स्पर्श को उत्कट मानना आवश्यक है । इस स्थिति मे तो नीलद्रव्य के त्रसरेणु मे उत्कट नील रूप उत्कट स्पर्श का व्यभिचारी नही होगा, क्योकि दोनो ही उसमे रहते हे । अत उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति अवाधित हे । अतएव अन्धकार मे उद्भूत नील रूप की सत्ता को मान्यता प्रदान करने पर उसमे उद्भूत स्पर्श की आपत्ति अपरिहार्य ही वनी रहती हे'' <—

न, तथापि इति । मगर विचार करने पर नेयायिकादि की ओर से किया गया यह आपादन निराधार है । इसका कारण यह हे कि त्रसरेणु मे उद्भूत स्पर्श होने पर उसके स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । त्रसरेणु तीन द्व्यणुक से निमित

'द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकीभूतप्रकर्षवन्महत्त्वाऽभावान्नाऽयं दोष' इति चेत् ? न, तादृशप्रकर्षस्यैकत्वेऽपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् ।

❋ जयलता ❋

स्पार्शनप्रत्यक्षोदयाऽऽपत्तेः । तस्योद्भूतत्वेन योग्यत्वादवश्यमुपलब्धिः स्यात् । न चैवमस्ति । प्रमाणाऽविषयस्याऽप्यभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात् । इत्थञ्च नीलत्रसरेणुस्पर्शाऽस्पार्शनाऽन्यथानुपपत्त्या तत्रोद्भूतस्पर्शाऽभावसिद्धेः पारिशेष्यन्यायात् अनुद्भूतस्पर्शपरिकल्पनम् । त्रसरेणुस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वेऽपि तज्जन्यचतुरणुकस्पर्शस्योद्भूतत्वेनोद्भूतस्पर्शस्याऽनुद्भूतस्पर्शजन्यत्वमव्याहतम् । अनेन --> 'अदृश्यस्य दृश्याऽनुपादानत्वात्, अन्यथा चक्षुरुष्मादिसन्तते: कदाचित् दृश्यत्वप्रसङ्गात्' <-- (मुक्ता ३७ पृ. २४०) इति मुक्तावलीकारवचनं प्रतिक्षिप्तम्, तेजोलेश्यादिलब्धिमतः चक्षुरुष्मादिसन्ततेर्दृश्यत्वाऽभ्युपगमनष्टापत्तेः नव्यनैयायिकैरपि चक्षुरादिष्वनुद्भूतस्पर्शानभ्युपगमाच्च । एतेन 'तलान्तर्गतिरदृश्यदहनावयवैस्स्थूलदहनोत्पत्तिर्न्यायकारैः स्थलदहनेऽप्यनुद्भूतरूपापत्त्या तत्प्रत्यक्षस्य दुरुपपादत्वाऽऽपातादि'(मु. म. पृ. २८६)ति मुक्तावलीमञ्जूषाकारवचनमपि निराकृतम् । एवञ्च नीलत्रसरेणावुद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारान्न तमसो नीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाऽभावः बाधक इति समाधानाशयः ।

ननु नीलत्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वेऽपि स्पार्शनकारणीभूतमहत्त्वविशेषविरहान्न तत्स्पर्शस्पार्शनप्रसङ्ग इत्याशयेन गौतमीयादिः शङ्कते - द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकताऽवच्छेदकीभूतप्रकर्षवन्महत्त्वाऽभावात् = द्रव्यान्यत्वे सति यो द्रव्यसमवेतः तद्गोचरस्पार्शनप्रत्यक्षस्य कारणतावच्छेदकीभूतो यः प्रकर्षः तद्विशिष्टमहत्त्वस्य नीलत्रसरेणो विरहात्, नाऽयं = न त्रसरेणुसमवेतस्पर्शस्पार्शनप्रसङ्गलक्षणः दोषः । अयं भावः त्रसरेणुस्पर्शः द्रव्यान्यो द्रव्यसमवेतश्च । द्रव्यान्यत्वविशिष्टद्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्य कारणत्वम् । न च महत्त्वस्य त्रसरेणुसमवेतत्वेन तत्स्पर्शस्पार्शनं दुर्निवारम्, तदुक्तं मुक्तावलीप्रभाकृता 'त्रसरेणुमहत्त्वस्य नित्यत्वस्वीकारादि' (मु. प्र. पृ. २०४) ति वक्तव्यम्, महत्त्वस्य तत्र समवेतत्वेऽपि द्रव्याऽन्यत्वविशिष्टद्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकीभूतप्रकर्षशून्यत्वेन तत्स्पर्शस्पार्शनाऽनापत्तेः । अतः एवाऽद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वाऽयोगेन तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे तत्स्पार्शनं स्याद्वादिनये दुर्निवारम् । न चैवं भवति । अतः 'नीलं तमः' इति प्रतीतेर्भ्रान्तत्वाद् रूपवत्त्वस्य स्वरूपाऽसिद्धिग्रस्तत्वम् । अतो न तमसो द्रव्यत्वं सङ्गतिमङ्गतीति नैयायिकाद्यभिप्रायः ।

स्याद्वादी तन्निराकरोति- नेति । तादृशप्रकर्षस्य = द्रव्याऽन्यत्वविशिष्टद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकीभूतप्रकर्षस्य, एकत्वेऽपि = एकत्वसङ्ख्यायामपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् । तादृशप्रकर्षः किं महत्त्वे यदुत एकत्वे ?

होता है, जिसका हमे स्पर्श हो सकता है । अतः यदि उसमे उद्भूत स्पर्श होगा, तब तो उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष अवश्य होगा, क्योंकि उद्भूत स्पर्श स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होता है । मगर त्रसरेणु के स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष तो नैयायिक आदि को भी अमान्य है एवं अनुभवविरुद्ध है । अतः त्रसरेणु मे उद्भूत स्पर्श नही माना जा सकता । अतः नीलद्रव्य के त्रसरेणु के उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श का व्यभिचार दुर्निवार है । इसलिए उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति न होने से उद्भूत नील रूप से उद्भूत स्पर्श की आपत्ति का कोई भय नही है । अतः बाधक न होने से अन्धकार मे नील रूप सिद्ध होता है और इसलिये रूप से अन्धकार मे द्रव्यत्व की अनुमिति करने मे कोई बाधा नही है । अतः अन्धकार द्रव्यात्मक सिद्ध होता है, न कि आलोकात्यन्ताभावस्वरूप ।

❋ महत्त्वविशेष के अभाव से त्रसरेणुस्पर्शप्रत्यक्षविरह अनुपपन्न - स्याद्वादी ❋

द्रव्यान्य इति । यदि नैयायिक आदि मनीषियो की ओर से यह कहा जाय कि --> ''त्रसरेणु मे उद्भूत स्पर्श होने पर भी विजातीय महत्त्व न होने की वजह त्रसरेणु के स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष नही होता है । आशय यह है कि जो द्रव्य से भिन्न होता हे एवं द्रव्य मे समवेत होता है, उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष होने मे महत्त्वविशेष कारण होता है और कारणतावच्छेदक धर्म प्रकर्ष होता है । त्रसरेणु मे महत्त्व होने पर भी तादृश प्रकर्षविशिष्ट महत्त्व न होने की वजह त्रसरेणुसमवेतस्पर्शविषयक स्पार्शन की आपत्ति नही दी जा सकती । कारणतावच्छेदकधर्मविशिष्ट कारण के न रहने पर कार्य का आपादन नही किया जा सकता । इस तरह नील त्रसरेणु का स्पर्श उद्भूत होने पर भी त्रसरेणुस्पर्शप्रत्यक्ष का आपादन अयुक्त होने से उत्कट नील रूप उद्भूत स्पर्श का अव्यभिचारी सिद्ध होता है । अतएव अन्धकार मे उद्भूत नील रूप मानने पर उद्भूतस्पर्शाऽभाव बाधक बनेगा । इसलिए अन्धकार को द्रव्य नही माना जा सकता'' <-- तो यह नैयायिककथन नामुनासिव है । इसका कारण यह है कि तादृश कारणताअवच्छेदक धर्म के आश्रय के रूप मे महत्त्व का अंगीकार किया जाय या एकत्व संख्या का ?

अथ एकत्वे तादृशजातिकल्पने स्वतन्त्रमतसिद्धद्रव्यचाक्षुषजनकताऽवच्छेदकीभूतैकत्व-निष्ठजात्या साङ्कर्यमेव विनिगमकमिति चेत् ?

❀ जयलता ❀

इत्यत्रैकतरपक्षपातियुक्तिविरहात् न विजातीयमहत्त्वस्य अद्रव्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणत्व सिद्धयति, येन तद्विरहेण नीलत्रसरेणु-स्पर्शास्पार्शनमुपपद्येतेति लाघवात् नीलत्रसरेणुस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वमेव कल्पनीयम् । एवञ्चोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्त्यसिद्धेर्न तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव बाधक. । अत एव 'नील तम' इति प्रतीतेर्भ्रमत्वमप्यपाकृतम् । ततश्च रूपवत्त्वाद्धेतो तमसो द्रव्यत्व निरपायमेवेति स्याद्वाद्याशय ।

एकान्तवादी शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । एकत्वे तादृशजातिकल्पने = एकत्ववृत्ति-द्रव्याऽन्यत्वविशिष्ट-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकजात्यङ्गीकारे, स्वतन्त्रमतसिद्ध-द्रव्यचाक्षुषजनकताऽवच्छेदकीभूतैकत्वनिष्ठजात्या = नैयायि-कैकदेशिमतप्रसिद्धद्रव्यविषयकचाक्षुषप्रत्यक्षकारणतावच्छेदकीभूतघटादिस्थैकत्ववृत्तिजात्या, सम साङ्कर्यमेव द्रव्याऽन्यद्रव्यसमवेत-स्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या महत्त्ववृत्तित्वे विनिगमकमिति । अय अथाशय. स्वतन्त्रमते द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदक-जाति. द्रव्यगतैकत्वे वर्तते यथा प्रभात्रसरेण्वादिगोचरचाक्षुषप्रत्यक्षनिष्ठजन्यतानिरूपिताया जनकताया अवच्छेदकीभूता जाति प्रभा-त्रसरेण्वादिनिष्ठैकत्वे वर्तते । न च तत्र द्रव्येतर-द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शनप्रत्यक्षनिष्ठकार्यतानिरूपिताया कारणताया अवच्छेदिका प्रकृष्टत्वजाति वर्तते; प्रभा-त्रसरेण्वादिसमवेतस्पर्शेऽनित्यप्रत्यक्षगोचरत्वविरहात् । वायु-निदाघोष्मादिनिष्ठैकत्वे द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षनिरूपितकारणताया अवच्छेदकीभूता प्रकृष्टत्वजाति. वर्तते न तु द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकी-भूता जाति , वायु-निदाघोष्मादिस्पर्शस्य प्रत्यक्षविषयत्वेऽपि वाय्वादे चाक्षुषाऽविषयत्वात् । परस्परव्यधिकरणीभूते तादृशजाती घटादिनिष्ठैकत्वे समानाधिकरणे, घटस्य चाक्षुषगोचरत्वात् तत्स्पर्शस्य च स्पार्शनविषयत्वात् । अद्रव्य-द्रव्यसमवेतगोचरस्पार्शन-कारणतावच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजात्या एकत्वसख्यानिष्ठत्वाऽङ्गीकारे द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजात्या एकत्ववृत्त्या सह साङ्कर्यस्य सुरगुरुणाऽपि निवारयितुमशक्यत्वेन तादृशप्रकृष्टत्वजात्या महत्त्ववृत्तित्वमेवोपगन्तुमर्हति । तथा च न सङ्करकलुषिततालेशोऽपि, द्रव्यगोचरचाक्षुषप्रत्यक्षकारणतावच्छेदकजात्या एकत्वनिष्ठत्वेन, अद्रव्य-द्रव्यसमवेतगुण-जाति-कर्म-विशेषविषयकस्पार्शनप्रत्यक्षनिष्ठ-

इस समस्या का कोई समाधान नही है । कारणतावच्छेदक धर्म का आश्रय ही जब अनिश्चित है, तब कारण कैसे निश्चित हो सकेगा ? ओर कारण अनिश्चित होने पर 'विजातीय महत्त्व का अभाव होने से नील त्रसरेणु के उद्भूत स्पर्श का प्रत्यक्ष नही होता है' यह कैसे कहा जा सकता हे ? मतलब कि - 'गुणस्पार्शन प्रत्यक्ष मे विजातीय महत्त्व कारण है, त्रसरेणु मे उसका अभाव होने से उसके स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष नही होता है' - इसके स्थान मे विनिगमनाविरह के सबब यह भी कहा जा सकता है कि- 'स्पार्शन प्रत्यक्ष मे विजातीय एकत्व कारण हे, उनका अभाव होने से त्रसरेणु के स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष नही होता है' । अत. इन कल्पनाओ की अपेक्षा यही मानना उचित है कि त्रसरेणु का स्पर्श अनुद्भूत होता हे और उस अनुद्भूत स्पर्श से भी निमित्तविशेष के सहयोग से चतुरणुक आदि मे उद्भूत स्पर्श की उत्पत्ति होती हे । अतः उद्भूत नील रूप त्रसरेणु मे उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी सिद्ध होता है । अतएव उद्भूतस्पर्शाऽभाव भी उद्भूतनीलरूपाऽभाव का व्याप्य (या साधक) नही हो सकता । इसलिए अन्धकार मे 'नील तमः' इस प्रतीति से उद्भूत नील रूप का अगीकार करने मे कोई दोष नही हे । इसलिए 'रूपवत्त्व' हेतु अन्धकार मे द्रव्यत्व का साधक हो सकता है । अत अन्धकार को द्रव्यात्मक मानना ही सुसगत है ।

❦ स्याद्वादी मत में सांकर्य - नैयायिक एकदेशीय ❦

नैयायिकदेशीय :- अथे इति । द्रव्येतर ऐसे द्रव्यसमवेत की स्पार्शनकारणतावच्छेदक प्रकर्षजाति को एकत्ववृत्ति मानने पर साकर्य दोष प्रसक्त होने से उसे महत्त्वगत मानना ही उचित है । वह साकर्य दोष इस तरह समझा जा सकता है । हमारे (= नैयायिक एकदेशीय के) मत से वायु के स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है । द्रव्यान्य द्रव्यसमवेत के स्पार्शन प्रत्यक्ष की कारणतावच्छेदक प्रकृष्टत्व (= प्रकर्ष) जाति को एकत्वसख्यावृत्ति मानने पर वायुनिष्ठ एकत्व मे तादृश जाति रहेगी । मगर वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने से वहाँ (= वायुगत एकत्वसख्या मे) द्रव्यचाक्षुषजनकता वच्छेदक जाति नही रहती हे । पाटितपटसूक्ष्म अवयव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से पाटितपटसूक्ष्माऽवयवगत एकत्व मे चाक्षुष प्रत्यक्ष की कारणताअवच्छेदक जाति रहती हे, मगर पाटित पट के सूक्ष्म अवयव के स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष न होने से द्रव्यान्य ऐसे द्रव्यसमवेत के स्पार्शन प्रत्यक्ष की कारणतावच्छेदक जाति पाटितपटसूक्ष्माऽवयवगत एकत्व मे नही रहती है । इस तरह द्रव्याऽन्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनकारण-

तथापि सा जातिर्महत्त्वे कल्प्यताम्, इयं त्वेकत्वे इत्यत्रैव विनिगमकमन्वेषणीयम् ।

जयलता

कार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजात्याश्च महत्त्वनिष्ठत्वेन व्यधिकरणत्वात् । इत्थञ्च नीलत्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वेऽपि तादृशप्रकृष्टत्वविशिष्टमहत्त्वविरहान्न तत्स्पर्शस्पार्शनप्रसङ्ग । अत एवोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वमव्याहतम् । ततश्च सुष्ठूक्त 'तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाऽभाव एव बाधक' इति (दृश्यता ३०४ तमे पृष्ठे) स्थितम् ।

अत्र स्याद्वादी प्राह- तथापीति । द्रव्येतर-द्रव्यसमवेतगोचरस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या एकत्ववृत्तित्वोपगम नैयायिकैकदेशिमतानुसारेणैकत्ववृत्त्या द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकीभूतजात्या सम तत्साङ्कर्यस्य बाधकत्वेऽपीति । सा = द्रव्यगोचरचाक्षुषनिरूपितकारणताया अवच्छेदकीभूता, जाति॰ महत्त्वे = महत्त्ववृत्ति कल्प्यता = स्वीक्रियता, इय = द्रव्येतरद्रव्य-समवेतगुणादिगोचरस्पार्शनकारणतावच्छेदकीभूता प्रकृष्टत्वजाति., तुः विशेषार्थे । तदेवाऽऽह- एकत्वे = एकत्ववृत्ति इत्यत्रैव विनिगमक = नियामक अन्वेषणीय = मार्गणीयम् । यथा नैयायिकैकदेशीयमतानुसारेणैकत्वसख्यावृत्त्या द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजात्या सम साङ्कर्यस्य निराकरणकृते नैयायिकसिद्धान्तिना द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतगुणादिस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या महत्त्ववृत्तित्वमुपकल्प्यते तथैव स्याद्वादिनाऽपि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या एकत्ववृत्तित्वाऽङ्गीकारे साङ्कर्यपरिहारकृते द्रव्यगोचरचाक्षुषसाक्षात्कारनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताया अवच्छेदकीभूताया जात्या महत्त्ववृत्तित्व कल्पयितु नाऽशक्यम् । एतेन द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजातिरेकत्वे एव न तु महत्त्वे, द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातिश्च महत्त्वे एव न त्वेकत्वे इति प्रत्युक्तम्, द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकजाति महत्त्वे एव न त्वेकत्वे, द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकर्षजातिश्चैकत्ववृत्तिरेव न तु महत्त्ववृत्तिरित्यस्याऽपि विनिगमकाभावेन सुवचत्वात् । न चैवमपि सङ्करोऽपरिहार्य इति वक्तव्यम्, तयो व्यधिकरणत्वात् । अत एव नीलत्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वेऽपि द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातिविशिष्टमहत्त्वशून्यत्वान्न तत्स्पर्शविषयकस्पार्शनप्रसङ्ग इत्यपि प्रत्युक्तम्, नीलत्रसरेणुसमवेतैकत्वस्य द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणताश्रयत्वसम्भवात् । न च तस्य तत्कारणत्वेऽपि द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेत-

तावच्छेदक जाति एव द्रव्यचाक्षुषजनकताअवच्छेदक जाति व्यधिकरण है, भिन्न भिन्न एकत्वसख्या मे रहती है । परस्पर असमानाधिकरण ये दो जाति घटगत एकत्वसख्या मे रहती है, क्योकि घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष भी होता है एव घट के स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष भी होता है । यही साकर्य है, क्योकि असमानाधिकरण जाति का एक धर्मी (= घटगत एकत्व सख्या) मे समावेश होता है । इस साकर्य दोष का निराकरण तब ही हो सकता है, यदि द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शनजनकतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को महत्त्वगत मानी जाय, न कि एकत्वगत । ऐसा होने पर साकर्य दोष की सभावना नही है । इसका कारण यह है कि (नैयायिक एकदेशीय मतानुसार) द्रव्यविषयकचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति द्रव्यगत एकत्वसख्या मे रहती है और द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदक जाति द्रव्यगत महत्त्व मे रहती है । मतलब कि घटचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति घटगत एकत्व सख्या मे रहती है और घटसमवेतस्पर्शविषयकस्पार्शनकारणतावच्छेदक जाति घटगत महत्त्व मे रहती है । दोनो व्यधिकरण ही है, समानाधिकरण (= एकाधिकरणवृत्ति) नही है । इस तरह द्रव्याऽन्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदक जाति को महत्त्ववृत्ति मानने मे साकर्य दोष अप्रसक्त है, जब कि एकत्ववृत्ति मानने मे साकर्य दोष प्रसक्त है । अत तादृश प्रकृष्टत्व जाति की एकत्वगत मान्यता का साकर्य ही विनिगमक (= बाधक) है, एव महत्त्वगत मान्यता मे साकर्याऽभाव ही विनिगमक (= साधक) है । उद्भूतस्पर्शाश्रय नीलत्रसरेणु मे तादृश प्रकर्ष (= प्रकृष्टत्व) जाति नही होने से नीलत्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष का आपादन नही किया जा सकता । अत उद्भूतनीलरूपाश्रय त्रसरेणु मे भी उद्भूत नीलरूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी नही है । अत अन्धकार मे उद्भूत नील रूप मानने मे उद्भूतस्पर्शाऽभाव (= व्यापकाऽभाव) ही बाधक है । व्यापकाभाव से व्याप्याऽभाव की सिद्धि होती है । निष्कर्ष - अन्धकार द्रव्य नही है ।

नैयायिक मत मे विनिगमकाभाव दोष

अनेकान्तवादी - तथापि इति । उस्ताद ! आपकी इस रामकहानी का मूलाधार है, द्रव्यविषयक चाक्षुषकारणतावच्छेदक जाति को एकत्वगत मानना । मगर द्रव्यविषयकचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति को महत्त्वगत एव द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को एकत्ववृत्ति क्यो न मानी जाय ? इस विषय का विनिगमक = निर्णायक कौन होगा ? यही अभी तक खोज का विषय है । मतलब यह है कि घटगत एकत्व मे द्रव्यविषयकचाक्षुषकारणतावच्छेदकजाति के साथ द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणताअवच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति के साकर्य का निवारण करने के लिए जैसे स्वतत्र (= नैयायिक एकदेशीय)

अथ द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यैव द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शन-जनकतावच्छेदकजातिरभ्युपेयताम्,

❀ जयलता ❀

स्पार्शनकारणतावच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजातिशून्यत्वान्न नीलत्रसरेणुस्पर्शस्पार्शनप्रसङ्ग इत्यारेकणीयम्, नीलत्रसरेणुसमवेतैकत्वे घटादि-समवेतैकत्ववैजात्यकल्पने मानाभावात् । द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वविशिष्टैकत्वस्य घटवत् नीलत्रसरेणा-वपि सम्भवे बाधकाऽभावात् नीलत्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पार्शनस्य वज्रलेपायमानत्वात् । न चैवमस्ति । एतेन नील-त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पर्शस्पार्शनाऽभाव एव बाधक इति **प्रदर्शितम्** । **अत एवोद्भूतनील-रूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वमपि निराकृतम्** । अतो न तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्वम् । अत एव तमसो द्रव्यत्व रूपवत्त्वाद्धेतोरव्याहत-मिति स्याद्वादिनोऽभिप्राय ।

एकान्तवादी पुन प्रत्यवतिष्ठते - **अथेति** । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वय । **द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजाति-व्याप्यैव** = नैयायिकैकदेशिमतसिद्धा या द्रव्यविषयकचाक्षुषनिष्ठजन्यतानिरूपिताया जनकताया अवच्छेदकीभूता एकत्वसख्यानिष्ठा जाति तदभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वशून्या एव, एवकारेण व्यापकव्यवच्छेद. कृत । **द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनक-तावच्छेदकजातिः** प्रकृष्टत्वविशेषलक्षणा **अभ्युपेयतामिति** । अय पराशय. द्रव्यचाक्षुष कार्य तन्निष्ठकार्यतानिरूपितकारणताया अवच्छेदकीभूता जाति एकत्वे वर्तते । द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजात्याश्रयस्यैकत्वस्य नीलत्रसरेणौ वर्तमानत्वात् विषय-तासम्बन्धेन नीलत्रसरेणुचाक्षुषमपि तत्र जायत एव । पर स्याद्वादिना यदुक्त द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदक-प्रकृष्टत्वजात्या एकत्ववृत्तित्वसम्भवे बाधकाभावात् नीलत्रसरेणुस्पर्शस्पार्शनप्रसङ्गो दुर्निवार इति, **तन्न** सम्यक्, नीलत्रसरेणु-

मत के अनुसार द्रव्यचाक्षुषकारणताअवच्छेदकजाति को एकत्वगत एव द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणताअवच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को महत्त्वगत मानी जाती है, वैसे साकर्य दोष का निराकरण करने के लिए द्रव्यगोचरचाक्षुषकारणताअवच्छेदक जाति को महत्त्वगत एव द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणताअवच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को एकत्वसख्यागत मानी जा सकती है, क्योकि इन दोनो पक्ष मे न तो कोई प्रमाण साधक है और न तो बाधक । अर्थात् घटद्रव्यविषयक चाक्षुष की कारणतावच्छेदक जाति घटगत महत्त्व मे रहती है एव घटसमवेतस्पर्शविषयक स्पार्शन की कारणतावच्छेदक प्रकर्ष जाति घटगत एकत्व मे रहती हे - ऐसा मानने से साकर्य दोष निराकृत हो जाता है । अत. द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदक प्रकर्ष जाति को एकत्वगत मानने मे साकर्य दोष की सभावना नही रहती है । जैसी एकत्वसख्या घट मे रहती है, तादृश ही एकत्वसख्या पाटित नील पट के त्रसरेणु मे भी रहती है; न कि विजातीय । अत· जैसे घटगत एकत्वसख्या द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतविषयक-स्पार्शनकारणतावच्छेदक प्रकर्ष जाति का आश्रय है, ठीक वैसे ही नील त्रसरेणु मे समवेत एकत्व सख्या भी तादृश प्रकर्ष का आश्रय बनेगी । अतएव घट के स्पर्श के स्पार्शन प्रत्यक्ष की भॉति नीलत्रसरेणुस्पर्श के स्पार्शन की आपत्ति वज्रलेपायमान बनी रही है । मतलब की नीलत्रसरेणु मे उद्भूत नील रूप का व्यापक उद्भूत स्पर्श एव अद्रव्यस्पार्शनकारणतावच्छेदक प्रकर्ष जाति दोनो रहने से नीलत्रसरेणुस्पर्श का स्पार्शन अवश्य होना चाहिए । मगर तादृश स्पार्शन नही होता है । इसलिए विषय-विधया कारणीभूत उद्भूत स्पर्श का नील त्रसरेणु मे अभाव मानना ही उचित है । ऐसा होने पर तो उत्कट नील रूप उत्कट स्पर्श का व्यभिचारी हो जायेगा, क्योकि उत्कट स्पर्श से शून्य त्रसरेणु मे भी उत्कट नील रूप रहता है । उद्भूत नील रूप मे उत्कट स्पर्श की व्याप्ति न होने की वजह अन्धकार मे उद्भूत नील रूप के स्वीकार मे उत्कटस्पर्शाऽभाव बाधक नही हो सकता है, क्योकि उत्कट स्पर्श तो उत्कट नील रूप का व्यापक ही नही है । अव्यापक के अभाव से व्याप्याऽभाव की सिद्धि नही की जा सकती । अतएव 'नील तम.' यह प्रतीति भी प्रमितिस्वरूप सिद्ध होती है । इसलिए रूपवत्त्व हेतु के द्वारा अन्धकार मे द्रव्यत्वसिद्धि निर्बाध है । निष्कर्ष .- अन्धकार द्रव्यात्मक है ।

❀ वायुचाक्षुषापत्ति का निराकरण - नैयायिक की ओर से ❀

एकान्तवादी :- अथ इति । जनाब ! हम यह मान लेते है कि - द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति एकत्वसख्या मे रहती है । इससे आपके वचन का हम स्वागत करते है । मगर साथ ही हम यह भी मानते है कि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पार्शनजनकतावच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति द्रव्यचाक्षुषजनकताअवच्छेदक जाति की, जो एकत्वसख्या मे रहती हे, व्याप्य है और द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति उसकी व्यापक हे । इसलिए त्रसरेणुस्पर्श के स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति नही दी जा सकती, क्योकि त्रसरेणुवृत्ति एकत्व सख्या मे द्रव्यचाक्षुषकारणताअवच्छेदक जाति होने पर भी द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेत-

वायोरचाक्षुषत्वं तु विषयविधया वायोश्चाक्षुषाऽहेतुत्वादिति चेत् ? तर्हि एवमेव त्रुटिस्पर्शाऽ-

❀ जयलता ❀

समवेतैकत्वे द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतजातिसत्त्वेऽपि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातेरसत्त्वात्, तस्या तद्व्याप्यत्वात् । न हि व्यापकसत्त्वेन व्याप्यप्रसञ्जनमर्हति, अन्यथाऽयोगोलके धूमापादनमपि सम्यक् स्यात् । इत्थञ्च स्याद्वादिवचनानुसारेण द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या एकत्ववृत्तित्वोपगमेऽपि उद्भूतस्पर्शाश्रयनील-त्रसरेणुसमवेतस्पर्शस्पार्शनं नापाद्यतामर्हति, नीलत्रसरेणो द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वविशिष्टैकत्वलक्षण-स्याऽऽपादकस्य विरहात् । ततश्चोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वमबाधितमेवेति तात्पर्यम् ।

ननु द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजात्या द्रव्यगोचरचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्ववृत्तिजातिव्याप्यत्व-मङ्गीकारं नार्हति, वायो चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्, नैयायिकैकदेशीयस्य तव मते वायुस्पर्शस्पार्शनस्य सिद्धत्वेन द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवे-तस्पार्शनकारणतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातेर्वायुसमवेतैकत्वनिष्ठत्वात् तद्व्यापकीभूतद्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगमस्याऽऽवश्यक-त्वात् । न हि व्याप्यसत्त्वे व्यापकाभाव कल्पनामर्हति । न च वायुचाक्षुषं भवति । अत एव द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शन-कारणतावच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजात्या द्रव्यचाक्षुषसाक्षात्कारकारणतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यत्वमपि न युक्तमिति शङ्काया पर आह- वायोरचाक्षुषत्वमिति । वायुगोचरचाक्षुषाभाव इति । विषयविधया = विषयत्वेन रूपेण, वायोः चाक्षुषाऽहेतुत्वा-दिति । विषयतासम्बन्धेन द्रव्यविषयकचाक्षुषं प्रति तादात्म्येन विषयविधया पृथ्वी-जल-तेजसामेव हेतुत्वेन वायो द्रव्यविषयक-चाक्षुषजनकतावच्छेदकजातिविशिष्टैकत्वाश्रयत्वेऽपि विषयविधया तादात्म्येन चाक्षुषाऽकारणत्वान्न तत्र (= वायो) विषयतासम्बन्धेन चाक्षुषप्रत्यक्षं जायते । अतो वायोरचाक्षुषत्वेऽपि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकप्रकृष्टजाते द्रव्यचाक्षुषजनकत्वा-वच्छेदकैकत्वसमवेतजातिव्याप्यत्वाऽङ्गीकारे बाधकं नास्तीति नैयायिकैकदेशीयस्य वायुस्पर्शस्पार्शनवादिनोऽभिप्राय' ।

स्याद्वाद्याह- तर्हीति । विषयविधया वायोश्चाक्षुषाऽहेतुत्वाभ्युपगमेन द्रव्यविषयकचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतजातिविशिष्टै-कत्ववत्त्वेऽपि विषयतासम्बन्धेन वायौ द्रव्यचाक्षुषानुत्पादोपपादने इति । एवमेव = द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणता-वच्छेदकीभूतप्रकृष्टत्वजातिविशिष्टैकत्वस्य सामानाधिकरण्येन नीलत्रसरेणुसमवेतस्पर्शनिष्ठत्वेऽपि विषयविधया तादात्म्येन नीलत्रस-

स्पार्शनजनकताअवच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति का हम स्वीकार नहीं करते है । यह कोई नियम नहीं है कि जहाँ व्यापक हो, वहाँ व्याप्य भी अवश्य हो । नियम तो ऐसा है कि जहाँ व्याप्य हो, वहाँ व्यापक अवश्य हो । प्रस्तुत मे द्रव्यचाक्षुषजनकता-वच्छेदक जाति व्यापक है, न कि व्याप्य । अत नीलत्रसरेणुनिष्ठ एकत्व मे द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति रहने पर द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पार्शनजनकतावच्छेदक जाति का आपादन नहीं किया जा सकता । इसलिए नील त्रसरेणु मे उद्भूत स्पर्श को मानने पर भी उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति का अवकाश नहीं है । अत उद्भूत नील रूप का व्यापक उद्भूत स्पर्श है - ऐसा मानने मे कोई दोष नहीं है ।

वाया इति । यहाँ यह शका हो कि —> ''द्रव्यचाक्षुषजनकताअवच्छेदक जाति को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकताअव-च्छेदक जाति की व्यापक मानी जाय, तब तो वायु का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होने लगेगा । इसका कारण यह है कि आपके मत के अनुसार वायु का स्पर्श स्पार्शन प्रत्यक्ष का विषय बनता है । इसलिए वायुगत एकत्व मे आप द्रव्यान्य-द्रव्यस्पार्शनजनकता-वच्छेदक प्रकृष्टत्व जाति को मानते है । व्याप्य के अधिकरण मे व्यापक का होना अनिवार्य है । इसलिए वायुगत एकत्व मे तादृश प्रकृष्टत्व जाति की व्यापक द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति भी सिद्ध हो जायेगी । जहाँ जहाँ व्याप्य होता है वहाँ वहाँ व्यापक होता ही है, यह सभी को मान्य है । द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति होने पर तो वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना आवश्यक है'' <— तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि वायु द्रव्यचाक्षुष का कारण ही नहीं है । आशय यह है कि विषयतासम्बन्ध से द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य विषयविधया कारण होता है । जैसे घटविषयक प्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से घट मे रहता है और तादात्म्य सम्बन्ध से घट भी वहाँ रहता है, जो विषयविधया स्वविषयक प्रत्यक्ष का कारण है । सामान्यत यह कार्य-कारणभाव माना गया है । मगर वायु का कभी भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसलिए विषयतासम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति विषयविधया तादात्म्य सम्बन्ध से वायु को कारण नहीं माना जा सकता । पृथ्वी, जल और तैजस द्रव्य को ही द्रव्यचाक्षुष के प्रति विषयविधया कारण माना गया है । इसलिए वायुगत एकत्व मे द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदक जाति होने पर भी वायुविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष की विषयता सम्बन्ध से वायु मे उत्पत्ति होने की कोई सभावना नहीं है ।

अनेकान्तवादी :- तर्हि इति । उस्ताद ! आप द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पार्शनजनकताअवच्छेदक जाति को द्रव्यचाक्षुष-

स्पार्शनस्याऽप्युपपत्ते. द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेर्द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेत-स्पार्शनजनकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वे विनिगमकाभाव , विषयस्य तत्तद्व्यक्तित्वे कारण-तायां मानाभावश्च ।

❀ जयलता ❀

रेणुनिष्ठस्पर्शस्य स्पार्शनाऽहेतुत्वाऽभ्युपगमेनैव **त्रुटिस्पर्शाऽस्पार्शनस्याऽप्युपपत्तेः** = विषयतासम्बन्धेन नीलत्रसरेणुस्पर्शे स्पार्शन-प्रत्यक्षानुत्पादस्यापि सम्भवात् । त्रसरेणुसमवेतस्पर्शाऽस्पार्शनकृते चैव द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजाते-र्द्रव्यचाक्षुपजनकतावच्छेदकैकत्ववृत्तिजातिव्याप्यत्वाऽभ्युपगमोऽपि नातिप्रयोजन., द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकप्रकृष्ट-त्वजातेर्द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्यापकत्वाऽभ्युपगमेऽपि क्षतिविरहादित्याशयेन स्याद्वाद्याह- **द्रव्यचाक्षुपजनकताव-च्छेदकेकत्वनिष्ठजातेः द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वे विनिगमकाभाव** इति । द्रव्यचाक्षुपजनकता-वच्छेदकैकत्वनिष्ठजाते. द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतजनकतावच्छेदकजातिव्यापकत्वमेव, न तु तद्व्याप्यत्वमित्यत्राऽनुकूलतर्कविरह इत्यर्थ. ।

नन्वस्तु द्रव्यचाक्षुपजनकतावच्छेदकजाते द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्गनजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यत्व कि नश्छिन्न ? नीलत्रसरेणुसमवेतैकत्वे द्रव्यचाक्षुपकारणतावच्छेदकजातिव्यापकद्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजाते सत्त्वेऽपि विषयविधया तादात्म्येन वायोश्चाक्षुपाऽहेतुत्ववत् नीलत्रसरेणुसमवेतस्पर्शस्याऽपि तथैव स्पार्शनाऽहेतुत्वादिति नैयायिकैकदेशीय-शङ्काया स्याद्वाद्याह-**विषयस्येति** । विपयस्य स्वविषयकप्रत्यक्षे विपयत्वनैव कारणत्व न तु तत्तद्व्यक्तित्वेन, गौरवात्, प्रमाणा-भावात् । यथा विषयतासबन्धेन प्रत्यक्ष प्रति तादात्म्येन विषय कारणमिति सामान्यकारणकार्यभावबलेन विषयतासम्बन्धेन नीलत्रसरेणुस्पर्शस्पार्शन प्रति तादात्म्येन तत्स्पर्शकारणताया अनपह्नवनीयत्वात् स्वसाक्षात्कार प्रति घटस्येव । यद्वा स्वविषय-प्रतियोगिकसमवायेन द्रव्यसमवेतसाक्षात्कार प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य कारणत्वमते घटनीलरूपस्पर्श-घटत्वादिसाक्षात्कार प्रति तादात्म्येन घटस्येव नीलत्रसरेणुस्पर्शस्पार्शन प्रति नीलत्रसरेणो कारणत्वस्याऽबाधितत्वात् । न च तादृश सामान्यकार्यकारणभाव एवाऽसम्मत , तत्तत्कार्यकारणभावस्यैवाऽभ्युपगमात्, स्वप्रतियोगिकसमवायेन घटस्पर्शस्पार्शन प्रति तादात्म्येन घटस्य कारण-त्वोपगमेऽपि नीलत्रुटिस्पर्शस्पार्शन प्रति तादात्म्येन त्रसरेणो कारणत्वस्याऽनङ्गीकारात्, आपादकविरहेण नीलत्रुटिस्पर्श-

जनकताअवच्छेदकजाति की व्याप्य मान कर भी विपयविधया वायु को द्रव्यचाक्षुप का अहेतु मान कर वायुचाक्षुप का निराकरण करते है, तव तो द्रव्यचाक्षुपजनकताअवच्छेदक जाति को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकताअवच्छेदक जाति की व्याप्य मानने पर भी त्रसरेणुस्पर्श या त्रसरेणु को विपयविधया द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शन का अकारण मान कर त्रसरेणुस्पर्श के स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रसग का निराकरण किया जा सकता है । मतलव यह हे कि त्रसरेणुस्पर्श के स्पार्शन के अभाव की उपपत्ति करने के लिए नैयायिक मनीपियो की ओर से जो कहा गया था कि - 'द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदक जाति द्रव्यचाक्षुपजनकता-वच्छेदक जाति की व्याप्य ही है, न कि व्यापक' - वह सगत नही है, क्योकि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतजनकतावच्छेदक जाति को व्यापक एव द्रव्यचाक्षुपजनकतावच्छेदक जाति को व्याप्य मानने पर भी त्रसरेणुस्पर्शविपयक स्पार्शन प्रत्यक्ष के अभाव की उपपत्ति ठीक उसी तरह की जा सकती है जैसे वायु के चाक्षुप के अभाव की उपपत्ति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह तो नही कहा जा सकता है कि - 'द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदक जाति व्याप्य ही है और द्रव्यचाक्षुपजनकतावच्छेदक जाति उसकी व्यापक है'; क्योकि नैयायिक के इस कथन मे कोई युक्ति नही होने से यह भी कहा जा सकता है कि - 'द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदक जाति व्यापक ही है ओर द्रव्यचाक्षुपजनकतावच्छेदक जाति व्याप्य ही हे' ।

❋ व्यक्तिगतरूप से विषय प्रत्यक्ष का कारण नही है - स्याद्वादी ❋

विप इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि –> ''चलो मान लिया, द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शन-जनकतावच्छेदक जाति, जो एकत्वसख्यागत हे, व्यापक ही है और द्रव्यचाक्षुपजनकतावच्छेदक जाति उसकी व्याप्य ही हे । मगर फिर भी नीलत्रसरेणुस्पर्शविपयक स्पार्शन की आपत्ति नही दी जा सकती । इसका कारण यह है कि नीलत्रसरेणुगत एकत्व मे द्रव्यचाक्षुपजनकतावच्छेदक जाति होने की वजह उसकी व्यापक द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदक जाति होने पर भी, चाक्षुप प्रत्यक्ष के प्रति वायु की भाँति, स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति त्रसरेणु अकारण है, ऐसा कहा जा सकता है'' <– तो यह ठीक नही हे । इसका कारण यह है कि कोई भी विपय प्रत्यक्ष के प्रति तत् तत् व्यक्तित्वरूप से कारण नही है, किन्तु विपयत्वरूप से ही कारण है । वैयक्तिकरूप से विपय को प्रत्यक्षकारण मानने पर कारणताअवच्छेदक धर्म अनेक

यत्तु —> महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः कारणत्वाऽकल्पनलाघवात् त्वक्संयुक्तत्वाचवत्समवायत्वेन द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनं प्रति प्रत्यासत्तित्वान्न त्रुटिस्पर्शस्पार्शनमिति <—

❀ जयलता ❀

स्पार्शनस्याऽनापाद्यत्वादिति वक्तव्यम्, तत्तद्व्यक्तित्वेन प्रत्यक्षकारणतोपगमेऽनन्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवात् । न च तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वमिति वाच्यम्, प्रमाणप्रवृत्तिपूर्वमेव तादृशगौरवस्योपस्थितेः तादृशकार्यकारणभावबाहुल्यकल्पने मानाभावात्, सामान्यकार्यकारणभावकल्पने लाघवात् । ततश्चोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वोपगमे द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदिकाया एकत्व-वृत्तिजाते द्रव्याऽन्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकप्रकृष्टत्वजातिव्याप्यत्वे बाधकाभावेन नीलत्रसरेणुस्पर्शस्पार्शनस्य सुरगुरुणाऽप्यपाकर्तुमशक्यत्वात् । न च तत्स्पार्शनं भवति । अत एव नीलत्रुटौ उद्भूतस्पर्शाऽभावस्याऽवश्यमुपगन्तव्यत्वे उत्कटनीलरूपस्य नोद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वं, येन तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उत्कटस्पर्शाभावस्य बाधकत्वं स्यात् । अनेन 'नीलं तमः' इति प्रतीतेः प्रामाणिकत्वमावेदितम् । ततः सुष्ठूक्तं 'तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानमि' (दृश्यतां ३०२ तमे पुटे) ति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः ।

अथ यस्य द्रव्यस्य स्पार्शनं भवति तत्रैव समवेतस्य स्पर्शस्य स्पार्शनं भवति, यथा 'घटं स्पृशामी'तिप्रतीत्या स्पार्शनविषयीभूतघटे समवेतस्य स्पर्शस्य स्पार्शनम् । इत्थञ्च स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धेन स्पार्शनविशिष्टे समवेतस्य स्पर्शस्य स्पार्शनविषयत्वसिद्धेः त्वगिन्द्रियं न स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्धेन स्पार्शनकारणं किन्तु विषयतया स्वसंयुक्तस्पार्शन-विशिष्टानुयोगिकसमवायसंसर्गेणैव । युक्तञ्चैतत् महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः स्पर्शप्रत्यक्षकारणत्वाऽकल्पनेन लाघवात्, दर्शितप्रत्यासत्त्या एवाऽतिप्रसङ्गभञ्जकत्वादित्यभिप्रायकं नैयायिकैकदेशीयान्तरमतमावेदयति निराकर्तुं प्रकरणकारः —> यत्त्विति । 'तन्न'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । त्वक्संयुक्तत्वाचवत्समवायत्वेनेति । त्वाचप्रत्यक्षनिरूपितविषयतासंसर्गेण त्वक्संयुक्तत्वाचप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिक-समवायत्वेन, अनेन 'त्वक्संयुक्तसमवायत्वेने'त्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनं = द्रव्यान्यत्वे सति यो द्रव्यसमवेतः स्पर्शादिः तद्गोचरं स्पर्शनेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारं प्रति प्रत्यासत्तित्वात् = समवायस्य संसर्गत्वोपगमात् न त्रुटि-स्पर्शस्पार्शनं = द्रव्यान्यत्वे सति त्रसरेणुसमवेतो यः स्पर्शः तद्विषयकस्पार्शनप्रत्यक्षापत्तिः । त्रसरेणुसमवेतस्पर्शप्रतियोगिकसम-वायस्य स्पर्शनेन्द्रियसंयुक्तसमवायत्वेऽपि त्रसरेणोः स्पार्शनाऽविषयत्वात् त्वगिन्द्रियसंयुक्तत्वाचप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिकत्वविरहेण

प्रसक्त बनने से कार्यकारणभाव में गौरव होता है । जैसे घटप्रत्यक्ष के प्रति घट में घटत्वेन कारणता, पटप्रत्यक्ष के प्रति पट में पटत्वेन कारणता इत्यादि का अंगीकार कर्तव्य बनने में कार्यकारणभाव में बाहुल्य आता है । जब कि विषयत्वरूप से विषय को प्रत्यक्षकारण मानने पर, चाहे घटप्रत्यक्ष हो या पटविषयक प्रत्यक्ष हो, घट या पट में विषयत्वरूप से ही प्रत्यक्षकारणता का अङ्गीकार होता है, जिसके फलस्वरूप कार्य-कारणभाव में गौरव की प्रसक्ति नहीं रहती है । इसलिए गौरव दोष की वजह वैयक्तिकरूप से विषय में प्रत्यक्ष की कारणता अप्रामाणिक है । व्यक्तिगतरूप से विषय को प्रत्यक्षकारण मानने में कोई प्रमाण न होने की वजह यह नहीं कहा जा सकता कि "चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति वायु अकारण है तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति त्रसरेणु या त्रसरेणुस्पर्श अकारण है" अतः त्रसरेणुगत एकत्व में द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदक जाति रहने से जैसे नील त्रसरेणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, ठीक वैसे ही उसकी व्यापक द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदक जाति के उसीमें रहने से नीलत्रसरेणुस्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष होने की आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहेगी । इसका निराकरण तब ही हो सकता है, यदि उत्कट नील रूप को उत्कट स्पर्श का व्याप्य न माना जाय। इस परिस्थिति में अन्धकार में रूपवत्ता के प्रति स्पर्शाभाव बाधक नहीं हो सकता । निष्कर्ष अन्धकार द्रव्यात्मक है ।

❁ स्पर्शनेन्द्रिय में स्वसंयुक्तत्वाचवत्समवाय से कारणता - नैयायिकदेशीय ❁

यत्तु इति । अन्य नैयायिक मनीषियों त्रसरेणुस्पर्श के अस्पार्शन का निर्वाह करने के लिए इस व्यवस्था का स्वीकार करते हैं कि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शन के प्रति स्वसंयुक्तत्वाचप्रत्यक्षविशिष्टसमवाय सम्बन्ध से त्वगिन्द्रिय कारण है । इन विद्वानों का आशय यह है कि जिस द्रव्य का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है, उसीमें समवेत स्पर्शादि का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है । जिस द्रव्य में महत्त्व और उद्भूत स्पर्श रहता है, उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, न कि अन्य द्रव्य का । अतः स्पार्शनप्रत्यक्षमात्र के प्रति महत्त्व और उद्भूत स्पर्श को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है । जैसे महत्परिमाण एवं उद्भूतस्पर्श से युक्त होने से घट का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है । महत्परिमाण से शून्य परमाणु का या उद्भूतस्पर्शशून्य प्रभा-आकाशादि का स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसलिए महत्त्व और उद्भूतस्पर्श में द्रव्यविषयक स्पार्शनप्रत्यक्ष की कारणता माननी अनिवार्य है । मगर स्पर्श

तन्न, आश्रयत्वाचस्य नियमत पूर्वमभावेन त्वाचवत्त्वस्य विशेषणत्वाऽयोगात्,

❊ जयलता ❊

त्रुटिसमवेतस्पर्शगोचरस्पार्शनजनकतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्वाऽयोगात्, कारणतावच्छेदकससर्गेण त्वगिन्द्रियस्य द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेत-स्पार्शनकारणस्य त्रुटिस्पर्शेऽविद्यमानत्वेनाऽऽपादकविरहात् न विषयतासम्बन्धेन त्रुटिस्पर्शे स्पार्शनप्रसङ्ग इति नोद्भूतनीलरूप-स्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वे व्यभिचारो, येन तमस उद्भूतरूपवत्त्वे स्पर्शाभावस्य बाधकत्व न स्यादिति नैयायिकैकदेशीयान्तराभिप्राय'।

ननु स्पर्शनेन्द्रियसयुक्तानुयोगिकत्वमिव विषयतासम्बन्धेन त्वाचप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिकत्व कि समवायस्य विशेषण यदुतोपलक्षण ? इति कल्पनायुगली मञ्जुलकलमरालविहङ्गमयुगलीव विमलीभाव कलयन्ति क लयन्ति तीव्र प्रगुणयत्येव गुणज्ञगणचित्ताङ्गणेष्वित्याशयेन प्रकरणकृत्तन्निराकुर्वन्नाह- **तन्नेति** । प्रथमकल्पनायामाह- **आश्रयत्वाचस्य** = द्रव्यान्यत्वे सति यो द्रव्यसमवेत तदधिकरणविषयकस्पार्शनप्रत्यक्षस्य **नियमत' पूर्वमभावेन** = द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजन्माऽव्यवहित-पूर्वक्षणाऽव्यापकत्वेन, **त्वाचवत्त्वस्य** = स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयताससर्गेण स्पार्शनप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिकत्वस्य **विशेषण-त्वाऽयोगात्** = द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकससर्गविशेषणत्वाऽसम्भवात्, व्यावृत्तिबुद्धिसमये विशेष्यसम्बद्धस्यैव व्यावर्तकस्य विशेषणत्वोक्ते' । तन्मते वायोरस्पार्शनत्वेऽपि वायुस्पर्शस्पार्शनस्य जायमानत्वात्त्वचो न स्वसयुक्तत्वाचवत्समवायेन हेतुत्व किन्तु स्वसयुक्तसमवायेनैव । तथा च त्रुटिस्पर्शस्पार्शनस्य दुर्निवारत्वमित्याशय ।

के स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व और उद्भूतस्पर्श को कारण मानना अनावश्यक है । फिर भी त्रसरेणु, परमाणु, प्रभा आदि द्रव्य के स्पर्श के स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति नही दी जा सकती, क्योकि उसके निवारणार्थ हम त्वगिन्द्रिय को द्रव्येतर-द्रव्यसमवेत स्पर्शादि के स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति स्वसयुक्तसमवायसम्बन्ध से कारण नही मानते है, किन्तु स्वसयुक्तत्वाचप्रत्यक्षविशिष्टसमवाय सम्बन्ध से कारण मानते है । स्वपद से त्वगिन्द्रिय का ग्रहण अभिप्रेत है । उससे सयुक्त त्रसरेणु, परमाणु, प्रभा आदि द्रव्य है । उनमे यद्यपि स्पर्श गुण का समवाय रहता है, मगर त्रसरेणु, परमाणु आदि द्रव्य स्पार्शन प्रत्यक्ष (= त्वाच) का अविषय होने से विषयता सम्बन्ध से त्वाचविशिष्ट नही बनते है । इसलिए त्रसरेणु, परमाणु आदि के स्पर्श मे जो समवाय रहता है, वह स्पर्शनेन्द्रियसयुक्त-त्वाचविशिष्ट-द्रव्यानुयोगिक नही है । अतएव त्वगिन्द्रिय स्वसयुक्तत्वाचविशिष्टानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से त्रसरेणु, परमाणु आदि के स्पर्श मे नही रहती हे । कार्यतावच्छेदकीभूत विषयतासम्बन्ध से त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पार्शन प्रत्यक्षात्मक कार्य के अधिकरणविधया अभिमत त्रसरेणुस्पर्श मे कारणतावच्छेदकीभूत स्वसयुक्तत्वाचविशिष्टानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से स्पर्शने-न्द्रियात्मक कारण नही रहने से त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति नही दी जा सकती । कार्याधिकरणविधया अभिमत पदार्थ मे कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से सभी कारण के रहने पर ही कार्योत्पत्ति का आपादन किया जा सकता है । क्या तादात्म्य सम्बन्ध से ततुशून्य कपाल मे पटोत्पत्ति का आपादन किया जा सकता हे ? यहाँ यह शका करना कि –> 'स्वसयुक्तसमवाय की अपेक्षा स्वसयुक्तत्वाचविशिष्टानुयोगिक समवाय को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतगोचर स्पार्शन प्रत्यक्ष का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध मानने मे गोरव हे' <– भी नामुनासिव है । इसका कारण यह है कि स्वसयुक्त-त्वाचविशिष्ट-द्रव्यानुयोगिक समवाय को तादृशकारणता-अवच्छेदक सम्बन्ध मानने पर महत्त्व और उद्भूत स्पर्श मे द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पार्शनप्रत्यक्ष की कारणता की कल्पना अनावश्यक वन जाने से कारणशरीर मे लाघव होता हे, कारणतावच्छेदक-धर्मदेह मे लाघव होता है । निष्कर्ष :- त्रसरेणुस्पर्श के अस्पार्शन का निर्वाह होने से उद्भूत नील रूप मे उद्भूत स्पर्श की व्याप्ति अवाधित हैं ।

❊ त्वाचप्रत्यक्ष में समवाय की विशेषणता या उपलक्षणता नामुमकिन - स्याद्वादी ❊

तन्न इति । उपर्युक्त विद्वानो के मत का प्रतिकार करते हुए प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते है, नैयायिक मनीषियो का यह कथन कि - 'स्पर्शनेन्द्रिय स्वसयुक्तत्वाचविशिष्ट समवाय सम्बन्ध से द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष का कारण है' <– असगत है । इसका कारण यह है कि त्वाच प्रत्यक्ष दर्शित सम्बन्ध का न तो विशेषण हो सकता है और न तो उपलक्षण । व्यावर्तक धर्म या तो विशेषण होता है, या तो उपलक्षण । सामान्यत. विशेष्य की अन्य से व्यावृत्ति करने के समय जो नियमत. विशेष्य मे विद्यमान रहता हो वह विशेषण कहा जा सकता है । जैसे 'दण्डी पुरुष.' यहाँ अदण्डी से विवक्षित पुरुष की व्यावृत्ति = व्यवच्छेद करने के समय पर दण्ड पुरुष मे अवश्य रहने से वह पुरुष का विशेषण होता है । अत प्रस्तुत मे त्वाच प्रत्यक्ष को समवाय का विशेषण मानने का मतलब यह होता हे कि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पर्शादिविषयक स्पार्शन प्रत्यक्षात्मक कार्य का जन्म होने की पूर्व क्षण मे द्रव्यस्पर्श मे स्वसयुक्त-त्वाचविशिष्टानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से

उपलक्षणत्वे घटाद्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे स्पर्शादिस्पार्शनापत्ते ।

❀ जयलता ❀

द्वितीयकल्पनायामाह- उपलक्षणत्व इति । घटाद्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे स्पर्शादिस्पार्शनापत्तेरिति । तदानीं घटादिसमवेत-स्पर्शादिस्पार्शनप्रसङ्गात्, आदिशब्देन घटत्व-द्रव्यत्वादेर्ग्रहणम् । व्यावृत्तिधीक्षणे विशेष्याऽसम्बद्धस्य व्यावर्तकस्योपलक्षणत्वोक्ते घटादेर्विषयतासम्बन्धेन यदाकदाचित्त्वाचसम्बद्धत्वात् त्वाचविशिष्टानुयोगिकत्वस्य द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनकारणतावच्छेदकीभूत-सम्बन्धोपलक्षणत्वसम्भवेन घटाद्युत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन घटादिसमवेतस्पर्शादिस्पार्शनं दुर्निवारम्, तदानीं त्वचो घटादि-संयुक्तत्वदशायां घटादिस्पर्शे स्वसंयुक्तत्वाचवत्समवायेन त्वगिन्द्रियस्य सत्त्वात् । न च कार्योत्पादाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्याधिकरणे विषयत्वेन कारणस्य स्पर्शस्याऽविद्यमानत्वात्, उत्पत्तिक्षणावच्छेदेन द्रव्याणां निर्गुणत्वादिति वाच्यम्, विषयस्य कार्यसहभावेन हेतुत्वात् । तस्य विशेषणत्वे उपलक्षणत्वे वा वायोरत्वाचत्वेन तद्वृत्तिस्पर्शत्वाचानु-पपत्तिरप्यत्राऽनुसन्धेया ।

इदन्त्ववधेयम् - विशिष्टज्ञानप्रकारीभूतो धर्मो द्विविधो व्यावर्तकोऽव्यावर्तकश्च । तत्राऽव्यावर्तकः प्रमेयत्वादिलक्षण उप-रञ्जक इति गीयते । तत्त्वञ्च व्यावृत्तिबुद्धिजनकतानवच्छेदकवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वम् । भवति हि प्रमेयत्वादिवैशिष्ट्यं तथा, व्यति-रेकविशेषणवैशिष्ट्यवद्विशेष्यज्ञानत्वस्यैवाऽतद्व्यावृत्तिबोधजनकतावच्छेदकत्वात् । अतादृशो व्यावर्तकः । स च विशेषणोपलक्षणभेदाद् द्विविध इति शास्त्रमर्यादा । तत्र व्यावृत्तिबुद्धिजनकज्ञानप्रकारत्वे सति सद् विशेषणम्, असदुपलक्षणं यथा 'दण्डी पुरुषः' 'कुरुणां क्षेत्रमित्येके । व्यावृत्तिबोधसमये व्यावर्तकं सद् विशेषणमसदुपलक्षणमित्यपरे । व्यावर्तकत्वे सति क्रियान्वयि विशेषण-मन्यदुपलक्षणमितीतरे । व्यावर्तकं साक्षात् सम्बद्धं नीलादि विशेषणं परम्परासम्बद्धं काकाद्युपलक्षणमिति शिवादित्यमिश्राः ।

चिन्तामणिकृतस्तु ''प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणं तदन्यव्यावर्त्तकमुपलक्षणं व्यावृत्त्यु-ल्लेखाऽनन्तरमेव विशेषणत्वबुद्धिः । तदाहुराचार्याः ''सदसद्वा समानाधिकरणं व्यवच्छेदकं विशेषणं व्यधिकरणमुपलक्षणमि''ति । अस्यार्थः, स्वाधिकरणमात्रवृत्तिव्यावृत्तिबोधकत्वं स्वावच्छिन्नाधिकरणताकव्यावृत्तिबोधकत्वं स्वानधिकरणाऽधिकरणकव्यावृत्त्य-बोधकत्वे सति व्यावृत्तिबोधकत्वं वेति । उपलक्षणन्तु स्वानधिकरणेऽपि व्यावृत्तिं बोधयति । अथवा विवक्षितान्वयप्रतियोगिता-वच्छेदकं विशेषणं, 'दण्डिनमानये'त्यादौ दण्डस्तथा । तदनवच्छेदकमुपलक्षणं 'काकेन देवदत्तस्य गृहाः' इत्यादौ काको न गृहस्य देवदत्तान्वयप्रतियोगितावच्छेदकः, तद्विरहदशायामपि देवदत्तान्वयाऽवगमात्, किन्तु गृहविशेष एव उपलक्षणपरिचितः । अत एवाऽन्वयाऽप्रतियोगित्वेऽपि नोपलक्षणवैयर्थ्यम् । यद्वा यदन्विततया ज्ञात एव विशेष्ये तात्पर्यविषयेतराऽन्वयधीस्तद्व्यवच्छे-दकं विशेषणं, अनेवम्भूतं तदुपलक्षणं, उपलक्षणानवच्छिन्नेऽप्युपलक्ष्ये तात्पर्यविषयीभूतान्वयबोधात् । अयमेव कार्यान्वयि विशेषणं तदनन्वय्युपलक्षणमित्यस्याऽर्थः, न तु तात्पर्यविषयीभूतविशेष्याऽन्वयबोधविषयत्वं विशिष्टज्ञानविषयत्वं वा, प्रतियोग्यभावबुद्धि-विषय इति मते तदभावात् । यद्वा विशेष्यान्वयिना यस्याऽवश्यमन्वयस्तदवच्छेदकं विशेषणं तदन्यदुपलक्षणमिति तत्रोपलक्ष्य-विशेष्यमात्रान्वयात् यद्व्यावर्त्तकं विशेष्यान्वयिन्यन्वीयते तद्विशेषणं तदन्यदुपलक्षणमिति वा । यद्वा तात्पर्यविषयान्वयप्रतियोगी

त्वगिन्द्रिय (= स्पर्शनेन्द्रिय) रहने से तादृश स्पर्श के आश्रयीभूत द्रव्य में विषयता सम्बन्ध से स्पार्शन प्रत्यक्ष (= त्वाच) नियमतः रहता है, अर्थात् स्पर्शविषयक स्पार्शनप्रत्यक्षस्वरूप कार्य के जन्म की पूर्व क्षण में स्पर्श के अधिकरणीभूत द्रव्य का अवश्य स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है तब ही त्रसरेणु-परमाणु आदि में रहनेवाले स्पर्श के समवाय से घटादिस्पर्शसमवाय की व्यावृत्ति करने वाला त्वाच प्रत्यक्ष कारणतावच्छेदकीभूत समवायसम्बन्ध का विशेषण बन सकता है । मगर ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्पर्श का प्रत्यक्ष होने की पूर्व क्षण में स्पर्शाश्रयीभूत द्रव्य का अवश्य स्पार्शन प्रत्यक्ष हो ऐसी कोई ईश्वराज्ञा नहीं है । नैयायिक-मतानुसार वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष न होने पर भी वायुस्पर्शविषयक स्पार्शन साक्षात्कार होता है । वायुस्पर्शस्पार्शन से वायु का नैयायिक मनीषी अनुमान करते हैं । इसलिए 'वायुस्पर्श का स्पार्शन नहीं होता है' - ऐसा नैयायिक की ओर से नहीं कहा जा सकता । अन्यत्र भी, घटादिस्पर्शविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष की अव्यवहित पूर्व क्षण में घटादि का स्पार्शन प्रत्यक्ष अवश्य होता है - ऐसा सार्वलौकिक अनुभव भी नहीं है । इसलिए द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेत(स्पर्श)विषयक-स्पार्शनप्रत्यक्षकारणता-वच्छेदक-प्रत्यासत्तिस्वरूप समवाय का त्वाचवत्त्व (= स्पार्शनप्रत्यक्षविशिष्टानुयोगिकत्व) विशेषण नहीं हो सकता है ।

उपलक्षण इति । एवं त्वाचवत्त्व को तादृश समवाय का उपलक्षण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब घटादिजन्माऽ-व्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेन घटादिस्पर्शविषयकस्पार्शनप्रत्यक्षोदय की आपत्ति मुँह फाडे खडी रहती है । आशय यह है कि व्यावृत्तिसमय

कालभेदेनैकस्यामेव व्यक्तावनतत्वाचाना सम्भवेन तावत्त्वाचप्रवेशाऽपेक्षया महत्त्वोद्भूतरूपयोरेव प्रत्यासत्तिमध्ये प्रवेशस्य त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वकल्पनस्य चोचितत्वात् ।

जयलता

उद्देश्यान्वयप्रतियोगी वा धर्मो विशेषण तदन्यदुपलक्षण'' (त चि.प्र ख.पृ ८३४) इति **वदन्ति** ।

विशेषणमुपलक्षण च ज्ञानविशेषमादाय धर्मिविशेषमादाय च निरूप्यत इति न सर्वत्राऽनुगतमस्ति, किन्तु तत्तद्व्यवहारानुरोधेन विषयताविशेषरूप तदुभयलक्षणमवमन्तव्यम् । अवधारणाख्यविषयतावद् विशेषण तदितरच्चोपलक्षणमिति तु **स्याद्वादिनः** समाकलितसर्वतन्त्ररहस्या ।

साम्प्रत प्रकृत प्रक्रियते - **कालभेदेन** = भिन्नकालावच्छेदेन **एकस्यामेव** घटादिलक्षणाया व्यक्तौ **अनन्तत्वाचाना** = अनन्ताना त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाणा **सम्भवेन तावत्त्वाचप्रवेशाऽपेक्षया** = द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतरपार्शनजनकतावच्छेदकसम्बन्ध-कुक्षौ अनन्तस्पार्शननिवेशाऽपेक्षया **महत्त्वोद्भूतरूपयोरेव प्रत्यासत्तिमध्ये** = तादृशकारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरे, **प्रवेशस्य** उचितत्वादित्यनेनाऽस्याऽन्वय. । त्वाचोपलक्षणत्वाऽभ्युपगमे विशेष्यसम्बद्धाऽसम्बद्धाना सर्वेषामेव त्वाचप्रत्यक्षाणा विनिगमनाविरहेण सम्बन्धशरीरे अवश्यनिवेश्यत्वेनाऽनन्तत्वाचप्रवेशप्रसङ्ग , एकस्मिन्नपि घटादिवस्तुनि काल-देश-पुरुषादिभेदेनाऽनन्तत्वाचाना विषय-तासम्बन्धेन जायमानत्वात् । तथा च महद्गौरवमापतित कथ अपसारणीयम् ? अतो लाघवात् तादृशजनकतावच्छेदकसम्बन्धकुक्षौ महत्त्वोद्भूतरूपनिवेश समीचीन । **एतेन** विषयतया द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शन प्रति त्वगिन्द्रियस्य स्वसयुक्तत्वाचविशिष्टा-नुयोगिकसमवायेन कारणत्वमिति **निरस्तम्**, उपलक्षणीभूतानन्तत्वाचघटितसमवायापेक्षया स्वसयुक्तमहत्त्वोद्भूतरूपवदनुयोगिकसम-वायस्यैव तथात्वौचित्यात् । महत्त्वपदेनात्र प्रकृष्टमहत्त्व बोध्य, तेन न द्व्यणुकस्पार्शनप्रसङ्ग· ।

अथ त्वाच विहाय प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतरूपयो· प्रत्यासत्तिघटकत्वेनोपादाने त्रुटिस्पर्शस्पार्शन दुर्निवार, त्रुटौ प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतरूपयो सत्त्वेन त्रुटिस्पर्शे स्वसयुक्तमहत्त्वोद्भूतरूपवदनुयोगिकसमवायेन त्वगिन्द्रियस्य सत्त्वादिति नैयायिकाशङ्कायामाह **त्रुटिस्पर्शेऽ-नुद्भूतत्वकल्पनस्य चोचितत्वादिति** । त्रसरेणुस्पर्शाऽस्पार्शननिर्वाहकृते तदनुत्कटत्वकल्पनोचिता, न तु त्वक्सयुक्तत्वाचवदनु-

मे विशेष्य से असम्बद्ध रह कर भी जो विशेष्य की अन्य से व्यावृत्ति (= व्यवच्छेद) करता है, वह उपलक्षण कहा जाता हे । जैसे काक से उपलक्षित (= परिचित) देवदत्तगृह का, काकानुपस्थिति होने पर भी, अन्य गृह से व्यवच्छेद होने से काक देवदत्तगृह का उपलक्षण वनता हे । देवदत्तगृह मे सर्वदा या व्यावृत्ति काल मे काक का होना अनिवार्य नही है । इस तरह त्वाचप्रत्यक्षानुयोगिकत्व को समवाय का उपलक्षण मानने का मतलव यह है कि स्पर्शविपयक प्रत्यक्ष की पूर्व क्षण मे स्पर्शाश्रय का अवश्य त्वाच प्रत्यक्ष हो यह जरूरी नही हे । किसी काल मे घटादि का स्पार्शन प्रत्यक्ष होना चाहिए - इतना ही आवश्यक हे । घटादि पदार्थ मे उत्पत्तिक्षणावच्छेदेन गुणमात्र का अभाव होता है । द्रव्योत्पत्ति के अनन्तर क्षण मे द्रव्य मे गुणोत्पत्ति होती है - यह नैयायिक सिद्धान्त है । इसके अनुसार घटोत्पादद्वितीयक्षणावच्छेदेन घट मे उद्भूत स्पर्श गुण की उत्पत्ति होगी । त्वाचवत्त्व समवाय का विशेषण नही, वल्कि उपलक्षण होने की वजह द्वितीय क्षण मे घटस्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योकि त्वगिन्द्रिय स्वसयुक्तत्वाचवदनुयोगिक समवाय सम्बन्ध से तव घटस्पर्श मे रहती है । किसी न किसी काल मे घट का स्पार्शन प्रत्यक्ष होने वाला है । इसलिए घटस्पर्शप्रतियोगिक समवाय का त्वाचप्रत्यक्षाश्रय(= घट)अनुयोगिकत्व विशेपण वन सकता हे । इस तरह घटोत्पत्ति के द्वितीय क्षण मे घटस्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा । मगर द्रव्योत्पत्ति की द्वितीय क्षण मे द्रव्य इन्द्रियसयुक्त होने पर भी द्रव्यसमवेत गुण-कर्म का साक्षात्कार नैयायिकमतानुसार नही होता है । इसलिए कारणताअवच्छेदक सम्बन्ध मे उपलक्षणविधया भी त्वाचवत्त्व का प्रवेश नही हो सकता है । जो न उपलक्षण हो ओर न तो विशेपण हो वह धर्म व्यावर्तक नही वन सकता है । इसलिए स्वसयुक्तसमवाय सम्बन्ध से ही स्पर्शनेन्द्रिय को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविपयक स्पार्शन का कारण मानना सगत प्रतीत होता है ।

उपलक्षणविधया त्वाचप्रत्यक्ष का सम्बन्धकुक्षि में प्रवेश गौरवग्रस्त - स्याद्वादी

कालभे इति । दूसरी वात यह है कि त्वाचवत्त्व को द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविपयक स्पार्शन के कारणतावच्छेदक सम्बन्ध का उपलक्षण मानने पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एक-एक द्रव्य मे भिन्न-भिन्न-कालावच्छेदेन एव एक काल मे भी पुरुपभेद से अनन्त स्पार्शन प्रत्यक्ष विपयता सम्बन्ध से रहने से किस स्पार्शन का सम्बन्धशरीर मे प्रवेश किया जाय ? विनिगमक के अभाव से तादृश अनन्त त्वाच प्रत्यक्ष का सम्बन्धशरीर मे निवेश करना होगा । यह तो वहुत वड़ा गौरव हे । इसकी अपेक्षा उचित तो यह है कि सम्बन्ध के अश मे महत्त्व ओर उद्भूत स्पर्श का ही निवेश किया जाय ? अनन्त त्वाच प्रत्यक्ष

केचित्तु —> व्यासज्यवृत्तिगुणाऽस्पार्शननिर्वाहाय प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयोः प्रत्यासत्त्य-

❀ जयलता ❀

योगिकसमवायस्य तादृशप्रत्यासत्तित्वकल्पना । अनेनोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वकल्पनाऽपि प्रत्युक्ता, नीलत्रसरेणौ व्यभिचारात् । अत एव तमस उद्भूतरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभाव एव बाधक इत्यपि निराकृतम् । इत्थञ्च 'नील तम' इति प्रतीते. प्रमात्वेन रूपवत्त्वात्तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति स्याद्वादिनोऽभिप्राय ।

अथ द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतस्पार्शनं प्रति स्वसयुक्त-प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शवदनुयोगिकसमवायेन स्पर्शनेन्द्रियस्य कारणत्वे घटाकाशसयोग-द्वित्वादिव्यासज्यवृत्तिगुणस्पार्शनप्रसङ्ग. । न च तद्भवति । अतो नोक्तप्रत्यासत्तिमध्ये प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयो-र्निवेश समीचीन । व्यासज्यवृत्तिगुणस्पार्शनवारणाय व्यासज्यवृत्तिगुणत्वाच प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन लौकिकविषयत्वा-वच्छिन्नत्वाचाभावस्य प्रतिबन्धकत्वमावश्यकम् । तस्य च प्रतिबध्यतावच्छेदक न व्यासज्यवृत्तिगुणत्वाचत्व, गुणादित्वाच प्रति प्रकृष्टमहत्त्ववदुद्भूतस्पर्शवत्समवायस्यातिरिक्तकारणत्वकल्पनापत्ते । अपि तु निखिलगुण-कर्मत्वाचसाधारण द्रव्यान्य-सत्त्वाचत्वमेव तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकम् । एवञ्च घटाद्येकैकप्रतियोगिकत्वक्सयोगदशाया न घटपटवृत्तिव्यासज्यवृत्तिसयोग-द्वित्वयो. स्पार्शनप्रसङ्ग , लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावलक्षणप्रतिबन्धकस्य स्वसयुक्तपटसमवेतसयोगद्वित्वयो सत्त्वात् । अत्र त्वक्सयोगस्य कार्यता-वच्छेदक सम्बन्धो न विषयत्वमात्रम्, 'चैत्रस्याऽय पुत्र' इत्यादिस्पार्शने चैत्राद्यशे व्यभिचारात्, किन्तु लौकिकत्वाभिधानो विषयताविशेष इत्याद्याशयवता मत प्रकरणकार प्रदर्शयति- केचित्त्विति । व्यासज्यवृत्तिगुणाऽस्पार्शननिर्वाहाय = द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतसयोग-द्वित्वादिगोचराऽस्पार्शनोपपत्तये । अस्यानुपद 'प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शयो· प्रत्यासत्त्यघटकत्वेने'त्यत्राऽन्वय ।

की अपेक्षा इन दोनो का प्रवेश करने मे लाघव है । द्रव्य मे महत्त्व और उद्भूत रूप अनन्त नहीं होते है । नैयायिक की ओर से यहाँ यह शका की जाय कि —> 'विषयतासम्बन्ध से द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक त्वाच प्रत्यक्ष के प्रति स्वसयुक्त-महत्त्वोद्भूतस्पर्शाश्रयानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से त्वगिन्द्रिय को कारण मानने पर त्रसरेणुस्पर्श के स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, क्योकि स्व (स्पर्शनेन्द्रिय) सयुक्त त्रसरेणु मे महत्त्व और उद्भूतस्पर्श होने से स्पर्शनेन्द्रिय स्वसयुक्त-महत्त्वोद्भूतस्पर्शाश्रयानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से त्रसरेणुस्पर्श मे रहती है' <— तो यह असगत है, क्योकि त्रसरेणुस्पर्श के स्पार्शन प्रत्यक्ष के अभाव की उपपत्ति तो त्रसरेणुस्पर्श को अनुद्भूत मानने पर भी हो सकती है । मतलब कि त्रसरेणु मे महत्त्व होने पर भी उद्भूत स्पर्श नही होने से त्रसरेणुस्पर्श मे स्वसयुक्त-महत्त्वोद्भूतस्पर्शाश्रयानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से स्पर्शेन्द्रिय नहीं रहती है । कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से कारण की कार्याधिकरणत्वेन अभिमत मे अनुपस्थिति होने से कार्योत्पत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता । इस तरह त्रुटिस्पर्श के अस्पार्शन की उपपत्ति हो सकती है । मगर इस परिस्थिति मे उद्भूत नील रूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी हो जायेगा, क्योकि नील त्रुटि मे उद्भूत नीलरूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श नही रहता है । उद्भूत स्पर्श उद्भूत नील रूप का अव्यापक होने से अन्धकार को नीलरूपवान् मानने मे उद्भूतस्पर्शाभाव बाधक नही हो सकेगा । अत· रूपवत्त्व हेतु से अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध है - यहाँ प्रकरणकार का यह तात्पर्य ध्वनित होता है ।

❋ आश्रयस्पार्शनाभाव गुणादिस्पार्शन में प्रतिबन्धक - नैयायिकैकदेशीमत ❋

कश्चित्तु इति । अन्य नैयायिक विद्वानो की यह राय है कि द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति स्पर्शनेन्द्रिय को स्वसयुक्तप्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शविशिष्टानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से कारण मानने पर घट-पट परस्परसयुक्त होने की दशा मे केवल घट के साथ स्पर्शनेन्द्रिय का सयोग होने पर भी घट-पटसयोग का स्पार्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योकि सयोग व्यासज्यवृत्ति गुण होने से घट और पट दोनो मे समवाय सम्बन्ध से रहने की वजह स्पर्शनेन्द्रिय स्वसयुक्त एव प्रकृष्टमहत्व और उद्भूत स्पर्श वाले घट मे समवेत घटपटसयोग गुण मे स्वसयुक्त-प्रकृष्टमहत्त्वदुद्भूतस्पर्शवदनुयोगिक समवाय सम्बन्ध से रहती है । इसलिए विषयतासम्बन्ध से घटपटसयोग मे स्पार्शन प्रत्यक्ष उत्पन्न होना चाहिए, अर्थात् घटपटसयोगविषयक स्पार्शन साक्षात्कार होना चाहिए । मगर हकीकत यह है कि घट-पटसयोग का स्पार्शन साक्षात्कार केवल घट के साथ स्पर्शनेन्द्रिय का सयोग होने पर नही होता है, किन्तु घट-पटोभय के साथ स्पर्शन इन्द्रिय का सयोग होने पर ही होता है । सयोग, द्वित्व आदि व्यासज्यवृत्ति गुण के एक आश्रय के साथ स्पर्शेन्द्रिय का सयोग होने की अवस्था मे उन व्यासज्यवृत्ति (अनेकवृत्ति) गुण के स्पार्शन साक्षात्कार का निवारण कारणतावच्छेदक सम्बन्ध की कुक्षि मे प्रकृष्ट महत्त्व और उद्भूत स्पर्श का निवेश करने पर भी नामुमकिन होने से द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतगुणादिगोचरसाक्षात्कारकारणतावच्छेदक सम्बन्ध के शरीर मे उन दोनो का निवेश करना अनावश्यक है । इसका निराकरण करने के लिए निम्नोक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार करना आवश्यक है । वह इस तरह - द्रव्यान्य

घटकत्वेन लाघवाद् द्रव्यान्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नं प्रत्येव लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकता कल्प्यते । वायोरस्पार्शनत्व तु न यौक्तिकमिति न तद्वृत्तिस्पर्शस्पार्शनानुपपत्ति. । तथा च त्रसरेणोरस्पार्शनत्वान्न तद्वृत्तिस्पर्शादिस्पार्शनप्रसङ्ग इति, <–

❀ जयलता ❀

यथा चैतत्तत्त्व तथा भावितमेवैतदवतरणिकायामिति न पुन प्रतन्यते । **लाघवादिति** । द्रव्यान्य-द्रव्यसमवेतविषयकस्पार्शन-कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तौ तयोरप्रवेशप्रयुक्तलाघवादिति । 'तर्हि घटाद्येकैकत्वक्संयोगदशाया कथ न घटपटयो सयोगस्य द्वित्वादेश्च स्पार्शन ?' इत्याशङ्कायामाह- **द्रव्यान्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्न प्रत्येवेति** । एवकारेण व्यासज्यवृत्तिगुणत्वाचत्वावच्छिन्न प्रतीत्यस्य व्यवच्छेद. कृत , एतन्निषेधहेतुस्तु प्रकृतमतोपाद्घाते विभावितत्वान्नोच्यते । **लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकतेति** । तथाहि - 'घट स्पृशामी'त्यत्र लौकिकविषयतया त्वाचप्रत्यक्ष घटे वर्तते, लौकिक-विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावश्च पटे वर्तते, तत्समवेतस्तु घटसयोगादि., तस्य द्विष्ठत्वात् । लौकिकविषयतासंसर्गेण त्वाच स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन घटस्पर्श-कर्मादौ वर्तते । अत. तद्गोचर स्पार्शन जायते, तदभावस्तु घटपटसयोगादौ पटस्पर्शादौ च वर्तते येन तत्स्पार्शन घटत्वक्संयोगदशाया नोपजायते । अत एव तत्प्रतिबन्धकत्व कल्पनामर्हत्येव । 'तर्हि वायुरपर्शस्पार्शन कथ स्यात् ? वायोरत्वाचत्वेन तादृशत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन वायुस्पर्शे वर्तमानत्वादि'त्याशङ्कायामाहु. - **वायोरस्पार्शनत्व** = स्पार्शनप्रत्यक्षाविषयत्व **तु न यौक्तिकमिति** । 'वायु स्पृशामी'त्यबाधितानुभवबलाद् वातस्य लौकिक-विषयत्वावच्छिन्नत्वाचाश्रयत्वसिद्ध्या वायुस्पर्शे तादृशत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वसंसर्गेणाऽवर्तमानत्वात् **न तद्वृत्तिस्पर्शस्पार्शनानुपपत्तिः** = वायुसमवेतस्पर्शस्पार्शनानुपपत्ति । दर्शितप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावफलमुपदर्शयन्ति - **तथा चेति** । विषयता-सम्बन्धावच्छिन्न-द्रव्यान्यसत्त्वाचत्वाच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितस्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्न-लौकिकविषयत्वावच्छिन्नप्रति-योगिताकत्वाचाभावनिष्ठप्रतिबन्धकताऽभ्युपगमप्रकारेण च । **त्रसरेणोः अस्पार्शनत्वात्** = त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वात्, **न तद्वृत्तिस्पर्शादिस्पार्शनप्रसङ्गः** त्रसरेणुसमवेतस्पर्श-सयोगादिस्पार्शनापत्ति., कार्याधिकरणत्वेनाऽभिमते त्रसरेणुस्पर्शे प्रतिबन्धकस्य सत्त्वात्, प्रतिबन्धकाभावस्याऽपि कारणत्वेनाऽऽपादकविरहान्नैव तदापादयितुमर्हतीति नोद्भूतनीलरूपम्योद्भूतस्पर्शव्याप्यत्वे व्यभि-चार । अत एव 'नील तम' इति प्रतीते भ्रमत्व तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे चोद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्व व्यवतिष्ठते । ततश्च तमसो न द्रव्यत्वसिद्धि कल्पकोटिभिरपि स्वात्मलाभक्षमेति फक्किकार्थ ।

सत् पदार्थ के स्पार्शन साक्षात्कार के प्रति लौकिकविषयतावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्पार्शनप्रत्यक्षाभाव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से प्रतिबन्धक है । आशय यह है कि द्रव्य से भिन्न गुण, क्रिया आदि का स्पार्शन प्रत्यक्ष करना हो तब उस गुण, क्रियादि के आश्रय का स्पार्शन प्रत्यक्ष होना आवश्यक है । यदि गुणादि के आश्रय का स्पार्शन प्रत्यक्ष न हो, तो गुणादि का स्पार्शन प्रत्यक्ष नही हो सकता, क्योकि आश्रयविषयकस्पार्शनाऽभाव उसमे आश्रित (रहनेवाले) स्पर्शादि गुणादि के स्पार्शन मे प्रतिबन्धक है । प्रतिबध्य और प्रतिबन्धक समानाधिकरण यानी एकाधिकरण मे रहने वाले हो तभी उन दोनो के बीच प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव हो सकता है । क्या चन्द्रकान्त मणि जलहृद मे होने पर अन्यत्र अग्नि से दाह नही होता है ? यहाँ प्रतिब य है द्रव्यभिन्नसद्विषयक घटपटसयोगविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष, जो कि विषयतासम्बन्ध (कार्यताअवच्छेदक सम्बन्ध) से द्रव्येतर सत् घटपटसयोगादि मे रहता है । अत. प्रतिबन्धकीभूत लोकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्पार्शनप्रत्यक्षाभाव भी वहाँ रहना चाहिए । वह तब हो सकता है यदि स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध को प्रतिबन्धकताअवच्छेदक माना जाय, क्योकि स्व = स्पार्शनाभाव, उसका स्वरूपसम्बन्ध से आश्रय है पटद्रव्य, (क्योकि घट-पटसयुक्त होने की दशा मे घट के साथ त्वगिन्द्रियसयोग होने पर घट द्रव्य का ही स्पार्शन होता है, न कि पट द्रव्य का) और उस पट द्रव्य मे समवेत पटस्पर्श, घटपटसयोग आदि गुण वगेरह । अतः घटपटसयोग स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकस्पार्शनाभाव (= प्रतिबधक) का आश्रय एव विषयतासम्बन्ध से द्रव्यान्य-सद्गोचरस्पार्शन के अधिकरणविधया अभिमत होने से केवल घट के साथ त्वगिन्द्रिय का सयोग होने की दशा मे घटपटसयोग आदि व्यासज्यवृत्ति गुण का स्पार्शन प्रत्यक्ष नही हो सकेगा, क्योकि प्रतिबन्धकाभाव भी कारण है, जो यहाँ अविद्यमान है । इस प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव को मान्य करने पर कारणतावच्छेदक सम्बन्ध मे प्रकृष्ट महत्त्व और उद्भूतस्पर्श का प्रवेश अनावश्यक होने से लाघव भी है ।

वायोर इति । मगर यहाँ यह शङ्का हो कि –> ''लोकिक स्पार्शनाभाव को स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से द्रव्येतर-सद्विषयक स्पार्शन का प्रतिबन्धक मानने पर वायुगतस्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? क्योकि वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष न होने

तत्र, लाघवाद्, वायो स्पार्शनत्वस्य साम्प्रदायिकत्वाच्च समवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शा-भावस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यान्य-द्रव्यसत्वाचत्वावच्छिन्न प्रति प्रतिबन्धकत्व

❀ जयलता ❀

प्रकरणकार केचित्तुमत प्रत्याचष्टे- तन्नेति । लाघवादिति । लौकिकविषयतावच्छिन्नत्वानाभावस्य प्रतिबन्धकत्वे उप-नीतभानप्रयोज्यविषयत्वभिन्नविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्न-त्वगिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावत्वस्य प्रतिबन्धकता-वच्छेदकत्व स्यात् । तदपेक्षया समवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावत्वस्य तत्त्वे लाघव स्यात् । अत लौकिकविषयतावच्छिन्नत्वाचाभावापेक्षया समवायावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाभावस्य प्रतिबन्धकत्वे लाघवादिति भाव ।

किञ्च, द्रव्याऽन्य-द्रव्यवृत्तिगोचरस्पार्शन प्रति लौकिकविषयत्वावच्छिन्नत्वाचाभावस्य स्वाश्रयसमवेतत्वेन सम्बन्धेन प्रतिबन्ध-कत्वे वायुस्पर्शस्पार्शन न स्यात्, नव्यनयायिकमते वायो स्पार्शनत्वेऽपि जरन्नयायिकसम्प्रदाये वायुस्पार्शनत्वस्याऽसिद्धत्वेन वायुस्पर्शे स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकस्य सत्त्वादित्याशयेन प्रकरणकार हेत्वन्तर प्राह- वायोरिति । स्पार्शनत्वस्य = स्पर्शनेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारप्रयोज्यविषयत्वस्य साम्प्रदायिकत्वाचेति । नव्यनैयायिकसम्प्रदायेऽस्मत्सम्प्रदाये च वायो स्पार्शनत्वे सिद्धेऽपि प्राचीननैयायिकसम्प्रदाये तदसिद्धत्वेन वायुस्पार्शनत्वस्य नानासम्प्रदायविप्रतिपत्तिकवलितत्वाचेत्यर्थ । ततो लौकिक-विषयत्वाच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाचाभावस्य तादृशप्रतिबन्धकत्वस्वीकारे तु प्राचीननैयायिकमतानुरोधेन वायुस्पर्शस्पार्शन नैवोप-पद्येत । विप्रतिपत्ति विनैव वायुस्पर्शस्पार्शनोपपत्तये अपि लौकिकविषयत्वावच्छिन्नस्पार्शनाभावस्य प्रतिबन्धकत्व न युक्तमित्याह- समवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाभावस्यैव = समवायसम्बन्धावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव । एवकारेण लौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्पार्शनाभावस्य व्यवच्छेद कृत । द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्न = द्रव्यान्यद् यद् द्रव्ये सत् = वृत्ति तद्विषयकत्वाचत्वलक्षणप्रतिबध्यतावच्छेदकावच्छिन्न, प्रति प्रतिबन्धकत्व कल्पयित्वेति । इत्यत्र

से वायुगत स्पर्श मे स्व (स्पार्शनाभाव) आश्रय (वायु) समवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्पार्शनाभाव रहता हे । प्रतिबन्धक होने से वायुस्पर्शविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष प्रतिबध्य हो जायेगा, अनुत्पन्न ही रहेगा'' <— तो यह ठीक नही हे, क्योकि वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष नही होता है-यह बात अप्रामाणिक है । 'शीत वायु स्पृशामि' इत्यादि अनुभव वर्षीले देश या काल मे सुप्रसिद्ध ही है । इसलिए वायुस्पर्श मे स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से लौकिकविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्पार्शनाऽभाव नही रहता है । वायुस्पर्श मे प्रतिबन्धकाभावस्वरूप कारण होने से वायुस्पर्शविषयक स्पार्शन की उत्पत्ति होने मे कोई अनुपपत्ति नही है । एव त्रुटिस्पर्श के स्पार्शन की आपत्ति भी नही दी जा सकती, क्योकि त्रुटि (= त्रसरेणु) का स्पार्शन प्रत्यक्ष न होने से वह स्पार्शनाऽभाव का आश्रय बन जाने की वजह स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध मे लौकिकस्पार्शनसाक्षात्काराभावात्मक प्रतिबन्धक त्रुटिस्पर्श मे रहता हे । इसलिए नील त्रुटि मे उद्भूत स्पर्श होने पर भी त्रुटिस्पर्शस्पार्शन का आपादन नही किया जा सकता । उद्भूत नील रूप तो उद्भूत स्पर्श का व्याप्य होने से अन्धकार को उद्भूतनीलरूपवान् मानने मे उद्भूतस्पर्शाभाव बाधक हो सकता हे । अतएव 'नील तम ' यह प्रतीति भी भ्रम हे । इसलिए रूपवत्त्व हेतु मे अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि नामुमकिन हे । स्वरूपासिद्ध हेतु स्वाभीष्ट साध्य की सिद्धि करने मे सदा असमर्थ ही रहता हे ।

❀ उद्भूतस्पर्शाभाव ही गुणादिस्पार्शन का प्रतिबन्धक - स्याद्वादी ❀

तत्र इति । उपर्युक्त अन्य नैयायिकमत के प्रतिकारार्थ व्याख्याकार श्रीमद्जी महोपाध्याय महाराजा कहते है कि - यह मत अनुपादेय हे । इसका कारण यह है कि लौकिकविषयतावच्छिन्नत्वाचाभाव का मतलब हे उपनीतज्ञानाऽप्रयोज्यविषयता-वच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वगिन्द्रियजन्यसाक्षात्काराभाव । इसकी अपेक्षा समवायावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाऽभाव लघु हे । अत समवाया-वच्छिन्नप्रतियोगिताक उद्भूतस्पर्शाभाव को ही द्रव्येतरद्रव्यवृत्तिविषयकत्वाचसाक्षात्कार का प्रतिबन्धक मानना उचित हे । प्रतिबन्धक-तावच्छेदकसम्बन्ध है स्वाश्रयसमवेतत्व । स्वपद से समवायावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शाभाव का ग्रहण अभिप्रेत हे । उसका आश्रय प्रभा आदि द्रव्य होते है, क्योकि समवाय सम्बन्ध से उद्भूतस्पर्श प्रभा आदि मे नही रहने से समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक उद्भूतस्पर्शाभाव का वह आश्रय होता हे । उसमे जो गुणादि समवेत हे उसमे स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से दर्शित उद्भूतस्पर्शाभाव रहता है, जो द्रव्येतर-द्रव्यवृत्तिगुणादिविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक हे । अतएव प्रभा आदि द्रव्य के स्पर्श आदि का स्पार्शन साक्षात्कार नही हो सकता है । दूसरी बात यह हे कि उक्त लघु प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का अगीकार करने पर वायुस्पर्श का स्पार्शन साक्षात्कार भी उपपन्न हो सकता हे, क्योंकि वायु मे उद्भूत स्पर्श रहता ही हे । वायुविषयक स्पार्शन

कल्पयित्वा त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वकल्पनस्यैवौचित्यात् । न चाऽवयव्युद्भूतस्पर्शं प्रति अवयवोद्भूतस्पर्शस्यैव हेतुत्वात्कथं चतुरणुकोद्भूतस्पर्शारम्भकस्य त्रुटिस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वमिति वाच्यम्,

❀ जयलता ❀

घटाकाशसयोगादिव्यासज्यवृत्तिगुणस्पार्शनप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः, घटसयोगाश्रयाकाशस्य समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकोद्भूतस्पर्शाभावाश्रयत्वेन तादृशसयोगादौ स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकस्य सत्त्वात् । न च तथापि घटाद्येकैकप्रतियोगिकत्वक्सयोगदशाया घटपटसयोगादिस्पार्शनं दुर्वारमिति वाच्यम्, सयोगाद्याश्रयत्वावच्छेदेन त्वक्सयोगस्य द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्न प्रति नियामकत्वाऽभ्युपगमात् । तादृशनियमस्य फलबलकल्प्यत्वान्न गौरवमिति तात्पर्यम् ।

'तथापि त्रुटिस्पर्शस्पार्शनं दुर्निवार स्यात्, त्रुटौ उद्भूतस्पर्शस्य सत्त्वेन तत्र समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकोद्भूतस्पर्शाभावस्य प्रतिबन्धकस्य विरहादि'त्याशङ्काया प्रकरणकार प्राह- त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वकल्पनस्यैवोचित्यादिति । तथा च प्रतिबन्धकीभूतस्य समवायावच्छिन्नोद्भूतस्पर्शाभावस्य सत्त्वान्न त्वगिन्द्रियसयुक्तत्रुटिस्पर्शे विषयतासम्बन्धेन द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्नोत्पत्ति । एवञ्च नीलत्रसरेणावुद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शव्यभिचारित्वान्न तमस उद्भूतनीलरूपवत्त्वे उद्भूतस्पर्शाभावस्य बाधकत्व येन 'नील तम' इति प्रतीते. भ्रमत्व स्यात् । ततश्च रूपवत्त्वस्य स्वरूपासिद्धिकलङ्कपङ्कक्षालितत्वेन तमोद्रव्यत्वसिद्धिरित्याशय ।

वस्तुतस्तु घटप्रभासयोगादौ द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचप्रतिबध्यतावच्छेदक-पराभिमत-जातिस्थानीयत्वगऽग्राह्यतास्वभावादेव न स्पार्शनत्वमिति न द्रव्यान्य-द्रव्यसत्त्वाचत्वावच्छिन्न प्रति समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोद्भूतस्पर्शाभावस्यैव स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनाऽऽवश्यकी । अत एव समवायानभ्युपगमे स्याद्वादिना कथमेतादृशप्रतिबन्धककल्पना कर्तुं युज्यत इत्युक्तावपि न क्षतिः इति ध्येयम् ।

अथ त्रसरेणोरनुद्भूतस्पर्शवत्त्वे चतुरणुकस्पर्शे उद्भूतत्व न स्यादिति शङ्का निराकर्तुमुपक्रमते - न चेति । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । अवयव्युद्भूतस्पर्शं प्रति अवयवोद्भूतस्पर्शस्यैव, एवकारेण अदृष्टादिनिमित्तविशेषव्यवच्छेद कृत । हेतुत्वात् = असमवायिकारणत्वात् । ततश्चावयव्युद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिताऽसमवायिकारणता अवयवोद्भूतस्पर्शत्वनिरूपितेति फलितोऽर्थ । कथ चतुरणुकोद्भूतस्पर्शारम्भकस्य त्रुटिस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्वमिति । 'स्यादि'ति शेष । तथाहि चतुर्भि त्रसरेणुभिरेकश्चतुरणुक आरभ्यते । तस्य तत्समवेतस्पर्शस्य च स्पार्शनत्वाच्चतुरणुकस्पर्शस्योद्भूतत्व निर्विवादसिद्धम् । तदसमवायिकारणत्व त्रुटिस्पर्शे तदैव स्यात् यदि त्रुटिस्पर्श उद्भूत स्यात्, समवायेन अवयव्युद्भूतस्पर्शं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवो-

साक्षात्कार तो साम्प्रदायिक है । उसके विषय मे भिन्न भिन्न सम्प्रदाय मे विवाद है कि वह होता है या नहीं ? इसलिए उसकी ओर दृष्टि केन्द्रित किये बिना भी हमारा प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव सगत हो सकता है । इसलिए उपर्युक्त दो हेतु के कारण हमारा अभिमत प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव समीचीन है । यहाँ यह शका करना कि —> ''यदि द्रव्यान्य-द्रव्यवृत्तिविषयक स्पार्शन साक्षात्कार के प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्ध से समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक उद्भूतस्पर्शाभाव को प्रतिबन्धक माना जाय और उसके अभाव को कारण माना जाय तब तो त्रसरेणुविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष होने की आपत्ति मुँह फाडे खड़ी रहेगी, क्योकि त्रसरेणु मे उद्भूत स्पर्श रहने की वजह समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक उद्भूतस्पर्शाभाव उसमे नही रहने से स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से वह त्रसरेणुवृत्ति गुणादि मे भी नही रहता है । प्रतिबन्धक न रहने से त्वगिन्द्रियसयोग जब त्रसरेणु के साथ होगा तब उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है । मगर त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पार्शन साक्षात्कार होता नहीं है। इसलिए दर्शित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव अमान्य है'' <—

उद्भूतनीलरूप उद्भूतस्पर्श का व्याप्य नहीं है - स्याद्वादी

त्रुटिस्प इति । भी ठीक नही है । इसका कारण यह है कि जब लाघव तर्कादि के सहकार से सामान्यत दर्शित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव निश्चित होने पर उसे अमान्य करना नामुनासिब है । हाँ, त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पार्शन साक्षात्कार की आपत्ति का निराकरण जरूर करना चाहिए । इसका अपाकरण करने के लिए यह माना जा सकता है कि त्रसरेणु का स्पर्श अनुद्भूत है । त्रसरेणु मे स्पर्श के होने पर भी उद्भूत स्पर्श का अभाव, जो गुणादिस्पार्शन प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक है, होने से त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पार्शन साक्षात्कार का उदय नही होता है - यही कल्पना समुचित है, न कि लौकिक-विषयता-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्पार्शनाभाव मे तादृश प्रतिबन्धकता की कल्पना । इस तरह नील त्रसरेणु मे उद्भूत नीलरूप उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी होने से अन्धकार मे नीलरूपवत्ता का बाधक उद्भूतस्पर्शाभाव नही हो सकता है, क्योकि उद्भूत स्पर्श

उद्भूतस्पर्शत्वस्याऽर्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

❀ जयलता ❀

द्भूतस्पर्शस्याऽसमवायिकारणत्वात्, यथा घटोद्भूतस्पर्शं प्रति कपालोद्भूतस्पर्शस्य । ततश्च चतुरणुकोद्भूतस्पर्शान्यथानुपपत्त्या त्रुटिस्पर्शस्योद्भूतत्वं सिध्यतीति नोद्भूतनीलरूपं उद्भूतस्पर्शव्यभिचारि । इत्थं 'नीलं तम' इति प्रतीत्या भ्रमत्वसिद्धेः रूपान्तरस्य च तत्राऽसत्त्वात् विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावसाधकत्वेन न तमसो रूपवत्त्वं, येन तद्द्रव्यत्वसिद्धिमनोरथः पूर्येतेति शङ्काग्रन्थाशयः ।

प्रकरणकारस्तां प्रत्याख्याति - उद्भूतस्पर्शत्वस्येति । 'कार्यतानवच्छेदकत्वादि'त्यत्राऽन्वयोऽस्य । तत्र हेतुमाह - अर्थसमाजसिद्धत्वेनेति । अर्थसमाजसिद्धत्वं नाम सामग्रीद्वयप्रयोज्यत्वं, अर्थः = सामग्री, समाजः = तत्समुदायः, तत्सिद्धः = तत्प्रयोज्यमिति तदर्थात् । यद्वा अर्थानां = कारणान्तराणां समाजः = समुदायः, तत्सिद्धं = तत्प्रयोज्यधर्मघटितमिति । भवति च नीलघटत्वं विशेषण-विशेष्यांशप्रयोजकसामग्रीद्वयप्रयोज्यमिति तथा । घटत्वस्यैव कपालादिजन्यतावच्छेदकत्वाद् घटीयनीलरूपत्वस्यैव च कपालनीलजन्यतावच्छेदकत्वान्नीलघटत्वस्याऽर्थसमाजसिद्धत्वं प्रतीयत एव । अत एव न तस्य कार्यतावच्छेदकत्वमभियुक्तानां सम्मतम् । प्रकृते चोद्भूतस्पर्शत्वमपि विशेषण-विशेष्यांशप्रयोजकसामग्रीद्वयप्रयोज्यमिति तथा । अत एव न तस्याऽपि अवयवोद्भूतस्पर्शकार्यतावच्छेदकत्वं सण्टङ्ककोटीरतामटाट्यते, अन्यथा नीलघटत्वस्यापि नीलेतरकपालकार्यतावच्छेदकत्वमापद्येत । न च तथापि घटवृत्तिर्नीलत्व-घटत्वयोः कपालसमवेतनीलरूप-कपालनिरूपितकार्यतावच्छेदकत्वमिवावयविस्पर्शोद्भूतत्वस्पर्शत्वयोरप्यवयवस्पर्शोद्भूतत्व-स्पर्शकार्यतावच्छेदकत्वसम्भवेन चतुरणुकस्पर्शोद्भूतत्वारम्भक-त्रसरेणुस्पर्शोद्भूतत्वकल्पनायाः आवश्यकत्वेनोद्भूतनीलरूपस्योद्भूतस्पर्शाव्यभिचारित्वात् 'नीलं तम' इति प्रतीतेः भ्रमत्वसिद्ध्या न रूपवत्त्वात्तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, नियतारम्भवादस्य साङ्ख्यवार्तायां निरस्तत्वात् । एतेनाऽवयव्युद्भूतस्पर्शं प्रत्यवयवोद्भूतस्पर्शस्यैव हेतुत्वमिति प्रत्युक्तम्, अदृष्टादिनिमित्तविशेषादपि अवयविस्पर्शोद्भूतत्वसम्भवादिति सङ्क्षेपः ।

उद्भूत नील रूप का व्यापक ही नहीं है । अव्यापक के अभाव से व्याप्याभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है । यहाँ यह शंका हो कि --> ''त्रसरेणु के स्पर्श को अनुद्भूत मानने पर चतुरणुक (चार त्र्यणुक से निष्पन्न द्रव्य) में उद्भूत स्पर्श असमवायिकारण है । त्रसरेणु चतुरणक का अवयव है । अतः यदि उसमें उद्भूत स्पर्श नहीं होगा तो उसके कार्य चतुरणक में उद्भूत स्पर्श का जन्म नहीं हो सकेगा । कार्य और कारण के धर्म में साजात्य होता है, वैजात्य नहीं । यही नैयायिक मनीषियों के अभीष्ट नियतारम्भवाद का मर्म है । ततु में नील रूप होने पर पट में क्या शुक्ल रूप जन्म मुमकिन है ? चतुरणुक द्रव्य में तो उद्भूत स्पर्श ही होता है, अन्यथा न तो चतुरणुक का स्पार्शन प्रत्यक्ष होगा और न तो चतुरणुकस्पर्श का । मगर चतुरणुक एवं उसके स्पर्श का स्पार्शन साक्षात्कार होता है । इसलिए चतुरणुक के स्पर्श को उद्भूत मानना अनिवार्य है । वह तभी मुमकिन है यदि चतुरणुक एवं उसके स्पर्श के आरम्भक त्रसरेणु के स्पर्श को उद्भूत माना जाय । इसलिए त्रसरेणुसमवेत स्पर्श को उद्भूत ही मानना उचित है, न कि अनुद्भूत । इस परिस्थिति में आपसे दर्शित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार करने पर पुनः त्रसरेणुस्पर्शविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति वज्रलेप हो जायेगी'' <-- तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवसमवेत उद्भूत स्पर्श का कार्यतावच्छेदक उद्भूत-स्पर्शत्व नहीं है किन्तु स्पर्शत्व ही है, क्योंकि उद्भूतस्पर्शत्व तो अर्थसमाजसिद्ध है । जब दो पृथक् पृथक् सामग्री से दो पृथक् पृथक् कार्य का जन्म होता है तब वह कार्य अर्थसमाजसिद्ध कहा जाता है, जैसे कपालादि से घट का एवं कपालनीलरूप से घटनीलरूप का जन्म होने पर नील घट अर्थसमाज(अनेक सामग्री) से सिद्ध = जन्य बनता है । इस परिस्थिति में नीलघटत्व न तो कपाल का कार्यतावच्छेदक बन सकता है और न तो कपालनीलरूप का । ठीक इसी तरह स्पर्श अपनी सामग्री से उत्पन्न होता है और उसमें उद्भूतता अन्य सामग्री से । अतः उद्भूतस्पर्श अर्थसमाजसिद्ध कहा जाता है । अतएव उद्भूतस्पर्शत्व भी नीलघटत्व की भाँति अवयवस्पर्श या अवयवस्पर्शउद्भूतता का कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता है । तब 'अवयवी के उद्भूत स्पर्श का अवयवउद्भूतस्पर्श कारण है यानी अवयवीउद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित कारणता का आश्रय अवयवसमवेत उद्भूतस्पर्श है' यह कैसे कहा जा सकता है ? दूसरी बात यह है कि नियतारम्भवाद में कोई प्रमाण न होने से वह भी हमें अमान्य है । इस बात का विस्तार से अन्यत्र निरूपण किया गया है । इसलिए त्रसरेणु के अनुद्भूत स्पर्श से भी अदृष्टादि निमित्तविशेष के सान्निध्य से चतुरणुक में उद्भूत स्पर्श का जन्म हो सकता है । इसलिए त्रसरेणु के स्पर्श को अनुद्भूत मानने में कोई बाध नहीं है । अतः उद्भूत नील रूप को उद्भूत स्पर्श का व्याप्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि नीलीद्रव्य के त्रसरेणु में उद्भूत नील रूप भी उद्भूत स्पर्श का व्यभिचारी है । इसलिए अन्धकार में रूपवत्त्व हेतु से द्रव्यत्वसिद्धि निराबाध है । अन्धकार में नील रूप रहता ही है ।

'इदानी मे शरीरं शीतलीभूतमि'ति प्रतीत्या तमस· उद्भूतस्पर्शवत्त्वमप्यानुभविकमिति तु वृद्धा । तेषामयमाशय, यथाहि उद्भूतशीतस्पर्शवत एव जलस्य संयोगाद् देहे शैत्यं प्रतीयते तथा तमसोऽप्युद्भूतशीतस्पर्शवत्त्व एव तत्सयोगाच्छरीरे शैत्यप्रतीतिरुपपत्तिमती, तादृशस्यैव तस्य परम्परासम्बन्धेन शैत्यप्रतीतिजनकत्वात् तत्परिणामकत्वाद्वा ।

ननु तर्हि तमसि तत्प्रतीति· कुतो न भवतीति चेत् ? योग्यतामेवेदं परिपृच्छ । 'नील-

❀ जयलता ❀

साम्प्रत प्राचीनजैनाचार्याणा मत प्रदर्शयति- **'इदानीमि'**ति । घनतरान्धकारकाले इति । **उद्भूतस्पर्शवत्त्वमपीति** । अपि-शब्देनोद्भूतनीलरूपवत्त्वसमुच्चय कृत । **आनुभविक** = सार्वजनीनानुभवसिद्धम् । **वृद्धाः** = श्रीवादिदेव-रत्नप्रभादिपूर्वाचार्या., मीमान्सितवन्त इति शेष । **तेषा** = श्रुतवृद्धस्याद्वादिपूर्वाचार्याणाम् । **तत्सयोगात्** = तम सयोगात् । **अनेन** शरीरे शैत्यस्य प्रतीयमानत्वात् शीतस्पर्श शरीरस्यैव न तु तमस इति **प्रत्युक्तम्,** 'जलसयोगाच्छरीरे शैत्यप्रतीते शीतस्पर्शो देहस्यैव न तु जलस्येत्यस्याऽपि 'वक्तु शक्यत्वात् । **न चोद्भूतशीतस्पर्शवता** एव जलेन स्वसयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन शरीरस्पर्शे शीतत्वप्रतीति-र्जन्यत इति **वाच्यम्,** उद्भूतशीतस्पर्शवतैव तमसा स्वसयुक्तसमवेतत्वससर्गेण शरीरस्पर्शे शीतत्वप्रतीतिर्जन्यत इत्यस्याऽपि सुवचत्वादित्याशयेन प्रकरणकार प्राह- **तादृशस्यैवेति** । उद्भूतशीतस्पर्शवत एवेति, एवकारेणाऽनुद्भूतशीतस्पर्शवत स्पर्शशून्यस्य वा व्यवच्छेद कृत. । **तस्य** = तमस । **परम्परासम्बन्धेनेति** । स्वसयुक्तसमवेतत्वसम्बन्धेन, स्वपदेन तमोग्रहण, तत्सयुक्त देह., तत्समवेतश्च देहस्पर्श । तादृशतमश्च स्वसयुक्तसमवेतत्वसबन्धेन तत्र वर्तत इति तत्र शीतत्वप्रकारकप्रतीति. विषयता-सम्बन्धेनोपजायते इति भाव । इदञ्च परमताभ्युपगमेनोक्तम् । **वस्तुतस्तु** स्वमते यथोद्भूतरक्तरूपवज्जपाकुसुमेन स्वसन्निहितस्फटिके रक्तिमापरिणामो जन्यते तथैवोद्भूतशीतस्पर्शवदन्धकारेण स्वसम्बद्धशरीरे शैत्यपरिणाम उत्पाद्यत इत्याशयेनाऽऽह- **तत्परिणाम-कत्वाद्वेति** । शैत्यपरिणामकत्वाद्वेति । तमो देहस्पर्श शीतत्वेन परिणामयतीति तमस उद्भूतशीतस्पर्शवत्त्वसिद्धि । न हि नीलोत्पल स्वसमीपस्थस्फटिकरूप कदापि रक्तत्वेन परिणामयति ।

नैयायिक शङ्कते - **नन्विति** । **तर्हीति** । तमस उद्भूतशीतस्पर्शवत्त्वेऽभ्युपगम्यमाने । **तमसि तत्प्रतीति·** = शैत्यधी ,

अन्धकार शीतस्पर्शवाला है - प्राचीन जैनाचार्य

इदानी इति । प्रकरणकार महोपाध्यायजी ने यहाँ तक 'उद्भूत नील रूप उद्भूतस्पर्श का अव्याप्य होने से अन्धकार मे उद्भूतस्पर्शाभाव से उद्भूतनीलरूपाभाव की सिद्धि नही हो सकती है' ऐसा अपनी प्रतिभा से प्रतिपादन कर के अब पूर्व जैनाचार्य के मत को बताते है । पूर्वाचार्यो का यह कथन है कि —> 'गाढ अन्धकार के समय रात्रि मे ''अभी मेरा शरीर शीतल हो गया है'' ऐसा सभी लोगो का अनुभव है । इस अनुभव से अन्धकार मे उद्भूत स्पर्श भी सिद्ध होता हे । इसलिए ''अन्धकार मे उद्भूत स्पर्श न होने से उद्भूत नील रूप भी नही रहता हे'' ऐसा नही कहा जा सकता' <— । ऐसा प्रतिपादन करने वाले ज्ञानवृद्ध जैनाचार्यो का अभिप्राय यह हे कि - जेसे जल मे उद्भूत शीत स्पर्श होने पर ही जलसपर्क से अपने शरीर मे शीतलता का भान हो सकता है । ठीक वेसे ही अन्धकार मे उद्भूत शीत स्पर्श होने पर ही उसके सयोग से अपने शरीर मे शैत्य की प्रतीति हो सकती हे । उद्भूत शीतस्पर्शवाले जल से जब शरीर सयुक्त होता है तब शरीर मे रहे हुए शीतत्व का ज्ञान होता हे । अर्थात् उद्भूतशीतस्पर्शविशिष्ट ही जल स्वसयुक्त(शरीर)समवेतत्वसम्बन्ध से शरीरस्पर्श मे शीतत्व-प्रकारक ज्ञान का जनक होता है । ठीक उसी तरह उद्भूत शीत स्पर्श से विशिष्ट ही अन्धकार स्व(अन्धकार)सयुक्त(शरीर)समवेतत्वसम्बन्ध से, जो प्रकरणस्थ परम्परासम्बन्धशब्द से बताया गया है, शरीरस्पर्श मे शीतत्वविशेषणक प्रतीति का जनक हो सकता है। अग्नि आदि मे शीत स्पर्श नही होने से परम्परासम्बन्ध से भी अग्नि शरीरस्पर्श मे शीतत्व की प्रतीति का जनक नही होता है । इसी तरह यदि अन्धकार मे उद्भूत शीत स्पर्श न हो तो कभी भी वह परम्परासम्बन्ध से शरीरस्पर्श का शीतत्वरूप मे भान नही करा सकता । मगर तादृश प्रतीति को अन्धकार उत्पन्न करता है । अतएव वह उद्भूत शीतस्पर्शवाला है । अथवा यह भी कहा जा सकता हे कि जैसे शीतस्पर्श वाला ही जल शरीरस्पर्श का शीतत्वेन परिणमन कर के 'शरीरस्पर्श शीत हे' इस प्रतीति का जनक है । ठीक उसी प्रकार उद्भूत शीतस्पर्श वाला ही अन्धकार शरीरस्पर्श का शीतत्वेन परिणमन करा कर शरीरस्पर्श का शीतत्वेन भान कराता हे - यह भी माना जा सकता हे । अन्धकार मे यदि उद्भूत शीत स्पर्श न हो तब वह शरीरस्पर्श का शीतत्वेन रूपातर केसे कर सकता ? अत अन्धकार मे उद्भूत शीतस्पर्श का स्वीकार आवश्यक हे ।'

ननु इति । यहाँ यह प्रश्न हो कि —> ''यदि अन्धकार मे उद्भूत शीत स्पर्श हे, तो अन्धकार मे शीत स्पर्श का

'विपरीतमेव किं न रोचये' ? 'आलोकस्य चाक्षुषजनकसंयोगाश्रयत्वेन नैवमि'ति चेत् ? न, चक्षुरप्राप्यकारितावादिनामस्माकं तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषकारणत्वस्यैवेष्ट-

❁ जयलता ❁

व्यवहारश्चोपलक्षणं तादृशज्ञानस्य । यथा घटाभावाभावस्य घटसमनियतत्वेन घटेनैव घटाभावाभावव्यवहारोपपत्तेः घटाभावाभावस्य न घटातिरिक्तत्वं तथैव तमस आलोकाभावसमनियतत्वेन तेनैव तमोव्यवहारोपपत्तौ तस्य नालोकाभावव्यतिरिक्तत्वं, गौरवादिति नैयायिकाशयः । तदपाकरणाय प्रकरणकृत् प्रतिबन्द्या प्राह- **विपरीतमेव** = 'तमोऽभावेनैवाऽऽलोकव्यवहारोपपत्तेर्नालोकस्य द्रव्यत्वकल्पनमि'त्येव, **किं न रोचयेः** ? 'घटो नास्ती'ति प्रतीत्या यथा घटाभावोऽवश्यक्लृप्तः तथा 'तेजो नास्ती'तिधिया तेजोऽभावोऽप्यवश्यक्लृप्तत्वेनोपपादनीयः येन तमसः तदात्मकत्वं स्यात् । तच्च न सम्भवति, तेजोलक्षणाऽतिरिक्तद्रव्ये माना-भावात्, तमोद्रव्याऽभावस्यैव तेजस्त्वसम्भवात्, तमोद्रव्याभावेनैवाऽऽलोकव्यवहारोपपत्तेः, तस्याऽऽलोकसमनियतत्वादित्येव किन्न स्यात् ? इति प्रतिबन्द्याशयः । **एतेन** 'अन्धकाराभाव एव तेजः किन्न स्यादिति तु न सम्यक्, उष्णस्पर्शभास्वररूपवुद्धेरनु-पपत्तेः' (मु दि पृ ९३) इति **महादेवभट्टवचनमपि प्रत्याख्यातम्**, 'आलोकाभाव एव तमः किन्न स्यादिति तु न सम्यक्, तमस्युद्भूतशीतस्पर्श-नीलरूप-कर्म-विभागादिवुद्धेरनुपपत्तेः' इत्यस्याऽऽपि जागरूकत्वात् । **एतेनोष्णस्पर्शान्यथानुपपत्त्या तेजसो-भावरूपत्वमावश्यकमिति** (मु प्र पृ ९३) **नृसिंहशास्त्रिवचनं प्रतिबन्द्याकलितमिति दर्शितम्** ।

नैयायिकः साम्प्रतमालोकस्य तमोऽभावात्मकत्वे बाधकमाह- **आलोकस्येति** । **चाक्षुषजनकसंयोगाश्रयत्वेन** = चक्षु-रिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारजनकसंयोगाधिकरणत्वेन **नैव** = नालोकस्य तमोऽभावात्मकत्वकल्पनं, संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्यमात्रवृत्ति-त्वात्, तदाश्रयस्य द्रव्यत्वौचित्यात् । एकावच्छेदेनाऽऽलोकवति अपरभागावच्छेदेन चक्षुःसंयोगाच्चाक्षुषापत्तेर्निराकरणाय चक्षुः-संयोगावच्छेदकावच्छिन्नाऽऽलोकसंयोगस्य हेतुत्वाऽभ्युपगमेन तदाश्रयस्याऽऽलोकस्य द्रव्यत्वमावश्यकमिति नैयायिकाभिप्रायः ।

भो ! नैयायिक ! यदि चक्षुः प्राप्यकारि स्यात्तदा तु चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगत्वेन चाक्षुषहेतुत्वं सम्पनीपद्येत । परं तदेव नास्ति । अतो न तदाश्रयत्वेनालोकस्य द्रव्यत्वमुपपद्येत । अस्तु वा 'तुष्यतु' इति न्यायेन चक्षुषः प्राप्यकारित्वं तथापि न तादृशालोकसंयोगत्वेन चाक्षुषकारणताऽवच्छेत्तुमर्हति, आलोकसंयोगं विनाऽपि मन्दान्धकारदशाया शुक्लबलाकादिचाक्षुषोपलम्भेन व्यतिरेकव्यभिचारात् । तदनुरोधेन तमःसंयुक्तविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति तमःसंयुक्तविषयक-ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यताविशेषस्य कारणताऽस्माकमभिमतेति न चाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताश्रयत्वेना-ऽऽलोकसंयोगकल्पना युक्तिमती, येन तदाश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्वं सिध्येतेत्याशयेन प्रकरणकारः दर्शितनैयायिकमतं निरा-करोति - नेति । **चक्षुरप्राप्यकारितावादिनामिति** । एतद्विशेषणोपादानेन चक्षुःसंयोगस्य चाक्षुषकारणताशरीरबहिर्भावः कृतः । **तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रति** = तमःसंयुक्तद्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति । **अनेनाऽऽलोकसंयोगस्य चाक्षुषकारणता प्रति-**

को उसका विषय मानने मे लाघव है, क्योकि आलोकाभाव उभयमतसिद्ध है, जब कि अन्धकार नामक नवीन द्रव्य वादी-प्रतिवादीउभय के मत मे सिद्ध नही है । जहाँ जहाँ प्रकाशाभाव होता है, वहाँ वहाँ अन्धकार का व्यवहार होता है ओर जहाँ जहाँ अन्धकार का व्यवहार होता है, वहाँ वहाँ प्रकाशाभाव अवश्य रहता है । समनियत होने की वजह अन्धकारत्वप्रकारक प्रतीति के विशेष्यविधया आलोकाभाव (=प्रकाशाभाव) का अंगीकार करना ही उचित है, न कि अतिरिक्त द्रव्य का<— ।'' मगर यह नैयायिकमान्यता ठीक नही है । क्योकि इसके खिलाफ मे यह भी कहा जा सकता है कि- ''प्रकाश अन्धकाराभाव-स्वरूप ही हे, न कि अतिरिक्त द्रव्य, चूँकि जहाँ जहाँ प्रकाश का व्यवहार होता है, वहाँ वहाँ अन्धकारद्रव्याभाव रहता हे और जहाँ जहाँ अन्धकारद्रव्याभाव रहता हे, वहाँ वहाँ ही प्रकाश का व्यवहार होता है । इसलिए 'यह प्रकाश है' इस व्यवहार के विषयरूप मे अतिरिक्त प्रकाश का स्वीकार करने की अपेक्षा अन्धकाराभाव का ही स्वीकार क्यो न किया जाय'' ? अतः अन्धकार को प्रकाशाभावस्वरूप मानना या प्रकाश को अन्धकाराभावस्वरूप मानना ? इस विषय मे कोई नियामक नही है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''अन्धकार प्रकाशाभावस्वरूप माना जा सकता है, क्योकि इस पक्ष मे कोई बाधक नही है । मगर प्रकाश को अन्धकाराभावस्वरूप नही माना जा सकता, क्योकि आलोक (= प्रकाश) तो चाक्षुषप्रत्यक्षजनक आलोकसंयोग का आश्रय है । आलोक का द्रव्य के साथ संयोग द्रव्यादिविषयक चाक्षुष साक्षात्कार का जनक है, जो आलोकवृत्ति हो कर ही चाक्षुष प्रतीति को उत्पन्न करता हे, अन्यथा अन्धकारस्थित द्रव्य का भी चक्षुरिन्द्रिय-संयोग से साक्षात्कार होने लगेगा । संयोग तो गुण है । गुण का आश्रय द्रव्य ही होता हे । अतः आलोक (= प्रकाश)

त्वात् । न च तादृशयोग्यता विनाऽपि किञ्चिद्देशेन तम संयुक्तद्रव्यग्रहाद् व्यभिचार इति वाच्यम्, तम·संयुक्तांशग्रहे तादृशयोग्यताया अवश्याऽपेक्षणात्,

❀ जयलता ❀

क्षिप्ता, त विनैव मन्दान्धकारस्थितद्रव्यचाक्षुषोदयात् । गाढान्धकारावस्थितद्रव्यगोचरज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविरहादेव नाऽस्माक तच्चाक्षुषमिति नाऽन्वयव्यभिचार । शेषश्चैतत्प्रस्तावे भावितमेव ।

ननु माऽस्त्वन्वयव्यभिचार , व्यतिरेकव्यभिचारस्तु कथ पराकार्य ?, एकावच्छेदेनालोकवति अपरभागावच्छेदेन तमोवति द्रव्ये आलोकावच्छेदकावच्छेदेन चाक्षुषोदयात् । न च तत्रालोकावच्छेदेन तच्चाक्षुषोदये आलोकसयोगस्यैव हेतुत्वस्वीकारान्न व्यभिचार इति वाच्यम्, मन्दतम सयोगावच्छेदकावच्छेदेन तच्चाक्षुषोदयस्याऽप्यानुभविकत्वात्, निरवच्छिन्नतम सयुक्तद्रव्यविषयक-ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यताविरहेऽपि तादृशतम सयुक्तचाक्षुषोदयेन व्यतिरेकव्यभिचारो दुरुद्धर इति शङ्का निरसितुमुपक्रमते- न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वय । तादृशयोग्यता = आलोकसयोगानाश्रय-निरवच्छिन्नतम सयोगाश्रयाऽन्यतर-विषयकज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यता विनाऽपि किञ्चिद्देशेन तमःसयुक्तद्रव्यग्रहात् अमुकावच्छेदकावच्छिन्नतम.सयोगाश्रयद्रव्यविषयकचाक्षुषोदयात्, व्यभिचारः = व्यतिरेकव्यभिचार । अत तादृशयोग्यताविशेषस्य न तम सयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति कारणत्व भवितुमर्हतीति शङ्काशय ।

प्रकरणकारो व्यतिरेकव्यभिचारमपाकरोति - तमःसयुक्तांशग्रहे इति । तम सयोगावच्छेदकावच्छेदेन द्रव्यचाक्षुषोदये सति । तादृशयोग्यतायाः = तम सयुक्तांशविषयक-ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमस्वरूपयोग्यताया अवश्यापेक्षणात् । न हि वय तम सयुक्तगोचरचाक्षुष प्रति कारणविधया तम सयोगावच्छेदकीभूतांशविषयक निरवच्छिन्नतम सयुक्तद्रव्यविषयक वा ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम योग्यताशब्देन प्रतिपादयाम येन व्यतिरेकव्यभिचार. प्रतिष्ठा लभेत किन्तु चाक्षुषविषयविषयकज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम योग्यताशब्देनाऽभिदधाम । स च मन्दान्धकारसयोगावच्छेदकावच्छेदेन द्रव्यचाक्षुषोदयदशायामप्यस्त्येवेति न व्यभिचार । न ह्येकावच्छेदेनालोकसयोगवतो द्रव्यस्य मन्दान्धकारसयोगावच्छेदकविषयकज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविरहे मन्दतम सयोगावच्छेदकांशगोचरलौकिकचाक्षुष भवितुमर्हति ।

भी चाक्षुषजनक सयोग (गुण) का आश्रय होने से द्रव्यात्मक ही है, न कि अन्धकाराभावस्वरूप । इसलिए आलोक को द्रव्यात्मक एव अन्धकार को आलोकाभावस्वरूप मानना मुनासिब है'' <— तो यह भी ठीक नही है । इसका कारण यह है कि नैयायिकसम्प्रदाय मे चक्षु को प्राप्यकारी मानी जाती हे, न कि जैनमत मे । हम चक्षु को अप्राप्यकारी ही मानते हे । इस विषय का विवेचन पूर्व[1] मे किया गया है। चक्षु अप्राप्यकारी होने से चक्षु.सयोगावच्छेदकावच्छिन्न आलोकसयोग को चाक्षुषप्रत्यक्ष का कारण नही मानते है । दूसरी बात यह है कि प्रकाश न होने पर भी मन्द अन्धकार मे अवस्थित द्रव्य का चाक्षुष होता है । इसलिए आलोकसयोग को स्वतन्त्ररूप से भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण नही माना जा सकता। अन्धकारस्थित द्रव्य के चाक्षुष के प्रति तो योग्यताविशेष को ही कारण माना जा सकता है । जब कि तम.सयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुषमात्र के प्रति आलोकसयोग की कारणता बाधित है । तब चाक्षुषत्वावच्छेदेन (= सभी चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति आलोकसयोग को कैसे कारण कहा जा सकता है ? जिसकी वजह उसका आश्रय होने के सबब प्रकाश मे द्रव्यत्व की सिद्धि नैयायिक महाशय की ओर से हो सके । मद अन्धकारस्थित द्रव्य का चाक्षुष भी अनुभवसिद्ध होने से यही मानना उचित हे कि तम सयुक्तद्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छेदेन योग्यताविशेष ही कारण हे ।

☰ योग्यताविशेष चाक्षुष का अव्यभिचारी कारण है - स्याद्वादी ☰

न च तादृ इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह शका की जाय कि —> ''तम सयुक्त द्रव्यविषयक चाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष को कारण नही माना जा सकता, क्योकि तब व्यतिरेक व्यभिचार उपस्थित होता है । वह इस तरह, जब द्रव्य के एक भाग मे आलोकसयोग होता है और अन्य भाग मे अन्धकारसयोग होता हे तब उस द्रव्य का चाक्षुष साक्षात्कार होता हे । मगर उसके प्रति आलोकसयोग को ही कारण माना जा सकता है, न कि योग्यताविशेष को, क्योकि सर्वथा मन्द अन्धकार मे अवस्थित द्रव्य के चाक्षुष की जैसी योग्यता होती है, वैसी योग्यता तो अमुक भाग मे प्रकाश से एव अन्य भाग मे अन्धकार से सयुक्त द्रव्य के चाक्षुषस्थल मे नही हो सकती है । तादृश योग्यताविशेष के अभाव मे भी अमुक

१ देखिये पृष्ठ ५२-७२ ।

अंशाशिनो. कथञ्चिद्भेदस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । 'मूले वृक्ष· कपिसंयोगी'त्यत्र हि 'मूलाश-

❀ जयलता ❀

नन्वेवमपि व्यभिचारो दुर्निवार , मन्दतम. सयोगावच्छेदकाशविषयकयोग्यतादशाया चक्षुषा तदशग्रहे तदभिन्नत्वेनाऽवयविनोऽपि ग्रहादित्याशङ्कायामाह- **अशाशिनोरिति** । अवयवाऽवयविनो । **कथञ्चिद्भेदस्य च** = स्याद्भिन्नत्वस्य, **हि प्रत्यक्षसिद्धत्वा**दिति । तदेव दर्शयति- **मूल** इति । अय स्याद्वादिनोऽभिप्राय., यत्रैकस्यैव घटस्यार्द्ध मदतमसि अर्द्धश्चालोके तत्र मन्दतमोऽवच्छेदेन न घटद्रव्यस्य चाक्षुष किन्तु तम सयोगावच्छेदकाशस्यैव चाक्षुषम् । यदि च तत्र घटभानमानुभविक तदा तत् स्मृत्यनुमानादिरूपमवगन्तव्यम् । अत एवाऽऽलोकावच्छेदेन रक्तरूपवति तमोऽवच्छेदेन श्यामरूपवति पटे आलोकाभिमुखचक्षुर्दशाया 'रक्तोऽयमि'त्यस्य देशापेक्षया प्रामाण्योपपत्ते·, अन्यथा यावदवयवचक्षु सन्निकर्षस्य कुत्राऽप्यसम्भवेन अनेकतत्सयोगस्य चाऽतिप्रसञ्जकत्वेन न कदाऽपि रूपनिश्चयो भवेत् । द्विहस्तादिमात्रे पटेऽनावृतैकहस्तावच्छेदेन महत्त्वग्रहोऽपि देशापेक्षयैव प्रमाणम् । अत एव आवरणाऽपगमे स्कन्धापेक्षया परिमाणे द्विहस्तत्वग्रहेऽपि तावदवच्छेदेन हस्तत्वग्रहस्य नाऽप्रामाण्यम्, देशस्कन्धभेदेनोभयोपपत्ते । यदि चावयवद्वारा सर्वत्रैवावयविन प्रत्यक्ष भवत्येवेत्यङ्गीक्रियेत, तदा निखातघटबुध्नदेशदर्शने 'किमय घट आहोस्वित् शराव उदस्वित् कपाल यदुत कपालिका वा ?' इति सशयो न स्यात् । अतो यद्देशाभिमुख चक्षु· तदशस्यैव चाक्षुषमुपगन्तव्यम् । ततश्च मन्दतम सयुक्तावयविविषयकयोग्यताविरहसमकालीन-मन्दतम सयोगावच्छेदकाशविषयक-योग्यतादशाया चक्षुषाऽशग्रहेऽप्यशिनोऽग्रहादेव न व्यतिरेकव्यभिचारावकाश । इदञ्च भेदनयपुरस्कारेणोक्त द्रष्टव्यम् । तेन नैकान्तवादप्रवेश इति ध्येयम् ।

अथवा प्रस्तुतशङ्का-समाधानवार्तासङ्गतिरेव कार्या । तत्राऽय नैयायिकाशय योग्यताविशेषस्य तम सयुक्तद्रव्यचाक्षुपकारणता न युक्ता, एकावच्छेदेनालोकवतोऽपरावच्छेदेन च तम सयोगवतो द्रव्यस्य तम सयुक्तत्वेऽपि आलोकाभिमुखचक्षुपा ग्रहात्, आलोकेनैव तदुपपत्तौ तत्र योग्यताविशेषकारणत्वस्य कल्पयितुमशक्यत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारात् । अत्रेद स्याद्वावादिसमाधान, एव, तम.सयुक्तद्रव्यचाक्षुपोदयस्य चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसयोगेनोपपादनेऽपि एकावच्छेदेनालोकवतोऽपरावच्छेदेन तम.-सयोगवतो द्रव्यस्य तम.सयुक्ताशे चाक्षुषस्य चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसयोगेनोपपादयितुमशक्यत्वात्, तत्राऽस्मदभिमतयोग्यताविशेपस्यैवाऽवश्याश्रयणीयत्वात्, तम सयुक्ताशगोचरचाक्षुपत्वस्यैव योग्यताविशेपकार्यतावच्छेदकत्वेन व्यतिरेकव्यभिचाराऽयोगात् । न चाऽवयवाऽवयवितादात्म्यपक्षे तम सयुक्तचाक्षुपे दर्शितालोकसयोगस्य कारणता तम सयुक्ताशचाक्षुपे च तस्याऽकारणता कथ स्यादिति **वक्तव्यम्**, देश-स्कधयो कथञ्चिद्भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन सर्वथातादात्म्यस्य बाधात् । दृष्टो हि 'मूले वृक्ष कपिसयोगी'त्यत्र 'मूलाशवृक्ष कपिसयोगी'त्याकारिका प्रमा । न हि तत्राऽभेदवादिनाऽपि वृक्षे कपिसयोगाऽपृथग्भावभान वक्तु युज्यते, अन्यथा तदानी 'शाखाया वृक्ष कपिसयोगी'त्यस्याऽपि प्रामाण्य स्यात् । न चैवमस्ति, मूले एव कपिसयोगतादात्म्यसत्त्वात्, न तु शाखायाम् । ततश्च तम सयुक्ताशचाक्षुपे योग्यताविशेपस्य न व्यभिचारित्वमिति फलितम् ।

ननु स एव नयनाभिमुखभागे एकत्र पटाद्यावृतो द्रव्याशो यदा नयनपराङ्मुखभागे तम सयोगवान् नयनाभिमुखानावृतभागे चालोकसयोगवान् तदा तच्चाक्षुष प्रति तु आलोकसयोगावच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य चक्षु सयोगस्यैव हेतुत्व युक्त न तु

अश मे तम.सयुक्त द्रव्य का चाक्षुप प्रत्यक्ष होने से व्यतिरेक व्यभिचार अनिराकार्य हे'' <— तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह हे कि तमःसयुक्त अश के चाक्षुप के लिए तो योग्यताविशेप की अपेक्षा जरूर रहती हे । अमुक भाग मे आलोक एव अमुक भाग मे अन्धकार से सयुक्त द्रव्य के आलोकवाले भाग का चाक्षुप भले आलोकसयोग से हो जाये मगर आलोकसयोगशून्य अन्धकारवाले भाग के चाक्षुप के लिए तो योग्यताविशेप को ही कारण माना जा सकता है । अत. व्यतिरेक व्यभिचार निरवकाश है । यहाँ यह प्रश्न करना कि —> 'एक ही द्रव्य के चाक्षुप मे आलोक की कारणता एव अकारणता कैसे हो सकती है ?' <— नामुनासिव है, क्योकि अवयव और अवयवी मे कथचिद्भेद प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है । अत. आलोकवाले भाग के चाक्षुप के प्रति आलोक की कारणता एव आलोकशून्य भाग के चाक्षुप के प्रति आलोक की अकारणता हो सकती है । अत. तम·सयुक्त अश के चाक्षुप के प्रति योग्यताविशेप की कारणता अवाधित है । अश-अशी मे भेद प्रत्यक्षसिद्ध हे इसका यह दृष्टान्त है कि 'मूले वृक्ष· कपिसयोगी' इस वाक्य से 'मूलाशवृक्ष कपिसयोग वाला है' ऐसा प्रमात्मक शाब्दबोध होता है, क्योकि मूलावयव मे ही कपिसयोग का अपृथग्भाव हे, न कि सपूर्ण वृक्षात्मक अवयवी मे । इसलिए मूल (= जड़) एव वृन मे कथचित्भेद मानना आवश्यक हे । इस परिस्थिति मे तम सयुक्त द्रव्याश के प्रति योग्यताविशेप को कारण मानना मुनासिव ही है ।

वृक्ष कपिसंयोगी'त्येव प्रमीयते, तदंश एव कपिसंयोगाऽविष्वग्भावात् । न च तस्मिन्नेवांऽशे नयनपराङ्मुखतम·शालिन्यपि प्रत्यक्षोदयात् आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्यैव द्रव्यचाक्षुषे हेतुत्वमुचितमिति वाच्यम्, घूकादिचाक्षुषानुरोधेन चक्षुरुन्मुखतम·संयोगवच्चाक्षुष प्रति योग्यताविशेषहेतुत्वस्यैवाऽवश्याऽऽश्रयणीयत्वात् ।

आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुष प्रति तस्य हेतुत्वमस्त्विति नाऽभिधानीयम्, आलोकजन्यतावच्छेदकनियतरूपाऽपरिचयात्,

❊ जयलता ❊

योग्यताविशेषस्येति नैयायिकशङ्का परास्कर्तुमुपक्रमते- न चेति । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । तस्मिन्नेवांशे = तम सयुक्त-द्रव्यांशे, प्रत्यक्षोदयात् = चाक्षुषसाक्षात्कारोत्पत्ते । आलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगस्यैवेति । आलोकसयोगस्याऽवच्छेदको यो भाग तदवच्छिन्नस्य = तन्नियन्त्रितस्य चक्षु सयोगस्य । एकभागे आलोकसयोगस्याऽपरभागे च चक्षु सयोगस्य सत्त्वे चाक्षुष न भवतीत्यत 'आलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्ने'ति चक्षु सयोगविशेषणमुपादत्तम् । एवकारेण च योग्यताविशेषस्य व्यवच्छेद कृत । द्रव्यचाक्षुषे हेतुत्व = द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यत्वनिरूपितकारणत्वम् । तन्निरासे प्रकरणकृद्धेतुमुपदर्शयति - घूकादि-चाक्षुषानुरोधेनेति । आदिपदेन मार्जारादिग्रहणम् । अय समाधानाशय , अन्यतम सयोगाश्रयीभूतद्रव्यचाक्षुष कौशिकादीना भवत्येव । न च तत्रालोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसयोगो वर्तते । अत तत्र स्थले योग्यताविशेषस्यैव कारणतोपगन्तव्या परैरपि । अनेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति आलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगस्य कारणत्व प्रत्युक्तम्, व्यतिरेकव्यभि-चारात्, आलोकसयोगस्याऽन्यथासिद्धत्वापत्ते , चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेन चक्षु सयोगविरहाच्च ।

ननु भवतु योग्यताविशेषस्याऽऽलोकाऽजन्यद्रव्याचाक्षुष प्रति हेतुत्व न तु द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति, कस्यचित् चाक्षुष-स्याऽऽलोकसयोगजन्यत्वात् । अतोऽपि तदाश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्व सेत्स्यतीति नैयायिकाशऽऽङ्काया प्रकरणकार आह- आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषमिति । आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नमिति । तस्य = योग्यताविशेषस्य, हेतुत्व = कारणत्व, अस्त्विति न अभिधानीय = नैव वाच्यम् । अत्र हेतुमाह- आलोकजन्यतावच्छेदकनियतरूपाऽपरिचयादिति । आलोकाऽ-जन्यद्रव्यचाक्षुष प्रति योग्यताविशेषस्य हेतुत्वमित्यङ्गीकारे 'आलोकजन्यद्रव्यचाक्षुषेतरद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति तद्धेतुत्वमि'ति लभ्यते । आलोकजन्यद्रव्यचाक्षुषस्य प्रसिद्धौ तदितरद्रव्यचाक्षुषत्वस्य योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदकत्व स्यात्, नाऽन्यथा, घटकाऽ-प्रसिद्धौ घटिताऽप्रसिद्धे । न च घटादिद्रव्यचाक्षुषत्वस्य तथात्वमस्त्विति वाच्यम्, अन्धतमस्यपि देवताया तच्चाक्षुषोदयात् । न चालोकजन्यद्रव्यचाक्षुष प्रसिद्धमिति वाच्यम्, आलोकजन्यतावच्छेदकनियतधर्माऽप्रसिद्धे । न च देवतेतरसमवेतद्रव्य-

न च त इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "तम सयुक्त जिस द्रव्यांश का योग्यताविशेषजन्य चाक्षुष बताया गया है, वही द्रव्यांश जब चक्षु के पराङ्मुख भाग मे ही अन्धकारसयोगवाला और चक्षु के सन्मुख भाग मे आलोकसयोग वाला होता है, तभी भी उसका चाक्षुष होता है । उसके प्रति तो आलोकसयोगावच्छेदक भाग से अवच्छिन्न (= नियन्त्रित) चक्षुसयोग को ही कारण मानना उचित है, न कि योग्यता को । इसलिए द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोक-सयोगावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसयोग को ही कारण मानना उचित है" <— तो यह नैयायिककथन असगत है । इसका कारण यह है कि द्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्न (= सभी द्रव्यचाक्षुष) के प्रति आलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसयोग को कारण मानने पर व्यतिरेक व्यभिचार उपस्थित होता है । वह इस तरह - उल्लू पक्षी, बिल्ली आदि की चक्षु के अभिमुख अन्धकार होता है तभी भी उन्हे द्रव्यचाक्षुष होता है । तब आप नैयायिक महाशय का अभिमत उल्लूचक्षुसयोग आलोकसयोगावच्छेदक भाग से अवच्छिन्न = नियन्त्रित नही है, फिर भी द्रव्यचाक्षुष होता है । वहाँ तो योग्यताविशेष को ही कारण मानना होगा । इसलिए द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न के प्रति आलोकसयोगावच्छिन्नचक्षु सयोग को कारण नही माना जा सकता, जिसके फलरूप मे कारणताअवच्छेदक आलोकसयोग के आश्रय होने से आलोक मे द्रव्यत्व सिद्ध हो सके ।

❊ द्रव्यचाक्षुषमात्र का योग्यताविशेष कारण है - स्याद्वादी ❊

आलोकाऽज इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "उल्लू आदि का द्रव्यचाक्षुषसाक्षात्कार आलोकाऽ-जन्य होने पर भी सब द्रव्यचाक्षुष को योग्यताविशेषजन्य कहना उचित नही है । उल्लू आदि के चाक्षुष के अनुरोध से यह कहना ठीक है कि आलोकाऽजन्य द्रव्यचाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष कारण है, जिससे अर्थत यह सिद्ध हो जायेगा कि उससे भिन्न द्रव्यचाक्षुष के प्रति आलोकसयोग कारण है । इस तरह उसके आश्रयरूप मे आलोक मे द्रव्यत्व की सिद्धि हो

आलोकजन्यत्वाऽज्ञाने तदऽजन्यत्वाऽज्ञानात् । 'आलोकाऽसयुक्तचाक्षुषं प्रति तस्य हेतुत्वमि'-त्यपि न वक्तुं युक्तम्, महदुद्भूताऽनभिभूतरूपवत्तन्निवेशे गौरवात् ।

※ जयलता ※

चाक्षुषत्वमेवाऽऽलोकजन्यतावच्छेदकमिति वाच्यम्, घूकादिसमवेते द्रव्यचाक्षुषे व्यभिचारात् । न च पक्षिदेवतेतरसमवेतद्रव्य-चाक्षुषत्वमस्तु तथेति वक्तव्यम्, विडालसमवेते द्रव्यचाक्षुषे व्यतिरेकव्यभिचारात् । न च पशुपक्षिदेवतेतरसमवेतद्रव्यचाक्षुषत्वे तत्त्व वक्तु युज्यते, गौरवात्, अञ्जनादिसस्कृतचक्षुषा चौरादीना द्रव्यचाक्षुषे व्यभिचाराच्च । एतेन मनुष्यसमवेतद्रव्यचाक्षुषत्व-स्याऽप्यालोकजन्यतावच्छेदकत्व प्रत्युक्तम् । तत्कार्यतावच्छेदकाऽप्रसिद्धौ तदवच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया आश्रयत्वमा-लोकस्य कथ सभवेत् ? येनाऽऽलोकजन्यचाक्षुष सिध्येत, आलोकनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकाश्रयाऽप्रसिद्धौ च कथमा-लोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुष सिद्धिसौधमारोहेत् ? अप्रसिद्धनिषेधाऽयोगादित्याशयेनाऽऽह- **आलोकजन्यत्वाऽज्ञाने** इति । **तदजन्य-त्वाऽज्ञानात्** = आलोकाऽजन्यत्वाऽप्रसिद्धे । **एतेन** योग्यताविशेषाऽजन्यचाक्षुषत्वमालोकजन्यतावच्छेदकमिति **निरस्तम्**, ज्ञप्तौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।

नन्वस्त्वालोकाऽसयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्वस्यैव योग्यताविशेषजन्यतावच्छेदकत्वमिति नैयायिकाशङ्कायामाह- **आलोकाऽसयुक्त-चाक्षुष प्रतीति** । आलोकसयोगशून्यद्रव्यविषयकचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति । **तस्य** = योग्यताविशेषस्य, **हेतुत्व** = निमित्त-कारणत्व, **इत्यपि**, किमुताऽऽलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुष प्रतीत्यपिशब्दार्थ , **न वक्तु युक्तम्** । आलोकपरमाणुसयुक्तघटादिद्रव्यस्य मन्दतमसि चाक्षुषोदयेनाऽऽलोकाऽसयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्वस्य योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदकत्वाऽसम्भवात् । न च महदाऽऽलोकाऽ-सयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति योग्यताविशेषस्य कारणतेति **वक्तव्यम्**, त्वदभिमतमहदनुद्भूतचक्षूरश्मिसयुक्तघटादि-द्रव्यस्य मन्दतमसि चाक्षुषोदयेन महदालोकाऽसयुक्तचाक्षुषत्वस्याऽप्यतिरिक्तवृत्तित्वात् । **न च** महदुद्भूतालोकाऽसयुक्तचाक्षुष-त्वस्य तथात्व **श्रद्धेयम्**, मन्दतमसि महदुद्भूतरूपवदालोकलक्षणसुवर्णद्रव्यचाक्षुषस्यापि योग्यताविशेषजन्यत्वेन तद्दोषतादवस्थ्यात् । **न च** महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाऽसयुक्तचाक्षुषत्वस्यैव तत्त्वम् । सुवर्णरूपस्याऽभिभूतत्वेन सुवर्णगगनसयोगस्याऽतथात्वान्न दोष. । ततश्च योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदकघटकीभूततादृशालोकसयोगाश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्व सेत्स्यतीति **वाच्यम्**, कार्यताऽ-वच्छेदककोटेरतिगुरुत्वापत्तेरित्याशयेनाऽऽह-**महदुद्भूतानभिभूतरूपवत्तन्निवेशे** इति । महत्परिमाणोद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकस्य योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदककोटौ निवेशे । **गौरवात्** = अप्रामाणिकमहागौरवात् । ततश्च द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति योग्यता-विशेषस्य कारणता स्वीकर्तव्या । अतो नालोकसयोगाऽऽश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्व सिध्येत ।

सकती है'' <— तो यह उचित नही है । इसका कारण यह है कि योग्यताविशेष को आलोकाऽजन्य द्रव्यचाक्षुष का कारण कहने का मतलब यह होता है कि वह आलोकजन्य द्रव्यचाक्षुष से भिन्न द्रव्यचाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण है । इसलिए जब तक आलोकजन्यत्व का किसी द्रव्यचाक्षुष मे भान नही होगा तब तक एक भी द्रव्यचाक्षुष मे आलोकाऽजन्यत्व (=आलोकजन्यभेद) का ज्ञान नही हो सकता, क्योकि प्रतियोगी का ज्ञान अभावज्ञान मे कारण होता है । तथा द्रव्यचाक्षुष मे आलोकजन्यत्व का निश्चय तब हो सकता है, यदि द्रव्यचाक्षुषवृत्तित्वेन आलोकजन्यताअवच्छेदक नियत धर्म का बोध है । अवच्छेदक का ज्ञान न होने पर तदवच्छिन्न का ज्ञान नही हो सकता है । शाखा का ज्ञान न होने पर शाखावच्छिन्नत्वरूप से कपिसयोग का अवबोध नही होता है । मगर आलोकजन्यतावच्छेदक नियत धर्म अप्रसिद्ध है । कौन कौन द्रव्यचाक्षुष साक्षात्कार आलोक से ही जन्य है, न कि योग्यताविशेष से ? यह अभी तक अनिश्चित है । अत. आलोकाजन्य चाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष को कारण नही माना जा सकता ।

आलोकास इति । यहाँ यह नैयायिककथन हो कि —> ''आलोकाऽसयुक्त द्रव्य के चाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष को और आलोकसयुक्त द्रव्य के चाक्षुष के प्रति आलोकसयोग को कारण मानने मे कोई बाध नही है । इस तरह भी आलोक मे द्रव्यत्व की सिद्धि हो सकती है । इसलिए आलोकाऽसयुक्तद्रव्यचाक्षुषत्व ही योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदक हो सकता है'' <— तो यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि योग्यताविशेषकार्यतावच्छेदक धर्म के घटकविधया जिस आलोक का प्रवेश किया गया है, वह आलोकसामान्य न हो कर आलोकविशेष है । आलोकविशेष का मतलब है महत्परिमाण एव उद्भूत अनभिभूत रूपवाला आलोक, क्योकि मन्द अन्धकार मे आलोकपरमाणु, नैयायिकसमत नयनरश्मिस्वरूप आलोक एव सुवर्णात्मक आलोक के सयोग वाले घटादि द्रव्य का योग्यताविशेष से चाक्षुष साक्षात्कार होता है । अत. योग्यताविशेषकार्यता-

योग्यताविशेषश्च 'तदंशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम' इति न विशेषपदार्थाऽनिरुक्ति । परेण तु चक्षु.सयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणता वक्तव्या । सा च न सम्भवति,

❀ जयलता ❀

वस्तुत आलोकाञ्जनरसायनादीना ज्ञानावरणक्षयोपशमे एवोपक्षीणत्वाद्द्रव्यचाक्षुष प्रति न कारणत्वम्, निरूपयिष्यमाणाऽन्यथासिद्धिग्रस्तत्वात् । यद्यपि तदशविषयकस्याऽऽलोकाद्युद्बोध्यज्ञानावरणक्षयोपशमस्य तदशविषयकक्षायोपशमिकज्ञान प्रत्येव कारणत्व तथापि चक्षुरादिविशेषसामग्रीसहकारेण तदशविषयकचाक्षुषादिसाक्षात्कारोत्पत्तिर्न विरुद्धेत्यादिक विभावनीय सुधीभि समयानुसारेण ।

ननु स्याद्वादिनये योग्यताविशेषस्य कारणमपि विशेषपदार्थाऽपरिचयादसम्भवदुक्तिकमित्याशङ्कायां प्राह- योग्यताविशेषश्चेति । 'तदशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम' इति । केवलिना चाक्षुषविरहात् 'क्षयोपशम' इत्युक्तम् । बहलतमे तमसि घूकादीना घटादिचाक्षुषोदयात् अन्येषाञ्च तदनुदयात् प्रकृते 'विषयग्रहणपरिणामरूपभावेन्द्रियग्राह्यतापरिणामो विषयनिष्ठो योग्यताविशेष' इत्यनुक्त्वा 'विषयाशे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमो योग्यताविशेष' इत्युक्तम् । योग्यताविशेषस्य विषयनिष्ठत्वे तु तत्तत्पुरुषीयत्वनिवेशावश्यकत्वेन गौरवतादवस्थ्यात् ।

परेण = नैयायिकेन तु चक्षु.सयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वेनेति । चक्षु सयोगस्य योऽवच्छेदक तदवच्छिन्नो यो महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोग तत्त्वेनेति । द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न = लौकिकद्रव्यचाक्षुषमात्र प्रति कारणता = निमित्तकारणता वक्तव्या । अन्यथा चक्षु सयोगावच्छेदकानवच्छिन्न-महत्परिमाणशून्यानुद्भूताभिभूतालोकसयोगादपि नयनपराङ्मुखादिद्रव्यचाक्षुषापत्ते । यद्यपि योग्यताविशेषाऽपेक्षया दर्शितकार्यकारणभावे गौरव स्फुटमेव । न च फलमुखत्वेन तस्याऽदोषत्वमिति वाच्यम्, लघुगत्यन्तरस्योपस्थितौ प्रमाणप्रवृत्तिसमये सिद्ध्यसिद्धिभ्या व्याघातेन फल-

अवच्छेदक धर्म महत्परिमाणोद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगशून्यद्रव्यचाक्षुषत्व होगा, जो अत्यत गुरु (बडा) धर्म होने से गौरवदोषावह है। इसकी अपेक्षा उचित यही है कि सभी द्रव्यचाक्षुष के प्रति योग्यताविशेष को कारण माना जाय, जिसका कार्यतावच्छेदकधर्म द्रव्यचाक्षुषत्व होगा, जो अत्यत लघु है । इसलिए द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छेदेन योग्यताविशेष को कारण मानना ही ठीक है । अत. आलोक मे द्रव्यत्व की सिद्धि नही हो सकेगी ।

❀ योग्यताविशेष का निर्वचन ❀

योग्य इति । यहाँ यह कहना कि -> 'योग्यताविशेष मे विशेष पदार्थ की व्याख्या नामुमकिन होने से द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न के प्रति योग्यताविशेष को कारण नही माना जा सकता है'' <- असगत है, क्योंकि योग्यताविशेष का अर्थ है उस अश मे ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम । तदशविषयक ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर तदश का चक्षु के सहकार से चाक्षुष साक्षात्कार होता है और उसके अभाव मे चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता है । इसलिए द्रव्यचाक्षुष के प्रति उक्तस्वरूप योग्यताविशेष को कारण कहने मे कोई दोष नही है । वस्तुत तदशविषयक ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम तदशविषयक केवल चाक्षुष का कारण नही है किन्तु तदशविषयक मत्यादि ज्ञान का कारण है । फिर भी नेत्रादि इन्द्रियविशेष के सहकार से वह चाक्षुषादि ज्ञानविशेष का जनक होता है ।

❊ आलोकसंयोगकारणतापक्ष में विनिगमनाविरह ❊

परेण इति । स्याद्वादी के मतानुसार द्रव्यचाक्षुष का कारणताअवच्छेदक धर्म तदशविषयक ज्ञानावरणक्षयोपशमत्व होता है, जो लघुभूत है । जब कि नैयायिक को द्रव्यचाक्षुष के कारणतावच्छेदकधर्मविधया चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्व का अगीकार करना पडेगा, जो अत्यतगुरुभूत है । जिस भाग मे चक्षुसयोग हो उसी भाग मे जब महत् परिमाण एव उद्भूत और अनभिभूत रूप के अधिकरणीभूत आलोक का सयोग होता है, तभी उस भाग का चाक्षुष होता है - ऐसी नैयायिक विद्वानो की मान्यता है । मगर यह कारणता नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि द्रव्यचाक्षुष के प्रति चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्न महदुद्भूतानभिभूतरूपाश्रयालोकसयोग को कारण मानना या महदुद्भूतानभिभूतरूपाश्रयालोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसयोग को कारण मानना ? इस विषय मे कोई निर्णायक युक्ति नही है । अत द्रव्यचाक्षुषकारणता-

आलोकसयोगस्याऽप्यवच्छेदकत्वसम्भवे विनिगमनाविरहात् । एतेन —> स्वाऽवच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसम्बन्धेनाऽप्यालोकसंयोगस्य कारणत्व <— प्रत्युक्तम्, चक्षु.संयोगस्यापि स्वावच्छेदकावच्छिन्नाऽऽलोकसयोगसम्बन्धेन तथात्वे विनिगमकाऽभावात् ।

❀ जयलता ❀

मुखत्वाऽयोगात्, **तथापि** तादृशकारणताया असम्भवे हेत्वन्तरमाह- **आलोकसयोगस्याऽऽपीति** । **अवच्छेदकत्वसम्भवे** = चक्षु सयोगाऽवच्छेदकघटकत्वकल्पने **विनिगमनाविरहादिति** । द्रव्यचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति चक्षु'सयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगः कारण यदुत महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्न-चक्षु.सयोग. ? इत्यत्रैकतरपक्षपातियुक्तिविरहात् द्रव्यचाक्षुपत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकघटकविधया चक्षु सयोग इव तादृशालोकसयोगोऽपि कल्पयितु शक्यत इति द्वितयमपि तादृशकारणतावच्छेदकघटक स्यादित्युभयोरतिगुरुभूतयो तद्घटितयो· कारणताकल्पनापत्ति । चक्षु सयोग-तादृशालोकसयोगयो स्वातन्त्र्येण हेतुत्वे तु एकावच्छेदेन तादृशालोकसयोगवतो द्रव्यस्याऽपरभागावच्छेदेन चक्षु - सयोगाच्चाक्षुपापत्ते ।

एतेनेति । विनिगमनाविरहेणेति । अस्याऽग्रे 'प्रत्युक्तमि'त्यनेनाऽन्वय. । **स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसयोगसम्बन्धेनेति** । स्वपदेनाऽऽलोकसयोगस्य ग्रहणम् । **आलोकसयोगस्य** = महत्परिमाणोद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगस्य **कारणत्व** = द्रव्य-चाक्षुपत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वम् । **विपयतासम्बन्धेन** द्रव्यचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति महदुद्भूतानभिभूतालोकसयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगसम्बन्धेन कारणम्, यथा नयनाभिमुखालोकसयोगाश्रयद्रव्ये चक्षु सयोग-तादृशालोकसयोगयोरवच्छेदकैक्यतादशाया तादृशालोकसयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगसम्बन्धेन यत्र द्रव्याशे वर्तते तत्रैव विपयतासम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुप जायते । यदा त्वेकभागावच्छेदेन तादृशालोकसयोगोऽपरभागावच्छेदेन च चक्षु सयोग तदा तदवच्छेदकभेदात्तादृशालोकसयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगेन न कुत्राऽपि वर्तते, तादृशचक्षु सयोगस्यालोकसयोगावच्छेदकानवच्छिन्नत्वादिति केपाञ्चिन्नैयायिकाना मतम् ।

प्रकरणकार तन्निरासे हेतु कण्ठत आह - **चक्षुःसयोगस्याऽपि स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसयोगसम्बन्धेन तथात्वे** = द्रव्यचाक्षुपकारणत्वसम्भवे, **विनिगमकाऽभावादिति** । विपयतासम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति कि महदुद्भूतानभिभूतालोकसयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगसम्बन्धेन कारण यदुत चक्षु सयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्नमहदुद्भूतानभिभूतालोकसयोगसम्बन्धेन कारण ? इत्यत्रैकतरसाधकबाधकयुक्तिविरहान्नैकस्यैव द्रव्यचाक्षुपकारणत्व वक्तु युज्यते । न हि चक्षु - सयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसयोगसम्बन्धेन द्रव्यचाक्षुपकारणत्वे किमपि बाधकमस्ति, तयोरवच्छेदकाभिन्नत्वे एव चक्षु - सयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसयोगसम्बन्धेनाश्रये विपयतासम्बन्धेन द्रव्यलौकिकचाक्षुपस्य जायमानत्वात् । परो विनिगमक-

अवच्छेदकशरीर के घटकविधया चक्षु.सयोग की भाँति तादृशालोकसयोग का भी निवेश मुमकिन होने से निश्चित रूप से एक का ग्रहण नही हो सकता है और दोनो का ग्रहण करने मे अत्यत गोरव है । इसलिए द्रव्यचाक्षुप के प्रति दर्शित आलोकसयोग को कारण नही माना जा सकता ।

एतन इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "द्रव्यचाक्षुप के प्रति आलोकसयोग ही कारण हे ओर कारणतावच्छेदक सम्बन्ध है स्वावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसयोग । स्वपद से द्रव्यचाक्षुपकारणीभूत आलोकसयोग का ग्रहण अभिमत है । वह द्रव्य के जिस भाग मे रहता है, वह भाग आलोकसयोग का अवच्छेदक होता हे, उसी भाग मे यदि चक्षुसयोग रहता हो तव वह आलोकसयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्न-चक्षुसयोग सम्बन्ध से उसी भाग मे रहता है ओर विपयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुप भी वही रहता है । भिन्न भिन्न भागावच्छेदेन आलोकसयोग और चक्षुसयोग द्रव्य मे रहने पर चक्षु.सयोग आलोकसयोगावच्छेदक भाग से अवच्छिन्न नही होता हे । अतएव तव द्रव्यचाक्षुप के उदय का आपादन नही किया जा सकता, क्योकि उस अवस्था मे द्रव्य मे आलोकसयोग स्वावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसयोग सम्बन्ध से नही रहता ह" <— तो यह भी नामुनासिव हे, क्योकि अव भी विनिगमनाविरह दोप से नेयायिक मुक्त नही हो सकता । नैयायिक के उपर्युक्त कथन के खिलाफ मे यह भी कहा जा सकता है कि विपयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुप का चक्षुसयोग ही स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसयोगसम्बन्ध से कारण हे । यह कथन अयुक्त है और नैयायिककथन युक्तिसगत हे - इस विपय मे कोई साधक-वाधक तर्क नही हे। इसलिए आलोकसयोग-कारणता विनिगमनाविरहग्रस्त होगी । इस परिस्थिति मे या तो दोनो मे कारणता माननी पडेगी या

अथ चक्षु सयोगस्यैव निरुक्तसम्बन्धेन तथात्वमस्तु, महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक-संयोगत्वस्य चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वस्य वाऽपेक्षया चक्षु.संयोगत्वस्य कारण-तावच्छेदकत्वे लाघवादिति चेत् ? न, सम्बन्धविधया तत्प्रवेशे तवाऽपि साम्यात् । सम्बन्ध-

❋ जयलता ❋

मुपदर्शयति - अथेति । चक्षुःसयोगस्येवेति । एवकारेणालोकसयोगव्यवच्छेद कृत । निरुक्तसम्बन्धेन = स्वावच्छेद-कावच्छिन्न-महदुद्भूतानभिभूतालोकसयोगससर्गेण, तथात्व = द्रव्यचाक्षुषहेतुत्व, अस्तु । ननु महदुद्भूतानभिभूतालोकसयोगस्य एव स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगससर्गेण द्रव्यचाक्षुषहेतुत्वे कि बाधकमस्ति, येन भवदुपदर्शितकार्यकारणभाव स्वात्मप्रतिष्ठा लभेत ? इत्याशङ्काया पर आह - महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वस्येति । अस्याऽग्रे 'कारणतावच्छेदकत्वे' इत्यत्राऽन्वय । नैयायिक प्रतिवादिमते सभवल्लघुकारणतावच्छेदकमाह - चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वस्य वेति । महत्परि-माणोद्भूतरूपाश्रयस्यैव परमते चाक्षुषत्वसम्भवात् तत्स्थाने 'चाक्षुषे'त्युक्तम् । शेष पूर्ववत् । चक्षुःसयोगत्वस्य कारणतावच्छेद-कत्वे = द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकत्वे लाघवादिति । कारणतावच्छेदकधर्मशरीरलाघवादिति । आलोकसयोगस्य निरुक्त-ससर्गेण तत्कारणत्वे महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्व चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्व वा तत्कारणतावच्छेदक स्यात् । चक्षु सयोगस्य निरुक्तससर्गेण तथात्वे तु चक्षु सयोगत्वमेव तत्कारणतावच्छेदक स्यात् । तत्र चक्षु सयोगत्वस्यैव लघुत्वाच्चक्षु -सयोगस्यैव निरुक्तसम्बन्धेन तद्धेतुत्व कल्पयितुमुचितमिति अथाशयः ।

आलोककारणतावादी तन्निराकुरुते - नेति । सम्बन्धविधया = कारणतावच्छेदकससर्गरूपेण, तत्प्रवेशे = महदुद्भूतान-भिभूतरूपवदालोकसयोगत्व-चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वाऽन्यतरनिवेशे, तव नैयायिकस्य अपि साम्यात् = तुल्यगौर-वात् । चक्षु सयोगस्य तद्धेतुत्वे तूपदर्शितगुरुतरधर्मघटितद्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धे यादृश गौरव तादृशमेव गौरव महदु-द्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगस्य तत्कारणत्वे मम द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्मे इति तुल्यगौरवमुभयपक्षे ।

ननु कारणतावच्छेदकधर्मशरीरगौरवमेव दूषण न तु कारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरगौरवमित्याशङ्काया स्याद्वाद्याह- सम्बन्ध-

दोनो मे अकारणता । दोनो मे कारणता मानने मे तो भारी गौरव है और एक को भी कारण न मानने पर आलोक मे द्रव्यत्व की सिद्धि न हो सकेगी ।

❋ धर्मगौरव की भाँति सम्बन्धगौरव भी दोष - स्याद्वादी ❋

अथ च इति । यदि यहाँ नैयायिक की ओर से ऐसा कहा जाय कि —> ''विषयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु.सयोग सम्बन्ध से आलोकसयोग का कारण नही माना जा सकता, क्योकि गाढ अन्धकारस्थित द्रव्य के साथ आलोकपरमाणु का, चक्षुरश्मिस्वरूप आलोक को एव सुवर्णात्मक आलोक का सयोग होने पर भी उस द्रव्य का चाक्षुष नही होने से द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदक धर्म आलोकसयोगत्व नही हो सकता किन्तु महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्व हो सकता है अथवा चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्व । महत्परिमाण एव उद्भूत रूपवाले द्रव्य का ही चाक्षुष साक्षात्कार होने से वह चाक्षुष भी कहा जा सकता है । मगर यह कारणतावच्छेदक धर्म अत्यन्त गुरु है । इसकी अपेक्षा चक्षुसयोग को ही दर्शितसम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष का कारण मानना उचित है, क्योकि तब कारणतावच्छेदक धर्म चक्षुसयोगत्व ही होता है, जो अत्यन्त लघु है । अतः आलोकसयोग को द्रव्यचाक्षुष का कारण मानने की अपेक्षा चक्षुसयोग को ही उसका कारण मानना उचित है'' <— तो यह भी असगत है । इसका कारण यह है कि आलोकसयोग को स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसयोगसम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष का कारण मानने पर हमारे मत मे जैसे कारणतावच्छेदक धर्म के शरीर मे गौरव है, ठीक वैसे ही आप नैयायिक महाशय को चक्षुसयोग को *स्वावच्छेदकावच्छिन्नमहदुद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकसयोगसम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष* का कारण मानने की वजह कारणतावच्छेदकसम्बन्ध के शरीर मे गौरव होता है । हमारे अभीष्ट कारणतावच्छेदकधर्म का आप नैयायिक विद्वान् कारणतावच्छेदकसम्बन्ध के घटकरूप मे स्वीकार करते है । अतः द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्मशरीर मे जो हमारे मत मे गौरव प्रसक्त होता है, वही गौरव आप नैयायिक मनीषी के पक्ष मे द्रव्यविषयकचाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरांश मे है । अतः आपके अभिमत कार्य-कारणभाव की अपेक्षा हमारे अभीष्ट कार्य-कारणभाव के अगीकार मे ज्यादा गौरव नही है, तुल्य गौरव है । यहाँ यह भी नही कहना चाहिए कि —> ''कारणतावच्छेदक धर्म के शरीर मे जो गौरव है, वही दोषात्मक है, न कि कारणतावच्छेदक सम्बन्ध के शरीर मे प्रविष्ट गौरव भी । इसलिए विषयतासम्बन्ध से द्रव्यविषयक चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति चक्षुसयोग को कारण मानने पर कारणतावच्छेदक सबन्ध के शरीर मे जो गौरव प्रसक्त होता है वह

गौरवाऽदोषत्वप्रवादस्य निर्युक्तिकत्वात् । विजातीयालोकसंयोगत्वेनैव तद्धेतुत्वमित्यन्ये ।

अथ द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयता-द्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतादिसम्बन्धभेदेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्यालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोग-तत्संयुक्तसमवायादेर्नाना-हेतुताकल्पने गौरवात्,

❀ जयलता ❀

गौरवाऽदोषत्वप्रवादस्य = 'सम्बन्धगौरवस्य निर्दोषत्वमि'ति प्रवादस्य, **निर्युक्तिकत्वात्** = अप्रामाणिकत्वात् । अत कारण-तावच्छेदकधर्मशरीरगौरववत् कारणतावच्छेदकसम्बन्धदेहगौरवस्याऽपि दुष्टत्वमेव । विनिगमकाऽभावादुभयो सदोषत्व निर्दोषत्व वा स्यात्, न त्वेकतरस्येति निरुक्तसम्बन्धेन चक्षु सयोगवत् प्रदर्शितससर्गेण महदुद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकसयोगस्याऽपि तद्धेतुत्वे विनिगमनाविरहस्य वज्रलेपायमानत्वेनोभयो गुरुतरसम्बन्धधर्मघटितकारणत्वप्राप्तावप्रामाणिकमहद्गौरवमिति तात्पर्यम् ।

यदि च साम्प्रदायिकप्रवादप्रवाहपतित पर सम्बन्धगौरवाऽदोषत्वकदाग्रह नैव परित्यजेत्तदा स्वपक्षेऽपि आलोक-कारणतावादिनो द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्मशरीरलाघवमुपदर्शयन्ति - **विजातीयाऽऽलोकसयोगत्वेनैवेति** । एवकारेण महदु-द्भूतानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वस्य चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वस्य च गुरुतरधर्मस्य व्यवच्छेद कृत । **तद्धेतुत्व** = द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति कारणत्वम् ।

उपदर्शितचक्षु सयोगकारणतावादिमतमुन्मूलयितुमालोकसयोगकारणतावादी उपक्रमते - **अथेति** । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वय । **द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयता-द्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतादिसम्बन्धभेदेनेति** । आदिशब्देन द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्तिलौकिकविषयता-द्रव्यवृत्त्यभावविशेषणताख्यलौकिकविषयता-द्रव्यसमवेतवृत्त्यभावविशेषणताभिधानलौकिकविषयता-द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्त्यभावविशेष-णतात्मकलौकिकविषयताना ग्रहणमभिप्रेतम् । **चाक्षुषत्वावच्छिन्न** = लौकिकचाक्षुषसाक्षात्कारत्वावच्छिन्न **प्रति, आलोकसयो-गावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसयोग-तत्सयुक्तसमवायादेरिति** । आदिपदेन तत्सयुक्तसमवेतसमवाय-तत्सयुक्तविशेषणता-तत्सयु-क्तसमवेतविशेषणता-तत्सयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणताना परिग्रह कार्य । **नानाहेतुताकल्पने गौरवादिति** । चक्षु सयोगस्य चाक्षुषकारणतोपगमे षट्कार्यकारणभावस्वीकारगौरवम् । तथाहि - (१) द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति आलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगस्य समवायेन हेतुत्व यथा घटचाक्षुष प्रति तादृशचक्षु सयोगस्य । अत्र चाक्षुष-निष्ठकार्यतावच्छेदकसम्बन्धविधया द्रव्यवृत्तिविषयतोपादाने 'चैत्रस्याय पुत्र' इत्यादिचाक्षुषे चैत्राद्यशे व्यभिचार स्यादित्यतो

दोषरूप नही है । जब कि आलोक-सयोगकारणतावाद मे कारणतावच्छेदकधर्म के शरीर मे गौरव प्राप्त होने से वह सदोष है । इसलिए आलोकसयोग को द्रव्यचाक्षुष का कारण नही माना जा सकता'' <— यह नैयायिककथन इसलिये नामुनासिब है, कि 'सम्बन्धशरीर मे गौरव निर्दोष है' यह प्रवाद निर्युक्तिक होने से हमे स्वीकार्य नही है । जेसे अवच्छेदकधर्मशरीर मे प्रविष्ट गौरव दोषात्मक माना जाता है, ठीक उसी तरह अवच्छेदकसम्बन्धशरीरगत गौरव को भी सदोष मानना ही सगत प्रतीत होता है । अतः चक्षुसयोगकारणतावादी के मत मे कारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरगत गौरव मे निर्दोषता की घोषणा करना नितात अयोग्य है। अतः दोनो पक्ष मे गौरव समान ही हे ।

विजाती० इति । यहाँ अन्य विद्वानो का यह कथन हे कि आलोककारणतावादी की ओर से महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक-सयोगत्व या चाक्षुषानभिभूतरूपवदालोकसयोगत्व की अपेक्षा लघुभूत विजातीयालोकसयोगत्व का द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्मविधया स्वीकार किया जा सकता है । ऐसा मानने पर कारणतावच्छेदकधर्मशरीर मे गौरव का अवकाश नही है । अतः विषयता सम्बन्ध से द्रव्यचाक्षुष के प्रति चक्षुसयोग की भाँति आलोकसयोग को कारण मानने मे कारणतावच्छेदकधर्मशरीर मे भी गौरव का अवकाश न होने से विनिगमनाविरह दोष वज्रलोप बनता है । इसी दोष की वजह दर्शित सम्बन्ध से चक्षुसयोग को द्रव्यचाक्षुषकारण नही माना जा सकता, यह फलित होता हे ।

विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसयोगकारणता मे गौरव - आत्मनिष्ठप्रत्यासत्तिवादी

पूर्वपक्ष :- अथ द्रव्य इति । यहाँ आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से आलोकसयोग को विजातीय चाक्षुष का कारण मानने वाले विद्वान लोग विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुःसयोग को चाक्षुष का कारण मानने वाले मनीषियो के पक्ष मे दोष का उद्भावन करते हुए कहते है कि —> ''चक्षुःसयोग को विषय मे रख कर चाक्षुष का कारण मानने पर अनेक कार्य-कारणभाव की कल्पना आवश्यक बनने से कार्यकारणभावबाहुल्य होता है, जो दोषस्वरूप माना जाता है । वह इस तरह-द्रव्यनिष्ठलौकिक विषयता सम्बन्ध से चाक्षुष के प्रति आलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसयोग को कारण मानना होगा, जैसे घटविषयक

लाघवात् समवायेन तमस्तद्व्याप्यभिन्नीयलौकिकविषयितावच्चाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य

❀ जयलता ❀

लौकिकत्वाख्यविषयताविशेषोपादानम् । एवमग्रेऽपि स्वयमेव भावनीयम् । (२) द्रव्यसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न-चक्षुःसंयोगाश्रयसमवायस्य स्वरूपेण यद्वा तादृशचक्षुःसंयोगस्य स्वाश्रयसमवायेन हेतुत्वं यथा घटरूपचाक्षुषं प्रति दर्शितस्वरूपस्य । (३) द्रव्यसमवेतसमवेतनिष्ठलौकिकविषयतासंसर्गेण चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोक-संयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयसमवेतसमवायस्य स्वरूपेण यद्वा तादृशचक्षुःसंयोगस्य स्वाश्रयसमवेतसमवायेन हेतुत्वं यथा घटरूपसमवेतरूपत्वचाक्षुषं प्रति व्यावर्णितलक्षणस्य । (४) द्रव्यवृत्त्यभावनिष्ठविशेषणतात्मकलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयविशेषणताया हेतुत्वं यथा भूतलवृत्तिघटाभावचाक्षुषं प्रति तस्या । (५) द्रव्यसमवेतवृत्त्यभावनिष्ठविशेषणतास्वरूपलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयसमवेतविशेषणत्वस्य स्वरूपेण यद्वा तादृशचक्षुःसंयोगस्य स्वाश्रयसमवेतविशेषणतासम्बन्धेन कारणत्वं यथा घटनीलवृत्तिरूपाभावचाक्षुषं प्रति निरूपितहेतो । (६) द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्त्यभावनिष्ठविशेषणतालक्षणलौकिकविषयतासंसर्गेण चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगाश्रयसमवेतसमवेतविशेषणत्वस्य स्वरूपेण यद्वा तादृशचक्षुः-संयोगस्य स्वाश्रयसमवेतसमवेतविशेषणतासम्बन्धेन हेतुत्वं यथा रूपत्ववृत्तिरूपाभावचाक्षुषं प्रति व्याख्यातकारणस्य । कार्यता-वच्छेदककारणतावच्छेदकधर्मसम्बन्धान्यतमभेदेऽपि कार्यकारणभावो भिद्यते, घटकभेदे तद्घटितभेदात् । ततश्च विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या चक्षुःसंयोगकारणतावादिनये प्रदर्शितषट्कार्यकारणभावाऽङ्गीकारस्याऽऽवश्यकत्वान्महद्गौरवम् ।

साम्प्रतमात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगकारणतावादी स्वपक्षे लाघवमाविष्करोति - लाघवादिति । विषयनिष्ठप्रत्या-सत्त्या चक्षुःसंयोगकारणतापक्षाऽपेक्षया लाघवादिति । समवायेनेति । अनेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः प्रदर्शितः । तमस्तद्-व्याप्यभिन्नीयलौकिकविषयितावच्चाक्षुषं = तमस्तद्व्याप्यभिन्ननिरूपितलौकिकविषयिताश्रयचाक्षुषलक्षणं कार्यं प्रति आलोकसंयोग-

लौकिकचाक्षुष द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध से घट मे रहता है और उसी घट के एक ही भाग मे आलोकसंयोग एवं चक्षुसंयोग रहने पर आलोकसंयोग के अवच्छेदक भाग से अवच्छिन्न चक्षुसंयोग भी घट मे रहता है । कार्य और कारण इस तरह विषयनिष्ठ सम्बन्ध से समानाधिकरण बनने से उन दोनो के बीच कार्य-कारणभाव संगत हो सकता है । मगर घटनीलरूपविषयक चाक्षुष की उपपत्ति प्रदर्शित कार्य-कारणभाव से नही हो सकती है, क्योंकि उक्त चाक्षुष का विषय घटनीलरूप है, जो गुण है न कि द्रव्य । अतः द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध मे वह चाक्षुष घटनीलरूप मे न रह सकेगा (उत्पन्न नही हो सकेगा) । अतः यहाँ कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता न हो कर द्रव्यसमवेतनिष्ठ लौकिक विषयता होगा, क्योंकि घटनीलरूप घट द्रव्य मे समवेत होने से द्रव्यसमवेतनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध से घटनीलरूपचाक्षुष घटनीलरूप मे रह सकता है । वहाँ चक्षुःसंयोग नही रह सकता, क्योंकि घटनीलरूप गुण है और चक्षुसंयोग भी गुण है तथा गुण मे गुण नही रहता है । इसलिए आलोक-संयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसंयोगाश्रयसमवाय को ही घटनीलरूपचाक्षुष का कारण मानना होगा । तादृश चक्षुसंयोग का आश्रय नील घट है, जिसका समवाय घटनीलरूप मे रहता है । इसलिए द्रव्यसमवेतनिष्ठ लौकिकविषयता सम्बन्ध से चाक्षुष के प्रति आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसंयोगाश्रयसमवाय को कारण मानना होगा । यह दूसरा कार्य-कारणभाव हुआ । इस तरह अन्य कार्यकारणभाव का स्वीकार रूपत्वादिविषयक चाक्षुष के अनुरोध से करना पड़ेगा । अतः विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चाक्षुष प्रत्यक्ष के कारणविधया चक्षुःसंयोगादि की कल्पना गौरवदोषग्रस्त है ।

आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से आलोकसंयोग मे कारणताकल्पना लघु है

लाघवा इति । विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग मे कारणता की कल्पना की अपेक्षा आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से आलोकसंयोग मे कारणता की कल्पना करने मे लाघव है । आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार रहता है, क्योंकि वह गुण है । अतः कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय है । चाक्षुषात्मक कार्य आत्मा मे रहता है । इसलिए उसके कारण आलोकसंयोग का भी आत्मा मे रहना आवश्यक है, क्योंकि कार्य और कारण समानाधिकरण होने पर ही उन दोनो मे कार्य-कारणभाव हो सकता है । आलोकसंयोग और चक्षुसंयोग एक भाग मे रहने पर ही चाक्षुष साक्षात्कार का उदय होता है । तथा उस चक्षुसंयोग के आश्रय चक्षु से मन का संयोग होता है और मन का विजातीय संयोग आत्मा के साथ होता है । अतः आलोकसंयोग स्व(=आलोकसंयोग)अवच्छेदक(विषयभाग)अवच्छिन्नचक्षुसंयोगाश्रय(चक्षु) संयुक्तमनप्रतियोगिक-आत्मानुयोगिक-विजातीय-संयोगसंबन्ध से आत्मा मे रहता है । यद्यपि ज्ञानमात्र के प्रति आत्ममनसंयोग कारण है । फिर भी चाक्षुषजनक आत्ममनःसंयोग स्पार्शनादिजनक आत्ममनःसंयोग से विजातीय = भिन्नजातिवाला होता है । इसलिए कारणतावच्छेदकसम्बन्ध मे तादृशसंयोग

स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षु:संयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनैव कारणता कल्प्यते । चक्षुःसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुः-संयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन तथात्वे तु स्फुटमेव गौरवम्, सम्बन्धगौर-

❀ जयलता ❀

स्येति । 'कारणते'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । आत्मनिष्ठप्रत्यासत्तिवादी स्वपक्षे कारणतावच्छेदकसम्बन्धमाह - **स्वावच्छेदकावच्छिन्न-संयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनैवेति** । स्वपदेन आलोकसंयोगस्य ग्रहणम् । तदवच्छेदको यो विषयांऽश तदवच्छिन्न संयोग = चक्षु.संयोग , तदाश्रयीभूतेन चक्षुषा संयुक्त मन तत्प्रतियोगिक आत्मानुयोगिक यो विजातीयसंयोग तत्सम्बन्धेनैवेत्यर्थ । तेन सम्बन्धेन आलोकसंयोग आत्मनि वर्तते तत्रैव च समवायसम्बन्धेन दर्शितचाक्षुष वर्तते । अन्धकारप्रत्यक्षे तमोव्याप्यालोकसंयोगाभावचाक्षुषे च नालोकसंयोगापेक्षेति आलोकसंयोगकार्यघटकभेदकोटौ तदुभय-विषयनिवेश । **न च** कारणतावच्छेदकसम्बन्धो विजातीयत्वेन किमर्थं विशेषित इति **वाच्यम्**, रासनादिसाक्षात्कार-जनकात्म-मन संयोगव्यवच्छेदकृते तस्याऽवश्यकत्वात् । **यद्यपि** प्रतिक्षणमात्ममन.संयोगो भिद्यते, मनस· चञ्चलत्वात् **तथापि** चाक्षुष-जनकतावच्छेदकजातिविशेषसत्त्वान्न व्यतिरेकव्यभिचार । एवञ्चात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्यैकविधकारणत्वेन लाघवमेव मत्पक्षे विनिगमकमिति भाव ।

ननु भवतु ममाऽपि चक्षु संयोगस्याऽऽत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या कारणत्वमिति चक्षु संयोगकारणतावाद्याशङ्का मनसिकृत्य आलोकसंयोगकारणतावाद्याह - **चक्षुःसंयोगस्येति** । **स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुःसंयुक्तमनः-प्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनेति** । स्वपदेनाऽत्र चक्षु संयोगस्य ग्रहणम् । चक्षु संयोगस्याऽवच्छेदको यो विषयवृत्ति· भाग तदवच्छिन्नो य आलोकसंयोग तदवच्छेदक पुन स एव विषयांश तदवच्छिन्नोऽपि पुन स एव चक्षु संयोग , तद्वत् यच्चक्षु तत्संयुक्त यन्मन तत्प्रतियोगिक आत्मानुयोगिको यो विजातीय = रासनादिसाक्षात्कारजनकतावच्छेदकजातिशून्य संयोग स आत्मनि वर्तते । अत तेन सम्बन्धेन चक्षु·संयोगोऽप्यात्मन्यैव वर्तते । एवञ्चाऽऽत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या चक्षु संयोगस्य **तथात्वे** = तमस्तद्व्याप्यभिन्ननिरूपितलौकिकविषयितावच्चाक्षुषकारणत्वे, **तु स्फुटमेव** = स्पष्टमेव **गौरव** = कारणतावच्छेदक-

न कह कर 'तादृशविजातीयसंयोग' ऐसा कहा है । यहाँ यह भी ध्यान मे रहे कि आलोकसंयोग चाक्षुषमात्र का जनक नही होता है, क्योकि अन्धकार = प्रकाशाभाव एव उसके व्याप्य प्रकाशसंयोगाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष आलोकसंयोग के बिना ही होता है । इसलिए आलोकसंयोग का कार्यताअवच्छेदक धर्म भी चाक्षुषत्व न हो कर अन्धकार-तद्व्याप्यभिन्नपदार्थनिरूपितलौकिकविष-यिताश्रयचाक्षुषत्व ही होगा । यहाँ अनेक कार्य-कारणभाव की कल्पना अनावश्यक है, क्योकि चाहे घटचाक्षुष हो, चाहे घटनील-रूपविषयक चाक्षुष हो, चाहे घटनीलरूपत्वविषयक चाक्षुष हो, चाहे घटाभावविषयक चाक्षुष हो, चाहे घटनीलरूपवृत्तिपीतरूपाभाव-विषयक चाक्षुष हो, चाहे नीलरूपत्वजातिवृत्तिरूपाभावविषयक चाक्षुष हो, वे सभी समवाय सम्बन्ध से आत्मा मे ही रहते हैं । अतः आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति (=सम्बन्ध) से आलोकसंयोग मे कारणता का स्वीकार करने मे अनेककार्य-कारणभावकल्पनाऽनावश्यकता-प्रयुक्त लाघव है । यह लाघव ही विनिगमक होने से 'चाक्षुष का कारण चक्षुसंयोग है या आलोकसंयोग ?' इत्याकारक विनिगमना-विरह का अवकाश नही है । इसलिए आलोकसंयोग को ही उसका कारण मानना उचित है - यह फलित होता है ।

❋ चक्षुसंयोग को आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण मानने में गौरव ❋

चक्षुःस इति । यदि यहाँ चक्षुसंयोगकारणतावादी की ओर से यहा कहा जाय कि —> "यदि विषयनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग को चाक्षुष साक्षात्कार का कारण मानने मे दोष है तब उसे आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण मानो । जैसे आलोकसंयोग को आप आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण मानते है, ठीक उसी तरह चक्षुसंयोग को भी आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से चाक्षुष साक्षात्कार का कारण माना जा सकता है । अतः विनिगमनाविरह दोष पुनः प्रसक्त होगा" <— तो यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग को चाक्षुष साक्षात्कार का कारण मानने का मतलब यह होता है कि चक्षुसंयोग आत्मा मे रह कर के आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष को उत्पन्न करता है । मगर चक्षुसंयोग केवल स्वाश्रय-संयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोग सम्बन्ध से आत्मा मे रह कर चाक्षुष को उत्पन्न नही कर [illegible] है, क्योकि तब तो गाढ अन्धकार मे अवस्थित घटादि द्रव्य के साथ चक्षुसंयोग होने पर भी घटादि का च [illegible] , क्योकि तब भी चक्षुसंयोग स्व(= चक्षुसंयोग)आश्रय (= चक्षु)संयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग वाले [illegible] सम्बन्ध से रहता है । इसका निवारण करने के लिए यही कहना होगा कि चक्षुसंयोग स्वाव[illegible]दकावच्छिन्ना[illegible] [illegible] .संयुक्त-

वाऽदोषत्ववादिनाऽपि सम्भवति लघुसम्बन्धे गुरुसम्बन्धाऽकल्पनादिति चेत् ? न, तथापि

❀ जयलता ❀

सम्बन्धशरीरगौरवम् । स्वाश्रयसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगस्य चाक्षुषकारणत्वे तु बहलतमे तमसि घटचक्षुःसन्निकर्षदशायां तच्चाक्षुषापत्तिरिति दर्शितगुरुसम्बन्धस्यैव कारणतावच्छेदकत्वं वाच्यमिति गौरवमेवेति भावः ।

ननु चक्षुःसंयोगकारणतावादिनो मम मते सम्बन्धगौरवस्य दोषत्वं नाऽङ्गीक्रियते किन्तु धर्मगौरवस्यैवेति न तादृश-चाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरगौरवं दोष इति पुनर्विनिगमनाविरहो दुरुद्धर इति नालोकसंयोगस्य तत्कारणत्वं सुघटघटा-कोटिसंघट्टकमाटीकते इत्याशङ्कायामालोकसंयोगकारणतावाद्याह - सम्बन्धगौरवाऽदोषत्ववादिनाऽपीति । किं पुनः सम्बन्धगौरव-दोषत्ववादिनेति अपिशब्दार्थः । सम्भवति लघुसम्बन्धे गुरुसम्बन्धाऽकल्पनादिति । आलोकसंयोगस्य लघुसम्बन्धेन तत्कारण-त्वोपपत्तौ चक्षुःसंयोगस्य गुरुतरसम्बन्धेन तत्कारणत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वान्न प्रकृते विनिगमनविरहः इत्यात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्यैव तद्धेतुत्वकल्पनमुचितमिति तदाश्रयत्वेनालोकस्य द्रव्यत्वसिद्धिरित्यभिप्रायः ।

स्याद्वादी तन्निराकरोति - नेति । यद्यपि आलोकसंयोगस्य दर्शितसम्बन्धेन चाक्षुषकारणत्वे उद्योतस्थपुरुषस्य बहलान्ध-कारस्थवस्तुचाक्षुषसाक्षात्कारोदयापत्तिर्दुर्वारा, आलोकसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीय-संयोगसम्बन्धेनाऽऽत्मनि सत्त्वात् । न च स्वानवच्छेदकानवच्छिन्नचक्षुःसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धे-नाऽऽलोकसंयोगस्य तद्धेतुत्वमिति वाच्यम्, गौरवात्, अन्धकारस्थपुरुषस्याऽऽलोकस्थवस्तुचाक्षुषानुदयप्रसङ्गाच्च तथापि स्फुटत्वा-

मन:प्रतियोगिकविजातीयसंयोग सम्बन्ध से आत्मा में रह कर समवाय सम्बन्ध से आत्मा में चाक्षुष उत्पन्न करता है । गाढ अन्धकार में अवस्थित घटादि में जो चक्षुसंयोग है उसके अवच्छेदक घटादिद्रव्यावयव से अवच्छिन्न आलोकसंयोग ही नहीं होने से उससे घटित सम्बन्ध से चक्षुसंयोग भी आत्मा में नहीं रहता है । मगर जब घट के नयनाभिमुख भाग में आलोकसंयोग रहता है तभी चक्षुसंयोग दर्शित सम्बन्ध से आत्मा में रह सकता है, क्योंकि स्व = चक्षुसंयोग, उसके अवच्छेदक घटावयव में अवच्छिन्न = नियन्त्रित है आलोक संयोग, उसके अवच्छेदकीभूत उसी घटावयव में अवच्छिन्न है वही चक्षुसंयोग, जो ग्रन्थस्थ द्वितीय स्वपद से अभिमत है । तादृश चक्षुसंयोगवाली चक्षु है और उससे संयुक्त है मन, जिसका विजातीय संयोग आत्मा में रहता है । अत: दर्शित सम्बन्ध से चक्षुसंयोग आत्मा में रह सकता है, जो उसी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से घटगोचर चाक्षुष को उत्पन्न करता है । इस तरह चक्षुसंयोग और चाक्षुष में सामानाधिकरण्य एवं कार्यकारणभाव की उपपत्ति करनी होगी । अब महाशय ! चक्षुसंयोगकारणतावादी ! देखिये, आपके मत में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध हुआ स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगा-वच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुसंयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसंयोग और आलोकसंयोग को कारण मानने वाले हमारे मत में कारणतावच्छेदकसम्बन्ध हुआ स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगाश्रयचक्षुसंयुक्तमनप्रतियोगिक विजातीयसंयोग । स्पष्ट ही है कि आत्मनिष्ठप्रत्या-सत्ति में चक्षुसंयोग को चाक्षुष का कारण मानने पर आपके पक्ष में हमारे मत की अपेक्षा गुरुभूत सम्बन्ध है । इसलिए आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग को कारण न मान कर आलोकसंयोग को ही कारण मानना उचित है । यहाँ यह कहना अनुचित है कि —> ''चक्षुसंयोगकारणतावादी हम सम्बन्ध के गौरव को दोषात्मक नहीं मानते हैं । अत: भले हमारे मत में आपके मत की अपेक्षा सम्बन्धशरीर में गौरव हो, फिर भी आत्मनिष्ठ उक्त प्रत्यासत्ति से चक्षुसंयोग को कारण माना जा सकता है'' <—। यह अनुचित न होने का कारण यह है कि सम्बन्धशरीरप्रविष्ट गौरव को दूषण नहीं मानने वाले विद्वान भी गुरुभूत सम्बन्ध का स्वीकार तब करते हैं, जब लघुभूत अन्य सम्बन्ध से कार्यकारणभाव आदि की उपपत्ति न हो सके । जब लघु सम्बन्ध उपस्थित हो और उससे कार्यकारणभाव आदि की संगति हो सके तब तो वे भी गुरुभूत सम्बन्ध की क्लिष्ट कल्पना को मान्य नहीं करते हैं । प्रस्तुत में आलोकसंयोग को कारण मानने पर लघुभूत कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से चाक्षुषोत्पत्ति का समर्थन मुमकिन होने की वजह उसे छोड़कर गुरुभूत सम्बन्ध को कारणतावच्छेदक सम्बन्ध मान कर चाक्षुष की कारणता की चक्षुसंयोग में कल्पना करना नितांत अयोग्य है । इसलिए लाघव सहकार से आलोकसंयोग को ही तादृश चाक्षुष साक्षात्कार का कारण मानना मुनासिब है - यह फलित होता है । जब आलोकसंयोग में कारणता सिद्ध हो गई तब तो उसका आश्रय होने की वजह आलोक में द्रव्यत्व की सिद्धि अनायास ही हो जायेगी । अत: आलोक को अन्धकाराऽभावात्मक न मान कर अन्धकार को ही आलोकाभावात्मक मानना ठीक है । यह हम नैयायिक विद्वानों का तात्पर्य है ।'' <—

❀ आलोकसंयोगाकारणतापक्ष में विनिगमनाविरह - स्याद्वादी ❀

उत्तरपक्ष :- न, तथा इति । आत्मनिष्ठप्रत्यासत्तिवादी का उपर्युक्त कथन असंगत है । इसका कारण यह है कि

सयोगस्य सम्बन्धविधया निवेशाऽनिवेशाभ्या महत्त्वोद्भूतरूपवत्त्वादिविशेषण-विशेष्यभावे च तद्दोषतादवस्थ्यात् । 'स्वावच्छेदकावच्छिन्ने'त्यादिसम्बन्धेन तत्र तम.संयोगस्य प्रतिबन्ध-

❀ जयलता ❀

देतद्दोषजालमुपेक्ष्य स्याद्वादी दोषान्तरमाह - **तथापीति** । आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसयोगस्य तद्धेतुत्वोपगमेऽपीति । **सयोगस्य सम्बन्धविधया** = कारणतावच्छेदकससर्गरूपेण **निवेशाऽनिवेशाभ्यामिति** । अस्याऽग्रे 'तद्दोषतादवस्थ्यादि'त्यने-नाऽन्वय । आलोकसयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नसयोगवच्चक्षु सयुक्तमन प्रतियोगिकविजातीयसयोगसम्बन्धेन तत्कारणत्व यदुताऽ-ऽलोकस्य स्वसयोगावच्छेदकावच्छिन्नसयोगवच्चक्षु सयुक्तमन प्रतियोगिकविजातीयसयोगसम्बन्धेन तद्धेतुत्व ? इत्यत्र कारणतावच्छेदक-सम्बन्धकोटौ सयोगस्य निवेशानिवेशाभ्या विनिगमनाविरहदोषस्य तदवस्थत्वान्नालोकसयोगस्याऽपि कारणत्व सङ्गतिमङ्गति ।

नन्वस्त्वालोकस्यैवोपदर्शितसम्बन्धेन कारणत्व कारणतावच्छेदकधर्मलाघवात्, सम्बन्धगौरवस्य चाऽदोषत्वात् । एवमप्यालो-कस्य द्रव्यत्वसिद्धिरव्याहतेति नैयायिकाशङ्काया स्याद्वादी गत्यन्तरेण विनिगमनाविरहदोष दृढयति - **महत्त्वोद्भूतरूपवत्त्वा-दिविशेषण-विशेष्यभावे** इति । आदिशब्देनाऽनभिभूतरूपवत्त्वग्रहणम् । **तद्दोषतादवस्थ्यात्** = विनिगमनाविरहप्रयुक्तगौरव-दोषस्य दुर्वारत्वात् । आलोकस्यैव दर्शितससर्गेण कारणत्वेऽपि कारणतावच्छेदकधर्मत्वमालोकत्वस्य न सम्भवति आलोकपरमाणु-नयनरश्मि-सुवर्णसयुक्तस्य गाढान्धकारस्थद्रव्यस्य चाक्षुषत्वापत्ते किन्तु महत्परिमाणोद्भूतानभिभूतरूपवदालोकत्वस्यैव तत्त्व गौतमीयेन वक्तव्यम् । तच्च न सम्भवति, उद्भूतानभिभूतरूप-महत्त्ववदालोकत्वस्याऽनभिभूतोद्भूतरूपमहत्त्ववदालोकत्वस्य महदन-भिभूतोद्भूतरूपवदालोकत्वस्य वा कारणतावच्छेदकधर्मत्वे विनिगमनाविरहेण सर्वेषामेव तेषा तत्त्वप्रसङ्गेन महागौरवात् । ततो नालोकस्य कारणता साध्वीति स्याद्वाद्याशय ।

आलोकस्य कारणत्वोपगमे न केवल कारणतावच्छेदकधर्म-तत्सम्बन्धशरीरगौरव किन्तु कार्यतावच्छेदकधर्मदेहगौरव-मपि । समवायेन चाक्षुषत्वस्य तत्त्वेऽन्धकारचाक्षुषे व्यभिचारात् । तमोभिन्नचाक्षुषत्वस्य तथात्वे आलोकसयोगाभावचाक्षुषे व्यभिचारात् । तमस्तद्व्याप्यभिन्नचाक्षुषत्वस्य तथात्वे गौरवात् ।

किञ्च येन सम्बन्धेनालोकसयोगस्य तत्कारणत्व तेनैव सम्बन्धेन तम सयोगस्य प्रतिबन्धकत्वमपि त्वयाऽवश्यमभ्युपेयम्, अन्यथा यत्रैकस्यैव पटस्याऽर्द्धे तमसि अर्द्धश्चालोके तत्र स्थले उभयावच्छेदेन चक्षु सयोगे सति नयनाभिमुखाखिलपटचाक्षुष-मापद्येत । इत्थञ्च तस्य प्रतिबन्धकत्वाऽभ्युपगमस्याऽऽवश्यकत्वे सिद्धे प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वेन तव कारणान्तरकल्पनागौर-वापत्ति । वस्तुत एवमवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तिन तम सयोगाभावादेव कार्यसम्भवे आलोकसयोगस्याऽन्यथासिद्धत्वमित्याशयेन स्याद्वाद्याह - **'स्वावच्छेदकावच्छिन्ने'त्यादिसम्बन्धेनेति** । स्वावच्छेदकावच्छिन्नसयोगवच्चक्षु सयुक्तमन प्रतियोगिकविजातीय-सयोगसम्बन्धेनेति । स्वपदेन तम सयोगस्य ग्रहणम् । शेष पूर्ववद्भावनीयम् । **तत्र** = तमस्तद्व्याप्यभिन्नीयलौकिकविष-

आलोकसयोग को स्वावच्छेदकावच्छिन्नसयोगवच्चक्षुःसयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसयोग सबन्ध से कारण माना जाय या आलोक को स्वसयोगावच्छेदकावच्छिन्नसयोगवच्चक्षुःसयुक्तमनःप्रतियोगिक विजातीयसयोग सम्बन्ध से कारण माना जाय ? इन दो पक्ष मे से एक भी पक्ष की समर्थक युक्ति नही हे । मतलब कि सयोग का कारणशरीर मे प्रवेश किया जाय या कारणतावच्छेदकसम्बन्धदेह मे निवेश किया जाय ? इसका निश्चायक तर्क न होने से 'आलोकसयोग ही दर्शित आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से कारण है' यह नैयायिकप्रतिपादन असगत है । दूसरी बात यह हे कि आलोक को लाघवसहकार से 'स्वसयोगावच्छेदक ' इत्यादि सम्बन्ध से कारण मान भी लिया जाय तो भी आलोकसामान्य तो कारण नही माना जा सकता, क्योकि आलोकपरमाणु, तप्तजलस्थ आलोक, सुवर्णात्मक आलोक होने पर भी तत्सयुक्त द्रव्य का चाक्षुष नही होता है । इसलिए महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक को ही चाक्षुषकारण मानना होगा । मगर यहाँ कारणतावच्छेदक धर्म महदुद्भूतअनभिभूतरूपवदालोकत्व हे या उद्भूताऽनभिभूतरूप-महत्त्ववदालोकत्व है या अनभिभूतोद्भूतरूप-महत्त्ववदालोकत्वादि है ? इस समस्या का कोई समाधान नही होने से सभी का चाक्षुषकारणतावच्छेदक-धर्मविधया स्वीकार करना होगा, जिसकी वजह कार्य-कारणभाव मे अत्यन्त गौरव होगा । इस तरह आलोकसयोगकारणतावादी के पक्ष मे उपर्युक्त विनिगमनाविरह दोष ज्यो का त्यो बना रहने से आलोकसयोग को चाक्षुषकारण नही माना जा सकता ।

❀ अन्धकार में द्रव्यत्वसिद्धि ❀

स्वाव इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य हे कि जैसे आलोकसयोग को स्वावच्छेदकावच्छिन्न सयोगवच्चक्षुःसयुक्तमनः-

कत्वेनोपपत्तेश्च ।

पेचकादिचाक्षुषे व्यभिचारश्च सर्वत्र साधारण दूषणम् । न च नरचाक्षुष प्रत्येव कारणता,

✿ नयलता ✿

यितावच्चाक्षुषसाक्षात्कारे, तमःसंयोगस्य प्रतिबन्धकत्वेन एव उपपत्तेश्चेति । न च 'तमःसंयोगाभावत्वेन न हेतुताऽपि तु आलोकसंयोगत्वेन, लाघवादिति वाच्यम्, महत्त्वोद्भूतानभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वापेक्षया महत्तमःसंयोगाभावत्वस्य लघुत्वात्, परमते महत्त्वोद्भूतत्वादिविशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावाच्च । इत्थञ्च नैयायिकमते आलोकद्रव्यत्वसिद्धिः दुर्घटा । मम तु प्रतिबन्धकीभूतसंयोगाश्रयत्वेन तमोद्रव्यत्वसिद्धिः । इत्थञ्च 'अस्तु तमस एव द्रव्यत्वं आलोकस्य सहकारस्य तु तमोऽभावेनैवो-पपत्ते' इति स्याद्वादिना पर्यनुयुज्यमाने सति नैयायिकेन न किमपि विनिगमकमुपदर्शयितुं पार्यत इति प्रकरणकृदाशयः ।

किञ्चालोकं विना पेचकादिचाक्षुषोदयाद् विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या एव चैत्रादिचाक्षुषे तद्धेतुत्वोपगमो न्याय्यो न त्वात्मनिष्ठ-प्रत्यासत्त्या इत्याशयेन प्रकरणकृदाह - पेचकादिचाक्षुष इति । उलूकादिचाक्षुषसाक्षात्कार इति । तदुक्तं मूलकारैरेव अभि-धानचिन्तामणौ 'घूके निशाटः काकारिः कौशिकोलूकपेचकाः' (अभि.चि.श्लो. १३२४) इति । व्यभिचारः = व्यतिरेक-व्यभिचारः सर्वत्र = आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्य चक्षुःसंयोगस्य तमःसंयोगाभावस्य वा तद्धेतुत्वोपगमे साधारण दूषणम् । स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेनाऽऽलोकसंयोगस्य तमःसंयोगाभावस्य च तथा स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नत्वक्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगस्य पेचकादावसत्त्वेऽपि तत्र समवायेन घटादिचाक्षुषोदयाद् व्यतिरेकव्यभिचारः ।

दर्शितव्यतिरेकव्यभिचारश्चाऽऽत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या आलोकसंयोगस्य तमःसंयोगाभावस्य तद्धेतुत्वेऽन्वयव्यभिचारयोरुपलक्षणम्, आलोकस्थपुरुषस्याऽन्धकारस्थद्रव्यचाक्षुषानुदयादिति ।

नन्वस्त्वालोकसंयोगादेः नरचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव हेतुतेति न पेचकादिचाक्षुषे व्यतिरेकव्यभिचारः, तस्य तत्कार्य-तावच्छेदकानाक्रान्तत्वादिति पराभिप्रायं दूषयितुमुपक्रमते - न चेति । नरचाक्षुष = नरसमवेतचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव आलोक-

प्रतियोगिक विजातीय सयोग सम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार का कारण माना जाता है, ठीक उसी तरह अन्धकारसयोग को उसी सम्बन्ध से चाक्षुष का प्रतिबन्धक भी मानना आवश्यक है, क्योंकि अन्धकारसयुक्त द्रव्य के जिस भाग मे अन्धकारसयोग हो उसी भाग मे चक्षुसयोग होने पर उस द्रव्य का चाक्षुष नही होता है । आत्मा मे तब समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष नही होता है। इसलिए अन्धकारसयोग भी स्व(=अन्धकारसयोग)अवच्छेदकावच्छिन्नचक्षुसयोगाश्रयीभूतचक्षुसयुक्तमनप्रतियोगिक विजातीय सयोग सम्बन्ध से आत्मा मे रहेगा । इस तरह चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से अन्धकारसयोग को प्रतिबन्धक एव उसके अभाव को कारण मानना आवश्यक है । अब तो आलोकसयोग को चाक्षुष का कारण मानने की भी आवश्यकता नही है, क्योकि अन्धकारसयोगाभावस्वरूप प्रतिबन्धकाभाव मे ही चाक्षुषोदय हो सकता है । द्रव्य के साथ चक्षु का सयोग जिस भाग मे हो उस भाग मे अन्धकाराभाव रहने पर ही आत्मा मे दर्शित सम्बन्ध से प्रतिबन्धकाभाव रहता है और तभी आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष का उदय भी होता ही है । इस तरह अन्धकारसयोगाभाव को ही चाक्षुष का कारण माना जा सकता है जिसके फलस्वरूप मे प्रतिबन्धकीभूत सयोग का आश्रय होने की वजह अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध होगी। प्रत्युत आलोकसयोग मे चाक्षुषकारणता असिद्ध रहने से आलोक मे द्रव्यत्व की सिद्धि नैयायिक के लिए दुर्घट बनती है ।

आलोकसंयोगकारणतापक्ष में व्यभिचार

पेचका इति । दूसरी बात यह है कि आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से चाहे आलोक को या आलोकसयोग को या चक्षुसयोग को या अन्धकारसयोगाभाव को चाक्षुषसाक्षात्कार का कारण माना जाय, मगर उल्लू आदि के चाक्षुष प्रत्यक्ष मे व्यतिरेक व्यभिचार तो आवश्य रहेगा ही, क्योंकि आलोकादि के विरह मे भी गाढ अन्धकार मे घटादि का साक्षात्कार उन्हे होता है । कारणाभाव मे भी कार्योत्पाद होने स प्राप्त व्यभिचार दोष आलोक, आलोकसयोगादि मे कारणता का निश्चय नही होने देगा, क्योकि व्यभिचार दोष कार्य-कारणभाव का विघटक है । इस व्यभिचार दोष का निवारण करने के लिए नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि -> 'आलोकसयोगादि का कार्यतावच्छेदक धर्म चाक्षुषत्व नही है किन्तु मनुष्यचाक्षुषत्व है । अर्थात् आलोकसयोग आदि का कार्य सब चाक्षुष साक्षात्कार नही है किन्तु मनुष्यवृत्ति चाक्षुष ही है । उल्लू, बिल्ली आदि का चाक्षुष मनुष्यवृत्ति नही है । इसलिए उसकी उत्पत्ति आलोकसयोग आदि के विना हो तो भी व्यभिचार दोष नही होगा । जो कार्य अपना

अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां चाक्षुषे तथापि व्यभिचारात् । न च स्वाभाविकनर-चाक्षुषत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वान्नाय दोष इति वाच्यम्, स्वाभाविकत्वस्याऽऽलोकसहकृत-चक्षुर्जन्यत्वरूपस्याऽऽलोककारणतापरिचयं विनाऽपरिचयात्, अन्यस्य दुर्वचत्वात् ।

❀ जयलता ❀

सयोगादे कारणता । तत्र दोषमाह - **अञ्जनादिसस्कृतचक्षुपामिति** । आदिपदेन रसायनगुटिकादिग्रहणम् । **तस्करादीना-मिति** । आदिपदेन 'योग्यादिग्रहणम् । **चाक्षुपे तथापि** = नरचाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितालोकसयोगादिनिष्ठकारणत्वोपग-मेऽपि, **व्यभिचारात्** = व्यतिरेकव्यभिचारात्, अञ्जनादिसस्कृतनेत्राणा निशाया भ्रमता आलोकसयोगादिकमृतेऽपि चाक्षुपोदयात् ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय । **स्वाभाविकनरचाक्षुपत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वात्** = आलोकसयोगादिनिरूपित-कार्यतावच्छेदकत्वात्, **न अय दोपः** = आलोकसयोगाद्यजन्याऽञ्जनादिसस्कारजन्यनरचाक्षुपोदये व्यभिचारदोष , तस्याऽस्वा-भाविकत्वादिति नैयायिकाशय । स्याद्वादी तन्निरासे हेतुमाह - **स्वाभाविकत्वस्येति** । आलोकसंयोगादिकार्यतावच्छेदकधर्मघट-कीभूतस्य स्वाभाविकत्वस्येति । **आलोकसहकृतचक्षुर्जन्यत्वरूपस्य** = आलोकसहकारिकारणकनेत्रजन्यत्वलक्षणस्य **आलोककार-णतापरिचय** = आलोकनिष्ठकारणताबोध, **विना अपरिचयात्** = अज्ञानात् । नैयायिक आलोककारणत्वसिद्धये प्रवृत्त । न चाऽद्यावधि तत्कारणता सिद्धा । असिद्धेनाऽसिद्धसाधने तून्मत्तत्वप्रसङ्गान्नालोकसहकारिकारणकचक्षुर्जन्यत्वविशिष्टनरचाक्षु-पत्वस्याऽऽलोकजन्यतावच्छेदकत्व सम्भवतीति व्यतिरेकव्यभिचारो दुर्वार एव । 'अस्तु स्वाभाविकत्वमालोकसहकृतचक्षुर्जन्य-त्वविलक्षणमन्यदेवे'ति नैयायिकाभिप्राय खण्डयितु स्याद्वाद्याह - **अन्यस्य** = आलोकसहकृतचक्षुर्जन्यत्वव्यतिरिक्तस्य **दुर्वचत्वात्** = दुर्व्याख्यानत्वात् । न च स्वाभाविकत्व जातिरूपमेवेति वाच्यम्, साङ्कर्यात्, अञ्जनादिसस्कृतचक्षुषामेकदैवालोक-सयोग-तच्छून्यद्रव्याणा चाक्षुषोदयात्, तस्याऽऽलोकस्थद्रव्यांशे स्वाभाविकत्वात् तमस्स्थद्रव्यांशे चाऽस्वाभाविकत्वात् । न च

नही है, उसकी उत्पत्ति अपने विना हो तो दोप नही कहा जाता । इसलिए नरचाक्षुप के प्रति आलोकसयोग की कारणता का विघटन नही हो सकता'' <— तो यह नामुनासिव है । इसका कारण यह है कि आलोकसयोग को नरचाक्षुप का कारण मानने पर भी व्यतिरेक व्यभिचार दोप तो ज्यो का त्यो वना रहता हे, क्योकि अजनादि के योग से ऑख मे सस्कारविशेप का आधान कर के चोर, सन्यासी[१] आदि मनुप्य अमावास्या की रात्रि मे भी, विना आलोकसयोग के, घटादि का चाक्षुप साक्षात्कार करते हे । उनके चाक्षुप मे आलोकसयोग का कार्यतावच्छेदक नरचाक्षुपत्व धर्म है, फिर भी उनके चाक्षुप साक्षात्कार की उत्पत्ति, विना किसी आलोकसयोग के, होने से व्यतिरेक व्यभिचार दुर्निवार हे । यदि नेयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''अञ्जनादि के सहकार से चौर, सन्यासी आदि मनुप्य को जो चाक्षुप होता है वह स्वाभाविक नही है, अस्वाभाविक है । अञ्जनादि के विना तो वे भी गाढ अन्धकार मे अवस्थित पदार्थ को नही देख सकते है । अञ्जनादि न हो तव आलोकसयोग होने पर ही उन्हे चाक्षुप साक्षात्कार होता है । इसलिए आलोकसयोग का कार्यतावच्छेदक नरचाक्षुपत्व नही, किन्तु स्वाभाविकनरचाक्षुपत्व ही है । अव कहाँ है अवकाश व्यतिरेकव्यभिचार को ? स्वाभाविक नरवृत्ति चाक्षुप साक्षात्कार आलोकसयोग के विना हो ही नही सकता'' <— तो यह भी ठीक नही हे । इसका कारण यह है कि आलोकसयोग का कार्यताअवच्छेदक स्वाभाविकनरचाक्षुपत्व है, ऐसा कहने का मतलव यह है कि स्वाभाविकत्वविशिष्टनरचाक्षुपत्व उसका कार्यतावच्छेदक है । मगर यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'कार्यतावच्छेदकधर्म की कुक्षि मे निविष्ट स्वाभाविकत्व क्या हे ?''

❧ परमत में स्वाभाविकत्व का निर्वचन दुःशक्य ❧

आलोक इति । यदि नेयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''स्वाभाविकत्व का अर्थ है आलोकसहकृतचक्षुजन्यत्व । अर्थात् चाक्षुपोत्पत्ति के लिए जिसका सहकारी (कारण) आलोक है ऐसी चक्षु से जन्य चाक्षुप साक्षात्कार मे रहने वाला धर्म ही स्वाभाविकत्व है, जो आलोकसयोगजन्यतावच्छेदकधर्मशरीर मे प्रविष्ट है'' <— तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि नैयायिक महाशय आलोकसयोग मे स्वाभाविक नरचाक्षुप की कारणता को सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे है, मगर अभी तक उसकी सिद्धि नही हुई है । उसकी सिद्धि करने के लिए उसी तर्क, अनुमान, व्याप्ति आदि का सहारा लिया जा सकता है, जिसके शरीर मे एक भी असिद्ध पदार्थ का निवेश न हो । यहाँ अभी तक आलोक मे चाक्षुपकारणता या चाक्षुप मे आलोकजन्यता असिद्ध = अपरिचित = अज्ञात हे, फिर भी नैयायिक विद्वान आलोकसयोग के कार्यतावच्छेदक

१ यहाँ योगी पद से अघोरसन्यासी आदि का ग्रहण अभिमत ह, न कि कवलज्ञानी आदि का । २ दखिये, 'अघार नगारा वागे' पुस्तक ।

अथ अञ्जनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तदिति चेत् ? न, आदिपदार्थाननुगमेन कार्यतावच्छेदकाननुगमात् । 'आलोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तदि'ति चेत् ? न, आलोकेतरस्याऽञ्जनादेर्व्यभिचारेण चाक्षुषाऽजनकत्वेन चक्षुरसंस्कारकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

तादृशचाक्षुषस्य विजातीयत्वान्नाय दोष इति वक्तव्यम्, तस्य तत्त्वे मानाभावात् 'पश्यामी'त्यनुव्यवसायानुपपत्तेः गौरवाच्च ।

साम्प्रतं परो गत्यन्तरेण स्वाभाविकत्वं निरूपयति - अथेति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । अञ्जनाद्यसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तत् = आलोककार्यतावच्छेदकधर्मघटकीभूतं स्वाभाविकत्वम् । स्याद्वादी तन्निराकुरुते - नेति । आदिपदार्थाननुगमेन = अञ्जनपदोत्तरादिपदार्थेष्वनुगतधर्माग्रहेण, कार्यतावच्छेदकाननुगमात् = आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदकधर्मस्य तद्घटितस्याऽननुगमात्, नियतधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया आलोकसंयोगेऽसम्भवान्नैतादृशः कार्यकारणभावो घटामश्चतीति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः । परः आह - आलोकेतरासंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं = आलोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वं तत् = आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदकधर्मघटकीभूतं स्वाभाविकत्वम् । आलोकेतरत्वेनाऽञ्जनादीनामनुगमान्न तदननुगमप्रयुक्तकार्यतावच्छेदकधर्माननुगमो न वा व्यतिरेकव्यभिचारावकाशः, अञ्जनादिसहकृतचक्षुषा चौरादीनां चाक्षुषे आलोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्वसमवेतचाक्षुषत्वलक्षणस्य कार्यतावच्छेदकस्य विरहादिति नैयायिकाशयः ।

नन्वालोकेतराऽसहकृतत्वं चक्षुषः किं स्वरूपविशेषणं यद्वा व्यावर्तकविशेषणं ? इति विकल्पयुगलीमवतारयति । तत्र नाद्यं क्षोदक्षमं, तस्य कार्यतावच्छेदकधर्मघटकत्वाऽयोगात् व्यर्थगौरवात् व्यतिरेकव्यभिचारस्य तदवस्थित्वाच्च । नापि द्वितीयं समीचीनं आलोकेतरस्याऽञ्जनादेः चाक्षुषं प्रति चक्षुः सहकारिकारणत्वविरहात्, अञ्जनादिकमृतेऽपि चाक्षुषस्य जायमानत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारादित्याशयेन स्याद्वादी तन्निराकुरुते - नेति । व्यभिचारेण = व्यतिरेकव्यभिचारेण चाक्षुषत्वावच्छिन्नाऽव्यवहितनियतपूर्ववर्तित्वाभावेनेति यावत् । चाक्षुषाऽजनकत्वेन = चाक्षुषत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वासम्भवेन, चक्षुरसंस्कारत्वात् = चक्षुः सहकारिकारणत्वाऽयोगात् । घटं प्रति यथा दण्डस्य कुलालसहकारित्वं भवति तथा चाक्षुषं प्रति नाञ्जना-

धर्म के घटकीभूत स्वाभाविकत्व के घटकविधया आलोकसहकारित्व = आलोककारणत्व = आलोकनिष्ठ चाक्षुषसहकारिकारणत्व का ग्रहण करते हैं। यह कैसे संगत हो सकता है ? अभी तक स्वाभाविकत्व भी असिद्ध है और आलोकवृत्ति चाक्षुषसहकारिकारणता भी असिद्ध है। तब असिद्ध से असिद्ध की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? तथा आलोकसहकृतचक्षुजन्यत्व से अतिरिक्त अन्यस्वरूप भी स्वाभाविकत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ का निरूपण करना नैयायिक मनीषी के लिए लोहे के चने चबाना जैसा मुश्किल है।

अथा इति। यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि -> ''स्वाभाविकत्वपद का अर्थ है अंजनादि से असंस्कृत चक्षु से जन्यत्व। अञ्जनादि पदार्थ तो प्रसिद्ध है। अतः उसका स्वाभाविकत्व के घटकविधया निवेश हो सकता है। अंजनादि के सहकार से चौरादि को जो चाक्षुष साक्षात्कार, आलोकसंयोग के बिना होता है, वह अंजनादिसंस्कृतचक्षुजन्यनरचाक्षुष होने से अंजनाद्यसंस्कृतचक्षुजन्यत्वविशिष्टनरचाक्षुषत्वस्वरूप आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदक धर्म से रहित होने से उसकी उत्पत्ति, बिना आलोकसंयोग के, हो तो भी व्यतिरेक व्यभिचार दोष का अवकाश नहीं है, क्योंकि वह आलोकसंयोग का कार्य ही नहीं है'' <- तो यह भी गलत है। इसका कारण यह है चक्षु में संस्कारविशेष का आधान केवल अंजन से ही नहीं होता है, किन्तु रसायन, गुटिका, मणि आदि से भी होता है। वे कितने है ? यह अनिश्चित है। अतः 'अञ्जनादि' पद में जो आदिशब्द है, उसका अर्थ अननुगत होने से उससे घटित आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदक धर्म भी अननुगत बन जायेगा। तब तो अनेक कार्य-कारणभाव का स्वीकार आवश्यक बनने पर महागौरव होगा या तो व्यभिचार होगा। इसलिए आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म अंजनाद्यसंस्कृतचक्षुजन्यत्वविशिष्टनरवृत्तिचाक्षुषसाक्षात्कारत्व नहीं हो सकता है। कार्यतावच्छेदक धर्म अनिश्चित होने पर उससे अवच्छिन्न = नियन्त्रित कार्यता भी अप्रसिद्ध बनेगी। जब कि तादृश कार्यता अप्रसिद्ध है, तब उससे निरूपित कारणता भी आलोकसंयोग में कैसे रहेगी, जिसके फलस्वरूप में आलोकसंयोग को कारण माना जा सके।

आलोकेतराऽसंस्कृतचक्षुर्जन्यत्व स्वाभाविकत्वस्वरूप नहीं है - स्याद्वादी

आलोकेत इति। यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि -> ''आलोककार्यतावच्छेदकघटकीभूत स्वाभाविकत्व का अर्थ है आलोकेतर से असंस्कृत = असहकृत चक्षु से जन्यत्व। अतः कार्यतावच्छेदक होगा आलोकेतराऽसहकृतचक्षु-

अञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुषं प्रत्यञ्जनादीना जनकत्वे चाऽऽलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वमात्रस्य कार्यतावच्छेदकत्वौचित्यात् । एवमपि सिद्ध न· समीहितमि'ति चेत् ? न, तदपेक्षया लाघवेन

जयलता

देश्चक्षु.सहकारित्व, येन तद्व्यवच्छेदकृते आलोकेतराऽसहकृतत्व चक्षुषो व्यावर्तकविशेषणविधया उपादेय स्यात् । ततो नालोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यत्वलक्षणस्वाभाविकत्वविशिष्टनरसमवेतचाक्षुषत्वमालोकसयोगस्य कार्यतावच्छेदक भवितुमर्हतीति प्रकरणकृदाशय ।

ननु तृणारणिमणिन्यायेनाऽऽलोकसयोगस्येवाऽऽलोकेतरस्याऽञ्जनादेरपि स्वाऽव्यवहितोत्तरचाक्षुष प्रति यद्वा स्वाऽभावाऽकालीनचाक्षुष प्रति जनकत्वे व्यतिरेकव्यभिचाराऽयोगात्, तस्य त प्रति चक्षु सहकारिकारणत्वसम्भवादालोकेतरासहकृतत्वस्य चक्षुर्व्यावर्तकविशेषणत्व सम्भवत्येव । ततश्चालोकसयोगस्याऽऽलोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यनरचाक्षुषकारणत्वे नास्ति बाधक किञ्चिदित्यालोकेतराऽसहकृतनयनजन्यनरचाक्षुषत्वस्यैवाऽऽलोकसयोगनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकत्वमभ्युपेयमिति नैयायिकाऽऽशङ्कायां स्याद्वादी प्राह - **अञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुष प्रतीति** । अञ्जनाद्यभावकालीनचाक्षुषेतरचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रतीति । **अञ्जनादीनामिति** आदिशब्देन रसायनचूर्णलेपौषध्यादिग्रहणम् । **जनकत्वे च** = त्वया जनकत्वेऽभ्युपगम्यमाने तु, तदपेक्षया **आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वमात्रस्येति** । मात्रपदेन आलोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यनरचाक्षुषत्वस्य व्यवच्छेद कृत , तदपेक्षया गुरुत्वात् । **कार्यतावच्छेदकत्वौचित्यादिति** । आलोकसयोगनिष्ठकारणतानिरूपिताया कार्यताया अवच्छेदकत्वस्य युक्तत्वात्, अञ्जनादेरञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति कारणत्वमालोकसयोगस्य चालोकेतराऽसहकृतचक्षुर्जन्यनरचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति हेतुत्वमिति द्विविधकार्य-कारणभावकल्पनाऽपेक्षया आलोकसयोगस्याऽऽलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रत्येव कारणत्वकल्पनेऽतिलाघवादिति । पेचकादीना तादृशचौराणाञ्च वहलतमे तमसि जायमानस्य घटादिचाक्षुषस्याऽऽलोकाभावसमकालीनत्वेनाऽऽलोकसयोगकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वान्नैव व्यभिचारगन्धलेशोऽपीति स्याद्वादिनोऽभिप्राय ।

पर लब्धावसर साम्प्रतमिष्टापत्तित्वेन दर्शितफल-फलवद्भावमभ्युपैति - **'एवमपीति** । आलोकाऽभावाऽकालीनचाक्षुषत्वस्यैवाऽऽलोकसयोगजन्यतावच्छेदकत्वाऽभ्युपगमेऽपीति । **सिद्ध नः** = अस्माक नैयायिकाना **समीहितम्**, आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषकारणीभूतसयोगाश्रयत्वेनाऽऽलोकस्य द्रव्यत्वसिद्ध्या तमसो लाघवेन तदभावात्मकत्वोपपत्तेरिति नैयायिकाभिप्राय । निर्भाग्यशेखरमनोरथवदयमधुना विशरारुतामाकलयतीत्याशयेन स्याद्वाद्याह - **नेति** । आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्व न युक्तमित्यर्थ । तदपाकरणे हेतुमाह - **तदपेक्षयेति** । आलोकाभावकालीनेतरकालिकचाक्षुषत्वजन्यनरचाक्षुषसाक्षात्कारत्व । यहाँ आलोकेतरपद से अजन, रसायन आदि सब का ग्रहण हो सकता है । आलोकेतरत्व धर्म उन सब मे अनुगत होने से कार्यतावच्छेदक धर्म अननुगत होने का दोष अभी असभव हे । आलोकेतर से असहकृत यानी आलोकेतर अजनादि जिसका सहकारी कारण नही हे ऐसी चक्षु से जो नरवृत्तिचाक्षुष साक्षात्कार होता है, उसके प्रति तो आलोकसयोग, अवश्य कारण होने से अजनसस्कृतचक्षुवाले चौर आदि के चाक्षुष मे व्यतिरेक व्यभिचार का भी उद्भावन नामुमकिन है, क्योकि आलोकसयोग के विना उत्पन्न होने वाले उस चाक्षुष मे उक्त कार्यतावच्छेदक धर्म नही हे । इसलिए आलोकेतरासहकृतचक्षुजन्यत्व को स्वाभाविकत्वपद का अर्थ माना जा सकता हे'' <— तो यह भी ठीक नही है । इसका कारण यह है कि चक्षु का कभी भी आलोकेतर (अजनादि) सहकारी हो तव उसका व्यवच्छेद करने के लिए आलोकेतर से असहकृतत्व को चक्षु का विशेषण वनाना उचित हे । मगर चाक्षुष साक्षात्कार के लिए आलोकेतर अजनादि चक्षु का सहकारी कारण ही नही है, क्योकि जव जव चाक्षुष साक्षात्कार होता है, उसके अव्यवहित पूर्व क्षण मे अवश्य सर्वत्र आलोकेतर अजनादि हो - ऐसा नही है । आलोकेतर अजनादि के विना भी वहुत से चाक्षुष उत्पन्न होते हे । इसलिए वे चाक्षुष के व्यभिचारी है । अतः जैसे 'दण्ड घटोत्पत्ति के लिए कुम्हार का सहकारी कारण है'' - यह कहा जाता हे वेसे 'आलोकेतर अजनादि चाक्षुषोदय के लिए चक्षु का सहकारी कारण हे' - यह नही कहा जा सकता । इसलिए आलोकेतराऽसहकृतत्व चक्षु का व्यावर्तक विशेषण नही वन सकता । जो व्यावर्तक न हो उसका स्वरूपविशेषणविधया कार्यतावच्छेदकधर्मकोटि मे निवेश करने मे गोरव हे । तथा तादृश प्रवेश करने पर भी व्यतिरेक व्यभिचार तो ज्यो का त्यो ही वना रहता है, क्योकि स्वरूपविशेषण तो चक्षु मे सदा होता ही है ।

कार्यतावच्छेदकधर्मलाघव से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि - स्याद्वादी

अजना इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''अजनादि भले सव चाक्षुष का सहकारी कारण न हो, मगर अजनादि का अभाव होने पर न होने वाले चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति तो वह चक्षु का सहकारी हो सकता है । इसलिए अजनादि को अजनाद्यभावाऽकालीन चाक्षुष के प्रति कारण माना जा सकता है । अतः अजनादि भी अजनादि

तमःसंयुक्ताऽन्यचाक्षुषत्वस्यैव तत्त्वौचित्येन तमसो द्रव्यत्वसिद्धेः ।

केचित्तु - फलबलात्तत्राऽऽलोकविशेषः कल्प्यते ।

❀ न्यायलता ❀

पर्यवसितस्य आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्वस्य अपेक्षया, लाघवेन = कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरलाघवेन, तमःसंयुक्ताऽन्यचाक्षुषत्वस्यैव तत्त्वौचित्येन = आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वौचित्येन, तमसो द्रव्यत्वसिद्धेरिति । आलोकाभावाकालीनचाक्षुषत्वस्याऽभावद्वयगर्भितत्वेनैकाभावघटितस्य तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषत्वस्य तदपेक्षया लघुत्वात् कार्यतावच्छेदकत्वमुचितम् । ततश्चालोकसंयोगकार्यतावच्छेदकघटकीभूतसंयोगाऽऽश्रयत्वेनान्धकारस्य द्रव्यत्वसिद्धिः तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषकारणताश्रयत्वेन चालोकस्य द्रव्यत्वसिद्धिः । तेन नान्धकारस्याऽऽलोकाभावात्मकत्वं न वाऽपसिद्धान्त इति स्याद्वादिनो गूढाभिप्रायः ।

एकदेशिमतं दर्शयति केचित्त्विति । 'व्याकोपापत्तेरिती'त्यन्तमयं पूर्वपक्षः । फलबलात् = चाक्षुषसाक्षात्कारलक्षणफलोदयाऽन्यथाऽनुपपत्त्या, तत्र = पेचकादिचाक्षुषस्थले, आलोकविशेषः = महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाऽपेक्षया विजातीय आलोक , कल्प्यते = अनुमीयते । प्रयोगाश्चैवम् - कौशिकादिचाक्षुषमालोकजन्यं चाक्षुषत्वात् महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाऽभावाऽकालीनचाक्षुषवत् । पक्षतावच्छेदकञ्च कौशिकादिचाक्षुषत्वम्, तेन न हेतुपक्षतावच्छेदकयोरैक्यम् । गाढतमःस्थपेचकादि-

के अभाव के काल से इतर काल = अंजनादिकाल में होने वाले चाक्षुष के प्रति चक्षु का सहकारी हो सकता है । अंधेरी रात में यदि चौर आदि की आंख का सहकारी अंजनादि हो तभी उन्हे, आलोकसंयोग के बिना, गाढ अन्धकार में स्थित घटादि का चाक्षुष हो सकता है । अतः आलोकसंयोग को आलोकेतराऽसहकृतचक्षुजन्य तमःसमवेत चाक्षुष साक्षात्कार के प्रति कारण माना जा सकता है'' <— तो यह नैयायिकोक्ति समीचीन नहीं है । इसका कारण यह है कि अंजनादि को *अंजनाद्यभावाऽसमकालीन चाक्षुष का कारण मानना और आलोकेतराऽसहकृतचक्षुजन्य* तमोवृत्ति चाक्षुष के प्रति आलोकसंयोग को कारण मानना आवश्यक बन जाने से द्विविध कार्य-कारणभाव का स्वीकार करना पड़ता है, जो गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है । इसकी अपेक्षा अच्छा तो यह है कि आलोकसंयोग को आलोकाऽभावाऽकालीन चाक्षुष के प्रति ही कारण माना जाय । ऐसा मानने पर कार्यतावच्छेदक धर्म आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्व ही होगा । इस तरह कार्य-कारणभाव में भी लाघव होता है । उल्लू, बिल्ली, अंजनादिसंस्कृतचक्षु वाले चौर आदि का जो चाक्षुष साक्षात्कार है, वह आलोकाभावकालीन होने से आलोकसंयोगकार्यतावच्छेदक धर्म से शून्य है । इसलिए व्यतिरेक व्यभिचार को भी अवकाश नहीं रहता है । अतः यही मानना उचित है - यह हम स्याद्वादियों का अभिप्राय है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''आप स्याद्वादी को यदि यह उचित है, तो हम भी इस कार्यकारणभाव का सहर्ष स्वीकार करते है, क्योंकि इस तरह भी आलोकसंयोग में कारणता सिद्ध होने से आलोकसंयोग के आश्रय में द्रव्यत्व की सिद्धि होने से हमारा इष्ट फल सिद्ध हो जायेगा कि - 'आलोक द्रव्यात्मक है और अन्धकार आलोकाऽभावस्वरूप है' । अतः तादृश कार्य-कारणभाव को हम मान्य करते हैं'' <— तो यह नैयायिक कथन असंगत है । इसका कारण यह है कि आलोकाभावाऽकालीनचाक्षुषत्व को आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म मानने की अपेक्षा तमःसंयुक्ताऽन्यचाक्षुषत्व को ही उसका कार्यतावच्छेदक मानने में लाघव है, क्योंकि आलोकाभावाकालीनचाक्षुषत्व का अर्थ है आलोकाभावकालीनत्वाभाववच्चाक्षुषत्व जिसमें दो अभाव का प्रवेश होता है जब कि तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषत्व में एक ही अभाव का निवेश होता है । लघुभूत धर्म संभव हो तो गुरु धर्म में अवच्छेदकत्व नहीं माना जा सकता । इसलिए लाघवसहकार से आलोकसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म तमःसंयुक्तान्यचाक्षुषत्व सिद्ध होता है । कार्यतावच्छेदक धर्म में तमःसंयोग का घटकविधया समावेश किया गया है । उसका आश्रय होने से अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि निराबाध होने से अन्धकार को आलोकाभावात्मक नहीं माना जा सकता । इस तरह कारण का आश्रय होने से आलोक भी द्रव्यात्मक है एवं कार्यता-*अवच्छेदकघटकीभूत संयोग का आश्रय होने की वजह अन्धकार भी द्रव्यस्वरूप ही है - यह सिद्ध होता है, ऐसा स्याद्वादी* का तात्पर्य है ।

उल्लू आदि का चाक्षुष आलोकविशेषजन्य - नैयायिकदेशीमत

पूर्वपक्ष :- केचि० इति । यहाँ अन्य नैयायिक विद्वानों का यह अभिप्राय है कि उल्लू, बिल्ली आदि का चाक्षुष तभी उत्पन्न हो सकता है, यदि वहाँ कोई न कोई आलोक विद्यमान हो । अतः उल्लू आदि के चाक्षुष साक्षात्कार स्वरूप फल की अन्यथा अनुपपत्ति से वहाँ आलोक की सिद्धि होती है । मगर गाढ अन्धकार में रहने वाले उस आलोक का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसलिए वह आलोक हमारी चक्षु से अग्राह्य है - ऐसा सिद्ध होता है । इस तरह अन्धकार में भी उत्पन्न

'व्यभिचारग्रहे सत्यालोकस्य कारणताग्रहस्यैवाऽनुपपत्तेः कथमेवमि'ति चेत् ? न, तदवच्छेदेन व्यभिचारग्रहस्यैव तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहप्रतिबन्धकत्वात् । अत्र चाऽऽलोकत्व-सामानाधिकरण्येनैव तद्ग्रहात् तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहस्य निरपायत्वात्, अन्यथा

❀ जयलता ❀

चक्षु आलोकसयुक्त चाक्षुषजनकबहिरिन्द्रियत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् । जनकत्वश्चाऽत्रोपधायकत्वस्वरूप ग्राह्य, तेन न व्यभिचार । गाढतम सयुक्तद्रव्य आलोकसयुक्त, द्रव्यत्वे सति चाक्षुषविपयत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् । पेचकादिचाक्षुपजनकालोक विजातीयत्वादस्मदादिभिर्न गृह्यत इति न बाध न वा गौरवम्, फलाभिमुखत्वादिति नैयायिकैकदेशीयाऽभिप्राय ।

मूलशैथिल्यमत्र कश्चिच्छङ्कते - **व्यभिचारग्रहे** = व्यतिरेकव्यभिचारग्रहे, **सति आलोकस्य कारणताग्रहस्य** = चाक्षुपकारणत्वज्ञानस्य **एव अनुपपत्तेः** = अघटमानत्वात्, **कथ एव** = घूकादिचाक्षुषस्य विजातीयालोकजन्यत्वकल्पन घटामश्चेत् ? आलोकस्य चाक्षुषकारणत्वनिश्चयपूर्वमेव कौशिकादिचाक्षुषे व्यतिरेकव्यभिचारज्ञानान्नाऽऽलोके चाक्षुपकारणतानिश्चय सम्भवति, व्यभिचारग्रहस्य कारणत्वनिश्चयप्रतिबन्धकत्वादिति न तत्र विजातीयालोकसिद्धिरिति शङ्काशय । विजातीयाऽऽलोकवादिन तामपाकुर्वन्ति-नेति । **तदवच्छेदेनेति** । व्यवहितैवकारस्याऽत्राऽन्वयात् कारणतावच्छेदकावच्छेदेनैवेत्यर्थ । **व्यभिचारग्रहस्य** = अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारज्ञानस्य, **तत्सामानाधिकरण्येन** = कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन, **कारणताग्रहप्रतिबन्धकत्वात्** = कारणतानिश्चयविघटकत्वादिति । यथा पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेत्वसिद्धिग्रह पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन च साध्यसिद्धिप्रतिबन्धक , पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन हेत्वसिद्धिग्रहस्तु पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनैव साध्यसिद्धिप्रतिबन्धको न तु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यनिश्चय प्रति तथैव कारणतावच्छेदकावच्छेदेन व्यभिचारज्ञान कारणतावच्छेदकावच्छेदेन कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन च कारणताग्रहप्रतिबन्धक कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन व्यभिचारग्रहस्तु कारणतावच्छेदकावच्छेदेनैव कारणताग्रह प्रति प्रतिबन्धको न तु कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन कारणताग्रह प्रति । पेचकादिचाक्षुप तु महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकविरहे जायते न त्वालोकसामान्यविरहे । अतो व्यतिरेकव्यभिचारग्रह प्रकृते आलोकत्वसामानाधिकरण्येनैव न तु तदवच्छेदेनेति तस्यालोकत्वावच्छेदेनैव चाक्षुपकारणताग्रहप्रतिबन्धकत्व न त्वालोकत्वसामानाधिकरण्येनेत्याशयेन वदन्ति - **अत्र चेति** । पेचकादिचाक्षुषस्थले त्विति । आलोकत्वसामानाधिकरण्येनैवेति । एवकारेणा'ऽऽलोकत्वावच्छेदेने'त्यस्य व्यवच्छेद कृत । **तद्ग्रहात्** = अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचारग्रहात्, **तत्सामानाधिकरण्येन** = आलोकत्वसामानाधिकरण्येन, **कारणताग्रहस्य** = चाक्षुपकारणताज्ञानस्य, **निरपायत्वात्** = अप्रतिबध्यत्वात् । यत्किञ्चिदा-

होने वाले उल्लू आदि के चाक्षुपात्मक फल के वल से वहाँ आलोकविशेप की सिद्धि होती हे । यहाँ यह शका हो कि —> ''यदि आलोक मे चाक्षुप साक्षात्कार के प्रति कारणता का ज्ञान हो तभी तो उल्लू चाक्षुपोदय से उसके कारणविधया अन्धकार मे आलोकविशेप की सिद्धि हो सकती है । मगर आलोक मे चाक्षुपकारणता का निश्चय ही नही हो सकता, क्योकि आलोक मे चाक्षुपकारणता के निश्चय के पूर्व काल मे ही व्यभिचार का ज्ञान रहता हे, जो कि कारणतानिश्चय का प्रतिवन्धक है । उल्लू, बिल्ली आदि के चाक्षुप की अन्धकार मे उत्पत्ति होने से आलोक मे चाक्षुपकार्य के प्रति व्यतिरेक व्यभिचार का ग्रह पूर्वोपस्थित होने से आलोक मे चाक्षुपकारणता का निश्चय ही नही हो सकता । इस स्थिति मे उल्लूचाक्षुपात्मक फल की अन्यथा अनुपपत्ति से वहाँ आलोकविशेष की सिद्धि कैसे हो सकती है ?'' <— तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि यहाँ जो व्यतिरेक व्यभिचार प्रदर्शित किया गया है, वह आलोकत्वसामानाधिकरण्यरूप से वताया गया हे, न कि आलोकत्वाऽवच्छेदेन । मतलव कि उल्लूचाक्षुपस्थल मे सभी आलोक का अभाव नही है किन्तु आलोकविशेप = महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक का अभाव है । यत्किञ्चित् आलोक का अभाव होने से उस आलोक मे भले चाक्षुपकारणता का व्यभिचार हो, मगर उस आलोक से भिन्न आलोक मे तो चाक्षुपकारणता का भान हो सकता ही है । कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से व्यभिचार ज्ञान कारणतावच्छेदकावच्छेदेन कारणताज्ञान का प्रतिवन्धक = विरोधी होता है, न कि कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से कारणताज्ञान का भी । कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से कारणताग्रह का प्रतिवध तभी हो सकता है, यदि कारणतावच्छेदकावच्छेदेन व्यभिचारज्ञान हो । प्रस्तुत मे तो कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से = आलोकत्वसामानाधिकरण्य से यानी यत्किञ्चित् आलोक मे व्यभिचार का ज्ञान है, क्योकि उल्लूचाक्षुप आलोकत्वावच्छिन्न = यावत् आलोक के अभाव मे उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु यत्किञ्चित् आलोक = महदुद्भूतानभिभूतरूपवाले आलोक का अभाव होने पर उत्पन्न होता हे । इस स्थिति मे आलोकत्वावच्छेदेन = सभी आलोक में चाक्षुपकारणता का निश्चय नहीं हो सकता है, किन्तु आलोकत्वसामानाधिकरण्येन = आलोकविशेप मे तो चाक्षुपकारणता

क्वचित्प्रथममतिप्रसक्तेनाऽपि धर्मेण कारणताग्रहोत्तरं पश्चादनुगतावच्छेदकधर्मकल्पनासिद्धान्तव्याकोपापत्तेरिति । तन्न, तदाऽऽलोकेनाऽन्येषामपि चाक्षुषापत्तेर्दुर्वारत्वात् । पेचका-

❀ जयलता ❀

लोकेऽन्वयव्यतिरेकव्यभिचारग्रहस्य तदितरालोके चाक्षुपकारणताग्रहविरोधित्व नास्ति विशेष्यतावच्छेदकभेदेनाऽसमानाऽऽकारकत्वात् । ततश्चालोकत्वसामानाधिकरण्येन चाक्षुपकारणत्वग्रह सम्भवत्येव ।

विपक्षबाधमुपदर्शयन्ति - अन्यथेति । कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन व्यभिचारग्रहस्य कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन कारणत्वग्रहाऽप्रतिबन्धकत्वानभ्युपगमे इति । क्वचित् = शीतस्पर्शादिकारणतास्थले, प्रथम अतिप्रसक्ते = जलत्वादिधर्मेण, अपि कारणताग्रहोत्तर = शीतस्पर्शादिजनकताज्ञानोत्तर, पश्चात् जलादिपरमाणो शीतस्पर्शाधिकारणत्वेन व्यभिचारग्रहे सति, अनुगतावच्छेदकधर्मकल्पनासिद्धान्तव्याकोपापत्तेः = शीतस्पर्शादिकारणत्वान्यूनानतिरिक्तानुगतजन्यजलत्वादिलक्षणाऽवच्छेदकधर्मकल्पनासिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात् । तथाहि शीतस्पर्शत्वावच्छिन्न प्रति जलस्य हेतुत्वज्ञाने शीतस्पर्शत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणता जलत्वावच्छिन्नेति सामान्यतो कारणताज्ञानमुपजायते । पर 'जलीयपरमाणो शीतस्पर्शस्य नित्यत्वेन जलत्व कारणतातिरिक्तवृत्ति' इति व्यभिचारज्ञाने सञ्जातेऽनतिप्रसक्तजन्यजलत्वस्य शीतस्पर्शकारणतावच्छेदकत्व कल्प्यते इति न्यायविद । यदि कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन व्यभिचारज्ञान तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहप्रतिबन्धक स्यात्तदोक्तरीत्या जलत्वसामानाधिकरण्येन शीतस्पर्शकारणत्वग्रहो नैव स्यात् । न चैवमस्तीति तत्सामानाधिकरण्येन व्यभिचारज्ञानस्य न तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहविरोधित्वमभ्युपेयम् । ततश्चालोकत्वसामानाधिकरण्येन चाक्षुपकारणताव्यभिचारज्ञानस्य तत्सामानाधिकरण्येन तत्कारणताग्रहाऽप्रतिबन्धकत्वेनोपदर्शितरीत्या पेचकादिचाक्षुपस्थले आलोकविशेषसिद्धिरप्रत्यूहेति केचित्तुमताशय ।

प्रकरणकृत्तन्निराकुरुते - तन्नेति । तदालोकेन = पेचकादिनयनससृष्टालोकविशेषेण, अन्येषा = पेचकादिभिन्नाना अपि तदानी चाक्षुषापत्तेः दुर्वारत्वात्, कारणतावच्छेदकावच्छिन्नोपस्थिता तदितरसकलकारणसमवधाने कार्योत्पादस्य न्याय्यत्वात् ।

का निश्चय हो सकता है । इसलिए आलोक मे सामानाधिकरण्य से चाक्षुपकारणताज्ञान का सामानाधिकरण्य से व्यभिचारज्ञान प्रतिबन्धक = विरोधी नही हो सकता । इसलिए सामानाधिकरण्य से आलोक मे चाक्षुप-कारणता का ज्ञान हो सकता है । यदि कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से यानी यत्किंचित् कारण मे व्यभिचारज्ञान को कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से भी कारणताज्ञान का प्रतिबन्धक माना जाय तब तो कभी कभी अतिप्रसक्त = कारणताऽतिरिक्तवृत्ति धर्म से सामान्यत· कारणताज्ञान के बाद अनुगत = कारणताऽनतिरिक्तवृत्ति धर्म मे कारणतावच्छेदकत्व का एव उससे अवच्छिन्न = नियन्त्रित कारणता का ज्ञान करने का जो नैयायिकसिद्धान्त है, उसका भग होने की आपत्ति आयेगी । आशय यह है कि 'शीतस्पर्श के प्रति जल कारण है' यानी 'शीतस्पर्शत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक जलत्व है और तादृश कारणता जलत्वावच्छिन्न है' ऐसा सामान्यत. कार्यकारणभाव का ज्ञान होने के पश्चात् कारणतातिरिक्तवृत्ति होने से जलत्व का त्याग किया जाता है और जन्यजलत्व का शीतस्पर्शकारणतावच्छेदकधर्मविधया ग्रहण किया जाता है । जलत्व तो जलीय परमाणु मे भी रहता है मगर जलपरमाणु का शीतस्पर्श नित्य होने से जलीय परमाणु मे शीत स्पर्श की कारणता नही रहती है और जलत्व जाति रहती है । जलत्व धर्म शीतस्पर्शकारणता से शून्य जलपरमाणु मे रहने से वह शीतस्पर्शकारणताऽतिरिक्तवृत्ति होने से वह कारणतावच्छेदक धर्म नही बन सकता । यह व्यभिचारज्ञान जलत्वावच्छेदेन शीतस्पर्श-कारणताज्ञान का विरोधी होता है, मगर जलत्वसामानाधिकरण्येन शीतस्पर्शकारणताज्ञान का विरोधी नही है । अतएव बाद मे शीतस्पर्शकारणताऽनतिरिक्तवृत्ति जन्यजलत्व यानी अनित्य जल से निरूपित वृत्तिता से विशिष्ट जलत्व को शीतस्पर्शकारणतावच्छेदक बनाया जाता है । कारणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से व्यभिचारज्ञान यदि करणतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से कारणताज्ञान का प्रतिबन्धक होता तब जलत्वसामानाधिकरण्येन = जलीयपरमाणु मे शीतस्पर्शजनकता का व्यभिचारज्ञान होने से जलत्वसामानाधिकरण्येन = जन्यजल मे शीतस्पर्शकारणताज्ञान कैसे हो सकता ? मगर जन्यजलत्व को शीतस्पर्शकारणतावच्छेदक तो सभी नैयायिक विद्वान मानते ही है । इसलिए आलोकत्वसामानाधिकरण्य से व्यभिचारज्ञान भी आलोकत्वसामानाधिकरण्य से चाक्षुपकारणताज्ञान का प्रतिबन्धक = विरोधी नही हो सकता है । इसलिए आलोक मे चाक्षुपकारणता का ज्ञान हो सकता है । जिस आलोक मे व्यभिचारज्ञान हुआ है उससे भिन्न आलोक मे उल्लू आदि के चाक्षुप की कारणता सिद्ध होने से महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक से इतर आलोक की सिद्धि होती है ।

उल्लूचाक्षुष में विजातीय आलोक की कारणता अप्रमाण - स्याद्वादी

उत्तरपक्ष :- तन्न० इति । उल्लू आदि के चाक्षुप के प्रति विजातीय आलोक को कारण मानने मे कोई प्रमाण नही

दिनयनगोलकससृष्टाऽऽलोकस्य पेचकादिमात्रचाक्षुष प्रति नानाकारणताकल्पने च महद्गौरवादिति दिक् ।

उच्छृङ्खलास्तु –> आलोककालीनचाक्षुषजनकविजातीयचक्षुर्मनोयोगाऽभावादेव तमसि न घटादिचाक्षुषोदय इति न तत्राऽऽलोकस्य कारणता ।

❀ जयलता ❀

न च तदालोकस्य पेचकादिचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति कारणत्वान्नान्येपा तदानी चाक्षुपापादनमर्हति, अन्यचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकस्य कारणत्वादिति वाच्यम्, नानाकार्यकारणभावकल्पनाया गुरुत्वेनाऽप्रामाणिकत्वादित्याशयेनाऽऽह- **पेचकादिनयनगोलकससृष्टालोकस्य** = आलोकविशेपस्य, **पेचकादिमात्रचाक्षुप प्रति** = पेचकादिभिन्नचाक्षुपेतरत्वे सति पेचकादिचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति, कारणत्व पेचकादिभिन्नचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति च महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकस्य कारणत्वमित्येव **नानाकारणताकल्पने महद्गौरवादिति** । किञ्च पेचकादिचाक्षुप प्रति महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया आवश्यकत्वेन तदभावेनैव पेचकादिचाक्षुपोपपत्तौ विजातीयालोककल्पनाया अनुत्थानपराहतत्वात्, सौरालोकेन विजातीयालोकाऽभिभवकल्पनाया त्वप्रामाणिकगौरवात् । **एतेन** पेचकादीना बाह्यालोकनिरपेक्ष चक्षुर्ग्राहकमित्यसिद्धमेव । तत्र तेजोऽन्तररय विद्यामानत्वात् । अत एव ते दिवा न पश्यन्ति, तस्य सौरालोकेनाऽभिभूतत्वात्, तेपा तत्सहकृतचक्षुर्ग्राहित्वनियमात्' (न्या सि दी पृ ९१) इति **न्यायसिद्धान्तदीपकृतः शशधरशर्मणो** वचन **प्रत्युक्तम्,** अनभिभूततेजोऽन्तरस्य पेचकाद्यन्यचाक्षुप प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पने पेचकादिचाक्षुप प्रति कारणत्वकल्पने चाऽऽदिपदार्थाननुगमेन तद्घटितप्रतिबन्ध्यतावच्छेदककार्यतावच्छेदक- धर्माननुगमाच्चेत्यादिसूचनार्थ दिगित्युक्तमिति विभावनीय सुधीभि ।

उच्छृङ्खलास्त्विति । अस्य चा'ऽऽहुरि'त्यनेनाऽन्वय । **आलोककालीनचाक्षुपजनकविजातीयचक्षुर्मनोयोगाऽभावादेवेति** । आलोकसमकालीन यच्चाक्षुप तस्य जनको यो विजातीय चक्षु प्रतियोगिकमन.सयोग तस्याऽभावादेवेत्यर्थ । स्पार्शनादिजनकस्य चक्षु प्रतियोगिकमन सयोगस्याऽपाकरणाय 'विजातीये'त्युक्तम् । **तमसि न घटादिचाक्षुपोदयः इति न तत्र** = आलोककालिकचाक्षुपे **आलोकस्य कारणतेति** । आलोककालीनचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति कारणत्व विजातीयचक्षु प्रतियोगिकमन सयोगस्यैव न त्वालोकस्य । **न च** वैपरीत्यमेव किमिति न रोचयेरिति **वाच्यम्,** आलोकस्य कारणत्वकल्पनेऽपि विजातीयचक्षुर्मन सयोगस्याऽवश्यकल्पनीयत्वात्, आलोकस्य तत्सपादने एवोपक्षीणत्वेनाऽन्यथासिद्धत्वाच्च । **एतेन** दिवा जायमान

है, यह स्याद्वादी का कथन है । इसका कारण यह हे कि गाढ अन्धकार मे आलोकविशेप से जेसे उल्लू, बिल्ली आदि को घटादिविपयक चाक्षुप साक्षात्कार होता हे, ठीक उसी तरह उसी आलोक से हमे भी अन्धकार मे विना अजनादिसस्कार के घटादिविपयक चाक्षुप प्रत्यक्ष होना चाहिए - यह आपत्ति मुँह फाडे खड़ी है । यहाँ यह तो नही कहा जा सकता है कि –> ''उल्लू आदि के नयनगोलक से सयुक्त आलोकविशेप उल्लू आदि के चाक्षुप प्रत्यक्ष के प्रति ही कारण हे, न कि मनुप्यवृत्ति चाक्षुप के प्रति । इसलिए उल्लू आदि के चाक्षुप के जनक आलोकविशेप से हमे अन्धकार मे घटादि का चाक्षुप प्रत्यक्ष नही हो सकता''<– । यह नैयायिककथन इसलिए अयुक्त है कि उल्लू आदि के चाक्षुप के प्रति विजातीय आलोक को कारण ओर महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक को प्रतिबन्धक मानना एव नरवृत्ति चाक्षुप साक्षात्कार के प्रति महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोक को कारण ओर अनभिभूत विजातीय आलोक को प्रतिबन्धक मानना इत्यादि कल्पना करने मे अनेक कार्यकारणभाव के स्वीकार का महागौरव होता हे, जो कि अप्रामाणिक होने से मान्य नही किया जा सकता । इसलिए पुनः उल्लूचाक्षुपजनक आलोकविशेप से अन्धकार मे हमे घटादिविपयक चाक्षुप साक्षात्कार होने की आपत्ति ज्यो कि त्यो बनी रहती हे । अतएव विजातीय आलोक मे उल्लू आदि के चाक्षुप की कारणता मान्य नही हो सकती । अतः आलोक मे चाक्षुपकारणता का व्यभिचार वज्रलेप बना रहता हे ।

❀ विजातीयचक्षुमनोयोग चाक्षुपजनक - उच्छृंखलमत ❀

उच्छृ इति । यहाँ अन्य स्वतन्त्र विद्वानो का यह कथन है कि चाक्षुप साक्षात्कार के दो प्रकार होते है (१) आलोककालीन = आलोककाल मे उत्पन्न होने वाला एव (२) आलोकाऽकालीन = आलोककाल से भिन्न काल मे होने वाला । आलोककालीन चाक्षुप का कारण विजातीय चक्षुमनःसयोग है । जब अन्धकार होता है तब आलोककालीनचाक्षुपजनक विजातीय चक्षुमनसयोग नही होता है । इसलिए अन्धकार मे हमे घटादि का चाक्षुप साक्षात्कार नही होता हे । अन्धकार मे चाक्षुप की अनुत्पत्ति का

न च तथापि तमसि घटादीनामालोकाऽकालीनचाक्षुषापत्तिः; पेचकादीनामिष्टत्वात् । न चाऽस्मदादिघटचक्षुःसंयोगादपि तदापत्तिः, आलोकाभावकालीनचाक्षुषं प्रति अपि विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य पृथक्कारणत्वादित्याहुः <– ।

❊ जयलता ❊

चाक्षुषं प्रत्यालोकस्य कारणत्वं विजातीयचक्षुर्मनःसंयोगस्य वा ? इत्यत्र विनिगमकाभाव इति प्रत्युक्तम्, कारणतावच्छेदकसम्बन्धगौरवाच्च । अत एव पेचकादिचाक्षुषे आलोकव्यभिचारप्रदर्शनेऽपि न क्षतिः, आलोककारणत्वाऽनभ्युपगमेनाऽनुक्तोपालम्भमयत्वात् ।

ननु मा भवतु तमसि घटादीनामालोककालीनचाक्षुषं परं तदऽसमकालीनचाक्षुषे किं नाम बाधकं तदानीं ? त्वया आलोककारणत्वाऽनभ्युपगमेन तदभावादाऽऽलोकाऽकालीनघटादिचाक्षुषनिराकरणस्य कर्तुमशक्यत्वादित्याशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमन्ते - न चेति । तथापि = आलोककालीनचाक्षुषत्वस्य चक्षुर्मनोविजातीयसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वाऽभ्युपगमेऽपि, तमसि घटादीनां आलोकाऽकालीनचाक्षुषापत्तिः, आलोककालीनचाक्षुषजनकचक्षुःप्रतियोगिकमनोविजातीयसंयोगाऽभावेनाऽऽलोकाऽकालीनचाक्षुषनिराकरणाऽयोगादिति शङ्काशयः । तदपाकरणे हेतुमुपदर्शयन्ति - पेचकादीनामिष्टत्वादिति । तमसि पेचकादीनामालोकाऽकालीनस्य घटादिचाक्षुषस्य जायमानत्वेनेष्टापत्तेः । तर्हि पेचकादीनामिवाऽस्मदादीनामपि तमसि आलोकाऽकालीनचाक्षुषोत्पत्तिर्दुर्वारेति शङ्काऽपाकरणाय वदन्ति - न चेति । अस्मदादिघटचक्षुःसंयोगादपि तदापत्तिः = आलोकाऽकालीनचाक्षुषापत्तिः । तन्निरासे हेतुमाविष्कुर्वन्ति - आलोकाभावकालीनचाक्षुषं प्रत्यपीति । किमुताऽलोककालीनचाक्षुषं प्रतीत्यपिशब्दार्थः । विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य = चक्षुःप्रतियोगिकमनोविजातीयसंयोगस्य, पृथक्कारणत्वात् = स्वतन्त्रकारणत्वात् । आलोकाऽकालीनचाक्षुषजनकतावच्छेदिका या जातिः पेचकादिचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगे एव वर्तते तद्भिन्ना जातिरालोककालीनचाक्षुषजनकतावच्छेदिका याऽस्मदादिचक्षुर्मनःसंयोगे एव विद्यते । अस्मदादिचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगे आलोकाऽकालीनचाक्षुषजनकतावच्छेदकजातिविरहादेवास्मदादीनामाऽऽलोकाऽकालीनचाक्षुषस्य घटादिगोचरस्य तदानीं प्रसङ्गो नास्ति । एतेनाऽऽलोको यदि चाक्षुषकारणं न स्यात्तदा तद्विरहेऽप्यस्मदादीनां घटादिचाक्षुषं जायेतेति प्रत्युक्तम्, अस्मदादीनामालोकाऽकालीनचाक्षुषकारणतावच्छेदकावच्छिन्नशून्यत्वात् । इत्थञ्च न तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति भावः ।

आहुरित्यनेन प्रकरणकृता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्बीजञ्चेदम्, एवं हि विजातीयचक्षुर्मनःसंयोगस्याऽप्यालोककालीनचाक्षुषकारणत्वं विशीर्येत, कारणतावच्छेदकसम्बन्धलाघवेन विजातीयमनआत्मसंयोगस्य तत्कारणत्वौचित्यात्, चक्षुर्मनोविजातीयसंयोगस्य तत्सम्पादने एवोपक्षीणत्वेनाऽन्यथासिद्धत्वाच्चे'त्यस्याऽपि जागरूकत्वात् । एतेन 'दिवा जायमानस्य चाक्षुषस्य किं विजातीयचक्षुर्मनोयोगजन्यत्वं यदुत विजातीयमनआत्मसंयोगजन्यत्वं ? इत्यत्र विनिगमनाविरह' इत्यपि प्रत्युक्तम् । न चैवं तस्य मानसत्वं स्यान्न तु चाक्षुषत्वमिति वाच्यम्, चक्षुषो मनःप्रतियोगिकात्मसंयोगवजात्यप्रयोजकत्वेनाऽपि तदुपपत्तेः । आलोकादेरिव विजातीयनेत्रमनःसंयोगस्याऽपि क्षयोपशमोद्बोधे एव चरितार्थत्वेन तदुद्बोध्यक्षयोपशमरूपयोग्यताया एवाऽनुगततया तद्धेतुत्वौचित्यात् । एतेन यद्यप्यालोकसंयोगस्य चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्य चाक्षुषहेतुत्वे बिडालादिचाक्षुषे व्यभिचारः, मानुषीयद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वोक्तावप्यञ्जनादिना तमसि पश्यतां चाक्षुषे व्यभिचारः तथापि येषां न कदाऽप्यञ्जना-

निर्वाह विजातीय चक्षुप्रतियोगिक मनसंयोग के विरह से ही मुमकिन होने से आलोकाभाव से उसका निर्वाह करना नामुनासिब है । इसलिए आलोक में आलोककालीन चाक्षुष की कारणता की कल्पना करना असंगत है । यहाँ यह शंका कि –> ''अन्धकारकालावच्छेदेन आलोककालीनचाक्षुषजनक विजातीय नयनमनसंयोग न होने से आलोककालीन चाक्षुष साक्षात्कार का उदय नहीं होता है, यह तो ठीक है । मगर उस काल में आलोकाऽकालीन चाक्षुष का उदय क्यों नहीं होता है ? उसके जन्म में कोई बाधक तो नहीं है'' <– करना ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि उल्लू, बिल्ली आदि को अन्धकार में आलोकाऽकालीन चाक्षुष होता ही है, यह हमें इष्ट है । जो अभीष्ट है, उसका आपादन करने में क्या बुद्धिमत्ता है ? यहाँ यह प्रश्न करना कि –> ''यदि उल्लू को अन्धकार में घटादिविषयक आलोकभिन्नकालीन चाक्षुष होता है तब हमको चक्षुसन्निकर्ष से क्यों घटादि का आलोकेतरकालीन चाक्षुष अन्धकार में नहीं होता है ? उल्लू आदि की भाँति हमको भी अन्धकार में आलोकाकालीन घटादिविषयक चाक्षुष होना चाहिए'' <– ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि आलोकाऽभावकालीन चाक्षुष के प्रति भी विजातीय चक्षुमनसंयोग, जो कि आलोककालीनचाक्षुषजनक विजातीय नयनमनसंयोग की अपेक्षा विजातीय है, पृथक् = स्वतंत्र कारण है । आलोकाऽकालीन चाक्षुष का जनक नयनप्रतियोगिक विजातीय मनसंयोग उल्लू आदि के पास होने से उन्हें आलोकाभावकालीन घटादिचाक्षुष होता

यदि पुनरन्धकारेऽपि घटादेः कालिकेनाऽऽलोकविशिष्टत्वात् तद्देशावच्छेदेनाऽऽलोकविशिष्टत्वस्य तथात्वे गौरवं, कार्यतावच्छेदकाऽननुगमो विनिगमनाविरहश्चेति विभाव्यते

❀ जयलता ❀

दिना प्रत्यक्ष तत्पुरुषीयद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रत्येव निरुक्तालोकसयोगस्य हेतुत्व, येषा तु कदाचिदञ्जनादिनाऽपि प्रत्यक्ष तत्पुरुषीयद्रव्यचाक्षुषे तत्पुरुषीयाऽञ्जनसयोगाऽभावविशिष्टालोकसयोगाभावाभावत्वेन हेतुत्व, बिडालादिचाक्षुषे तु बिडालादिचक्षु सयोगत्वेनैवेति न दोष' इति **मथुरानाथप्रभृतीना** वचन **प्रत्युक्तम्,** महागौरवाच्च । अत एव विषयस्य प्रत्यक्षकारणत्वमिति नैयायिकप्रवादोऽपि **प्रत्याख्यातः,** अतीताऽनागतविषयके सर्वज्ञसाक्षात्कारे व्यभिचारात्, जन्यप्रत्यक्षत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वेऽप्यतीताऽनागतगोचरे योगिप्रत्यक्षे व्यभिचारात्, जन्यलौकिकप्रत्यक्षत्वस्य तत्त्वेऽपि भ्रमे व्यभिचारात्, कार्यतावच्छेदककोटौ तद्वदविशेष्यकतत्प्रकारकत्वलक्षणप्रमात्वस्य निवेशे तु महागौरवादिति विषयाद्युद्बोध्यक्षयोपशमस्यैव तत्त्वौचित्यादिति कृत प्रसङ्गेन ।

प्रकरणकार कण्ठत उच्छृङ्खलमत दूषयति - यदीति । **अन्धकारेऽपि** = अन्धकारसयुक्तत्वेऽपि **घटादेः कालिकेन** = अत्र स्वसयुक्तसयोगलक्षणकालिकसम्बन्धेन, **आलोकविशिष्टत्वात्** विजातीयचक्षुर्मन सयोगाद घटादिचाक्षुषमापद्येतेति शेष । यदा घटादि गुहाया निहित तदाऽपि स आलोककालीन एव, तदानीमन्यत्र सत आलोकस्य स्वसयुक्तकालसयोगसम्बन्धेन घटादौ सत्त्वात् । अत. तमस्यपि विजातीयचक्षुर्मनोयोगादालोककालीनघटविषयकचाक्षुषापत्तिर्दुर्वारा उच्छृङ्खलमते । यदि च परै· 'आलोककालीनचाक्षुष नाम न कालिकेनाऽऽलोकविशिष्टविषयकचाक्षुष किन्तु विषयदेशावच्छेदेनाऽऽलोकविशिष्टविषयकचाक्षुषम् । तत्प्रत्येव विजातीयचक्षु प्रतियोगिकमन सयोगस्य हेतुत्वम् । विषयदेशश्चाऽत्र विषयसमवायी ग्राह्यः । यदाऽन्यदेशावच्छेदेनाऽऽलोकसयोगो न तु कपालाऽवच्छेदेन तदा घटस्य न स्वदेशकपालावच्छेदेनाऽऽलोकविशिष्टत्व, 'इदानीमिह कपाले नाऽऽलोक' इति प्रतीते । अतो न तदानी विजातीयचक्षु प्रतियोगिकमन.सयोगादालोककालीनचाक्षुषाऽऽपत्ति , घटस्य कपालावच्छिन्नालोकविशिष्टत्वशून्यत्वेनाऽऽलोकाऽकालीनत्वादि'त्युच्येतेति मनसिकृत्याऽऽह - **तद्देशावच्छेदेनेति** । विषयसमवायिदेशावच्छेदेनेति । **आलोकविशिष्टत्वस्य तथात्वे** = चक्षु प्रतियोगिकविजातीयमन सयोगकार्यतावच्छेदकघटकत्वे **गौरव** = कार्यतावच्छेदकशरीरगौरव, विषयदेशावच्छिन्नालोकविशिष्ट(घटादि)विषयकचाक्षुषत्वस्य गुरुतरशरीरत्व स्पष्टमेव । यदि च परै· 'कार्यकारणभावनिश्चयाऽनन्तरमुपस्थितत्वेन तस्य फलमुखत्वान्न दोषत्वमि'ति प्रणिगद्येतेति चेतसिकृत्य दोषान्तरमाविर्भावयति - **कार्यतावच्छेदकाननुगम** इति । कार्यताऽवच्छेदकधर्मघटकीभूतकपाल-तन्त्वादितद्देशाऽननुगमेन चक्षु.प्रतियोगिकमनोविजातीयसयोगकार्यतावच्छेदकधर्माननुगम इत्यर्थ । यदि च परै 'विषयसमवायित्वेनानुगतधर्मेण कपाल-तन्त्वादीनामनुगमसम्भवान्न कार्यतावच्छेदकधर्माननुगम' इति प्रोच्येतेति लक्ष्यीकृत्य दोषान्तरमाविष्करोति - **विनिगमनाविरहश्चेति** । विजातीयचक्षुर्मन.-

है और हमारे पास उसका विरह होने से हमे आलोकाऽकालीन घटादिचाक्षुष नहीं होता है, न कि आलोक का विरह होने से । निष्कर्ष : चाक्षुष का जनक आलोक नहीं हे, किन्तु नयनप्रतियोगिक विजातीय मनसयोग है ।

❀ आलोककालीन चाक्षुष को कार्य मानने पर दोषपरम्परा ❀

यदि इति । यदि यहाँ यह कहा जाय कि –> ''आलोककालीनद्रव्यविषयक चाक्षुष के प्रति विजातीय चक्षुमनोयोग को कारण माना जाय तव तो अमावस्या की रात्रि मे गाढ अन्धकार मे स्थित घटादि का हमे चाक्षुष होने लगेगा, क्योकि घट अनित्य होने से कालिक सम्बन्ध से आलोकविशिष्ट = आलोककालीन है । अतएव तव उसका चाक्षुष आलोककालीन द्रव्यविषयक कहा जा सकता है और आलोककालीन द्रव्यविषयक चाक्षुष का जनक विजातीय नयनमनसयोग हमारे पास होने मे कोई बाध भी नहीं है । यद्यपि यहाँ इस आपत्ति के परिहारार्थ यह कहा जा सकता है कि - 'विजातीय नयनमनसयोग के कार्यस्वरूप आलोककालीन चाक्षुष का अर्थ कालिकसम्बन्ध से आलोकविशिष्टद्रव्यविषयक चाक्षुष नहीं है, किन्तु विषयदेशावच्छेदेन आलोकविशिष्टद्रव्यगोचर चाक्षुष है । जब घट अन्धकार से आवृत होता है तब कालिकसम्बन्ध से घट मे आलोक होने पर भी घटदेश = घटसमवायी कपाल के अवच्छेद से (= कपालावच्छेदेन) घट मे आलोक नहीं रहने से घट स्वदेशावच्छेदेन आलोकविशिष्ट = आलोककालीन नही है । अतएव उस काल मे उसका चाक्षुष आलोककालीनद्रव्यविषयक नही कहा जा सकता । विवक्षित विजातीय नयनमनसयोग के कार्यतावच्छेदक से शून्य होने की वजह तब हमे घट का चाक्षुष नहीं हो सकता है । अतः अन्धकारस्थ घट के चाक्षुष की आपत्ति विजातीयनयनमनसयोगकारणतापक्ष मे नहीं दी जा सकती' - तथापि यह कथन इसलिए असगत बनता है कि ऐसा मानने मे गौरव है, क्योकि कार्यतावच्छेदककोटि मे विषयदेश = विषयसमवायी

तदाऽस्तु लाघवात् तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रत्येव विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य हेतुत्वम् । न च तमःकालीनचक्षुःसंयोगादेवाऽऽलोकसमवहिताद्घटादिचाक्षुषोदयदर्शनात् चक्षुर्मनोयोगस्याऽप्येकस्यैव सम्भवात्कथमेव ? इति वाच्यम्, मनसः त्वरितगतित्वेनाऽऽलोकसमवधानदशायां

❋ जयलता ❋

संयोगकार्यतावच्छेदकं विषयसमवायिदेशावच्छिन्नालोकविशिष्टविषयविषयकलौकिकचाक्षुषत्वं यद्वा विषयविशिष्टविषयसमवायिदेशावच्छिन्नालोकविषयकलौकिकचाक्षुषत्वं ? इत्यत्र विनिगमनाऽभावः । ततश्च नोपदर्शितोच्छृङ्खलमतं श्रद्धेयमिति विभाव्यते, तदाऽस्तु लाघवात् = कार्यतावच्छेदकधर्मलाघवात्, तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रत्येव विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य हेतुत्वमिति । पेचकादीनां विजातीयचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगेनैव रात्रौ तमःसंयुक्तघटादिचाक्षुषमस्मदादीनाञ्च तद्विरहेण न तदानीं तमःसंयुक्तघटादिगोचरचाक्षुषम् । इत्थञ्च तमःसंयुक्तचाक्षुषत्वस्यैव विजातीयचक्षुःप्रतियोगिकमनःसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वं घटामञ्चतीति कार्यतावच्छेदकघटकसंयोगाश्रयत्वेन तमसो द्रव्यत्वं सेत्स्यतीति भावः ।

ननु तमःसंयोगविशिष्टस्यैव द्रव्यस्य पश्चादालोकसंयोगदशायां चाक्षुषमुपजायते । तच्च कथं घटते ? पूर्वोत्तरकालीनस्यैकपुरुषीयचक्षुःप्रतियोगिकविजातीयमनःसंयोगस्याऽभिन्नत्वात् । अतो न तमःसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषं प्रति विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य कारणत्वं घटामञ्चतीत्याशङ्कामपनोदयितुमुपदर्शयति - न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । तमःकालीनचक्षुःसंयोगात् = विषयदेशावच्छिन्नतमःसंयोगाश्रयघटादिगोचरचक्षुःसंयोगात् एव आलोकसमवहितात् = आलोकसंयोगाऽवच्छेदकावच्छिन्नात् घटादिचाक्षुषोदयदर्शनात्, चक्षुर्मनोयोगस्य = चक्षुःप्रतियोगिकविजातीयमनःसंयोगस्य, अपि एकस्यैव = अभिन्नस्यैव, सम्भवात् कथं एव = विजातीयचक्षुर्मनोयोगस्य तमःसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषजनकत्वं ? आलोकसमवधानाऽसमवधानकालीनविषयपुरुषचक्षुरादेर्भेदाभावेन चक्षुःप्रतियोगिकविजातीयमनःसंयोगस्याऽप्यभिन्नत्वादालोकसमवधानदशायामिवाऽऽलोकाऽसमवधानदशायामपि घटादिचाक्षुषमस्मदादीनां स्यात् न स्याद्वाऽऽलोकसमवधानकालेऽपि तदिति शङ्काशयः ।

तद्व्यपोहे प्रकरणकृद्धेतुमावेदयति - मनसः त्वरितगतित्वेनेति । मनसः चञ्चलत्वेनेति । आलोकसमवधानदशायां

का निवेश अधिक है । दूसरी बात यह है कि विषयदेश भिन्न भिन्न होते है, जैसे घट का देश है कपाल, पट का देश है तन्तु । घटादि विषय का देश = समवायी अननुगत होने से उससे घटित कार्यतावच्छेदक धर्म भी अननुगत बनता है। कार्यतावच्छेदक धर्म अननुगत होने से विजातीय नयनमनसंयोग को आलोककालीन चाक्षुष साक्षात्कार का कारण नहीं माना जा सकता । तीसरा दोष यह है कि विजातीय नयनमनसंयोग के कार्यतावच्छेदकधर्मरूप से विषयदेशावच्छिन्नाऽऽलोकविशिष्टविषयविषयकचाक्षुषत्व का स्वीकार करना या विषयविशिष्टविषयदेशावच्छिन्नाऽऽलोकविषयकचाक्षुषत्व का ? इस विषय में कोई विनिगमक नहीं है, क्योंकि घटसंयुक्तनयनप्रतियोगिक विजातीय मनोयोग के कार्यरूप से कपालावच्छिन्नाऽऽलोकविशिष्टघटचाक्षुष की भाँति घटविशिष्ट-कपालावच्छिन्नालोकविषयक चाक्षुष का भी स्वीकार किया जा सकता है । इन तीन दोष की वजह चक्षुप्रतियोगिक विजातीय मनसंयोग को आलोककालीनद्रव्यविषयक चाक्षुष का कारण नहीं माना जा सकता'' <—

❋ अन्धकारसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुष भी विजातीयसंयोग का कार्य है - स्याद्वादी ❋

तदा इति । तब उचित यही है कि चक्षुप्रतियोगिक विजातीयमनसंयोग को आलोककालीनद्रव्यविषयक = विषयदेशावच्छिन्नालोकविशिष्टविषयविषयक चाक्षुष का कारण न मान कर अन्धकारसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुष का ही कारण माना जाय, क्योंकि यहाँ कार्यतावच्छेदक धर्म का शरीर लघु होता है । उल्लू, बिल्ली आदि को अन्धकारस्थित द्रव्य का चाक्षुष होने का कारण विजातीय नयनमनसंयोग ही है । यहाँ यह शंका हो कि —> ''एक ही घट जब अन्धकारकालीन = अन्धकारसंयुक्त होता है तब हमें उसका चाक्षुष नहीं होता है और जब उसी घट के पास दीपक लाया जाता है तब हमें उसी घट का चाक्षुष होता है । यहाँ अन्धकार और प्रकाश के काल में घट, पुरुष, नयन, नयनसंयोग में कोई भेद नहीं होने से पूर्वोत्तरकालीन नयनमनसंयोगविशेष भी अभिन्न = एक ही होता है, यह तर्कसिद्ध होता है । आलोक यदि चाक्षुष का कारण ही नहीं है और विजातीय नयनमनसंयोग पूर्वोत्तरकाल में एक ही है तब पूर्वकालअवच्छेदेन (=अन्धकार काल में) घट का चाक्षुष क्यों नहीं होता है ? और पश्चात् आलोककाल में उसी घट का चाक्षुष क्यों होता है ? या तो पूर्व काल में भी घट का चाक्षुष होना चाहिए या तो पश्चात् भी घट का चाक्षुष नहीं होना चाहिए, क्योंकि नयनमनसंयोगविशेष तो एक ही है'' <— तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि मन चंचल है, अस्थिर है, शीघ्र गति वाला है । इसी वजह

चक्षुर्मनोयोगस्य भिन्नस्यैव कल्पनादिति तमसो द्रव्यत्व निराबाधम् ।

एतेन द्रव्यचाक्षुषसामान्य प्रत्यालोकसयोगहेतुताया. क्लृप्तत्वादालोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसः कथ द्रव्यत्वमित्यपि दूरापास्तम् ।

तौतातिकैकदेशिनस्तु —> द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य हेतुत्वेऽपि तामसेन्द्रियेणैव

❀ जयलता ❀

चक्षुर्मनोयोगस्य = चक्षु प्रतियोगिकमनोविजातीयसयोगस्य, **भिन्नस्यैव** = आलोकाऽसमवधानकालिकचक्षु प्रतियोगिकमनोविजातीयसयोगाऽपेक्षया विलक्षणस्यैव, **कल्पनात्** न पश्चादिव पूर्वं घटादिचाक्षुषप्रसङ्गो न वा पूर्वमिव पश्चाद् घटादिचाक्षुषाऽनापत्ति । अतो न प्रदर्शितहेतु-हेतुमद्भावे व्यभिचार **इति** = हेतो विजातीयचक्षुर्मनोयोगकार्यतावच्छेदकघटकीभूतसयोगाश्रयत्वेन **तमसो द्रव्यत्व निरावाधमिति** ।

एतेनेति । आलोकस्य द्रव्यविपयकचाक्षुपत्वावच्छिन्नकारणत्वाऽसम्भवेनेति । अस्य दूरापास्तमित्यनेनाऽन्वय । **द्रव्यचाक्षुपसामान्य प्रति** = द्रव्यविपयकलौकिकचाक्षुपत्वाऽवच्छिन्न प्रति, **आलोकसयोगहेतुतायाः** = चक्षु सयोगाऽवच्छेदकावच्छिन्नाऽऽलोकसयोगकारणताया , **क्लृप्तत्वात्** = आवश्यकत्वात्, **आलोक विना एव वीक्ष्यमाणस्य** = दृश्यमानस्य, **तमसः कथ द्रव्यत्व** ? यदि हि तमो द्रव्य स्यात्तर्हि चक्षु सयोगाऽवच्छेदकावच्छिन्नाऽऽलोकसयोगेनैव तच्चाक्षुष स्यात्, द्रव्यलौकिकचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति तस्य हेतुत्वाऽवधारणात् । न च तम चाक्षुप तेन भवति । अत एव न तस्य द्रव्यत्वमिति नैयायिकाशय । पाटच्चरविलुण्टिते वेश्मनि यामिकजागरणतुल्यमिदम् । व्यावर्णितरीत्या द्रव्यलौकिकचाक्षुपत्वस्याऽऽलोकसयोगकार्यत्वावच्छेदकत्वाऽसम्भवादेवेद प्रच्यवत इति स्पष्टम् । **एतेन** तमसो द्रव्यत्वे आलोकनिरपेक्षेण चक्षुरिन्द्रियेण ग्रहो न स्यात्, द्रव्यलौकिकचाक्षुपे आलोकसापेक्षचक्षुरिन्द्रियस्य कारणत्वादित्यपि **प्रत्याख्यातम्** । आलोकचाक्षुपे व्यभिचाराच्च । ततश्च विजातीयचक्षुर्मनोयोगकार्यतावच्छेदकघटकीभूतसयोगाश्रयत्वेन तमसो द्रव्यत्वमेवेति निष्कर्ष । विजातीयचक्षु प्रतियोगिकमन सयोगश्च स्वमते क्षयोपशमविशेपस्थानीययोग्यतात्मको बोध्य । तेन नाऽपसिद्धान्तप्रसङ्ग इति विभावनीय सुधीभि ।

तौतातिकैकदेशिनस्त्विति । बाल्यवयसि तुतातिकपदेनाऽभिधीयमानस्य मीमासकधुर्यस्य **कुमारिलभट्टस्याऽनुयायिन**

आलोकविरहकाल मे जो नयनप्रतियोगिक मनसयोग होता है वह आलोकसमवधानकाल मे नष्ट होता है और उससे विजातीय नयनप्रतियोगिक मनसयोग उत्पन्न होता हे । अन्धकार होने पर हमारे पास अन्धकारस्थ घट के चाक्षुप का जनक नयनमनसयोगविशेप नही होने के सबव हमे उसका चाक्षुप नही होता है और उल्लू, बिल्ली आदि के पास अन्धकारसयुक्तद्रव्यविपयक चाक्षुप का जनक नयनमनसयोगविशेप होने से उन्हे तब उसका चाक्षुप होता है । आलोक के सान्निध्य और असान्निध्य काल मे हमारा नयनसयोग अलग अलग होने की वजह अन्धकारकाल मे हमे घट का चाक्षुप नही होता है और प्रकाशकालावच्छेदेन घट का चाक्षुप साक्षात्कार होता है । अतः नयनमनसयोगविशेप को अन्धकारसयुक्तद्रव्यविपयक चाक्षुप का कारण मानना युक्तिसगत ही हे । उसका कार्यताऽवच्छेदक धर्म है अन्धकारसयोगविशिष्टविपयकलौकिकचाक्षुपत्व, जिसके घटकीभूत सयोग का आश्रय होने की वजह अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि होती है, क्योकि सयोग गुण है, जो केवल द्रव्य मे ही रहता है। अतः आलोक को चाक्षुप प्रत्यक्ष का कारण नही माना जा सकता ।

एतन इति । यहाँ अन्य विद्वानो का यह कथन कि —> ''द्रव्यविपयक चाक्षुपसामान्य यानी सब द्रव्यचाक्षुप के प्रति आलोकसयोग मे कारणता सिद्ध होने से अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि अन्धकार का चाक्षुप तो बिना आलोकसयोग के ही होता है । यदि अन्धकार-द्रव्य होता, तब तो घटादि की भाँति उसके चाक्षुप की उत्पत्ति बिना आलोकसयोग के नही हो सकती । मगर होती तो है। इसलिए अन्धकार को द्रव्यस्वरूप न मान कर आलोकाऽभावस्वरूप ही मानना सगत है'' <— इसलिए निराकृत हो जाता हे कि आलोकसयोग मे द्रव्यविपयकलौकिकचाक्षुपत्वावच्छिन्न के प्रति कारणता ही नामुमकिन है, जिसका हमने अभी तक विस्तार से निरूपण किया है । आलोकसयोग मे द्रव्यचाक्षुपमात्र के प्रति कारणता असिद्ध होने से अन्धकार का, बिना आलोकसयोग के, चाक्षुप होने से उसमे द्रव्यत्व का बाध नही हो सकता । अतः अन्धकार द्रव्यात्मक है, यही मानना सगत है ।

❀ तामसेन्द्रियकल्पना - तौतातिकदेशीयमत ❀

पूर्वपक्ष :- तौता इति । द्रव्यचाक्षुपमात्र के प्रति आलोकसयोग की कारणता निश्चत ही है, फिर भी अन्धकारसाक्षात्कार

तमोग्रहसम्भवान्नाऽनुपपत्ति । न च निमीलितनयनस्यापि तद्ग्रहाऽऽपत्तिः, चक्षुःश्रवःश्रोत्रवत् तस्य चक्षुर्गोलकाधिष्ठानत्वात् । न चेन्द्रियान्तराऽग्राह्यस्वग्राह्यगुणाभावात् तादृशेन्द्रियाऽ-

जयलता

तौतातिकपदेनोच्यन्ते । कुमारिलभट्टसिद्धान्तैकदेशाश्रयत्वे सति स्वतन्त्रार्थप्रतिपादका तौतातिकैकदेशिन इति गीयन्ते । तु नैयायिकाद्यपेक्षया विशेषबोधक । विशेषश्चाय - द्रव्यचाक्षुष प्रत्यालोकसयोगस्य हेतुत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽपि तामसेन्द्रियेण चक्षुरादि-पञ्चेन्द्रियव्यतिरिक्तेन एव तमोग्रहसम्भवात् = तमोद्रव्यप्रत्यक्षसम्भवात् नाऽनुपपत्तिः । एतेन द्रव्यचाक्षुष प्रत्यालोकसयोगस्य हेतुत्वे आलोकसयोगमृते दृश्यमानस्य तमस कथ द्रव्यत्वमिति प्रत्युक्तम्, तमस चक्षुरग्राह्यत्वेनाऽचाक्षुषत्वात् । चक्षुषस्तमोऽग्राहकत्वे पिहितनयनस्यापि पुरुषस्य तम साक्षात्कार स्यादित्याशङ्का निराकुर्वन्ति - न चेति । तद्ग्रहापत्तिः = तम प्रत्यक्षप्रसङ्ग । प्रकृतापादनस्याऽपाकरणे ते हेतुमुपदर्शयन्ति - चक्षुःश्रवःश्रोत्रवत् = भुजङ्गमश्रोत्रमिव, 'चक्षुषी एव श्रवसी यस्य स सर्प चक्षु श्रव पदेन प्रतिपाद्यते । वासुकिश्रोत्र यथा नेत्रगोलकान्तर्वर्त्ति तथा तामसेन्द्रियमपि नयनगोलकाधिष्ठितमित्यर्थ । तस्य = तामसस्य, चक्षुर्गोलकाधिष्ठानत्वात् = अक्षिगोलकेऽवस्थितत्वात् । यथा भोगी नेत्रे निमील्य न किञ्चिदपि पश्यति शृणोति वा तदीयश्रोत्रनयनेन्द्रिययो. चक्षुर्गोलकस्थत्वेन चक्षु पिधानदशाया तयो स्वविषयाऽसन्निकृष्टत्वात् तथैव वयमपि नयने पिधाय न घटादिक चक्षुरिन्द्रियेण तमो वा तामसेन्द्रियेण विज्ञातु शक्नुम , अस्मदीयचक्षु तामसेन्द्रिययो नेत्रगोलकवर्तितया नयन-निमीलनावस्थाया तमस स्वविषयासन्निकृष्टत्वादिति न निमीलितनयनीयतम प्रत्यक्षप्रसङ्गावकाश इति तेषामाशय ।

ननु तामसस्येन्द्रियत्वसिद्धौ तमसस्तद्ग्राह्यत्व सिध्यति । न च तस्येन्द्रियत्व सम्भवति, तमसि चक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्यत्वे सति तामसग्राह्यगुणस्याऽभावात् । यथा पृथिव्या चक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्यस्य घ्राणग्राह्यस्य गन्धगुणस्य सत्त्वाद् घ्राणस्य चक्षुरा-दीन्द्रियाऽतिरिक्तेन्द्रियत्व सिध्यति तथा नाऽत्र वक्तु शक्यते इति न तामसस्य चक्षुराद्यतिरिक्तेन्द्रियत्वसिद्धिरिति शङ्काम-पहस्तयितुमुपक्रमन्ते - न चेति । इन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणाभावात् = तमसि तामसेतरचक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्य-तामसग्राह्य-गुणस्य विरहात्, तादृशेन्द्रियाऽसिद्धिः = चक्षुराद्यतिरिक्तेन्द्रियत्वेन तामसस्य न सिद्धि । इन्द्रियान्तरत्वव्यवस्थापकगुणविर-हान्न तामसेन्द्रियसिद्धिरिति शङ्काशय ।

मे व्यभिचार नही है, क्योकि अधकार का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता है किन्तु तामसेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है । अन्धकार-साक्षात्कार मे चाक्षुषत्वस्वरूप कार्यतावच्छेदक धर्म नही होने से उसका जन्म, विना आलोकसयोग के, होने पर भी व्यतिरेक व्यभिचार नही कहा जा सकता । अन्धकार का प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय से नही होता है किन्तु तामस नाम की छट्ठी इन्द्रिय से होता है । यहाँ यह शका करना कि –> "अन्धकार के साक्षात्कार के प्रति यदि चक्षु इन्द्रिय कारण नही है, किन्तु तामस इन्द्रिय ही कारण है, तव तो जैसे आँखे मूँद कर श्रवणेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है, ठीक वैसे ही अन्धकार का भी तामस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने लगेगा" <– नामुनासिव है । इसका कारण यह है कि सर्पकर्ण की भाँति तामसेन्द्रिय भी चक्षुगोलक मे अधिष्ठित होती है । आशय यह है कि नाग की श्रवणेन्द्रिय आँख मे ही होती है । इसलिए जब वह आँखे वद करता है, तव उसकी कर्णेन्द्रिय का शब्द से सन्निकर्ष नही होने से वह शब्द को नही सुन सकता है। ठीक इसी तरह हमारी तामस इन्द्रिय भी नेत्रगोलक मे ही अधिष्ठित होती (= रहती) है । इसलिए जब हम आँखे वद करते है, तव हमारी तामस इन्द्रिय का अन्धकार द्रव्य के साथ सयोग नही होने से उस समय अन्धकार का प्रत्यक्ष हमे नही होता है । यहाँ यह शका हो कि –> "तामस नाम की अतिरिक्त इन्द्रिय की कल्पना नही की जा सकती, क्योकि अन्धकार द्रव्य को कोई भी गुण ऐसा नही है, जो तामस इन्द्रिय से ग्राह्य हो और उससे भिन्न इन्द्रिय से ग्राह्य नही हो । इन्द्रियत्व का व्यवस्थापक असाधारण गुण होता है, जो भिन्न इन्द्रिय से अग्राह्य हो एव अपने से ग्राह्य हो । जेसे कि पृथ्वी मे गन्ध गुण ऐसा है, जो घ्राण से ही ग्राह्य है एव उससे अतिरिक्त चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्राह्य नही है । इसलिए चक्षु आदि से नाक को भिन्न इन्द्रिय मानी जाती है । मगर अन्धकार मे कोई भी ऐसा गुण नही है, जो तामस से भिन्न इन्द्रिय से अग्राह्य एव तामस से ही ग्राह्य हो । इसलिए तामस मे चक्षु आदि से अतिरिक्त इन्द्रियत्व ही नही माना जा सकता । तव तो अन्धकार का चाक्षुष ही मानना पड़ेगा, जिससे आलोकसयोगनिष्ठ कारणता मे व्यभिचार प्रसक्त होगा" <–

इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्व ही भिन्नेन्द्रियत्व का व्यवस्थापक

ऽलब्धा इति । तो यह शका ठीक नही है, क्योकि इन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणग्राहकत्व को अतिरिक्त इन्द्रियत्व

सिद्धि , लाघवादिन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वमात्रस्यैव भिन्नेन्द्रियत्वव्यवस्थापकत्वात्, तादृशस्य तम·सयोगस्यापि सहकारित्वात् । न च तमसि[1] तम.संयोगाऽसम्भव , गगनतम:सयोगस्य तत्राऽपि सत्त्वात् ।

नन्वेवमपि किञ्चिदवच्छेदेन तम·सयोगवति भित्त्यादावालोकसयुक्ते तामसेन्द्रियेण प्रतीति·

❀ जयलता ❀

तामपाकुर्वन्ति-लाघवादिति । इन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणस्येन्द्रियान्तरत्वव्यवस्थापकत्वाऽभ्युपगमाऽपेक्षया **लाघवादिति** । **इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वमात्रस्यैव भिन्नेन्द्रियत्वव्यवस्थापकत्वादिति** । चक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्यस्य गन्धस्य ग्राहकत्वेनैव घ्राणस्य चक्षुराद्यतिरिक्तेन्द्रियत्वसिद्धि न त्विन्द्रियान्तराऽग्राह्य-स्वग्राह्यगुणग्राहकत्वेन, गौरवात् । **तादृशस्य** = इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वस्य च **प्रकृते** = तमोग्रहस्थले, **तामसे** = तामसपदप्रतिपाद्ये एव **सत्त्वात्**, न तु चक्षुपि, तस्याऽऽलोकसयोगसहकृतस्यैव द्रव्य-ग्राहकत्वात्, तमसस्त्वालोकसयोगमृते ण्व ग्रहात् । तमस चक्षुरादीन्द्रियाऽग्राह्यत्वेन तद्ग्राहकस्य तामसस्याऽतिरिक्तेन्द्रियत्व-सिद्धिरिति तेषामशय ।

न च पेचकादीना रात्राविव **दिवाऽपि घटादिग्रहापत्तिः** = घटादिसाक्षात्कारप्रसङ्ग , तदीयनयनगोलकाधिष्ठित-तामसेन्द्रियसन्निकृष्टत्वाद्घटादीनामिति शङ्काशय । तदयुक्तत्वमाविर्भावयन्ति - **तामसेन्द्रिये** द्रव्यसाक्षात्कार प्रति **तमःसयोग-स्याऽपि सहकारित्वात्**, दिवा तमोद्रव्यसयोगस्य घटादौ विरहात् न पेचकादीना तामसेन्द्रियेण घटादिग्रहप्रसङ्ग । न हि सामग्रीविरहे कार्योत्पाद आपादयितुमर्हतीति तेषामभिप्राय ।

ननु सयोगसम्बन्धेन तमस तामसेन्द्रियसहकारित्वोपगमे तमोग्रहो न स्यात्, तेन सम्बन्धेन तमस तमस्यसत्त्वादिति शङ्कामपाकुर्वन्ति - **न चेति** । **गगनतमःसयोगस्य** = गगनप्रतियोगिकतम सयोगस्य **तत्राऽपि** = तमस्यपि **सत्त्वात्** । **अनेन** तमसि तमोऽन्तराऽसत्त्वाद् व्यतिरेकव्यभिचार इति **प्रत्युक्तम्**, चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्नगगनतम.सयोगसम्बन्धेन तमस तमोवृत्तित्वात् ।

अन्वयव्यभिचार कश्चिच्छङ्कते - **नन्विति** । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । **एवमपि** = तमस गगनतम सयोगवत्त्वेन तमोग्रहे व्यतिरेकव्यभिचारनिराकरणद्वारा तम.सयोगस्य तम सयुक्तद्रव्यग्रह प्रति तामसेन्द्रियसहकारित्वप्रतिपादनेऽपि **किञ्चिद-वच्छेदेन तमःसयोगवति** = परभागावच्छिन्नतम सयोगविशिष्टे, **भित्त्यादौ, आलोकसयुक्ते** = अपरभागावच्छिन्नालोकसयोग-

का व्यवस्थापक मानने मे गौरव है । इसकी अपेक्षा इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्व को ही भिन्नेन्द्रियत्व का व्यवस्थापक मानना उचित है, क्योकि इसमे लाघव है । चक्षु आदि इन्द्रिय से अग्राह्य यानी चक्षु आदि इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष के अविपय गन्ध का नाक से ग्रहण यानी प्रत्यक्ष होने से ही नाक मे चक्षु आदि की अपेक्षा अतिरिक्त इन्द्रियत्व की सिद्धि होती है। यह तो तामस मे भी अवाधित है, क्योकि चक्षु आदि इन्द्रिय से अग्राह्य अन्धकार का ग्राहकत्व = ज्ञानजनकत्व तामस मे रहता ही है । इसलिए तामस मे अतिरिक्त इन्द्रियत्व की सिद्धि निरावाध हे । यहाँ यह शका करना कि —> ''यदि तामस इन्द्रिय से ही उल्लू आदि को रात को घट आदि का साक्षात्कार होता हे, तव तो उल्लू आदि को दिन मे भी तामस इन्द्रिय से घटादि का साक्षात्कार होना चाहिए, क्योकि उनकी तामसेन्द्रिय का घटादि के साथ सन्निकर्प दिन मे भी अवाधित हे'' <— तो यह नामुनासिव हे, क्योकि तामस इन्द्रिय से जन्य साक्षात्कार मे अन्धकारसयोग भी सहकारिकारण है । दिन मे अधकारसयोगस्वरूप सहकारिकारण के विरह से उल्लू आदि को तामसेन्द्रियसयुक्त घटादि का साक्षात्कार नही होता है। यहाँ यह शका हो कि —> ''यदि तामसेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष मे अन्धकारसयोग भी सहकारिकारण है, ऐसा मानने पर तो अन्धकार कभी भी तामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार का विपय नही वन सकेगा, क्योकि घट मे जैसे सयोग सवध से अन्धकार रहता हे वेसे अन्धकार मे दूसरा अन्धकार सयोगसम्वन्ध से नही रहता है, जिससे उसमे अन्धकारसयोगात्मक सहकारिकारण रह सके। अन्धकार मे अन्धकारसयोग नामुमकिन होने से उसका साक्षात्कार तामसेन्द्रिय से नही हो सकेगा'' <— तो यह नामुनासिव हे, क्योकि अन्धकार मे भी आकाश-अन्धकारसयोगात्मक अन्धकारसयोग रहता ही है । इस तरह सहकारिकारण के रहने से अन्धकार का तामस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो सकता हे ।

अन्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न तामससंयोग कारण

नन्व इति । यहाँ यह शका हो कि —> ''तामसेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष मे अन्धकारसयोग सहकारी कारण है, यह नही

१ 'तमस' इति मूलप्रतो पाठ ।

स्यादिति चेत् ? तर्हि तम संयोगावच्छेदेकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्यैव तम संयुक्तद्रव्य-ग्राहकत्वमस्तु । विनिगमनाविरहस्तु परस्याऽपि तुल्य । चन्द्रिकायां पेचकादेस्तु चाक्षुष-

❁ जयलता ❁

वति सति तम संयुक्तभित्त्यादेरालोकसंयुक्तभागस्य तामसेन्द्रियेण प्रतीतिः स्यात्, भित्त्यादे तम संयुक्तत्वात् । न चैव तद्ग्रहो भवतीति दुर्निवारोऽन्वयव्यभिचार इत्येक सौव्यतोऽपरप्रच्युतिरिति शङ्काशय ।

तामसेन्द्रियवादिनोऽत्र प्रतिविदधते - तर्हीति । तम संयुक्तभित्त्यादेरालोकसंयुक्तभागस्य तामसेन्द्रियेणाऽग्रहे सतीत्यर्थ । **तमःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्यैवेति** । तम संयोगस्य यो विषयदेशोऽवच्छेदक तदवच्छिन्नस्य तामसेन्द्रिय-संयोगस्येति, एवकारेण तम संयोगसहकृततामसस्य व्यवच्छेद कृत । **तमःसंयुक्तद्रव्यग्राहकत्व** = तम संयुक्तद्रव्यविषयक-प्रत्यक्षजनकत्व **अस्तु** । न च तम संयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसंयोगस्य हेतुत्व यद्वा तामससंयोगावच्छेदकावच्छिन्न-तम संयोगस्येत्यत्र विनिगमकाऽभावान्नैतादृशकार्यकारणभावसम्भव इति वाच्यम्, तत्र नैयायिकस्याऽपि 'चक्षु संयोगावच्छेद-कावच्छिन्नालोकसंयोगस्य आलोकसंयुक्तद्रव्यचाक्षुषजनकत्व यद्वाऽऽलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु संयोगस्य ?' इत्यत्र विनि-गमनाविरहस्य तुल्यत्वादित्याशयेन वदन्ति-विनिगमनाविरहस्त्विति । कारणविनिगमकाभावस्त्वित्यर्थ , परस्यापि = नैयायिक-स्यापि, तुल्यः = सम । अत एव तेन नैतादृश पर्यनुयोग कर्तु युज्यते । तदुक्त श्लोकवार्तिके 'यत्रोभयो समो दोष', परिहारस्तयो सम । नैक पर्यनुयोज्य स्यात्तादृगर्थविचारणे' ॥ ( ) इति । एतेनाऽऽलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन चक्षुष एवालोकसंयुक्तचाक्षुषकारणत्व लाघवादिति नैयायिकवचन प्रत्याख्यातम्, 'तम संयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन तामसस्यैव तम संयुक्तद्रव्यग्राहकत्व लाघवादि'त्यस्याऽपि सुवचत्वात् । न चैवमपि तम संयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन तामसस्य हेतुत्व यद्वा तामससंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन तमसो हेतुत्वम् ? इत्यत्र विनिगमनाविरह इति वक्तव्यम्, आलोक-संयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेन चक्षुषो हेतुत्वमाहोस्वित् चक्षु संयोगावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धेनाऽऽलोकस्य ? इत्यत्र नैयायिकस्यापि विनिगमकस्याऽन्वेषणीयत्वादिति तेषामभिप्राय ।

ननु तम संयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामससंयोगस्य न तम संयुक्तद्रव्यविषयकतामसग्रहजनकत्व सम्भवति राकाया सर्वत चन्द्रिकाप्रसरे सति घटादे तमोऽसंयुक्तत्वेन तम संयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामससंयोगशून्यत्वेऽपि पेचकादे तत्तामससाक्षात्कारोदयेन

माना जा सकता, क्योंकि भित्ति आदि के पश्चात् भाग में अन्धकार संयोग होने पर आलोकसंयुक्त पुरोवर्ती भाग का तामस इन्द्रिय से साक्षात्कार होने की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । मगर वस्तुस्थिति यह है कि तब अन्धकारसंयुक्त भित्ति के आलोकसंयुक्त भाग का प्रत्यक्ष चाक्षुष (= चक्षुजन्य) ही होता है, न कि तामसेन्द्रियजन्य । इसलिए अन्धकारसंयोग तामस का सहकारी कारण नहीं माना जा सकता है'' - तो यह नामुनासिब है, क्योंकि इसके परिहारार्थ यह कहा जा सकता है कि तामसीय साक्षात्कार के प्रति अन्धकारसंयोग और तामसेन्द्रियसंयोग को स्वतन्त्रकारण नहीं है किन्तु अन्धकारसंयोग के अवच्छेदक विषयदेश से अवच्छिन्न = नियन्त्रित तामसेन्द्रियसंयोग ही कारण है । भित्ति के केवल पश्चात् भाग में अन्धकारसंयोग होने पर तामसेन्द्रियसंयोग अन्धकारसंयोगाऽवच्छेदक पश्चात् भाग से अवच्छिन्न नहीं होता है । विशेष्य होने पर भी अन्धकारसंयोगा-वच्छेदकावच्छिन्नत्वात्मक विशेषण का विरह होने से विशिष्टकारण का अभाव सिद्ध होता है । अतएव भित्ति के पुरोवर्ती आलोक-संयुक्त भाग का होने वाला साक्षात्कार तामसीय (= तामसेन्द्रियजन्य) नहीं होगा, किन्तु चाक्षुष (= चक्षुजन्य) ही होगा । यहाँ यह नैयायिककथन हो कि --> ''तामसीय प्रत्यक्ष के प्रति अन्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न तामसेन्द्रियसंयोग को कारण माना जाय या तामसेन्द्रियसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नान्धकारसंयोग को कारण माना जाय ? इस समस्या का समाधान कुमारिलभट्टानुयायी के एकदेशीय विद्वानो की ओर से नहीं किया जा सकता है'' <-- तो यह नामुनासिब है, क्योंकि आप नैयायिक महाशय को भी ''आलोकसंयुक्तद्रव्यविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण आलोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न चक्षुसंयोग माना जाय या चक्षुसंयोगा-वच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोग ?'' इस प्रश्न का प्रत्युत्तर देना ही पड़ेगा । यह विनिगमनाविरह दोष नैयायिकमत में भी अप्रतिकार्य होने से उपर्युक्त दोष का उद्भावन उसकी ओर से नहीं किया जा सकता । उक्त समस्या के बारे में तो नैयायिक और मीमासक को 'तेरी भी चुप और मेरी भी चुप' यही उचित है ।

❦ चाँदनी में उल्लूचाक्षुष का स्वीकार ❦

चन्द्रि इति । यहाँ यह शका हो कि --> 'अन्धकारसंयोगावच्छेदकावच्छिन्न तामसेन्द्रियसंयोग को तामसीय प्रत्यक्ष का

मेवाऽभ्युपेयम् । न च दिवाऽपि तद्ग्रहाऽऽपत्ति, फलबलात् सौरालोकस्य तत्प्रतिबन्धकत्व-कल्पनादित्याहु ।

तत्तुच्छम् - 'तम पश्यामी'तिप्रतीतेर्निरालम्बनत्वापत्ते· ।

अथ 'पश्यामी'ति विषयता न्यायनये चक्षु सन्निकर्ष-दोषविशेषयोरिव तामसेन्द्रियसन्नि-

※ जयलता ※

व्यतिरेकव्यभिचारादित्याशङ्काया तयाहु - चन्द्रिकायामिति । पेचकादेस्तु चाक्षुपमेवाऽभ्युपेयमिति । एवकारेण तामस-साक्षात्कारव्यवच्छेद कृत । तदानी, पेचकादे तामसेन्द्रियजन्यसाक्षात्काराऽनभ्युपगमादेव न व्यतिरेकव्यभिचारावकाश इति भाव । 'तर्हि राकायामिव दिवाऽपि पेचकादे पटादिचाक्षुपापत्ति स्यादि'ति शङ्कामपनोदयन्ति - न चेति । तदपाकरणे हेतुमावेदयन्ति - फलवलादिति । दिवा पेचकादे तच्चाक्षुषानुदयाऽन्यथानुपपत्ते सौरालोकस्य तत्प्रतिवन्धकत्वकल्पनादिति । पेचकादिचाक्षुषप्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमादिति । चन्द्रालोके सत्यपि पेचकादीना चाक्षुपोदयात्र तस्य तच्चाक्षुप प्रति प्रतिबन्धकत्व पर सौराऽऽलोके सति तेषा तदनुदयात् सौरालोकस्य तच्चाक्षुप प्रति प्रतिबन्धकत्वमुन्नीयते । इत्थश्च तमसि जायमान साक्षात्कार प्रति तामसेन्द्रियस्य तम सयोगावच्छेदकावच्छिन्नसयोगसम्बन्धेन कारणत्व फलितमिति तौतातिकैकदेशीयाभिप्राय ।

ननु 'पश्यामी'तिज्ञाननिरूपितविषयता चक्षु सन्निकर्षेण नियम्या यथा 'शुक्ति पश्यामी'त्यादौ प्रमाया, यद्वा दोपविशेपेण नियम्या यथा 'रजत पश्यामी'त्यादौ भ्रमे । यदि च तमस तामसेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारविषयत्वमुपेयेत तर्हि तस्य चाक्षुपत्व न स्यात् । न स्याच्च 'तम पश्यामी'ति प्रतीते प्रमात्वम्, 'रजत पश्यामी'त्यादिज्ञानवत् निरालम्वनत्वादित्याशयेन प्रकरणकार तौतातिकैकदेशिमत दूषयति - तत्तुच्छमिति । 'तमः पश्यामी'ति प्रतीतेः निरालम्वनत्वापत्ते = निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिरिति वक्तव्यम्, सार्वजनीनत्वेन तस्या भ्रमत्वाऽयोगात्, बाधकाऽभावाच्च । अत एवातिरिक्ततामसेन्द्रियकल्पनाऽपि प्रत्याख्याता, गौरवात्, मानाभावाचेति स्याद्वाद्याशय ।

अतिरिक्ततामसेन्द्रियवादिन साम्प्रत स्वपक्ष साधयन्ति - अथेति । 'पश्यामी'ति विपयता = 'पश्यामी'तिप्रतीति-निरूपितविपयता, न्यायनये चक्षुःसन्निकर्प-दोपविशेपयोरिव तामसेन्द्रियसन्निकर्पस्यापि नियम्या, तन्मत इति शेप । 'शुक्ति

कारण मानने पर उल्लू को पूनम की रात मे चारो ओर चॉदनी होने पर घटादि का तामसीय साक्षात्कार कैसे हो सकेगा ? मगर उल्लू को चॉदनी मे घटादि का साक्षात्कार तो होता ही हे । इसलिए व्यतिरेक व्यभिचार होगा'' <— तो यह ठीक नही है, क्योकि उल्लू आदि को चॉदनी मे घटादि का जो साक्षात्कार होता हे, वह तामसीय नही होता है किन्तु चाक्षुप होता है । यदि तामसीय प्रत्यक्ष माना जाय तो कारण के विना कार्य उत्पन्न होने से व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश होता । मगर तव हम तामसीय प्रत्यक्ष नही मानते हे किन्तु चाक्षुप प्रत्यक्ष मानते हे । इसलिए व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नही है । यहॉ यह शका हो कि —> ''उल्लू आदि को रात मे चद्रालोक (= चॉदनी) होने पर भी यदि घटादि का चाक्षुप साक्षात्कार होता है, तव तो दिन मे सोरालोक (= सूर्यप्रकाश) होने पर भी घटादि का चाक्षुप होने लगेगा''<— तो वह ठीक नही है, क्योंकि दिन मे उल्लू आदि को घटादि का चाक्षुप साक्षात्कार नही होता है, यह तो सर्वजनविदित होने से उसके वल से सूर्यप्रकाश को उल्लू आदि को होनेवाले चाक्षुप प्रत्यक्ष का प्रतिवन्धक मानते है । यदि सूर्यप्रकाश उल्लूचाक्षुप का प्रतिवन्धक नही होता, तव तो चन्द्रालोक की भॉति सूर्यालोक होने पर भी घटादि का उल्लू आदि को चाक्षुप होता । मगर होता नही हे । इसलिए सूर्यप्रकाश को उसका प्रतिवन्धक मानना ही उचित है । मगर अँधेरी रात मे उल्लू आदि को जो घटादि का प्रत्यक्ष होता है, वह तो तामसीय (= तामसेन्द्रियजन्य) ही होता है, न कि चाक्षुप । इस तरह हमे भी अन्धकार द्रव्य का प्रत्यक्ष होता हे, वह तामसीय ही होता हे, न कि चाक्षुप । अतः तामस इन्द्रिय की कल्पना तर्कसगत ही है ।

※ तामसेन्द्रियकल्पना अप्रामाणिक - स्याद्वादी ※

उत्तरपक्ष :- तत्तुच्छम् इति । प्रकरणकार तोतातिकैकदेशीयमत का खण्डन करते है कि - अन्धकार का तामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार मानना असगत हे, क्योकि तव 'तमः पश्यामि' यानी 'अन्धकार को मै देखता हूँ' यह प्रतीति निरालम्वन होने की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है । आशय यह है कि 'पश्यामि' यह प्रतीति चक्षु इन्द्रिय के कार्यत्व की ज्ञापक है, न कि तामस इन्द्रिय के कार्यत्व की । मगर आप मीमासकदेशीय महाशय उक्त प्रतीति को चाक्षुप नही मानते हे, जो कि मुमकिन हे ओर तामसजन्य मानते है, जो कि प्रतीति के आधार पर नामुमकिन है । फलतः उक्त प्रतीति निरालम्वन हो जायेगी यानी भ्रमात्मक हो जायेगी । यहॉ तामसेन्द्रियवादी की ओर से यह कहा जाय कि —> ''न्यायमतानुसार 'पश्यामि'

कर्षस्याऽपि नियम्या, अव्यवहितोत्तरत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटौ दानेन व्यभिचाराऽप्रचारा-दिति चेत् ? न, स्फुटगौरवात्, तथापि तामसेन्द्रियेण तमस इव घटादीनामपि पेचकादीना-

❀ जयलता ❀

पश्यामी'तिप्रतीतिनिरूपितशुक्तिनिष्ठविषयताया नियामकत्वं चक्षुःसन्निकर्षस्य 'रजतं पश्यामी'तिप्रतीतिनिष्ठप्रकारिताख्यविषयिता-निरूपितप्रकारताभिधानविषयतायाश्च नियामकत्वं चाकचिक्यादिदोषविशेषस्येति यथा गौतमीयदर्शने प्रसिद्धं तथा 'पश्यामी'ति-प्रतीतिनिरूपितविषयताया नियामकत्वं तामसेन्द्रियसन्निकर्षस्याऽपीति मम मतेऽभ्युपगतम् । अत एव 'तमः पश्यामी'ति प्रती-तेरप्रमात्वं प्रत्याख्यातम्, तमोनिष्ठविषयताया तामसेन्द्रियसन्निकर्षनियम्यत्वात् । इत्थञ्च चक्षुःसन्निकर्षजन्यज्ञानविषयकानुव्यव-साय इव तामससन्निकर्षजन्यव्यवसायज्ञानविषयकानुव्यवसायेऽपि 'पश्यामी'तिविषयिताया निरालम्बनत्वं प्रदर्शितम् । न चैवमपि व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्निवारत्वं, 'घटं पश्यामी'त्यस्या तामसेन्द्रियसन्निकर्षमृते जायमानत्वात् 'तमः पश्यामी'तिप्रतीतेः चक्षुः-सन्निकर्षमन्तरेणोपजायमानत्वादिति वाच्यम्, तामसेन्द्रियसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तामससन्निकर्षस्य चक्षुःसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति च चक्षुःसन्निकर्षस्य कारणत्वमित्यभ्युपगमेन तदऽयोगादित्याशयेन तामसेन्द्रियवादिनो वदन्ति - अव्यवहितोत्तरत्वस्येति । तत्तदव्यवहितोत्तरत्वस्य तत्तदभावाऽकालीनत्वस्येति यावत् । कार्यता-वच्छेदककोटौ = तत्तत्कार्यतावच्छेदककोटौ, दानेन = निवेशेन, व्यभिचाराऽप्रचारात् = व्यतिरेकव्यभिचाराऽसम्भवात् । तामससन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरत्वशून्याया 'घटं पश्यामी'तिप्रतीतेः तामससन्निकर्षाऽकार्यत्वेन चक्षुःसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरत्व-विकलाया 'तमः पश्यामी'तिप्रतीतेश्च चक्षुःसन्निकर्षाऽकार्यत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारो दूरापास्त इति तामसेन्द्रियवाद्यभिप्रायः ।

प्रकरणकारः समाधत्ते - नेति । स्फुटगौरवादिति । नानाकार्यकारणभावकल्पनागौरवात्, कार्यतावच्छेदकधर्मशरीरगौरवा-च्चेत्यर्थः । यदि च परैः फलाभिमुखत्वेन तद्दोषत्वं सोल्लण्ठं उद्यु तदा प्रौढिवादेन प्रकरणकृदाह - तथापीति ।

= 'मैं देखता हूँ' ऐसी प्रतीति से निरूपित विषयता जैसे चक्षुसन्निकर्ष एवं दोषविशेष से नियम्य है ठीक वैसे ही हमारे मत में तामसेन्द्रियसन्निकर्ष से भी नियम्य है । मतलब यह है कि 'शुक्तिं पश्यामि' यानी 'मैं सीप को देखता हूँ' इत्याकारक प्रतीति से निरूपित शुक्तिनिष्ठ विषयता शुक्ति के साथ चक्षुसन्निकर्ष से नियम्य है, चक्षुसम्बन्ध उसका नियामक है । यह हुई प्रमात्मक चाक्षुष साक्षात्कार की विषयता की बात । मगर कभी कभी भ्रमात्मक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, जैसे उसी सीप में चाकचिक्य (= चमक) आदि दोषविशेष की वजह 'रजतं पश्यामि' = 'मैं चाँदी को देखता हूँ' ऐसी प्रतीति । इस प्रतीति की विषयता का नियामक चक्षुसन्निकर्ष नहीं है, क्योंकि दुकान में रही हुई चाँदी के साथ तब पुरुष की चक्षु इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं है । उक्त विषयता का नियामक है उपयुक्त दोषविशेष । इस तरह न्यायमतानुसार 'पश्यामि' इत्याकारक प्रतीति से निरूपित विषयता का नियामक चक्षुसन्निकर्ष या दोषविशेष है । मगर हमारे मतानुसार तामसेन्द्रियसन्निकर्ष भी उक्त विषयता का नियामक है । अतः 'तमः पश्यामि' यानी 'मैं अन्धकार को देखता हूँ' इस प्रतीति से निरूपित विषयता निरालम्बन होने की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि अन्धकार में उक्त विषयता का नियामक तामसेन्द्रियसंयोग रहता ही है । यद्यपि चक्षुसन्निकर्ष एवं तामससन्निकर्ष को उक्त विषयता का नियामक मानने पर व्यतिरेकव्यभिचार प्रसक्त होता है, क्योंकि 'घटं पश्यामि' इस प्रतीति से निरूपित विषयता तामसेन्द्रियसंयोग के बिना एवं 'तमः पश्यामि' इस साक्षात्कार से निरूपित विषयता चक्षुसंसर्ग के बिना ही उत्पन्न होती है । बिना कारण के कार्य का होना ही व्यतिरेक व्यभिचार है तथापि कार्यतावच्छेदक-धर्मशरीर में अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश करने पर उसका निराकरण हो सकता है । मतलब कि चक्षुसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तर प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुसन्निकर्ष कारण है एवं तामससन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालीन प्रत्यक्ष के प्रति तामसेन्द्रियसन्निकर्ष कारण है, ऐसा मानने पर उक्त व्यभिचार दोष का निवारण हो सकता है, क्योंकि 'घटं पश्यामि' यह प्रतीति चक्षुसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालीन है, जिसका कारण तामससन्निकर्ष नहीं है किन्तु चक्षुसन्निकर्ष है, जो कार्यपूर्वक्षण में विद्यमान है । एवं 'तमः पश्यामि' यह साक्षात्कार तामसेन्द्रियसन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालिक है, जिसका कारण चक्षुसन्निकर्ष नहीं है किन्तु तामसेन्द्रियसन्निकर्ष है, जो कार्योत्पादपूर्वक्षण में उपस्थित है । इस तरह 'तमः पश्यामि' इस प्रत्यक्ष के भ्रमत्व की आपत्ति नहीं है'' <—

तामसेन्द्रियवादिमत में दोषद्वय - स्याद्वादी

न स्फु इति । मगर तामसेन्द्रियवादी का उक्त प्रतिपादन इसलिए मान्य नहीं हो सकता है कि उस पक्ष में दो कार्य-कारणभाव के अंगीकार का एवं कार्यतावच्छेदकधर्मशरीर में तदव्यवहितोत्तरत्व का निवेश करने का महागौरव है । दूसरा

मिव मानवानामपि प्रतीत्यापत्तेश्च ।

अथ(न च?) विषयतया नरतामसेन्द्रियजन्यज्ञान प्रति तादात्म्येन तमस तमस्त्वादेश्च हेतुत्वमिति घटादेस्तादात्म्येन तद्धेतुत्वान्नाऽयं दोष, अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां तु बहलतमे तमसि घटादीनां न तामसेन्द्रियजन्यं ज्ञानं किन्तु चाक्षुषमेव । न चालोक

☙ जयलता ☙

चक्षु सन्निकर्पाऽव्यवहितोत्तरकालीनप्रत्यक्ष प्रति चक्षु सन्निकर्पस्य तामससन्निकर्पाऽव्यवहितोत्तरकालिकप्रत्यक्ष प्रति च तामससन्नि-कर्पस्य हेतुत्वमिति गुरुतरकार्यतावच्छेदकधर्मघटितकार्यकारणभावद्वयाऽङ्गीकारेऽपीत्यर्थ । **तामसेन्द्रियेणेति** । यथा पेचकादीना तामसेन्द्रियेण रात्रौ **तमस इव घटादीनामपि** प्रत्यक्ष भवति तथा मनुष्याणामपि तेन तमस इव घटादीनामपि साक्षात्कार स्यात्, तम सयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसन्निकर्पस्याऽबाधात् । न च मनुष्यतामसेन्द्रियसयोग तमस्येव न तु घटादाविति वक्तु शक्यते, अर्धजरतीयप्रसङ्गात्, पेचकादीनामपि तद्वदेव तामसेन्द्रियेण रात्रौ घटादिसाक्षात्कारप्रसङ्गाच्चेति स्याद्वाद्याशय ।

परे एतद्दोषपरिजिहीर्पया वदन्ति - **अथेति** । **विषयतयेति** । अनेन कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध प्रदर्शित । **नरताम-सेन्द्रियजन्यज्ञान** = मानवीयतामसेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न, **प्रति तादात्म्येन तमसः** समवायेन **तमस्त्वादेश्च हेतुत्वमिति** हेतो **घटादेः तादात्म्येन** घटत्वादेश्च समवायेन **तत्र** = विपयतासम्बन्धेन नरतामसेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षे, **अहेतुत्वात् नाऽय दोपः** = न मनुष्याणा तामसेन्द्रियेण घटादिसाक्षात्कारप्रसङ्ग । तमसि तादात्म्येन तमस समवायेन तमस्त्वस्य च सत्त्वात् तत्र विषयतासम्बन्धेन नरतामसजन्यसाक्षात्कारो भवितुमर्हति पर घटादौ तादात्म्येन तमस समवायेन तमस्त्वस्य चाऽसत्त्वान्न तत्र विषयतासम्बन्धेन नरतामसजन्यप्रत्यक्षमुत्पत्तुमर्हतीति तामसेन्द्रियवाद्यभिप्राय ।

नन्वेवमञ्जनादिसस्कृतचक्षुपा रात्रौ तामसेन्द्रियेण घटादिप्रत्यक्ष कथ स्यात् विषयतासम्बन्धेन साक्षात्काराऽधिकरणे घटादौ तादात्म्येन तमस समवायेन तमस्त्वस्य च विरहादित्याशङ्कामपनोदयन्ति तामसेन्द्रियवादिन - **अञ्जनादिसस्कृतचक्षुपामिति** । **घटादीना न तामसेन्द्रियजन्य ज्ञान** = प्रत्यक्ष **किन्तु चाक्षुप** = चक्षुरिन्द्रियसयोगजन्य एव । तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-तमस्त्वावच्छिन्नकारणतया समवायावच्छिन्न-तमस्त्वत्वावच्छिन्नकारणतया निरूपिताया कार्यताया अवच्छेदकत्वस्य तामसीय-प्रत्यक्षत्वस्य अञ्जनादिसस्कृतनेत्राणा घटादिचाक्षुपे विरहान्न व्यतिरेकव्यभिचारावकाश इति तेषामाशय । **न चेति** । वाच्यमित्य-

दोप यह है कि 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से 'चक्षुसन्निकर्पाऽव्यवहितोत्तर प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुसन्निकर्प कारण हे एव तामससन्नि-कर्पाऽव्यवहितोत्तरकालीन प्रत्यक्ष के प्रति तामसेन्द्रियसन्निकर्प कारण हे' इस तरह गुरुतर दो कार्यकारणभाव को मान्य किया जाय तो भी यह आपत्ति मुँह फाडे खडी रहती हे कि जैसे उल्लू आदि को रात मे अन्धकार का एव घटादि का तामसीय साक्षात्कार होता है वैसे मनुष्य को भी रात मे अन्धकारसयुक्त घटादि का तामस इन्द्रिय से साक्षात्कार होना चाहिए । 'मनुष्य के पास तामसेन्द्रिय नही हे' ऐसा तो नही कहा जा सकता, क्योकि तामसेन्द्रियवादी के मतानुसार मनुष्य को अन्धकार का तामस इन्द्रिय से ही साक्षात्कार होता है । अतएव अन्धकार की भाँति घटादि का भी तामस इन्द्रिय से मनुष्य को साक्षात्कार होना चाहिए ।

☐ मनुष्यतामसीय प्रत्यक्ष में अन्धकारहेतुता - पूर्वपक्ष ☐

पूर्वपक्ष :- अथ विप इति । मनुष्य को तामस इन्द्रिय से घटादि का साक्षात्कार नही होता हे, इसके अनुरोध से हम तामसेन्द्रियवादी इस तरह कार्य-कारणभाव का स्वीकार करते है कि विपयतासम्बन्ध से मानवीयतामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार एव समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व कारण है । मनुष्य को अन्धकार का प्रत्यक्ष तामस इन्द्रिय से हो सकता है, क्योकि विपयतासम्बन्धात्मक कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से अन्धकारप्रत्यक्ष के, जो मनुष्यतामसेन्द्रियजन्यत्वरूप से अभिमत हे, आश्रय अन्धकार मे तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार एव समवायसम्बन्ध से अन्धकारत्व रहते है । कार्याधिकरणविधया अभिमत मे कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से कारणसामग्री के रहने पर कार्योत्पाद होना न्याय्य है । मगर मनुष्य को अन्धकार मे घटादि का तामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार नही हो सकता, क्योकि विपयतासम्बन्ध से कार्याधिकरणविधया अभिमत घटादि मे न तो तादात्म्यसम्बन्ध से अन्धकार रहता हे और न तो समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व रहता है । कारण का अभाव होने पर कार्यजन्म का आपादन कैसे किया जा सकता है ? आपादक के विरह मे आपादन नही किया जा सकता । यहाँ यह शका हो कि —> ''यदि विपयता सम्बन्ध से मानवीयतामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार

विना कथं तदानीं तेषां तच्चाक्षुषमिति वाच्यम्, आलोकस्येवाऽञ्जनादेरपि चाक्षुषजनने चक्षुषः पृथक्सहकारित्वात् ।

अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष एवाऽऽलोकाऽजन्यचाक्षुषे हेतुत्वात् अञ्जनादेर्हेतुतावच्छेदकत्व-

❀ जयलता ❀

नेनाऽन्वयः । आलोकं विना कथं तदानीं = बहलतमतमःकाले, तेषां = अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां, तच्चाक्षुषं = घटादिचाक्षुषं ? द्रव्यचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य हेतुत्वान्न तदा घटादिचाक्षुषं तेषां भवितुमर्हतीति शङ्काशयः । तदपाकरणे परे हेतुमुद्योतयन्ति - आलोकस्येवेति । अञ्जनादेरपि चाक्षुषजनने चक्षुषः पृथक्सहकारित्वादिति । यथाऽऽलोककालीन-चाक्षुषं प्रति आलोकस्य तत्सहकारिकारणत्वं तथाऽञ्जनादिकालीनचाक्षुषं प्रति अञ्जनादेः तत्सहकारिकारणत्वम् । अत एवाऽ-ञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां बहलतमे तमसि घटादिचाक्षुषोदयेऽपि न व्यतिरेकव्यभिचारः, आलोकस्याऽञ्जनादिकालीनचाक्षुषं प्रत्यहेतुत्वादिति तौतातिकैकदेशीयाभिप्रायः ।

अत्रैव केषाञ्चिन्मतमपहस्तयितुमुपदर्शयन्ति - अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष एवेति । एवकारेण चाक्षुषेऽञ्जनादेः चक्षुःसहकारि-कारणत्वव्यवच्छेदः कृतः । आलोकाऽजन्यचाक्षुषे हेतुत्वादिति । आलोकाऽकालीनचाक्षुषोदये कारणत्वादिति । अञ्जनादेः हेतुतावच्छेदकत्वमेवेति । चक्षुषोऽञ्जनादेश्च पृथक् चाक्षुषकारणत्वमिति नाऽङ्गीक्रियते किन्तु अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुष एव चाक्षुषकारणत्वं, अञ्जनादिकं तु कारणतावच्छेदककोटौ प्रविष्टमिति घटं प्रति दण्डत्वादेरिव तस्याऽन्यथासिद्धत्वमिति बहलतमे तमसि अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तस्करादीनां घटादिचाक्षुषोदयेऽपि न कश्चिद्दोषः तस्याऽऽलोकाऽजन्यत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारनिरा-सादिति भावः । 'केचिदि'ति । आहुरिति गम्यते ।

एवं समवायसम्बन्ध से अन्धकारत्व जाति को कारण माना जाय तब अंजनादि से संस्कृत नेत्र वाले चौर आदि मनुष्य को रात में घटादि का तामस इन्द्रिय से साक्षात्कार कैसे हो सकेगा ? क्योंकि विषयता सम्बन्ध से कार्याधिकरणविधया अभिमत घटादि में न तो तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार रहता है और न तो समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व जाति रहती है । अन्धकार से घटादि अभिन्न नहीं है किन्तु भिन्न है- यह तो सर्वजनविदित है । वस्तुस्थिति तो यह है कि अंजनादिसंस्कृत चक्षु वाले चौर आदि मनुष्य को अन्धकार में भी घटादि का साक्षात्कार होता है । कारण के विना ही इस तरह कार्योत्पत्ति होने से व्यतिरेक व्यभिचार दुर्निवार होगा'' <—

✳ अंजनादिसंस्कार से रात में घटादि का चाक्षुष ही होता है - पूर्वपक्ष जारी ✳

अञ्जना इति । तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि अन्धकार में अंजनादिसंस्कारयुक्त चक्षु से चोर आदि को घटादि का चाक्षुष साक्षात्कार ही होता है, न कि तामसीय साक्षात्कार । यदि तब तामसेन्द्रियसन्निकर्षजन्य साक्षात्कार का स्वीकार किया जाय तो व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश होता । मगर अन्धकार में अंजनादि के सहयोग से चौर आदि को घटादि का चाक्षुष ही होता है । इस तरह कारण के विरह में तामसीय साक्षात्कार की उत्पत्ति अमान्य होने से व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं है । अतः विषयतासम्बन्ध से नरतामसेन्द्रियजन्य साक्षात्कार के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार एवं समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व को कारण मानने में कोई दोष नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि —> ''अँधेरी रात में चोर आदि को घटादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति आलोक चक्षु का सहकारी कारण है । अतः उसके विरह में चाक्षुषात्मक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती'' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे आलोक चाक्षुषप्रत्यक्षोदय के लिए चक्षु का सहकारी कारण है वैसे अंजनादि भी स्वतंत्र सहकारी कारण है । मतलब यह है आलोककालीन चाक्षुष के प्रति आलोक एवं अंजनकालीन चाक्षुष के प्रति अंजन चक्षु का सहकारी कारण है । इसलिए अंजनादि के सहकार से चोर आदि को अंजनादिकालीन घटादिचाक्षुष गाढ अन्धकार में होने पर व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं है ।

❀ अंजनादि में चाक्षुषकारणतावच्छेदकत्वमत का निराकरण ❀

अञ्ज इति । अमुक विद्वान मनीषियों का यह कथन है कि —> ''अंजनादि चाक्षुष के स्वतंत्र सहकारी कारण नहीं है, किन्तु कारणतावच्छेदक है । वह इस तरह - 'आलोकाऽकालीन यानी आलोकाऽजन्य चाक्षुष के प्रति अंजनादिसंस्कृत

मेवेति केचित् । तन्न, अञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुषं प्रति स्वसस्कृतचक्षु:संयोगसम्बन्धेनाञ्जनादेर्हेतुत्वस्यौचित्यादित्यपरे । तथा च न तत्र व्यभिचार इति चेत् ? न, एवं सति नानाकार्यकारणभावकल्पने महागौरवात् ।

❀ जयलता ❀

तन्नेति । 'अपरे'इत्यनेनाऽस्याऽन्वय । दर्शितकेचिन्मताऽयुक्तत्वे हेतुमाविष्कुर्वन्ति - **अञ्जनाद्यभावाऽकालीनचाक्षुप** = अञ्जनाद्यव्यवहितोत्तरकालीनचाक्षुपत्वावच्छिन्न **प्रति स्वसयुक्तचक्षुःसयोगसम्बन्धेनेति** । स्वपदेनाऽञ्जनादे ग्रहणम् । तत्सयुक्तस्य चक्षुष सयोगो यस्मिन् घटादिविषयदेशे तत्रोक्तसम्बन्धेनाऽञ्जनादे सत्त्व तत्रैव च विषयतासम्बन्धेन घटादिचाक्षुपस्याऽञ्जनाद्यव्यवहितोत्तरकालीनस्याऽञ्जनादिसस्कृतचक्षु 'समवेतस्य सत्त्वमिति कार्यकारणसामानाधिकरण्योपपत्ति । **अञ्जनादेर्हेतुत्वस्योचित्यादिति** । कारणतावच्छेदकधर्मलाघवादौचित्य भावनीयम्, अञ्जनादिसस्कृतचक्षुष्ट्वाऽपेक्षयाऽञ्जनत्वादेर्लाघवादिति । **'अपरे'** इत्यनेन स्वाऽस्वरसोद्भावन कृतम्, धर्मगौरवस्येव सम्बन्धगौरवस्याऽपि सदोषत्वात्, चक्षुष कारणतावच्छेदककोटिप्रविष्टत्वेनाऽन्यथासिद्ध्यापत्ते , विनिगमनाविरहाच्च ।

तथा चेति । आलोकस्येवाऽञ्जनादेरपि चाक्षुपजनने चक्षुष पृथक् सहकारित्वाऽभ्युपगमाच्चेति । चशब्देन नरतामसेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष प्रति तादात्म्येन तमस समवायेन तमस्त्वादेश्च हेतुत्वाऽभ्युगमोऽत्र समुच्चीयते । **न तत्र व्यभिचारः** इति । अञ्जनादिसस्कृतचक्षुषा मनुष्यतस्करादीना बहलतमेऽपि तमसि घटादीना चाक्षुषे न व्यतिरेकव्यभिचारो न वाऽस्मदीयतामसेन्द्रियेणाऽन्धकारस्थघटादिप्रत्यक्षेऽन्वयव्यभिचार इति तामसेन्द्रियवादिनोऽभिप्राय ।

प्रकरणकार· तामसेन्द्रियवादिमत निरस्यति - **नेति** । **एव सतीति** । अतिरिक्ततामसेन्द्रियाऽभ्युपगमे सतीति । **नानाकार्यकारणभावकल्पने महागौरवादिति** । चक्षु सन्निकर्षाऽव्यवहितोत्तरकालीनप्रत्यक्ष प्रति चक्षु सन्निकर्षस्य कारणत्व, तामसेन्द्रियसन्निकर्पाऽव्यवहितोत्तरकालिकप्रत्यक्ष प्रति तामससन्निकर्षस्य कारणत्व, विषयतासम्बन्धेन नरतामसेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष प्रति तादात्म्येन तमस समवायेन तमस्त्वादेश्च कारणत्व, आलोकाऽभावाऽकालीनचाक्षुषोदये आलोकस्याऽञ्जनाद्यभावाऽकालिकचाक्षुषोदये चाऽञ्जनादे चक्षु सहकारिकारणत्व, तम सयुक्तद्रव्यप्रत्यक्ष प्रति च तम सयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामससयोगस्य कारणत्वमित्याद्यनेकविधकार्यकारणकल्पने महागौरवादित्यर्थ । **न च** तस्य फलमुखत्वेनाऽदोपत्वमिति **वाच्यम्**, तामसेन्द्रियकल्पनाऽविनाभाविन तस्य पूर्वमेवोपस्थिते फलमुखत्वाऽयोगात् ।

किञ्च, भित्त्यादे पुरोवर्त्येकभागावच्छेदेनाऽऽलोकसयोगवतोऽपरपुरोवर्तिभागावच्छेदेन च तम सयोगवत चक्षु तामसेन्द्रियसयोगाभ्या युगपद्ग्रहणाऽनुपपत्ति , बहिरिन्द्रियद्वयजन्यलौकिकसाक्षात्कारविषयताया युगपद् बहिरिन्द्रियद्वयजन्यत्वाऽयोगात् । **न च** क्रमिकत्वमेव तज्ज्ञानयो , यौगपद्यप्रत्ययस्य शतपत्रशतपत्रीवेधव्यतिकरेण भ्रमत्वादिति **वक्तव्यम्**, तम सयोगावच्छेदका-

चक्षु ही कारण है' ऐसा कार्य-कारणभाव मानने पर अजनादि कारणतावच्छेदक धर्म के घटक होने से कारणतावच्छेदक ही बनेगे, न कि कारण । अतः अजनादिसस्कृत ऑख से चौर आदि को अन्धकार मे आलोकाऽकालिक घटादिविपयक चाक्षुप प्रत्यक्ष हो सकता है ।'' <— मगर अन्य विद्वानो का उक्त मत के प्रतिवाद मे यह कहना है कि —> ''आलोकाऽकालीन द्रव्यचाक्षुप के प्रति अजनादिसस्कृत चक्षु को कारण मानने पर कारणतावच्छेदक धर्म अजनादिसस्कृतचक्षुष्ट्व होगा जो गुरुतर है । इसकी अपेक्षा अजनाद्यभावाऽकालीन चाक्षुप के प्रति स्वसस्कृतचक्षुसयोग सम्बन्ध से अजनादि को ही हेतु मानना उचित है, क्योकि तब कारणताअवच्छेदक धर्म अजनत्व आदि बनेगा जो अजनादिसस्कृतचक्षुष्ट्व की अपेक्षा लघुतर है'' <— । उक्त मत-मतान्तर के बारे मे अधिक चर्चा करना हम तामसेन्द्रियवादी को यहाँ उचित नही लगता हे । मगर हमारा आशय यह है 'अजनादि भी आलोक की भाँति चाक्षुप के प्रति चक्षु का सहकारी कारण है एवं नरतामसेन्द्रियजन्यसाक्षात्कार के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्धकार तथा समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व जाति कारण है' ऐसा मानने पर व्यतिरेक व्यभिचार दोप का अवकाश नही है ।

⋇ तामसेन्द्रियपक्ष में महागौरव - उत्तरपक्ष ⋇

उत्तरपक्ष :- नेव इति । तामसेन्द्रियवादी का उक्त कथन मान्य नही हो सकता है, क्योकि ऐसा मानने पर अनेक कार्य-कारणभाव के अगीकार का महागौरव होता है । वह इस तरह - (१) अन्धकारसयोगावच्छेदकावच्छिन्न तामसेन्द्रियसयोग

१ अञ्जनादिसस्कृतचक्षु पदेनाऽत्र बहुव्रीहिसमासाश्रयणात्तादृशतस्करादिग्रहणमभिमतमिति ध्येयम् ।

वस्तुत सामान्यत एका चाक्षुषजननी योग्यताऽपरा च तम सयुक्तचाक्षुषजननी । तत्र पेचकादीना दिवा न चाक्षुष मानवानाञ्च नक्तं न घटादिचाक्षुषमित्यत्र स्वभाव एव शरणम् । न चैवं स्वभाववादिमतप्रवेश , समवायाऽभ्युपगमे तदऽप्रवेशात् ।

जयलता

वच्छिन्नतामससयोगस्याऽऽलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु सयोगस्य चैकदा सत्त्वे बाधकाभावात् आलोकसयुक्तभित्तिप्रत्यक्षस्य तम.सयुक्तभित्त्यनुव्यवसायसमये विनष्टत्वेन 'आलोकतम सयुक्ता भित्ति पश्यामी'त्यनुव्यवसायाऽनुपपत्तेश्च । न च क्रमिकज्ञानाऽऽहितसस्काराभ्या जनिताया समूहालम्बनस्मृतावेवाऽनुभवत्वारोपात्तथानुव्यवसायो यथा पश्चावधानस्थल इति वाच्यम्, उपेक्षात्मकतज्ज्ञानतस्तादृगस्मृत्यसम्भवात्, तव लौकिकसन्निकर्षजन्यज्ञानस्यैव विषयतया 'साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायजनकत्वाच्च । न च भिन्नाऽधिष्ठानयोरिन्द्रिययोरेव युगपज्ज्ञानाऽजनकत्वान्नाय दोष इति शङ्कनीयम्, चक्षु श्रवसोऽपि युगपच्चाक्षुष-श्रावणयो प्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, सर्वत्रैव तथा वक्तु शक्यत्वेन मनउच्छेदापत्ते ।

किञ्च, तम सयुक्तद्रव्यग्राहकत्व तम सयोगावच्छेदकाऽवच्छिन्नतामसेन्द्रियसयोगस्य यदुत तामसेन्द्रियसयोगावच्छेदकावच्छिन्नतम सयोगस्य ? इत्यत्र विनिगमकाऽभाव परस्याऽपरिहार्य एव । न च तवाऽपि आलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षु - सयोगस्य आलोकसयुक्तद्रव्यचाक्षुषकारणत्वमाहोस्वित् चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्नालोकसयोगस्य ? इत्यत्र साम्यमित्युद्गिरणीयम्, मन्मते चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेन योग्यताया एव तन्नियामकत्वात् । इत्थमेव मन्दतमे तमसि घटादिचाक्षुषमप्युपपद्यत इत्याशयेन प्रकरणकृदाऽऽह - वस्तुत इति । सामान्यत एका चाक्षुषजननी योग्यतेति । योग्यताया चाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति कारणत्वमित्यर्थ । अपरा च योग्यता तमःसयुक्तचाक्षुषजननीति । योग्यताविशेषस्य च तम सयुक्तद्रव्यगोचरचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति कारणत्वमित्यर्थ । अत एव निर्मलचक्षुषा मन्दतम सयुक्तघटादिचाक्षुष योग्यताविशेषाज्जायते । सामान्ययोग्यतातश्च तमोऽसयुक्तघटादिचाक्षुषमुपजायते ।

ननु योग्यताविशेषात्पेचकादीना तमसि घटादीना यथा चाक्षुषमुपजायते तथा दिवाऽपि कथ तन्न भवति, विशेषस्य सामान्याऽविनाभावित्वादित्याशङ्कायामाह - तत्रेति । पेचकादीना दिवा न चाक्षुष मानवानाञ्च नक्त न घटादिचाक्षुषमित्यत्र स्वभाव एव शरणमिति । स्वभावस्य चाऽपर्यनुयोज्यत्वात् । अत एव पेचकादीना कुतोऽयमेव स्वभावो यदुत तेषा रात्रावेव घटादिचाक्षुषमुपजायते न तु दिने तथा मानवाना कस्माद्धेतोरेव स्वभावो यद् दिवैव तेषा घटादिचाक्षुषोत्पादो न तु निशाया ? इति प्रत्युक्तम् । तदुक्त 'क कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य' ( ) इत्यादि । 'तर्हि भवतामेकान्तस्वभाववादिमतप्रवेशो दुर्निवार' इति पराऽऽशङ्कामपनोदयति - न चेति । एव = स्वभावाश्रयणेनोक्तपर्यनुयोगपरिहारे, स्वभाववादिमतप्रवेशः = एकान्तस्वभाववादिमताऽऽपात । तदपाकरणे हेतुमाह - समवायाऽभ्युपगम इति । स्वभावेतरकर्म-काल-पुरुषकारादिकारणकलापाऽभ्युपगमे इति । तदऽप्रवेशात् = एकान्तस्वभाववादिमताऽप्रवेशात् । पञ्चकारणसमुदायाऽङ्गीकारेण

को अन्धकारसयुक्तद्रव्यविषयक प्रत्यक्ष का कारण मानना (२) नरतामसेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्य सबन्ध से अन्धकार और समवाय सम्बन्ध से अन्धकारत्व को कारण मानना (३) आलोककालीन चाक्षुष के प्रति आलोक को चक्षुसहकारी कारण मानना (४) अजनादि के अव्यवहित उत्तर काल मे होने वाले प्रत्यक्ष (चाक्षुष) के प्रति अजनादि को चक्षुसहकारी कारण मानना इत्यादि अनेकविध कार्य-कारणभाव तामसेन्द्रिय की कल्पना करने पर मान्य करने पडेगे, जिसमे महागौरव स्पष्ट ही है । वस्तुस्थिति तो यह है कि दो प्रकार की योग्यता ही दो प्रकार के चाक्षुष की जनक होती है । एक सामान्य योग्यता ऐसी है जो कि चाक्षुषसामान्य का कारण है । अर्थात् कारणतावच्छेदक योग्यतात्व एव कार्यतावच्छेदक चाक्षुषत्व बनता है । तथा दूसरी विशेष योग्यता वह है जो कि अन्धकारसयुक्त द्रव्य के चाक्षुष साक्षात्कार की जनक है । यहाँ कारणतावच्छेदक धर्म विजातीययोग्यतात्व और कार्यतावच्छेदक धर्म अन्धकारसयुक्तचाक्षुषत्व है । उल्लू आदि मे विशेष योग्यता होने से उन्हे गाढ अन्धकारस्थित घटादि का चाक्षुष होता है और विजातीय योग्यता का विरह होने से हमे अमावास्या रात्रि के घने अन्धकार मे घटादि का चाक्षुष नही होता है । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उल्लू आदि को रात को घटादि का चाक्षुष होने पर भी दिन मे उसका चाक्षुष नही होता है तथा मानव को दिन मे घटादि का चाक्षुष होता है मगर रात मे गाढान्धकारस्थ घटादि का चाक्षुष नही होता है - इस विषय मे स्वभाव ही कारण है । एक पौधे पर पैदा होने पर भी काँटे तीक्ष्ण क्यो होते है और गुलाब का फूल कोमल क्यो होता है ? इसका समाधान स्वभावविशेष को छोड कर अन्य क्या हो सकता है ? यहाँ यह शका नही करनी चाहिए कि –> "स्वभाव का आलम्बन लेने पर तो एकान्तस्वभाववादी के मत मे अनेकान्तवादी

बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वमेव मानसे तु विशेष्यत्वमपीत्यादौ परेणाऽपि स्वभावस्याऽवश्यमाश्रितत्वात् ।

जयलता

स्याद्वादाऽनतिक्रमात्, क्वचित् कदाचित् कस्यचित्प्राधान्यं तदितरेषाञ्चाऽप्राधान्यमित्यन्यदेतत् । नैतावतैवैकान्तवादाऽभ्युपगमः, तदितरसापेक्षत्वेनैकान्तवादप्रच्यवादित्याशयः । स्वभावाश्रयणं न केवलमस्माकं स्याद्वादिनामेव किन्तु परस्याऽपीति दृढयति - **बहिरिन्द्रियजन्यज्ञान** इति । बहिष्ट्वं मनोभिन्नत्वमिति मनोभिन्नेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारे इत्यर्थः । **उपनीतस्येति** । ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेणोपस्थापितस्येति । **पट्टाभिरामशास्त्री** तु 'उपनीतं = ज्ञानलक्षणाश्रयः तन्निष्ठं भानं = उपनीतभानम् । भानशब्दश्च विषयतापरः, 'अयं घटः' इति ज्ञाने 'घटो भाति' 'घटो भासते' इत्यादौ भाति-भासतिभ्यां विषयताया एव प्रत्यायनात् । एवञ्च ज्ञानलक्षणजन्यतावच्छेदकीभूताऽलौकिकविषयताविशेषस्य उपनीतभानमिति सञ्ज्ञा' (मु.मञ्जू. पृ.२३०) इत्युक्तवान् । **विशेषणत्वमेवेति** । एवकारेण विशेष्यत्वव्यवच्छेदः कृतः । यथा 'सुरभि चन्दनमि'ति बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने चन्दनविशेषणविधयैव ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेणोपस्थापितस्य सौरभस्य भानं भवति । न च सौरभस्योपनीतत्वमेव कथमिति वक्तव्यम्, सौरभेण सह चक्षुषो लौकिकसन्निकर्षाऽभावेन सौरभत्वप्रकारतानिरूपितसौरभत्वाश्रयकिञ्चिन्निष्ठलौकिकविशेष्यताशालिचाक्षुषाऽप्रसिद्ध्या तादृशचाक्षुषजनकसामग्र्याः सुतरामप्रसिद्धत्वेन तत्समानकालीनसामान्यप्रत्यासत्तेरभावात् सौरभे मानसान्यप्रत्यक्षनिरूपितविषयत्वाऽसम्भवात् । यद्यपि सामान्यलक्षणयाऽपि प्रत्यासत्त्या सौरभभानं सम्भवति तथापि सौरभत्वजातिभानं ज्ञानलक्षणयैवेति भावनीयम् ।

मानसे त्विति । 'उपनीतस्ये'त्यत्राऽप्यनुवर्त्तते तुर्विशेषणार्थः । तदेवाऽऽह- **विशेष्यत्वमपीति** । अपिना विशेषणत्वं समुच्चीयते । तथाहि 'ज्ञातो घटः' इति मानसप्रत्यक्षे उपनीतभानविषयस्य ज्ञानस्य विशेषणविधया घटस्य च विशेष्यविधया भानं, 'ज्ञानविषयो घटः' इति तदर्थात् । 'मयि घटज्ञानं' इति आत्मप्रकारक-घटविषयकज्ञानविशेष्यकमानसे उपनीतस्य ज्ञानस्य विशेष्यविधया घटस्य च तद्विशेषणविधया भानं भवति । 'घटज्ञानवानहमि'ति मानसे उपनीतभानगोचरस्य ज्ञानस्य विशेषणविधया घटस्य च विशेषणतावच्छेदकविधया भानं भवति । बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने तूपनीतस्य न कदापि विशेष्यविधया भानमित्यत्र **परेण** = एकान्तवादिना, अपि **स्वभावस्याऽवश्यमाश्रितत्वादिति** । **एतेन** स्वभावस्य हेतुत्वे न किञ्चिदपि दुर्वचमिति 'स्वभावादेव पेचकादीनां दिवा न चाक्षुषं मानवानां च नक्तं ने'त्यसम्यगुत्तरं इति **प्रत्युक्तम्**, 'स्वभावादेव बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वमेव मानसे तु विशेषत्वमपी'त्यत्राऽपि प्रकृतपर्यनुयोगस्य समत्वादिति यत्किञ्चिदेतत् ।

का प्रवेश हो जायेगा'' <— क्योंकि हम स्वभाव को कारण मानने पर भी अदृष्ट (= पुण्य-पाप कर्म), काल आदि अन्य कारण का अपलाप नहीं करते है । पाँच कारण के समुदाय (= समवाय) का अभ्युपगम करने से न तो स्वभाववादी के एकान्तमत मे प्रवेश होगा और न तो अनेकान्तवाद का त्याग होगा । समझे !!

परमत में भी स्वभाव का आश्रय अनिवार्य - स्याद्वादी

. बहिरि इति । यहाँ यह कहना कि —> ''किसी प्रश्न के प्रत्युत्तर मे स्वभाव का आलम्बन करने मे कोई तर्क नहीं होने से 'उल्लू आदि को स्वभावविशेष की वजह दिन मे घटादिचाक्षुष नहीं होता है और स्वभावविशेष की वजह मनुष्य को रात मे गाढान्धकारस्थ घटादि का चाक्षुष नहीं होता है' यह कथन स्वीकार्य नहीं हो सकता'' <— ठीक नहीं है, क्योंकि एकान्तवादी को भी स्थलविशेष मे स्वभाव का आश्रय लेना ही पडता है । वह इस तरह 'बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान मे उपनीत = ज्ञानलक्षणसन्निकर्षभास्य का विशेषणविधया ही भान होता है जब कि मानस साक्षात्कार मे उपनीत का विशेषणविधया और विशेष्यविधया भी भान होता है' इस एकान्तवादी की मान्यता - सिद्धान्त मे स्वभाव का ही आश्रय लिया गया है, क्योंकि बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान मे उपनीत का विशेष्यविधया भान क्यों नहीं होता है ? तथा अभ्यन्तर इन्द्रिय = मन से जन्य ज्ञान मे उपनीत का विशेषणविधया ही भान क्यों नहीं होता है ? इस प्रश्न के समाधान मे एकान्तवादी को यही कहना पड़ेगा कि 'इस विषय मे स्वभावविशेष ही कारण है' । 'सुरभि चन्दन' इस चाक्षुष प्रत्यक्ष मे सुरभि ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से उपनीत है, जो विशेष्यभूत चन्दन के विशेषणरूप मे ही भासित है, न कि विशेष्यरूप मे । मानस प्रत्यक्ष की तो बात ही अलग है । 'मया ज्ञातो घटः' यहाँ उपनीत घट का ज्ञान के विशेष्यरूप मे भान होता है, क्योंकि 'मत्समवेतज्ञानविषयो घटः' ऐसा उक्त प्रतीति का विश्लेषण होता है । इसलिए इस मानस साक्षात्कार मे उपनीत घट का विशेष्यविधया भान होता है । तथा 'मयि घटज्ञानं' इस मानस साक्षात्कार मे ज्ञान विशेष्य है और उसके विशेषणविधया उपनीत घट का भान होता है । एवं 'घटज्ञानवान् अहं' इस मानस साक्षात्कार मे ज्ञान का विशेषण उपनीत घट है और 'अहं' का विशेषण घटज्ञान

सर्वज्ञानस्वभावस्य चात्मनः तत्तद्देश-तत्तत्काल-तत्तद्विषयाद्याश्रित्य विचित्रज्ञानावरण-क्षयोपशमवशाद् विचित्रज्ञानोत्पत्तौ को वा विस्मयः स्याद्वादास्वादसुन्दरधियाम् ?

ज्ञानस्वभावत्वमेवात्मनः कथमिति चेत् ? द्रव्यत्वेन गुणस्वभावत्वसिद्धौ पारिशेष्यादिति ब्रूमः ।

❀ जयलता ❀

ननु गुरुभावेन वयमापृच्छामो यदुत पेचकादीनां कुतोऽयमेव स्वभावो यद् दिवा ते न पश्यन्ति ? मानवानाञ्च कुतोऽयं स्वभावो यत्ते नक्तं न पश्यति ? नश्चेतश्चमत्कारकारीदं सर्वमिति पराऽऽशङ्कायां प्रकरणकारः प्राह - **सर्वज्ञानस्वभावस्य चाऽऽत्मन** इति । सर्वं ज्ञातुं स्वभावो यस्य स तथा, तस्य आत्मन इति । 'आत्मनः सर्वज्ञानस्वभावत्वे कुतः सर्वेषामात्मनां सर्वदा सर्ववस्तुगोचरज्ञानं न प्रादुर्भवती'त्याशङ्कायामाह - **तत्तद्देशे**ति । पेचकादीनां भवप्रत्ययिकोऽयं ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमः यन्महिम्ना ते दिवा न पश्यन्ति किन्तु निशायामेव । प्राकृतमानवानां चैवंविधो ज्ञानावरणक्षयोपशमो यद्बलात्सामान्यतः ते बहलतमे तमसि घटादिकं न प्रेक्षन्ते । अञ्जनादिद्रव्यविशेषमासाद्य गुर्वनुग्रह-शक्तिपातादिकं वा प्राप्य तथाविधः क्षयोपशमस्तेषामेवोपजायते यद्बलादन्धतमस्यपि घटादिकं निहितनिध्यादिकञ्च तेऽवलोकन्तेऽञ्जनाद्यपनयने तु नेति । दृश्यते हि साम्प्रतं मन्दतमनयना अपि पुरुषा बहिर्गोलकान्तर्गोलककाचनिर्मितयन्त्रविशेषाऽऽहितक्षयोपशमपाटवेन सूक्ष्माक्षरादिकमीक्षमाणाः । ज्ञानावरणक्षयोपशमवैचित्र्यप्रयुक्तज्ञानवैचित्र्यज्ञातवतां **को वा विस्मयः स्याद्वादास्वादसुन्दरधियां** ? एकान्तवादविषयविषपानविगलित-बुद्धीनामप्राप्तसर्वज्ञप्रवचनानामेव तत्राश्चर्यं न त्वनेकान्तवादमीमांसामांसलमतीनामस्माकमिति भावः ।

परः शङ्कते - **ज्ञानस्वभावत्वमेवाऽऽत्मनः कथं सिद्धं** ? तदसिद्धौ च 'सर्वज्ञानस्वभावस्याऽऽत्मनः' इत्यादिकं भवदुक्तं सर्वमेव वन्ध्यास्तनन्धयशृङ्गारसहोदरमाभातीति शङ्काशयः । तत्र समाधानं - **द्रव्यत्वेन गुणस्वभावत्वसिद्धावि**ति । 'गुणपर्यायवद् द्रव्यं' (तत्त्वा ५/३७) इति सूत्रेण द्रव्यत्वावच्छेदेन गुणपर्यायस्वभावत्वस्य साधनात् आत्मनो द्रव्यत्वात्तद्व्यापकगुणस्वभावत्वं निराबाधम् । 'तथापि ज्ञानस्वभावत्वसिद्धिः कथं स्यात्' ? इत्याशङ्कायामाह - **पारिशेष्यादि**ति । प्रसक्तप्रतिषेधे शिष्यमाणसम्प्रत्ययः = पारिशेष्यन्यायः, तस्मादित्यर्थः । आत्मनो वर्णगन्धरसादिगुणस्वभावत्वं न सम्भवति, तस्याऽमूर्त्तत्वाद-

---

है । उक्त प्रत्यक्ष में एकान्तवादी का यही मन्तव्य है कि - 'बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में उपनीत का विशेषणविधया ही भान होता है एवं मानस प्रत्यक्ष में उपनीत का विशेषणविधया और विशेष्यविधया भान होता है, इस विषय में स्वभाव ही शरण है । इस तरह स्याद्वादी की ओर से भी यह कहा जाना उचित ही है कि स्वभावविशेष की वजह उल्लू आदि को दिन में घटादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है और मनुष्य को भी स्वभावविशेष के सबब ही घटादि का रात के अन्धकार में चाक्षुष नहीं होता है । वस्तुतः आत्मा का स्वभाव सब चीज को जानने का है मगर देशविशेष, कालविशेष, विषयविशेष आदि की अपेक्षा जीव का संसारी अवस्था में ज्ञानावरणकर्मविषयक क्षयोपशम विचित्र = भिन्न भिन्न होता है । ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम में विचित्रता होने से उससे नियम्य ज्ञान भी विभिन्न प्रकार के होते हैं । उल्लू आदि भव की अपेक्षा, अंजनादि द्रव्य की अपेक्षा ऐसा ज्ञानावरणक्षयोपशम होता है कि रात के गाढ अन्धकार में रही हुई चीज का ज्ञान (चाक्षुष) हो सकता है । तथाविध क्षयोपशम के विरह में आम जनता को गाढ अन्धकार में रही हुई चीज का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है । इस विषय में स्याद्वाद का गहन अभ्यास करने वाले को आश्चर्य क्या ? अतः ज्ञानवरणक्षयोपशमात्मक योग्यताविशेष को ही चाक्षुषादि प्रत्यक्ष का नियामक मानना सुसंगत है ।

ज्ञान आत्मस्वभाव है - स्याद्वादी

ज्ञानस्य इति । यहाँ यह शंका हो कि —> "ज्ञानस्वभाववाली आत्मा कैसे हो सकती है ? यह जब तक सिद्ध न हो तब तक ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम के वैचित्र्य से ज्ञानवैचित्र्य का समर्थन नहीं हो सकेगा" <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्यमात्र गुणस्वभाववाला होता है, द्रव्यत्वावच्छेदेन गुणस्वभावत्व सिद्ध है । अतः आत्मा भी द्रव्य होने से गुणस्वभाववाली सिद्ध होती है । वर्णगन्धादि तो आत्मगुण नहीं होने से आत्मा वर्ण-गन्धादिगुणस्वभाववाली नहीं हो सकती । एवं इच्छा, द्वेष आदि गुण भी मोक्षावस्था में नहीं होने से इच्छादिस्वभाववाली आत्मा नहीं हो सकती । इसलिए पारिशेष न्याय से ज्ञानगुण ही आत्मस्वभाव हो सकता है । इसलिए ज्ञानस्वभाववाली आत्मा होने में कोई दोष नहीं है । यहाँ यह शंका हो कि —> "आत्मा ज्ञानस्वभाववाली है, तो फिर 'ज्ञान उत्पन्न हुआ' इत्यादि व्यवहार कैसे हो सकेगा ?" <— तो यह नामुनासिब है, क्योंकि ज्ञान आत्म-

ज्ञानोत्पत्तिव्यवहार पुनरावरणविगमादाविर्भावनिबन्धन.; भानुप्रकाशोत्पत्तिव्यवहारवत् । न चाऽऽविर्भावस्य सदसद्विकल्पौ स्याद्वादिना दोषाय, रूपभेदेनैव सदसत्त्वाऽभ्युपगमादित्यन्यत्र विस्तर ।

यत्तु —> तमसो द्रव्यत्वसिद्धौ तद्ग्रहार्थं तामसेन्द्रियसिद्धिः, तत्सिद्धौ चालोकनिरपेक्षचक्षु-

❦ जयलता ❦

पौद्गलिकत्वाच्च, औपाधिकाना तु तेषामुपाधिविलये मोक्षाऽवस्थायामननुवृत्तेस्तत्स्वभावत्वाऽयोगात् । अत एवेच्छाद्वेषादिगुणस्वभावत्वमपि नाऽऽत्मन सम्भवति, अदृष्टस्य तु पौद्गलिकत्वस्य पूर्वमेव साधनेन गुणत्वाऽयोगाच्चेति प्रसक्तप्रतिषेधादात्मन ज्ञानात्मगुणस्वभावत्व सिध्यतीत्याशय ।

ननु ज्ञानस्वभावत्व चेदात्मन तदा 'आत्मनि ज्ञानमुत्पन्न विनष्टमि'त्यादिव्यवहारो न स्यात् । न हि जलपरमाणो शीतस्पर्शस्वभावत्वे तत्र तदुत्पत्तिविनाशव्यवहार सम्भवति, सर्वदा तत्र तत्सत्त्वादित्याशङ्कायामाह - **ज्ञानोत्पत्तिव्यवहार** इति । 'आत्मनि ज्ञानमुत्पन्न' इति शब्दप्रयोग इति । **आवरणविगमात्** = ज्ञानावरणकर्मविलयात् **आविर्भावनिबन्धनः** = अभिव्यक्तिनिमित्तक **भानुप्रकाशोत्पत्तिव्यवहारवदिति** । यथा सवितु प्रकाशस्वभावत्वेऽपि घनाघनाम्बुवाहच्छन्नदशाया सूर्यप्रकाशो नोपलभ्यते किन्तु तद्विलयावस्थायामेव । व्यवहरन्ति च लोका अपि तदानी यदुत 'सूर्यप्रकाश उत्पन्नोऽधुने'ति । पुनश्च वारिवाहाऽऽवरणकाले 'सूर्यप्रकाशो विनष्ट' इति व्यवहारोऽपि दृष्टचर एव । तथैव प्रकृते आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वेऽपि घनज्ञानावरणकर्मच्छन्नावस्थाया 'मूढोऽय न वेत्ति किञ्चन' इति व्यवहार तद्विगमे पुन 'ज्ञानमुत्पन्न' तदागमे च 'ज्ञान विनष्टमि'ति व्यवहार इति आत्मनो ज्ञानस्वभावत्वेऽपि ज्ञानावरणविलयादिनिमित्तकज्ञानाविर्भावादिनिमित्तकत्वेनाऽपि ज्ञानोत्पत्तिविनाशव्यवहारोपपत्तेरिति तात्पर्यम् ।

ननु ज्ञानस्वभावत्वेऽपि तदाविर्भावे तदुत्पत्तिव्यवहार तदावरणे च तद्विनाशव्यवहारो न पुन सर्वथा तदुत्पत्त्यादिव्यवहार इति स्याद्वाद्यभ्युपगमो न युक्त , तदाविर्भावस्याऽपि सदसद्विकल्पग्रस्तत्वात् । आविर्भावस्य पूर्व सत्त्वे पूर्वमपि ज्ञानोपलब्धिप्रसङ्गात् पूर्वमसत्त्वे च पश्चादप्यसत्त्वापत्तेरिति शङ्कामपनोदयति - **न चेति** । तदपाकरणे हेतुमाह - **रूपभेदेनैव सदसत्त्वाऽभ्युपगमादिति** । ज्ञानाऽऽविर्भावस्य पूर्व द्रव्यत्वेन सत्त्वात् पर्यायत्वेन चाऽसत्त्वान्न दोष । सदसत्कार्यवादसमर्थकपूर्वोक्तयुक्त्यनुसारेण भावनीयमिदम् ।

यत्त्विति । 'तद्दूरववधानमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । **तद्ग्रहार्थं** = तमोद्रव्यज्ञानकृते इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकत्वेन **तामसेन्द्रियसिद्धिः** । तमोद्रव्यत्वसिद्धिश्च कुत ? इत्यावेदयति **तत्सिद्धौ** = तामसेन्द्रियसिद्धौ सत्या च **आलोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्य-**

स्वभाव होने पर भी ज्ञानावरण के विलय से ज्ञान का आविर्भाव होता है, उस निमित्त से 'ज्ञान उत्पन्न' यह व्यवहार हो सकता है । यह ठीक उसी तरह सगत होता है जैसे सूर्यप्रकाशोत्पत्ति का व्यवहार । सूर्य प्रकाशस्वभाववाला होता है फिर भी जब वातावरण मे बादल छा जाते हे तब सूर्यप्रकाश नही दिखता हे, बादलस्वरूप आवरण दूर होने के बाद 'सूर्यप्रकाश उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार सूर्यप्रकाश के आविर्भावस्वरूप निमित्त मे होता ह । इसी तरह ज्ञानोत्पत्तिव्यवहार भी ज्ञानाविर्भावनिमित्तक हो सकता हे । यहाँ यह शका करना कि —> "ज्ञानाविर्भाव ज्ञानावरणविलय के पूर्व मे विद्यमान हे या अविद्यमान ? यदि विद्यमान है, तब तो पूर्व मे उसका अनुभव होना चाहिए । यदि पूर्व मे वह अविद्यमान है, तो पश्चात् कैसे विद्यमान हो सकेगा ? इसलिए ज्ञानावरणविलय से ज्ञान की उत्पत्ति माननी चाहिए, न कि आविर्भाव" <— स्याद्वादिमत मे सगत नही है, क्योकि ज्ञानाविर्भाव भी द्रव्यत्वरूप से पूर्व मे विद्यमान हे, पर्यायरूप से अविद्यमान हे । ज्ञानावरणविलय के पश्चात् पर्यायात्मना ज्ञानाविर्भाव विद्यमान होता हे । इसलिए पश्चात् ज्ञान का साक्षात्कार होगा, पूर्व मे नही । इस विषय का विस्तार से निरूपण प्रकरणकार ने अन्यत्र किया हे, इसलिए विशेष जिज्ञासु अन्य ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते हे ।

❋ तामसेन्द्रियकल्पना में अन्योन्याश्रय दोष का निराकरण ❋

यत्तु त इति । यहाँ प्रकरणकार अन्य विद्वानो के वक्तव्य को खण्डनार्थ बताते हे । उन मनीषियो का यह कथन है कि —> "अन्धकार जब द्रव्यात्मक सिद्ध हो जाय तब अन्धकारद्रव्यज्ञानार्थ तामसेन्द्रिय की सिद्धि होगी । मगर तामसेन्द्रिय की सिद्धि होने पर ही आलोकनिरपेक्ष चक्षु से ग्राह्यत्व अन्धकार मे माना जा सकता है, जिसके फलस्वरूप मे अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि होगी । इस तरह अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि तामस इन्द्रिय की सिद्धि मे होगी और तामसेन्द्रिय की सिद्धि से अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि हो सकेगी । इसलिए अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा" <—

ग्राहित्वस्य बाधकस्याऽभावात् तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति कस्यचिदभिधान <- तदूदूरवधानम्, पेचकादीना घटादिग्रहार्थमेव साध्यमानस्य तस्य तद्ग्राहकत्वेन सिद्धेः ।

प्राभाकरास्तु आलोकज्ञानाभाव एव तमः । अत एव आलोकवद्गर्भगृह प्रविशतस्तमोधी ।

❀ जयलता ❀

त्वस्य = महदुद्भूतानभिभूत-रूपवदालोकनिरपेक्षचक्षुर्गोलकाधिष्ठितन्द्रियजन्यज्ञाननिरूपितलौकिकविषयत्वस्य, बाधकस्याऽभावात् **तमसो द्रव्यत्वसिद्धिरिति** ज्ञप्तौ **अन्योन्याश्रय इति** । तदश्रद्धेयत्वमाविष्करोति - **पेचकादीना** नक्त **घटादिग्रहार्थमेवेति** । एवकारेण 'तमोग्रहार्थ'मित्यस्य व्यवच्छेद कृत । **तस्य** = तामसेन्द्रियस्य, **पेचकादीना तद्ग्राहकत्वेन** = अन्धकारस्थितघटादि-ज्ञानजनकत्वेन, धर्मिग्राहकप्रमाणेन **सिद्धेः** । नक्त पेचकादीना घटादिग्रहान्यथानुपपत्त्या तामसेन्द्रियसिद्धिसम्भवादित्याशय । इदञ्च परमताभ्युपगमेनोक्तमिति द्रष्टव्यम् । स्वमते तु पूर्वोक्तरीत्या भवप्रत्ययिकज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषलक्षणयोग्यताबलादेव तदुपपत्तेर्न तामसेन्द्रियसिद्धिरिति ध्येयम् ।

प्राभाकरा इति । मीमासकधुर्यकुमारिलभट्टशिष्य-गुरुपराभिधान-प्रभाकरमिश्रानुयायिन इति । **आलोकज्ञानाभावः** = आलोकचाक्षुषाभाव **एव तमः** । एवकारेण आलोकाभावो द्रव्य वा न तम इति दर्शितम् । उपलब्धियोग्यालोकचाक्षुषाऽभावे सति तमोऽभावाऽप्रतीते तमोव्यवहाराच्च तमस उपलब्धियोग्यालोकचाक्षुषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमेव, लाघवेन समनियतयोरैक्यादिति । जात्यन्ध-निमीलितनयनपुरुषादेरालोकचाक्षुषाभावेऽतिव्याप्तिवारणार्थं 'उपलब्धियोग्ये'ति विशेषणमिति तेषामाशय । **अत एवेति** । तमस आवश्यकाऽऽलोकाऽभावाऽऽत्मकत्वादेव । सौरालोकवशात् **आलोकवद्गृह** = महदनभिभूतो-द्भूतरूपवता सौरालोकापेक्षया मन्देनाऽऽलोकेन युक्त गृह, **प्रविशतः** पुरुषादे क्षणमेक 'अत्राऽन्धकार'इत्याकारिका **तमोधीः** उपपद्यते । तमस आवश्यकाऽऽलोकाभावात्मकत्वे तु कथ तादृशप्रतीतिरुपपद्येत ? अत तमस उपलब्धियोग्याऽऽलोकचाक्षुषा-भावात्मकत्वमेव युक्तम् । न चैव सति 'नील तम' इति प्रतीति कथ सङ्गच्छते ? इति वक्तव्यम्, स्मृतनीलिम्ना समसु-पलब्धियोग्यालोकदर्शनाभावस्याऽससर्गाऽग्रहादेव तदुपपत्ते । अत एव सौरालोकोपेतबहिर्देशादालोकवद्गर्भगृह विशत पुरुषादे प्रथममालोकाऽग्रहे 'नील तम' इति धी । तदुक्त 'अप्रतीताविव प्रतीतिभ्रमो मन्दाना' ( ) इति तेषामाशय ।

मगर यह कथन अयुक्त है, क्योंकि तामसेन्द्रिय की सिद्धि के लिए कुमारिलभट्टानुयायी के एकदेशीय की ओर से यह कहा जा सकता है कि तामस इन्द्रिय की सिद्धि अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि पर निर्भर नही है, किन्तु उल्लू आदि को रात्रि मे घटादि के साक्षात्कार की अन्यथा अनुपपत्ति पर अवलम्बित है । अन्धकारस्थ घटादि के उलूकचाक्षुष के लिए सिद्ध की जाने वाली तामसेन्द्रिय की उसके ग्राहक (= ज्ञान-जनक) रूप मे ही सिद्धि हो सकती है । अन्धकार मे द्रव्यत्व की सिद्धि पर तामस इन्द्रिय की सिद्धि आधार नही रखती है, जिसके फलस्वरूप मे अन्योन्याश्रय दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो सके ।

❀ आलोकज्ञानाभाव ही अन्धकार है - प्रभाकरमत ❀

प्राभा इति । मीमासक के तीन भेद है (१) कुमारिलभट्ट के अनुयायी (२) कुमारिलभट्टशिष्य प्रभाकरमिश्र के अनुयायी (३) मुरारिमिश्र के अनुयायी । कुमारिलभट्टानुयायी के एकदेशीय विद्वानो के मत का निरूपण एव निराकरण कर के प्रकरणकार अब प्रभाकरमिश्र के अनुयायी के मत के खण्डनार्थ पहले उसके मत का प्रतिपादन करते है ।

प्रभाकर के अनुयायिओ का कहना है कि --> "आलोकज्ञान का अभाव ही अन्धकार है । इसका आशय यह है कि जिस स्थान मे मनुष्य को आलोक नही दीखता, वहाँ वह अन्धकार का व्यवहार करता है, इससे सिद्ध होता है कि आलोकदर्शनाभाव ही अन्धकार है । जब विशेष्यता-सम्बन्ध से या प्रकारतासम्बन्ध से तत्देश मे आलोकदर्शन का अभाव होता है, तभी वहाँ अन्धकार की प्रतीति एव व्यवहार होता है । जब मनुष्य बाहर के प्रबल आलोक से गृह के भीतर प्रवेश करता है तो सहसा उसे वहाँ स्थित आलोक का दर्शन (चाक्षुष प्रत्यक्ष) नही होता और वह झट से बोल पडता है 'अत्र अन्धकार.' = 'यहाँ अन्धेरा है' । इस व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि आलोकदर्शनाभाव ही अन्धकार है, अन्यथा यदि आलोकाभाव तम होता तो आलोक तो यहाँ है ही, फिर आलोकाभावस्वरूप अन्धकार का चाक्षुष एव व्यवहार कैसे हो सकता ? इस प्रकार आलोकज्ञानाभाव को अन्धकार मानने मे युक्ति की अनुकूलता को देख कर प्रभाकरानुयायी कहते है कि अन्धकार दूसरा कुछ नही है, मगर आलोकदर्शनाभाव है । यह मीमासक अग्रणी प्रभाकर के अनुयायिओ का मन्तव्य है ।

तत्तुच्छम्, एवं सति 'अन्धकारवानहमि'ति प्रतीत्यापत्ते. । न च सम्बन्धविशेषेणालोकज्ञानाभाववत्येव तमःप्रतीतिनियमान्नाऽय दोष, तथा सति 'आलोकज्ञानाभाववानहमि'ति

❀ जयलता ❀

प्रकरणकार प्राभाकरमतमपाकरोति - **तत्तुच्छमिति** । एव सति = तमस आलोकदर्शनाभावात्मकत्वे सति, **'अन्धकारवानहमि'ति प्रतीत्यापत्तेः** ज्ञानत्वावच्छिन्नस्याऽऽत्मवृत्तित्वेनालोकज्ञानाभावलक्षणान्धकारस्याऽऽत्मवृत्तित्वस्य न्याय्यत्वात् । 'अन्धकारवद्भूतलमि'त्यादिप्रतीतेरप्रामाण्य प्रसज्येते'त्यप्युपलक्षणादत्र दोपत्वेन लभ्यते ।

नन्वस्माभिर्न समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकालोकदर्शनाभावस्य तमस्त्वमङ्गीक्रियते येन तद्वत्यात्मनि तम प्रतीति प्रसज्येत किन्तु स्वनिरूपितालोकनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता-स्वनिरूपितालोकनिष्ठविशेष्यतानिरूपिताऽऽधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताऽन्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकचाक्षुपाभावस्यैव तमस्त्वमभ्युपगम्यते । प्रथमसम्बन्धेन 'आलोकवान् देश ' इति प्रतीति द्वितीयसम्बन्धेन च 'देशे आलोक' इति दर्शन देशे वर्त्तते । यत्र तु तदन्यतरसम्बन्धेन तादृशचाक्षुपप्रतीतिर्नैव वर्तते तत्रैव तम प्रतीतिर्भवतीति नियम । आत्मनि तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकदर्शनाभावो न तूपदर्शितसम्बन्धावच्छिन्न इति 'अन्धकारवानहमि'ति प्रतीतेर्नावकाश इति प्राभाकराशय दूषयति - **न चेति** । तद्युक्तत्वमेव द्योतयति - **तथा सतीति** । 'दर्शितान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकालोकदर्शनाभाववत्येवाऽन्धकारप्रतीतिव्यवहारौ भवत' इति नियमाऽङ्गीकारे सति, **'आलोकज्ञानाभाववानहमि'ति प्रतीतेः** इति । अपिशब्दस्त्वत्र गर्हाया बोध्य । **विलयापत्तेः** = कदाऽप्य-

❀ प्रभाकरमतनिकंदन ❀

तत्तुच्छ इति । प्रकरणकार का कहना है कि प्रभाकरमिश्र के अनुयायियो का मत विचार करने पर अयुक्त प्रतीत होता है, क्योकि अन्धकार को आलोकज्ञानाभावात्मक मानने पर 'अन्धकारवानह' = 'मे अन्धकारवाला हूँ' इस प्रतीति की आपत्ति मुँह फाडे खडी रहती हे । आलोकज्ञान का आश्रय आत्मा होने से आत्मा मे ही आलोकज्ञानाभावात्मक अन्धकार की प्रतीति होनी चाहिए, न कि भूतलादि वहिर्देश मे । मगर अन्धकार की प्रतीति आत्मा मे नही होती है किन्तु बाह्य देश मे होती है । इसलिए अन्धकार को आलोकदर्शनाऽभावस्वरूप नही माना जा सकता । यहाँ प्रभाकरानुयायी की ओर से यह कहा जाय कि —> ''आलोकज्ञान आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से रहने की वजह वहाँ रहने वाला आलोकज्ञानाभाव भी समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक ही होगा, न कि अन्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक । मगर हम जिस आलोकज्ञानाभाव को अन्धकारात्मक मानते है, वह समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक नही है, किन्तु अन्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक है, जो कि वहिर्देश मे ही रहता है, न कि आत्मा मे । वह सम्बन्ध है स्वनिरूपितालोकनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यता एव स्वनिरूपितआलोकनिष्ठविशेष्यतानिरूपित आधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता । इन दोनो सम्बन्ध से ज्ञान का न होना ही अन्धकार हे, अर्थात् उक्त विशेष्यता-उक्त प्रकारता-एतदन्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक चाक्षुपाभाव = अन्धकार । जिस देश मे 'आलोकवान् अय देशः' इस प्रकार आलोक का चाक्षुप प्रत्यक्ष होगा, उस देश मे उक्त विशेष्यतासम्बन्ध से यह चाक्षुप रहेगा, क्योकि उक्त चाक्षुप मे आलोक प्रकार और देश विशेष्य हे । अत' उक्त विशेष्यतासम्बन्ध मे 'स्व'शब्द से उक्त चाक्षुप को लेने पर वह स्वनिरूपितआलोकनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यता सम्बन्ध से देश मे रहेगा और जब देश मे 'अत्र देशे आलोकः' इस प्रकार आलोकचाक्षुप होगा तब वह उक्त प्रकारतासम्बन्ध से देश मे रहेगा, क्योकि इस चाक्षुप मे आलोक विशेष्य है और देश उसमे आधेयतासम्बन्ध से प्रकार है । अतः उक्त प्रकारतासम्बन्ध मे 'स्व'पद से इस चाक्षुप को लेने पर वह देश मे उक्त प्रकारतासम्बन्ध से रहेगा । जिस देश मे जब उक्त चाक्षुप मे से कोई भी आलोकचाक्षुप नही रहेगा, वैसी ही स्थिति मे वहाँ ही अन्धकारप्रतीति एव अन्धकारव्यवहार होगा । इसलिए आत्मा मे अन्धकार की प्रतीति का प्रसग नही होगा'' <—

❀ 'आलोकज्ञानाभाववान् अहं' - प्रतीति की प्रभाकरमत में अनुपपत्ति ❀

तथा स इति । तो यह कथन ठीक नही है, क्योकि दर्शित प्रकारतादि सम्बन्ध से आलोकज्ञानाऽभाव के अधिकरण मे ही अन्धकार की प्रतीति एव व्यवहार को अगीकार करने पर 'आलोकज्ञानाऽभाववान् अह' इस प्रतीति का विलय होने की आपत्ति होगी, क्योकि तादृश प्रकारतादिसम्बन्ध से आलोकज्ञानाभाव वहिर्देश मे रहता है, न कि आत्मा मे । तथा अन्धकार ओर आलोकज्ञानाभाव दोनो एक = अभिन्न ही हे । इसलिए अन्धकारात्मक आलोकदर्शनाभाव की प्रतीति आत्मा मे कैसे हो सकती है ? ऐसा कहने से ही यह कथन कि —> ''विपयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकदर्शनाभाव ही अन्धकार

प्रतीतेरपि विलयापत्तेः । न ह्यालोकज्ञानाऽभावत्वं तमस्त्वादिदानीमतिरिच्यते । एतेन विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याऽपि तस्य तमस्त्वं प्रत्याख्यातम् ।

किञ्चैवं तमसश्चाक्षुषत्वं न स्यात्, ज्ञानाभावस्य मानसत्वात् । तथा च 'तमः पश्यामी'ति प्रतीतिः कथमुपपादनीया ? एतेन तदंशेऽलौकिकचाक्षुषमपि प्रत्युक्तम्, बाह्येन्द्रिय-

❀ जयलता ❀

सम्भवप्रसङ्गात् । अत्रैव हेतुमाह - न हीति । आलोकज्ञानाभावत्वं तमस्त्वात् इदानीं = दर्शितनियमाऽङ्गीकारकाले, अतिरिच्यते । उक्तान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नालोकदर्शनत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वलक्षणतमस्त्ववदाश्रयत्वं नाऽऽत्मनः किन्तु भूतलादेरेवेति न कदापि आलोकदर्शनाभाववानहमि'ति प्रतीतिः स्यात् ।

एतेनेति । 'आलोकदर्शनाभाववानहमि'तिप्रतीत्युच्छेदकप्रसङ्गेनेति । 'प्रत्याख्यातमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य = स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य, अपिशब्देन प्रकारतादिस्वरूपविषयताविशेषसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसमुच्चयः कृतः, तस्य = आलोकदर्शनाभावस्य, तमस्त्वमिति । स्वपदेनाऽऽलोकदर्शनस्य ग्रहणम् । तच्च स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धेन भूतलादौ वर्तते 'आलोकवद्भूतलमि'त्यादिप्रतीतिबलात् । तच्छून्ये च 'तमोवद्गुहादिकमि'ति व्यवहारात् स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकदर्शनाभाव एव तम इति प्राभाकराशयः । एवं सति 'आलोकदर्शनाभाववानहमि'ति प्रतीतिर्न स्यात् । गुहादेरेव विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकालोकदर्शनाभावत्वलक्षणतमस्त्ववदाश्रयत्वादिति भावः ।

दोषान्तरसमुच्चयार्थमाह - किञ्चेति । एवं = तमसः आलोकचाक्षुषज्ञानाभावात्मकत्वाऽभ्युपगमे सति, तमसः चाक्षुषत्वं न स्यात्, ज्ञानस्य मानसत्वेन ज्ञानाभावस्य मानसत्वादिति । यो यदिन्द्रियेण गृह्यते तदभावस्तद्वृत्ता जातिरपि तेनैवेन्द्रियेण गृह्यत इति नियमेनाऽऽलोकज्ञानस्य मनोग्राह्यत्वेन तदभावस्याऽपि मनोग्राह्यत्वमेव स्यात्, न तु चक्षुर्ग्राह्यत्वम् । 'इष्टमेवेदमि'त्याऽऽशङ्कायां प्रकरणकृदाह - तथा चेति । आलोकज्ञानाऽभावलक्षणस्य तमसो मानसत्वेऽभ्युपगम्यमाने 'तमः पश्यामी'ति प्रतीतिः कथं प्रमात्वेन उपपादनीया ? न च तस्याः प्रमात्वमपह्नोतुमुचितम्, तस्याः सार्वजनीनत्वात्, बाधकाऽभावात् । एतेन तमस आलोककालाऽभावात्मकत्वमपि प्रत्युक्तम्, कालस्याऽतीन्द्रियत्वेन तदभावस्वरूपस्य तमसोऽप्रत्यक्षत्वापत्तेः ।

एतेनेति । अस्य 'प्रत्युक्तमि'त्यनेनाऽन्वयः । तदंशे = तमोंऽशे अलौकिकचाक्षुषं = ज्ञानलक्षणसन्निकर्षप्रयोज्यविषयतावच्चाक्षुषम् । यथा 'सुरभि चन्दनमि'ति प्रतीतौ सौरभांशेऽलौकिकचाक्षुषं चन्दनांशे च लौकिकचाक्षुषं तथैव 'तमः पश्यामी'तिप्रतीतौ तमोंऽशेऽलौकिकचाक्षुषं 'पश्यामी'त्यंशे लौकिकचाक्षुषं 'पश्यामी'तिविषयतायाः चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्षनियम्यत्वादिति भावः । तदपाकरणे प्रकरणकारो हेतुमाह - बाह्येन्द्रियज्ञाने = मनोभिन्नेन्द्रियजन्यज्ञाने, उपनीतस्य = ज्ञानलक्षणसन्निकर्षो-

---

है'' <— भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि विषयतासम्बन्ध से आलोकदर्शन बहिर्देश में रहने से विषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक आलोकदर्शनाभाव भी बहिर्देश में ही रहने की वजह आत्मा में आलोकज्ञानाभाव की = 'आलोकदर्शनाभाववानहं' इस प्रतीति का उच्छेद हो जायेगा ।

⋙ 'तमः पश्यामि' इत्यादि प्रतीति की प्रभाकरमत में अनुपपत्ति ⋘

किञ्चे इति । दूसरी बात यह है कि अन्धकार को आलोकदर्शनाभावात्मक मानने पर 'तमः पश्यामि' = 'मैं अन्धकार को देखता हूँ' इस प्रतीति की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि अन्धकार आलोकचाक्षुषाभावात्मक है और आलोकचाक्षुषप्रत्यक्ष मनोग्राह्य होने से उसका अभावस्वरूप अन्धकार भी मनोग्राह्य ही होगा, न कि चक्षुग्राह्य । जब कि 'तमः पश्यामि' यह प्रतीति चक्षु इन्द्रियजन्य है, न कि मनोजन्य । मतलब कि 'तमः पश्यामि' इस प्रतीति से अन्धकार चक्षुग्राह्यत्वेन सिद्ध होने से उसे आलोकज्ञानाभावस्वरूप नहीं माना जा सकता । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि —> ''अन्धकार को मैं देखता हूँ - यह प्रतीति अन्धकारांश में अलौकिक चाक्षुषात्मक है यानी ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से जन्य है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि आलोकदर्शनाभाव का ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से भान हो सकता है'' <— यह कथन इसलिए अयुक्त है कि 'ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से उपस्थापित का बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में विशेषणविधया ही भान होता है, न कि विशेष्यविधया भी' इस नियम के बल से अन्धकार का विशेषणविधया ही अलौकिक चाक्षुष में भान हो सकता है । जैसे चन्दन को देख कर सौरभ का स्मरण होने पर 'सुरभि चन्दन' ऐसे बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में उपनीत = ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से उपस्थापित सौरभ का चन्दन

ज्ञाने उपनीतस्य विशेषणत्वेनैव भाननियमात् 'नीलं तम' इति प्रतीत्यनापत्तेश्चेति किमधिकमन्दविवादक्षोदेन ।

प्रगल्भस्तु प्रकाशकरूपाभाव एव तमः, प्रौढप्रकाशकयावत्तेज.संसर्गाभावस्य तथात्वे

❀ जयलता ❀

पस्थापितस्य, **विशेषणत्वेनैव भाननियमादिति** । एवकारेण विशेष्यत्वेन तद्भानप्रतिक्षेप. कृत· । 'तम पश्यामी'ति बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने आलोकज्ञानाऽभावलक्षणस्य तमसो विशेष्यत्वेनैव भासनान्न तदशेऽलौकिकचाक्षुषत्व सम्भवतीति भाव । तत एव दोषान्तरमाह - **'नील तम' इतिप्रतीत्यनापत्तेश्चेति** । आलोकज्ञानाभावस्य नीरूपत्वेन तत्स्वरूपे तमसि नीलत्वभानाऽनुपपत्ते । **एतेन** 'नील तम' इति धीस्तु स्मृतनीलिम्ना सममालोकज्ञानाभावस्याऽससर्गाऽग्रहादित्यपि **प्रत्याख्यातम्**, तथाननुभवात्, अप्रामाणिकगौरवात्, अस्खलद्वृत्तेश्च तस्या 'इद रजतमि'त्यादिप्रतीतिवदससर्गाऽग्रहेणोपपादनाऽसम्भवात् । सौरालोकाद् मध्यदिने आलोकवद्गर्भगृह प्रविशत तम·प्रत्ययश्च भ्रम एव, आलोकज्ञानप्रतिबन्धकदोषस्य तत्र स्वीकारावश्यकत्वादिति दिक् ।

मीमासाकुतूहले तु **कमलाकरभट्टेन** प्रभाकरमतमपनोदयता 'सौरालोकेऽपि तदप्रतिसन्धाने तमस्त्वापत्ति , तमसि आलोकस्मरणे तदभावापत्तेश्च' (मी कु) इत्याद्युक्तम् ।

वस्तुतस्तु क्षयोपशमविशेषस्यैव चाक्षुषविषयतानियामकत्व चक्षुरादेस्तु तत्रैवोपक्षीणत्वाचाक्षुष प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । इत्थमेव जात्यन्धानामपि चाक्षुषमुपपद्यते । तदुक्त **व्यवहारसूत्रभाष्ये** 'जो जाणइ य जच्चधो वन्ने रूवे विकप्पसो । न ते वावरिते तस्स विन्नाण त तु चिट्ठइ ॥ (व्य उ १०, भा गा ६६) इति । अत्र **मलयगिरिसूरिवृत्तिश्चैव** - 'यो नाम जात्यन्ध स्पष्टचक्षुर्वर्णान् रूपाणि च विकल्पशोऽनेकप्रकार जानाति तस्य नेत्रेऽप्यावृते तत् विज्ञान तिष्ठति अन्धीभूतेऽपि वर्णविशेषान् रूपविशेषाश्च स्पर्शतो जानातीत्यर्थ ' (व्य सू उ.२०, भा गा.६६ वृ) । इत्थमेव 'स्वप्ने रथादयो मया दृष्टा' इत्यादिप्रतीतेर्मुख्यार्थत्वमप्युपपद्यत इति विभावनीय कोविदै ।

प्रगल्भ इति । तत्त्वचिन्तामणिव्याख्याकारविशेष । तु. पूर्वोपदर्शितमतापेक्षया विशेषणे । तदेवाऽऽह - **प्रकाशकरूपाऽभाव एव तमः** । एवकारेण प्रौढप्रकाशकयावत्तेज.ससर्गाभाव-मदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाभावाऽऽलोकज्ञानाभावाऽऽलोककालविशेषाभावाऽतिरिक्तद्रव्यादेर्व्यवच्छेद कृत । तदेव लेशतो दर्शयति - **प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःससर्गाभावस्य** = प्रौढ-

के विशेपणरूप मे ही भान होता हे, न कि विशेष्यरूप से । ठीक वैसे ही आलोकदर्शनाभावस्वरूप अन्धकार का उपनीतभान मानने पर उसका चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान मे विशेपणविधया ही भान होना चाहिए मगर 'तमः पश्यामि' इस चाक्षुप प्रतीति मे तमस्त्व के विशेष्यरूप मे ही अन्धकार का भान होता हे । इसलिए उक्त प्रतीति को अन्धकाराश मे अलौकिक नही मानी जा सकती । इसी तरह 'नील तमः' यह चाक्षुप प्रतीति भी अन्धकार को आलोकज्ञानाभावात्मक मानने पर प्रभाकर मत मे अनुपपन्न ही रहेगी, क्योकि नील रूप कभी अभाव मे नही होता है । अभाव तो नीरूप होता है । अतः नील रूप के विशेष्यरूप मे अन्धकार का प्रामाणिक चाक्षुप प्रत्यक्ष प्रभाकरमत मे अनुपपन्न ही रहेगा । इस तरह अन्धकार को आलोकदर्शनाभावात्मक मानने पर अनेक दोपो की परम्परा प्राप्त होने से प्रभाकरमत मान्य नही हो सकता । मद व्यक्ति के साथ बहुत विवाद के परिश्रम से क्या फायदा ?

प्रकाशकरूपाभाव ही अन्धकार - प्रगल्भ

प्रगल्भ इति । यहाँ प्रकरणकार श्रीमद्जी तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थ के व्याख्याकार नव्यनैयायिक प्रगल्भ के मत का निरूपण करते है । प्रगल्भ का कहना हे कि अन्धकार और कुछ नही हे, मगर प्रकाशकरूपाभाव ही अन्धकार है । जहाँ जहाँ प्रकाशक रूप का अभाव होता है वहाँ वहाँ अन्धकार का व्यवहार होता हैं, न कि अन्यत्र । अतः लाघवसहकार से अन्धकार को प्रकाशक-रूपाभावस्वरूप ही मानना उचित हे । प्रौढ प्रकाशक यावत्तेजद्रव्य के ससर्गाभाव को तो अन्धकार नही माना जा सकता । इसका कारण यह है कि प्रौढप्रकाशक यावत्तेजद्रव्य मे चन्द्र, तारा, नक्षत्र आदि की प्रभा का भी समावेश होता है । मगर चन्द्रादि की प्रभा तो अतीन्द्रिय हे, क्योकि उसमे उद्भूत रूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श नही होता है । चन्द्रादि की प्रभा के स्पर्श का हमे कोई अनुभव नही होता है, तब उसे उद्भूत कैसे माना जाय ? बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष मे केवल उद्भूत रूप नियामक नही है, किन्तु उद्भूत स्पर्श भी नियामक है । जैसे जहाँ उद्भूत रूप नही होता है, उसका साक्षात्कार नही होता है । ठीक वेसे ही जिसमे उद्भूत स्पर्श नही होता हे उसका भी प्रत्यक्ष नही होता है । अतः उद्भूत रूप को

तमसोऽतीन्द्रियत्वापत्तेः, अतीन्द्रियचन्द्रादिप्रभाप्रतियोगिकत्वात् विनिगमनाविरहेणोद्भूतरूपवत्त्वस्येवोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्याऽपि प्रत्यक्षताया तन्त्रत्वतात् तस्याऽतीन्द्रियत्वादिति । स पुनरप्रगल्भ, योग्यताविशेषस्यैव प्रत्यक्षप्रयोजकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

प्रकाशकतेजस्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकससर्गाभावस्य, तथात्वे = तमस्त्वे, तमसोऽतीन्द्रियत्वापत्तेः । तत्र हेतुमाह - अतीन्द्रियचन्द्रादिप्रभाप्रतियोगिकत्वादिति । बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षाऽगोचरचन्द्र-तारक-ग्रहादिप्रभानिष्ठप्रतियोगितानिरूपकत्वात्, अतीन्द्रियप्रतियोगिकत्वेन प्रौढप्रकाशकयावत्तेज ससर्गाभावलक्षणस्य तमसोऽतीन्द्रियत्वस्य न्याय्यत्वात् । प्रतियोगिन चन्द्रादिप्रभालक्षणस्य कथमतीन्द्रियत्व उद्भूतरूपवत्त्वस्य तत्राऽबाधात् ? इत्याशङ्कानिराकरणायाऽऽह- विनिगमनाविरहेण = विनिगमकाभावेन उद्भूतरूपवत्त्वस्येवोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्याऽपि प्रत्यक्षताया = बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षताया तन्त्रत्वात् = नियामकत्वात्, उद्भूतस्पर्शशून्यत्वेन तस्य = चन्द्रप्रभादे , अतीन्द्रियत्वात् = प्रत्यक्षत्वाऽसम्भवात् । चन्द्रप्रभादे प्रौढप्रकाशकयावदन्तर्गतत्वेन तत्प्रतियोगिकससर्गाभावलक्षणस्य तमसोऽप्यतीन्द्रियत्वस्य वज्रलेपायित्वम् । न च तमसोऽतीन्द्रियत्वम्, 'तम साक्षात्करोमी'ति प्रतीते सर्वानुभवसिद्धत्वात् । अत एव तमसो न प्रौढप्रकाशकयावत्तेज ससर्गाभावत्वात्मकत्व किन्तु प्रकाशकरूपाभावत्वमेव । युक्तश्चैतत्, प्रकाशकरूपे सति तत्र तमोऽज्ञानात्, प्रकाशकरूपाभावे सति च तदाश्रये तमोव्यवहारात्तयो. समनैयत्येनैक्यादिति प्रगल्भाऽभिप्राय ।

प्रकरणकार तन्मतमपाकर्तुमुपक्रमते - स = प्रगल्भ , पुनः अप्रगल्भः = अप्रवीणमति । स न यथा नाम तथा गुण इत्यर्थ तदेव भावयति - योग्यताविशेषस्य = तदङ्गे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणस्य आत्मनिष्ठस्य प्राग्व्यावर्णितस्वरूपस्य, एव प्रत्यक्षप्रयोजकत्वात् = साक्षात्कारविषयतानियामकत्वात् । एवकारेण विषयनिष्ठोद्भूतरूपस्पर्शोभयव्यवच्छेद कृत । चन्द्रादिप्रभाप्रत्यक्षेऽस्मदादियोग्यताविशेषस्याऽपेक्षितत्वात्, तस्य चाऽस्मदादिष्वबाधात्र चन्द्रादिप्रभाया अतीन्द्रियत्व वक्तु युज्यते । अत एव प्रगल्भ प्रत्यस्माभि 'प्रौढप्रकाशकयावत्तेज ससर्गाभावस्य तमस्त्वमि'त्युक्तौ न तेन किञ्चिद्वक्तु पार्यते । इदञ्च [1]प्रौढिवादेन ज्ञेयम्, स्वमते तमसो द्रव्यत्वादिति ध्येयम् ।

ननु योग्यताविशेषस्य द्रव्यप्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वाभिधान तु स्वगृहे एव प्रणिगद्यमान शोभते न तु विद्वत्सभायामिति

ही प्रत्यक्षविषयता का नियामक माना जाय, न कि उद्भूत स्पर्श को - इस विषय में कोई विनिगमक यानी एकतरपक्षपाती अनुकूल तर्क ही नही होने से दोनो को प्रत्यक्षविषयता का प्रयोजक मानना चाहिए । चन्द्रादि की प्रभा में उद्भूत रूप नही होने से उसका प्रत्यक्ष नही हो सकता । चन्द्रादि की प्रभा में उद्भूत रूप नही होने से उसका प्रत्यक्ष नही हो सकता । चन्द्रादि की प्रभा अतीन्द्रिय होने की वजह उसके अभावस्वरूप अन्धकार के भी अतीन्द्रिय होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि जिस अभाव का प्रतियोगी अतीन्द्रिय होता है, वह अभाव भी अतीन्द्रिय ही होता है, जैसे पिशाचाऽभाव । अत प्रौढप्रकाशक यावत्तेजद्रव्य के ससर्गाभाव को अन्धकाररूप मानने में तम अतीन्द्रिय होने की समस्या मुँह फाड़े खड़ी रहती है । अत. प्रकाशकरूपाभाव को ही अन्धकारस्वरूप मानना तर्कसगत है ।

❊ प्रागल्भमतनिराकरण ❊

स पुन इति । प्रकरणकार कहते है कि प्रगल्भ निपुणमतिवाला नही है । इसका कारण यह है कि प्रौढप्रकाशक यावत्तेजद्रव्य के ससर्गाभाव को अन्धकार नही मानने मे उसने जो युक्ति दिखाई थी कि --> 'प्रत्यक्षविषयता में उद्भूत स्पर्श भी विनिगमकाभाव से नियामक होने से उससे शून्य चन्द्रादिप्रभा अतीन्द्रिय बनती है । अतएव तदभावात्मक अन्धकार अतीन्द्रिय बनेगा'<-- यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि प्रत्यक्षविषयता में योग्यताविशेष ही प्रयोजक है । योग्यताविशेष होने की वजह ही चैत्रादि को चन्द्रादि की प्रभा का प्रत्यक्ष होने मे कोई बाधक नही है । अतएव चन्द्रादि की प्रभा को अतीन्द्रिय नही मानी जा सकती । चद्रादि की प्रभा का साक्षात्कार अनेक आदमी को होता ही है । अतः अन्धकार अतीन्द्रियप्रतियोगिक प्रौढप्रकाशकयावत्तेजद्रव्यससर्गाभावात्मक होने की और उसीकी वजह अन्धकार के अतीन्द्रियत्व = अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति को अवकाश नही है । दूसरी बात यह है कि प्रगल्भ को भी द्रव्यचाक्षुष के प्रति उद्भूत रूप को ही हेतु मानना उचित है। जिस द्रव्य मे उद्भूत रूप होता है, उसका चाक्षुष होता है, जैसे घट का । जिस द्रव्य मे उद्भूत रूप नही होता है

[1] स्वबुद्ध्युत्कर्षप्रदर्शनार्थं प्रतिवादिबलपरीक्षणार्थं वा स्वानभिमतार्थकथन = प्रौढिवाद ।

किञ्च, परेणाऽपि द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपस्य हेतुत्वं वाच्यम् । न च तत्र (तत्र च न ?) उद्भूतस्पर्शवत्त्वस्याऽपि तथात्वे विनिगमकाभाव; वायोश्चाक्षुषत्वापत्तेरेव विनिगमकत्वात् । न च बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न प्रत्येवोद्भूतरूपस्पर्शोभयत्वेन हेतुताऽस्तु, द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रत्युद्भूतरूपस्य द्रव्यस्पार्शनत्वावच्छिन्न प्रत्युद्भूतस्पर्शस्य च

❀ जयलता ❀

पराशङ्कायामाह - **किञ्चेति** । **परेणाऽपि** = प्रगल्भेनापि, **द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न** = द्रव्यविषयकलौकिकचाक्षुषमात्र, **प्रति उद्भूतरूपस्य हेतुत्व वाच्यम्** । तथा च न चन्द्रादिप्रभाद्रव्यस्याऽतीन्द्रियत्वम्, तस्योद्भूतरूपवत्त्वात् । अत एव प्रौढप्रकाशकयावत्तेज ससर्गाभावस्य नातीन्द्रियत्वप्रसङ्ग, येन प्रकाशकरूपाभावस्यैव तमस्त्वाऽभ्युपगम चारुतामञ्चेत् । परशङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते - **न चेति** । **तत्र** = द्रव्यगोचरलौकिकचाक्षुषत्वावच्छिन्ने, उद्भूतरूपवत् **उद्भूतस्पर्शवत्त्वस्याऽपि तथात्वे** = कारणत्वे, **विनिगमकाभावः** । द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति उद्भूतरूपवत्त्वस्य हेतुत्वमाहोस्वित् उद्भूतस्पर्शवत्त्वस्य ? इत्यत्रैकतरपक्षपातियुक्तिविरहेण मयोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्यैव तथात्वमुपेयते त्वयोद्भूतरूपवत्त्वस्येव । तथा च चन्द्रादिप्रभाद्रव्यस्य न चाक्षुषत्वम्, उद्भूतस्पर्शशून्यत्वात्तस्येति प्रौढप्रकाशकयावत्तेज ससर्गाभावस्यैव तमस्त्वे तमसोऽतीन्द्रियत्वस्य दुर्वारत्वामिति शङ्काशय । तस्या अयुक्तत्वामाविष्करोति प्रकरणकृत् - **वायोश्चाक्षुषत्वापत्तेरेव विनिगमकत्वादिति** । यदि चोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्यैव द्रव्यचाक्षुषकारणत्व स्यात्तर्हि वायोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वेन चाक्षुषत्व स्यात् । न च तथा, तस्मान्नोद्भूतस्पर्शवत्त्वस्य द्रव्यलौकिकचाक्षुषहेतुत्वमिति समाधानाशय ।

न चेति । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । **वहिर्द्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न** = बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यगोचरलौकिकप्रत्यक्षमात्र, **प्रत्येव उद्भूतरूप-स्पर्शोभयत्वेनेति** । एवकारो घण्टालोलान्यायेनाऽभिसम्बध्यते, 'उद्भूते'त्याद्यदीपकन्यायेनाऽग्रे स्पर्शेनाऽपि साकमन्वीयते । **हेतुताऽस्त्विति** । लाघवादिति गम्यते । चन्द्रादिप्रभाद्रव्यस्योद्भूतरूपवत्त्वेऽप्युद्भूतस्पर्शशून्यत्वेन 'एकसत्त्वेऽपि द्वय नास्ती'ति न्यायादुद्भूतरूपस्पर्शोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्वान्न प्रत्यक्षत्वम् । अत प्रौढप्रकाशकयावत्तेजोद्रव्यससर्गाभावस्य तमस्त्वे तमसोऽतीन्द्रियत्वापत्त्या प्रकाशकरूपाभावस्यैव तमस्त्वमभ्युपगन्तुमर्हतीति प्रगल्भाभिप्राय उन्नीयते । पूर्वोक्तैवकारफल दर्शयति - **द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न** = विषयतासम्बन्धेन द्रव्यविषयकलौकिकचाक्षुषमात्र **प्रति** समवायेन **उद्भूतरूपस्य द्रव्यस्पार्शनत्वावच्छिन्न** = विषयतासम्बन्धेन द्रव्यविषयकलौकिकस्पार्शनमात्र **प्रति** समवायेन **उद्भूतस्पर्शस्य च** इति **हेतुताद्वय-**

उसका चाक्षुष नही होता है जैसे जलस्थ तेजद्रव्य, चक्षुरश्मि आदि का । चन्द्रादि की प्रभा मे उद्भूत रूप तो स्वानुभवसिद्ध ही होने से चन्द्रादि की प्रभा का चाक्षुष होने मे नैयायिकमतानुसार भी कोई बाधक नही है । अतएव चन्द्रादि की प्रभा को अतीन्द्रिय द्रव्य नही कहा जा सकता । इस तरह परमतानुसार भी चन्द्रादिप्रभाद्रव्य चाक्षुषयोग्य होने से प्रौढप्रकाशकयावत्तेजोद्रव्यससर्गाभाव को अतीन्द्रिय नही कहा जा सकता । यहाँ यह शका करना कि —> "द्रव्यविषयक चाक्षुष के प्रति द्रव्यसमवेत उद्भूत रूप को हेतु मानना या उद्भूत स्पर्श को ? इस विषय मे कोई नियामक = विनिगमक नही होने से उद्भूत स्पर्श को ही द्रव्यचाक्षुष का कारण माना जा सकता है । चन्द्रादि की प्रभा मे, जो द्रव्यात्मक है, उद्भूत स्पर्श न होने से उसका चाक्षुष नही हो सकता है । अतएव अन्धकार को प्रौढप्रकाशक यावत्तेजोद्रव्य के ससर्गाभावात्मक मानने पर अन्धकार मे अतीन्द्रियत्व की आपत्ति ज्यो की त्यो बनी रहती है" <— ठीक नही हे, क्योकि द्रव्यचाक्षुष मे उद्भूत स्पर्श को कारण मानने पर वायु का चाक्षुष होने की आपत्ति मुँह फाड़े खडी रहती है, क्योकि वायु मे उद्भूत स्पर्श तो रहता ही है । मगर वायु द्रव्य का कभी भी चाक्षुष नही होता है । इससे ही निश्चय होता है कि द्रव्यविषयक लोकिक चाक्षुष मे उद्भूत स्पर्श कारण नही है, किन्तु उद्भूत रूप ही कारण हे । उद्भूत रूप तो चन्द्रादि की प्रभा मे अबाधित होने से उसका चाक्षुष हो सकता ही है । अतः उक्तस्वरूप अन्धकार के अतीन्द्रियत्व होने की समस्या का अवकाश नही है ।

उद्भूतरूप-स्पर्शोभय में बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष की कारणता नामुमकिन

न च वहि इति । यदि प्रगल्भ की ओर से यह कहा जाय कि —> "वहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत रूप एव उद्भूत स्पर्श उभय को ही हेतु मानना उचित है, क्योकि ऐसा मानने पर एक कार्यकारणभाव की ही कल्पना करनी पड़ती है । जब कि द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्न = यावत् द्रव्यचाक्षुष के प्रति उद्भूत रूप को कारण मानने पर द्रव्यस्पार्शनत्वावच्छिन्न = यावत् द्रव्यविषयक स्पर्शनेन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रति उद्भूत स्पर्श को कारण मानना पडेगा । इस तरह दो कार्य-कारणभाव

हेतुताद्वयकल्पने गौरवादिति वाच्यम्, उभयत्वस्यैकविशिष्टाऽपरतया विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात् ।

॥ जयलता ॥

कल्पने गौरवादिति । पृथक्कार्यकारणभावद्वयकल्पनागौरवस्य पूर्वमेवोपस्थितेर्द्रव्यलौकिकचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेनोद्भूतरूपस्य न हेतुत्वं सम्भवति येन चन्द्रादिप्रभाद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वेन प्रौढप्रकाशकयावत्तेजःसंसर्गाभावस्याऽतीन्द्रियत्वं न स्यात् । ततः प्रकाशकरूपाभावस्यैव तमस्त्वमभ्युपगन्तुमर्हतीति प्रगल्भतात्पर्यम् ।

तद्व्यपोहाय प्रकरणकारो यतते - उभयत्वस्येति । एकविशिष्टापरतया विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहादिति । उद्भूतरूपस्पर्शोभयस्य बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकद्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वे कारणतावच्छेदकीभूतोभयत्वं किं प्रकृते उद्भूतरूपविशिष्टोद्भूतस्पर्शत्वरूपं यदुतोद्भूतस्पर्शविशिष्टोद्भूतरूपत्वरूपं ? इत्यत्र विनिगमकाभावाद् द्वयोः कारणतावच्छेदकत्वकल्पनागौरवस्याऽधिकदोषत्वात् । न च पूर्वं 'अविशिष्टयोरपि गोत्वाऽश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्तस्याऽतिरिक्तधर्मत्वात्' (दृश्यतां ९० तमे पृष्ठे प्रथमे खण्डे) इत्युक्तं साम्प्रतञ्चोभयत्वमेकविशिष्टाऽपरत्वलक्षणमुक्तमिति कथं न पूर्वापरविरोध इति वक्तव्यम्, प्रगल्भमते उभयत्वस्यैकविशिष्टाऽपरत्वात्मकत्वेन प्रकृते तदुक्तं तथाकथने दोषाभावात् ।

वस्तुतस्तूभयत्वं न सर्वथाऽतिरिक्तम्, अविशिष्टयोरपि एकज्ञानविषयत्वादिसम्बन्धेन वैशिष्ट्यस्य सम्भवात् । एतेन 'उभयत्वं हि न विशिष्टत्वादनतिरिक्तं न वा तदवच्छिन्नाभावस्तदवच्छिन्नाभावात्, वैशिष्ट्यविरहेऽपि घटत्व-पटत्वयोरुभयत्वस्य उभयत्वेन तदभावस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात्' (सि.दी. पृ.८४) इति सिद्धान्तलक्षणदीधितिकारवचनमपि प्रत्यास्यातम् ।

अभ्युपगमवादेन उभयत्वस्याऽतिरिक्तत्वाऽङ्गीकारेऽपि प्रकृते उद्भूतरूपस्पर्शोभयस्य बहिरिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारे चाक्षुषे स्पार्शने च प्रत्येकं हेतुता पर्यवस्यतीति प्रगल्भमते गौरवमनिवारितमेवेति द्रव्यचाक्षुषे उद्भूतरूपस्य द्रव्य-स्पार्शने चोद्भूतस्पर्शस्यैव हेतुत्वाऽभ्युपगम उचितः । एतेन वायुर्यदि बहिरिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारविषयद्रव्यं स्पार्शनसाक्षात्कारगोचरद्रव्यं वा स्यात्, उद्भूतरूपः स्यात्, तादृशसाक्षात्कारविषयद्रव्यस्योद्भूतरूपजनकत्वनियमादिति प्रत्युक्तम्, द्रव्यस्य रूपवत्समवेतत्वेनैव रूपजनकत्वात् न तु तादृशसाक्षात्कारविषयद्रव्यत्वेन, कारणतावच्छेदकधर्मगौरवात्, तस्य रूपजननोत्तरकालीनत्वाच्च । अत एव स्पार्शनत्वे उद्भूतस्पर्शवदुद्भूतरूपमपि तन्त्रं उद्भूतरूपवत्त्वे चाक्षुषत्ववत् स्पार्शनत्वदर्शनादिति परास्तम्, उद्भूतरूपवत्त्वे सत्यपि प्रभाया अस्पार्शनत्वेनोद्भूतस्पर्शस्याऽऽवश्यकत्वे उद्भूतरूपस्याऽन्यथासिद्धत्वात् । न हि उद्भूतस्पर्शे सत्युद्भूतरूपाभावात् द्रव्ये स्पार्शनत्वाऽभावो दृष्टचरः ।

यत्तु नव्यमतं दर्शयता गङ्गेशेन 'द्रव्यस्य स्पार्शनत्वे उद्भूतस्पर्शमात्रं न तन्त्रं, निदाघोष्मणि वायूपनीतशीतोष्णद्रव्ये च प्रत्यक्षत्वेन तद्गतसङ्ख्या-परिमाण-संयोग-विभाग-कर्मणां प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, योग्यव्यक्तिवृत्तित्वेन तेषां योग्यतया द्रव्यग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वाऽवधारणात् । न चोष्मादिजातीये दोषाभावेऽपि घटादाविव करपरामर्शे कदाचित् केनाऽपि सङ्ख्या गृह्यते । तथोद्भूतरूपवत्त्वमात्रस्य तथात्वे चान्द्राद्युद्योतस्य नयनगतपित्तद्रव्यस्य च प्रत्यक्षत्वे तद्गतसङ्ख्याग्रहोऽपि स्यात् । न च घटादाविव निपुणं निभालयन्तोऽपि तद्गतसङ्ख्याद्वित्वादि ह्रस्ववितस्त्यादिपरिमाणं कर्म वा वीक्षामहे इत्येकैकव्यभिचाराद्विनिगमकाभावादुभयमपि बहिरिन्द्रियद्रव्यप्रत्यक्षत्वे प्रयोजकमिति वायुरप्रत्यक्षः' (त.चि.प्र.ख. पृ.७३८) इत्युक्तं तत्तु जयदेवमिश्रेणैव तत्त्वचिन्तामण्यालोके उभयप्रयोजकतागौरवदोषेण दूषितम् ।

वस्तुतस्तु 'वातं स्पृशामी'त्याद्यबाधितानुभवबलाद्वायोः स्पार्शनत्वमेव । न च दोषाऽभावे सति द्रव्यग्रहे तद्गतसङ्ख्यादिग्रहनियमाद् वायौ सर्वथा तदग्रहान्न स प्रत्यक्ष इति वाच्यम्, यतो न तावदयं व्यक्तौ नियमः, पृष्ठलग्नवस्त्रादेः सङ्ख्या-परिमाणाऽग्रहेऽपि त्वचा तद्ग्रहात् । नाऽपि तज्जातीये, फूत्कारादौ सङ्ख्या-परिमाणादीनां वाय्वभिघातस्य च शरीरे प्रत्यक्ष-

की कल्पना करनी पड़ेगी, जो कि गौरवग्रस्त होने से उपादेय नहीं हो सकती । अतः लाघवसहकार से द्रव्यचाक्षुषमात्र, जो बहिरिन्द्रियजन्य हो, उसके प्रति उद्भूतरूप-स्पर्शोभय को ही कारण मानना उचित है । चन्द्रादि की प्रभा मे उद्भूत रूप होने पर भी उद्भूत स्पर्श नहीं होने की वजह 'एकसत्त्वेऽपि उभयं नास्ति' न्याय से उभयाऽभाव सिद्ध होता है । कारण के अभाव में चन्द्रादि की प्रभा का बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । अतएव उसमें अतीन्द्रियत्व की सिद्धि से प्रौढप्रकाशक यावत्तेजोद्रव्य के संसर्गाभावात्मक अन्धकार के अतीन्द्रियत्व का प्रसङ्ग ज्यों का त्यों बना रहता है'' --> तो यह भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि उभयत्व एकविशिष्टाऽपरत्वस्वरूप है, न कि प्रत्येक में अतिरिक्तरूप । अतएव विशेषणविशेष्यभाव

किञ्च प्रकाशकरूपाभावस्य तमस्त्वे पृथिव्यादौ सदा तमोव्यवहारापत्तिः, समवायेन

❀ जयलता ❀

त्वात् । यद्वा मास्तु वायूष्मादे त्वाचसाक्षात्कार मास्तु च सख्या-परिमाणादिसाधारणव्यासज्यवृत्तिगुणत्वाचत्वावच्छिन्न प्रति आश्रयत्वाचाभावस्य प्रतिबन्धकतया वाय्वादिवृत्तिसङ्ख्यागुणस्यापि त्वाचादिसाक्षात्कार परन्तु वाय्वादिवृत्तिक्रियाया वाय्वादि-घटितसन्निकर्षेण वाय्वादिवृत्तिवायुत्वोष्मत्व-द्रव्यत्वादिजातेश्च त्वाचसाक्षात्कारस्तु मीमासकाभिमतो दुर्वार एव, द्रव्यान्य-द्रव्य-समवेतत्वाचत्वावच्छिन्न प्रति त्वक्सयुक्तप्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतस्पर्शवत्समवायत्वेनैव प्रत्यासत्तित्वात् । त्वक्सयुक्तप्रकृष्टमहत्त्वोद्-भूतरूपस्पर्शवत्समवायत्वेन प्रत्यासत्तित्वे गौरवात्, वायूष्मादिस्पर्शत्वाचे व्यभिचाराच्चेति भावनीयम् ।

नव्यास्तु 'बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूप कारण, प्रमाणाऽभावात्किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूप स्पार्शने च स्पर्श कारण, अन्वयव्यतिरेकात् । 'बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने कि कारण ?' इति **चेत्, न** किञ्चिदपि, आत्माऽवृत्ति-शब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्व वा प्रयोजकमस्तु । 'रूपस्य कारणत्वे लाघवमि'ति **चेत् ? न,** वायोस्त्वगिन्द्रियेणाऽग्रहणप्रसङ्गात् । इष्टापत्तिरिति चेत् ? तर्हि उद्भूतस्पर्शस्यैव तथात्व कि न स्यात् ? प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्ते सम्भवात् । **न च** 'प्रभा' पश्यामी'त्यनुव्यवसायस्यैव प्रभाप्रत्यक्षत्वे प्रमाणत्वान्नैवमिति **वक्तव्यम्,** 'वायु स्पृशामी'त्यनुव्यवसायस्याऽपि वायुस्पार्शनत्वसाधने बद्धकक्षत्वात् । प्रभावत् वायोरप्येकत्व गृह्यत एव, क्वचित् सङ्ख्यापरिमाणाद्यग्रहो सजातीयसवलनादिस्वरूपदोषादित्याहु॰ ।

यत्तु दिनकरेण 'प्रभाया अप्रत्यक्षे त्विष्टापत्तिरित्येव कि न स्यादिति तदपि न 'उपरिदेशे विहङ्गम' इत्यत्र प्रभामण्डलस्यैवोपरिदेशतया तत्प्रत्यक्ष विनोपरिदेशे विहङ्गम इति प्रत्यक्षानुपपत्ते ' (मु दि. पृ ४२५) **इत्युक्त तन्न** मनोरमम्, शाब्दबोधे प्रथमान्तपदोपस्थाप्यस्यैव मुख्यविशेष्यतया भाननियमेन उपरिदेशस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तस्य विहङ्गमविशेषणतयोप-नीतभानसम्भवादनुपपत्त्यभावात् ।

यदपि रामरुद्रीये 'उपनीत विशेषणतयैव भासत इति नियमादुपरिदेशस्याऽप्रत्यक्षत्वे तस्य प्रत्यक्षे मुख्यविशेष्यतया भानानुपपत्ति , वायोरप्रत्यक्षत्वे तु न काचिदनुपपत्तिरस्ति' (मु रा. पृ ४२५) **इत्युक्त तदपि न** चारु, 'शीत वायु स्पृशा-मी'त्यबाधितानुव्यवसायानुपपत्तेरेव वायो स्पार्शनत्वे प्रमाणत्वात् । **एतेन** शरीरवायुसयोगानन्तर 'शीतो वायुर्वाती'त्यादि-वायुमुख्यविशेष्यकलौकिकसाक्षात्कारो न स्पार्शन परन्तु मानस एवेत्यपि **निरस्तम्,** 'वायो शीत स्पर्श स्पृशामि', 'वायु स्पृशामी'त्याद्यनुव्यवसायानुपपत्ते । न चाऽसौ भ्रम , तदनन्तर बाधविरहात् । 'इद रजतमि'ति भ्रमानन्तर 'नेद रजतमि'ति बाधनिश्चयादेव पूर्वतनप्रतीते भ्रमत्व कल्प्यते न तूत्तरकाले बाधनिश्चयाऽभावे, अन्यथा घटादिविषयकप्रतीतीनामपि भ्रमत्वकल्पना-पत्त्या शून्यवादिमतप्रवेशापातादिति दिक् ।

प्रकरणकार प्रगल्भमते दोषान्तरमाविष्करोति - **किञ्चेति** । **समवायेन तदभावस्य** = समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-

मे विनिगमनाविरह दोष उपस्थित होता है । अर्थात् बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष के कारणीभूत उभय को उद्भूतरूपविशिष्ट उद्भूतस्पर्शात्मक मानना या उद्भूतस्पर्शविशिष्ट उद्भूतरूपात्मक मानना ? इस विषय मे कोई एकतरपक्षपाती युक्ति नही होने से उद्भूतरूपविशिष्टोद्भूतस्पर्शत्व और उद्भूतस्पर्शविशिष्टोद्भूतरूपत्व दोनो का बहिरिन्द्रिजन्य द्रव्यगोचर लौकिकज्ञान के कारणता-वच्छेदकधर्मविधया स्वीकार करने की आपत्ति उपस्थित होने से प्रगल्भ के मत मे ही हमारे पक्ष की अपेक्षा महागौरव दोष अनिवार्य होगा । अतः बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत रूप एव उद्भूत स्पर्श उभय को कारण नही माना जा सकता, किन्तु द्रव्यचाक्षुष के प्रति उद्भूत रूप को एव द्रव्यस्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत स्पर्श को ही कारण मानना उचित प्रतीत होता है । अतः चन्द्रादि की प्रभा का चाक्षुष होने मे कोई दोष-बाध नही है, क्योकि उसमे उद्भूत रूप रहता है । अतः प्रौढप्रकाशाः यावत्तेजोद्रव्य के ससर्गाभावात्मक अन्धकार के अतीन्द्रियत्व के प्रसग को अवकाश नही है । इसलिए 'प्रकाशकरूपाभाव ही अन्धकार है' इस प्रगल्भवचन को मान्य नही किया जा सकता ।

❀ प्रगल्भमत मे पृथ्वी आदि में सदा अन्धकारव्यवहार की आपत्ति ❀

किञ्च इति । दूसरी बात यह है कि अन्धकार को प्रकाशकरूपाऽभावात्मक मानने पर पृथ्वी आदि द्रव्य मे सदा, चाहे दिन हो या रात, अन्धकारव्यवहार की आपत्ति आयेगी, क्योकि पृथ्वी का रूप प्रकाशक नही होने से समवाय सम्बन्ध से प्रकाशक रूप का अभाव सदा रहता है । समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाभाव होने से मध्याह्न काल मे भी

तदभावस्य तत्र सार्वदिकत्वात् । 'स्वाश्रयसयोगसम्बन्धेन तदभावस्यैव तमस्त्वमिति नाय दोष' इति चेत् ? न, तस्य वृत्त्यनियामकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावस्यैवाऽसिद्धे. ।

❀ जयलता ❀

योगिताकप्रकाशकरूपाभावस्य, **तत्र** = पृथिव्यादौ, **सार्वदिकत्वात्** = सर्वदा वर्तमानत्वात् । ततश्च मध्याह्नकाले सूर्यप्रकाश-सयुक्तेऽपि पृथिव्यादौ समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकाशकरूपाभावस्य सत्त्वेन तमोव्यवहारप्रसङ्ग इत्यर्थ । पर शङ्कते - **स्वाश्रयसयोगसम्बन्धेन तदभावस्यैव** = स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकाशकरूपाभावस्यैव, **तमस्त्वमिति** । एवकारेण समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तस्य व्यवच्छेद कृत । स्वपदेन प्रकाशकरूपस्य ग्रहणम् । तदाश्रयेण सूर्य-प्रकाशादिद्रव्येण सयुक्ते पृथिव्यादौ स्वाश्रयसयोगसम्बन्धेन प्रकाशकरूपस्य वर्तमानत्वेन तदा न तमोव्यवहार सम्भवतीति हेतो **नाय दोष.** = न पृथिव्यादौ सदा तमोव्यवहारप्रसङ्ग , आलोकसयुक्तत्वदशाया पृथिव्यादौ स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगि-ताकप्रकाशकरूपाभावस्य विरहात् । प्रकरणकार तदपाकरोति - **नेति** । **तस्य** = स्वाश्रयसयोगसम्बन्धस्य, **वृत्त्यनियामकत्वेन** = आधाराधेयभावाऽनियामकत्वेन **तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावस्य** = स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य, **एव असिद्धेरिति** । अयोगव्यवच्छेदेऽयमेवकार । वृत्तिनियामकसम्बन्धस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात् स्वाश्रयसयोगसम्बन्धस्य प्रति-योगितावच्छेदकत्व न सम्भवति । न हि स्वाश्रयसयोगसम्बन्धेन नीलपृथिव्यादौ प्रकाशकरूपाधारता प्रतीयते । स्वाश्रयसयोग-सम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वेन प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् तदवच्छिन्नप्रतियोगित्वाऽसम्भवात् तादृशप्रतियोगित्वनिरूपकप्रकाशक-रूपाभावस्याऽप्यप्रसिद्धे न तमस तदात्मकत्व सम्भवति, अन्यथा तमसो वन्ध्यापुत्रत्वाऽऽत्मकत्वमपि स्यात्, अविशेषात् ।

ननु स्वाश्रयसयोगसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वेन माऽस्तु प्रतियोगितावच्छेदकत्व प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकत्व तु सम्भवत्येव । अत स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकतानिरूपकतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकस्य प्रकाशकरूपवद्भेदस्य तमस्त्वे न कश्चिद्दोष । प्रकाशकरूपवत्सौरालोकादिसयुक्ते पृथिव्यादौ स्वाश्रयसयोगेन प्रकाशकरूपवत्प्रति-योगिकभेदस्याऽसत्त्वान्न तदा तत्र तमोव्यवहारप्रसङ्ग । **न च** वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्ववत् प्रतियोगि-तावच्छेदकतानवच्छेदकत्वमेव कि न स्यादिति **वक्तव्यम्**, 'चैत्रो न पचती'त्यादौ 'अनुकूलत्वसम्बन्धेन पाकविशिष्टकृत्यभाववा-श्चैत्र' इत्यन्वयबोधस्यानुभविकतया निरुक्ताभावीयकृतिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितपाकनिष्ठावच्छेदकताया वृत्त्यनियामकानुकूलत्वसम्ब-

'अन्धकारवती पृथिवी' 'अन्धकारवत् जल' इत्यादि शब्दव्यवहार एव प्रतीति को मान्य करने की आपत्ति प्रगल्भमत मे अनिवार्य बनेगी । यदि उक्त आपत्ति के निराकरणार्थ प्रगल्भ की ओर से यह कहा जाय कि —> ''समवाय सम्बन्ध से प्रकाशक रूप का जहाँ अभाव हो वहाँ अन्धकारव्यवहार नही होगा, क्योकि हम समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाभाव को अन्धकारात्मक नही मानते हे, किन्तु स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाऽभाव को ही अन्धकारस्वरूप मानते हे । जब मध्याह्न काल होता है तब पृथ्वी आदि मे सूर्यप्रकाश का सयोग रहता है, जिसका रूप प्रकाशक = भास्वर होता है । स्व = प्रकाशक रूप, उसके आश्रय सूर्यप्रकाशद्रव्य (= सौरालोक) का सयोग पृथ्वी आदि मे मध्याह्न काल मे रहने से स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध से तब पृथ्वी मे प्रकाशक रूप ही रहेगा, न कि प्रकाशक रूप का अभाव, क्योकि प्रतियोगी अपने अत्यन्ताभाव का विरोधी होता है । जब रात का समय होगा ओर पृथ्वी आदि दीपक आदि की प्रभा एव प्रकाश से शून्य होगी तब प्रकाशकरूप स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध से पृथ्वी आदि मे नही रहेगा, क्योकि तब पृथ्वी प्रकाशकरूपवाले द्रव्य मे सयुक्त नही हे । उस काल मे पृथ्वी आदि मे स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपाऽभाव रहने से 'अन्धकार-वती पृथिवी' इत्यादि प्रतीति एव व्यवहार निराबाधरूप से हो सकेगा । अतः स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशक-रूपाभाव को अन्धकारात्मक मानने मे कोई दोष नही हे'' <— तो यह भी ठीक नही है, क्योकि स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध वृत्त्यनियामक होने से प्रतियोगितावच्छेदक नही हो सकता है । जिस सम्बन्ध से आधाराधेयभाव की प्रतीति हो उस सम्बन्ध को वृत्तिनियामक कहा जाता हे, जैसे कि समवाय । जिस सम्बन्ध से आधाराधेयभाव की प्रतीति न हो वह वृत्ति-अनियामक कहा जाता हे जैसे स्वसमवेतत्वससर्ग । वह प्रतियोगितावच्छेदक नही हो सकता हे । प्रस्तुत मे स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध वृत्ति-अनियामक हे, क्योकि उस सम्बन्ध से आधार-आधेयभाव का भान नही होता है । अतः स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रकाशकरूपा-भाव ही अप्रसिद्ध हे, तब उसे अन्धकारात्मक केसे माना जा सकता ? इसलिए स्वाश्रयसयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक प्रकाशकरूपाभाव की कल्पना केवल कल्पना ही है ।

तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकतद्वद्भेदस्य तथात्वे तु निशीथिन्यामपि भूतलादौ तमोव्यवहारानुपपत्ति , अन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वादिति दिक् ।

❀ जयलता ❀

न्धावच्छिन्नताया विवादाऽभावेन वृत्त्यनियामकसम्बन्धावच्छिन्नाऽपि प्रतियोगिताऽवच्छेदकता सर्वसम्मतैव । तदुक्त **सिद्धान्तलक्षणदीधितिजागदीश्या** ''वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वाऽभावेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकताघटकसम्बन्धत्व सर्वसम्मतमेव, 'चैत्रो न पचती'त्यादौ वृत्त्यनियामकाऽनुकूलत्वसम्बन्धेन पाकविशिष्टाया· कृतेरभावस्य चैत्रादावन्वयदर्शनात्'' (सि ल जा पृ २२९) इति । तथा च प्रकृताऽभावीयप्रकाशकरूपवन्निष्ठप्रतियोगितानिरूपितप्रकाशकरूपनिष्ठावच्छेदकताया वृत्त्यनियामकस्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नताया विप्रतिपत्त्यसम्भवादित्याशङ्कानिराकरणकृते प्रकरणकृदाह - **तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकतद्वद्भेदस्य** = स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकाशकरूपनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकताकप्रकाशकरूपवत्प्रतियोगिकभेदस्य, **तथात्वे** = तमस्त्वेऽभ्युपगम्यमाने इति शेष । अत्र प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध स्वाश्रयसयोग प्रतियोगितावच्छेदकधर्म प्रकाशकरूप प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धश्च तादात्म्यससर्ग सौरालोकादिशून्य एव देशे स्वाश्रयसयोगसम्बन्धेन प्रकाशकरूपविशिष्टस्य भेदो वर्तत इति तत्रैव तमस प्रतीतिर्व्यवहारश्चेति प्रकाशकरूपवद्भेदलक्षणतमोवाद्यभिप्राय ।

प्रकरणकार· तदपाकरणे हेतुमाह - **त्विति** । पूर्वाऽपेक्षया विशेषद्योतनार्थ । तमेवाऽऽह-**निशीथिन्यामपि भूतलादौ तमोव्यवहारनुपपत्तिः** । कुत ? इत्याह - **अन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वादिति** । दिवा भूतलादौ स्वाश्रयसयोगसम्बन्धेन प्रकाशकरूपाश्रयस्य भेद स्वरूपेण न वर्तत इत्यत एव तदानी तत्र न तमसो ज्ञान व्यवहारश्च । प्रकाशकरूपवत्प्रतियोगिकभेदस्य भूतलादौ सौरालोकादिसयुक्तत्वदशायामवर्तमानत्वान्न निशायामपि स तत्र भवितुमर्हति, भेदस्य व्याप्यवृत्तित्वेन स्वाऽभावाधिकरणेऽवर्त्तमानत्वात् । **न च** काले देशस्येव देशेऽपि कालस्याऽवच्छेकत्वसम्भवादालोककालीने भूतलादौ तादृशभेदस्याऽसत्त्वेऽपि आलोकशून्यकालावच्छेदेन निरुक्तभेदसत्त्वे बाधकाभावेन न नक्त तत्र तमोव्यवहारानुपपत्तिरिति **वाच्यम्**, अत्यन्ताभावस्थले एव देशे कालस्य काले च देशस्याऽवच्छेदकत्वसम्भवात्, न त्वन्योन्याभावस्थले । यद्वा भवतु पाकानन्तर रक्ततादशाया 'इदानी नाऽय श्याम' इत्यनुभवबलेन पाकानन्तरकालस्याऽन्योन्याभावस्थलेऽपि देशावच्छेदकत्व तथापि आलोकभिन्नकालावच्छेदेन निरुक्तभेदस्य तमस्त्व न सम्भवि, निशीथिन्यामप्यन्यदेशावच्छेदेनाऽऽलोकसम्भवात् । तद्देशावच्छिन्नालोकभिन्न-

❋ स्वाश्रयसंयोग को भेदप्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध मानने मे दोष - स्याद्वादी ❋

तत्स० इति । यदि प्रगल्भ की ओर से यह कहा जाय कि –> ''स्वाश्रयसयोग सम्बन्ध वृत्ति-अनियामक होने से प्रतियोगितावच्छेदक मत हो, मगर प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक तो बन सकता है । ऐसा मानना तो नैयायिकमत मे प्रसिद्ध ही है । अतः स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध से प्रकाशकरूपवान् के भेद को ही अन्धकारात्मक माना जा सकता है । मतलब यह है कि प्रकाशक-रूपवत्प्रतियोगिक भेद ही अन्धकार है । यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य है एव प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध है स्वाश्रयसयोग । प्रतियोगितावच्छेदकधर्म है प्रकाशक रूप । प्रकाशक रूप स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध से सूर्यप्रकाशादिसयुक्त भूतलादि मे रहता है, क्योकि उक्त सम्बन्ध मे स्वपद से प्रकाशक रूप को लेने पर उसका आश्रय सूर्यप्रकाशादिस्वरूप द्रव्य है, जो भूतलादि से सयुक्त है । अतः तादृश भूतलादि द्रव्य स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध से प्रकाशकरूपविशिष्ट बनेगे । उसका भेद सूर्यप्रकाशादि से असयुक्त देश मे रहेगा । अन्धकार तादृश भेदात्मक ही है, क्योकि तादृश भेद जहाँ जहाँ रहेगा, वहाँ वहाँ अन्धकार की प्रतीति एव व्यवहार होता है । अतः स्वाश्रयसयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियागितावच्छेदकता एव तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता के निरूपक प्रकाशकरूपविशिष्टप्रतियोगिक भेद को ही अन्धकार मानना तर्कसगत है' <– तो यह ठीक नही है, क्योकि ऐसा मानने पर भेद व्याप्यवृत्ति होने से रात्रि मे भी भूतलादि मे अन्धकारव्यवहार की अनुपपत्ति होगी, क्योकि अन्योन्याभाव व्याप्यवृत्ति है । आशय यह है कि जिस अधिकरण मे अन्योन्याभाव का अभाव रहता हो वहाँ अन्योन्याभाव नही रहता है तथा जहाँ अन्योन्याभाव का अभाव रहता हो वहाँ अन्योन्याभाव नही रहता है तथा जहाँ अन्योन्याभाव रहता है वहाँ उसका अभाव नही रहता है । दिन मे भूतल मे सौरालोकसयोग होने पर वहाँ स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध से प्रकाशक रूप से विशिष्ट का तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद नही रहता है, क्योकि स्व = प्रकाशक रूप के आश्रय सूर्यप्रकाश का सयोग तब भूतल मे होने से स्वाश्रयसयोगसम्बन्ध से तब वह प्रकाशकरूपविशिष्ट है । अपने मे अपना भेद नही रहता है । अतएव तब भूतलादि मे अन्धकार की प्रतीति एव व्यवहार नही होता है । जब यह सिद्ध हो गया कि भूतलादि मे तादृश भेद नही रहता है, यानी तादृशभेद का अभाव रहता है, तब रात मे भी तादृशभेद भूतलादि मे नही रह सकता,

किञ्च तमसोऽभावत्वे विधिमुखेन प्रत्ययः कथमुपपनीपद्यताम् ? 'ध्वंसादाविव क्वाचित्कनञ्प्रयोगं विनाऽपि तदुपपत्तौ किं विस्मयोत्कन्धरतयेति चेत् ? तथापि 'घटस्य ध्वंस' इतिवत् 'आलोकस्य तम' इति प्रत्ययापत्त्या किं न बिभेषि ? 'आलोकाभाव एव

❀ जयलता ❀

कालावच्छेदेन देशे स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकतादृशप्रकाशरूपवत्प्रतियोगिकभेदस्य तमस्त्वे गौरवात् । न च तद्देशावच्छेदेन काले तादृशभेदस्यैव तमस्त्वमस्त्विति वाच्यम्, देशस्यैव तमोऽधिकरणत्वेन प्रतीतेस्तच्छेदकत्वाऽसम्भवात्, तादृशप्रणालीमविदुषोऽपि तम प्रत्ययाचेत्यादिसूचनार्थं दिगित्युक्तम् ।

अन्धकारस्याऽभावत्वपक्षे दोषान्तरं समुच्चिनोति - किञ्चेति । तमसः = तमःपदवाच्यस्य, अभावत्वे = महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावदालोकप्रतियोगिकाभावत्वे, तादृशकतिपयालोकप्रतियोगिकसंसर्गाभावत्वे आलोकदर्शनाभावत्वे प्रकाशकरूपात्यन्ताभावत्वे प्रकाशकरूपवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावत्वे कालविशेषाभावत्वे वा, विधिमुखेन = 'अत्र तमोऽस्ती'त्येवंविधान्वयरूपेण प्रत्ययः = ज्ञानं कथं उपपनीपद्यतां = सङ्गच्छतेतराम् ? अभावस्य तु निषेधमुखेन भानं भवति 'घटो नास्ती'त्यादिवत् । तमसस्तु न निषेधमुखेन भानं भवति किन्तु केवलविधिमुखेनैवेति न तस्याऽभावत्वं सङ्गतिमङ्गतीति भावः । परः समाधत्ते - ध्वंसादाविवेति । क्वाचित्कनञ्प्रयोगमिति । कादाचित्कनञ्प्रयोगमित्यपि पाठः । 'कपाले घटस्य ध्वंसोऽस्ति', 'भूतले घटाभावो वर्तते' इत्यादौ ध्वंसादेरपि नञ्प्रयोगं विनाऽपि भानं भवति, सर्वत्राऽभावस्थले नञ्प्रयोगाऽवश्यम्भावाऽनियमात् । तथैव अत्रापि = आलोकाभावाद्यात्मकतमःस्थलेऽपि, तदुपपत्तौ = नञ्प्रयोगमृते 'तमोऽस्ती'त्येवंविधिमुखभानसम्भवे किं विस्मयोत्कन्धरतया ? तमसोऽभावत्वे नैव विधिमुखप्रत्ययदर्शनेनाश्चर्यं कार्यमिति पराभिप्रायः । स्याद्वाद्याह - तथापीति । तमोविधानमुखप्रतीत्युपपादनेऽपि, 'कपाले घटस्य ध्वंस'इतिवत् उपलक्षणात् 'घटस्याऽभावोऽस्ती'तिवत्, 'आलोकस्य तम' इति प्रत्ययापत्त्या = तादृशप्रत्ययप्रयोगयोः प्रामाण्यप्रसङ्गेन, किं न बिभेषि ? तयोः प्रमाणत्वं दुर्निवारमिति भावः । परः प्रत्युत्तरयति-आलोकाभाव एवेति । एवकारेण प्रतियोगिविनिर्मुक्ताभावस्य व्यवच्छेदः कृतः । तमःपदेनैवाऽभावप्रतियोगिविधया आलोकभानसम्भवान्न 'आलोकस्य तम' इति प्रतीतिः प्रयोगो वेति पराशयः ।

क्योंकि भेद और भेदाभाव एक अधिकरण मे नहीं रहते है । अन्धकार तो तादृश प्रकाशस्वरूपविशिष्टप्रतियोगिक भेदस्वरूप ही होने से उसके विरह मे रात मे भी आलोकाऽसंयुक्त भूतलादि मे अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार नहीं हो सकता । यह तो दिग्दर्शनमात्र है । इस विषय मे अधिक भी विचार किया जा सकता है, इसकी सूचना देने के लिए श्रीमद्जी ने 'दिक्' पद का प्रयोग किया है । विशेषजिज्ञासु यहाँ जयलता टीका को देख सकते है ।

अन्धकार को अभावात्मक मानने मे दोषपरम्परा

किञ्च० इति । प्रगल्भमत का निराकरण कर के प्रकरणकार श्रीमद्जी अन्धकार को अभावात्मक मानने वाले नैयायिकादि विद्वानो के मत की पुनः समालोचना करते है कि - यदि अन्धकार अभावात्मक ही है, न कि भावस्वरूप तो फिर अन्धकार की विधिमुख से प्रतीति कैसे उपपन्न हो सकेगी ? अभाव का तो निषेधमुख से ज्ञान होना चाहिए । मतलब कि घटाभाव का 'घटो नास्ति' इस रूप से निषेधमुखी ज्ञान होता है वैसे अन्धकार का भी निषेधमुख से ज्ञान होना चाहिए । मगर 'तमः अस्ति' ऐसा विधिमुख से अन्धकार का ज्ञान होता है । अन्धकार को अभावस्वरूप मानने पर उक्त विधिमुख ज्ञान कैसे संगत होगा ? यह समस्या है । यहाँ यह कहा जाय कि --> 'ध्वंस अभावात्मक होता है फिर भी जैसे 'घटस्य ध्वंसोऽस्ति' ऐसा उसका विधिमुख ज्ञान होता है ठीक वैसे ही अन्धकार अभावात्मक होने पर भी 'तमोऽस्ति' ऐसा विधिमुख भान हो सकता है । इस विषय मे विस्मय से अपने को उत्कण्ठित बनाना ठीक नहीं है'' <-- तो यह नैयायिकादिकथन इसलिए अयुक्त है कि जैसे 'घटस्य ध्वंसः कपालेऽस्ति' ऐसा ज्ञान होता है वैसे ही 'आलोकस्य तमः' यानी 'आलोक का अन्धकार' ऐसा ज्ञान होने पर नैयायिकादि को डरना नहीं चाहिए । मतलब कि दोनो प्रतीति प्रमात्मक हो जायेगी । मगर नैयायिकादि विद्वानो को भी 'आलोकस्य तमः' ऐसी प्रतीति नहीं होती है । अतः ध्वंस की भाँति अन्धकार को अभावस्वरूप नहीं माना जा सकता । यहाँ नैयायिकादि का यह कथन कि --> ''तम शब्द से ही आलोक की प्राप्ति हो जाने से पुनः 'आलोकस्य' ऐसा अधिक कहना जरूरी नहीं है । पुनरुक्ति दोष प्राप्त होने से 'आलोकस्य तमः' ऐसा शब्दप्रयोग होने का हमे खौफ नहीं है'' <-- भी अयुक्त है, क्योंकि फिर भी 'करिकलभ' इत्यादि शब्दप्रयोग की भाँति 'आलोकस्य तमः' यह आपत्ति

सङ्केतितस्तमःशब्द इति न तदापत्त्या बिभेमी'ति चेत् ?' तथापि 'करिकलभे'त्यादिवत् किं न तथा प्रयुङ्क्षे ? 'अप्रयोगादेव न प्रयुञ्ज' इति चेत् ? तथापि 'आलोके नालोक' इतिवत् 'आलोकेऽन्धकारः' इत्यपि किं न व्यवहरसि ?

अपि चाऽन्धतमसावतमसत्वाद्युत्कर्षापकर्षदर्शनादपि तस्य द्रव्यत्वम् । महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावत्वकतिपयतदभावत्वयोरज्ञानेऽपि तद्व्यवहारात् ।

जयलता

स्याद्वाद्याह - **तथापीति** । तमस आलोकाभावे सङ्केतकरणेऽपि । **'करिकलभे'त्यादिवदिति** । कलभशब्दस्य करि-सताने एव सङ्केतितत्वेन कलभपदेनैव करिज्ञानसम्भवेऽपि 'करिकलभे'त्यादिप्रयोग दृश्यत एव । तद्वदेव किं न तथा 'आलोकतम ' इत्यपि प्रयुङ्क्षे ? 'करिण कलभे'त्यादिवत् 'आलोकस्य तम' इत्यस्याऽप्युपलक्षणम् । परो वदति - **अप्रयोगादेव न प्रयुञ्ज** इति । लोके 'आलोकतम' इत्याद्यप्रयोगादेव तथाऽह न प्रयोग कुर्वे, 'करिकलभे'त्यादिप्रयोगस्य लोके दर्शनात्तथाविधप्रयोग करोमि, विचित्रत्वात् लौकिकप्रयोगाणामिति पराभिप्रायः । प्रकरणकृदभ्युपगम्य दोषान्तरमाह - **तथापीति** । तम पदस्यालोकाभावे सङ्केतितत्वेऽपि । **'आलोके नालोक'इतिवत् 'आलोके अन्धकार' इत्यपि किं न व्यवहरसि ?** सप्तम्यन्तालोकपदसभिव्याहृतेन नञा अत्यन्ताभावस्यैव बोधनात् 'नालोक' इत्यनेनालोकात्यन्ताभावस्यैव ग्रहात् तमसश्च तद्रूपत्वात् तत्स्थानेऽन्धकारपदप्रयोगस्य न्याय्यत्वादिति प्रकरणकृदभिप्राय ।

तमसोऽभावत्वे उत्कर्षापकर्षाऽसम्भवादन्धतमसावतमसादिविशेषो न स्यादित्यतोऽपि तस्य द्रव्यत्व युक्तमित्याह **अपि चेति** । **अन्धतमसावतमसत्वाद्युत्कर्षापकर्षदर्शनादपि तस्य** = तमस **द्रव्यत्वम्** । उत्कर्षापकर्षौ नाऽभावे सम्भवत किन्तु भाव एव । दृश्येते च अन्धकारेऽन्धतमसत्वावतमसत्वलक्षणावुत्कर्षापकर्षौ । तदन्यथानुपपत्त्या तमसो भावत्व सिध्यति । ननु महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावोऽन्धतमस कतिपयतदभावश्चाऽवतमसम् । इत्थञ्च तमसोऽभावत्वेऽपि महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावत्वेन अन्धतमसत्वप्रकारकप्रतीते कतिपयतदभावत्वेन चाऽवतमसत्वप्रकारकप्रतीते सम्भव इति पराऽऽशङ्कायामाह - **महदिति** । **अज्ञानेऽपि** = एतावद्घटकाज्ञानेऽपि, **तद्व्यवहारात्** = अन्धतमसावतमसव्यवहारात् । व्यवहारे

अनिवार्य है । आशय यह है कि कलभशब्द का सकेत सस्कृतभाषा मे हाथी के बच्चे मे होता है । कलभ कहने से ही 'करि = हाथी का बच्चा' ऐसा ज्ञान होता है । फिर भी 'करिकलभ' ऐसा शब्दप्रयोग शतशः दिखाई देता है । कलभशब्द से ही 'करि' का ज्ञान मुमकिन एव आवश्यक होने पर भी 'करि' शब्द का कलभशब्द के आगे प्रयोग किया जाता है। ठीक वैसे ही आलोकाभाव मे तम शब्द का सकेत होने पर भी 'आलोकस्य तमः' ऐसे वाक्यप्रयोग की आपत्ति होगी । अर्थात् 'करिकलभ' यह प्रयोग प्रामाणिक है ठीक वैसे ही 'आलोकस्य तमः' यह वाक्यप्रयोग भी प्रामाणिक हो जायेगा। तो फिर नैयायिकादि विद्वान 'आलोकस्य तमः' ऐसा प्रयोग क्यो नही करते है ? इस समस्या का कोई समाधान नैयायिकादि के पास नही है । यहाँ नैयायिकादि की ओर से यह कहा जाय कि –> ''आलोकस्य तमः-ऐसा लोक मे प्रयोग नही होता है । इसलिए हम वैसा वाक्यप्रयोग नही करते है । 'करिकलभ' इत्यादि प्रयोग लोक मे होता है । इसलिए हम तथाविध वाक्यप्रयोग करते है'' <– तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि तुम्हारे मत मे अन्धकार आलोकाभावात्मक होने से जहाँ आलोकाभाव का प्रयोग होता है वहाँ अन्धकारपद का प्रयोग होना अनिवार्य होने से 'आलोके नालोकः' इस प्रयोग के स्थान मे 'आलोकेऽन्धकार' इस वाक्यप्रयोग की आपत्ति तो दुर्वार होगी । 'आलोक मे आलोक नही है' ऐसा वाक्यप्रयोग तो लोक मे सहस्रशः होता है, जिसमे 'आलोक नही है' का अर्थ आलोकात्यन्ताभाव होता है, जो अन्धकार है, ऐसा नैयायिकादि को अभिमत है । अतः उसके स्थान मे अन्धकारपद का प्रयोग होना चाहिए । अतः 'आलोके अन्धकारः' = 'आलोक मे अन्धकार है' यह प्रयोग भी नैयायिकादि के मत मे प्रामाणिक हो जायेगा ।

अभावात्मक अन्धकार में तारतम्य की अनुपपत्ति

अपि च इति । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अन्धकार यदि आलोकाभावस्वरूप ही है तो फिर 'यहाँ गाढ अन्धकार है', 'वहाँ मद अन्धकार है' ऐसे उत्कर्ष, अपकर्ष का अन्धकार मे भान कैसे होगा ? अभाव मे उत्कर्ष या अपकर्ष नही होता है । 'यहाँ गाढ घटाभाव है वहाँ मन्द घटाभाव है' इत्यादि प्रतीति या प्रयोग लोक मे या शास्त्र मे अप्रसिद्ध है । अतः गाढ अन्धकार का अर्थ गाढ आलोकाभाव इत्यादि नही हो सकता है । उत्कर्ष या अपकर्ष भाव पदार्थ

वस्तुतः कतिपय-तदभावो नाऽवतमसं, दिवा प्रकृष्टालोकेऽपि तत्सत्त्वात् । न च छायायामतिव्याप्तिवारणाय स्वन्यूनसंख्यबाह्यालोकसवलने सतीति विशेषणावश्यकत्वात्,

❋ जयलता ❋

व्यवहर्तव्यज्ञानस्य कारणत्वात्, घटकाज्ञाने च घटितानवभासात् निरुक्तघटकाज्ञानवतोऽन्धतमसत्वादिधीर्न स्यात्, न स्याच्चान्धतमसादिपदप्रयोगः । दृश्यते च तादृशघटकाऽप्रतिसन्धानेऽपि अन्धतमसत्वादिप्रतिसन्धानं तद्व्यवहारश्चेति घटत्ववदन्धतमसत्वादेः जातित्वमेव न्याय्यमिति भावः । एतेन अभावप्रत्यये प्रतियोगिज्ञानापेक्षाया विना प्रतियोगिज्ञानं जायमानं तमस्त्वप्रकारकं तमःप्रत्यक्षं तमसो भावत्वमेव साधयतीत्यपि दर्शितम् । अत एव आलोकं जानतामपि प्रत्यक्षस्वीकारः । तदाहुराचार्याः किरणावल्यां 'गिरिदरीविवरवर्तिना यदि योगिनो न ते तिमिरमवलोकितं, तिमिरमालोकयेत् नूनं स्मृतालोकः' (पृ ३०) इति प्रत्युक्तम्, तेजसोऽप्रतिसन्धानेऽपि तमोऽनुभवस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न चैवं तमसो भावत्वसाधनेऽपि द्रव्यत्वं कुतः ? इति वाच्यम्, नीलरूपाद्याश्रयत्वेन तस्य द्रव्यत्वसिद्धेः । 'इदं नीलमि'त्यादिधियो भ्रमत्वे, तत्र 'नेदं नीलमि'त्यादिसाक्षात्कारे वस्तुस्वरूपस्याऽदृष्टविशेषस्य वा दोषस्य वा प्रतिबन्धकत्वे, तत्राऽप्यप्रामाण्यज्ञानाऽभावविशिष्टतेजोऽभावत्वप्रकारकज्ञानादीनामुत्तेजकत्वमित्यादिकल्पनेऽतिगौरवात् ।

वस्तुत इति । कतिपयतदभावः = कतिपयमहदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाऽभावः नावतमसम् । कस्मात् ? इत्याह - दिवा प्रकृष्टालोकेऽपि भूतलादौ तत्सत्त्वात् = देशान्तरवर्ति-कालान्तरीय-महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाभावस्य विद्यमानत्वात्, तदानीमवतमसप्रतीतिप्रयोगौ प्रसज्येतामिति भावः । न ह्येकत्रैकदा यावदुक्तालोकसम्भवो घटाकोटिमाटीकते । अतः कतिपयतादृशालोकाभावस्य नावतमसत्वं युक्तमिति स्याद्वाद्याशयः ।

परमतं कामं परकर्तुमुपक्रमते - न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । अवतमसभिन्नाया छायायां कतिपयमहदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाभावत्वयुक्ताया अतिव्याप्तिवारणाय = अवतमसलक्षणप्रवेशनिराकरणकृते, 'स्वन्यूनसङ्ख्यबाह्यालोकसवलने सती'ति विशेषणावश्यकत्वादिति । सवलनं नाम एकदेशकालयोरस्तित्वम्, ततश्च स्वसमानदेशत्व-स्वसमानकालीनत्वोभयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वा न्यूनसङ्ख्यकनिरस्ताऽऽलोकविशिष्टत्वे सति कतिपयमहदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाभावोऽवतमसमिति तल्लक्षणं पर्यवसितम् । स्वपदेन निरुक्तालोकाभावस्य ग्रहणम् । छायायान्तु स्वसमानदेशत्व-स्वसमानकालीनत्वोभयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्यकाऽऽलोकविशिष्टत्वान्नातिव्याप्तिः । निरुक्तो-

मे ही होता है न कि अभाव पदार्थ मे । अन्धकार मे प्रसिद्ध अबाधित उत्कर्ष, अपकर्ष की प्रतीति की अन्यथा अनुपपत्ति से अन्धकार भावात्मक-द्रव्यात्मक सिद्ध होता है । अन्धकार मे नील रूपादि की प्रतीति तो सर्वजनविदित ही है । दूसरी बात यह भी ध्यातव्य है कि अन्धकार के स्वरूप से नैयायिक विद्वानों मे भी मत-मतान्तर है । कोई नैयायिक अन्धकार को महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावदालोक के अभावस्वरूप मानते है तो कोई महदुद्भूतानभिभूतरूपवत् कतिपय आलोक के अभाव को ही अन्धकार मानते है । मगर इसमे से एक भी मत श्रद्धेय नही हो सकता है । इसका कारण यह है कि अभाव की ज्ञान मे प्रतियोगी का ज्ञान एवं तादृश अभावत्व का ज्ञान कारण होता है । प्रतियोगी घट एवं विशेषण घटाभावत्व के ज्ञान के बिना घटाभाव का ज्ञान नहीं होता है । इसी तरह अन्धकार का ज्ञान भी महदुद्भूतानभिभूतरूपवत् यावत् आलोक एवं तादृशालोकप्रतियोगिकाभावत्व के ज्ञान के बिना या तादृश कतिपय आलोक एवं तादृशकतिपय आलोकप्रतियोगिकाभावत्व के ज्ञान के बिना नही होना चाहिए । तथा तादृश ज्ञान के विरह मे अन्धकारव्यवहार भी नही होना चाहिए । मगर तथाविध प्रतियोगी एवं तथाविध अभावत्व के ज्ञान के बिना भी अन्धकार की प्रतीति एवं व्यवहार होता है । इसलिए अन्धकार को तादृशालोकाभावात्मक नहीं माना जा सकता । घटक के ज्ञान के बिना घटित का ज्ञान नही हो सकता है, विशेषण के ज्ञान के बिना विशिष्ट का बोध नही होता है - यह सर्वमान्य सिद्धान्त है ।

(❋) कतिपय आलोकविशेष का अभाव अन्धकार नहीं हो सकता (❋)

वस्तुत इति । वस्तुस्थिति यह है कि महत्परिमाणयुक्त एवं उद्भूत अनभिभूतरूपवाले कतिपय आलोक का अभाव अवतमस = मन्द अन्धकार नही हो सकता है, क्योंकि दिन मे प्रकृष्ट आलोक होने पर भी कतिपय तादृश आलोक का अभाव होने से मध्याह्न काल मे भी अवतमस की प्रतीति एवं व्यवहार के प्रामाण्य की आपत्ति होगी । सारे जहाँ के सभी प्रकृष्ट आलोक एक काल मे और एक देश मे नही होते है । अन्यत्र एवं अन्यदा तादृश आलोक की विद्यमानता होती ही है । अत.

तदानीञ्च बाह्यालोकस्य स्वाधिकसङ्ख्यत्वान्नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, तद्दिनातिरिक्तानन्तदिन-वृत्तिबाह्यालोकाभावानामेवाऽधिकत्वात् ।

जयलता

भयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्यकाऽऽलोकविशिष्टत्वान्नातिव्याप्ति. । निरुक्तोभयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्यकाऽऽलोकविशिष्टत्वे सति निरुक्तालोकाभावस्यैव छायालक्षणत्वमामनन्ति नैयायिकप्रवरा । 'तथापि दिवा प्रकृष्टालोके सत्यपि कतिपयोक्तालोकाभावस्य सत्त्वेन कथ न तदानीमवतमसप्रतीतिप्रयोगौ' ? इत्याशङ्काम-पनोदितुमाह - **तदानीञ्चेति** । दिनसमये चेति । **बाह्यालोकस्य स्वाधिकसङ्ख्यत्वात्** = कतिपयमहदुद्भूतानभिभूतरूप-वदालोकाभावस्य स्वसमानदेशत्वस्वसमानकालत्वोभयसम्बन्धेन स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्याविशिष्टत्वात् **न दोषः** दिवा अवतमसप्रतीतिप्रयोगप्रामाण्यप्रसङ्गलक्षण । इत्थञ्चैकपरिष्कारेण दोषद्वयव्याहतिरिति पराभिप्राय ।

प्रकरणकृत्तन्निरासे हेतुमुपदर्शयति - **तद्दिनातिरिक्तानन्तदिनवृत्तिबाह्यालोकाभावानामेवेति** । अवतमसप्रतीतिप्रयोग-प्रामाण्यापादन यस्मिन् दिने क्रियते तस्मात् दिनात्, अतिरिक्तेषु अनन्तदिनेषु वृत्तीना बाह्यालोकानामिति । एवकारो बाह्यालोकलक्षणान्ययोगव्यवच्छेदार्थ । **अधिकत्वात्** = स्वापेक्षया स्वप्रतियोग्यपेक्षया वाऽधिकसङ्ख्यत्वात् । तद्दिवसे निरुक्तोभयसम्बन्धेन बाह्यालोकविशिष्टकतिपयनिरुक्तालोकाभावसङ्ख्यापेक्षया सवलितबाह्यालोकाना न्यूनसङ्ख्यत्वेन निरुक्तो-भयसम्बन्धेन न्यूनसङ्ख्यकालोकविशिष्टस्य कतिपयनिरुक्तालोकाभावस्य दिवा भूतलादावक्षतत्वात् तदानीमवतमसप्रतीति-प्रयोगप्रामाण्यप्रसङ्गो दुर्निवार एवेति स्याद्वाद्यभिप्राय ।

किञ्चैतादृशरूपाऽप्रतिसन्धानेऽप्यवतमसत्वानुभवात्र तस्यैतादृशाभावत्वम्, अभावज्ञाने स्वप्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकप्रति-योगिज्ञानस्य हेतुत्वात् । **एतेन** रूपत्वग्राहकतेज सवलितस्तदवान्तरविशेषग्राहकयावत्तेज ससर्गाभावोऽवतमसम्, रूपत्वावान्तर-जातिग्राहकतेज सवलित प्रौढप्रकाशकयावत्तेज ससर्गाभावश्छाया, यावदालोकाभावश्चाऽन्धतमसमित्यपि **प्रत्युक्तम्**, ज्ञानगर्भत-याऽवतमसादीनामचाक्षुषत्वप्रसङ्गात्, तादृशजात्यसिद्धया तत्तज्ज्ञानविशेषपरिचायितजातिविशेषविशिष्टाऽऽलोकनिवेशाऽसम्भवाच्चेति भावनीय सुधीभि ।

विवक्षित देश मे विवक्षित काल मे अन्यत्र स्थित कतिपय प्रकृष्ट आलोक का अभाव सुवच है ।

यदि नैयायिकादि मनीषियो की ओर से यह कहा जाय कि —> 'महत्त्व एव उद्भूत तथा अनभिभूत रूप जिस तेजो मे होता है, उनमे से कतिपय तेज के अभाव को अवतमस मानने पर छाया मे अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए उक्त अभाव मे उस अभाव से अथवा उसके प्रतियोगी से अल्पसङ्ख्यक बाह्यालोक के सवलन का निवेश करना होगा । सवलन का अर्थ है एक देश और एक काल मे अस्तित्व । इस सवलन का निवेश करने पर अवतमस का लक्षण यह बनेगा कि स्व की अपेक्षा या स्वप्रतियोगी की अपेक्षा अल्पसङ्ख्यक बाह्यालोक से स्वसमानदेशत्व और स्वसमानकालत्व उभयसम्बन्ध से विशिष्ट जो कतिपय उक्त आलोक का अभाव हे यह अवतमस है । अवतमस का यह लक्षण होने पर छाया मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि उक्त प्रकार के कतिपय आलोक के जितने अभाव के रहने पर छाया का व्यवहार होता है, उन अभावो से या उनके प्रतियोगियो से न्यूनसख्यक बाह्यालोक का सवलन छाया मे नही होता किन्तु अधिकसङ्ख्यक बाह्यालोक का सवलन होता है । अवतमस का यह लक्षण निष्पन्न होने पर दिन मे प्रकृष्ट आलोक के समय अवतमस की प्रतीति एव उसके व्यवहार की आपत्ति नही हो सकती, क्योकि उस समय उक्त प्रकार के आलोक का जितना अभाव होता है उससे अथवा उसके प्रतियोगी से अधिकसङ्ख्यक बाह्यालोक दिन के प्रकृष्ट आलोक के समय रहता है । अतएव उक्त समय मे विद्यमान उक्त प्रकार के आलोकाभावो मे उसकी अपेक्षा अथवा उसके प्रतियोगी की अपेक्षा न्यूनसख्यक बाह्यालोक का सवलन नही रहता है'' <—

तद्दिन इति । तो यह कथन भी ठीक नही हे । इसका कारण यह है कि जिस दिन प्रकृष्ट आलोक के समय अवतमस का आपादन करना हे उस दिन केवल उस दिन के ही कतिपय तादृश बाह्यालोको का अभाव नही है, किन्तु उस दिन से भिन्न अन्य अनन्त दिनो के बाह्य आलोको का भी अभाव है । अतः उस दिन जितने बाह्य आलोक का सवलन उस अभाव मे हे उनकी सख्या उन अभावो अथवा उनके प्रतियोगिओ से न्यून ही हे । अत' अवतमम का प्रस्तुत लक्षण स्वीकार करने पर भी दिन मे प्रकृष्ट आलोक के समय अवतमस की प्रतीति एव व्यवहार (= शब्दप्रयोग) की आपत्ति का परिहार नही हो सकता ।

अथ यदा यत्र प्रागुक्तयावत्तेज.ससर्गाभावो निरवच्छिन्नस्तदा तत्रान्धतमस यदा तु यत्राऽय सावच्छिन्न तदा तत्राऽवतमसमिति चेत् ? न, घटादेरिवान्धतमसावतमसयोरवच्छेदकानुपरागेणैव प्रतीतेरिति दिक् ।

एतेन तमसो द्रव्यत्वेऽनन्तसयोगादिकल्पनमपि पराकृतम्, तस्य फलमुखत्वात् ।

❀ जयलता ❀

पर शङ्कते-अथेति । यदा = यत्कालावच्छेदेन, यत्र = यद्देशे, प्रागुक्तयावत्तेजःससर्गाभावः = महदुद्भूतानभिभूतरूपवद्यावत्तेज ससर्गाभाव , निरवच्छिन्नः = निरवच्छिन्नदैशिकाधिकरणताक , तदा = तत्कालावच्छेदेन, तत्र = तद्देशे अन्धतमस विद्यते प्रतीयते व्यवह्रियते च । यदा = यत्कालावच्छेदेन, तुर्विशेषणे, यत्र देशे अय यावन्महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकससर्गाभाव सावच्छिन्नः = सावच्छिन्नदैशिकाधिकरणताक , तदा = तत्कालावच्छेदेन, तत्र देशे, अवतमस विद्यते प्रतीयते व्यवह्रियते च । समनियतत्वेन लाघवादन्धतमस निरवच्छिन्नतादृशाभावात्मकमवतमसञ्च सावच्छिन्नतादृशाभावस्वरूपमिति न तयो द्रव्यत्वकल्पना युक्तिमतीत्यथाशय ।

प्रकरणकृत्तमपाकरोति - नेति । घटादेरिव अन्धतमसावतमसयोः अवच्छेदकानुपरागेणैव प्रतीतेरिति । कपिसयोगाभावस्य वृक्षादौ सावच्छिन्नत्व ह्रदादौ च निरवच्छिन्नत्व यथा प्रतीयेते तथा यदि तमस क्वचिन्निरवच्छिन्नत्व क्वचिच्च सावच्छिन्नत्व प्रतीयेत तर्हि निरवच्छिन्नतादृशाभावस्याऽन्धतमसत्व सावच्छिन्नस्य च तस्यावतमसत्व वक्तु सम्भवेत् । न चैवमस्ति । घटादेरिव निरवच्छिन्नतत्प्रतीते । अन्धकाराभावपक्षस्याऽघटमानत्वात्तमसो द्रव्यत्वमेव युक्तमित्याशय ।

एतेनेति । तमसो द्रव्यत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वेनेति । अस्य पराकृतमित्यनेनाऽन्वय । अनन्तसयोगादिकल्पनमपीति । गगनादिपरमाण्वाद्यनन्तद्रव्यप्रतियोगिकानन्तसयोग-विभागैकत्वपरिमाणादिकल्पनाप्रयुक्तगौरवमपीत्यर्थ । अपिशब्देन तत्कारणादिकल्पनागौरव· समुच्चितम् । तस्य = तादृशगौरवस्य, फलमुखत्वादिति । प्रमाणेन तमसो द्रव्यत्वसिद्ध्यनन्तरमुपस्थितत्वात् । प्रमाणप्रवृत्तिपूर्वं तस्यानुपस्थितत्वेनाऽदोषत्वम्, प्रमाणप्रवृत्त्यनन्तर सतोऽपि तस्य प्रमाणाऽपेक्षया दुर्बलत्वान्न प्रमाणविघटकत्वम् ।

▦ अन्धतमसादि की निरवच्छिन्न ही प्रतीति - स्याद्वादी ▦

अथ यदा इति । नैयायिकादि की ओर से यह कहा जाय कि —> ''जिस काल और जिस देश मे प्रकृष्ट यावत् आलोक का अभाव निरवच्छिन्न होता है, उस काल मे और उस देश मे अन्धतमस होता है । जब विवक्षित देश के अमुक भाग मे आलोक रहता है, तब तादृश अभाव निरवच्छिन्न नहीं होता है । अतः तब उस देश मे अन्धतमस का व्यवहार या प्रतीति नहीं हो सकती । जब निरवच्छिन्न उक्त अभाव होता है, तभी उस देश मे गाढ अन्धकार की प्रतीति एव प्रयोग हो सकते है । जिस काल और देश मे प्रकृष्ट यावदालोक का अभाव सावच्छिन्न होता है, वही उस काल और देश मे अवतमस होता है । देश के अमुक भाग मे कतिपय आलोक होने पर प्रकृष्ट आलोक का अभाव वहाँ सावच्छिन्न होने से तब उस देश मे अवतमस की यानी मन्द अन्धकार की प्रतीति एव व्यवहार हो सकते ह । अत. अन्धतमसत्व और अवतमसत्व को जातिविशेषात्मक एव उसके आश्रय को द्रव्यात्मक नही मानना चाहिए'' <— तो यह कथन भी असगत है, क्योंकि जैसे घटादि पदार्थ की प्रतीति निरवच्छिन्न होती है, ठीक वैसे ही अन्धकारमात्र की प्रतीति निरवच्छिन्न ही होती है । यदि कपिसयोगादि की भाँति अन्धकार की सावच्छिन्न प्रतीति कभी भी होती, तब तो सावच्छिन्न-निरवच्छिन्न ऐसा भेद करना सगत होता मगर अन्धकार की सर्वदा निरवच्छिन्न ही प्रतीति होने से अन्धतमस को तादृश निरवच्छिन्न अभाव मानना एव अवतमस को सावच्छिन्न तादृशाभावस्वरूप मानना असगत है । अत· अन्धकार को द्रव्यस्वरूप मानना ही युक्तिसगत भी है ।

❊ अन्धकार में द्रव्यत्वबाधक का निराकरण ❊

एतेन तम इति । अन्धकार को अभावस्वरूप मानने वाले विद्वान का यह आक्षेप है कि —> ''अभाव को द्रव्यात्मक मानने पर उसमे अनन्त द्रव्य (आत्मादि) के सयोग की कल्पना का गौरव होगा'' <— मगर यह कथन अयुक्त है, क्योंकि यह गौरव फलमुख होने से दोषरूप नही है । फलमुख गौरव का मतलब यह है कि कार्य-कारणभाव, पदार्थ आदि की प्रमाण से सिद्धि होने के बाद उपस्थित होने वाला गौरव । प्रमाण, तर्क आदि के सहकार से वस्तुस्थिति का निर्णय होने के बाद उपस्थित गौरव प्रमाण का विरोध नही कर सकता । अत· वह दोषात्मक नही है । अन्धकार को द्रव्य मानने से

इत्थञ्च 'तमश्चलती'त्यादिप्रत्यक्षमपि निराबाधम् । न च स्वाभाविकगतेरन्यगत्यनुविधानानुपपत्ति पद्मरागप्रभायामेवाश्रयचलनानुविधानदर्शनात् । पद्मरागचलन विनाऽपि कुड्यावरणविगमादिनापि तत्प्रभाचलनमुपलब्धमिति चेत् ? तर्हि, स्थिरेऽपि स्तम्भादौ प्राक् पश्चाद्दीपसम्बन्धादिना तमश्चलनोपलम्भ किं काकेन भक्षित: ? तमस. प्रागभावत्वे उत्पत्ति-

☙ जयलता ☙

इदमेव फलमुखगौरवस्याऽदुष्टत्वे बीजम्, अन्यथा लाघवस्यैव सर्वत्राऽदरे शून्यवादप्रवेशापातादिति बहुश पूर्वमुक्तम् ।

तमोद्रव्यत्वपक्षपातियुक्त्यन्तरमपि प्रकरणकार उपदर्शयति - इत्थञ्चेति । तमसो द्रव्यत्वेन चेति । **'तमश्चलती'त्यादिप्रत्यक्षमपि निराबाधम्**, आदिशब्देन 'नील तम ' 'घटसयुक्त तम' इत्यादिप्रत्यक्षग्रहणम् । अपिशब्देन तमस्त्वजातिसाधकानुमानादि-समुच्चय कृत· ।

ननु तमसो द्रव्यत्वे तस्य स्वाभाविकी गति स्यात्, घटादिगतिवत् । न चैवमस्ति, पटादिगत्यनुसारित्वात् तमोगते । यथा नौयानारूढपुरुषोपलब्धवृक्षादिगति औपाधिकी नौयानगता वृक्षादावारोप्यते तथा पटादिगतगति तमस्यारोप्यते न तु वस्तुगत्या सा तमोगता, स्वाभाविकगते परद्रव्यगत्यनुकरणाऽदर्शनात् । तत 'तमश्चलती'त्यादि प्रत्यक्ष न तमसो द्रव्यत्व-साधकमित्याशङ्का निराकरोति - **न चेति** । तन्निरासे हेतुमाह - **पद्मरागप्रभायामेवेति** । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदे **आश्रय-चलनानुविधानदर्शनात्** = स्वाश्रयपद्मरागगत्यनुकरणोपलब्धे । पद्मरागप्रभाया रूपादिमत्त्वेन परै. द्रव्यत्वमेवाऽङ्गीक्रियते । दृश्यते च तद्गते स्वाश्रयगत्यनुकारित्वम् । तद्वदेव तमसो नीलरूपादिमत्त्वेन द्रव्यत्वेऽपि स्वाश्रयपटादिगत्यनुसारिगतिमत्त्वमपि सम्भवत्येव । **एतेन** 'तमश्चलती'त्यादिप्रत्यक्ष भ्रम परगत्यनुविहितगतिविषयकत्वात् नौयानगतपुरुषीयवृक्षचलनप्रतीतिवदिति **प्रत्युक्तम्**, 'प्रभा चलती'त्यादिप्रतीतेरपि भ्रमत्वापत्ते ।

पर शङ्कते - **पद्मरागचलन विनाऽपि कुड्यावरणविगमादिनाऽपि तत्प्रभाचलन** = पद्मरागप्रभाचलन, उपलब्ध = प्रतीतम् । स्वाश्रयगतिमृतेऽपि पद्मरागप्रभागतिदर्शनात् तत्प्रभाया द्रव्यत्व युक्तम् । न चैव तमसि सम्भवतीति न तस्य द्रव्यत्वमिति शङ्काशय । अत्र प्रतिबन्द्या प्रकरणकार उत्तरयति - **तर्हीति** । अन्धकाराश्रये **स्थिरेऽपि स्तम्भादो प्राक्पश्चा-द्दीपसम्बन्धादिना तमश्चलनोपलम्भ** इति । प्रभावत् तमसोऽपि स्वाश्रयचलनमृते चलनोपलम्भान्न द्रव्यत्वबाध इति भाव ।

किञ्च महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकप्रतियोगिकस्य प्रागभावस्य तमस्त्व यदुत प्रध्वसाभावस्याऽत्यन्ताभावस्याऽन्योन्या-

ही 'अन्धकार चलता है' इत्यादि प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है । अभाव मे चलन क्रिया कैसे हो सकती है ? यहाँ यह शङ्का नही करना चाहिए कि —> ''अन्धकार की गति स्वाभाविक नही है, किन्तु औपाधिक है । घटादि द्रव्य को चलाने पर ही अन्धकार मे गति का भान होने से वह गति स्वाभाविक नही है । अन्यगत गति का भान अन्धकार मे होने से अन्धकार मे द्रव्यत्व नही माना जा सकता'' <— यह इसलिए अयुक्त है कि पद्मराग मणि की प्रभा मे, जो नैयायिकादि को भी द्रव्यरूप से मान्य है, भी अन्य गत गति का अनुविधान प्रसिद्ध है । पद्मराग मणि को गतिमान करने पर उसकी प्रभा मे गति प्रतीत होती है । स्वाश्रय की गति का अनुकरण प्रभाद्रव्य करता है, फिर भी वह द्रव्यात्मक ही है । ठीक इसी तरह अन्धकार भी स्वाश्रय की गति का अनुकरण करने पर भी द्रव्यात्मक सिद्ध हो सकता है । यहाँ यह कहना कि —> 'अन्धकार की गति एव पद्मरागप्रभा की गति मे बहुत फर्क है । पद्मरागमणिप्रभा के आश्रय पद्मराग मणि को चलित किये विना भित्ति आदि के दूर होने से भी प्रभाद्रव्य मे गति की उपलब्धि = प्रतीति होती है। मतलब की आश्रय मे गति न होने पर भी प्रभा मे गति क्रिया उपलब्ध होने से प्रभा को द्रव्य मानने मे कोई दोप नही है । मगर अन्धकार की बात ऐसी नही है । अन्धकार के आश्रय मे गति होने पर ही अन्धकार मे गति क्रिया उपलब्ध होती है । घटादि द्रव्य को चलाने पर ही 'अन्धकार: चलति' ऐसी प्रतीति होती है । अत अन्धकार को द्रव्य नही माना जा सकता'' <— भी ठीक नही है, क्योकि अन्धकार के आश्रय स्तम्भादि स्थिर होने पर भी दीपक को आगे-पीछे करने पर अन्धकार मे गति का भान होता है । आश्रय की गति के विना भी प्रभा की भाँति अन्धकार मे गति का भान समान होने मे प्रभा की भाँति अन्धकार को द्रव्यात्मक मानने मे कोई दोप नही है ।

अन्धकार को अभावात्मक मानने में दोष

तमस पा इति । दूसरी बात यह है कि अन्धकार को अभावस्वरूप मानने वाले अन्धकार को किस अभावस्वरूप

प्रत्यय, इतराभावत्वे विनाशप्रत्ययश्च न स्यातामित्यप्याहुः । न च राशिष्विव किञ्चित्समुदायिसम्भवव्यतिरेकप्रयुक्तावेव तमःसम्भवव्यतिरेकौ प्रतीयेते इति वाच्यम्, तथा सति 'राशिर्न नष्ट' इतिवत् 'तमो न नष्टमि'ति प्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः ।

❀ जयलता ❀

भावस्य वा तत्त्वमिति विकल्पचतुष्टय साम्प्रदायिकचतुष्कं प्रदर्शयिष्यते । तत्र आद्ये आह - तमसः प्रागभावत्वे - निरुक्तालोकप्रतियोगिकप्रागभावस्वरूपत्वे, उत्पत्तिप्रत्ययः = 'तम उत्पन्नमि'त्याकारकोऽवबोधः न सम्भवेत्, प्रागभावस्याऽनादित्वेनोत्पादाऽप्रतियोगिकत्वात् । शेषविकल्पत्रिकं आह - इतराभावत्वे = निरुक्तप्रागभावभिन्नाऽभावात्मकत्वे, विनाशप्रत्ययश्च = 'तमो विनष्टमि'त्याकारकबोधश्च न सम्भवेत्, प्रागभावभिन्नाभावत्वस्याऽविनाशित्वव्याप्यत्वात् । यावदभावविशेषाणां तमस्त्वेनाऽघटमानत्वान्न तमसोऽभावात्मकत्वं युक्तम्, विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावसाधकत्वादिति भावः ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । राशिष्विव किञ्चित्समुदायिसम्भवव्यतिरेकप्रयुक्तावेवेति । एवकारेण 'समुदायसम्भवव्यतिरेकप्रयुक्ता'वित्यस्य प्रतिषेधः कृतः । यथा धान्यादिराशौ नवीनधान्यादिसमागमे 'महानयं धान्यराशिरुत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिः समुदायिसम्भवप्रयुक्ता न तु समुदायसम्भवप्रयुक्ता, पूर्वतनधान्यादिविलये 'महानयं धान्यराशिर्विनष्ट' इत्यादिप्रतीतिः समुदायिव्यतिरेकप्रयुक्ता न तु समुदायविलयप्रयुक्ता, तथैव आलोकसंसर्गाभावसमुदायात्मके तमस्यपि यत्किञ्चित्समुदायिसम्भवे 'अन्धकार उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिः आलोकध्वंसोत्पत्तिप्रयुक्ता न त्वालोकसंसर्गाभावसमुदायोत्पत्तिप्रयुक्ता, यत्किञ्चित्समुदायिव्यतिरेके 'अन्धकारो विनष्ट' इत्यादिप्रतीतिः निरुक्तालोकप्रागभावध्वंसप्रयुक्ता न त्वेतादृशालोकसंसर्गाभावकूटविनाशप्रयुक्ता । समुदायिसम्भवव्यतिरेकावेव राशाविव तमस्यारोप्येते इति शङ्काशयः ।

प्रकरणकारः तदपाकरणकृते दोषमाविष्करोति - तथा सतीति । राशाविव तमसि उत्पादविनाशप्रतीतेः यत्किञ्चित्समुदायिसम्भवव्यतिरेकावगाहित्वाऽभ्युपगमे सति, 'राशिर्न नष्ट' इति प्रतीतेः यथा प्रमात्वं तद्वदेव प्रदीपाऽऽनयनदशायां 'तमो न नष्टमि'तिप्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः, राशिवत् प्रकृष्टालोकसंसर्गाभावसमुदायस्याऽविनष्टत्वात्, तादृशसमुदायघटकीभूतनिरुक्तालोकात्यन्ताभावस्य नित्यत्वेन नाशाऽयोगात् । इत्थञ्चोपलक्षणं यत्किञ्चित्समुदायिसम्भवे 'राशिर्नोत्पन्न' इतिवत् 'अन्धकारो नोत्पन्न' इति प्रतीतेरपि प्रमात्वापत्तेः निरुक्तालोकसंसर्गाभावसमुदायस्याऽनुत्पन्नत्वात्, तत्समुदायिनिरुक्तालोकात्यन्ताभावस्य

मानेंगे ? यदि आलोकप्रागभाव को अन्धकार मानेंगे तो 'अन्धकारः उत्पन्नः' = 'अन्धकार उत्पन्न हुआ' यह प्रतीति नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रागभाव अनादि होने से उत्पन्न नहीं होता है । यदि अन्धकार को आलोकप्रध्वंसाभावात्मक, आलोकात्यन्ताभावरूप या आलोकान्योन्याभावस्वरूप माना जायेगा तो 'अन्धकारो विनष्ट' ऐसी अन्धकार में विनाशावगाही प्रतीति नहीं हो सकेगी, क्योंकि ध्वंस, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव अविनाशी होते हैं । यावत् विशेष में बाध होने से अन्धकार को अभावस्वरूप नहीं माना जा सकता, किन्तु द्रव्यात्मक ही माना जा सकता है - ऐसा भी अनेक विद्वान् कहते हैं ।

❋ आलोकसंसर्गाभावसमूह भी अन्धकार नहीं है - स्याद्वादी ❋

न च राशि इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि → ''आलोक का केवल अत्यन्ताभाव ही अन्धकार नहीं है, किन्तु आलोक के संसर्गाभाव का समुदाय अन्धकार है । इस समुदाय में आलोक का ध्वंस और आलोक का प्रागभाव भी प्रविष्ट है । इस समुदाय के घटक (= समुदायी) आलोकध्वंस उत्पत्ति होने पर समुदाय की उत्पत्ति की एवं आलोकप्रागभाव का नाश होने पर समुदाय के नाश की प्रतीति ठीक उसी प्रकार उपपन्न हो सकती है, जैसे राशि के कुछ अंश = घटक = समुदायी का आगमन या उत्पाद होने पर या नाश (व्यतिरेक) होने पर राशि की उत्पत्ति या नाश की प्रतीति होती है । मतलब की समुदायी की उत्पत्ति और नाश ही समुदाय के उत्पाद और नाश का प्रयोजक है । समुदायी के उत्पाद और नाश का ही समुदायजन्मनाशविषयक प्रतीति अवगाहन करती है'' ← किन्तु विचार करने पर यह समुचित नहीं प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि राशि की जैसे न तो उत्पत्ति होती है, न तो विनाश एवं तादृशसंसर्गाभावसमुदाय की भी न तो उत्पत्ति होती है, न तो विनाश । इसलिए धान्यराशि के किसी अवयव का नाश होने पर भी 'धान्यराशिः न नष्ट' ऐसी प्रतीति प्रामाणिक मानी जाती है, ठीक वैसे ही निरुक्तसंसर्गाभावसमूह के घटक तादृशप्रागभाव का विनाश होने पर भी 'तमो न नष्ट' यह प्रतीति भी प्रामाणिक हो जायेगी । मगर वस्तुस्थिति यह है कि प्रदीप आदि के आगमन से आलोकप्रागभाव का नाश होने पर अन्धकार में नाश की ही स्वाभाविक प्रतीति होती है । इसका कोई बाधज्ञान पश्चात्

स्यादेतत् - तमसो जन्यद्रव्यत्वे स्पर्शवदवयवारभ्यत्व स्यात्, स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वादिति चेत् ? मैवम्, तत्र स्पर्शवत्त्वस्येष्टत्वात् ।

वस्तुतस्तेन रूपेणाऽनारम्भकत्वम्, स्पर्शवत्त्वादेर्विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविर-

❋ जयलता ❋

नित्यत्वेनोत्पत्त्ययोगात् । **एतेन** 'आलोकससर्गाभावसमुदाय एवान्धकार , तत्र राशिष्विव किञ्चित्समुदायिव्यतिरेकप्रयुक्त एव विनाश , एवमुत्पत्तिप्रत्ययोऽप्यूह्य.' (न्या सि.दी पृ) इति **शशधरशर्मणो** वचन **प्रतिक्षिप्तम्**, राशिषु बहुत्वविशेषनाशोत्पादाभ्या तदाश्रयनाशोत्पादप्रतीत्युपपत्तावपि अभावस्याऽद्रव्यत्वेन आलोकससर्गाभावसमुदाये तदसम्भवात्, समूहविलक्षणमहदेकोत्पादविनाशानुभवाच्चेति ।

किञ्च, आलोकससर्गाभावसमूहलक्षणस्याऽन्धकारस्यैकत्र प्रतीतिर्न स्यात्, प्राचा मते प्रागभावप्रध्वसयोरत्यन्ताभावविरोधित्वात् । **न च** तन्नियमे मानाभावादेकत्र तम प्रतीतौ विरोधाभाव इति **वाच्यम्**, तथापि भूतलादौ तम प्रतीतेरनुपपत्ते , आलोकप्रागभावप्रध्वसयो स्वप्रतियोग्यवयववृत्तित्वनियमादिति दिक् ।

ननु तमो नित्यद्रव्य यदुताऽनित्यद्रव्य ? इति विकल्पयुगली समुपतिष्ठते । नाद्य चारु , तमस्युत्पादविनाशप्रतीत्यनुपपत्ते । द्वितीये आह-**स्यादेतदिति** । **स्पर्शवदवयवारभ्यत्व** = स्पर्शवद्भिरवयवैर्जन्यत्व **स्यात्** । कस्माद्धेतो ? इत्याशङ्कायामाह - **स्पर्शवदनन्त्याऽवयवित्वस्य** = स्पर्शवदन्त्याऽवयविभिन्नत्वे सति स्पर्शवदवयवित्वस्य, **द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वात्** = जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात् । घटादे स्पर्शवद्द्रव्यत्वेऽपि जन्यद्रव्यानारम्भकत्वात् स्पर्शवदन्त्याऽवयविभिन्नत्वविशेषणोपादानम्, व्यापकधर्मस्य व्याप्यधर्मेणाऽन्यथासिद्धे , अन्यथाऽकारणेऽपि स्वरूपयोग्यत्वकल्पनापत्ते । ततश्च तमसो जन्यद्रव्यत्वाऽभ्युपगमे तत्समवायिकारणीभूताऽवयवेषु स्पर्शवत्त्वकल्पनापत्तिरिति शङ्काशय ।

प्रकरणकृत्तन्निराकरोति - **मैवमिति** । **तत्र** = तमोद्रव्यसमवायिकारणीभूताऽवयवेषु, **स्पर्शवत्त्वस्य इष्टत्वात्** । ततश्च मिष्टमिष्ट वैद्योपदिष्टश्चेति न्यायापात ।

इदश्च स्पर्शवदनन्त्याऽवयवित्वस्य जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वमभ्युपगम्योक्त-मित्याह - **वस्तुत** इति । **तेन** = स्पर्शवदनन्त्याऽवयवित्वेन **रूपेण अनारम्भकत्व** = जन्यद्रव्यसमवायिकारणतानवच्छेदकत्वम् । अत्र हेतुद्वयमाचष्टे - **स्पर्शवत्त्वादेः विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहादिति** । स्पर्शवत्त्वे सत्यनन्त्याऽवयवित्व जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकमाहोस्वित्

नही होने से वह प्रतीति प्रामाणिक ही है । मगर उक्त रीति से तब 'तमो न नष्ट' यह प्रतीति भी प्रामाणिक होने लगेगी । अतः अन्धकार को आलोकससर्गाभावसमुदायात्मक नही माना जा सकता - यह फलित होता है ।

❋ अन्धकारावयव स्पर्शयुक्त ही है - स्याद्वादी ❋

स्यादेतत् इति । यहाँ अमुक नैयायिक विद्वानो का यह आक्षेप है कि -> ''अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने पर स्पर्शवदवयव से आरभ्यत्व भी उसमे मानना होगा, क्योकि स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व द्रव्यारम्भकता का अवच्छेदक है । मतलब यह है कि जन्य द्रव्य का समवायिकारण स्पर्शविशिष्ट अनन्त्य अवयवी द्रव्य है । अन्त्य घटादि अवयवी किसी द्रव्य का समवायिकारण नही होने से प्रकृत मे उसके व्यवच्छेदार्थ अवयवी का अनन्त्य विशेषण लगाया गया है । जन्य द्रव्य का समवायिकारणतावच्छेदक धर्म है स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व । अतः अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने पर उसे स्पर्शविशिष्ट अनन्त्य अवयवी द्रव्य से आरब्ध मानना होगा । अतएव अन्धकार के समवायिकारणीभूत अवयवो मे स्पर्शवत्त्व भी मानना होगा'' <- किन्तु यह भी अयुक्त है, क्योकि अन्धकारस्वरूप जन्य अन्त्य अवयवी द्रव्य के समवायी कारण अवयव मे स्पर्शवत्त्व हमे अभिमत होने से अन्धकार मे स्पर्शवदवयवजन्यत्व का आपादन इष्टापत्तिस्वरूप ही है । अन्धकार एव उसके अवयव जैनदर्शन मे पौद्गलिक माने गये है एव पुद्गलमात्र मे वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श आदि गुण सर्वदा रहते ही है ।

❋ स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व अन्धकारसमवायिकारणतावच्छेदक नहीं हो सकता - स्याद्वादी ❋

वस्तुत इति । वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तो स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वरूप से जन्य द्रव्य समवायिकारणता ही नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि स्पर्शवत्त्वादि जैसे विशेषण हो सकता है ठीक वैसे ही विशेष्य भी बन सकता है । मतलब कि जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक स्पर्शवत्त्वे सति अनन्त्य अवयवित्व है या अनन्त्य अवयवित्वे सति स्पर्शवत्त्व है ? इस

हात्, अनन्त्याऽवयवित्वस्य द्रव्यसमवायिकारणत्वपर्यवसितस्य कारणतानवच्छेदकत्वाच्च ।

अथ द्रव्याऽसमवायिकारणं द्रव्यं अन्त्याऽवयवितद्भेदश्चाऽभावत्वेन प्रतीयमानत्वादतिरिक्त एव, न तु द्रव्यसमवायिकारणत्वमेव । स एव चाऽत्र कारणतावच्छेदक इति चेत् ? न, द्रव्यसमवायिकारणतापरिचय विनाऽनेनाऽपि रूपेण कारणताया दुर्ग्रहत्वात् ।

❀ जयलता ❀

अनन्त्याऽवयवित्वे सति स्पर्शवत्त्व ? इत्यत्र विनिगमकाभावात् । आदिपदेन अन्त्याऽवयविभिन्नत्वे सति स्पर्शवदवयवित्वमुतत स्पर्शवदवयवित्वे सति अन्त्यावयविभिन्नत्व तथा ? इत्यस्य ग्रहणम् । कारण-तावच्छेदकधर्मविनिगमकाभावात्तादृशकार्य-कारणभावाऽसम्भव इति भाव ।

अस्तु तर्हि अनन्त्यावयवित्वस्यैव जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वमित्याशङ्कायां मत्या हेत्वन्तरमाह - अनन्त्यावयवित्वस्य द्रव्यसमवायिकारणत्वपर्यवसितस्य कारणतानवच्छेदकत्वाच्चेति । समवायिकारणतावच्छेदकत्वाऽसम्भवाच्चेत्यर्थ । अयमभिप्राय अनन्त्यावयवित्व-द्रव्यसमवायिकारणत्वयो समनैयत्येनैक्यत्वम् । अत एव जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाऽनन्त्यावयवित्वावच्छिन्नसमवायिकारणताकल्पनमयुक्तम्, दर्शितसमवायिकारणतावच्छेदक-समवायिकारणतयोरैक्येन ज्ञप्तौ आत्माश्रयप्रसङ्गात्, अवच्छेद्यावच्छेदकयोर्भिन्नत्वनियमात्, अप्रसिद्धेनाऽप्रसिद्धज्ञापनाऽयोगात् । अत एव मुक्तावलीकृता कार्यं विहाय संयोगस्य समवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धिकल्पान्तरानुसरणमप्युपपद्यत इति विभावनीयं न्यायविद्भि ।

ननु द्रव्यसमवायिकारणीभूतस्य द्रव्यस्य भावत्वेन प्रतीतिर्भवति, अनन्त्यावयवित्वस्य तु अन्त्यावयविभिन्नत्वपर्यवसितस्याऽभावत्वेन प्रतीतिर्भवति । समनैयत्येऽपि विरुद्धधर्माध्यासात्तयोरतिरिक्तत्वमेव । अत समवायिकारणत्वानन्त्यावयवित्वयोर्नाऽभेद । न च समनियतयोरैक्यमिति नियमोऽपि प्रामाणिक , अप्रयोजकत्वात् । घट-तदभावाभावयोरप्यतिरिक्तत्वस्यैव मयाऽभ्युपगमात् । एतेन द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदककोटौ समवायिकारणतात्मकस्याऽनन्त्याऽवयवित्वस्य प्रवेशादात्माश्रय इत्यपि प्रत्युक्तम्, द्रव्यसमवायिकारणतातिरिक्तस्यैवाऽनन्त्यावयवित्वस्य तत्कुक्षौ प्रवेशादित्याशयेन नव्यनैयायिक शङ्कते - अथेति । स एव = द्रव्यसमवायिकारणतातिरिक्त अन्त्याऽवयविभेद एव, च अत्र = जन्यद्रव्यस्य स्पर्शवदनन्त्यावयव्यारभ्यत्वस्थले, कारणतावच्छेदकः = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक । शेषश्चाऽवतरणिकायामेव भावितम् ।

प्रकरणकार तन्निराकुरुते - नेति । द्रव्यसमवायिकारणतापरिचय = जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितसमवायिकारणतास्वरूपाऽवबोध, विना अनेन = अन्त्यावयविभिन्नत्वावच्छिन्नत्वेन, अपि रूपेण कारणतायाः = प्रकृते द्रव्यसमवायिकारणताया, दुर्ग्रहत्वात् = दुर्ज्ञेयत्वात् । अस्तु द्रव्यसमवायिकारणताया अन्त्याऽवयविभेदातिरिक्तत्व तथापि तत्स्वरूपानवबोधेऽन्त्यावयविभेद किंस्वरूपाया कारणताया अवच्छेदक स्यात् ? न च तत्स्वरूपमद्यावधि नव्येन

विषय मे विनिगमनाविरह = एकतरपक्षपातियुक्तिविरह होने से स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व को जन्यद्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक नही माना जा सकता । दूसरी बात यह है कि अनन्त्य अवयवी का मतलब है समवायी कारण । अत अनन्त्य अवयवित्व भी समवायिकारणतावच्छेदकस्वरूप फलित होगा । इस स्थिति मे जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न जन्यद्रव्यनिष्ठ कार्यता से निरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न समवायिकारणता के अवच्छेदकविधया अनन्त्य अवयवित्व का स्वीकार नही हो सकता, क्योंकि समवायिकारणता अनन्त्यावयवित्वस्वरूप होने से अनन्त्यावयवित्व ही अनन्त्यावयवित्व का अवच्छेदक बनेगा, जिससे ज्ञप्ति मे स्पष्टरूप से आत्माश्रय दोष प्राप्त है । अवच्छेदक धर्म कारणता का परिचायक = ज्ञापक होता है, कारणता उससे परिचायित = ज्ञापित होती है । इसलिए अवच्छेदक धर्म अवच्छेद्य कारणता से भिन्न एव प्रसिद्ध होना चाहिए । मगर यहाँ समवायिकारणतावच्छेदक और समवायिकारणता एक बन जाने से आत्माश्रय दोष प्रसक्त होता है । अतएव अनन्त्यावयवित्व जन्यद्रव्यनिरूपित समवायिकारणता का अवच्छेदक नही बन सकता है ।

⧉ जातिविशेष को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानना उचित ⧉

अथ इति । यहाँ नव्यनैयायिक मनीषिओं का यह कथन है कि —> 'द्रव्य के समवायिकारणीभूत द्रव्य अन्त्य अवयवी और उसके भेद से अतिरिक्त ही है । यद्यपि जहाँ जहाँ द्रव्यसमवायिकारणता रहती है वहाँ वहाँ अनन्त्याऽवयवित्व = अन्त्याऽवयविभेद रहता है फिर भी द्रव्यसमवायिकारणता की भावत्वेन प्रतीति होती है और अन्त्यावयविभेद की अभावत्वेन प्रतीति होती है । विरुद्ध धर्म का अध्यास होने से वे दोनों परस्पर भिन्न है । द्रव्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक अन्त्यावय-

किञ्च, नव्यनैयायिकेन चक्षुरादीन्द्रियावयवेष्वनुद्भूतस्पर्शमनभ्युपगच्छता जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वेनाऽभ्युपेय । स तु तमस्यपि सम्भवतीति नानुपपत्ति. । न च द्रव्यारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्यैव तत्राऽनुद्भूतस्पर्शोऽभ्युपगम्यतामिति वाच्यम्, अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य लघुभूतैकजातिविशेषकल्पनाया एवोचितत्वात् ।

❀ जयलता ❀

निरूपितम् । अत तयोर्भिन्नत्वाऽभ्युपगमेऽपि न परस्य निस्तार इति स्याद्वाद्यभिप्राय ।

प्रकरणकार तमोद्रव्यत्वसाधनार्थमाचष्टे - किञ्चेति । **नव्यनैयायिकेन चक्षुरादीन्द्रियावयवे अनुद्भूतस्पर्शमनभ्युपगच्छता** त्वया **जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वेन** = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकधर्मविधया, **अभ्युपेयः** । यद्यपि चक्षुराद्यवयवे प्राचीननैयायिकमते उद्भूतस्पर्शो नास्ति परन्त्वनुद्भूतस्पर्शोऽस्ति तथापि नव्यनैयायिकमतेऽनुद्भूतस्पर्शोऽपि तत्र नास्ति, प्रमाणाभावात् । प्रकृते चाऽथवादी नव्यनैयायिक एव । तन्मतेऽपि स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वस्यैव द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वम् । चक्षुराद्यवयवै चक्षुरादीन्द्रिय जन्यते, न च तन्मते तत्र स्पर्शोऽस्ति । अत दर्शितकारणताया व्यतिरेकव्यभिचारो लब्धावकाशो दुर्निवार । तदपाकरणाय चक्षुराद्यवयवसाधारणो जातिविशेष एव द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकधर्मविधया नव्येन स्वीकर्तुमुचित । **स** = द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेष , **तु तमसि** अवयवभूते **अपि सम्भवति**, तम साधारणतादृशजातिविशेषकल्पनात् **इति** = हेतो तमोऽवयवेषु तमसि वा स्पर्शविरहेऽपि **नानुपपत्तिः** = न तमसो द्रव्यत्वक्षति ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय, । **द्रव्यारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्येव तत्र** = चक्षुरादीन्द्रियावयवेषु, **अनुद्भूतस्पर्शः अभ्युपगम्यताम्** । स्पर्शवद्द्रव्यस्यैव द्रव्यारम्भकत्वदर्शनाच्चक्षुरादीन्द्रियारम्भकेषु तदवयवेषु स्पर्शोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य । स चोद्भूतो न सम्भवति, तदाश्रयस्पार्शनापत्ते , द्रव्यस्पार्शन प्रति उद्भूतस्पर्शस्यैव कारणत्वात् । अत पारिशेषन्यायेन चक्षुरादीन्द्रियावयवस्पर्शस्याऽनुद्भूतत्व कल्प्यते । यदि च तत्राऽनुद्भूतस्पर्शोऽपि न स्यात्, गगनादिवत् द्रव्यारम्भकत्वमपि न स्यात् । अतो द्रव्यारम्भकत्वेन अन्ततो गत्वानुद्भूत स्पर्श कल्पनीय एवेति शङ्काशय । प्रकरणकृत्तन्निराकरोति - **अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पना** = अनन्तेषु चक्षुराद्यवयवेषु पृथक्पृथगनन्ताना अनुद्भूतस्पर्शाना कल्पना, **अपेक्ष्य लघुभूतैकजातिविशेषकल्पनाया** = लघुभूतस्यैकस्य द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वेन जातिविशेषस्य कल्पनाया, **एवोचितत्वात्** । चक्षुराद्यवयवेषूक्तजातिविशेषकल्पनयैव द्रव्यारम्भकत्वोपपत्तावनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति जातिविशेषस्यैव तमश्चक्षुराद्यवयवसाधा-

विभेद ही है, जो उससे अतिरिक्त है । अतएव उसको अवच्छेदक मानने मे ज्ञप्ति मे आत्माश्रय दोष का अवकाश नही है'' <— मगर यह कथन भी अयुक्त है, क्योकि द्रव्यसमवायिकारणता और अन्त्याऽवयविभेद को परस्पर से अतिरिक्त मानने पर द्रव्यसमवायिकारणता के स्वरूप का ज्ञान न होने से अन्त्यावयविभेद किस्वरूप द्रव्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक बनेगा ? अतः उक्त रूप से द्रव्यसमवायिकारणता का ज्ञान मुश्किल है । इसके अतिरिक्त बात यह है कि प्रतिवादी नव्यनैयायिक चक्षु आदि इन्द्रिय के अवयवो मे अनुद्भूत स्पर्श का भी अगीकार नही करते है फिर भी उनसे चक्षु आदि इन्द्रिय का आरम्भ होता है । अतः स्पर्शवद् अनन्त्य अवयवी मे स्पर्शवदनन्त्यावयवित्व नही होने से उसे द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानना सगत नही है, किन्तु जातिविशेष को ही द्रव्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक मानना युक्त है । चक्षु आदि इन्द्रिय के अवयवो मे स्पर्शवदनन्त्याऽवयवित्व न होने पर भी जातिविशेष होने से उक्त कार्य-कारणभाव मे व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नही होगा । अतः नव्य नैयायिक को भी जातिविशेष को ही द्रव्यसमवायिकारणता का अवच्छेदक मानना युक्त है । वह जातिविशेष जैसे चक्षु आदि इन्द्रिय के अवयवो मे रहता है ठीक वैसे ही अन्धकार के अवयव मे भी रहता है । अतः अन्धकार के अवयवो से अन्धकार की उत्पत्ति हो सकती है । अतः अन्धकार एव अन्धकार के अवयवो मे स्पर्श को न मानने पर भी अन्धकार को जन्य द्रव्य मानने मे कोई दोष सभवित नही है, क्योकि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष से युक्त अन्धकारावयव से वह जन्य है । यहाँ यह शका हो कि —> 'चक्षु आदि के अवयवो मे या अन्धकार के अवयवो मे उद्भूत स्पर्श न होने पर भी अनुद्भूत स्पर्श का अगीकार करना ही युक्त है, अन्यथा उनमे द्रव्यारम्भकत्व = द्रव्यसमवायिकारणत्व ही अनुपपन्न होगा; क्योकि घटादि के अवयवो मे स्पर्श होने पर ही उनसे घटादि का आरम्भ होता है, यह देखा गया है। अतः चक्षु और अन्धकार के अवयवो मे अनुद्भूत स्पर्श का स्वीकार करना ही होगा' <— तो वह भी ठीक नही है, क्योकि अनन्त अवयवो मे अनन्त पृथक् पृथक् अनुद्भूत स्पर्श की कल्पना करने मे गौरव है । इसकी अपेक्षा एक जातिविशेष की कल्पना करना ही उचित है, क्योकि इस कल्पना मे लाघव है ।

तादृशजातेरन्त्याऽवयविन्यप्यभ्युपगमान्न जलत्वादिना साङ्कर्यम् । न चैवं घटादीनामप्यारम्भकत्व स्यात्, घटत्वादिना घटादेर्द्रव्यं प्रति प्रतिबन्धकत्वात् ।

जयलता

रणस्य द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्व युक्तमिति समाधानाशय ।

ननु जातिविशेषस्यैव द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्वे जलत्वादिना साङ्कर्य दुर्निवारम् । तथाहि कपाले तादृशजातिविशेषोऽस्ति जलत्व च नास्ति, अन्त्यावयविनि जले जलत्वमस्ति तादृशजातिविशेषश्च नास्ति, तस्य द्रव्यानारम्भकत्वात् । परस्परव्यधिकरणयो जलत्व-जातिविशेषयोरनन्त्यावयविनि जले समावेशाज्जलत्वादिना सम निरुक्तजातिविशेषस्य सङ्कर-प्रसङ्गेन जातिविशेषस्य न द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकत्व किन्तु स्पर्शवदनन्त्यावयवित्वस्यैव तत्त्व कल्पयितुमुचितमित्याशङ्कादूरीकरणकृते आह - **तादृशजातेरिति** । द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक-जातिविशेषस्य, **अन्त्याऽवयविनि** जलादा **अपि अभ्युपगमात्**, अपिशब्देनाऽनन्त्याऽवयविसमुच्चय कृत । **न जलत्वादिना साङ्कर्यम्** । आदिपदेन पृथिवीत्वादिग्रह । जलत्वादिना जातिविशेषस्य वैयधिकरण्याऽसिद्धेर्न परस्पराऽसमानाधिकरणयोरेकत्र समावेशलक्षणसङ्करावकाश , अन्त्याऽवयविनि अनन्त्याऽवयविनि च जलादौ तादृशजाते सत्त्वाऽभ्युपगमादिति भाव ।

ननु घटादावन्त्यावयविन्यपि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगमे तु घटादेरपि द्रव्यारम्भकत्व प्रसज्येत, तस्य द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकवत्त्वात् । न च तस्य द्रव्यारम्भकत्व कस्यचिदप्यभिमतम् । न च महापटस्याऽन्त्यावयविन खण्ड-पटारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्याऽन्त्याऽवयविन्यपि तादृशजात्यङ्गीकार उचित इति वाच्यम्, खण्डपटस्य महापटध्वसजन्यत्वेन महापटोपादानोपादेयत्वाऽभ्युपगमात् । अतो नाऽन्त्याऽवयविनि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगम प्रामाणिक । एतेन जलत्वादिना साङ्कर्यनिवारणकृतेऽन्त्याऽवयविनि तादृशजात्यङ्गीकारो न्याय्य इत्यपि प्रत्याख्यातम्, न हि प्रयोजनक्षतिभयेन सामग्री कार्य नाऽर्जयतीति उभयत पाशरज्जुन्यायापात इत्याशङ्कानिराकरणायोपक्रमते - **न चेति** । एव = अन्त्याऽवयविन्यपि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगमे सति, **घटादीनामप्यारम्भकत्व स्यात्** = प्रसज्येत । तदयुक्तत्वमाविष्करोति - **घटत्वादिना** रूपेण **घटादेः** अन्त्याऽवयविन **द्रव्य प्रति प्रतिबन्धकत्वादिति** । समवायेन द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रति तादात्म्येनाऽन्त्याऽवयविन प्रतिबन्धकत्वमिति नियमोऽस्माभिरङ्गीक्रियते । घटादिष्वन्त्याऽवयविषु द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकजाते सत्त्वेऽपि समवायेन द्रव्य प्रति तादात्म्येन तेषामेव प्रतिबन्धकत्वान्न घटादिषु समवायेन द्रव्यमुपजायते, प्रति-

द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जाति में सांकर्य का निराकरण

तादृश इति । यहाँ यह शका हो कि --> ''जातिविशेष को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानने पर जलत्व आदि जाति के साथ साकर्य होगा । वह इस तरह - अन्त्य अवयवी जल मे जलत्व जाति है, मगर उपर्युक्त जातिविशेष नही है । कपाल मे जातिविशेष है, मगर जलत्व जाति नही है । परस्पर व्यधिकरण जलत्व जाति एव द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष दोनो ही अनन्त्य जल द्रव्य मे विद्यमान है, क्योकि वह जल हे एव अन्त्य अवयवी जल का समवायिकारण है । परस्पर व्यधिकरण धर्म का एक धर्मी मे समावेश होना ही साकर्य है, जो कि जातिबाधक है । उक्त साकर्य दोष के कारण ही द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकविधया जातिविशेष का स्वीकार नही किया जा सकता' <-- तो यह भी नामुनासिब है, क्योकि अन्त्य अवयवी मे भी द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष का हम अगीकार करते है । मतलब यह है कि जलत्व एव उक्त जातिविशेष को परस्पर व्यधिकरण सिद्ध करने के लिए जो कहा गया था कि --> 'अन्त्य अवयवी जल मे जलत्व जाति हे, मगर द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष नही हे' <-- वही असगत है, क्योकि उसमे दोनो ही जाति रहती हे । अतः परस्परव्यधिकरण धर्म का एक धर्मी मे समावेशस्वरूप साकर्य दोष नामुमकिन है । यहाँ यह शका हो कि --> 'अन्त्य अवयवी मे द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष का स्वीकार करने पर तो घटात्मक अन्त्य अवयवी से भी अन्य द्रव्य की उत्पत्ति होने लगेगी, क्योकि उसमे द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष विद्यमान है । अत॰ कपाल की भाँति घट मे भी द्रव्यारम्भकत्व की आपत्ति होगी'' <-- तो यह भी ठीक नही है, क्योकि घट आदि अन्त्य अवयवी मे द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जातिविशेष होने पर भी घटत्वादि धर्म नवीन द्रव्य की उत्पत्ति की प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक होने से उसके आश्रय घटादि से नूतन द्रव्य की आरम्भकता = समवायिकारणता की आपत्ति नही दी जा सकती । नवीन द्रव्य की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से घट आदि द्रव्य को घटत्वादिरूप से प्रतिबन्धक मानने से ही घटादि अन्त्य अवयवी द्रव्य से नवीन

एतेन 'द्रव्यत्वं कार्याऽकार्यवृत्ति न कार्यतावच्छेदकं, जन्यद्रव्यत्वस्य जन्यमात्रवृत्तित्वेऽपि तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकजातेरनङ्गीकारः, जलत्वादिना साङ्कर्यादि'ति वर्धमानोक्ते

❀ जयलता ❀

बन्धकाभावस्याऽपि कारणत्वेन सामग्रीवैकल्यात् । न च गौरवम्, फलाभिमुखत्वात् । अतो घटादिषु द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यभ्युपगमेऽपि न दोष इति समाधानाभिप्राय ।

नव्यन्यायप्रस्थापकगङ्गेशपुत्रवर्धमानमतनिराकरणार्थमुपक्रमते - **एतेनेति** । समवायेन द्रव्य प्रति तादात्म्येनाऽन्त्याऽवयविन प्रतिबन्धकत्वकल्पनेनेति । अस्य चापास्ते'त्यनेनाऽन्वय । **द्रव्यत्व कार्याऽकार्यवृत्ति न कार्यतावच्छेदकमिति** । **एनेन** समवायेन द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रति तादात्म्येन द्रव्य कारणमिति कार्यकारणभावात् तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकारणतानिरूपिता या समवायसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा कार्यता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कार्यतात्वादित्यनुमानेन कार्यतावच्छेदकधर्मविधया द्रव्यत्वजातिसिद्धिरिति **प्रत्याख्यातम्**, द्रव्यनिष्ठकार्यतावच्छेदकत्व द्रव्यत्वस्य न सम्भवति, अन्यूनानतिप्रसक्तधर्मस्यैवाऽवच्छेदकत्वनियमेन द्रव्यत्वस्य नित्यानित्यवृत्तितया कार्यताऽतिरिक्तवृत्तित्वात् । एवञ्च द्रव्यत्वावच्छिन्नकार्यत्वाऽप्रसिद्ध्या पक्षासिद्धेर्नोक्तानुमानसम्भव । **यद्यपि** द्रव्यत्वस्यातिप्रसक्तत्वोपपादनायाऽकार्यवृत्तीत्येव वक्तुमुचित **तथापि** तस्य कार्यतावैयधिकरण्यप्रयुक्तावच्छेदकत्वाभावाऽऽशङ्कानिराकरणाय 'कार्याऽकार्यवृत्ती'त्युक्तमिति **ध्येयम्** ।

अस्तु तर्हि द्रव्यत्वस्याऽतिप्रसक्तत्वेऽपि जन्यद्रव्यत्वस्यानतिप्रसक्ततया तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यताया अवच्छेदकत्वमित्याशङ्काया **वर्धमान** आह - **जन्यद्रव्यत्वस्येति** । सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टद्रव्यत्वस्य, **जन्यमात्रवृत्तित्वेऽपि** = जन्यद्रव्यवृत्तित्वे सत्यजन्यद्रव्याऽवृत्तित्वेन कार्यतानतिरिक्तवृत्तित्वेऽपि, **तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकजातेः** = जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकजाते **अनङ्गीकारः**, कुत ? इत्याह - **जलत्वादिना साङ्कर्यादिति** । जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्ननिरूपितकारणताया अवच्छेदकत्व द्रव्यत्वेऽसम्भवि, तस्याऽन्त्यावयविन्यपि वृत्ते अन्त्याऽवयविनि तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताया असम्भवेन द्रव्यत्वस्य कारणताऽति-

द्रव्य की उत्पत्ति का आपादन नही किया जा सकता । प्रतिवन्धक होने पर कार्य का जन्म कैसे हो सकता है ?

❀ वर्धमान उपाध्याय के मत का निराकरण ❀

एतेन द्रव्य इति । नव्यन्याय के प्रस्थापक गगेश उपाध्याय के पुत्र वर्धमान उपाध्याय का यह कथन है कि –> 'द्रव्यत्व जाति कार्य और अकार्य मे यानी नित्य और अनित्य मे वृत्ति होने से अनन्त्य अवयवी द्रव्य की कार्यतावच्छेदक नही वन सकती है । अवच्छेदक धर्म वह हो सकता हे, जो अवच्छेद्य से अन्यून और अनतिरिक्त वृत्ति हो । तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न समवायिकारणता से, जो अनन्त्य अवयवी मे वृत्ति (= रहती) हे, निरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न कार्यता के आश्रयीभूत घटादि मे एव तादृश कार्यता के अनाश्रय गगनादि मे भी द्रव्यत्व जाति रहती है । तादृश कार्यता से अतिरिक्तवृत्ति (=अधिकदेशवृत्ति) होने से द्रव्यत्व जाति तादृश कार्यता की अवच्छेदक नही वन सकती । अगर जन्यत्वविशिष्टद्रव्यत्व को तादृश कार्यता का नियामक माना जाय तो भी जन्यद्रव्यत्वाच्छिन्न = सव जन्य द्रव्य की कारणता की अवच्छेदक जाति कोई भी नही हो सकती, क्योकि उस जाति का जलत्व आदि जाति के साथ साकर्य प्रसक्त होता है । आशय यह है कि जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता के अवच्छेदकविधया द्रव्यत्व जाति का अगीकार नही किया जा सकता, क्योकि द्रव्यत्व अन्त्य अवयवी घटादि मे भी रहता है, फिर भी वे समवाय सम्वन्ध से किसी द्रव्य का आश्रय नही वनते है, अन्य द्रव्य की समवाय सम्वन्ध से उनमे उत्पत्ति नही होती है । इस तरह द्रव्यत्व तादृश कारणता को छोड कर भी घटादि मे रहने से जन्यद्रव्यनिष्ठ कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक नही हो सकता है । अतः अन्त्य अवयवी मे न रहनेवाली जाति को ही तादृश कारणता का अवच्छेदक मानना होगा । मगर ऐसा होने पर जलत्वादि के साथ साकर्य होगा । वह इस तरह-कपाल आदि द्रव्य घटादि का आरभक होने से उसमे तादृश कारणतावच्छेदक जाति रहेगी, मगर वहाँ जलत्व जाति नही रहती हे । अन्त्य जल अवयवी मे जलत्व जाति रहती है, मगर उक्त कारणतावच्छेदक जाति नही रहती है । जलत्व जाति से व्यधिकरण उक्त कारणतावच्छेदक जातिविशेप अनन्त्य अवयवी जल द्रव्य मे जलत्व की समानाधिकरण है, क्योकि अनन्त्य जल अवयवी अन्त्य जल अवयवी द्रव्य का आरम्भक होने से तादृश कारणतावच्छेदक जातिविशेप का आश्रय होता है ओर वहाँ जलत्व जाति भी रहती ही है । इस तरह परस्पर व्यधिकरण धर्म का एक धर्मी मे समावेश होने से साकर्य दोप प्रसक्त होता है । अतः अन्त्य अवयवी से व्यावृत्त जातिविशेप

अपास्ता ।

मूर्त्तत्वेनैव द्रव्यारम्भकत्व, न च मनसोऽपि मूर्त्तत्वात् तदारम्भकत्वापत्ति·, मनोऽन्य-मूर्त्तत्वेनैव तथात्वादित्येके ।

❀ जयलता ❀

रिक्तवृत्तित्वात् । **एतेन** –> 'जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजाते सिद्धौ तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्व-जातिसिद्धे ' <– (मुक्ता ३२० पृ) इति **मुक्तावलीकारवचन प्रतिक्षिप्तम्** । यत्तु **मुक्तावलीमयूखे सूर्यनारायणेन** ''सर्वस्मिन्नपि जले जलान्तरसयोगेन वृहज्जलजननयोग्यतासत्त्वात् जलस्याऽन्त्याऽवयवित्वानुपगमेनाऽदोषादि'' (मु मयू पृ १०४) त्युक्तम् **तदसत्**, जलस्यान्त्याऽवयवित्वानुपगमे शरीरलक्षणस्य जलीयशरीरेऽव्याप्त्यापत्ते । ततश्च जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्ननिरूपित-जनकतावच्छेदकत्वमन्त्यावयविव्यावृत्तजातेरेवोपगन्तव्यम् । तथा च जलत्वादिना साङ्कर्यं दुर्निवारम् । तथाहि घटारम्भकत्वात् कपाले जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकत्वेन सिद्धा निरुक्तजाति वर्तते, जलत्वञ्च नास्ति । अन्त्याऽवयविनि जले जलत्वमस्ति, निरुक्तजातिर्नास्ति । अनन्त्यावयविनि जले जलत्व दर्शितजातिश्च वर्तते इति परस्परात्यन्ताभावसमानाधि-करणयोरेकत्र समावेशलक्षण साङ्कर्य दुर्वारमिति वर्धमानाशय ।

प्रागुक्तयुक्त्याऽयमपि न समीचीन । जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकजातेरन्त्यावयविन्यपि स्वीकारेण जलत्वादिना साङ्कर्यप्रच्यवात् । न चैवमन्त्यावयविन्यपि समवायेन द्रव्यान्तरापत्तिरिति वाच्यम्, समवायेन द्रव्य प्रति तादात्म्येनाऽन्त्याऽवयविन प्रतिवन्धकत्वाऽङ्गीकारेण तदयोगात् । ततश्च जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्ननिरूपितकारणतावच्छेदक द्रव्यत्व-मेवेत्याशय ।

अत्रैव साम्प्रतमेकेषा मतमावेदयति प्रकरणकार - **मूर्त्तत्वेनेवेति** । एवकारेण द्रव्यत्वव्यवच्छेद कृत । **द्रव्यारम्भकत्व** = द्रव्यसमवायिकारणत्वम् । द्रव्यसमवायिकारणताया मूर्त्तत्वावच्छिन्नत्वे मनस्यपि समवायेन द्रव्यान्तरमुत्पद्येत, तत्र मूर्त्तत्वस्य वृत्तित्वादित्याशङ्कानिराकरणाय वदन्ति - **न चेति** । **तदारम्भकत्वापत्तिः** = द्रव्यान्तरसमवायिकारणत्वप्रसङ्ग । तदपाकरणाय व्याचक्षते - **मनोऽन्यमूर्त्तत्वेनैव तथात्वात्** = द्रव्यारम्भकत्वात् । मनोभिन्नत्वे सति मूर्त्तत्वस्य द्रव्यसमवायिकारणताव-च्छेदकत्वम् । मनसि विशेष्यसत्त्वेऽपि विशेषणविरहेण विशिष्टकारणत्वावच्छेदकाऽसत्त्वान्न तत्र समवायेन द्रव्यान्तरप्रसङ्ग । द्रव्यत्व तु व्यापकत्वान्न द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकम्, अनतिरिक्तवृत्तित्वात्, अन्यथाऽकारणेऽपि स्वरूपयोग्यत्वकल्पनापत्ते-रिति तदाशय ।

को, साकर्य के सबब, जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न की कारणता का अवच्छेदक नही माना जा सकता और द्रव्यत्व जाति अतिरिक्त वृत्ति होने से कारणतावच्छेदक नही हो सकती है' <–

किन्तु अब पछताये होत क्या जब चिडियाँ चुग गई खेत ! हमने अभी ही बता दिया है कि तादृश जातिविशेष अन्त्य अवयवी मे रहने पर भी समवाय सम्बन्ध से द्रव्य के जन्म के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से अन्त्य अवयवी प्रतिबन्धक होता हे । अन्त्य जल, घट आदि अवयवी मे जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न की कारणतावच्छेदक जाति का अगीकार करने से ही 'पूर्वोक्त रीति से साकर्य का वारण मुमकिन हे तथा उक्त प्रतिवध्य-प्रतिबन्धक भाव का अगीकार करने से ही अत्य अवयवी मे समवाय सम्बन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का वारण भी हो सकता है । अत द्रव्यत्व को जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न का कारणतावच्छेदक मानने मे कोई दोष नही है ।

☰ मनोभिन्नमूर्त्तत्व द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक है - अमुक विद्वानों का मत ☰

मूर्त्त इति । यहाँ अमुक विद्वानो का यह कथन है कि द्रव्यारम्भकत्वावच्छेदक = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक धर्म मूर्त्तत्व धर्म ही है । कपाल, तन्तु आदि मे मूर्त्तत्व धर्म होने की वजह ही वे घट, पट आदि के समवायिकारण हो सकते हैं । यहाँ यह कहना कि –> 'मूर्त्तत्व तो मन मे भी रहता है । अत· कपालादि की भाँति मन मे भी समवाय सम्बन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होनी चाहिए' <– ठीक नही है, क्योकि द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक धर्म केवल मूर्त्तत्व नही हे, किन्तु मनोभिन्नमूर्त्तत्व है । मन मूर्त्त जरूर है, मगर मनोभिन्न नही हे । अपने से कोई भी पदार्थ भिन्न नही होता है । मन मे मनोभिन्नत्व नही होने से मनोभिन्नत्वविशिष्टमूर्त्तत्व भी नही रहता हे । विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव होने से मन

' द्रष्टव्य पृ ३८३ ।

मूर्त्तत्वेनैव तथात्वम् । मनसि द्रव्यानुत्पत्तिस्तु विजातीयसंयोगरूपहेत्वन्तराऽभावादित्यपरे ।

यत्तु - द्रव्यारंभकतावच्छेदकतया पृथिव्यादिचतुर्ष्वेव भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते ।

जयलता

एके इत्येवं वदता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्बीजञ्चेदम् - मनोभिन्नत्वविशिष्टमूर्त्तत्वं तथा यदुत मूर्त्तत्वविशिष्टमनोभिन्नत्वम् ? इत्यत्र विनिगमनाविरहात् । घटादावपि समवायेन द्रव्यान्तरप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । अन्त्यावयविभिन्नत्वविशेषणोपादाने विशेष्यविशेषणभावे विनिगमकाभावात् महागौरवाच्चेति भावनीयम् ।

द्रव्यसमवायिकारणत्वस्थलं एवापरेषां मतं व्याकरोति - मूर्त्तत्वेनेवेति । एवकारेण द्रव्यत्व-मनोभिन्नमूर्त्तत्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः । तथात्वं = द्रव्यसमवायिकारणत्वम् । तर्हि मनसि व्यभिचारः किं पाणिपिधेयः ? इत्याशङ्कायामाह - मनसीति । मूर्त्तत्ववति । द्रव्यानुत्पत्तिः तु विजातीयसंयोगरूपहेत्वन्तराभावादिति । जन्यद्रव्याऽसमवायिकारणीभूतविलक्षणसंयोगविरहात् मनसि न समवायेन द्रव्यमुत्पद्यते, सामग्रीवैकल्ये कार्योत्पादापादनाऽयोगात् । ततश्च न गौरवादिदोषावकाशः । युक्तञ्चैतत् - सम्भवति क्लृप्ताऽगुरुधर्मविशेषे सामान्यधर्मस्य कारणताद्यनवच्छेदकत्वात्, अन्यथा द्रव्यत्वमपि घटत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकं प्रसज्येतेत्यपरेषामभिप्रायः ।

'अपरे' इत्यनेन प्रकरणकृता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । तद्बीजञ्चैवम्, मनसि विजातीयसंयोगलक्षणहेत्वन्तरविरहे मानाभावात्, यत्क्रियया घटे आरम्भको मनसि चानारम्भकः संयोगो जनितः तत्क्रियाजन्यतावच्छेदाय तत्रोक्तवैजात्यस्याऽऽवश्यकत्वात् । न च मनोऽन्यमूर्त्तत्वेनैव तथात्वमिति वक्तव्यम्, गौरवात् । एवञ्च तादृशजातिकल्पने, विजातीयसंयोगकल्पने नोदनत्वादीनां तद्वैजात्यव्याप्यत्वकल्पने तदवच्छिन्नकारणताकल्पने च महागौरवात् वरमतिशयः एवाऽनतिप्रसक्तः द्रव्यजनकः कल्प्यत इति । मनसि सर्वदा विजातीयसंयोगविरहे च नित्यत्वे सति स्वरूपयोग्यस्य फलावश्यम्भाव इति नैयायिकराद्धान्तभङ्गस्तु परस्याधिकदोषः इति दिक् ।

अत्रैव कस्यचिन्मतमपाकर्तुमावेदयति - यत्त्विति । तदपमतमित्यनेनाऽस्यान्वयः । द्रव्यारम्भकतावच्छेदकतया = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया, पृथिव्यादिचतुर्षु = पृथिवीजलतेजोवायुषु, एवपदेनाकाशप्रभृतिव्यवच्छेदः कृतः, भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते = अनुमीयते । प्रयोगस्त्वेवम्, पृथिव्यादिचतुष्कनिष्ठा समवायसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना कारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् कपालनिष्ठघटकारणतावत् । तादृशकारणताया गगनाद्य-

मे समवाय सम्बन्ध से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति हो सकती नही है । कारणतावच्छेदक धर्म से शून्य से कार्योत्पाद का आपादन कैसे हो सकता है ?

❊ मूर्त्तत्व ही द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक - अपरमत ❊

मूर्त्तत्वेनेव तथा इति । प्रकरणकार यहाँ अपर विद्वानो के अभिप्राय को बताते है कि —> 'मूर्त्तत्व ही द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक धर्म है, न कि मनोभिन्नमूर्त्तत्व, क्योंकि वैसा मानने मे गौरव है । यहाँ यह शका करना कि —> ''मूर्त्तत्व को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानने पर मन मे भी समवाय सम्बन्ध से द्रव्य की उत्पत्ति होने की आपत्ति होगी, क्योंकि मन मे मूर्त्तत्व रहता है'' <— ठीक नही है । इसका कारण यह है कि मन मे द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मूर्त्तत्व होने पर भी विजातीयसंयोगात्मक अन्य हेतु न होने की वजह ही मन मे समवाय सम्बन्ध से द्रव्य की उत्पत्ति नही होती है । एक कारण से ही कार्य की उत्पत्ति नही होती है, किन्तु सामग्री से ही कार्य का उत्पाद होता है । अतः मूर्त्तत्व को द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानने मे कोई दोष नही है ।

द्रव्यारम्भकतावच्छेदक भूतत्वजाति नहीं हो सकती

यत्तु इति । यहाँ अन्य विद्वानो का यह कथन है कि —> 'द्रव्यरम्भकतावच्छेदक न तो द्रव्यत्व है, न तो मूर्त्तत्व किन्तु भूतत्व है । इसका कारण यह है भूतत्व जाति की सिद्धि ही द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकविधया होती है । द्रव्य का समवायिकारण पृथ्वी, जल, तेज और वायु होता है । अतः भूतत्व जाति भी इन चारो मे ही रहेगी, न कि अन्य मे । भूतपद का शक्यतावच्छेदक भी भूतत्व जाति ही है । जहाँ जहाँ भूतत्व जाति रहती है, उसमे ही भूतपद का प्रयोग होता

स एव च भूतपदशक्यतावच्छेदक । आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भाक्त एव इति तमोऽवयवाना न द्रव्यारम्भकत्वमिति मत तदपमतम्, तम साधारणस्यापि तस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्, मनसोऽनतिरिक्तत्वनये भूत-मूर्त्तपदयो पर्यायत्वापतेश्च ।

❀ नयलता ❀

वृत्तितया गगनादिव्यावृत्ता भूतत्वजाति तादृशकारणतावच्छेदकतया सिध्यति । स = भूतत्वाख्यो जातिविशेष , एव च भूतपदशक्यतावच्छेदकः = भूतपदनिरूपितशक्तिविषयताया अवच्छेदक भूतपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति यावत् ।

नन्वेव सति गगने भूतपदप्रयोगस्योन्मत्तप्रलापत्व प्रसज्येत यतो भूतत्वलक्षण भूतपदप्रवृत्तिनिमित्त नास्ति भूतपदञ्च तत्र व्यवह्रियत इत्याशङ्कायामानक्षते - आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भाक्तः = गाण इति । पृथिव्यादिषु चतुर्ष्वेव भूतपदप्रयोग मुख्य , गगने तुपचरित , चित्रगते गवि गोपदप्रयोगवत् । एतेन गगने भूतपदप्रयोगविषयतया भूतत्वसिद्धि प्रत्युक्ता, माणवकेऽपि सिहत्वसिद्धिप्रसङ्गात् । इति = भूतत्वजाते पृथिव्यादिषु चतुर्ष्वेव वृत्तित्वात्, तमोऽवयवाना पृथिव्यादिचतुष्कबहिर्भूताना न द्रव्यारम्भकत्व = तमोद्रव्यसमवायिकारणत्वम् । यद्यपि एतन्मते तमसोऽद्रव्यत्वेन तमोऽवयवानामप्यसिद्धि तथापि अभ्युपगमवादेन तमोऽवयवानङ्गीकृत्य तमसो द्रव्यत्वप्रतिषेधार्थमिदमुक्तमिति द्रष्टव्यम्, परप्रसिद्धानुवादेन प्रसङ्गापादनस्य प्रसिद्धत्वात् ।

तदपमतमिति । तदेव समर्थयति - तमःसाधारणस्यापि = पृथिव्यादिषु चतुर्ष्विव तमस्यप्यनुगतस्य, तस्य = भूतत्वाभिधानस्य जातिविशेषस्य, कल्पयितु = अनुमातु, शक्यत्वात् । प्रयोगस्त्वेवम् - समवायसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्टकार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना पृथिवीजलतेजोवायुतमोवृत्ति समवायिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् कपालनिष्ठघटकारणतावत् । दर्शितानुमानेन तमस्यपि भूतत्वजातिसिद्धौ तमोऽवयवाना तमोद्रव्यारम्भकत्व सुघटमिति भाव. ।

यत्तूक्त - 'पृथिव्यादिषु चतुर्ष्वेव भूतत्वाख्यो जातिविशेष' इति तत्राऽऽह - मनसोऽनतिरिक्तत्वनये = जीवानामणुत्वमेव मनश्च न ततो भिन्नमिति तन्मते भूतमूर्त्तपदयोः पर्यायत्वापत्तेरिति । तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथनात् भूतमूर्त्तपदयो पर्यायत्वप्रसङ्ग । आकाशे भूतत्वजात्यनङ्गीकारात् मनसश्चातिरिक्तस्य विरहात् भूतमूर्त्तपदाभ्या पृथिव्यादिचतुष्कस्यैव प्रतिपादनात् तत्पर्यायत्व दुर्वारमित्यर्थ । नव्यनैयायिकैरपि अतिरिक्त मन नाऽभ्युपगम्यते, भौतिका एव परमाणवो मनांसि अनन्तधर्मिणामतिरिक्तायाश्च जाते कल्पनापेक्षया क्लृप्तानामेव धर्मिणा ताद्रूप्येण हेतुत्वस्य युक्तत्वात्, सुषुप्तौ ज्ञानानुत्पत्तिनियमस्त्वदृष्टोपग्रहादिति तेषामभिप्रायात् । एतेन माध्वादिमतेऽस्तु मनसोऽनतिरिक्तत्वम्, नैयायिकमते तु तस्यातिरिक्तत्वाभ्युपगमान्न भूतमूर्त्तपदयो पर्यायत्वापत्तिरिति प्रत्याख्यातम् । भूतमूर्त्तपदाऽपर्यायत्वोपपत्तयेऽपि मनसोऽनतिरिक्तत्वमतानुरोधेन गगने भूतत्वमुपगन्तव्यम् । एवञ्च पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशतमोद्रव्येषु भूतत्व कल्पनामर्हति, सङ्कोचे मानाभावादित्यभिप्राय ।

है । यद्यपि आकाश मे भी भूतपद का प्रयोग होता है तथापि वह प्रयोग मुख्य नही है । आकाश मे होने वाला भूतपद का प्रयोग गोण है । अतः आकाश मे भूतत्व का व्यवहार भूतत्व जाति का साधक नही है । अन्धकार तो पृथ्वी आदि चतुष्टय से बहिर्भूत है । अत वह भूतत्वजाति से शून्य होता है । अतएव अन्धकार अवयवो से अन्धकार द्रव्य का आरम्भ नही हो सकता । द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक जाति से रहित मे समवाय सम्बन्ध से द्रव्य की उत्पत्ति केसे हो सकती है ? अतः अन्धकार को द्रव्यात्मक नही माना जा सकता' <— किन्तु यह कथन भी अविचारितरमणीय है, क्योकि तर्कशस्त्र चलने पर वह धराशायी हो जाता है । वह इस तरह द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकविधया पृथ्वी आदि चार मे साधारण = अनुगत भूतत्व जाति की कल्पना करने की अपेक्षा अन्धकार मे भी साधारण = अनुगत भूतत्व जाति की कल्पना क्यो नही करते ? अन्धकार की वादवाकी करने की क्या जरूरत ? पृथ्वी आदि की भाँति अन्धकार मे साधारण भूतत्व जाति की कल्पना करने से ही अन्धकार के अवयवो मे अन्धकारात्मक द्रव्य की समवायिकारणता की उपपत्ति हो सकती है । अतः अन्धकार को द्रव्य मानने मे कोई दोष नही है । दूसरी वात यह है कि जो दार्शनिक मन को अतिरिक्त नही मानते है, किन्तु आत्मा को ही अणु मान कर मन को अणु आत्मास्वरूप मानते है, उनके मतानुसार भूतपद ओर मूर्त्तपद पर्यायवाचक वन जायेगे, क्योकि आप पृथ्वी आदि चार को ही भूत मानते है और मन नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु को वे दार्शनिक नही मानते है । अतः भूतपद एव मूर्तपद का वाच्यार्थ पृथ्वी आदि द्रव्यचतुष्क ही वनेगा । अतः भूतपद ओर मूर्त्तपद का प्रवृत्तिनिमित्त

आकाशे वेदादिप्रयुक्तभूतपदस्य मुख्यत्वाय बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणजातीयगुणवत्त्वस्य गुरोरपि भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वात्, अन्यथा पशुपदादेरपि गोत्वादिविशिष्ट एव शक्त्यापत्ते.।

❀ जयलता ❀

यत्तूक्तम् - 'आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भाक्त एवे'ति तत्राऽऽह - आकाशे इति । सप्तम्यर्थो विषयत्वम् । वेदादिप्रयुक्तभूतपदस्येति । वेदादौ प्रयुक्तस्य आकाशविषयकस्य भूतपदस्येति भाव । मुख्यत्वाय = प्रधानत्वोपपत्तिकृते, बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणजातीयगुणवत्त्वस्य = मनोभिन्नेन्द्रियेण ग्राह्यो यो विशेषगुण तत्सजातीयगुणवत्त्वस्य, गुरोः अपि भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वात् = भूतपदनिरूपितशक्तिविषयताया अवच्छेदकत्वात् । अयमत्राभिसन्धि भूतत्व जाति न सम्भवति मूर्त्तत्वेन सम साङ्कर्यात्, भूतत्व विहाय मनसि वर्तमानस्य मूर्त्तत्वस्य मूर्त्तत्व विहाय गगने वर्तमानस्य भूतत्वस्य च पृथिव्यादिषु सत्त्वेन पररपरव्यधिकरणायोरेकत्र समावेशात् । किन्तु बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणसजातीयगुणवत्त्वमेव भूतत्वम्, आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय 'बहिरिन्द्रिये'ति । बहिरिन्द्रियग्राह्यस्य सयोगादिगुणस्य मनआदावपि सत्त्वात् 'विशेषे'त्युक्तम् । 'बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वे'त्युक्तावननुगमदोष इति 'जातीयगुणे'त्युपादानम् । साजात्यञ्च तादृशविशेषगुणत्वेन बोध्यम् । तेन नात्मादावतिव्याप्ति । यद्यप्युत्पत्तिक्षणावच्छेदेन घटादौ सृष्टिप्राक्कालावच्छेदेन गगने च तादृशगुणवत्त्व नास्ति तथापि समवायेन तादृशगुणसम्बन्धित्वमित्यत्र तात्पर्यान्नाऽव्याप्ति । न च समवायेन स्पर्शसम्बन्धित्वमेव भूतत्वमस्तु, लाघवात्, गगने तूपचारेणैव भूतपदप्रयोगादिति वाच्यम्, वेदादावपि गगनविषयकभूतपदोपलम्भात्, वेदादौ लक्षणाया अनङ्गीकारात्तन्मुख्यत्वोपपत्तये तत्राऽपि भूतत्वस्यावश्यकत्वात्, गौरवस्य फलाभिमुखत्वेनाऽदोषात् ।

मुक्तावलीकारस्तु –> ''पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाना भूतत्वम् । तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् । अत्र ग्राह्यत्व लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्व बोध्यम् । तेन 'ज्ञातो घट' इति प्रत्यक्षे ज्ञानस्याऽप्युपनीतभानविषयत्वात्तद्वति आत्मनि नातिव्याप्ति । न वा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाण्वादावव्याप्ति , तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात्, महत्त्वलक्षणकारणान्तराऽसन्निधानाच्च न प्रत्यक्षत्वम् । अथवा आत्माऽवृत्तिविशेषगुणवत्त्व तत्त्वम्' <– (मुक्ता पृ २४१, का २६) इत्याह । अत्र कल्पान्तरप्रदर्शनप्रयोजन तु –> 'चक्षुरिन्द्रियादिगतरूपादिविशेषगुणानामनुद्भूतत्वेन बहिरिन्द्रिग्रहणाऽयोग्यचक्षुरादावव्याप्तेर्लाघवाच्च' <– (मु दिन पृ २४१) इति महादेवः प्राह ।

नृसिंहशास्त्री तु –> 'समवायेन शब्दस्पर्शान्यतरसम्बन्धित्व समवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन शब्दस्पर्शान्यतरसम्बन्धित्व, एतदन्यतरत्व पृथिव्यादिगगनान्तान्यतमत्वरूप वा भूतत्व' <– (मुक्ता प्र पृ १०८) इत्याचष्टे ।

ननु दर्शितभूतत्वस्य गुरुत्वान्न भूतपदशक्यातावच्छेदकत्व सम्भवतीत्याशङ्कायामाह - **अन्यथेति** । गुरो शक्यतानवच्छेदकत्वे, **पशुपदादेरपि गोत्वादिविशिष्ट एव शक्त्यापत्तेः** = शक्ततताप्रसङ्गात् । एवकारेण 'लोमवल्लाङ्गूलवति' इत्यस्य व्यवच्छेद कृत । अथ भाव पशुत्व न जाति उच्चे श्रवत्वादिना साङ्कर्यात् किन्तु लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वलक्षण सखण्डोपा-

एक ही बनेगा । जिन पदो का प्रवृत्तिनिमित्त एक ही होता हे, वे पद पर्यायवाचक कहलाते हैं । इसलिए अभिन्न पदप्रवृत्तिनिमित्त वाले भूतपद ओर मूर्त्तपद मे पर्यायत्व की आपत्ति आयेगी ।

❊ गुरुधर्म भी शक्यतावच्छेदक हो सकता है - स्याद्वादी ❊

आकाश इति । पृथ्वी आदि चार मे भूतत्व जाति मानने वाले विद्वानो ने जो कहा था कि –> 'आकाश मे भूतत्व जाति नही रहती है । इसलिए आकाश मे होने वाला भूतपद का प्रयोग गौण है'' <– वह भी युक्त नही है । इसका कारण यह है कि वे विद्वान् वेदादि को प्रमाण मानते है । तथा वेदादि मे तो अनेक बार आकाशात्मक अभिधेय मे भूतपद का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । वेदादि मे आकाश मे जो भूत पद का प्रयोग किया गया हे, उसे गौण तो नही माना जा सकता । अतः उसके मुख्यत्व की उपपत्ति के लिए आकाश मे भी भूतत्व का अङ्गीकार करना उचित हें । भूतपद के शक्यतावच्छेदकस्वरूप भूतत्व को जातिस्वरूप नही माना जा सकता, क्योकि तब मूर्तत्व जाति के साथ सांकर्य प्रसक्त है । किन्तु भूतत्व अखण्ड उपाधिस्वरूप हे जिसका बहिरिन्द्रियग्राह्य विशेषगुण के सजातीय गुणिवत्त्वरूप निर्वचन हो सकता है । पृथ्वी आदि मे बहिरिन्द्रिय घ्राण आदि से ग्राह्य गन्धादि विशेषगुण के सजातीय विशेष गुण गन्धादि रहने से उनमे तादृशगुणवत्त्वस्वरूप भूतत्व रहता है । यहाँ भूतत्व का जो निर्वचन किया गया है, वह अन्धकार मे भी अबाधित हे, क्योकि उसमे नील रूप आदि विशेषगुण रहते हे, जो बहिरिन्द्रियग्राह्य विशेषगुण नील रूपादि के सजातीय हैं । अतः भूतत्व को

स्वतन्त्रास्तु एकत्वनिष्ठ एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेष कल्प्यते । स चाऽन्त्याऽवयव्येकत्वव्यतिरिक्त एवेति

❀ जयलता ❀

धिरेव । तदेव च पशुपदशक्यतावच्छेदकम् । यदि च गुरुधर्मस्य शक्यतावच्छेदकत्वं नोपेयते तदा लोमवल्लाङ्गूलवति पशुपदशक्ति न स्यात् किन्तु लाघवेन गोत्वादिविशिष्ट एव । न चैवमस्तीति गुरोरपि शक्यतावच्छेदकत्वमभ्युपेयमेव । ततो गुरोरपि व्यावर्णितस्वरूपस्य भूतत्वस्य भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वमुपगन्तव्यम् । तस्य च तमोऽवयवेष्वपि सत्त्वान्न तेषां द्रव्यारम्भकत्वानुपपत्ति । न चैवं गुरोरनवच्छेदकत्वप्रवादो व्याहन्येतेति वाच्यम्, पशुपदाद्यनुरोधान् नैयायिकैरपि शक्यतावच्छेदकाद्यतिरिक्तस्थल एव तादृशनियमस्योपगमादिति दिक् ।

स्वतन्त्रास्त्विति । आहुरित्यनेनाऽस्याऽन्वय । एकत्वनिष्ठः = एकत्वसङ्ख्यासमवेत , एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषः = द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकीभूत एकत्वत्वविशेषलक्षणो जातिविशेष , कल्प्यते = अनुमीयते । 'या या कारणता सा सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ने'ति व्याप्तिबलेन समवायसम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यमात्रवृत्तिकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकविधया एकत्ववृत्ति एकत्वत्वविशेषोऽनुमीयते । सिद्धो धर्म एको नित्यश्चेदसति बाधके तदा लाघवमिति न्यायेन स च जातिस्वरूप एव सिध्यति । न चैकत्वत्वविशेषस्त्वेकत्वसङ्ख्यायां वर्त्तते समवायेन घटादि द्रव्यं तु कपालादौ वर्त्तत इति वैयधिकरण्यात्कथं कार्यकारणभाव सम्भवेत् ? इति वक्तव्यम्, जातिविशेषस्य समवायेनैकत्ववृत्तित्वेऽपि स्वसमवायिसमवायसम्बन्धेन कपालादौ वर्त्तमानत्वात् । तस्यैवाऽत्र द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन विवक्षितत्वात् । एतेनैकत्वसमवेतस्यैकत्वत्वविशेषस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वे एकत्वसङ्ख्याया द्रव्यसमवायिकारणत्वं प्रसज्येतेति मुग्धाशङ्का परिहृता, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते ।

नन्वेवं घटादेरपि द्रव्यारम्भकत्वं प्रसज्येत, स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेनैकत्वत्वविशेषस्य तत्र वर्त्तमानत्वात् । एतेनाऽन्त्यावयविनो द्रव्यारम्भकत्वस्य कुत्राऽप्यदृष्टचरत्वान्न तदापादनं सम्भवतीति प्रत्युक्तम्, सत्या सामग्र्या कार्योत्पादस्याऽवश्यंभावनियमात् । एतेनाऽन्त्याऽवयविनो द्रव्यानारम्भकत्वनियमान्नैतत्प्रसङ्ग इत्यपि प्रत्याख्यातम्, प्रयोजनभङ्गेऽकिञ्चित्करत्वात् । न हि प्रयोजनक्षतिभिया सामग्री कार्यं नार्जयतीत्याशङ्कायामाचक्षते - स चेति । द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक एकत्वसमवेतो जातिविशेषश्चेति । अन्त्यावयव्येकत्वव्यतिरिक्त एवेति । अन्त्यावयविसमवेतैकत्वसङ्ख्याव्यावृत्त तदसमवेत इति यावत् । एकत्वत्वविशेषस्याऽन्त्यावयविसमवेतैकत्वसङ्ख्यायामसमवेतत्वादेव स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन नाऽन्त्यावयविवृत्तित्वं सम्भवति ।

द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने पर भी अन्धकार के अवयवो से अन्धकार का आरम्भ हो सकता है । यहाँ यह कहना कि --> 'भूतत्व को बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणसजातीयगुणवत्त्वस्वरूप मानने पर भूतपद का वह शक्यतावच्छेदक नही बन सकता, क्योकि लघुधर्म ही शक्यतावच्छेदक होता है' <-- तो यह ठीक नही है, क्योकि गुरु धर्म भी शक्यतावच्छेदक हो सकता है, अन्यथा पशुपद का शक्यतावच्छेदक लोमवल्लांगुलवत्त्व कैसे हो सकेगा ? क्योकि वह भी गोत्वादि की अपेक्षा गुरुभूत है। लघुभूत धर्म को ही शक्यतावच्छेदक मानने पर तो पशुपद की भी शक्ति गोत्वादि से विशिष्ट मे ही सिद्ध हो जायेगी और तब पशुपद का शक्यतावच्छेदक गोत्वादि होने लगेगा । मगर ऐसा नही है । लोमवल्लांगुलवत्त्व गुरुधर्म होने पर भी पशुपद का शक्यतावच्छेदक होता है, वसे ही बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणजातीयगुणवत्त्व गुरु धर्म होने पर भी भूतपद का शक्यतावच्छेदक हो सकता है । निष्कर्ष.- अन्धकार को जन्य द्रव्य माना जा सकता है ।

❀ एकत्ववृत्ति जातिविशेष द्रव्यारम्भकतावच्छेदक - स्वतन्त्रमत ❀

स्वत इति । अमुक स्वतन्त्र विद्वानो का यह कथन है कि --> 'द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति न तो द्रव्यत्व है, न तो मूर्त्तत्वादि हे, किन्तु एकत्वसख्या मे रहने वाली जाति विशेष ही द्रव्यारम्भकतावच्छेदक है । कपालगत एकत्व मे तादृश जातिविशेष होने से घट का आरम्भक कपाल होता है । यद्यपि तादृश जाति समवाय सम्बन्ध से कपाल मे नही अपितु कपालगत एकत्व सख्या मे रहती हे । कारणतावच्छेदक धर्म तो कारण मे रहना चाहिए । अत. आपाततः तादृश जाति को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक नही मानी जा सकती तथापि स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से तादृश जाति कपाल मे भी रह सकती है, क्योकि स्व = एकत्वगत तादृशजाति, के आश्रय एकत्व सख्या का समवाय कपाल मे रहता हे । अतः स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से तादृश जाति को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने मे कोई दोप नही हे । यहाँ यह शका हो कि --> 'घटादि अन्त्य अवयवी मे भी एकत्व सख्या रहने से तादृश एकत्वगत जाति स्वाश्रयसमवायसम्बन्धरूप समवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध से

न तत्तदन्त्यावयवित्वेनाऽनन्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवमित्याहुः ।
तन्न, तादृशजातेर्जन्यैकत्वत्वेन समं साङ्कर्यादित्यपरे ।

❀ जयलता ❀

एतेन घटादेर्द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्ग प्रत्युक्त , समवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकससर्गेण समवायिकारणतावच्छेदकाभाववतो द्रव्यारम्भाऽयोगात् । एकत्वत्वविशेषस्याऽन्त्यावयव्येकत्वसमवेतत्वोपगमे तु घटादीनामनारम्भकत्वरक्षणाय तत्तदन्त्यावयवित्वेन द्रव्यप्रतिबन्धकत्वकल्पनावश्यकत्वेनाऽनन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावप्रसङ्गात् । एतादृशगौरवस्य पूर्वमेवोपस्थितत्वेन न तत्र जातिविशेष कल्प्यते इति न गौरवमित्याशयमाविष्कुर्वन्ति - इति = उक्तहेतो , **न तत्तदन्त्यावयवित्वेन अनन्तप्रतिवध्यप्रतिवन्धकभावकल्पनागौरवमिति** । घटे समवायेन द्रव्य प्रति तादात्म्येन घटस्य प्रतिबन्धकत्व, पटे समवायेन द्रव्य प्रति तादात्मयेन पटस्य प्रतिबन्धकत्वमित्याद्यनन्तप्रतिबध्य-प्रतिवन्धकभावकल्पनागौरव घटादिसमवेतैकत्वे एकत्वत्वविशेपस्याऽनभ्युपगमेनैव परिहृतम्। **न** चान्त्यावयविसमवेतैकत्वव्यावृत्तिरेकत्वत्वविशेपे कथ सिद्धा ? इति **वाच्यम्**, धर्मिग्राहकप्रमाणादेव तल्लाभात्, 'समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नद्रव्यनिष्ठकार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाऽनन्त्यावयविवृत्तिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्' 'इत्यनुमानेनैवाऽन्त्यावयविसमवेतैकत्वाऽसमवेतस्यैव तस्य सिद्धेरिति तेषामाशय ।

अपरे स्वतन्त्रमतमपाकुर्वन्ति - **तन्नेति** । 'अपरे' इत्यनेनाऽस्याऽन्वय । **तादृशजातेः** = अनन्त्यावयविमात्रसमवेतैकत्व-सख्यासमवेतैकत्वत्वविशेपरूपाया स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदिकाया जाते , **जन्यैकत्वत्वेन** = जन्यैकत्व-सङ्ख्यासमवेतैकत्वत्वसामान्येन, **सम साङ्कर्यादिति** । तथाहि घटादौ जन्येऽन्त्यावयविनि या एकत्वसङ्ख्या साऽपि जन्येति तत्र सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टैकत्वत्वजातिर्वर्त्तते पर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेषो नास्ति, स्वतन्त्रै तादृशजाते-रन्त्यावयव्येकत्वव्यावृत्तत्वाऽभ्युपगमात् । परमाणोर्द्रव्यारम्भकत्वेन तद्गतैकत्वसङ्ख्याया द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेषोऽस्ति पर जन्यैकत्वत्वजातिर्नास्ति, परमाणोरिव तद्गतैकत्वस्यापि नित्यत्वेन सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टैकत्वत्वाऽयोगात् । द्व्यणु-

घट आदि मे रहने से घटादि मे भी कपालादि की भाँति समवाय सम्बन्ध से द्रव्य उत्पन्न होगा' <— तो यह असगत है, क्योकि द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेप अनन्त्य अवयवी मे रहनेवाली एकत्व सख्या मे ही रहती है, न कि अन्त्य अवयवी मे रहनेवाली एकत्व सख्या मे । घटगत एकत्वसख्या मे तादृश जातिविशेप समवायसम्बन्ध से नही होने से वह स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से घटादि अन्त्य अवयवी मे भी नहीं रह सकती । अतः घटादि मे समवायसम्बन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होने का अवकाश नही है । अत्य अवयवी मे रहनेवाली एकत्व सख्या मे द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति समवाय सम्बन्ध से नही रहती हैं - यह मानना उचित भी है, क्योकि ऐसा न मानने पर तत् तत् अन्त्य अवयवी को समवायसम्बन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का प्रतिवन्धक मानना होगा । तत् तत् अन्त्य अनत अवयवित्व को प्रतिवन्धकतावच्छेदक मानने पर अनन्त प्रतिवध्य-प्रतिवन्धकभाव की कल्पना करनी होगी, जिसमे अत्यत गोरव है । इसकी अपेक्षा अन्त्य अवयवी मे विद्यमान एकत्व सख्या मे द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेप को न मानना ही उचित हे, क्योकि ऐसा मानने पर उक्त अनन्त प्रतिवध्य-प्रतिवन्धकभाव की कल्पना अनावश्यक वन जाती है । स्वाश्रयसमवायसम्वन्ध से द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेप का अन्त्य अवयवी मे अभाव होने से ही अन्त्य अवयवी मे समवायसम्वन्ध से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का अवकाश नही है । समवायिकारणतावच्छेदक धर्म से शून्य मे समवेत कार्य की उत्पत्ति का अवकाश नही है । समवेत ऐसे कार्य की उत्पत्ति समवायिकारणतावच्छेदक धर्म से शून्य मे नही होती है । अतः अन्त्यावयविगत एकत्व मे अवृत्ति (=व्यावृत्त=व्यतिरिक्त) और अनन्त्यावयविगत एकत्व मे समवेत जातिविशेप को ही स्वाश्रयसमवायसम्वन्ध से द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक मानना मुनासिव है ।

❀ स्वतन्त्रमत में सांकर्य दोष - अपर विद्वान ❀

तन्न० इति । उपर्युक्त स्वतन्त्रमत के खिलाफ अन्य नैयायिक मनीपियो का यह कथन है कि —> 'अन्यत्यावयविगत एकत्व सख्या से व्यावृत्त और अनन्त्यावयविगत एकत्वसख्या मे समवेत जातिविशेप (=एकत्वत्वविशेप) को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने मे साकर्य दोप उपस्थित होने से उक्त कार्य-कारणभाव को मान्य नही किया जा सकता । वह साकर्य जन्य एकत्वत्वजाति के साथ इस तरह प्रसक्त होता है । जन्यैकत्वत्वजातिपद का अर्थ है केवल जन्य एकत्वसख्या मे रहने वाली एकत्वत्वजातिविशेप। घटगत जन्य एकत्वसख्या मे जन्यैकत्वत्वजाति है, मगर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेप नही है, क्योकि घट द्रव्यानारम्भक होने से तद्गत एकत्वसख्या मे द्रव्यारम्भकतावच्त्तछेदकीभूत जातिविशेप का अगीकार स्वतन्त्रमतानुसार नही किया गया हे, यह अभी ही उपर्युक्त कथन से स्पष्ट किया गया है । परमाणुगत एकत्वसख्या नित्य होने से उसमे जन्यैकत्वत्वजाति नही रहती

यदि तु 'जन्यैकत्वत्वं तादृशजातिव्याप्य भिन्नमेवाऽभ्युपेयते । न च तादृशजातेरेव

❀ जयलता ❀

कादिगतैकत्वे तु सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टैकत्वत्व द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेषश्च स्त इति साङ्कर्यम् । यद्यपि सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टैकत्वत्वस्य जातित्व न सम्भवति, विशिष्टस्य जातित्वाऽयोगात् तथापि जन्यैकत्वसङ्ख्यामात्रवृत्तिजातेरित्येव विवक्षाया दोषाभावात् । यतोऽत्र साङ्कर्यम्, अत ए॰ अन्त्यावयविगमवेतैकत्वव्यावृत्तैकत्वत्वविशेषस्याऽनन्त्यावयव्यकत्वसमवेतस्य द्रव्यारम्भकत्वावच्छेकत्वकल्पन नार्हति । तस्यान्त्यावयविगतैकत्ववृत्तित्वे तु दर्शितानन्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावगौरवमनिवार्यमेवेति व्याघ्रतटीन्यायापात इति स्वतन्त्रमतप्रतिक्षेपिनामपरेषामभिप्राय ।

यदि त्विति । अस्य चाऽग्रे 'इति विभाव्यत' इत्यनेनान्वय । जन्यैकत्वत्व = जन्यैकत्वसङ्ख्यामात्रवृत्ति वैजात्य, तादृशजातिव्याप्य = द्रव्यारम्भकतावच्छेदकैकत्वत्वविशेषव्याप्य, भिन्न = अन्त्यावयविगतैकत्वनिष्ठैकत्वत्वातिरिक्त, एव अभ्युपेयते स्वतन्त्रैरिति शेष । एवञ्च न साङ्कर्यावकाश । तथाहि घटादिगतैकत्वे द्रव्यारम्भकतावच्छेदकीभूतैकत्वत्वविशेषस्याऽवृत्तित्वेन तद्व्याप्यस्य जन्यैकत्वत्वविशेषस्यापि तत्राऽभाव , व्यापकाभावस्य व्याप्याभावसाधकत्वात् । यच्चैकत्वत्व घटादिगतैकत्वे वर्तते तन्नानन्त्याऽवयविगतैकत्वे द्रव्यारम्भकतावच्छेदकैकत्वत्वसमवायिनि वर्त्तते किन्तु तदतिरिक्तैकत्वत्व द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदकैकत्वत्वविशेषव्याप्यमेव वर्त्तत इति न परस्परव्यधिकरणयोरेकत्र समावेशलक्षणस्य सङ्करस्याऽवकाश । ततश्चान्त्याऽवयविगतैकत्वाऽवृत्त्येकत्वत्वव्यापकोऽन्त्यावयविसमवेतैकत्वाऽसमवेत एकत्वसमवेतो जातिविशेष एकत्वत्वविशेषलक्षण स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन द्रव्यसमवायिकारणतावच्छेदक इत्यभ्युपगमे दोषलेशाऽवकाशो नास्तीति स्वतन्त्राणामभिप्राय ।

ननु जन्यैकत्वत्वजात्या सह द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजाते साङ्कर्यनिरासकृते भवद्भि जन्यैकत्वत्वजाते नानात्वमुपकल्प्यैकत्वनिष्ठद्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषव्याप्यत्व तत्राऽङ्गीकृतम् । पर नाऽयमेव पन्था विद्यते साङ्कर्याऽपाकरणकृते, एकत्वनिष्ठद्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेर्नानात्वमभ्युपगम्य तत्र जन्यैकत्वत्वजातिव्याप्यत्वकल्पनाया अपि साङ्कर्यनिराकरणप्रवणत्वादित्याशङ्कापराकरणायोपक्रमते- न चेति । विनिगमकाभाव इत्यनेनाऽस्याऽन्वय । तादृशजातेरेव नानात्वेनेति । एकत्व-

है, मगर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेष जाति रहती है, क्योकि परमाणु द्व्यणुकद्रव्य का आरम्भक होता है । इस तरह परस्परव्यधिकरण ऐसी जन्यैकत्वत्वजाति एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेष कपालादिगत एकत्वसख्या मे रहती है । अतः परस्परव्यधिकरण धर्म का एक धर्मी मे समावेश होने से जन्यैकत्वजाति के साथ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष का साकर्य प्रसक्त होता है । इसलिए अन्त्यावयविगत एकत्वसख्या मे असमवेत ऐसी द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष का स्वीकार नही किया जा सकता । अतएव उससे घटित कार्यकारणभाव भी, जो स्वतन्त्र विद्वानो की ओर से बताया गया है, मान्य नही किया जा सकता' । यह अपर विद्वानो का स्वतन्त्र मनीषियो के प्रति आक्षेप है ।

❀ स्वतन्त्रमत का परिष्कार ❀

यदि इति । उपर्युक्त साकर्य दोष का निराकरण करने के लिए स्वतन्त्र मनीषियो की ओर से परिष्कार किया जा सकता है कि -> 'द्रव्यारम्भकत्वावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष की व्याप्य जन्यैकत्वत्वजाति की, जो अन्त्यवयविगत एकत्वसख्या मे विद्यमान जातिविशेष से भिन्न ही है, कल्पना करने से साकर्य दोष का अवकाश नही है । आशय यह है कि घटादि मे रहने वाली एकत्वसख्या मे समवेत जन्यैकत्वत्वजाति कपालादिगत एकत्वसख्या मे नही रहती है, किन्तु उससे भिन्न एकत्वत्वजातिविशेष कपालादिगत एकत्व मे रहती है, जो कि द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वनिष्ठ जातिविशेष की व्याप्य है । घटादिगत एकत्व मे द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष नही होने से उसकी व्याप्य कपालादिगतेकत्वसमवेत एकत्वत्वविशेष जाति का न होना सिद्ध होता है, क्योकि व्यापक का अभाव व्याप्याभाव का व्याप्य होता है । इस तरह कपालगतैकत्व मे समवेत एकत्वत्वजातिविशेष घटादिगत एकत्वसख्या मे नही रहती है और घटादिसमवेत एकत्वसख्या मे समवेत जन्यैकत्वत्व जाति कपालादिगत एकत्वसख्या मे नहीं रहती है । अतः परस्परव्यधिकरण धर्म का एक धर्मी मे समावेश ही असिद्ध होने से जन्यैकत्वत्वजाति के साथ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष के साकर्य दोष का उद्भावन करना नामुनासिब है । अतः एकत्वनिष्ठ जातिविशेष को स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने मे कोई दोष नही है ।

❊ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वविशेष को अनेक मानने में गौरव ❊

न च ता इति । यहाँ यह शका हो सकती है -> 'जन्यैकत्वत्व जाति के साथ एकत्वनिष्ठ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक

नानात्वेन तद्व्याप्यत्वे विनिगमकाभाव, यत तज्जातेर्नानात्वे व्यभिचारभिया तदवच्छिन्न-जन्यतावच्छेदिकाऽपि नाना जाति कल्प्या ।

※ जयलता ※

निष्ठाया द्रव्यारम्भकत्वावच्छेदकजातेरेवाऽनेकविधत्वाऽङ्गीकारसम्भवेनेति । एवकारेण जन्यैकत्वत्वजातेर्नानात्वकल्पनाव्यवच्छेद कृत । **तद्व्याप्यत्वे** = जन्यैकत्वमात्रवृत्तिजातिव्याप्यत्वाऽभ्युपगमे, **विनिगमकाभावः** = विनिगमनाविरह इति । तद्युक्तत्व-दर्शनार्थ विनिगमकमावेदयन्ति स्वतन्त्रा **यत** इति । **तज्जातेः** = एकत्वनिष्ठद्रव्यारम्भकतावच्छेदकजाते **नानात्वे** = अनेक-विधत्वकल्पने, **व्यभिचारभिया** = व्यतिरेकव्यभिचारभयेन **तदवच्छिन्नजन्यतावच्छेदिका** = द्रव्यारम्भतावच्छेदकजातिविशेषा-वच्छिन्ननिष्ठकारणतानिरूपिताया कार्यताया अवच्छेदिका **अपि नाना जातिः कल्प्येति** । अयमाशय द्रव्यारम्भकता-वच्छेदकजातेर्नानात्वोपगमे एकैकस्य द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वे व्यतिरेकव्यभिचारात् तत्कूटस्य चैकत्राऽवर्तमानतया कारणता-वच्छेदकत्वासम्भवात्तृणारणिमणिन्यायेन नाना कार्यतावच्छेदकजाति कल्पनीया । तथाहि नित्यैकत्ववृत्तिजात्यवच्छिन्ननिरूपित-कार्यताया अवच्छेदिका द्व्यणुकत्वजाति , अनित्यैकत्वनिष्ठजात्यवच्छिन्ननिष्ठकारणतानिरूपितकार्यताया अवच्छेदक त्र्यणुकत्वादि-घटत्वपटत्वादिपर्यन्तजात्यन्यतमत्व, त्र्यणुकाद्यन्त्यावयविपर्यन्तवृत्तिवैजात्य वा । **एतेन** द्व्यणुकस्याऽनित्यैकत्ववृत्तिजात्यवच्छिन्न-मृते त्र्यणुकादेर्नित्यैकत्वनिष्ठजात्यवच्छिन्न विनोत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारो द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेर्नानात्वकल्पने दुर्वार इति **प्र-त्युक्तम्**, नानाकार्यकारणभावाभ्युपगमात् ।

न चैकत्वनिष्ठनानाकारणतावच्छेदकजात्यवच्छिन्ननिरूपितकार्यतावच्छेदकनानाजातिकल्पतेऽपि निस्तारः, जलत्वादिना कार्यतावच्छेदकजातिसाङ्कर्यस्य दुर्वारत्वात् । तथाहि पार्थिवद्व्यणुके नित्यैकत्वगतजात्यवच्छिन्ननिरूपितकार्यतावच्छेदिका द्व्यणु-कत्वजातिरस्ति पर जलत्व नास्ति, जलीयत्र्यणुके जलत्वमस्ति पर तादृशद्व्यणुकत्व नास्ति । जलीयद्व्यणुके च जलत्व तादृश-द्व्यणुकत्वञ्च स्त इति परस्परव्यधिकरणयोरेकत्र समावेशात्साङ्कर्यम् । तदपाकरणाय नित्यैकत्ववृत्तिजात्यवच्छिन्नकार्यता-

जाति के साकर्य का निवारण करने के लिए जन्येकत्वत्व जाति को अनेकविध मान कर जन्यैकत्वत्वजातिविशेष को द्रव्यारम्भकताव-च्छेदक जाति का व्याप्य माना गया था, ठीक वेसे ही साकर्य निवारणार्थ जन्यैकत्वत्वजाति के स्थान मे एकत्वनिष्ठ द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति को ही अनेकविध मान कर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष को ही जन्यैकत्वत्वजाति का व्याप्य माना जा सकता है। इसमे कोई बाध नही है । ऐसा मानने पर भी साकर्य का निराकरण हो सकता है । दिखेये, परमाणुगत एकत्वसख्या मे रहने वाली द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति द्व्यणुकादि अनन्त्य अवयवी मे समवेत एकत्वसख्या मे नही रहती है और जो द्रव्यारम्भतावच्छेदक जातिविशेष द्व्यणुकादिगत एकत्व सख्या मे समवेत है वह अणुगत एकत्वसख्या मे अवर्तमान हे । दोनो अलग अलग हे । अतः घटादिगत एकत्व सख्या मे समवेत जन्यैकत्वत्व जाति के व्यधिकरण परमाणुगत एकत्व मे समवेत द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति का द्व्यणुकादिगत एकत्वसख्यास्वरूप एक धर्मी मे समवेत द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति का द्व्यणुकादिगत एकत्वसख्यास्वरूप एक धर्मी मे समावेश की सम्भावना नहीं है । अतः उपर्युक्त साकर्य के निवारणार्थ जन्यैकत्वत्वय को अनेकविध मान कर जन्यैकत्वत्वजातिविशेष को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वनिष्ठ जाति का व्याप्य माना जाय या द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वनिष्ठ जाति का व्याप्य माना जाय ? दो पक्ष मे से एक भी पक्ष मे साधक या बाधक युक्ति न होने से दोनो का स्वीकार करना होगा या एक का भी स्वीकार नही हो सकता । इसलिए स्वतन्त्रमतपरिष्कार नामुनासिब है'' <—

यत इति । मगर यह कथन भी असगत हे । इसका कारण यह है नित्य एकत्व मे रहनेवाली एव अनन्त्य अवयविगत अनित्य एकत्व मे रहनेवाली दो द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष का स्वीकार करने पर व्यभिचार का प्रसग होगा । द्व्यणुक की उत्पत्ति अनित्यैकत्ववृत्ति द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष से अवच्छिन्न के विना ही होती हे, क्योकि परमाणु गतएकत्व मे अनित्यैकत्ववृत्ति तादृश जातिविशेष नही है । एव त्र्यणुकादि घटादिपर्यन्त द्रव्य की उत्पत्ति नित्यैकत्ववृत्ति द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष से अवच्छिन्न के विना ही होती है, क्योकि द्व्यणुकादि कपालपर्यन्त मे रहने वाली एकत्वसख्या मे नित्यैकत्ववृत्ति द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष का अभाव होता हे । अतः कारणतावच्छेदकावच्छिन्न के विना ही द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि की उत्पत्ति होने से व्यतिरेक व्यभिचार दोष होगा । इसका निवारण करने के लिए दोनो द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्ववृत्ति जातिविशेष से अवच्छिन्न कारण द्रव्य का जन्यतावच्छेदक जाति अलग अलग माननी होगी । वह इस तरह, नित्यैकत्ववृत्ति द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेष से अवच्छिन्न (=विशिष्ट) का कार्यतावच्छेदक द्व्यणुकत्व है और अनित्यैकत्ववृत्ति द्रव्यारम्भकता-

साऽपि च जलत्वादिना सङ्कीर्यमाणा जलत्वादिव्याप्या नाना स्वीकार्येति बहुतरजातिकल्पनागौरवम्, एकत्वनिष्ठजातेस्तद्व्याप्यत्वे त्वेकत्वजन्यतावच्छेदक जातिद्वयमेव स्वीक्रियत इति लाघवमिति' विभाव्यते, तदा स्वतन्त्रमतमपि सम्यगिति तु नव्या ।

❀ जयलता ❀

वच्छेदकद्व्यणुकत्वजाते नानात्व जलत्वादिव्याप्यत्वञ्च कल्पनीये । ततश्च न सङ्करप्रसङ्ग , जलत्व विहाय पार्थिवद्व्यणुके वर्तमानस्य द्व्यणुकत्वस्य जलीयद्व्यणुकेऽवर्तमानत्वात्, जलत्वव्याप्यद्व्यणुकत्वस्यैव तत्राऽभ्युपगमात् । एतेन जलीयद्व्यणुके पृथिवीत्व विहाय वर्तमानस्य द्व्यणुकत्वस्य पार्थिवत्र्यणुके द्व्यणुकत्व विहाय वर्तमानस्य पृथिवीत्वस्य पार्थिवद्व्यणुके समावेशात्सङ्कर इत्यपि **निरस्तम्**, जलीयद्व्यणुके पृथिवीत्वाऽभावे सति तद्व्याप्यवैजात्यस्य द्व्यणुकत्वस्याऽसम्भवात्, तदतिरिक्तस्य जलत्वव्याप्यद्व्यणुकत्वस्यैव तत्राभ्युपगमात् । परमेतादृशकल्पनाया महागौरवमित्याशयेन व्याचक्षते - **साऽपि चेति** । द्विविध-जन्यतावच्छेदकजातिरपि च, **जलत्वादिना सङ्कीर्यमाणा जलत्वादिव्याप्या नाना** प्रत्येक चतुर्विधा, **स्वीकार्येति बहुतर-जातिकल्पनागौरव** = दशविध-जातिकल्पनागौरवम् । तथाहि नित्यैकत्वगतजातेरनित्यैकत्वगतजातेस्तदवच्छिन्नजन्यतावच्छेदिकाया जलत्वादिचतुष्कव्याप्याया प्रत्येक चतुर्विधाया जातेश्च कल्पनमिति द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातेर्नानात्वकल्पने दशविधजाति-कल्पनागौरवम् ।

स्वतन्त्रमते तु जन्यैकत्वनिष्ठजातेर्नानात्व द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्व चेति कल्पनात्र दशविधजातिकल्पना-गौरवमित्याशयेन वदन्ति - **एकत्वनिष्ठजाते:** = जन्यैकत्वनिष्ठैकत्वत्वविपजाते , **तद्व्याप्यत्वे** = द्रव्यारम्भकतावच्छेद-कैकविधजातिव्याप्यत्वाङ्गीकारे, **तु एकत्वजन्यतावच्छेदक जातिद्वय** = अनन्त्यावयविगतैकत्वनिष्ठजातिविशेषोऽन्त्यावयविगतैकत्व-निष्ठजातिविशेषश्चेति जातिद्वय, **एव स्वीक्रिकयते इति** दशविधजात्यकल्पनात् **लाघवमिति** = कारणताद्यवच्छेदकलाघवमिति, **विभाव्यते** स्वतन्त्रै तदनुसारिभिर्वा, **तदा स्वतन्त्रमतमपि सम्यगिति तु नव्याः** प्रवदन्तीति शेष ।

वच्छेदक जातिविशेप से अवच्छिन्न का जन्यतावच्छेदक त्र्यणुकत्व, चतुरणुकत्व आदि से लेकर घटत्व पर्यन्त यानी अन्त्य अवयविगत घटत्व-पटत्वादि जातिपर्यन्त । इस तरह का कार्यकारणभाव मानने पर व्यतिरेक व्यभिचार का निवारण हो सकता है, क्योकि द्व्यणुकत्वावच्छिन्न के प्रति अनित्यैकत्वगत जातिविशेप से अवच्छिन्न कारण ही नही हे और त्र्यणुकत्वादि घटत्वपटत्वपर्यन्त जाति से अवच्छिन्न के प्रति नित्येकत्ववृत्ति जातिविशेप से अवच्छिन्न कारण ही नही है । अकारण के विना स्वकारणसन्निधान से कार्य की उत्पत्ति होने पर व्यतिरेक व्यभिचार का उद्भावन नही किया जा सकता । मगर द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति को अनेकविध मानने पर तदवच्छिन्न से निरूपित कार्यता के अवच्छेदकविधया अनेक जाति की कल्पना का गोरव होगा । इतना ही नही, जलत्वादि जाति के साथ साकर्य भी प्रसक्त होगा । वह इस तरह, पार्थिव द्व्यणुक मे नित्यैकत्वगत जातिविशेप से अवच्छिन्न का कार्यतावच्छेदक द्व्यणुकत्व जाति है, मगर जलत्व जाति नही है । त्र्यणुक जल मे जलत्व जाति है मगर तादृश द्व्यणुकत्व जाति नही है । जव कि जलीय द्व्यणुक मे जलत्व जाति एव तादृशा द्व्यणुकत्व जाति भी रहती है । अतः जलत्व जाति के साथ नित्यैकत्ववृत्ति जातिविशेप से अवच्छिन्न की कार्यतावच्छेदक द्व्यणुकत्व जाति का साकर्य होगा। अतः इस साकर्य के निवारणार्त अनेकविध कारणतावच्छेदक जाति से अवच्छिश्न से निरूपित कार्यता की अनेकविध अवच्छेदक जाति को भी जलत्वादिव्याप्यरूप मे अनेकविध माननी होगी । मतलव कि नित्यैकत्वगत कारणतावच्छेदक जाति से अवच्छिन्न की कार्यता का अवच्छेदक द्वयणुकत्व भी जलत्वादि जाति का व्याप्य अनेकविध हे । पार्थिव द्व्यणुक मे जो कार्यतावच्छेदक जाति द्व्यणुकत्व है, वह पृथ्वीत्व की व्याप्य हे न कि जलत्व की तथा जलीय द्रव्यणुक मे जो कार्यतावच्छेदक द्व्यणुकत्व जाति हे, वह जलत्व जाति की व्याप्य हे न कि पृथ्वीत्व की । अत उपर्युक्त साकर्य का अवकाश नही होगा । वे परस्पर व्यधिकरण ही होने से एकत्र समाविष्ट नही हो सकती । मगर एकत्वनिष्ट द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति को अनेकविध मानने पर तदवच्छिन्न की जन्यतावच्छेदक जाति को भी अनेकविध मानना होगा, उनमे से प्रत्येक को जलत्वादि की व्याप्य अलग-अलग माननी होगी । इस तरह अत्यन्त गोरव होता हे । जव कि एकत्वनिष्ट द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जाति को एकविध मान कर उसकी व्याप्य जन्येकत्वत्वजातिविशेप मानने पर एकत्वगतजन्यतावच्छेदक दो जाति की ही कल्पना करनी पडती है, अत्यावय-विगत एकत्वसख्या मे समवेत जन्येकत्वत्वजातिविशेप ओर अनन्त्यावयविगत एकत्व मे समवेत जन्यैकत्वत्वजातिविशेप । इस पक्ष मे लाघव होने से नित्य और अनित्य एकत्व मे समवेत द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेप को अनेकविध नही मानी जा सकती। अत. जन्येकत्वत्व को द्विविध मानने मे एव जन्येकत्वत्वविशेप को, जो अनन्त्यावयविगत एकत्व मे समवेत है, ही

एतन्मते विजातीयसंयोगस्यापि जन्यद्रव्य प्रति पृथक्कारणत्वाऽकल्पनाल्लाघवम् । जन्य-भावमात्रस्य ससमवायिकारणकत्वनियमस्त्वसिद्ध, सिद्धौ वा तत्र द्रव्यत्वेनैव तथात्वमस्त्विति

❀ जयलता ❀

अत्रैव प्रकरणकार स्वकीयमासलमीमांसोन्मेषमाविर्भावयति - **एतन्मत** इति । स्वतन्त्रमते, **विजातीयसयोगस्यापि** = द्रव्यारम्भकविलक्षणावयवसयोगस्यापि, **जन्यद्रव्य** = जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न, **प्रति पृथक्कारणत्वाऽकल्पनात्** = अवयवविलक्षणसयोगत्वेन रूपेण कारणत्वस्याऽनभ्युपगमात्, **लाघव** = कारणतावच्छेदकधर्मलाघवम् । जन्यद्रव्य प्रति स्वावयवाना स्वावयवविजातीयसयोगस्य च कारणत्वेऽपि कारणतावच्छेदक न द्रव्यत्वादि विजातीयसयोगत्व वा किन्त्वेकत्वत्वमेव । समवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धा स्वाश्रयसमवायोऽसमवायिकारणतावच्छेदकतावच्छेदकससर्गश्च स्वाश्रयसामानाधिकरण्य एकत्वत्वस्य तेन सम्बन्धेन यथाक्रममवयवेष्ववयवविजातीयसयोगे च वर्त्तमानत्वात् । सामानाधिकरण्यमपि समवायेन बोध्य, तेन न कोऽप्यतिप्रसङ्ग । समवायिकारणतावच्छेदकसम्बन्ध तादात्म्यससर्गोऽसमवायिकारणतावच्छेदकसम्बन्धश्च समवाय, तेन न देशाऽनियमप्रसङ्ग । तथाहि द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वनिष्ठो जातिविशेष स्वाश्रयसमवायेन कपालादौ वर्तते, कपालादे स्वपदप्रतिपाद्यैकत्वत्वाश्रयैकत्वसङ्ख्यासमवायित्वात्, स्वाश्रयसामानाधिकरण्येन च कपालद्वयविलक्षणसयोगादौ वर्तते, तस्यैकत्वत्वाश्रयैकत्वसङ्ख्याधिकरणकपालादिसमवेतत्वात् । कपालादौ तादात्म्येन कपालादे समवायेन कपालद्वयसयोगादेश्च वर्तमानत्वात् तत्रैव समवायेन घटादेरूत्पत्ति न त्वन्यत्रेत्येव जन्यद्रव्योत्पादनियमसम्भवेनैकत्वत्वेन रूपेणैव समवायिकारणत्वमसमवायिकारणत्वञ्चेति कारणतावच्छेदकधर्मलाघवमिति भाव ।

ननु समवायेन जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्न प्रति स्वाश्रयसमवायेनैकत्वत्वविशिष्टस्य तादात्म्येन समवायिकारणत्व स्वाश्रयसामानाधिकरण्येनैकत्वत्वविशिष्टस्य च समवायेनाऽसमवायिकारणत्वमित्येवकल्पना न युक्ता, स्वतन्त्रमते तादृशैकत्वत्वस्याऽन्त्यावयविसमवेतैकत्वाऽसमवेतत्वाऽभ्युपगमेनाऽन्त्यावयविनो घटादे समवायिकारणत्वाऽसम्भवेन तद्गतगुणादे ससमवायिकारणकत्वनियमो व्याहन्येत । न चेद दृष्टमिष्ट वा, जन्यभावमात्रस्य ससमवायिकारणकत्वनियमात्, अन्यथा घटादेरपि कपालादिकमृते उत्पत्तिप्रसङ्गादित्याशङ्कायामाह - **जन्यभावमात्रस्य** = जन्यत्वे सति भावत्वावच्छिन्नस्य, **ससमवायिकारणकत्वनियमस्तु असिद्धः** = विपक्षबाधकतर्कशून्य अप्रसिद्धोऽनभ्युपगतो वेति । कपालनाशोत्तर घटनाशात् तदुत्तर तद्गतगुणादिनाशात् जन्यभावस्य समवायिकारण विना क्षणमेकमवस्थितिप्रसिद्धे, असमवायिकारणनाशस्य हेतुत्वमते च कपालादिनाशोत्तरमसमवायिकारणनाशे सत्येव घटादिनाशाऽभ्युपगमेन निरधिकरणस्य घटादे क्षणद्वयमवस्थितिप्रसिद्धे तद्वदेव बहुतरक्षणमपि निरधिकरणस्य जन्यभावस्याऽवस्थाने बाधकाभावान्न तादृशनियमोऽभ्युपेयत इति भाव ।

अभ्युपगम्याऽऽह - **सिद्धौ** वेति । **तत्र** = जन्यभावत्वावच्छिन्नस्य ससमवायिकारणकत्वनियमे । **द्रव्यत्वेनैवे**ति । जन्यद्रव्यत्वेन, एवकारेण जन्यभावत्वव्यवच्छेद कृत । ततश्च जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नस्य **तथात्व** = ससमवायिकारणकत्वमित्येव नियम·

द्रव्यारम्भकतावच्छेदक जातिविशेप का व्याप्य मानने मे लाघव ही विनिगमक - पक्षपाती है'' <— ऐसा विचारविमर्श करने पर तो स्वतन्त्रमत ही युक्तिसगत है, ऐसा नव्य नैयायिको का कथन है ।

❊ स्वतन्त्रमत में लाघव ❊

एतन्मते इति । प्रकरणकार स्वतन्त्रमत के प्रति अपने विचार को व्यक्त करते हुए कहते है कि - स्वतन्त्रमत मे अवयव-विजातीयसयोग की विजातीयसयोगत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना अनावश्यक है, क्योंकि एकत्वत्वविशेप जाति ही असमवायिकरणतावच्छेदक भी हो सकती है । कपालादि अवयव मे विजातीयसयोगस्वरूप द्रव्यासमवायिकारण रहता है और वहाँ एकत्वत्वविशेप का आनय एकत्व गुण भी रहता है । अत विजातीय सयोग मे तादृश एकत्वत्वजातिविशेप स्वाश्रयसामानाधिकरण्यसम्बन्ध से रह सकती है । स्व = एकत्वत्वविशेप, उसके आश्रय एकत्व गुण का सामानाधिकरण्य विजातीयसयोग मे रहता है । अत· एकत्वत्वविशेप को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने मे लाघव है । यद्यपि अन्त्यावयविगत एकत्वसख्या मे द्रव्यारम्भकताअवच्छेदक जाति नही रहती है । अत· स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से एकत्वत्वविशेप के आश्रय को समवायिकारण मानने पर अत्यावयी घटादि समवायिकारण नही बन सकते । अतः घटादिगत गुण, क्रिया मे ससमवायिकारणकत्व = समवायिकारणजन्यत्व या समवायिकारणसहितत्व अनुपपन्न बन जायेगा । नियम तो यह है कि जन्य भावमात्र ससमवायिकारणक ही होता है । इस

न तदनुरोधेन द्रव्यनिष्ठजातिविशेषकल्पनमिति विभाव्यम् ।

❀ जयलता ❀

अस्तु इति हेतो न तदनुरोधेन = अन्त्यावयविसमवेतगुणाद्यनुरोधेन, द्रव्यनिष्ठजातिविशेषकल्पन = द्रव्यनिष्ठतया वैजात्यकल्पनम् । जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नस्य ससमवायिकारणकत्वनियमाऽभ्युपगमेन घटादिगतगुणाद्यनुरोधेन घटादिवृत्तिवैजात्य न तत्समवायिकारणतावच्छेदकतया कल्पनीयम् । एतेन घटादिगुणाद्यन्यथानुपपत्त्या घटादे समवायिकारणत्वसम्पादनाय अन्त्यावयविगतैकत्वे एकत्वत्वविशेषजाति कल्पनीया । तथा च जन्यद्रव्य प्रति तत्तदन्त्यावयवित्वेनाऽनन्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवम् । घटादौ वा वैजात्यकल्पनेऽधिकजातिकल्पनागौरवम् । तदकल्पने तु जन्यभावत्वावच्छिन्नस्य ससमवायिकारणकत्वनियमभङ्ग इति कल्पनाशस्त्रत्रयी त्र्यम्बकनेत्रत्रितयीव त्रौकत इत्यपि पराकृतम्, तत्र जन्यद्रव्यत्वविरहेण ससमवायिकारणकत्वाऽवश्यम्भावाभावात् । यद्वा तत्र = जन्यभावमात्रे, द्रव्यत्वेनेव तथात्व = समवायिकारणत्वमित्यर्थ । जन्यद्रव्यमात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्न प्रति स्वसमवायिसमवायेन एकत्वत्वविशेषेणाऽन्त्यावयव्येकत्वासमवेतेन समवायिकारणता, जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्न प्रति द्रव्यत्वेन समवायिकारणतेत्यङ्गीकारोऽस्तु । एतेन अन्त्यावयविवृत्तिगुणादेराकस्मिकत्वप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः, अन्त्यावयविनि जन्यभावसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वस्य सत्त्वादिति न तदनुरोधेन = अन्त्यावयविगुणाद्यन्यथानुपपत्त्या, द्रव्यनिष्ठजातिविशेषकल्पनमित्येव व्याख्यान्तर द्रष्टव्यम् । इत्थञ्च तमोऽवयवेषु यदेकत्व वर्तते तत्र द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषस्य वर्तमानत्वेन न तमोद्रव्योत्पादानवकाश इति स्वतन्त्रमतानुसारेणाऽपि तमसो द्रव्यत्व निराबाधमिति प्रकरणकाराशय ।

वस्तुतस्तु अन्त्यावयव्येकत्वाऽसमवेतस्यैकत्वसमवेतस्य जातिविशेषस्य स्वाश्रयसमवायेन द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्व च दुक्तम्, गगनादेरपि द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात्, गगनसमवेतैकत्वे द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेषस्य समवेतत्वात् । न च तस्य विभुद्रव्यैकत्वाऽसमवेतत्वाऽभ्युपगमान्न दोष इति वाच्यम्, तथापि मनसो द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात् । न च निरवयवद्रव्यैकत्वे तस्याऽनभ्युपगमान्न दोष इति वक्तव्यम्, पार्थिवादिपरमाणूना द्रव्यारनारम्भकत्वप्रसङ्गात् । एतेनानन्त्यावयविगतैकत्वमात्रवृत्तित्वमपि तस्य प्रत्युक्तम् । न च मनोऽन्यनिरवयवद्रव्यान्त्यावयविगतैकत्वाऽसमवेतत्वे सत्येकत्वसमवेतो यो जातिविशेष तस्यैव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वमिति वक्तव्यम्, तथापि जन्यगुणादिक प्रति जन्यभाव प्रति वा पृथक्कारणकल्पनाया आवश्यकत्वेन नानाकार्यकारणभावगौरवस्याऽव्याहतत्वात्, तादृशजातिविशेषकल्पन पुनरधिकमेवेत्यादिसूचनार्थ 'विभाव्यमि'त्युक्तमिति तु ध्येयम् ।

साम्प्रतमुपयोगित्वात् श्रीनयोदयविजयविरचित अन्धकारभाववादः प्रदर्श्यते । तथाहि —

नियम का भग ही एकत्वत्वजातिविशेष को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने मे बाधक है तथापि तादृश नियम मे कोई प्रमाण न होने से वह नियम ही हमे अमान्य है । इसलिए उक्त नियम का भग अत्यावयविगत एकत्व मे अवृत्ति एकत्वत्वविशेष को द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानने मे बाधक नही हो सकता । यदि उक्त नियम को मान्य करना हो तो भी जन्यभावमात्र के स्थान मे जन्यद्रव्यमात्र को ही ससमवायिकारणक मानना चाहिए । मतलब कि 'जो जो जन्य द्रव्य है, वह वह समवायिकारणयुक्त ही होता है' इत्याकारक नियम को प्रसिद्ध-प्रामाणिक मानना चाहिए । घटादि मे रहने वाले जन्य गुण क्रिया तो द्रव्य से भिन्न है । अत उसे समवायिकारणसहित मानने की कोई आवश्यकता भी नही रहती हे और उक्त नियम के भग का भी कोई प्रसग नही है । अथवा जन्यभावमात्र के प्रति द्रव्यत्वरूप से समवायिकारणता का स्वीकार करने पर भी घटादि मे उत्पन्न होने वाले गुणादि की उत्पत्ति का निर्वाह हो सकता है, क्योकि घटादि मे द्रव्यत्व रहता ही है । जन्यभावमात्र के प्रति द्रव्यत्वरूप मे समवायिकारणता का स्वीकार करने का दूसरा लाभ यह है कि अन्त्य अवयवी द्रव्य मे गुण, क्रिया की कारणतावच्छेदक जातिविशेष की कल्पना भी अनावश्यक रहती हे । घटादि मे उत्पन्न होने वाले गुण, क्रिया के प्रति द्रव्यगत जाति की तत्कारणतावच्छेदकविधया कल्पना का गोरव भी स्वतन्त्र मत मे अप्रसक्त है । इसलिए एकत्वसमवेत जातिविशेष को ही द्रव्यारम्भकतावच्छेदक मानना युक्त हे, न कि द्रव्यसमवेत जातिविशेष को । ऐसा स्वतन्त्रमतानुसार विचार करने पर अन्धकार द्रव्य की उत्पत्ति का निर्वाह हो सकता है, क्योकि अन्धकार के अवयव मे स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से एव तादृशावयवसयोग मे स्वाश्रयसामानाधिकरण्यसम्बन्ध से द्रव्यारम्भकतावच्छेदक एकत्वत्वजातिविशेष विद्यमान है । अतः स्वतन्त्रमतानुसार अन्धकार को द्रव्य माना जा सकता हे ऐसा विभावन - विमर्श करना चाहिए । निष्कर्ष - अन्धकार द्रव्यात्मक है ।

जयलता

जल्पन्त्यनल्पसकल्पा केचित् कर्कशतार्तिका । ध्वान्तमत्यन्ताऽसदश तेजसामिति निश्चितम् ॥१॥
तन्न तथ्य ततस्तस्य तथात्वेऽध्यक्षत सदा । सर्वत्र ग्रहण नृणा स्यात् त्रैकालिकताऽस्य चत् ॥२॥
यथाऽऽलोकस्य सत्त्वेनान्धकारोऽध्यक्षतो ध्रुवम् । गृह्यते न ततस्तस्मिन् स्यात् त्रैकालिकता मता ॥३॥
तदप्यचारुवचन यत् तैर्यत्नादुदीरितम् । यतो यो यदभाव स्यात् स तस्मिन् सति नेक्ष्यते ॥४॥
तद् यथैकघटे नाप्यन्यकुम्भानामभावता । प्रत्यक्षा तैजसैकेन स्यात् तथाऽन्यत्त्विपामसौ ॥५॥
अतस्तरणितेजोऽशैरन्यो (द्) द्योतासदशता । प्रत्यक्षतस्तमोरूपा नृभिर्नो गृह्यते कथम् ॥६॥
अथैकसूर्यालोकोऽपि विपक्षोऽन्यत्त्विपा तत । तमोऽत्यन्ताभावरूप न स्याल्लोचनगोचरम् ॥७॥
एव च ब्रुवता तेपा कश्चिदेव वदत्यपि । प्रत्यक्षस्तेजसा नासावन्धकारो गुणाश्रय ॥८॥
कथ चैव नैक कुम्भोऽन्यकुम्भाभाववैर्यभूत् । तथा च स्याद् घटाभावो लक्ष्यस्तेपा न चक्षुपा ॥९॥
अपि चैकार्कालोकाशैराक्रान्ते जगतीतले । तेभ्यो भिन्नस्वभावानामभावस्तेजसा भवेत् ॥१०॥
सोऽस्ति प्रतीत सर्वेपा प्रत्यक्षाचारचाक्षुषात् । पर सक समस्तीति तद् वक्तव्य सयुक्तिभि ॥११॥
अत्र नु प्रागभावादे प्रवेशस्य विमर्शनम् । श्वपाकस्पर्शवत् त्याजय तद् यन्नाङ्गीकृतानुगम् ॥१२॥
अस्तु वा तत् तथापि स्यात् तस्मात् तेपा हि हितम् । यस्मादत्रैतदनेहो ग्रहणान्यत्यपदोपमम् ॥१३॥
अथाभ्युपगत पूर्व सोऽसौ चेदत्र सूत्रित । अनारत तमस्तर्हि विशद स्याद् दिनेङ्गिनाम् ॥१४॥
न चाभावेन सर्वासा भासा स्यात् तमसो ग्रह । इति वाच्य यत कृष्णरात्रौ तारकतेजसि ॥१५॥
अन्धकारो दृशा ग्राह्यो पथार्थ पुरुषादिक । अन्यवासोऽपि भाभाव भवद् दृग्विषयो विशाम् ॥१६॥
तथा च तैरभ्युपेता भावस्याभावरूपता । ततोऽभूदिच्छता तेषामाय मूलव्ययोदय ॥१७॥
प्रकाशेन प्रभाताया विभार्या यथेक्षणात् । ध्वान्त तनुभृता ग्राह्य तथा घस्रेऽस्तु तद्ग्रह ॥१८॥
दिवसे च क्वचित्तेजोमिश्रित गृह्यते तत । प्रत्यक्षेण प्रतीत तत् तथाभूत सतामपि ॥१९॥
तस्मात् सर्वत्र यत्र स्याद् द्युतीनामसदशता । तन्मते तिमिराकारा तत्र तासा कथ न सा ॥२०॥
अपि च कचिदु(द्) द्योतान्यन्ताभावो विभा विना । कृष्णस्तस्या च दृग्ग्राह्यो कृष्णोऽप्यस्तीति कौतुकम् ॥२१॥
अथात्युत्कट (१व) — के न तमोऽभावरूपभृत । भवेद् विशा दृशा ग्राह्यमित्यत्रोत्तरमुत्तमम् ॥२२॥
इति चेत् तर्हि नो तस्मिँस्तादृशे रूपवत्तम । दृग्ग्राह्यमित्यपि व्यक्तु - वक्तु का वाक्यवक्रता ॥२३॥
भाभाववत्तमोभाव प्रत्यक्षेण प्रवर्तते । पर चतुर्ष्वभावेपु तै स्थिति क्वास्य कल्पिता ॥२४॥
प्रत्यक्ष भ्रान्तमेवेदमिति चेत् तर्हि तै परै । अर्चिषा प्रतिपेधेऽपि तत् तथा कथित न किम् ॥२५॥
किञ्च रूपावारकाद्य अहीना इह हेतव । तदा हिताहिता एते पूर्वाचार्यै प्ररूपिता ॥२६॥
ज्ञेयास्ते तत्कृतग्रन्थाद्युक्त्याडम्बरबन्धुरा । वक्र(कत्र) - वक्तृ - वचोवृक्षव्यूहप्रध्वससिन्धुरा ॥२७॥
अथालोक विना नृणा नेत्रेण ग्रहणात् तम । अभावरूप विख्यात ततस्ते हेतवो हता ॥२८॥
प्रागभावदयोऽभावा भणिता नात्र शोभना । भूच्छायेष्वभ्युपेता तदत्यन्ताभावता भवेत् ॥२९॥
उपायोऽयमपि प्रौढ पण्डितपर्षदि । युक्त्युक्तिवियुक्तत्वात् प्रतीप स्यात् तदीप्सिते ॥३०॥
यतस्तैजसरूपत्वादालोकापेक्षयेक्षणात् । ग्राह्यतास्त्वन्धकाराणामक्षपादादिदर्शने ॥३१॥
तथा चासिद्धविद्धत्वात् तदुक्तो हेतुरातुर । अत पूर्वगुरूक्ता स्युर्हेतवस्तेऽनुपद्रवा ॥३२॥
हेतावन्यालोकाकूते कथिते विद्युदादिभि । व्यभिचारो दु स्वभावो भ्राजते भीपणो भृशम् ॥३३॥
साध्यासाध्य-सधकत्वे स्यादसौ सदृश सदा । अत प्रकरणसमदोपदुष्टस्तु तन्मते ॥३४॥
अय हेतुरित्यकान्त सकल शकलीकृत । कथ करोति सक्रान्त तत् स्वान्तेपु समीहितम् ॥३५॥
आत्रालोकाभावरूपो दृष्टान्तोऽपि चय श्रुत । स तु तेषामपि मते पाण्डित्यापोहपोपक ॥३६॥
अथास्तु हेतुर्व्यतिरेक्यसौ न पटश्च दृष्टान्ततया पटिष्ठ । तथाऽप्यनैकान्तिकताङ्गनाऽस्य ससर्गरङ्गान्निवृत्तिमेति ॥३७॥

☙ जयलता ☙

द्रव्य विभाऽन्यन्नयनप्रतीत निरीक्षणीय किरणेन नृणाम् ।
अस्तीति चेत् तर्हि तमो गुणिष्वप्येव विकल्प क्रियते कथ न ॥३८॥
अथ द्रव्यचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति कारणम् । भासयोगो न च प्रोक्ताद् वैरूप्य धाम्नि बाधते ॥३९॥
सयोगोऽभ्युदितो विभा-गगनयो सोऽपि प्रभाया स्थितस्तस्यालोचनगोचरत्वचने स्यात् साधन भूस्पृशाम् ।
इत्थ यत् कपटात् पटुप्रकटन तेषा तु तत्प्रोज्झितप्रागलभ्यप्रतिपादक किमपर प्रोक्त भवेद् भासुरम् ॥४०॥
किमसावशुसयोगश्च(२अ) क्षुपा गृह्यते न वा । प्रथमोऽपेशल पक्षोऽप्रतीत्यैव पराहत ॥४१॥
पुर स्थो न पुष्टोऽसौ यादृशा नेक्ष्यते विभा । तथा च स्यात् तया नार्थसार्थग्रहणसकथा ॥४२॥
अथागृहीत सयोग कलशाम्बकयोर्यथा । प्रकाशक करीरस्य तथाऽत्रापि निरूप्यते ॥४३॥
जैनाना वचन नेद मान्य यन्नेत्र-कुम्भयो । सयोगो नाङ्गीकृतो नास्ति तैरध्यक्षविरोधत ॥४४॥
कश्चित् कुयुक्त्या कथितोऽम्बकस्य सङ्ग स्वकान्ते कलशेन साकम् ।
तथापि ते दर्शितदोपदीप्ति कदाप्यपाकर्तुमकोविदा स्यु ॥४५॥
अपि चालोक-घटयो सयोगो नादृतो दृशा । कलशस्य व्यञ्जक स्याद् वैपरीत्यमिति स्थितम् ॥४६॥
रोचिपा चापि नैतेपा भापया चक्षुपा ग्रह । तथा च सर्वदा सन्तु ते तमोबाधिताम्बका ॥४७॥
अत आलोकसयोगो दृष्टेर्विषय एव य । कुम्भादिचाक्षुपत्वेऽसौ हेतु स्यादिति निश्चितम् ॥४८॥
दृग्ग्राह्यताया न हि हेतुरिच्छेत् सयोग आलोकगतो द्युतेश्चेत् ।
सोऽस्यास्तदा नेत्यपि कोशपानप्रत्यायनीय पठन परेपाम् ॥४९॥
प्रपश्चोऽपचयेनापि त्विषोऽत्यन्तासदशताम् । ध्वान्ते वक्तु न शक्ता. स्यु स्वबुद्धिवलिनोऽपि च ॥५०॥
अस्तु वा तैजसाऽत्यन्ताभावता तमस परम् । नास्याग्निरूपात् तैरुक्तान्नेत्रादनुभवो भवेत् ॥५१॥
अन्यथा तस्य स भवेत् प्रदीपपटलादपि । उभयात्राविशेपेण यतैर(द्) द्योतता श्रिता ॥५२॥
अथाम्बकमनुद्भूतरूपससर्गसुन्दरम् । अतस्तैजसाकारमन्धकारप्रकाशकम् ॥५३॥
दीपपेटकमुद्भूतरूपभूपणभासुरम् । भूच्छायाऽभिव्यञ्जक तत्र स्यात् तन्नोक्तदोपता ॥५४॥
इति चेत् तर्हि सतप्ततैल-तोयहुताशनात् । अप्यस्तु ध्वान्तप्रभृतिभावाना प्रतिभासता ॥५५॥
तत्स्वीकृतौ तु तैर्गाढ निर्व्यूढा प्रौढमूढता । तथा च तेन रक्षन्ति दक्षशिक्षा स्वचेतसि ॥५६॥
यथाऽनुद्भूतरूपाढ्ये नेत्राग्रावस्ति योग्यता । तप्ततैलादिवह्नौ न सा भूछायादिभासने ॥५७॥
तदप्यसज्जतोऽतेजोलक्षणा क्षूणमीक्षणम् । गृह्णाति योग्यतासङ्ग कथ न तिमिरादिकम् ॥५८॥
अत एव **देवसूरिप्रमुखैः** पूर्वसूरिभि । विपश्चिद्भि परैश्चास्मिन् वह्निरूपमपाकृतम् ॥६०॥
तम प्रकाशकान्यथाऽनुपपत्त्यादिहेतुभि । अपि तैरेव नयने निषिद्धाऽनलरूपता ॥६१॥
अथ रूपादिपु पञ्चसु मध्ये रूपस्य सैवकारस्य । व्यञ्जकद्रव्यादम्बक (२ब) मग्निद्रव्य सता सिद्धम् ॥६२॥
तदकान्त हेतुरसौ तत स्वमाध्यस्य साधको नयन । अतमोव्यञ्जकरूपोपाधि-व्याधिव्यथाव्यग्र ॥६३॥
वीरैस्तु पूर्वगुरुभिर्विडम्बितो बुद्धिबाणतो बहुधा । हेतुरय तदुपायो विज्ञेयस्तत्कृतग्रन्थैः ॥६४॥
तथाप्युपाय ग्रन्थस्य कश्चित् शृण्वन्तु पण्डिता । गन्धस्यापि व्यञ्जकोऽस्ति दीपो दृष्टान्ततोदित ॥६५॥
हेतुस्ततोऽसौ सजात सपक्षेभ्य पराङ्मुख । तैजसत्व कुतो नेत्रे विधातु धावति ध्रुवम् ॥६६॥
अथ प्रदीपोऽगुरुवर्दिर्गन्धसिद्धिनिबन्धनम् । इति चेत् तर्हि लालाऽपि रसोन्तदे पटुर्भवेत् ॥६७॥
तथा च स्याद् रूपादिपु पञ्चस्वित्यादिसाधनात् । रसानाया पयोरूप कथ वाच्य विपश्चिताम् ॥६८॥
चक्षुर्न तैजस तेजोव्यञ्जकेन सुहेतुना । विद्यते नात्र दीपेन व्यभिचारपराभव ॥६९॥
वेश्मरत्न निजाकारमेक व्यञ्जयति स्फुटम् । तेजसा व्यञ्जकेनेति तत्त्व हेतौ तु चिन्तितम् ॥७०॥
तथापि दीपे स्वर्णाना बहूना व्यञ्जकत्वत । स एव दर्शितो दोप इत्याकूतकथा वृथा ॥७१॥
सिद्ध स्वर्ण यतोऽतेजो हेतुभिर्द्रवतादिभि । उपपत्त्या तथा रूप तच्चोक्त तर्ककौतुकै ॥७२॥

जयलता

इति प्रपञ्चतस्तेषा हेतो कुशलता कथम् । तदेते हस्तविन्यस्ततुण्डास्तिष्ठन्तु चिन्तया ॥७३॥
अथ स्वर्णमरिद्रव्यायोगेऽत्यन्ताग्निसगमे । नोच्छिद्यमानद्रवताश्रयेण स्यादपार्थिवम् ॥७४॥
पारिशेषात् तु ससिद्ध सुवर्ण तैजस सताम् । ततस्तेजोव्यञ्जकत्वेहेतुर्वैरी निवारित ॥७५॥
तद्युक्त यतो ह्राहा हेतुनाऽनेन हाटकम् । तन्मतेऽप्यनिग्नरूप न पानीयपरमाणुवत् ॥७६॥
त्यक्त्वाऽत्र हेतुस्तु विशेषणानि वाच्योऽन्यथा स्यात् तदसिद्धताऽस्य ।
तथा च हेम्नो न हि बन्धुराङ्गो धनञ्जयाभाव उदीरितोऽसौ ॥७७॥
न ताम्ररूप्यत्र सुमुख्यधातौ विचक्षणाना व्यभिचारचिन्ता ।
अस्मिन् यतोऽनेन सुहेतुतैवाहुताशनत्व भवति प्रतीतम् ॥७८॥
यतथ पारिशेष्यादित्यादि गदित सुन्दर न तत् । काप्यग्नावनुभूता न कैरपि द्रवता यत ॥७९॥
अथ रूपोपलम्भेन तस्मिन् साखीकृतेति चेत् । तर्हि तेन तत्र रसो गुणो नाङ्गीकृत कथम् ॥८०॥
प्रोक्तप्रकारतो हेतुस्तेजोव्यञ्जकलक्षण । बाधबन्धनसबन्धवन्ध्य स्यात् साध्यसाधक ॥८१॥
वैरोचन काञ्चन चेत् तर्हि तस्य कथ भवेत् । नाणक भूषण चापि न ह्येतत् तेन तैजसम् ॥८२॥
वर्तन्ते युक्तयो बह्व्योऽम्बकेऽग्नित्वक्षतौ परम् । एतावानेव विस्तार सूरिणाऽनरिणा कृत ॥८३॥
ते (३अ) ध्वान्त दीधितेर्ध्वस नेदूचुस्तर्हि ते बुधै । कयाचिदनया रीत्याऽवगन्तव्या तिरस्कृता ॥८४॥
प्रागभावादिरूप ते तेजसस्त महत्यपि । वक्तु व्यक्ता न युक्त्या स्युस्तन्नैतन्मतमुत्तमम् ॥८५॥
स्थित्युत्पत्ति-विपत्तिरूपपटुतापुष्ट तम पुद्गलद्रव्य रूपनिबन्धनादपि बुधै सस्थापित पर्षदि ।
नासिद्धादिकदूषणे प्रवणता स्यादस्य तस्मिन्निद ससिद्ध सुतरा यतो मतिमता सच्चाक्षुषाऽध्यक्षत ॥८६॥
अथान्धकारो विविधैर्विदिग्धैर्युक्त्योक्त आरोपितनीलरूप. ।
तस्मादसिद्धेन विरुद्धमेतन्न साधन साधयति च साध्यम् ॥८७॥

अत्रेय प्रतिक्रिया –

अभावे येन केनापि रूपारोपो न चक्षुपा । गृहीतस्तेन निर्बाध निबन्धनमिद बभौ ॥८८॥
अथो यथा दर्पणादौ विद्यते वदनभ्रम । भूछायेऽपि भवेत् पुसा तथा रूपगुणस्य स ॥८९॥
रूपभ्रान्तिरन्धकारे तैरुक्ताऽस्मान्निदर्शनात् । पर न सा भासुरेति भासते प्रतिभाभृताम् ॥९०॥
रम्यै क्रियापरिमाणरूपप्रभृतिहेतुभि । प्रतिबिम्बि यतो जैनैर्द्रव्यत्वेन विनिश्चितम् ॥९१॥
स्पर्श सता तु स्फुरति प्रतीतो रूपादपि ध्वान्तगुणिन्ययोवत् ।
तथापि तस्मिन्नतिवक्रवाक्यै स्पर्शाऽसदश कृदुशो दिशन्ति ॥९२॥
स्पर्शोऽत्र शीत कथमन्यथा स्यु पान्था प्रतप्तास्तपनस्य तापात् ।
वक्तार एव रजनीतिमिस्रे जातानि गात्राण्यथ शीतलानि ॥९३॥
अथान्धकारपटलोपेतेऽपवरकादिके । गेहरत्ने समानीते तम स्तोमोऽस्ति तत्र न ॥९४॥
पूर्वविद् गृह्यते तत्र कथ शैत्य त्वचा यत । सत्ता नैमित्तिकस्यापि न निमित्तासदशत ॥९५॥
कार्य-कारणवैशिष्ट्यमुद्दिश्यैतत् प्रकाशितम् । अन्यथा दण्डनाशेऽपि कुम्भस्य स्यादभावता ॥९६॥
तद्युक्त त्यक्तकृष्णाकारास्तामसपुद्गला । तत्र सन्तीति तत्सस्थ शैत्य सप्राप्यते त्वचा ॥९७॥
यथा क्वचिदभेदस्य भासैर्वा तैस्सहाम्भस । शैत्य ग्राह्य तथाऽत्रापि प्रध्वरा तत्प्ररूपणा ॥९८॥
तथोग्राग्न्यादिससर्गाच्छैत्य सतमसे स्थितम् । न हि स्यादङ्गिना ग्राह्य यथा तत्तोयसगतम् ॥९९॥
द्रव्ये स्वरूपवैचित्र्य चिन्त्यमान विपश्चिताम् । निमित्ताना विचित्रत्वाद् स्याद् व्यमोहनिवृत्तये ॥१००॥
प्रमाणतोऽपि स्फुटरूपताया आपादनादप्रतिषेधसौधे ।
ध्यातोऽन्धकारो विबुधैरधा(३ब)न्ध्यै सदा स्थितस्त्रासितसाध्वसान्ध्यै ॥१०१॥

इत्थञ्च तमसो भावत्वेऽनुमानमप्याहुः 'तमो भावरूपं घनतरनिकरलहरीप्रमुखशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वात् आलोकवदि'त्यादि ।

ननु तमसो नीलरूपवत्त्वे पृथिवीत्वमेव स्यान्नातिरेक इति चेत् ? न, रूपपरावृत्ति-

❀ जयलता ❀

स्थिराङ्गजेनेत्थमथोपदिष्टादस्मात् प्रकारात् परपक्षबाधः ।
बाढं बभूवैव ततः परेषां कथं कृतार्थः स्वमनोरथः स्यात् ? ॥१०२॥
पेशलपटूपपत्त्या पुण्याय परे पराकृता इत्थम् । अविगानगुणस्मरणैर्यैः श्वचारुतरचरणैः ॥१०३॥
तार्किकसभासुरेन्द्राः जयन्तु ते विजयदेवमुनिचन्द्राः । बुधऋद्धिविजयगुरवः श्रीतपगणसाधुसुरतरवः ॥१०४॥
श्रीमण्डपाचलेऽस्मिन् मुदा जिहांगीरसाहिना दत्तम् । महातपेति विशदं बिभ्राणं बन्धुरं बिरुदम् ॥१०५॥
नन्दान्तरिक्ष-ऋषि-रात्रिपतिप्रमाणे (१७०५) । वर्षे सितरेभ्यतनयेन नयोदयेन ।
युक्ते पथः कुमतकूटविनाशकोऽयं यो दर्शितो भवतु ध्रुववत् स्थिरः सः ॥१०६॥
इत्यन्धकारभाववादः ॥

प्रत्यक्षेणैव तमसो द्रव्यत्वसिद्धावपि 'प्रत्यक्षेणाऽऽकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः' इतिवचनेन प्रमाणसम्प्लववादिमनोऽनुरञ्जनार्थं प्राचां जैनाचार्याणां श्रीरत्नप्रभसूरिप्रभृतीनामनुमानप्रयोगं प्रकरणकार आदर्शयति - इत्थञ्च **तमसो भावत्वेऽनुमानमप्याहुरिति** । स्पष्टमुक्तानुमानम् । आदिपदेन 'तमो भावरूपं घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटवत्, नाभावरूपं तमः प्रागभावाद्यस्वभावत्वात्, व्योमवदिति, भावरूपं तमः उत्पत्तिमत्त्वे सत्यनित्यत्वात् घटवदि' (स्या. रत्ना. ५१८) त्यादिनि **स्याद्वादरत्नाकारोक्तानि तत्त्वार्थवृत्त्याद्युक्तानि** चानुमानानि ग्राह्याणि ।

शङ्कते - **नन्विति** । चेदित्यनेनान्वयः । **तमसो नीलरूपवत्त्वे** = निरुपाधिकनीलरूपाश्रयत्वे, **पृथिवीत्वमेव स्यात्,** एवकारफलं कण्ठत आह - **नातिरेकः** इति । तथाहि न तावन्नीलरूपस्य तमसः तोयादिभावसम्भवः, तोयतेजसोः सितत्वात् पवनादीनाञ्चाऽरूपत्वात् । ततश्च पारिशेषन्यायेन तमसः पृथिवीत्वमेव स्यात्, न तु पृथिवीतरद्रव्यत्वमिति शङ्काशयः ।

ननु नीलरूपवत्त्वेन तमसः पृथिवीत्वे कदाचित् तत्र घटादाविव रूपपरावृत्तिरपि स्यात्, अन्यथा सुवर्णस्यापि पीतरूपवत्त्वेन पृथिवीत्वं प्रसज्येत । न च स्वर्णस्य पृथिवीत्वे गन्धवत्त्वप्रसङ्गो बाधक इति **वाच्यम्,** तमस्यपि तस्य जागरुकत्वादिति सुवर्णवत् तमस्यपि रूपपरावृत्तिप्रयोजकस्य पृथिवीत्वस्याऽभाव एवोपगन्तव्य इत्याशयेन प्रकरणकारः तन्निराकरोति - **नेति** ।

❈ प्राचीन जैनाचार्य का तमोभावत्वसाधक ❈

इत्थं इति । रत्नप्रभसूरि आदि प्राचीन जैनाचार्यों ने अन्धकार मे भावत्व की सिद्धि करने के लिए अनुमानप्रयोग भी रत्नाकरावतारिका आदि ग्रन्थो मे बताये है । वह इस तरह - अन्धकार भावात्मक हे, क्योकि घनतर, निकर, लहर आदि शब्द से वह व्यवहार्य है, जैसे आलोक । आलोक नैयायिकादि मत मे भावात्मक ही है तथा जैसे 'यहाँ अत्यन्त आलोक है, यह आलोक का निकर-समूह है, प्रकाश की लहर' इत्यादि व्यवहार होता है, ठीक वैसे ही 'यहाँ अत्यन्त घना अँधेरा हे, तमो निकर, तमो लहरी' इत्यादि व्यवहार भी होता है । अतः आलोक की भाँति अन्धकार भी भावात्मक ही है । समान व्यवहार होने पर भी एक को भावात्मक मानना और दूसरे को अभावात्मक मानना इसमे कोई बुद्धिमत्ता नही है। अतः दोनो मे भावत्व का अंगीकार करना चाहिए । भावत्व यहाँ द्रव्यत्वरूप मे अभीष्ट है । अतः उक्त अनुमान प्रमाण से अन्धकारात्मक पक्ष मे द्रव्यत्वस्वरूप साध्य की सिद्धि हो सकती है ।

अन्धकार पृथ्वी नहीं है

ननु तम इति । यहाँ यह शंका हो सकती है –> ''अन्धकार मे नील रूप का स्वीकार करने पर अन्धकार पृथ्वीस्वरूप ही होगा, क्योकि पृथ्वी को छोडकर अन्य किसी द्रव्य मे नील रूप नही रहता है'' <– तो यह ठीक नही है, क्योकि अन्धकार को पृथ्वी मानने पर पाक से उससे रूप की परावृत्ति होनी चाहिए । मगर अन्धकार के नील रूप की परावृत्ति नही होती हे । अतः रूपपरावृत्तिप्रयोजक पृथ्वीत्व का तम मे स्वीकार नही किया जा सकता । यह ठीक उसी तरह उपपन्न हो सकता है जेसे तैजस द्रव्य मे पृथ्वीत्व का अभाव । स्फटिक, मणि आदि द्रव्य के रूप मे पाक से भी रूप का परावर्तन

प्रयोजकपृथिवीत्वाभावस्य तेजसीव तमस्यपि तवाऽपि दुरपह्नवत्वात् ।

नन्वेव नीलसमवायिकारणतावच्छेदकपृथिवीत्वाभाववति तमसि नीलमाकस्मिकं स्यादिति चेत् ? न, उभयसाधारणजातिविशेषस्यैव नीलसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात्, विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शस्येव विजातीयनीलस्यैव पृथिवीत्वं जनकतावच्छेदकमित्यप्याहुः ।

❀ जयलता ❀

तवापि = नैयायिकस्यापि । लघुस्याद्वादरहस्ये चात्र 'दाहप्रयोजकपृथिवीत्वाभावस्य जले इव तमस्यपि तवानपलपनीयत्वात्' (ल स्या रह पृ १८) इत्येव पाठ प्रकरणकारेण लिखित ।

ननु सुवर्णवत्तमसि पृथिवीत्वाऽभावोपगमे स्वर्णरूपवत् तमोरूपमप्यौपाधिक स्यात् । **एतेन** कालिन्दीसलिलस्येव तमस कालिमा न परोपधानात्, अनुपहितस्य कदाचिदपि स्वाभाविकरूपान्तशालिन तमसोऽनुपलब्धे , क्षेत्रसमुद्धृतस्येव कालिन्दीवारिण स्वाभाविकस्वच्छधवलस्येति **प्रत्युक्तम्**, स्वर्णपीतरूपस्याऽपि तद्वदेव निरुपाधिकत्वापत्ते , तमस्यपि शुक्लेतररूपस्याऽऽकस्मिकत्वापत्तेश्चेत्याशयेन कश्चिच्छङ्कते - **नन्विति** । **नीलमाकस्मिक स्यादिति**, नीलत्वावच्छिन्न प्रति पृथिवीत्वेन हेतुत्वात्तच्छून्ये तमसि नीलरूपोत्पादात्तदाकस्मिकत्व प्रसज्येति शङ्काशय ।

तमपाकुर्वन्ति - **नेति** । **उभयसाधारणजातिविशेषस्यैवेति** । पृथिवीतम साधारणवैजात्यस्येति । एवकारेण पृथिवीमात्रवृत्तिजातिव्यवच्छेद कृत । **नीलसमवायिकारणतावच्छेदकत्वादिति** । समवायसम्बन्धावच्छिन्न-नीलत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकधर्मत्वादिति । ततश्च तमोनीलरूपोत्पत्ते स्वसमवायिकारणतावच्छेदकावच्छिन्नसमवधानकालीनत्वान्नाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्ग , तमस्यपि तत्समवायिकारणतावच्छेदकजातेरङ्गीकारात् । 'तर्हि पृथिवीत्व कस्य कारणतावच्छेदक स्यात् ? इत्याशङ्काया व्याचक्षते - **विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शस्येवेति** । वायुव्यावृत्तानुष्णाशीतस्पर्शस्येव, **विजातीयनीलस्यैव** = तमोव्यावृत्तनीलरूपस्य, एवकारेणोभयसाधारणनीलरूपव्यवच्छेद कृत , **पृथिवीत्व जनकतावच्छेदक** = समवायिकारणतावच्छेदकम् । नीलविशेषे एव पृथिवीतमसो समवायिकारणत्व, अनुष्णाशीतस्पर्शविशेष इव वायुपृथिव्यो , अन्यथाऽनुष्णाशीतस्पर्शत्वावच्छिन्न प्रति पृथिवीत्वेन समवायिकारणत्वादनुष्णाशीतस्पर्शवतो वायो पृथिवीत्वापत्ते । आहुरिति । **वाचस्पतिमिश्रादय** इति शेष । तदुक्त **न्यायकणिकाया** —> 'नापि पार्थिव तम , तद्गुणाना गन्धादीनामभावात् । 'ननु तथैव गन्धादिव्याप्त कृष्णमपि रूप तन्निवृत्तावसदित्युक्तम्' । 'तत्कि पवनेऽनुष्णाशीतस्पर्शोऽसन्नेव ? गन्धादिव्याप्तस्य तस्य पृथिव्यामुपलब्धे , पवने च तेषामभावात्' । 'पाकजस्य स्पर्शस्य गन्धादिव्याप्तत्वम्, अयन्त्वपाकज स्पर्शो वायवीय' इति चेत् ? न, इहापि साम्यात् । न हि तमसोऽपि कालिमा पाकज । प्रत्यक्षश्चोभयत्राऽपि समानम् । तम परमाणवश्च पार्थिवादिपरमाणव इव द्व्यणुकादिक्रमेण महान्त तमोऽवयविन पार्थिवमारभन्ते । तच्च रूपविशेषे सत्यनेकद्रव्यत्वान्महत्त्वाद्वा चाक्षुषमिति न तदुत्पत्त्यनवक्लृप्ति । न च तस्य दिवाऽऽरम्भसम्भव शाश्वितकविरोधे सति तेजसि । न जातु स्पर्शवद्वेगवन्मुद्गरादिघाते परिपथिनि कुम्भारम्भाय भवन्ति मृदवयवा बिभ्रति वा कुम्भमारब्धमिति । अत एव हि दिवाऽपि निरस्ततमसि गिरिगुहायामारभन्त एव' (न्या क पृ ५५) इत्यादि ।

नही होने से नैयायिक विद्वान उसमे पृथ्वीत्व जाति का अभ्युपगम नही करते है उसी तरह अन्धकार मे भी रूप का परावर्तन नही होने से पृथ्वीत्व के अभाव का नैयायिक महाशय अपलाप नही कर सकते ।

नन्वेव इति । यहाँ यह शका हो कि —> 'अन्धकार मे नील रूप का इकरार और पृथ्वीत्व जाति का इन्कार करने पर वहाँ नील रूप की उत्पत्ति आकस्मिक हो जायेगी, क्योकि नीलरूपत्वावच्छिन्न के प्रति पृथ्वीत्व जाति समवायिकारणतावच्छेदक है ओर अन्धकार मे पृथ्वीत्व न होने पर नील रूप की उत्पत्ति का आप स्वीकार करते है । स्वसमवायिकारणतावच्छेदक धर्म से शून्य मे समवेत कार्य का उत्पन्न होना ही उसकी आकस्मिकता है । वैसा मानने पर तो पृथ्वीत्वशून्य अन्धकार की भाँति जलादि द्रव्य मे भी नील रूप की उत्पत्ति होन लगेगी' <— तो यह भी नामुनासिव है, क्योकि नील रूप का समवायिकारणतावच्छेदक पृथ्वीत्व नही है, किन्तु अन्धकार ओर पृथ्वी उभय मे रहनेवाली जातिविशेष ही है । वह जातिविशेष तो अन्धकार मे भी रहती हे, इसलिए वहाँ नील रूप की उत्पत्ति हो तो भी कोई-दोष नही है । स्वसमवायिकारणतावच्छेदकावच्छिन्न मे ही नील रूप की उत्पत्ति होने से अन्धकारनीलरूप मे आकस्मिकता का अवकाश नही है । दूसरी वात यह भी है कि

अवयवनीलादिनैवाऽवयविनीलोपपत्तौ पृथिवीत्वेन न तत्समवायिकारणत्वम्, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवनीलादिमति रूपादौ नीलानुत्पत्तिस्तु जन्यसन्मात्रसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेवेति तवैकदेशिनाऽपि स्वीकाराच्च ।

जयलता

यच्चोक्तं 'स्वर्णपीतरूपस्यापि तद्वदेव निरुपाधिकत्वापत्तेरि'ति तत्तथैव, स्वर्णस्य स्वनये पृथिवीत्वस्यैवाऽङ्गीकारात् । न चैवमत्यन्तानलसयोगेन तद्रूपपरावृत्तिप्रसङ्गो दुर्निवार इति वाच्यम्, वज्रवत् स्वर्णादेरपि रूपाऽपरावृत्तावपि पृथितवीत्वस्य प्रतिक्षेपाऽयोगात् । तस्य तैजसत्वे तु कदाचिद् भास्वरशुक्लरूपोपलम्भप्रसङ्गात् । न च तस्य पृथिवीत्वे गन्धवत्त्वप्रसङ्गो बाधक , अनुत्कटत्वेनाऽपि तदुपपत्तेरिति दिक् ।

युक्त्यन्तरेण तमस पृथिवीत्वमपाकरोति - **अवयवनीलादिनैवेति** । एवकारेण पृथिवीत्वविशिष्टावयवनीलादिव्यवच्छेद कृत । **अवयविनीलोत्पत्तौ** = अवयविनीलाद्युपपत्तिसम्भावनाया, **पृथिवीत्वेन** रूपेण **न तत्समवायिकारणत्व** = अवयविनीलादिसमवायिकारणत्वम् । समवायेनाऽवयविनि नीलादिरूप प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवनीलादे कारणत्वेनावयविनीलोत्पादनिर्वाहे तादात्म्येन पृथिवीत्वेन पृथिव्या समवायिकारणत्वाऽकल्पनात् ।

ननु अवयवनीलरूप यथा स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयविनि वर्तते तथा स्वस्मिन्नपि वर्तते स्वस्य = अवयवनीलरूपस्य समवायिनि = अवयवेऽवयविन इव स्वस्याऽपि समवेतत्वाऽविशेषात् । ततश्चाऽवयविनीवाऽवयवनीलरूपेऽपि नीलरूपोत्पत्ति प्रसज्येत । तदपाकरणाय समवायेन नीलरूप प्रति तादात्म्येन पृथिव्या समवायिकारणत्वस्याऽऽवश्यकत्वादित्याशङ्कापराकरणायाऽऽह-**स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेने** । स्वपदेनाऽवयवनीलादिग्रहणम् । **अवयवनीलादिमति रूपादौ** = अवयवनीलादौ. **नीलानुत्पत्तिः** = नीलादिरूपाद्यनुत्पाद **तु जन्यसन्मात्रसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेवेति** । समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नसमवायिकारणतावच्छेदकधर्मस्य द्रव्यत्वस्य विरहादेव, उपपद्य इति शेष । अवयवनीलरूपस्य स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन स्वस्मिन् सत्त्वेऽपि समवायिकारणतावच्छेदकताच्छेदकीभूतसमवायसम्बन्धेन जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्ननिरूपितसमवायिकारणतावच्छेदकस्य द्रव्यत्वस्य विरहादेव तत्र नीलरूप नोपजायते, समवायेन जन्यभावमात्र प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य समवायिकारणत्वात् । **एतेना**ऽवयवनीलादिनैवाऽवयविनीलाद्युत्पत्तिकल्पने जन्यभावमात्रस्य ससमवायिकारणत्वनियमो व्याहन्येतेत्यपि **परास्तम्** । **तवैकदेशिना** = नैयायिकैकदेशीयेन, **अपि स्वीकाराच्चेति** । ततश्चाऽन्धकारावयवनीलरूपादेवाऽवयवितमोनीलरूपोत्वादसम्भवे तमसि पृथिवीत्व-

जन्य पृथ्वी और वायु दोनो मे अनुष्ण अशीत स्पर्श उत्पन्न होता हे फिर भी अनुष्ण अशीत स्पर्श का समवायिकारणतावच्छेदक न तो पृथ्वीत्व है न तो वायुत्व है, किन्तु विजातीय (=पाकज) अनुष्ण अशीत स्पर्श का ही समवायिकारणतावच्छेदक पृथ्वीत्व हे । ठीक वेसे ही विजातीय नील रूप का ही पृथ्वीत्व समवायिकारणतावच्छेदक हे ओर विजातीय नील रूप का तमस्त्व समवायिकारणतावच्छेदक है । अतः अन्धकार मे तमस्त्वावच्छिन्नकारणतानिरूपित कार्यता वाले विजातीय नील रूप की उत्पत्ति होने मे कोई दोष नही है - ऐसा भी अनेक विद्वानो का कथन है ।

⋘ पृथ्वीत्वरूप से नीलकारणता अनावश्यक - नैयायिक एकदेशीय ⋘

अवयवनी इति । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि अवयवी मे नीलरूप की उत्पत्ति अवयव के नील रूप से ही मुमकिन हे, तो फिर पृथ्वीत्वेन रूपेण नीलसमवायिकारणता की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ? कपाल मे नील रूप है वही स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से अवयवी घट मे नील रूप को उत्पन्न करेगा । स्व = कपालनीलरूप, उसका समवायी = कपाल, उसमे समवेत है घट । अतः स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से कपालनीलरूप घट मे रहेगा ओर वहाँ समवाय सम्बन्ध से नील रूप उत्पन्न होगा । इस तरह कार्य-कारणभाव मुमकिन होने से पृथ्वीत्व को नीलरूपसमवायिकारणतावच्छेदक मानने की कोई जरुरत नही है । हाँ यह शका हो सकती है कि —> 'कपालादि अवयव का नील रूप जसे स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध से घट मे रहता हे, ठीक वेसे ही अपने मे भी उसी सम्बन्ध से रह सकता है, क्योकि स्व = पालादि का नील रूप, उसका समवायी कपालादि, उसमे घट की भॉति कपालादिनीलरूप भी समवेत है । अतः घट की भाँति कपालादिनीलरूप मे भी रूप की उत्पत्ति होने लगेगी । इसके निराकरणार्थ पृथ्वीत्व को नील रूप का समवायिकारण-

१ जन्यसत्ताया मामानाधिकरण्यन जन्यत्वविशिष्टसत्तारूपत्वात्, विशिष्टस्य च जातित्वाऽसम्भवादित्यमुक्तम् ।

एवञ्च 'नात्रालोक. किन्त्वन्धकार' इति व्यवहारोऽपि समर्थित: । न ह्ययं 'नात्र घट. किन्तु तदभाव' इतिवत् समर्थयितुं शक्यते 'नात्रालेक. किन्त्वन्धकारतदभावावि'ति व्यवहारान्तरस्यापि दर्शनात् ।

जयलता

कल्पनाया अनावश्यकत्वात्, तम परमाणुनीलरूपस्य नित्यत्वादेव न तत्र कारणगवेषणम् । ततश्च तमोद्रव्यस्य नीलरूपवत्त्वेऽपि नैयायिकैकदेशिमतानुसारेणाऽपि न पृथिवीत्वप्रसङ्ग इति निष्कर्ष ।

अथ नीलजनकविजातीयतेज सयोगस्य जलादावपि सम्भवात् तत्र नीलानुत्पत्तये नीलत्वावच्छिन्न प्रति पृथिवीत्वेन समवायिकारणत्वमावश्यकमिति चेत् ? न, तथापि उपस्थितविजातीयनीलत्वावच्छिन्न प्रत्येव तद्धेतुत्वौचित्यात् । न च विजातीयनीलत्वावच्छिन्न प्रति पृथिव्या समवायिकारणत्वावश्यकत्वे नीलत्वावच्छिन्न प्रत्येव तद्धेतुत्वमस्त्विति **वक्तव्यम्**, व्यापकधर्मस्य व्याप्यधर्मेणाऽन्यथासिद्धे , इतरथाऽनुत्पाद्येऽपि तत्कार्यत्वकल्पनाप्रसङ्गात् । मम तु स्वभावविशेषस्यैव नीलनियामकत्वादिति दिक् ।

एवञ्चेति । तमस आलोकाभावभिन्नत्वे चेति । **'नात्रालोकः किन्त्वन्धकार' इति व्यवहारः** = शब्दप्रयोग अपिशब्देन तादृशबोध सङ्गृहीत , **समर्थितः** स्यात्, अन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्गेन तादृशप्रयोगानुपपत्ते 'नालोक' इत्यनेनैवोक्तस्यान्धकारस्य पुन 'अन्धकार'पदेन प्रतिपादनात् । **न च** 'नात्र घट किन्तु तदभाव' इति व्यवहारवत् 'नात्रालोक किन्तु तम' इतिव्यवहारस्य विवरणपरतयोपपत्ति सम्भवतीति **वक्तव्यम्**, तादृगविवरणपरता विनाऽपि स्वारसिकतादृशप्रयोगदर्शनात् । अत्रैव दोषान्तरमाविष्करोति - **न हीति** । अग्रे 'समर्थयितु शक्यत' इत्यनेनाऽस्याऽन्वय । अय = 'नात्राऽलोक किन्त्वन्धकार' इति व्यवहार , **'नात्र घटः किन्तु तदभावः' इतिवत्** = इतिप्रयोगवत्, विवरणपरतया **समर्थयितु शक्यते** । हेतुमाह - **'नात्राऽऽलोकः किन्त्वन्धकारतदभावावि'ति व्यवहारान्तरस्यापि दर्शनात्** । अन्धकारस्याऽऽलोकाभावत्वे 'अन्धकारतदभावौ' 'आलोकाभावान्धकारौ' इति द्वन्द्वसमासो न स्यात्, भिन्नपदार्थवाचकयोरेवेतरेतरद्वन्द्वसम्भवात्, आलोकाभावान्धकार-

तावच्छेदक मानना जरुरी हे' <— तो यह भी नामुनासिव है । इसका कारण यह है कि जन्य भावमात्र के प्रति तादात्म्यसम्वन्ध से द्रव्य समवायिकारण है । कपालादि अवयव के नील रूप के जंन्यभाव का समवायिकारणतावच्छेदक द्रव्यत्व नही होने से उसमे समवाय सम्वन्ध से नीलरूप की उत्पत्ति का अवकाश नही है । यह तो नेयायिक एकदेशी विद्वानो को भी मान्य हे। अतः इसी रीति से भी अन्धकार को पृथ्वी मानने की आवश्यकता नही है । अन्धकार के अवयव के नील रूप से ही अवयवी अन्धकार मे नील रूप की उत्पत्ति हो सकती है, क्योकि अवयवी तम मे स्वसमवायिसमवेतत्वसम्वन्ध से अन्धकारावयवनील रूप रहता हे ओर अवयवी अन्धकार मे जन्यभावमात्र का समवायिकारणतावच्छेदक द्रव्यत्व भी रहता है । अतः नील रूप होने से ही अन्धकार अवयविद्रव्य को पृथ्वी मानने की आवश्यकता नही हे । यह फलित होता है ।

❋ व्यवहारविशेष से अन्धकार में आलोकाभावविभिन्नत्व की सिद्धि ❋

एवञ्च इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने पर 'यहॉ आलोक नही है, किन्तु अन्धकार है' यह व्यवहार भी अनुपपन्न हो जायेगा । 'आलोक नही है' इससे ही आलोकाभावात्मक अन्धकार की सिद्धि होने से पुनः आगे 'किन्तु अन्धकार है' यह कहने की जरूरत नही है, क्योकि तव पुनरुक्ति दोप प्रसक्त होता है । उक्त व्यवहार से ही आलोकाभाव से भिन्न अन्धकार की सिद्धि होती है । यहॉ यह कहा जाय कि —> ''जैसे लोक मे यह व्यवहार होता है कि 'यहॉ घट नही हे, किन्तु घट का अभाव है' यहॉ पूर्वोत्तर अश मे पुनरुक्ति दोप नही है, क्योकि 'घट का अभाव हे' यह अश 'घट नही है' इस पूर्व भाग का विवरणपरक हे । ठीक वैसे ही 'यहाँ आलोक नही हे, किन्तु अन्धकार है' इस व्यवहार मे भी उत्तर भाग से पूर्व भाग का विवरण अभिप्रेत है । अतः पुनरुक्ति दोप का अवकाश नही हे'' <— तो यह कथन भी अयुक्त है क्योकि विवरणपरक मान कर उक्त व्यवहार का समर्थन करने पर भी 'यहॉ आलोक नही हे, किन्तु अन्धकार ओर आलोकाभाव हे' इस व्यवहार की उपपत्ति नही हो सकती ह । इसका कारण यह हे कि 'अन्धकारतदभावो' = 'अन्धकारालोकाभावौ' इत्याकारक द्वन्द्व समास भिन्न पदार्थ के वाचक अनेक पद मे ही हो सकता है । जो पदार्थ अभिन्न होते हे, उनके वाचक पद मे कभी भी इतरेतर द्वन्द्व समास नही होता है - किन्तु एकशेप समास होता हे अतः अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने पर 'नात्रालोकः किन्तु आलोकाभावान्धकारौ'

यत्तु अन्धकारस्यालोकाभावत्वे 'अन्धकारे नालोक' इति प्रयोगो न स्यादिति केनचिदुक्त तत्तु मोघम्, 'घटाभावे घटो नास्ती'तिवत् तदुपपत्ते. । एव सति 'अन्धकारेऽन्धकार' इति प्रयोगपत्तिस्तु स्यादेव । न ह्यन्धकारत्वमालोकाभावत्वादिदानीमतिरिक्तमायुष्मन्त सङ्गिरन्ते ।

❀ जयलता ❀

योरनतिरिक्तत्वे 'आलाकाभावान्धकारौ' इत्यम द्विवचनानुपपत्ते , अपकृष्टालोकसत्त्वेऽपि च तमोव्यवहारात् । न चात एव 'उत्कृष्टालोकाभावोऽन्धकार इति वाच्यम्, तदुत्कर्षप्रतियोग्यपकर्षशालितयैव तमसि द्रव्यत्वसिद्धेरुक्तत्वात् ।

यत्त्विति । अस्य 'तत्तु मोघमि'त्यनेनाऽन्वय॰ । **अन्धकारस्य** = अन्धकारपदप्रतिपाद्यस्य, **आलोकाभावत्वे** = महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकाभावत्वाभ्युपगमे, **'अन्धकारे नाऽऽलोक' इति प्रयोगः न स्यात्**, आधाराधेयभावस्य भेदव्याप्यत्वात्, भेदव्यावृत्तौ तद्व्याप्यस्याऽसम्भवात्, अन्यथा 'विन्ध्याचले विन्ध्याचल' इत्यस्यापि प्रसङ्गात् । ततश्चोपदर्शितप्रसिद्धाधारधेयभावान्यथानुपपत्त्या तमस तादृशालोकाभावभिन्नत्वमभ्युपेयम् । प्रयोगस्त्वेवम् आलोकाभावान्धकारौ भिन्नौ परस्पराधाराधेयभावप्रतीतिविषयत्वात् घटभूतलवदित्याशय ।

नैयायिक प्रत्युक्तवचन न बाधकमित्याशयेन प्रकरणकृदाह - **तत्तु मोघमिति** । **'घटाभावे घटा नास्ती'तिवत्, तदुपपत्तेः** = 'अन्धकारे नालोक' इतिप्रयोगनिर्वाहात् । अभावाधिकरणकाभावस्य लाघवादधिकरणात्मकत्वेऽपि यथा 'घटाभावे घटो नास्ती'तिप्रयोग तादृशबोधश्चाभ्युपगम्यते तद्वदेवान्धकारस्याऽऽलोकाभावत्वेऽभावाधिकरणकाभावस्य चाधिकरणस्वरूपत्वेऽपि 'अन्धकारे नालोक' इतिव्यवहार आधाराधेयभावावगाहितादृशबोधश्चोपपत्स्येते इति नैयायिकेन वक्तु युज्यत इति नाय पर्यनुयोगार्ह इति भाव ।

तर्हि कीदृशी आपत्तिरालोकाभावन्धकारवादिमते सभवेदित्याशङ्काया प्रकरणकार प्राह - **एव सति** = अभावाधिकरणकाभावस्याऽभावात्मकत्वेऽपि तत्राऽऽधाराधेयभावाभ्युपगमे सति, **'अन्धकारेऽन्धकारः' इतिप्रयोगापत्तिः तु स्यादेव** । कथ ? इत्याशङ्कायामाह - **न हीति** । 'अन्धकारे नालोक' इत्यत्रोत्तरभागेन प्रतिपाद्यादालोकाभावादन्धकारस्याऽभिन्नत्वात् परमते 'नालोक' इत्यत्र स्थाने अन्धकारपदनिवेशेऽर्थभेदाभावात् 'अन्धकारेऽन्धकार' इतिपदप्रयोगप्रसङ्गो दुर्वार इति भाव ।

इस व्यवहार की विवरणपरतया उपपत्ति नही हो सकती । अतः उक्त प्रसिद्ध व्यवहार के बल से अन्धकार को आलोकाभाव से भिन्न मानना आवश्यक है, यह फलित होता है ।

यत्तु इति । आलोकाभावात्मक अन्धकार का स्वीकार करने वाले नैयायिक आदि मनीपियो के खिलाफ अन्धकार को द्रव्यात्मक मानने वाले कतिपय विद्वानो का यह आक्षेप है कि –> ''अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने पर 'अन्धकार मे आलोक नही है' यह प्रयोग नही हो सकेगा, क्योकि अन्धकारपदका अर्थ आलोकाभाव ही होने से वहाँ आलोकाभाव = अन्धकार का आदेयविधया भान नही हो सकता । अभिन्न पदार्थ मे आधार-आधेयभाव की प्रतीति नही होती है । अतः 'अन्धकारे नालोक.' इस व्यवहार से अन्धकार और आलोकाभाव मे भेद की सिद्धि होती है' <– किन्तु यह आक्षेप निष्फल है, क्योकि 'घटाभावे न घट॰' इस व्यवहार की भाँति उक्त शाब्द व्यवहार का उपपादन हो सकता है । आशय यह हे कि घटाभाव मे रहने वाला घटाभाव लाघव सहकार से घटाभावस्वरूप ही है, उससे भिन्न नही हे । फिर भी 'घटाभाव मे घट हे या नही ?' इस प्रश्न के उत्तररूप मे 'घटाभाव मे घट नही है' ऐसा कहा जाता है । आधार और आधेय मे अभेद होने पर भी यहाँ आदार-आदेयभाव का व्यवहार एव ज्ञान होता है ठीक वैसे ही अन्धकार और आलोकाभाव मे अभेद होने पर भी 'अन्धकारे न आलोकः' इत्याकारक व्यवहार एव प्रतीति का समर्थन नैयायिक आदि विद्वानो की ओर से किया जा सकता है । अतः अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने मे उक्त आक्षेप नामुनासिब है । हाँ, नैयायिक आदि के प्रति यह आपत्ति दी जा सकती है कि –> 'आलोकाभावस्वरूप अन्धकार मानने पर 'अन्धकार मे अन्धकार है' यह प्रयोग दुर्वार होगा, क्योकि 'घटाभावे घटाभावः' यह प्रयागे नेयायिकामतानुसार आधार-आधेय मे अभेद होने पर भी होता है वैसे 'अन्धकारे अन्धकार ' यह प्रयोग भी होना चाहिए, क्योकि अन्धकार तो उसके मतानुसार आलोकाभावस्वरूप अनिष्ट आपत्ति का उद्भावन करना चाहिए । यही परवादी के अप्रामाणिक तत्त्व का खण्डन करने की प्रसिद्ध-प्रामाणिक पद्धति है <–

परमत में 'अन्धकारे नालोकः' प्रतीति के भ्रमत्व का प्रसंग

अथैतादृशसमभिव्याहारस्य शाब्दबोधाजनकत्वान्नेयमापत्तिः, जायमानप्रतीतेः प्रमात्वं त्वभिमतमेवेति चेत् ? तथापि 'अन्धकारे नान्धकार' इति प्रतीतेर्भ्रमत्वं स्यात् ।

❀ जयलता ❀

पर शङ्कते - **अथेति** । 'चेदि'त्यनेनास्यान्वय । **एतादृशसमभिव्याहारस्य** = सप्तम्यन्तान्धकारपदाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टप्रथमान्तान्धकारपदत्वलक्षणस्य प्रथमान्तान्धकारपदाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टसप्तम्यन्तान्धकारपदत्वस्वरूपस्य समभिव्याहारस्य, **शाब्दबोधाऽजनकत्वात्** = अव्युत्पन्नत्वात्, **न इयमापत्तिः** = 'अन्धकारेऽन्धकार' इति व्यवहारपत्ति । न ह्यव्युत्पन्न प्रयुञ्जन्ते प्रामाणिका । 'तथापि केनचित्तथाप्रयोगे कृते कि तादृशाराधारधेयभावप्रतीतिर्नैवोपजायते यदुत तादृशप्रतीतेर्जायमानत्वेऽप्यप्रमात्वमिति विमलदलसमयिकल्पयुगली समुन्मिलति । आद्ये बाध , तथाविधव्युत्पत्तिविकलाना बालाना ततो जायमानाया प्रतीतेरानुभविकत्वात् । नाऽपि द्वितीय , तदभाववति तत्प्रकारकत्वानवगाहित्वात्, अन्यथा 'अन्धकारे नालोक' इतिप्रयोगाज्जायमानप्रतीतेरप्यप्रमात्वप्रसङ्गादित्याशङ्काया पर आह - **जायमानप्रतीतेः** = 'अन्धकारेऽन्धकार' इति प्रयोगाद्बालाना जायमानाया प्रतीते , **प्रमात्व** = तद्वति तत्प्रकारकत्व, **तु अभिमतमेवेति** ।

प्रकरणकारोऽभ्युपगम्य दोषान्तरमाह - **तथापीति** । उपदर्शितसमभिव्याहारस्याऽव्युत्पन्नत्वेऽपि, **'अन्धकारे नान्धकार' इति प्रतीतेः भ्रमत्व स्यादिति** । 'अन्धकारे नान्धकार ' इति शब्दप्रयोगस्योपदर्शितसमभिव्याहारशून्यत्वेन व्युत्पन्नत्व, नञ्पदोपसन्दानात् । ततश्च 'अन्धकारवृत्ति अन्धकाराभाव' इतिप्रतीतिर्भवितुमर्हति । यद्यपि सयोगेन जलमिव घटो घटवृत्ति सम्भवति परमन्धकारे सयोगेनाऽन्धकारो न वर्तते । अत एव प्रयुञ्जन्ते लौकिका अपि 'अन्धकारे नान्धकार.' । परन्तु नैयायिकमते अन्धकारमुद्दिश्याऽन्धकाराभावविधानस्य न प्रमात्व सम्भवति, अन्धकारस्याऽऽलोकाभावरूपत्वेन तदभावस्याऽऽलोकात्मकत्वात्, अभावे च सयोगेन द्रव्यस्याऽसम्भवात् । ततश्चालोकाभावलक्षणेऽन्धकारे आलोकात्मकस्यान्धकाराभावस्यावगाहित्वेनोपदर्शितप्रतीतेर्नैयायिकमतानुसारेण तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकत्वादप्रमात्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम् । **न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्**, स्वारसिकसार्वलौकिकप्रतीतेर्भ्रमत्वकल्पनाऽयोगात्, अन्यथा शून्यवादि विजयेततराम् ।

किञ्च, आलोकप्रतियोगिकाभावमात्र न तमोव्यवहारविषय , एकालोकवत्यप्यालोकान्तराभावात् । न वालोकसामान्याभाव तथा, असम्भवात् । न च महदुद्भूतानाभिभूतरूपवदालोकसामान्याभावस्य तथात्वम्, आलोकवत्यपि सम्बन्धान्तरेण तदभावात् । न च सयोगसम्बन्धावच्छिन्नतदभाव तथा, आलोकेऽपि तत्सत्त्वात् । न चालोकान्यवृत्तित्वविशिष्टतदभावस्य तत्त्व, अन्धकारेऽन्धकारापत्ते । न चालोकान्यद्रव्यवृत्तित्वविशिष्ट स तथेति **वक्तव्यम्**, त्वदात्मन्यपि तत्प्रसङ्गात् । **एतेन**

अथैता इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह बचाव किया जाय कि —> ''अन्धकार को आलोकाभावात्मक मानने पर भी 'अन्धकारे अन्धकारः' इत्याकारक वाक्यप्रयोग की आपत्ति हमारे मत मे अप्रसक्त है, क्योकि सप्तमी विभक्ति वाले अन्धकार पद की अव्यवहितोत्तर मे प्रथमान्त विभिक्त वाला अन्धकारपदत्व या प्रथमान्त विभक्ति वाले अन्धकारपद की अव्यवहित पूर्व मे सप्तमी विभक्ति वाला अन्धकारपदत्व स्वरूप समभिव्यवहार शाब्द बोध का जनक नही है । शाब्दवोधाऽजनक समभिव्यवहार से घटित वाक्य का विद्वान लोग प्रयोग नही करते है । इसलिए 'अन्धकारे अन्धकारः' इत्याकारक वाक्यप्रयोग का आपादन करना असगत है । हाँ, कोई अज्ञ पुरुप 'अन्धकारे अन्धकारः' इस वाक्य का अनजान मे प्रयोग कर बैठे तव उस वाक्य से होने वाला जो शाब्द बोध है, वह तो प्रमात्मक ही है, क्योकि आलोकाभावरूप अन्धकार मे आलोक का अभाव रहता हे ही, जो प्रथमान्त अन्धकारपद का यहाँ प्रतिपाद्य हे । अन्धकार मे विद्यमान आलोकाभाव का अवगाहन करने से उक्त प्रतीति को भ्रम तो कैसे माना जाय ? इसलिए आलोकाभावस्वरूप अन्धकार के स्वीकार मे कोई दोप नही है'' <— तो यह नैयायिककथन भी अयुक्त है, क्योकि उपदर्शित समभिव्यवहार से घटित वाक्य तो शाब्दबोध का जनक होगा ही, क्योकि यहाँ सप्तमी विभक्ति वाले अन्धकारपद की अव्यवहित उत्तर मे प्रथमान्त अन्धकारपद नही है, किन्तु 'न' अव्ययपद है । अतः उपदर्शित शाब्दबोधाऽजनक समभिव्याहार से अघटित होने के सवव 'अन्धकारे नान्धकारः' इस वाक्य को शाब्दबोध का जनक मानना होगा । लोक भी उपर्युक्त वाक्य का विना किसी हिचकिचाहट के प्रयोग करते हे । अतएव वह वाक्य प्रमाण भी है । अतः उससे होने वाली शाब्दी प्रतीति भी प्रमात्मक ही है । मगर नैयायिकमतानुसार उस वाक्य से होने वाली प्रतीति भ्रमात्मक हो जायेगी । इसका कारण यह है कि नैयायिकमतानुसार अन्धकार आलोकाभावात्मक हे और अभाव मे कभी भी सयोग सम्बन्ध से द्रव्य नही रहता हे । सयोग सम्बन्ध से द्रव्य का अधिकरण द्रव्य ही होता है । उक्त वाक्य के उत्तरार्ध 'नान्धकारः' का अर्थ है आलोकाभाव का अभाव । अभावप्रतियोगिक अभाव प्रथमाभाव के प्रतियोगिस्वरूप होने

'अभावचाक्षुषमात्र प्रति आलोकाधिकरणसन्निकर्षस्य हेतुत्वादालोकं विना वीक्ष्यमाणस्य तमसो नाऽभावत्वमि'ति वचनीयं तु न वचनीयम्, आलोकसत्त्वे प्रतियागिसत्त्वविराधिन्या आलोकाभावग्राहकानुपलब्धेरेवाभावात्, आलोकाधिकरणसन्निकर्षस्य प्रत्युत तद्ग्रहपरिपन्थित्वात् ।

❀ जयलता ❀

'सयोगाद्यन्यतमसम्वन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तादृशालोकाभाव एक एव, अन्धकारत्वञ्च भाववृत्तित्वविशिष्टालोकाभावत्वम्, तेन न 'अन्धकारेऽन्धकार' इति प्रयोगापत्ति , न वा 'अन्धकारे नान्धकार' इतिप्रतीतेर्भ्रमत्वम्' इत्यपि प्रत्युक्तम् । न च कदाचिदालोकससर्गवद्वृत्तित्वविशिष्ट स तथेति वक्तव्यम्, यत्र कदाप्यालोकसयोगो नास्ति तत्रापि घोरनरकादादै तच्छ्रवणात्, अवतमसे यावदालोकाभावविरहाच्च । किञ्चैतादृशघटकाप्रतिसन्धानेऽपि तमस्त्वप्रतिसन्धानात् घटत्ववत् जातिरूपमेवैतद् न्याय्यमिति तात्पर्यम् ।

अभावचाक्षुपमात्र = अभावविपयकचाक्षुपप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न **प्रति आलोकाधिकरणसन्निकर्पस्य** = आलोकेन सहाभावाधिकरणससर्गास्य, **हेतुत्वात्, आलोक विना वीक्ष्यमाणस्य तमसो नाभावत्वमिति** । अन्धकारस्यालोकाभावत्वे आलोकसयोगावच्छेदकावच्छिन्नान्धकाराधिकरणचक्षु सन्निकर्षमृते तच्चाक्षुप न स्यात् । न चैवमस्तीति तमसो नालोकाभावात्मकत्व सम्भवतीति **वचनीय** = गर्हणीय **तु न वचनीय** = वक्तव्यम् । अत्र हेतुमाह - **आलोकसत्त्वे** = अन्धकारप्रतियोगिसत्त्वे, **प्रतियोगिसत्त्वविरोधिन्या** = प्रतियोगिन सत्त्व विरोधि यस्या सा तस्या , कस्या ? इत्याह - **आलोकाभावग्राहकानुपलब्धेः** = आलोकाभावस्वरूपाऽन्धकारविपयकग्रहजनिकाया योग्यानुपलब्धे , **एव अभावात्** = विरहात् । प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगित्वरूपाया योग्यानुपलब्धे अभावग्राहकत्वात्, प्रतियोगिसत्त्वे तस्या एव विरहात् नालोकसत्त्वेऽन्धकारस्याऽऽलोकाभावात्मकस्य चाक्षुप सम्भवति, विपयस्यापि स्वगोचरचाक्षुपे हेतुत्वात्, सामान्यसामग्रीममवहिताया एव विशेषसामग्र्या कार्यजनकत्वनियमात् । यदुक्त 'अभावचाक्षुपमात्र प्रत्यालोकाधिकरणसन्निकर्पस्य हेतुत्वादि'ति तत्राह - **आलोकाधिकरणसन्निकर्पस्येति** । प्रकृते आलोकाभावाधिकरणेन सहालोकसन्निकर्षस्य, **प्रत्युत तद्ग्रहपरिपन्थित्वात्** = आलोका-

से आलोकाभावाभाव आलोकात्मक फलित होता है । अतः 'अन्धकारे नान्धकारः' इस वाक्य से होने वाली प्रतीति का आकार नैयायिक के मतानुसार 'लोकाभाववृत्ति· आलोकः' ऐसा होगा । अभाव मे सयोगसम्वन्ध से वस्तुतः द्रव्यमात्र नही रहता है । अतः आलोकशून्य आलोकाभाव मे आलोक का अवगाहन करने से उक्त प्रतीति भ्रमात्मक हो जायेगी । मगर शिष्ट लोक मे तादृश प्रतीति का प्रमात्वेन व्यवहार होता है । अत· नैयायिक के मत्ये पर उपर्युक्त प्रतीति के भ्रमत्व का कलक कथमपि दूर नही हो सकेगा ।

⁑ आलोकसत्ता आलोकाभावज्ञान की विरोधी है ⁑

अभावचा इति । नेयायिक के खिलाफ कतिपय अन्य विद्वानो का यह पर्युनुयोग है कि —> ''अभावविपयक सभी चाक्षुप साक्षात्कार के प्रति आलोक और अभावाधिकरण का सन्निकर्प हेतु है । भूतल मे घटाभाव का चाक्षुप प्रत्यक्ष तभी हो सकता हे, यदि घटाभावाधिकरणीभूत भूतल के साथ आलोक का सम्वन्ध (सयोग) हो । घने अँधेरे मे भूतल मे घटाभाव का चाक्षुप प्रत्यक्ष नही होता है । अतः अन्धकार भी यदि अभावात्मक है, तव तो अन्धकार का चाक्षुप प्रत्यक्ष भी आलोकाभावात्मक अन्धकार के अधिकरणीभूत भूतल के साथ आलोक का ससर्ग नही होने पर नही हो सकता । विना कारण के कार्योत्पाद केसे मुमकिन हो सकता है ? मगर वस्तुस्थिति यह है कि अन्धकार का जव जव चाक्षुप साक्षात्कार होता है, तव तव अन्धकार के अधिकरण मे आलोक का सम्वन्ध नही होता है । आलोक के विना ही अन्धकार का चाक्षुप प्रत्यक्ष होने से अन्धकार को अभावात्मक कैसे माना जा सकता है ?'' <— मगर यह प्रश्न नामुनासिव है । इसका कारण यह कि अभाव के ज्ञान की जनक योग्यानुपलब्धि है । योग्यानुलब्धि का अर्थ यह है कि 'यदि यहाँ प्रतियोगी होता, तो जरुर उपलब्ध = ज्ञात होता' ऐसा आरोप जिस प्रतियोगी मे मुमकिन हो । जैसे घटाभावचाक्षुप के प्रति योग्यानुपलब्धि कारण है, क्योकि भूतलादि मे आलोकादि होने पर 'यदि यहाँ घट होता, तो अवश्य उपलब्ध होता' ऐसा आरोप किया जा सकता है । पिशाच आदि अतीन्द्रिय पदार्थ के अभाव का चाक्षुप प्रत्यक्ष नही होता है, क्योकि 'यदि पिशाच यहाँ होता तो जरुर उपलब्ध होता' ऐसा आरोप नामुमकिन हे । मगर जव घटादि प्रतियोगि विद्यमान होता है, तव योग्यानुपलब्धि नही हो सकती है, क्योकि तव घटादि का ही चाक्षुप हो जाने से 'यदि यहाँ घटादि होता तो जरूर उपलब्ध होता' ऐसा आरोप नही किया जा सकता ।

ननु तमसो द्रव्यत्वे प्रौढालोकमध्ये सर्वतो घनतरावरणे सति तमो न स्यात्, तेजोऽवयवेन तत्र तमोऽवयवानां प्रागनवस्थानात्, सर्वतस्तेजःसङ्कुले चाऽन्यतोऽप्यागमनासम्भवा-

जयलता

भावात्मकान्धकारचाक्षुषविरोधित्वात् । अतो नाभावचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रत्यालोकाधिकरणसन्निकर्षस्य हेतुत्व किन्तु आलोकाभावेतराभावचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रतीति फलितार्थ । ततश्चालोक विना वीक्ष्यमाणस्य तमस आलोकाभावत्वे न किञ्चित् क्षुण्णमिति नैयायिकेन वक्तु शक्यत एवेति न नैयायिक प्रत्युपदर्शिताक्षेप कर्तु युज्यत इति प्रकरणकृदाशय· ।

वर्धमानोपाध्यायमत निराकर्तुमुपदर्शयति - **नन्विति** । **तमसो द्रव्यत्वे** = जन्यद्रव्यत्वे अभ्युपगम्यमाने, **प्रौढालोकमध्ये** = प्रकृष्टालोकसयुक्तदेशमध्ये, **सर्वतो घनतरावरणे** = निविडपिधाने **सति तमो न स्यात्**, कुत ? इत्याह - **तेजोऽवयवेन** सम **तत्र** प्रकृष्टालोकसयुक्तदेशमध्यभागे **तमोऽवयवाना प्रागनवस्थानात्**, तेजोऽवयवाना तमोऽवयवानाञ्च परस्परपरिहारविरोधान्महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकदेशे सर्वत तादृशतेजोऽवयवाना सत्त्वेन तत्रान्धकारावयवानामसम्भवात् तत्र घटादे पराङ्मुखकरणदशाया घटाद्यन्त तमोऽवयव्यारम्भो नैव भवितुमर्हति । न हि सामग्रीमृते कार्योत्पत्ति सम्भवति । 'माऽस्तु प्रकृष्टालोकसयुक्तदेशे प्रागन्धकारावयवानामवस्थान पर घटादे पराङ्मुखकरणदशायामन्यत तमोऽवयवानामागमन भविष्यति । तैरेव तदानीमन्धकारावयव्यारम्भो भवतु कि नश्छिन्न ? इत्याशङ्कायामाह - **सर्वतस्तेजःसङ्कुले** = सर्वतो महदुद्भूतानभिभूतरूपवत्तेजोव्याप्ते च देशमध्ये **अन्यतः** = अन्यदेशात् **अपि आगमनासम्भवात्** । सर्वतो जलसडकीर्णे देशेऽन्यत तेजोऽवयवानामिव सर्वत प्रकृष्टालोकसम्भिन्ने देशेऽन्यस्मादन्धकारावयवानामागमनमसम्भवीति न तदानी तमोऽवयव्यारम्भोऽपि सम्भवी । अत तमसो द्रव्यत्व न कल्पनामर्हतीति **वर्धमानस्य** तात्पर्यम् ।

प्रस्तुत मे आलोकाभाव की ग्राहक (= ज्ञानजनक) योग्यानुपलब्धि भूतलादि मे तव हो सकती है यदि भूतलादि मे आलोक की अनुपस्थिति है । वहाँ आलोक की सत्ता होने पर तो आलोकाभाव की ग्राहक योग्यानुपलब्धि ही नामुनकिन हो जायेगी, क्योकि आलोकात्मक प्रतियोगी की सत्ता होने पर उसीका चाक्षुप हो जाने से 'यदि यहाँ आलोक होता तो, जरुर उपलब्ध होता' ऐसा आरोप ही नही हो सकता है । आलोक की उपस्थिति आलोकाभावग्राहक योग्यानुपलब्धि की विराधी = प्रतिवन्धक है । अतः आलोक का भूतलादि के साथ सम्वन्ध होने पर तो आलोकाभाव का चाक्षुप ही नही हो सकता, क्योकि वह आलोकाभावविपयक ज्ञान का विरोधी है । अतः 'आलोक के विना ही अन्धकार का चाक्षुप होने से उसे आलोकाभावात्मक कैसे माना जा सकता है ?' यह कथन निर्युक्तिक है । अतः उपर्युक्त पर्यनुयोग आलोकाभावात्मकान्धकारवादी नैयायिक के मत मे वाधक हो सकता है ?' यह यहाँ महोपाध्यायजी का तात्पर्य फलित होता है । अन्धकार आलोकाभावात्मक नही है, इस वस्तुस्थिति को अन्य प्रमाण - तर्क आदि से सिद्ध की जा सकती है - यह एक अलग वात है ।

वर्धमान उपाध्याय का मंतव्य

ननु तम इति । नव्य न्याय की नीव डालने वाले गगेश उपाध्याय के सुपुत्र वर्धमान उपाध्याय अन्धकार को जन्यद्रव्यात्मक मानने वाले वादी के खिलाफयह युक्ति वताते है कि –> ''यदि अन्धकार जन्य द्रव्य होता - तव तो मध्याह्न काल मे प्रौढ आलोक वाले देश मे घट, शराव आदि निविड द्रव्य को पराङ्मुख करने के पर उसके भीतर अन्धकार उत्पन्न नही हो सकता, क्योकि प्रकृष्ट आलोक के अवयव के साथ अन्धकार के अवयव एक देश मे नही रह सकता है । प्रकृष्ट आलोक जैसे अन्धकार का विरोधी है, ठीक वैसे ही प्रकृष्ट आलोक के अवयव भी अन्धकार के अवयव के विरोधी होते है । विरोधी होने पर अन्धकार अवयव प्रौढ आलोक से व्याप्त देश मे नही रह सकते है । अतएव वहाँ अन्धकार स्वरूप अवयवी की उत्पत्ति भी नही हो सकती है । विना कारण के कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? यहाँ यह कथन कि <— 'प्रौढ आलोक के मध्य मे निविड आवरण आने पर अन्धकार के परमाणु अन्य स्थान से वहाँ आकर अन्धकारात्मक अवयवी का प्रारम्भ करेगे । अतः पहले से वहाँ अन्धकार के अवयवो की उपस्थिति नही होने पर भी पश्चात् अन्य स्थान से आगत अन्धकार के अवयवो से अवयविस्वरूप अन्धकार का आरम्भ होगा' <— भी इसलिए निराधार है कि भूतलादि अधिकरण चारो ओर से प्रौढ प्रकाश से व्याप्त होने पर अन्य स्थान से भी वहाँ अन्धकार के अवयवो का आगमन नामुमकिन है । प्रवल विरोधी जब तक रहेगा तव तक दुर्वल की उपस्थिति कैसे हो सकती है ? क्या नदी मे अग्नि के अवयव का अवस्थान मुमकिन है ? अतः प्रकृष्ट प्रकाश के मध्य मे घटादि निविड द्रव्य को पराङ्मुख करने पर अन्धकारस्वरूप अवयवी द्रव्य का

दिति चेत् ? मैव वादीः, घनतरावरणसाचिव्येन तेजःपुद्गलानामेव तत्र तमस्त्वेन परिणमनात्। न हि नियतारम्भवादिनो वयं, येन तेजोऽवयवैस्तिमिरारम्भो न शक्येत वक्तुम् ।

'नीलरूपं तम ' इति कन्दलीकारवचन तु नादरणीयम्, निराश्रयस्य रूपस्यासम्भवात्, तादृशनियताश्रयस्य चानुपलभ्यमानत्वात् ।

❀ जयलता ❀

प्रकरणकृत्तत्प्रत्याचष्टे - **मैव वादीरिति** । मापदयोगादकारलोप । यद्द्रव्य यद्द्रव्यध्वन्सजन्य तत्तदुपादानोपादेयमिति नियमात् तेजोऽवयविध्वसजन्यस्य तमस तेजोऽवयवोपादेयत्वान्न तदा तमोऽवयव्यारम्भोऽसम्भवो नैयायिकनियमानुसारेणाऽपीत्याशयेन प्रकरणकृदाह - **घनतरावरणसाचिव्येन** = निश्छिद्रपिधानसाहाय्येन, **तेजःपुद्गलानामेव** = तेजोऽवयव्युपादानाना, एवकारेण तमोऽवयवव्यवच्छेद कृत । **तत्र** = घनतरावरणमध्ये, **तमस्त्वेन परिणमनात्** । तेजोऽवयवाना कथ तमोऽवयव्यारम्भकत्व, तमसि तेजस्त्वविरहात्, सजातीयैरेवाययवै सजातीयावयव्यारम्भकत्वनियमादित्याशङ्कायामाहम - **न हि नियतारम्भवादिनो वयमिति** । यदि नियतारम्भवादोऽस्माभिरङ्गीकृत स्यात्, न स्यात् तदा तेजोऽवयवैरन्धकारारम्भ । न चैवमिति तेजोऽवयवै प्रागवस्थितैस्तिमिरारम्भो वक्तु शक्यत एव । **न च** नियतारम्भवादस्य सर्वथाऽनभ्युपगमे एकान्तवादप्रसङ्ग इति **वक्तव्यम्,** स्याद्वादिभिरस्याभि पुद्गलत्वेन नियतारम्भवादस्य पुद्गलत्वव्याप्यपृथिवीत्वादिना चानियतारम्भवादस्याऽङ्गीकारात्। पुद्गलत्वव्याप्यजात्या अपि नियतारम्भवादस्य प्रामाणिकत्वे तु निशाया समुद्रे वडवानलारम्भ कथ सङ्गच्छेततराम् । जलावयवैं तिमिरावयवैश्च साक तेजोऽवयावाना प्रागनवस्थानात्, सर्वतो जलतिमिरसङ्कुले चान्यतोऽपि तेजोऽवयवानामागमनाऽसम्भवात् । तत्राऽदृष्टविशेष-घर्षणादिसाचिव्येन जलावयवैरेव वडवानलारम्भोऽकामेनाऽपि परेणाऽभ्युपगन्तव्य । न च जलान्त पातितिमिरनलावयवैरेव तदानी वडवानलारम्भ **इत्युद्गारणीयम्,** आलोकान्त पातिभि तिमिरावयवैरेव घनतरावरणमध्ये तिमिरारम्भ इत्यस्याऽपि सुवचत्वात् । सत्कार्यवादनिराकरणे नियतारम्भवादस्य निराकृतत्वान्नदानी तन्निरासेऽस्मदीयत्न , मृतमारणवन्निरर्थकत्वात् ।

व्योमशिवमत निराकर्तुमुपक्रमते - **'नीलरूप तम'** इति । आरोपितस्य नीलरूपस्य तन्मते तमस्त्वात् । तदुक्तत्वमादर्शयति - **निराश्रयस्य रूपस्याऽसम्भवादिति** । भूतलादावेवालोकविरहदशाया नीलरूपारोपात् भूतलादेरेव तदाश्रयत्वमस्त्वित्याशङ्कायामाह - **तादृशनियताश्रयस्य चानुपलभ्यमानत्वादिति** । क्वचिद्भूतले क्वचित्पर्वते क्वचिच्च गुहाया तत्प्रतीते नियताश्रयकत्व तस्य न सम्भवति । **न च** पृथिवीत्वेनैव तदनुगमसम्भवान्नैष दोष इति **वक्तव्यम्,** जलादावपि तम प्रत्ययात् । न चालोकाभाववत्त्वेनैवारोपितनीलरूपाधिकरणानुगमोऽपि सम्भवति, आलोकपरमाणु-तप्तजल-सुवर्णादावपि तम प्रतीतेरुदयात् । **न च** महदुद्भूतानभिभूतरूपवदालोकशून्यत्वेन तदधिकरणानुगमोऽस्त्विति **वाच्यम्,** तथापि तत्र पीतरूपाद्यारोपप्रसङ्गात्, नीलिद्रव्योपरक्तेपु वस्त्रादिपु तमोव्यवहारप्रसङ्गाच्च । **न** चारोपे सति हि निमित्तानुसरण न तु निमित्तमस्तीत्यारोप इति नियमान्न

आरम्भ नामुमकिन है । इसलिए अन्धकार हो द्रव्यात्मक नही माना जा सकता है'' <—

❁ तेज:परमाणु से अन्धकारारम्भस्वीकार - वर्धमानमतनिरास ❁

मैव इति । प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते है कि वर्धमान उपाध्याय का उपर्युक्त कथन अन्धकारद्रव्यवादी स्याद्वादी के मत मे वाधक नही हो सकता है । इसका कारण यह है कि प्रकृष्ट आलोक से सयुक्त स्थान मे घटादि को पराङ्मुख करने पर उसके भीतर आलोकपरमाणु ही अन्धकार के स्वरूप मे परिणत हो जाते है । जैसे महापट के अवयव ततु खण्ड पट के स्वरूप मे परिणत होते है वैसे प्रकृष्ट आलोक के अवयव का अन्धकारात्मना परिणाम हो सकता है । यहाँ यह शका करना कि —> ''तैजस अवयवो से तो तैजस अवयवी का आरम्भ हो सकता है, अन्धकारात्मक अवयवी का नही'' <— ठीक नही है, क्योकि हम स्याद्वादी है, नियतारम्भवादी नैयायिक नही । अतः तैजस परमाणु से तैजस अवयवी का ही आरम्भ हो सकता है- ऐसा एकान्त हमे मान्य नही है । जैसे सहकारी विशेष के सान्निध्य से गोवर से भी विच्छू आदि की उत्पत्ति होती है, ठीक वैसे ही निबिड आवरण के सहकार से तैजस परमाणु से भी तिमिर की उत्पत्ति हो सकती है। अतः अन्धकार को द्रव्य मानने मे कोई वाधा नही है ।

❁ कन्दलीकारमतखण्डन ❁

नीलरूप इति । न्यायकन्दलीकार का मत यह है कि —> 'अन्धकार दूसरा कुछ नही हे, किन्तु आरोपित नील रूप

तस्मात्तमसो द्रव्यत्वमेव सकलप्रमाणसिद्धं न्याय्यमित्यधिकमनया दिशा स्वधियाऽभ्यूहनीयम्। 'यथात्थ भगवन्नि'त्युक्त्या च भगवद्वचनेऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्कलेशाऽसम्पर्कसूचना

जयलता

दोष इति **वक्तव्यम्**, तथापि 'तमो नील न नीलिमे'ति प्रत्ययानुपपत्ते , 'इह महानन्धकार' इति प्रतीतेर्भ्रमत्वापत्ते ' 'गुणे शुक्लादय पुसि' (अ.को १/५/१७) इत्यमरकोशवचनेन शुक्लादिपदजन्यशुक्लत्वाद्यवच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकशाब्दबोधे पुल्लिङ्गकशुक्लादिपदशक्तिज्ञानजन्योपस्थितेर्हेतुत्वेन 'नीलस्तम' इतिप्रयोगप्रसङ्गाच्च । **न च** नीलस्य तमोविशेषणत्वमेव, अनुक्तलिङ्गविशेषणपदानाञ्च विशेष्यलिङ्गताया औत्सर्गिकत्वाद् नीलपदे क्लीबत्वमिति वाच्यम्, नीलस्य सामान्यतया विशेष्यत्वात्, विशेषणविशेष्यभावे कामचारभिधानस्य परस्परव्यभिचारितदुभयविषयत्वादिति । **तस्मात्तमसो द्रव्यत्वमेव सकलप्रमाणसिद्ध न्याय्यमिति** ।

—> 'नीलोरोपविशिष्टतेज ससर्गाभावस्तम' <— इति **शिवादित्यवचनमपि अविचारितरमणीयम्**, नीलारोपाद्यग्रहेऽपि तमस्त्वग्रहात्, तादृशतमस्त्वावच्छिन्नधर्मिकनीलारोपाऽयोगाच्च ।

—> तेज प्रतियोगिकाभावेनैव तमोव्यवहार , तत्र तत्तेजोज्ञान प्रतिबन्धकमिति <— **शेषानन्त**वचनमपि **न** मनोहारि, स्पष्टगौरवात्, व्यवहर्तव्यज्ञाने सति सत्याञ्चेच्छाया व्यवहारेऽधिकानपेक्षणाच्च ।

—> 'उद्भूतानभिभूतरूपवत्तेज सामान्याभावो न तम , तेजोध्वसप्रागभावाधिकरणे तत्सामान्याभावासत्त्वेन तम प्रतीत्यनुपपत्ते , किन्तु तादृशतत्तत्तेजोव्यक्तीना विशेषाभावसमुदाय एवान्धकारपदार्थ' <— इति **पक्षधरमिश्रमत**मपि न चारु, प्रकृष्टालोकेऽपि रूपादौ सयोगेनालोकाभावसत्त्वादन्धकारव्यवहारापत्ते., 'इद तम' इति प्रतीतावपि तत्र भावत्वाभावत्वसशयात्, ध्वसप्रागभावयो स्वप्रतियोग्यत्यन्ताभावविरोधित्वे मानाभावाच्च ।

यत्तु 'सयोग-सयुक्तसमवायादिनानासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनानालोकाभावनिष्ठ तमस्त्वमप्यखण्डमेकमेव, तेन न 'प्रकृष्टालोकेऽपि रूपादौ सयोगेनालोकाभावसत्त्वादन्धकारव्यवहारापत्ति , न वा नानालोकभावेष्वनुगततमोव्यवहारानुपपत्ति , न वा 'इद तम' इति प्रतीतावपि तत्र भावाभावत्वसशयानुपपत्ति , इदन्त्वावच्छेदेन तमस्त्वग्रहेऽपि आलोकाभावत्वाऽग्रहादि'ति मत **तदपि न** रमणीयम्, तथा सति तत्रोत्कर्षापकर्षाऽसम्भवादन्धतमसावतमसादिविशेष प्रत्ययानुपपत्ते । **न च** तमस्त्ववदन्धतमसत्वादेरप्यखण्डोपाधित्वमेवेति **वाच्यम्** पूर्वोक्तरीत्याऽन्धकारेऽन्धकारापत्तेर्दुवारत्वात्, महागौरवकलङ्कितताद्दृशक्लिष्टकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्ततमोद्रव्यकल्पना या एव न्याय्यत्वाच्चेत्याशयेनाह - **अधिकमनया दिशा स्वधियाऽभ्यूहनीयमिति** । तच्चाऽस्माभिरत्रैव तत्तस्थले लेशतो दर्शितमेवेति तमोद्रव्यत्ववाद ।

एतद्धच प्रकाशाद् ध्वान्तेऽभावत्वभ्रम तम ।- विलीयता परेषा तु स्या कृतार्थस्तदा ह्यहम् ॥१॥

'यथात्थे'त्यादिक स्पष्टम् ।

ही अन्धकार है'' <— किन्तु यह मन्तव्य भी अनादरणीय है, क्योकि निराश्रय रूप न्यायमत मे असम्भवित है । यहाँ यह नही कहा जा सकता कि —> 'भूतल मे नील रूप का आरोप होने से भूतल ही आरोपित नील रूप का आधार है', <— क्योकि आरोपित नील रूप का आश्रय निश्चित नही है । कभी भूतल मे तो कभी पर्वत मे तो कभी गुफा मे नील रूप का भान होने से नील रूप का नियत आश्रय अनुपलभ्यमान है । अतः भूतल आदि को ही नील रूप का आश्रय नही माना जा सकता है । किन्तु स्वाभाविक नील रूप के आश्रय के स्वरूप मे ही अन्धकार द्रव्य का स्वीकार करना उचित है, जो प्रकृष्ट आलोक की विद्यमानता मे नही रहता है । सकल प्रमाण से अन्धकार मे द्रव्यत्व ही सिद्ध होता है । अतः अन्धकार द्रव्यात्मक मानना ही न्याय्य है । इस सम्बन्ध मे अधिक विचार भी किया जा सकता है । यहाँ जो कुछ बताया गया है, वह तो दिग्दर्शनमात्र है । इसी दिशा मे अपनी बुद्धि से वाचकवर्ग स्वय विचार करें - इस बात की सूचना देकर प्रकरणकार महामहोपाध्यायजी महाराज अन्धकारवाद को समाप्त करते है ।

❀ रागद्वेषक्षय के बिना सत्यवचन असंभवित ❀

यथात्म इति । कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा ने वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की पाँचवी कारिका के उत्तरार्ध मे कहा है कि - 'हे भगवत ! आपने जैसा कहा है वैसा मानने पर कोई भी दोष प्रसक्त नही है' । इस

स्वस्याऽसाधारणी भक्तिराविष्कृते तत्रभवद्भिः । राग-द्वेषाद्यविद्याबन्धकीसम्पर्ककलङ्कितानांपरेषां वचसि प्रामाण्याऽभ्युपगमो हि महामोहगहनविजृम्भितम्, राग-द्वेषाभावं विनाऽवितथवचनस्य कार्यस्याऽसम्भवात् ।

ननु वेदकर्तुरेव पुरुषधौरेयस्य वचः प्रमाणं, तस्यैव सर्वज्ञत्वात् । नैवम्, तत्प्रणेतरि भवदभिमते भवानीपतावेव मानाऽभावात् । न च 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वादि'त्यनुमानमेव

❀ जयलता ❀

ईरोडमण्डनं श्रीवासुपूज्यस्वामिनं नत्वा । भवानीपतिकर्तृत्वे मानाभावं समर्थ्यते ॥१॥

घुणाक्षरन्यायेनैकान्तवादिवचने क्वचिद्विसम्वादाऽदर्शनेऽपि न तत्रौत्सर्गिकं प्रामाण्यम्, वचनवैतथ्यसम्पादकरागादिपरवशपुरुषनिसृतत्वादिति गिरा समाकर्ण्य सकर्णो नैयायिकः प्रत्यवतिष्ठते - नन्विति । वेदकर्तुः = प्रमाणत्वेन महाजनपरिगृहीतानां वेदानां कर्तुः, एव पुरुषधौरेयस्य वचः प्रमाणम्, हेतुमाह - तस्य = पुरुषधुरिणस्य एव सर्वज्ञत्वादिति । प्रथमैवकारेण द्वादशाङ्गीकर्तुः द्वितीयैवकारेण च जिनेश्वरस्य व्यवच्छेदः कृतः ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नैवमिति । तत्प्रणेतरि = वेदरचयितरि भवदभिमते = नैयायिकाभिमते, भवानीपतौ = त्रिलोचने, एव मानाभावादिति । बोधादिभिः वेदानामष्टकादिनिर्मितत्वाभ्युपगमाद् 'भवदभिमत' इत्युक्तम् । तत्र मानाभावश्चैवम्, न तत्र बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षं प्रमाणं, अणुपरिमाणवत्त्वेन बाह्यप्रत्यक्षाऽविषयत्वात् । नापि मानसं, परात्मनः परेण मनसा प्रत्यक्षवारणायाऽऽत्ममानसं प्रति परात्मव्यावृत्तविजातीयमनःसंयोगत्वेन कारणत्वाऽभ्युपगमात् । नाप्यनुमानं प्रमाणम्, ईश्वरस्याऽप्रत्यक्षतया तस्य केनचिल्लिङ्गेन सहचारदर्शनाभावेन व्याप्तिग्रहाभावात् । न चोपमानं मानं, तत्तुल्यस्याऽपरस्याऽभावेन सादृश्यज्ञानाऽसम्भवात्, अन्यथा ईश्वरत्वव्याहतेः । नापि शब्दः प्रमाणं, श्रुतीनामीश्वरोच्चरितत्वेनैव प्रामाण्यस्य वक्तव्यतया तत्रेश्वर एव सन्देहेन श्रुतिप्रामाण्यस्यापि सन्दिग्धत्वादिति भवदभीष्टचतुर्विधप्रमाणाऽगोचरे ईश्वरे कथं सर्वज्ञत्वाभ्युपगमस्य समीचीनत्वमिति स्याद्वाद्यभिसन्धिः ।

उदयनाचार्यसदृब्धेश्वरसाधकप्रथमानुमानं प्रतिक्षेप्तुमुपक्षिपति - न चेति । कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदिति गम्यते,

वचन से महनीय श्रीकलिकालसर्वज्ञ आचार्यश्रीने जिनवचन में अप्रामाण्य की शंका के कलंक के अंश से भी रहितत्व की सूचना देकर जिनेश्वर के प्रति अपनी असाधारण भक्ति का आविर्भाव किया है । जिनवचन के प्रति अप्रामाण्य के निश्चय की बात तो दूर हो, लेश शंका भी कुमारपालप्रतिबोधक आचार्यश्री के दिल में नहीं है । यही सर्वोत्कृष्ट भक्ति है । पुरुषविश्वास से वचनविश्वास । यद्यपि कुतीर्थिकों को भी अपने अपने दर्शन के प्रणेता के वचन में अटूट विश्वास है मगर वह महामोह का महा विलास है, दूसरा कुछ नहीं, क्योंकि वह राग-द्वेष-अविद्या आदि दोष की परम्परा से कलंकित एकान्तवादी पुरुष के वचन में, जिस में प्रामाण्य की गन्ध भी नहीं है, प्रामाण्य के स्वीकारात्मक है । भला ! जो स्वयं राग-द्वेष के विषचक्र में फँसा है, उसका वचन प्रामाणिक कैसे हो सकता है ? राग-द्वेष-अज्ञान के अभाव के बिना अविसंवादी वचनस्वरूप कार्य ही असंभवित है । धुणाक्षरन्याय के कुछ अविसंवादी वचन उनके मुँह से कदाचित् नीकल पडे, वह एक अलग बात है । मगर उनके वचन के ऊपर प्रामाण्यमुद्रा नहीं लगाई जा सकती । क्या नकली घडी भी दिन में दो दफे सच्चा समय नहीं बताती है ? जिनेश्वर भगवान में तो असत्य वचन का कारण राग-द्वेष आदि ही नहीं है, फिर वे असत्य क्यों बोले ? अतः जिनवचन में अप्रामाण्य नामुमकिन है । चाहे चाँद से आग की वर्षा क्यों न हो, चाहे सूर्य पश्चिम दिशा में उदित क्यों न हो ? मगर तीन काल में जिनवचन में अप्रामाण्यलेश भी असम्भव है ।

❊ ईश्वरखण्डन ❊

ननु वे इति । जिनेश्वर भगवंत का ही वचन प्रामाणिक है, यह सुन कर नैयायिक आग बबूला होकर बोलता है कि —> 'वेदकर्ता प्रधानपुरुष का ही वचन प्रामाणिक है, क्योंकि वही सर्वज्ञ है । वेदकर्ता शङ्कर भगवान के वेदवचन को ही प्रमाण मानना चाहिए' <— मगर यह कथन अप्रामाणिक है, क्योंकि वेदकर्ता के स्वरूप में आपको अभिमत भवानीपति शंकर में ही कोई प्रमाण नहीं है । शंकर की सत्ता का कोई प्रमाण ही नहीं होने से उसके वचन में प्रामाण्य की घोषणा करना वन्ध्यापुत्र के आभूषण की घोषणा के समान है । यहाँ नैयायिक की ओर से इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि की जाय कि —> ''कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्, घटवत् - इस अनुमान से पर्वत आदि कार्य में सकर्तृकत्वरूप साध्य की सिद्धि

तत्र मानं, शरीरजन्यत्वरूपसन्दिग्धोपाधिग्रस्तत्वात् ।

जयलता

इत्तयनुमानमेव । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थ । **तत्र** = महेशे, **मान** = प्रमाणम् । यत् यत् कार्य तत् तत् सकर्तृक यथा घट । यत्सकर्तृक न भवति, न तत्कार्यमपि भवति गगनवत् ।.न तावदय हेतुरुद्धताऽसिद्धातासिद्धसीकोत्तरीगरीयस्तरदुस्तर-कटाक्षलक्षविक्षेपविक्षेपित , सद्भूतानुभवसिद्धाविनाभावित्वसिद्धधर्माधिकरणविद्यासिद्धत्वात् । नापि दुर्धरविरुद्धतोद्धततर्कवितर्केन्धन-कार्कश्यावरुद्धता, विचक्षणाक्षीणक्षोदक्षमाध्यक्षनिर्णीतविपक्षव्यावृत्तिव्याप्तिशक्तिप्रकोपपावकाहुतीभूतप्रत्यर्थिपक्षत्वात् । नाप्यनैकान्ति-काक्रान्तविषमविषधरीविषावेगविधुरीभूतताऽप्याशङ्कनीया, विपक्षनिर्णीतव्यावृत्तिमञ्जुलक्षितिरुहायतच्छायासु सुखनिषण्णत्वात् । नापि कालात्ययावदिष्टतादुष्टदोषदन्दशूकदष्टत्व निष्टङ्कनीयम्, अवाधितपक्षप्रयोगपक्षाधिराजपक्षान्तरविश्रान्तत्वात् । नाप्यस्य हेतुनरेश्वरस्य प्रकरणसमतातङ्काकान्तत्वमुद्भावनीय, एतत्प्रतिपन्धिसमर्थानुमानाभावातपत्रपवित्रप्रभुताप्राप्तसाम्राज्यसुगभत्वात् । न च शरीरा-ऽजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्षतोद्भावनीया, शरीरपदनिवेशानावश्यकत्वात् अप्रयोजकत्वाच्चेति नैयायिकाशय ।

तदपक्षेपार्थ प्रकरणकृदाह - **शरीरजन्यत्वरूपसन्दिग्धोपाधिग्रस्तत्वादिति** । अन्यत्र गतो धर्मोऽन्यत्रोपचर्यमाण उपाधि-रभिधीयते यथा जपाकुसुमससर्गादारुण्यशून्ये स्फटिकशकलेऽरुणत्व प्रतीयते तथौपाधौ वर्तमान व्याप्यत्व तच्छून्ये हेतो विज्ञा-यते । इति स्वाऽभावानुमापितसाध्याभाववद्वृत्तित्वमुद्भाव्य हेतौ व्यप्तिदूरीकरणेनोपाधेर्दूषणत्वम् । तल्लक्षणश्चेदम्, साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमिति । प्रकृतानुमाने शरीरजन्यत्वमुपाधि , तस्य घटादौ साध्यव्यापकत्वात्, अङ्कुरादौ साधनाव्यापक-त्वाच्चा । न चाङ्कुरादौ सकर्तृकत्वरूपसाध्यसन्देहेन उपाधे साध्यव्यापकत्वसशयान्नोपाधित्वनिश्चय इति **वक्तव्यम्**, तथापि सन्दिग्धोपाधित्वस्य दुर्वारत्वात् । न चोपाधिनिश्चये सत्यतेव हेतौ सोपाधिकत्वहेतुना व्यभिचारनिश्चय सम्भवति । तत चानुमितिप्रतिवन्ध । उपाधिसन्देहे तु व्यभिचारसन्देह एव भवति । न च तेन व्याप्तिज्ञानप्रातिरोध सम्भवति, व्यभिचारनिश्चय-त्वस्यैव व्याप्तिज्ञानप्रतिवन्धकतावच्छेदकत्वादिति वाच्यम्, उपाधिसन्देहे व्यभिचारसन्देहस्याऽऽवश्यकत्वात्, व्याप्यत्वज्ञान प्रति लाघवेन व्यभिचारज्ञानसामान्यस्य प्रतिवन्धकत्वात्, व्याप्यसशयेन व्यापकन्देहस्याऽऽवश्यकत्वात्सन्दिग्धोपाधित्वस्यापि दूषकत्वात् । न चोपाधिसन्देहाऽऽहितो व्यभिचारसन्देह पक्षान्तर्भाविनैवाङ्गीकरणीय , घटादौ साध्यनिश्चयेन साध्यसन्देहासम्भवात् । स च न व्याप्तिज्ञानप्रतिवन्धक , पक्षान्तर्भाविन व्यभिचारसन्देहस्य तदप्रतिवन्धकत्वात्, अन्यथाऽनुमिते पूर्वं सर्वत्रैव पक्षे साध्यन्देह-सम्भवेन तत्र च हेतोर्निश्चयादनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । तस्मात्साध्याभावाशे निश्चयात्मक वृत्तित्वाशे च सशयनिश्चयसाधा-रण व्यभिचारज्ञान प्रतिवन्धकमित्यास्थेयम् । प्रकृते च तादृशव्यभिचारसन्देहासम्भवात्कथ सन्दिग्धोपाधेर्दूपकत्वमिति **वक्तव्यम्**, पक्षतत्समयोरपि व्यभिचारसशयस्य प्रतिवन्धत्वात् । पक्ष उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न तत्समस्तु तद्भिन्नत्वे सति साध्यसन्देहा-क्रान्त' । न चैवमुक्तरीत्याऽनुमानमात्रोच्छेदापत्तिरिति वाच्यम्, धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि वह्निजन्यो न स्यादित्यनु-

होगी। मगर पर्वत आदि के कर्ता के स्वरूप मे आमजनता का स्वीकार नही किया जा सकता । अतः अन्ततो गत्वा पर्वतादि के कर्ता के रूप मे ईश्वर की सिद्धि होगी'' <— तो यह ठीक नही हे, क्योकि उक्त अनुमान का कार्यत्वस्वरूप हेतु शरीरजन्यत्व-स्वरूप सदिग्ध उपाधि से ग्रस्त है । जो साध्य का व्यापक हो ओर हेतु का अव्यापक हो उसे उपादि कहते है । यहाँ साध्य है सकर्तृकत्व = कर्तृजन्यत्व और हेतु है कार्यत्व । जहाँ जहाँ कर्तृजन्यत्व रहता हे, वहाँ वहाँ शरीरजन्यत्व रहता है यह घट, पट आदि मे देखा गया है । अतः शरीरजन्यत्व सकर्तृकत्वरूप साध्य का व्यापक है । एव कार्यत्व के आश्रय अकुरादि मे शरीरजन्यत्व का अभाव होने से वह कार्यत्वरूप साधन का अव्यापक भी हे । अतः उपाधिग्रस्त होने के कारण प्रस्तुत अनुमान से वादी के अभिमत की सिद्धि नही हो सकती । यदि यह कहा जाय कि —> 'अकुरादि मे सकर्तृकत्व का सदेह है किन्तु शरीरजन्यत्व का अभाव निश्चित है । अतः शरीरजन्यत्व मे सकर्तृकत्वरूप साध्य की व्यापकता का निश्चय नही हो सकने से शरीरजन्यत्व उपाधि नही हो सकता' <— तो यह ठीक नही है, क्योकि निश्चित उपाधि न होने पर भी अकुरादि द्वारा शरीरजन्यत्व मे साध्यव्यापकता का सदेह होने से सदिग्धोपाधि का होना आवश्यक है । यहाँ यह कहना कि <— 'सदिग्धोपाधि के व्यभिचार के सन्देह से हेतु मे साध्यव्यभिचार का सन्देह ही हो सकता है, न कि निश्चय तथा व्यभिचारसशय व्याप्तिज्ञान का विरोधी नही होने से हेतु मे साध्यनिरूपित व्याप्ति का निश्चय हो कर अनुमिति के होने मे कोई वाधा नही हो सकती' <— भी ठीक नही है, क्योकि व्याप्तिज्ञान के प्रति व्यभिचारनिश्चयत्वरूप से व्यभिचारज्ञान को प्रतिवन्धक मानने मे गौरव है । लाघव की दृष्टि से व्यभिचारज्ञानत्वरूप से ही व्यभिचारज्ञानत्व-रूप से ही व्याप्तिज्ञान का

अथ नाथमत्र दोष, कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृत्वेन कारणत्वनिश्चयात् लाघवतर्कावितारदशायां तत्प्रयुक्तव्यभिचारसंशयस्याऽप्रतिबन्धकत्वादिति चेत् ? न, कार्यत्वं हि 'ध्वंस-

जयलता

कूलतर्केण व्यभिचारसन्देहस्याऽसम्भवात् । अत एवानुकूलतर्कविरहदशायां पक्षेतरत्वं सन्दिग्धोपाधिरित्यभिधानमपि सङ्गच्छते। प्रकृते चानुकूलतर्कविरहात् नोक्तानुमानेन नैयायिकाभिमतसिद्धिरिति स्याद्वाद्यभिप्रायः ।

स्वपक्षे लाघवतर्कावतारेण परः सन्दिग्धोपाधिं प्रकृतेऽदोषत्वमुद्भावयति - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । न अयं = शरीरजन्यत्वलक्षणसन्दिग्धोपाधिः अत्र सकर्तृकत्वसाध्यक-कार्यत्वहेतुकानुमाने दोषः । कथं ? इत्याशङ्कायां पर आह - कार्यत्वावच्छिन्नं = कार्यमात्रं प्रति कर्तृत्वेन रूपेण कारणत्वनिश्चयादिति । प्रकृते कार्यत्व-सकर्तृकत्वाभ्यां फल-फलवद्भावनिश्चयादित्यर्थः । ततश्चाऽङ्कुरादौ कार्यत्वे सत्यपि सकर्तृकत्वं न स्यात्तर्हि कार्यत्वावच्छिन्नं कर्तृजन्यं न स्यादित्याकारक-लाघवतर्कावतारदशायां तत्प्रयुक्तव्यभिचारसंशयस्य = उपाधिसंशयप्रयुक्तव्यभिचारसन्देहस्य, अप्रतिबन्धकत्वात् = सकर्तृकत्वनिरूपितकार्यत्वनिष्ठव्याप्तिनिश्चयाऽप्रतिबन्धकत्वात् । अनुकूलतर्कानवतार एव सन्दिग्धोपाधेर्व्यभिचारसंशयाधायकत्वम्, अन्यथा पक्षेतरत्वोपाधिशङ्कया प्रसिद्धानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । सन्दिग्धोपाधेः सत्त्वेऽपि लाघवतर्कावतारे व्यभिचारसंशयस्यैवानुत्थानमित्यत्र नैयायिकतात्पर्यादुक्तानुमानेन कर्तृत्वाश्रयविधेयश्वरसिद्धिरिति भावः ।

अत्र कार्यस्य घटादेः सकर्तृकत्वसिद्ध्याऽंशतः सिद्धसाधनम् । न च पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वान्नायं दोष इति वाच्यम्, तथापि सकर्तृकत्वं यदि कर्तृसाहित्यमात्रं तदाऽस्मदादिना सिद्धसाधनस्य दुर्वारत्वात् । न च कर्तृजन्यत्वं साध्यं सम्भवति, अनन्तकर्तॄणां जनकतावच्छेदकत्वे गौरवात् । नापि स्वोपादानगोचरपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिजन्यत्वं तत्, स्वत्वघटितत्वेनाननुगमात्, उपादानाऽपरोक्षज्ञानत्वादेर्गुरुत्वेन जनकतानवच्छेदकत्वाच्च । अनेन प्रत्यक्षजन्यत्वेच्छाजन्यत्वादेः साध्यतायामदोषः । अदृष्टाऽद्वारा जन्यत्वस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिकसमवायावच्छिन्नजन्यत्वस्य वा साध्यत्वान्नाऽदृष्टजनकाऽस्मदादिज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वेति प्रत्युक्तम्, पक्षतावच्छेदकहेत्वोरैक्यप्रसङ्गश्च दुर्वार एव । न च 'कार्यत्वं साध्यसमानाधिकरणमि'ति सहचारग्रहेऽपि' कार्यं सकर्तृकमि'ति बुद्धेरभावान्नायं दोष इति वाच्यम्, तथापि 'कार्यतावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणता सकर्तृकत्वावच्छिन्ने'त्यभ्युपगमेऽवच्छेदकावच्छेद्ययोरैक्येनाऽऽत्माश्रयप्रसङ्गात् । न च ध्वंसप्रतियोगित्वरूपस्य कार्यत्वस्याऽवच्छेदकत्वं स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपकार्यत्वस्य चाऽवच्छेद्यत्वमिति न तयोरैक्यमिति वाच्यम्, विनिगमकाभावेन प्रागभावप्रतियोगित्वादेरप्यवच्छेदकत्वसम्भवेन व्यभिचारवारणाय नानाकार्यकारणभावकल्पने गौरवापातेन लाघवतर्काऽवताराऽसम्भवात् सन्दिग्धोपाधिप्रसयुक्तव्यभिचारसंशयेन सकर्तृकत्वनिरूपितकार्यत्ववृत्तिव्याप्तिनिश्चयविघटनादनुमितेः प्रतिरोधस्य

प्रतिबन्धक है । अतः व्यभिचारसंशय से भी व्याप्तिनिश्चय का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण संदिग्धोपाधिकत्व का भी अनुमानविरोधित्व अपरिहार्य है ।

☬ लाघव तर्क सहकार से ईश्वरसिद्धि - नैयायिक ☬

अथ ना इति । यदि-नैयायिक विद्वानों की ओर से यह कहा जा सकता है कि --> ''शरीरजन्यत्वस्वरूप संदिग्ध उपाधि उपर्युक्त अनुमान में दोषात्मक नहीं है । इसका कारण यह है कि कार्यमात्र के प्रति कर्तृत्वरूप से कारणता निश्चित = प्रमाणसिद्ध है । कार्यतानिरूपित कारणता के अवच्छेदकविधया कर्तृत्व का स्वीकार करने में लाघव है, शरीरत्व को मानने में गौरव है - इस लाघव तर्क का अवतार होने पर कार्यत्व हेतु में शरीरजन्यत्वात्मक संदिग्ध उपाधि से व्यभिचार का संशय हो कि - 'कर्तृजन्यत्वव्यापक शरीरजन्यत्वशून्य पर्वतादि में कर्तृजन्यत्वराहित्य होने पर भी कार्यत्व हेतु मुमकिन है' - तो वह उपर्युक्त अनुमिति में प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, क्योंकि लाघव तर्क से ही तादृश व्यभिचार के संदेह का प्रतिरोध हो जाता है । अतः कार्यत्व हेतु से क्षिति आदि के कर्ता के स्वरूप में ईश्वर की सिद्धि हो सकती है, उक्त संदिग्ध उपाधि का उद्भावन अकिंचित्कर है । लाघव तर्क न होने पर ही संदिग्ध उपाधि से अनुमिति का प्रतिबन्ध हो सकता है'' <--

❊ कार्यत्व षड्विध होने से नैयायिकमत में लाघवतर्क नामुमकिन ❊

न, का इति । किन्तु विचार करने पर नैयायिक से दर्शित लाघव तर्क नामुमकिन है । इसका कारण यह है कि

प्रतियोगित्वं, [1]प्रागभावप्रतियोगित्व, अ(न?) वच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण [3]कालवृत्त्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं, [4]स्वानधिकरणीभूतकालवृत्त्यंतमन्ताभावप्रतियोगित्वं, [5]कालवृत्त्यन्योऽन्याभावप्र-

❀ जयलता ❀

सुरगुरुणाऽपि निराकर्तुमशक्यत्वादित्याशयेन स्याद्वादी नैयायिकमतमपनोदयति - नेति । **कार्यत्व** प्रकृते हेतुभूत सकर्तृकत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकीभूत वा कार्यत्व, हि **प्रध्वसप्रतियोगित्व** = प्रध्वसनिष्ठनिरूपकतानिरूपितप्रतियोगित्वम् । ध्वसस्य कार्यत्वेऽपि प्रध्वसाऽप्रतियोगित्वात्कल्पान्तरमाह - **प्रागभावप्रतियोगित्व** = प्रागभावनिरूपितप्रतियोगित्व, तच्च ध्वसेऽप्यस्तीति नाऽव्यापिता कालादिवारणाय प्रागिति, असम्भववारणाय 'प्रतियोगी'ति ।

दीधितिकारादिभि प्रागभावस्यानभ्युपगमाद् गत्यन्तरमाह - **अवच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण कालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति** । जन्यमात्रस्य यत्किञ्चित्कालावच्छेदेन वृत्तित्वात्तदितरकालावच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण कालाऽवृत्तित्वेन स्वानधिकरणकालावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाल्लक्षणसमन्वय । 'तथापि परमाणो स्वानधिकरणदेशावच्छेदेन कालेऽत्यन्ताभावसत्त्वादतिव्याप्तिरि'त्यस्वरसादन्यमतमाह - **स्वानधिकरणीभूतकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति** । परमाण्वादे स्वानधिकरणदेशावच्छेदेन कालेऽवृत्तित्वेन कालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि कालस्य स्वानधिकरणत्वविरहात् स्वानाधिकरणकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावान्नातिव्याप्ति । न चैव घटादेरपि कार्यत्वमुच्छिद्येत, महाकालस्य घटाद्यधिकरणत्वेन स्वानधिकरणकालाऽप्रसिद्धेरिति **वक्तव्यम्**, कालपदेनाऽत्र खण्डकालस्याऽभिमतत्वात्, अन्यथा 'स्वानधिकरणीभूते'त्यस्य वैयर्थ्याऽऽपत्ते । ततश्च कालिकविशेषणतासम्बन्धेन खण्डकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्व कार्यत्वमित्यत्र तात्पर्यमिति फलितार्थ । **न च** तद्ध्वसादिसत्त्वे कथ तदत्यन्ताभावस्य तत्र सत्त्वमिति **वाच्यम्**, ध्वसादे स्वप्रतियोग्यत्यन्ताभावविरोधित्वे मानाभावात् । नवीननैयायिकनयानुसारेण प्रकृतनिर्वचनमिति भावनीयम् ।

अत्रैवाऽन्यमतमाह - **कालवृत्त्यन्यन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकस्वावच्छिन्नाधिकरणतात्वमिति** । य कश्चिदनित्यपदार्थ स स्वप्रागभावाधिकरणकाले स्वध्वसाधिकरणकाले च नास्तीति तादृशकालवृत्तिस्तद्वदन्योन्याभावो भवत्येव यस्य प्रतियोगिताया अवच्छेदकेन स्वेन = अनित्यपदार्थेनावच्छिन्नया = समानाधिकरणाया अधिकरणताया निरूपकत्वत कार्यत्वमित्यर्थ । भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वश्चात्र कालिकसम्बन्धावच्छिन्न ग्राह्यम् । तेन सम्बन्धान्तरावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रतियोगिताकनित्यपदार्थ-

कार्यत्व ही एकविध नही है किन्तु अनेकविध हे । अतः कार्यत्वावच्छिन्न सकल कार्य से निरूपित कारणता का अवच्छेदक कर्तृत्व भी अनेकविध हो जाता हे, न कि एकविध । (१) घटादि भाव कार्य मे रहने वाला कार्यत्व प्रध्वसप्रतियोगित्वस्वरूप हे । जो भाव उत्पन्न होता हे, उसका कभी न कभी ध्वस जरूर होता है । अतः उसमे ध्वस की प्रतियोगिता रहती है । अतः भाव कार्य मे रहने वाला कार्यत्व ध्वसप्रतियोगित्वस्वरूप है । (२) मगर घटादि की भॉति घट आदि का ध्वस भी कार्य है । अतः कार्यत्व का लक्षण उसमे रहना आवश्यक है । ध्वस का कभी भी ध्वस नही होता है । अतः ध्वसप्रतियोगिता घटध्वस आदि मे नही रहेगी, फिर भी वहॉ कार्यत्व रहता है । इसलिए ध्वस मे प्रागभावप्रतियोगित्वस्वरूप कार्यत्व मानना होगा । घटध्वस का प्रागभाव होता है । अतः प्रागभावनिरूपित प्रतियोगिता घटादि के ध्वस मे रह सकती है । वही कार्यत्व है । (३) नव्य नैयायिक कार्यत्व को अवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से काल मे रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगितास्वरूप मानते है । उनका यह आशय है कि नित्य पदार्थ काल मे सर्वदा रहता है, उसका अत्यन्ताभाव काल मे नही रहता है। जब कि कार्य = जन्य पदार्थ काल मे अमुक भाग मे रहता है, अमुक काल मे उसका अत्यन्ताभाव भी रहता है । सावच्छिन्नकालिकविशेषणता सम्बन्ध से जन्य पदार्थ का काल मे अत्यन्ताभाव भी रहने से अवच्छिन्नकालिकविशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक कालवृत्ति अत्यन्ताभाव से निरूपित प्रतियोगिता जन्य पदार्थ मे रहती है, वही कार्यत्व है । जेसे सोमवार को घट उत्पन्न हुआ और मगलवार को नष्ट हुआ-ऐसी स्थिति मे मगलवारावच्छिन्न कालिकविशेषणता सम्बन्ध से काल मे वह घट नही रहता है । अतः तादृशसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटात्यन्ताभाव काल मे रहेगा और उसकी प्रतियोगिता तद्घट मे रहेगी, वही तद्घटनिष्ठ कार्यत्व है । नव्य नैयायिक ने ध्वस और अत्यन्ताभाव मे विरोध को मान्य नही किया है । अतः उनके मतानुसार काल मे घटध्वस और घटात्यन्ताभाव भी रह सकता है । (४) अन्य विद्वानो का यह अभिप्राय है कि स्वानधिकरण काल मे रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही कार्यत्व हे । स्व = घटादि कार्य । जैसे प्रलयकाल घटादि जन्य द्रव्य का अनधिकरण होने से प्रलयकालवृत्ति अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता घटादि मे रहती है, वही कार्यत्व है । नित्य पदार्थ मे कभी भी कालवृत्ति अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नही रह सकती, क्योकि नित्यपदार्थानधिकरणीभूत काल ही अप्रसिद्ध है । अतः

तियोगितावच्छेदकस्वावच्छिन्नाधिकरणताकत्वतं [५]यावत्कालवृत्तिभिन्नत्वं वा न तदवच्छिन्न-

जयलता

वदन्योन्याभावमादाय न परमाण्वादावतिव्याप्तिः, नित्यपदार्थस्य सर्वदा कालिकसम्बन्धेन काले सत्त्वेन कालिकावच्छिन्ना-वच्छेदकताकप्रतियोगिताकनित्यपदार्थवदन्योन्याभावस्य कालनिरूपितवृत्तित्वशून्यत्वात् । तद्घटध्वंसदशायां 'इदानीं कालो न तद्घटाधिकरणकः' 'तद्घटध्वंसविशिष्टकालो न कालिकेन तद्घटविशिष्टः' इत्यादिप्रतीत्या प्रसिद्धस्य कालवृत्तेः तद्घटाधि-करणकप्रतियोगिकभेदस्य तद्घटविशिष्टभेदस्य च या प्रतियोगिता तदवच्छेदकेन स्वेन = तद्घटेन अवच्छिन्ना = समानाधि-करणा या कालवृत्त्यधिकरणता तन्निरूपकत्वं तद्घटेऽव्याहतमेवेति भवति तत्र लक्षणसङ्गतिः । स्वपदेन विवक्षितकार्यग्रहणम्। परमाण्वादेर्ग्रहणवारणाय 'कालवृत्त्यन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदके'ति स्वविशेषणम् ।

कालविशेषावच्छेदेनैकस्मिन्नेव काले यो यदभावश्च वर्तेते तस्यैवोपदर्शिताधिकरणताकत्वरूपस्य कार्यत्वस्य सम्भवः । दर्शितकार्यत्वस्य गुरुत्वाशङ्कायां कल्पान्तरमाह - यावत्कालवृत्तिभिन्नत्वं वेति । यावत्कालवृत्ति परमाण्वादि तद्भिन्नत्वञ्च घटादाविति भावः । न च यावत्कालवृत्तेः परमाणोः भेदस्य मनसि सत्त्वादतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यावत्कालवृत्तिता-वच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य विवक्षितत्वात्, मनसि यावत्कालवृत्तित्वस्य सत्त्वेन तदवच्छिन्नभेदाऽयोगादन्योन्याभावस्य स्वप्रति-योगितावच्छेदकव्यधिकरणत्वात् । न चान्त्यपक्षचतुष्टये प्रागभावेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, सावच्छिन्नकालवृत्तिपदार्थस्य कार्यत्वनये प्रागभावस्यापि लक्ष्यत्वात् । अत एव बृहत्स्याद्वादरहस्ये 'प्रागभावप्रतियोगित्वस्य पर्यवसितस्य तस्य प्रागभावेऽव्याप्तेश्च' (बृ. स्या. १ श्लो. १ टीका) इत्यभिधानं घटते । तस्याऽलक्ष्यत्वनये तु चरमपक्षचतुष्के 'सत्त्वे सती'ति विशेषणं देयमिति न दोषः ।

प्रकृते कार्यत्वं स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपं न ग्राह्यम्, पक्षवृत्तिकार्यत्वस्य पक्षात्मकतया अनुगमकरूपाभावेन च सपक्षा-वृत्तित्वादसाधारण्यापत्तेः । अत एव पक्षतावच्छेदकत्वं स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपकार्यत्वस्येत्यपि प्रत्युक्तम्, स्वरूपसम्बन्धरूप-कार्यताव्यक्तीनां तत्तद्व्यक्तिमात्रपर्यवसितत्वेनानुगतपक्षतावच्छेदकविरहात् । न च अन्यतमत्वेनानुगतीकृतानां पक्षतावच्छेदकत्व-मिति वाच्यम्, तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नभिन्नत्वरूपस्यान्यतमस्यानुगमकत्वे महागौरवात् । नृसिंहस्तु --> 'स्व-वृत्तिमहाकालान्यत्व-कालिकविशेषणत्वोभयसम्बन्धेन सत्तावत्त्वमेव कार्यत्वं सर्वत्राऽनुगतं हेतुः । महाकालव्यावर्तनाय स्ववृत्तिम-हाकालान्यत्वस्य सम्बन्धकोटौ निवेशः । स्ववृत्तित्वं तद्वत्त्वञ्च दैशिकविशेषणतया बोध्यम् । परमाण्वादिवारणाय कालिकवि-शेषतासम्बन्धनिवेशः' <-- (मु. प्र. पृ. ४१) इत्याह ।

'आद्यक्षणसम्बन्धित्वं कार्यत्वमि'त्यन्ये । 'नियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वमि'त्यपरे । 'कृतिसाध्यत्वे सति कृत्युद्देश्यत्वं कार्यत्वमि'ति कश्चित् । 'अभूत्वा भावित्वं कार्यत्वमि'ति तु प्राञ्चः । कृतियोग्यत्वे सति अलौकिकत्वं कार्यत्वमिति मीमांसकाः। 'कारणत्वाभिमतवस्तुभिन्नत्वमि'ति वेदान्तिनः । 'उपादानक्षणजन्यत्वं कार्यत्वमि'ति सौगताः । 'आविर्भावः कार्यत्वमि'ति

अतिव्याप्ति दोष का अवकाश नहीं है। (५) अन्य मनीषियों का यह कथन है कि कालवृत्ति अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकीभूत स्व से अवच्छिन्न = 'समानाधिकरण अधिकरणता का निरूपकत्व ही कार्यत्व है । जैसे घटप्रागभावविशिष्ट या घटध्वंसविशिष्ट कालविशेष में घटादि कार्य से विशिष्ट काल का भेद रहता है । उसके प्रतियोगितावच्छेदक घट से अवच्छिन्न = समानाधिकरण अधिकरणता का निरूपकत्व घट में रहता है, वही घटनिष्ठ कार्यत्व है । परमाणु आदि नित्य पदार्थ से विशिष्ट काल का काल में भेद नहीं रहता है । अतः परमाणु आदि कालवृत्ति भेद की प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही नहीं हो सकता । अतः परमाणु में तादृश अधिकरणता का निरूपकत्व नामुमकिन है । जो स्वयं काल में रहता हो और कालविशेष में उसका अभाव भी रहता हो उसी में दर्शित अधिकरणता का निरूपकत्व रहता है । अतः तादृश कार्यत्व नित्य पदार्थ में नामुमकिन है। स्वपद से यहाँ जन्य भाव घट आदि अभिमत है । (६) अन्य प्राज्ञ पुरुषों का यह मन्तव्य है कि कार्यत्व यावत्कालवृत्तिभिन्नत्वस्वरूप है । संपूर्ण काल में परमाणु आदि नित्य पदार्थ रहते हैं, मगर घटादि जन्य पदार्थ संपूर्ण काल में नहीं रहते हैं, क्योंकि अमुक काल में उसका अभाव भी रहता है । अतः घटादि जन्य पदार्थ में यावत्कालवृत्तिभिन्नत्व रहेगा । वही तन्निष्ठ कार्यत्व है । इस तरह नैयायिक विद्वानों ने ही कार्यत्व को अनेकविध माना है, तब अनेकविध कार्यत्व से अवच्छिन्न की कारणता का अवच्छेदक कर्तृत्व भी एक नहीं हो सकता । जब कि इस तरह कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति कर्तृत्वेन कारणता मानने पर भी अनेकविध कर्तृत्व के स्वीकार का गौरव अपराहत ही है । कार्यत्व भिन्न भिन्न होने पर उससे अवच्छिन्न भी भिन्न भिन्न होगा, अवच्छेदक भिन्न होने पर अवच्छिन्न एक कैसे हो सकता है ? अवच्छिन्न भिन्न भिन्न होने पर उससे निरूपित कारणता कैसे एक हो सकेगी ? निरूपक विलक्षण होने पर तन्निरूपित कारणता भी भिन्न होगी । कारणता अलग अलग होने पर

जनकतावच्छेदकं कर्तृत्वमेकम् । घटादौ कुम्भकारादीना ताद्रूप्येण हेतुतावश्यकत्वे सामान्यत कर्तृत्वेन तथात्वे मानाभावात् । 'यद्विशेषयो'रित्यादिन्यायस्याऽप्रामाणिकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

साङ्ख्याः । 'परिणामविशेष. कार्यत्वमि'ति तु **स्याद्वादिनो** वयम् । इत्थञ्च कार्यत्वस्य नानात्वेन तदवच्छिन्ननिरूपितकारणतावच्छेदकीभूतकर्तृत्वस्याऽपि नानात्वाऽऽपातेन कार्यत्व-कर्तृत्वाभ्या कार्य-कारणभावाङ्गीकारे लाघवतर्कावताराऽसम्भवेन सन्दिग्धोपाधिप्रयुक्तव्यभिचारसशयेन कार्यत्वनिष्ठव्याप्तिगोचरनिश्चयविघटनान्नानुमितिसम्भव इत्याशयेन प्रकरणाकृदाह- **न तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदक** = नानाकार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकीभूत **कर्तृत्व एक** सम्भवतीति शेष ।

वस्तुत. कर्तृत्वेन कार्यतावच्छिन्ननिरूपितकारणतावच्छेदकत्वमपि नास्ति ताद्रूप्येणैव कुलालादे. घटादिकर्तृत्वादित्याशयेनाऽऽह- **घटादो कुम्भकारादीना ताद्रूप्येण** = घटादिजननपरिणामपरिणतत्वेन, **हेतुतावश्यकत्वे** = हेतुत्वक्लृप्तौ, **सामान्यतः** = व्यापकधर्मत , **तथात्वे** = कारणत्वे, **मानाभावात्** = प्रमाणविरहादिति । अय भाव. कुलालादे घटजननपरिणामपरिणतत्वे सत्येवेतरकारणसाकल्यदशाया घट उत्पद्यते न तु शरावजननपरिणामपरिणतत्वे सतीति तथात्वेनैव कुलालादे घटादिकारणत्वम् । एव कुविन्दादे पटजननपरिणामपरिणतत्वेनैव पटकारणत्व न तु कर्तृत्वेन, अन्यथा कुलालादेरपि पटकारणत्व प्रसज्येत । **एतेन** कार्यत्व यदि कृतिजन्यत्वव्यभिचारि स्यात् तदा कृतिजन्यतावच्छेदक न स्यादित्यनुकूलतर्कसत्त्वान्न दोष इति **प्रत्युक्तम्,** कृतित्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावे मानाभावेनोक्ततर्कानवतारात् । **न चाऽन्वयव्यतिरेकावेव मानमत्रेति वक्तव्यम्,** कुलालकृतिसत्त्वे घट तदभावे च घटाभाव इति विशिष्यैवाऽन्वयव्यतिरेकग्रहात् विशिष्यैव कार्यकारणभावग्रहात् सामान्यत· कृतित्वकार्यत्वाभ्या हेतु-हेतुमद्भावे मानाभावात् । **न च** विशेषत कार्य-कारणभावग्रहेऽपि 'यद्विशेषयो'रितिन्यायेन सामान्यत कार्यकारणभावग्रह इति **वाच्यम्,** उक्तन्याये मानाभावेन सामान्यत. कार्यकारणभावासिद्धेरित्याशयेन प्रकृरणकृहदाह- **यद्विशेषयोरित्यादिन्यायस्येति** । यद्विशेषयो. कार्य-कारणभावोऽसति बाधके तत्सामान्ययोरपि' इति न्यायस्य । **मीमासकमते** चाक्षुष प्रति रूप स्पार्शन प्रति स्पर्श कारणम् । बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षसामान्ये न रूप न वा स्पर्शः कारण, प्रभावाय्वो. प्रत्यक्षे व्यभिचारात् । नापि गुण कारण, अतिप्रसङ्गात् । नापि रूपस्पर्शान्यतरत्कारण, तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नभिन्नत्वरूपस्याऽन्यतरत्वस्याऽपि गुरुत्वात्, विनिगमनाविरहेण गुरुतरकारणताद्वयप्रसङ्गाच्चेति न्यायेऽसति बाधक इत्युक्तम् । **अप्रामाणिकत्वादिति** । **न च** कार्याभावस्य कारणाभावप्रयोज्यतानियमेन कार्य प्रति कृतित्वेन कारणताऽनङ्गीकारे कार्याभाव

उसका अवच्छेदक कर्तृत्व भी पृथक् पृथक् होगा । अतः लाघव तर्क के अवतार से 'कार्य सकर्तृक कार्यत्वात्' - इस अनुमान मे शरीरजन्यत्वस्वरूप सदिग्ध उपाधि से प्रयुक्त व्यभिचार सदेह का प्रतिरोध नही हो सकता, क्योकि उपर्युक्त रीति से लाघव तर्क ही नामुमकिन है । अतः कार्यत्व हेतु से पर्वतादि के कर्ता के स्वरूप मे शकर भगवान सिद्ध नही हो सकते ।

☬ कुम्हारादि में ताद्रूप्य से हेतुता - स्याद्वादी ☬

घटादो इति । इसके अतिरिक्त बात यह भी ध्यातव्य है कि एक ही कुलाल दड, चक्र, चीवर, मिट्टी आदि सामग्री समान होने पर भी कभी घट वनता हे, तोकभी शराव, तो कभी खिलौना वनाता है । यह तभी उपपन्न हो सकता है, यदि कुम्हार ज्ञानात्मना घट, शराव, खिलौना आदि के साथ तद्रूप हो जाय । घटज्ञानपरिणत कुम्हार से घट की, शरावज्ञानपरिणत कुम्हार से शराव की ओर खिलौनाज्ञानपरिणत कुम्हार से खिलोने की उत्पत्ति होती है । अतः घटादि के प्रति कुम्हार आदि की तद्रूप से हेतुता माननी आवश्यक है । अतः अवश्य क्लृप्त ताद्रूप्य को छोड कर कर्तृत्व रूप से कारणता का स्वीकार करने मे कोई प्रमाण नही है । तथा ताद्रूप्य तो एक नही है । घट के प्रति घटज्ञानात्मना, पट के प्रति पटज्ञानात्मना इत्यादि जो परिणामविशेष है, वही ताद्रूप्य हे, जो एक नही है, अलग अलग है । अतः ताद्रूप्य से कारणता का नैयायिक महाशय स्वीकार करे तो भी लाघव तर्क का अवतरण नामुमकिन हे । अतः कार्यत्व हेतु मे शरीरजन्यत्वस्वरूप सदिग्ध उपाधि से प्रयुक्त व्यभिचार सशय का निवारण नामुमकिन है । अतः तथाविध ताद्रूप्य के आश्रयविधया भी महेश्वर की सिद्धि नही हो सकती है ।

यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि –> "तत् तत् परिणामविशेष से तत् तत् कार्य की कारणता का निर्णय विशेप कार्यकारणभाव का निश्चय है । विशेप कार्य-कारणभाव से सामान्य कार्यकारणभाव का निर्णय होता हे । जैसे नील घट ओर नील कपाल, पीत घट ओर पीत कपाल, रक्त घट और रक्त कपाल के वीज कार्य-कारणभाव निश्चित होने

अथ समवायेन जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतयोपादानप्रत्यक्षस्य हेतुत्वादस्तु व्द्य-

❀ जयलता ❀

किंप्रयोज्य ? इतिप्रश्ने तत्तत्कृत्यभावकूटप्रयोज्य इत्युत्तरकरणे गौरवभिया सामान्यत. कार्यकारणभावस्याऽवश्यमङ्गीकर्तव्यत्वात्। तथा च कार्याऽभाव किंप्रयोज्य ? इति प्रश्ने कृत्यभावप्रयोज्य इत्युत्तरकरणे लाघवम् । तच्च कृतित्वस्य कारणतावच्छेदकत्वमृते न सम्भवति, कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभावस्यैव कार्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभावप्रयोजकत्वात् । तथा चैतल्लाघवमेव प्रकृत-न्यायबीजमिति वाच्यम्, कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभाव एव कार्याभावे प्रयोजक इति न नियम , किन्तु स्वरूपसम्बन्ध-रूपप्रयोजकत्व प्रतीत्यनुरोधेन लघ्वनतिप्रसक्तधर्मावच्छेदेन कल्प्यत इत्येव नियम । तथा च लाघवादेव कारणतानवच्छेदक-कृतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य कार्याभावप्रयोजकत्व कृतित्वेन कार्यत्वेन च हेतु-हेतुमद्भाव विनाऽपि सूपपादमेव । न च घटत्व-पटत्व-कुलालकृतित्व-कुविन्दकृतित्वाद्यवच्छिन्नानन्तकार्य-कारणभावे गौरवनिश्चयरूपबाधकसत्त्वात् कार्यत्व-कृतित्वाभ्या-मेक एव कार्यकारणभाव कल्प्यत इति वक्तव्यम्, तन्तुवायकृतिसत्त्वे घटोत्पादवारणाय विशेषतोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्या घटत्व-कुलालकृतित्वादिना विशेषकार्य-कारणभावानामावश्यकत्वेन तादृशान्वयव्यतिरेकग्रहे कार्यत्व-कृतित्वाभ्या सामान्यकार्यकारणभाव-कल्पनेऽपि तादृशगौरवस्याऽवश्यमङ्गीकरणीयत्वात् । एतेन प्रवृत्ताविव घटादावपि ज्ञानादेरन्वय-व्यतिरेकाभ्या हेतुत्वसिद्धे तत्र घटत्व-पटत्वादीनामानन्त्यात्कार्यत्वमेव साधारण्यात् कार्यतावच्छेदकम्, शरीरलाघवापेक्षया सङ्ग्राहकलाघवस्य न्याय्यत्वात्, कृतेस्तु 'तद्विशेषयोरि'ति न्यायात्सामान्यतोऽपि हेतुत्वमिति प्रत्युक्तम्, कार्यत्वस्य कालिकेन घटत्व-पटत्वादिमत्त्वरूपस्य नानात्वात्, ध्वसव्यावृत्त्यर्थ देयस्य सत्त्वस्य विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहेणाऽतिगुरुत्वात्, विशेषाभावकूटेनैव सामान्याभावो-पपत्तौ अतिरिक्तसामान्याभावे मानाभावेन 'यद्विशेषयोरि'त्यादिन्यायस्याऽत्यन्ताऽयुक्तत्वात्, अन्यथा करणस्याऽप्येकस्य सिद्ध्या-पत्तेरित्यत्र प्रकरणकृत तात्पर्यम् ।

नैयायिको युक्त्यन्तरेणेश्वर साधयति- अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । समवायेन जन्यसत्त्वावच्छिन्न प्रतीति । जन्यसत्त्वञ्च सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टसत्त्व, विशिष्टस्य च न जातित्वमिति समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यसन्मात्रवृत्ति-वैजात्यावच्छिन्न-कार्यताविशिष्टमात्र प्रतीत्यर्थ । विशेष्यतया = स्वविशेष्यताऽऽख्यविषयतासम्बन्धेन उपादानप्रत्यक्षस्य = स-मवेतकार्यसमवायिकारणविशेष्यकाऽपरोक्षज्ञानस्य, हेतुत्वात् = हेतुत्वनिश्चयात् । यथा समवायेन घटादिकरणीभूते कपाले

पर घट सामान्य और कपाल सामान्य के बीच कार्य-कारणभाव का निश्चय होता है । अथवा अवयविरूप और अवयवरूप, अवयविरस और अवयवरस, अवयविगन्ध और अवयवगन्ध, अवयविस्पर्श और अवयवस्पर्श के बीच विशेष कार्यकारणभाव का निश्चय होने पर अवयविगुण और अवयवगुण के बीच सामान्य कार्यकारणभाव का निश्चय होता है । इस तरह घट और घटपरिणाम, पट और पटपरिणाम के बीच विशेष कार्यकारणभाव का निर्णय होने पर भी कार्यसामान्य और परिणामसामान्य के बीच (सामान्य) कार्य-कारणभाव निश्चित किया जा सकता है । इसलिए कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति परिणामात्मना कारणता का निर्णय मुमकिन होने से तादृश परिणाम सामान्य (=तादूप्य सामान्य) के आश्रयविधया तो पार्वतिपति की सिद्धि हो सकती है । तादृश कार्य-कारणभाव मे लाघव होने से कार्यत्व हेतु मे शरीरजन्यत्वस्वरूप सन्दिग्ध उपाधि से प्रयुक्त व्यभिचारसशय का प्रतिरोध होने से तादृश अनुमिति होने मे कोई दोष नही है'' <— तो यह नैयायिककथन नामुनासिब है, क्योंकि 'विशेष कार्य और विशेष कारण के बीच कार्य-कारणभाव निश्चित होने पर सामान्य कार्य और सामान्य कारण के बीच कार्यकारणभाव होता है' इस नियम मे कोई प्रमाण नही होने से उसका स्वीकार नही हो सकता है । अप्रमाणिक नियम के आधार पर ईश्वर की सिद्धि कैसे की जा सकती ? यदि उक्त नियम को प्रामाणिक माना जाय तब तो द्रव्य और जन्यभाव के बीच ही हेतु-हेतुमद्भाव की सिद्धि होने से तन्तु और पट, कपाल और पट के बीच विशेष कार्य-कारणभाव का व्यवहार और बुद्धि अप्रामाणिक बनने की आपत्ति आयेगी ।

❀ द्व्यणुकोपादानप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वरसिद्धि नामुमकिन ❀

अथ सम इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाता है कि —> ''समवाय सम्बन्ध से जन्य सत्तावान् के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से उपादानविशेष्यक प्रत्यक्ष हेतु है, यह प्रसिद्ध कार्य-कारणभाव है । समवायसम्बन्ध से घट, जो कि जन्य-सत्तावान् है, कपाल मे उत्पन्न होता है, वहाँ कपालविशेष्यक कुलालप्रत्यक्ष विशेष्यता सम्बन्ध से रहता है । यदि कुम्हार को कपाल का प्रत्यक्ष न हो तो वह घट को कैसे उत्पन्न कर सकता ? इस तरह द्व्यणुक आदि कार्य भी जन्यसत्तावान् है।

णुकादिजनकप्रत्यक्षाश्रयतयेश्वरसिद्धिरिति चेत् ? न, अन्यस्योपादानप्रत्यक्षे सत्यप्यन्यस्य कार्यानुत्पत्तेश्चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्वादिना हेतुत्वे द्व्यणुकादावुपादानप्रत्यक्षस्याऽहेतुत्वात् ।

※ जयलता ※

विशेष्यतासम्बन्धेन वर्तमानस्योपादानभूतकपालसाक्षात्कारस्याश्रयत्व कुलाले तथा समवायेन द्व्यणुकाधिकरणीभूते परमाणौ विशेष्यतया वर्तमान्सय परमाणुविशेष्यकसाक्षात्कारस्याश्रयविधयेश्वरसिद्धिरित्याशयेनाह-**द्व्यणुकादिजनकप्रत्यक्षाश्रयतया** = द्व्यणुक-त्र्यणुकजनकस्य परमाणु-द्व्यणुकविशेष्यकप्रत्यक्षस्याश्रयविधया, **ईश्वरसिद्धिः** = अस्मदादिविलक्षणपुरुषविशेषसिद्धिः, परमाण्वाद्य-दर्शिनामस्मदादीना द्व्यणुकाद्युपादानप्रत्यक्षाश्रयत्वबाधेन पारिशेषन्यायादस्मदादिविलक्षणस्य पुरुषमुख्यस्येश्वरप्रतिपाद्यस्य तदाश्रयत्वेन सिद्धिरित्यत्र नैयायिकाकूमत् ।

स्याद्वादी तदपहस्तयति - नेति । **अन्यस्य** = मैत्रादे , **उपादानप्रत्यक्षे** = घटाद्युपादानविशेष्यकसाक्षात्कारे **सत्यपि अन्यस्य** = चैत्रादे , **कार्यानुत्पत्तेः** = घटादिकार्यानुत्पादात् । समवायेन चैत्रीयघटाद्यधिकरणत्वेनाऽभिमते कपालादौ विशेष्य-तासम्बन्धेन कपालादिविशेष्यकस्य मैत्रादिसमवेतस्य प्रत्यक्षस्य सत्त्वेऽपि चैत्रीयघटानुत्पादेनाऽन्वयव्यभिचारान्नाय कार्य-कारण-भावो युक्तो येन तद्बलात्पारिशेषन्यायेनेश्वरसिद्धि स्यादिति स्याद्वाद्यभिप्राय ।

ननु जन्यसन्मात्रवैजात्य-समवायिकारणप्रत्यक्षत्वाभ्या सामान्यत कार्य-कारणभावाभ्युपगमेऽपि विशेष्यतया कुलाल-समवेतोपादानप्रत्यक्षसत्त्वे पटोत्पत्तिवारणाय विशेषतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्या घटत्व-पटत्व-कपालगोचरकुलालप्रत्यक्षत्व-तन्तुविशेष्यक-तन्तुवायप्रत्यक्षत्वादिना विशेषकार्यकारणभावाऽभ्युपगमान्नोपदर्शितान्वयव्यभिचारावकाश., समवायेन चैत्रीयघट प्रति स्वविशेष्यता-सम्बन्धेन कपालधर्मिकचैत्रीयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वादिति नैयायिकाऽऽशङ्कायामाह- **चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्वादिना हेतुत्वे** = चैत्रीय-घटादिकारणत्वे नैयायिकेनाऽभ्युपगम्यमाने इति गम्यते । अत्र दोषमाह- **द्व्यणुकादाविति** । आदिपदेन त्र्यणुकादिग्रहणम् । **उपादानप्रत्यक्षस्य** = परमाण्वादिविशेष्यकसाक्षात्कारस्य, **अहेतुत्वात्** = हेतुत्वाऽसम्भवादिति । विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नोपा-दानप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतावच्छेदकधर्मत्वस्य परेण जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्ये एव स्वीकारेण द्व्यणुकत्वादेस्तदसम्भवान्न समवायेन द्व्यणुकत्वाद्यवच्छिन्ने विशेष्यतया उपादानप्रत्यक्षसामान्यस्य कारणत्व सम्भवति । न च समवायेन द्व्यणुकादौ विशेष्यतयेश्वरीयोपादानप्रत्यक्षस्य हेतुत्वसम्भव , अन्योन्याश्रयकलङ्कस्य दु.प्रक्षालनीयत्वापत्ते , ईश्वरसिद्धौ सत्या द्व्यणुकादावीश्वरीयोपादानप्रत्यक्षकारणत्वसिद्धे , तत्सिद्धौ चेश्वरसिद्धेरिति । चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्वादिना तु द्व्यणुकादि-कारणत्वाऽसम्भव एव, सम्भवे वा कृतमीश्वरेण । न चैव द्व्यणुकादौ जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यस्योपादानप्रत्यक्षप्रयोज्यत्वेऽपि

वह समवाय सम्बन्ध से परमाणु आदि मे उत्पन्न होता है । अतः द्व्यणुकादि के कारण परमाणुआदिविशेष्यक प्रत्यक्ष भी विशेष्यतासम्बन्ध से परमाणु आदि मे रहना चाहिए, क्योकि कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से कार्याधिकरणविधया अभिमत मे कारणताव-च्छेदक-सम्बन्ध से कारण के रहने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है । मगर परमाणु आदि विशेष्यक प्रत्यक्ष आमजनता को तो नही हो सकता । अतः आमजनता से विलक्षण पुरुषविशेष को ही परमाणुआदिविशेष्यक प्रत्यक्ष का आश्रय मानना चाहिए । वह पुरुषविशेष ही ईश्वर है । अतः समवायसम्बन्धावच्छिन्न-द्व्यणुकत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित विशेष्यतासंसर्गावच्छिन्नपरमा-णुप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न कारणता के अधिकरणीभूत परमाणुप्रत्यक्ष के आश्रयविधया त्रिलोचन ईश्वर की सिद्धि हो सकती है'' <-

नान्य इति । मगर यह नैयायिककथन भी ईश्वरसाधक नही हो सकता । इसका कारण यह है मैत्र को तन्तुविशेष्यक 'इमे तन्तवः' इत्याकारण प्रत्यक्ष होने पर भी चैत्र से पट की उत्पत्ति नही होती है । अतः केवल उपादानप्रत्यक्षत्वरूप से जन्य भाव पदार्थ के प्रति कारणत्व की कल्पना नही की जा सकती, क्योकि उपर्युक्त अन्वय व्यभिचार तादृश कार्यकारणभाव के निश्चय का विघटक है । अत चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षत्व आदि रूप से ही जन्य भाव की कारणता का स्वीकार करना होगा। अर्थात् समवायस म्बन्ध से चैत्रीय पट के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से चैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष (= तन्तुविशेष्यक साक्षात्कार) हेतु हे, समवाय सम्बन्ध से मैत्रीय पट के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से मैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष हेतु हे इत्यादि रूप मे कार्य-कारणभाव का स्वीकार करना उचित हे । तब अन्वय व्यभिचार का निवारण हो सकता हे । मगर उपादानप्रत्यक्ष के विशेषणविधया चैत्र, मैत्र आदि प्रसिद्ध व्यक्तियो का ही निवेश हो सकता है, न कि अप्रसिद्ध ईश्वर का । अतः द्व्यणुक आदि के उपादान परमाणु आदि का प्रत्यक्ष ईश्वरीयोपादानप्रत्यक्षत्वरूप से तो द्व्यणुकादि जन्य भाव कार्य का कारण नही हो सकता । अप्रसिद्ध का विशेषणविधया निवेश अदृष्ट है । तथा अन्वय व्यभिचार दोष की वजह द्व्यणुक आदि जन्य भाव के प्रति उपादानप्रत्यक्षत्वरूप

अस्तु वा लाघवादुपादानप्रत्यक्षस्य स्वजन्यकृतिविशेष्यत्वसम्बन्धेनैव हेतुत्वम् । न च चैत्रकृतेरप्यन्ततः कालोपाधितयाऽपि मैत्रोपादानप्रत्यक्षजन्यतयाऽतिप्रसङ्गः, सामानाधिक-

※ जयलता ※

द्व्यणुकत्वादेराकस्मिकत्वप्रसङ्गभिया तदाश्रयजनकोपादानप्रत्यक्षाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरिति वक्तव्यम्, अस्मन्नये विस्रसापरिणामप्रयोज्यत्वेन तदाकस्मिकत्वप्रच्यवात् ।

प्राचीनवादेन प्रकरणकृदाह- अस्तु वेति । लाघवात् = कारणतावच्छेदकधर्मबाहुल्यप्रयुक्तगौरवविरहात्, उपादानप्रत्यक्षस्य स्वजन्यकृतिविशेष्यत्वसम्बन्धेनैवेति एवकारेण स्वविशेष्यतासम्बन्धस्य व्यवच्छेदः कृतः । समवायेन जन्यसन्मात्रवृत्तिसत्तात्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वम् । सम्बन्धकुक्षिप्रविष्टजन्यपदं प्रयोज्यपरं, ज्ञानस्य स्वाजनकत्वात्, चिकीर्षाया कृतिजनकत्वात् । कृतेः सम्बन्धकुक्षौ निवेशेन चैत्रीयोपादानप्रत्यक्षे सति मैत्रीयप्रयत्नादुपादेयोत्पत्त्यतिप्रसङ्गानवकाशः । कृतौ कारणत्वकल्पनाया अनावश्यकत्वेन लाघवञ्च । य इष्टसाधनत्वादिना जानाति स चिकीर्षति यतते नियमेन कपालप्रत्यक्षजन्यचिकीर्षया कपालविशेष्यककृतिजननदशायामेव घटोपादानगोचरकुलालसमवेतप्रत्यक्षं स्वजन्यजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्धेन कपाले वर्तते तदैव तत्र समवायेन घटोऽपि जायत एवेति कृत्यनुत्पादावस्थायामुपादानप्रत्यक्षे सत्यपि कार्यानुत्पादेऽप्यन्वयव्यभिचारानवकाशः, कारणतावच्छेदकसम्बन्धेनोपादाने कारणस्यैवाऽसत्त्वादिति भावः ।

ननु 'जन्यानां जनकः कालः' (कारि ४५) इति वचनात् मैत्रीयकपालप्रत्यक्षकाले या तन्तुगोचरचैत्रीयकृतिः भविष्यति तं प्रति घटोपादानविषयकमैत्रीयप्रत्यक्षकालस्य कारणत्वं तादृशकालोपाधितया मैत्रसमवेतकपालप्रत्यक्षस्याऽपि कारणत्वमिति तन्तुविशेष्यकचैत्रसमवेतकृतेः कालोपाधितया कपालगोचरमैत्रसमवेतप्रत्यक्षजन्यतया समवायेन चैत्रीयपटं प्रति स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्धेन कपालगोचरमैत्रसमवेतप्रत्यक्षस्याऽपि कारणत्वं प्रसज्येत । न च कालोपाधितया जन्यजनकभावस्य न प्रामाणिकत्वमिति वाच्यम्, सूर्योदयसमये एव भुञ्जानस्य भुजिक्रियां प्रति कालविशेषणतया सूर्योदयस्य हेतुत्वस्याऽनपलपनीयत्वात्, अन्यथा ततः प्रागपि भोजनं प्रसज्येतेति नोक्तसम्बन्धेनोपादानप्रत्यक्षस्य कारणत्वं घटामित्याशङ्कामपाकर्तुमुपक्षिपति - न चेति । शङ्काग्रन्थस्य भावितत्वात्स्पष्टत्वमेव । अतिप्रसङ्गनिराकरणाय हेतुमाह - सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्येति ।

से तो उपादानप्रत्यक्ष हेतु ही नहीं हो सकता । अतः तादृश उपादानप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण असिद्ध होने पर कारणाश्रय की कैसे सिद्धि हो सकती है ? अतः ईश्वर की कल्पना केवल कल्पना है, न कि वास्तविकता।

※ उपादानप्रत्यक्षकारणता में लाघव ※

अस्तु वा इति । अथवा उपादान प्रत्यक्ष को उपादेय का कारण माना जा सकता है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने मे लाघव है । लाघव यह है कि उपादान प्रत्यक्ष को जन्य भाव का कारण मानने पर इच्छा, प्रयत्न का कारणतावच्छेदकसम्बन्ध मे निवेश करने से ही अन्वयव्यभिचार का वारण हो सकता है । वह इस तरह - उपादान के प्रत्यक्ष से उपादानविशेष्यक प्रयत्न उत्पन्न होता है । उपादानप्रत्यक्ष के विना तद्विशेष्यक प्रयत्न नहीं होता है । अतः उपादानविशेष्यक प्रयत्न के प्रति उपादानप्रत्यक्ष कारण होता है । उसी उपादान मे समवाय सम्बन्ध से उपादेय उत्पन्न होता है । अतः समवाय सम्बन्ध से कार्य के प्रति उपादानप्रत्यक्ष स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से हेतु कहा जा सकता है । उदाहरणरूप से कपालप्रत्यक्ष स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कपाल मे रहेगा और वहाँ समवाय सम्बन्ध से घट उत्पन्न होता है । मगर जब तक कुम्हार कपाल मे प्रयत्न नहीं करता है, तब तक स्वजन्यविशेष्यतासम्बन्ध से कपालप्रत्यक्ष कपाल मे नहीं रहता है, क्योंकि स्व = कपालप्रत्यक्ष से कपालविशेष्यक प्रयत्न उत्पन्न ही नहीं हुआ है । इस तरह से उपादानविशेष्यक प्रयत्न का कारणतावच्छेदकसम्बन्ध मे प्रवेश करने से स्वतन्त्र कारणता से स्वीकार का गौरव भी अप्रसक्त है तथा चैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष होने पर मैत्रीय प्रयत्न से उपादेय की उत्पत्ति के अतिप्रसङ्ग की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि चैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष से मैत्रीय उपादानविषयक प्रयत्न जन्य नहीं होने से स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से चैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष प्रयत्न उपादान मे नहीं रहता है । अतः चैत्रीयत्व आदि का उपादानप्रत्यक्ष के विशेषणविधया निवेश करने का गौरव भी अनावश्यक है । अतः स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से उपादान प्रत्यक्ष को समवाय सम्बन्ध से उपादेय का कारण मानना युक्त है ।

※ ईश्वरप्रत्यक्ष में स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कारणता नामुमकिन ※

न च चैत्र इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति

रण्यप्रत्यासत्त्या जन्यताया विवक्षितत्वात् । तथा चेश्वरप्रत्यक्षस्याऽनेन सम्बन्धेन न हेतुत्वमिति नोक्तयुक्त्येश्वरसिद्धिः ।

अपि चोपादानप्रत्यक्षत्वेन न हेतुत्वं, तदनुमित्यादिनापि योगिनां मनोवहनाड्यादौ

❀ जयलता ❀

समवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेनेत्यर्थः । तेन न कालिकादिना सामानाधिकरण्यमादाय पूर्वदोषतादवस्थ्यम् । **जन्यातायाः** = उपादानकृतिनिष्ठप्रयोज्यतायाः, **विवक्षितत्वादिति** । मैत्रीयोपादानप्रत्यक्षस्य समवायेन मैत्राधिकरणकत्वाच्चैत्रीयकृतेश्च चैत्रसमवेतत्वेन तद्व्यधिकरणत्वान्न सामानाधिकरण्यससर्गेण मैत्रीयोपादानप्रत्यक्षजन्यत्वम् । स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्धेन कपालगोचरमैत्रसमवेतप्रत्यक्षस्य चैत्रीयपटोपादानेऽवर्तमानत्वेन नोपदर्शितातिप्रसङ्गावकाश इति प्रकरणकृदाशयः ।

'अस्त्वयमेव कार्यकारणभावः तथापीश्वर सेत्स्यत्येव, द्व्यणुकोपादानप्रत्यक्षस्य द्व्यणुकजनकस्याऽस्मदादिष्वसम्भवात् तदाश्रयतयेश्वरपदप्रतिपाद्यस्य सिद्धिः । सिद्धो धर्म एको नित्यश्चेत्तदा लाघवमिति न्यायसहकारेणेश्वरीयज्ञानादौ नित्यत्वमेकत्वञ्च भासत' इति पराशङ्कायामाह- **तथा चेति** । लाघवसहकारेणोक्तकार्यकारणभावसिद्धौ चेति । **ईश्वरप्रत्यक्षस्य** = उपादानगोचरेश्वरसमवेतसाक्षात्कारस्य, **अनेन** = स्वजन्यकृतिविशेष्यत्वलक्षणेन, **सम्बन्धेन न हेतुत्व** सम्भवति, तत्कृत्यादे नित्यत्वाऽभ्युपगमेन सामानाधिकरण्यसम्बन्धेनेश्वरीयोपादानप्रत्यक्षजन्यत्वविरहेण स्वजन्यकृत्यसिद्धौ तद्घटितसम्बन्धेनेश्वरीयोपादानप्रत्यक्षस्य कारणत्वाऽसम्भवात्, **न उक्तयुक्त्या** = समवायेन जन्यसन्मात्र प्रति उपादानप्रत्यक्षस्य हेतुत्वमिति युक्त्या, द्व्यणुकोपादानप्रत्यक्षाश्रयविधया **ईश्वरसिद्धिः** सम्भवति ।

किञ्च यद्धर्मावच्छिन्ने यदर्थिप्रवृत्तिः तद्धर्मावच्छिन्ने तत्प्रकारकज्ञानमात्रस्य हेतुत्वात्कथमीश्वरीयोपादानज्ञानस्य प्रत्यक्षत्व सिद्ध्येत ? इत्याशयेन प्रकरणकृदाह- **अपि चेति** । **उपादानप्रत्यक्षत्वेन न हेतुत्व** = उपादानप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नत्व समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नकार्यत्वनिरूपितकारणताया नास्ति । हेतुमाह - **तदनुमित्यादिनाऽपि** = उपादानगोचरानुमित्यागमादिनाऽपि प्रणिधानाद्यर्थं **योगिना मनोवहनाड्यादो** प्रवृत्तिश्रवणादिति । योगिपदमुपादानानुमित्यादिना

स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से जन्यभावोपादानविशेष्यक प्रत्यक्ष को कारण मानने पर तो चैत्रीय कृति से जन्य घट के प्रति मैत्रीय कपालप्रत्यक्ष मे भी कारणता के स्वीकार का अतिप्रसग आयेगा, क्योकि चेत्रीयप्रयत्न जन्य होने से काल की उपाधि बनता हे और जन्यभावमात्र के प्रति काल साधारण कारण होता है । अतः कालिक सम्बन्ध से मैत्रीय उपादनप्रत्यक्ष भी चेत्रीय प्रयत्न का कारण होगा । अतः चेत्रीय प्रयत्न मे मैत्रीयउपादानप्रत्यक्ष से जन्यत्व रहने से चेत्रीय घटादि के प्रति स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से मेत्रीय कपालादिप्रत्यक्ष मे कारणता के स्वीकार का अतिप्रसङ्ग होगा'' <— तो यह कथन ठीक नही है, क्योकि जन्यता कालिकसम्बन्ध से नही अपितु समवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्ध से विवक्षित है । चेत्रीय कृति समवाय सम्बन्ध से चैत्र मे रहती है । अतः सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से वह चैत्रीय प्रत्यक्ष से जन्य हे, न कि मैत्रीय प्रत्यक्ष से । समवाय सम्बन्ध से मैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष की अधिकरणता चत्र मे नही रहती हे । इस तरह समवायघटित सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से मैत्रीय उपादानप्रत्यक्ष से चेत्रीय उपादानप्रयत्न जन्य ही नही होने से उपर्युक्त अतिप्रसग की सम्भावना नही है। अतः समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति स्वजन्यकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से जन्यभावोपादानप्रत्यक्ष को कारण माना जा सकता हे। मगर यह सिद्ध होने पर ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि नेयायिक के अभिमत ईश्वरप्रत्यक्ष मे स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध के कारणता ही नामुमकिन हे । नैयायिक के मतानुसार ईश्वर के प्रत्यक्ष की भाँति ईश्वरीय प्रयत्न भी नित्य ही है । जब कि ईश्वरसमवेतप्रत्यक्षजन्यत्व ही ईश्वरीय प्रयत्न मे नही हे, तब समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति ईश्वरप्रत्यक्ष स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कारण केसे हो सकेगा ? उपर्युक्त सम्बन्ध से ईश्वरप्रत्यक्ष मे जन्यभाव की कारणता ही नामुमकिन होने से समवाय सम्बन्ध से द्व्यणुक के प्रति स्वजन्यप्रयत्नविशेष्यतासम्बन्ध से कारणीभूत परमाणुप्रत्यक्ष की एव उसके आश्रयविधया ईश्वर की सिद्धि भी उपर्युक्त नेयायिकयुक्ति से नही हो सकती । अतः 'समवाय से जन्यसन्मात्र के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से जन्यसत्पदार्थ के उपादान का प्रत्यक्ष कारण हे' - यह नेयायिकीय युक्ति भी ईश्वरसाधक नही हो सकती है ।

❊ उपादानप्रत्यक्षत्वेन कारणता ही असिद्ध - स्याद्वादी ❊

अपि चा इति । वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तब तो समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति उपादानप्रत्यक्ष मे कारणता ही असिद्ध है, क्योकि उपादान की अनुमिति आदि से भी उपादानप्रयत्न हो सकता हे और उपादेय भी उत्पन्न

प्रवृत्तिश्रवणात् । तथा चेश्वरप्रत्यक्षमप्यसिद्धमेव बोध्यम् । न च तस्यानुमित्यादिरूपत्वे परामर्शादिजन्यतावच्छेदककोटौ जन्यत्वनिवेशे गौरवमिति तद्भेदे सिद्धे पारिशेष्यात्प्रत्य-

जयलता

कार्यं कुर्वतामुपलक्षणम् । अनलपरमाण्वाद्यपरोक्षज्ञानविकलानामज्ञानादीनामपि तदनुमित्यादिना अनलादौ शतशः प्रवृत्तेर्दर्शनात् अस्थिमज्जामांसाद्युपादानगोचरप्रत्यक्षज्ञानरहितानामपि गर्भस्थबालादीनां तदपरोक्षज्ञानेन सहप्रवृत्तिः तत्र प्रवृत्तेरुपलम्भात् नोपादानसाक्षात्कारत्वेन कारणत्वं कल्पनामर्हति । तथा च = उपादानप्रत्यक्षत्वेन कारणत्वासिद्ध्या च, समवायेन द्व्यणुकादि-कार्यं प्रति कारणविधया ईश्वरप्रत्यक्षं = परमाण्वादिगोचरेश्वरसमवेतप्रत्यक्षं, कारणतावच्छेदकधर्मविधया च तत्र प्रत्यक्षत्वं, असिद्धमेव बोध्यम् ।

पराशङ्कां निराकर्तुमाह- न चेति । तस्य = द्व्यणुकाद्युपादानगोचरज्ञानस्य, अनुमित्यादिरूपत्वे आदिपदेनोपमितिशा-ब्दबोधग्रहणं, परामर्शादिजन्यतावच्छेदककोटौ = परामर्श-सादृश्यज्ञानपदज्ञाननिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदककुक्षौ, जन्य-त्वनिवेशे गौरवमिति । समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति उपादानज्ञानस्य हेतुत्वाऽभ्युपगमेन सिद्धं द्व्यणुकाद्युपादानज्ञानं यद्यनु-मितिस्वरूपं स्यात् तदा परामर्शजन्यतावच्छेदकमनुमितित्वं न स्यात् किन्तु जन्यानुमितित्वं स्यात्, अनतिरिक्तवृत्तित्वात् । यदि हि तदुपमितिरूपं स्यात् तर्हि सादृश्यज्ञानकार्यतावच्छेदकमुपमितित्वं न स्यात्, ईश्वरीयोपमितेर्नित्यत्वेनोपमितित्वस्य सादृश्य-ज्ञाननिरूपितकार्यतातिरिक्तवृत्तित्वात् किन्तु जन्योपमितित्वमेव तथा स्यात् । यदि च तच्छाब्दबोधात्मकं स्यात्तर्हि पदज्ञानत्वा-वच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकत्वं शाब्दबोधत्वस्य न भवेत्, नित्यवृत्तिधर्मस्य कार्यतानवच्छेदकत्वनियमादिति जन्य-शाब्दबोधत्वस्यैव तत्त्वं वाच्यमिति गौरवभिया ईश्वरसमवेतस्य द्व्यणुकाद्युपादानगोचरज्ञानस्यानुमित्यादिभिन्नत्वं सिध्यति । ततः पारिशेष्यन्यायात्तस्य प्रत्यक्षत्वसिद्धिरित्याशयेन पर आह- तद्भेदे = अनुमित्यादिभेदे सिद्धे पारिशेष्यात् = ईश्वरीयज्ञाने प्रसक्तानुमितित्वोपमितित्वशाब्दबोधत्वानामनुभवत्वसाक्षाद्व्याप्यानां प्रतिषेधात् शिष्यमाणे प्रत्यक्षत्वे सम्प्रत्ययात् तत्र प्रत्य-क्षत्वसिद्धिः । न च तस्य स्मृतित्वमेवाऽस्त्विति वाच्यम्, अनुभवजन्यतावच्छेदककोटौ स्मृतित्वं विहाय जन्यस्मृतित्वोपगमे गौरवादिति तस्य प्रत्यक्षत्वमेव युक्तमिति शङ्काशयः ।

हो सकता है । यह तो नैयायिक को भी अवश्य स्वीकार्य होगा, क्योंकि योगी पुरुष मनोवाहक नाडियों की अनुमिति कर के उनमें प्रवृत्ति करते हैं, समाधि लगाते हैं - यह नैयायिकसम्प्रदाय में भी सुना गया है । जादूगर भी पेडा, बरफी आदि के उपादान का प्रत्यक्ष किये विना ही अपने मंत्र के बल से पेडा आदि का निर्माण करता है । अरे ! पामर लोग भी अग्नि के परमाणु आदि उपादान का प्रत्यक्ष किये विना ही अग्नि को उत्पन्न करते है । अतः परमाणु आदि का ईश्वरप्रत्यक्ष भी असिद्ध ही है । अतः परमाणुप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती ।

न च त इति । यहाँ नैयायिक की ओर से कहा जाय कि –> ''योगी की भाँति ईश्वर का भी परमाणुविषयक ज्ञान अनुमितिस्वरूप माना जाय तब तो परामर्श की कार्यतावच्छेदक कोटि में जन्यत्व का भी निवेश करने का गौरव होगा, क्योंकि अनुमितित्व को ईश्वरीय अनुमिति में भी रहेगा, जहाँ परामर्श की कार्यता नहीं रहती है । कार्यता की अतिरिक्तवृत्ति धर्म कार्यताअवच्छेदक = कार्यता का नियामक कैसे हो सकता है ? अतः परामर्शजन्यतावच्छेदक जन्यानुमितित्व मानना होगा । इस तरह ईश्वर का परमाणुआदिविषयक ज्ञान उपमिति आदिस्वरूप होगा, तो सादृश्यज्ञानादि का जन्यताअवच्छेदक उपमितित्व आदि न हो कर जन्योपमितित्व आदि धर्म मानना होगा । ईश्वरज्ञान को प्रत्यक्षात्मक न मानने पर परामर्शादि की कार्यतावच्छेदककोटि में जन्यत्व का निवेश करने का गौरव उपस्थित होता है, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान तो नित्य होता है। इस गौरव दोष के सबब ही नित्य ईश्वरीय परमाणुआदिविषयक ज्ञान अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोधस्वरूप नहीं माना जा सकता । प्रसक्त का प्रतिषेध होने से तथा वह ज्ञान होने से पारिशेष न्याय से ईश्वरीय ज्ञान में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है । अतः ईश्वर के ज्ञान को प्रत्यक्षस्वरूप ही मानना उचित है । अतः परमाणुआदि के प्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वर की सिद्धि हो जायेगी'' <– तो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि ईश्वरज्ञान को प्रत्यक्षात्मक मानने पर भी इन्द्रियादि की जन्यतावच्छेदक कोटि में जन्यत्व के निवेश का गौरव तो अव्याहत ही है । इन्द्रिय का जन्यतावच्छेदक केवल प्रत्यक्षत्व नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यताशून्य नित्य ईश्वरप्रत्यक्ष में भी वह रहता है । इन्द्रियकार्यता से अतिरिक्तवृत्ति होने की वजह प्रत्यक्षत्व इन्द्रिय का कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता । अतः जन्यप्रत्यक्षत्व को ही इन्द्रिय का कार्यतावच्छेदक मानना होगा । अतः ईश्वर के ज्ञान को प्रत्यक्षस्वरूप मानने पर भी कार्यतावच्छेदककोटि में जन्यत्व के निवेश का गौरव तो अपरिहार्य ही बनता है । हाँ,

क्षत्वसिद्धि , एवमपीन्द्रियादिजन्यतावच्छेदककोटौ जन्यत्वप्रवेशे गौरवस्य तुल्यत्वात् ।

किञ्च सकलकार्यजनकनित्यैकप्रत्यक्षसिद्धावपि नेश्वरसिद्धिः, गुणस्य साश्रयकत्वव्याप्तौ मानाभावात्,

❀ जयलता ❀

प्रकरणकारोऽभ्युपगमवादेन तन्निराकरोति- **एवमपीति** । द्व्यणुकाद्युपादानगोचरेश्वरीयज्ञाने प्रत्यक्षत्वाऽभ्युपगमेऽपि, **इन्द्रियादिजन्यतावच्छेदककोटौ** इन्द्रिय-तत्सन्निकर्ष-विषयादिनिष्ठकारणतानिरूपिताया कार्यताया अवच्छेदकत्वकुक्षौ, **जन्यत्वप्रवेशे गोरवस्य तुल्यत्वादिति** । न हीश्वरीयोपादानज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे इन्द्रियादिजन्यतावच्छेदक प्रत्यक्षत्व सम्भवति नित्यानित्यवृत्तितया तस्य कार्यतानवच्छेदकत्वात् किन्तु जन्यप्रत्यक्षत्वस्यैव तत्त्व परेण वाच्यम् । तथा च कार्यतावच्छेदकशरीरे जन्यत्वनिवेशस्तु सम एव । **न च** मया जन्यप्रत्यक्षमात्रवृत्तिवैजात्यस्यैवेन्द्रियादिकार्यतावच्छेदकत्वाभ्युपगमान्न दोष., जन्यत्वादे. तत्परिचायकत्वादिति **वाच्यम्**, अतिरिक्तवैजात्यकल्पने गौरवात्, मम जन्यानुमित्यादिमात्रवृत्तिवैजात्येऽपि परामर्शादिजन्यतावच्छेदकत्वस्य सुवचत्वात् । ततश्चानुमितित्वादिना विनिगमनाविरहान्न तस्य प्रत्यक्षत्वसिद्धिरिति स्याद्वाद्याशय. ।

किञ्च, उपादानप्रत्यक्षस्य लौकिकस्य हेतुत्वात्कथमीश्वरे तत्सिद्धि. ? अस्तु वा तस्य प्रत्यक्षत्व तथापि निराश्रयमेव तदस्तु । दृष्टविपरीतकल्पनभिया तु नित्यज्ञानादिकमपि कथ कल्पनीयम् ? अभिहितश्चायमेवाऽर्थ —> 'बुद्धिश्चेश्वरस्य यदि नित्या व्यापिकैवाऽभ्युपगम्यते, तदा सैवाऽचेतनपदार्थाधिष्ठात्री भविष्यति, इति किमपरतदाधारेश्वरपरिकल्पनया ?' <— इत्यादिना **सम्मतिटीकायामपी**त्याशयेन प्रकरणकारो महेश्वरमुन्मिलयितुमभ्युपगमवादेन प्राह- **किञ्चेति** । कार्यं स्वोपादानप्रत्यक्षजन्य कार्यत्वादित्यनुमानेन प्रकृते **सकलकार्यजनकनित्यैकप्रत्यक्षसिद्धावपि नेश्वरसिद्धिः** ।

ननु नित्यैकप्रत्यक्षसिद्धौ सत्यामस्मदादिषु तद्बाधेन तदाश्रयविधयेश्वरसिद्धिरवश्यम्भाविनी, गुणत्वस्य साश्रयकत्वव्याप्यत्वात् । प्रयोगश्चैव - विवादास्पदीभूत प्रत्यक्ष साश्रयक गुणत्वात्, घटनीलरूपवदित्याशङ्काया प्रकरणकार· प्राह- **गुणस्य साश्रयकत्वव्याप्तौ मानाभावादिति** । स्वसमवायिकारणनाशानन्तरमेव गुणाना नाशाभ्युपगमात् क्षणमेकमनन्ताना गुणाना निरधिकरणत्वात्तादृशव्याप्तौ व्यभिचारेण मानाभाव । अनन्ताना गुणाना क्षणमेकमिव नित्यस्यैकस्य प्रत्यक्षस्यानन्तक्षण निराश्रयत्वे वाधकाभावान्नेश्वरसिद्धि ।

पहले परामर्शादि की कार्यतावच्छेदक कोटि मे जन्यत्व के निवेश का गोरव होता था, अव वह इन्द्रियादि की कार्यतावच्छेदक कोटि मे प्रसक्त होता है, मगर कार्यतावच्छेदककोटि मे जन्यत्व के प्रवेश का गौरव तो ज्यो का त्यो ही वना रहता है । अतः ईश्वरी परमाणुआदिगोचर ज्ञान भी प्रत्यक्षात्मक माना जाय या अनुमितिआदिस्वरूप? इस समस्या का समाधान नैयायिक की ओर से नही दिखाया जा सकता । अतः परमाणुआदिस्वरूप उपादानप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वर की सिदिध नही हो सकती हे - यह उपर्युक्त विचार से फलित होता है ।

❋ गुण में साश्रयकत्वव्याप्ति अप्रामाणिक ❋

किञ्च इति । दूसरी वात यह हे कि सकल कार्य के जनक एक नित्य प्रत्यक्ष को नैयायिक येन केन प्रकारेण सिद्ध करे तो भी उसके वल से ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती हे । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "नित्य प्रत्यक्ष की सिद्धि होने पर तो ईश्वर की सिद्धि उसके आश्रय के रूप मे हो ही जायेगी, क्योकि ईश्वर प्रत्यक्ष गुण है और गुणमात्र आश्रित ही होता है - यह व्याप्ति है । जेसे उष्णस्पर्श गुण का आश्रय वह्नि होता है वेसे नित्य प्रत्यक्षात्मक गुण का आश्रय कोई न कोई तो होना ही चाहिए । उसका आश्रय जो होगा उसीको हम ईश्वर कहते है" <— तो यह नैयायिक उक्ति भी ठीक नही हे, क्योकि 'जो जो गुण होता है वह साश्रयक = पराश्रित ही होता है' इस व्याप्ति मे ही कोई प्रमाण नही हे । घटनाश के वाद घटगुण का नाश होता है - यह तो नैयायिक का ही सिद्धान्त है । अतः उस नियम के अनुसार ही, विना घट के, घटगुण एक क्षण तो रहता ही हे । उसमे गुणत्व होने पर भी साश्रयकत्व = घटाश्रितत्व नही हे । अतः गुणत्व साश्रयकत्व का व्याप्य नही हो सकता हे । आश्रय के विना भी जैसे अनत गुण एक क्षण रहते हे, वेसे एक नित्य प्रत्यक्ष सदा के लिए = अनत क्षण तक निराश्रित रह सकता है । उसमे कोई हर्ज नही है । अतः नित्य प्रत्यक्ष की सिद्धि होने पर भी ईश्वर की तो सिद्धि कथमपि नही हो सकती ।

❋ जीवात्मा में ही नित्यज्ञानाश्रयता म[illegible]न - स्याद्वादी ❋

भावे वा जीवात्मान एव तदाश्रया भवन्तु किं शिपिविष्टकल्पना-कष्टेन ?

अथ जीवात्मनां तदाश्रयत्वे शुक्त्यादौ रजतादिभ्रमः कदापि न स्यात्, तत्र रजताभाव-धियः सदा सत्त्वादिति चेत् ? न, प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटावश्यनिवेशनीयस्य चैत्रीयत्वा-

❀ जयलता ❀

ननु मास्तु जन्यगुणत्वस्य साश्रयकत्वव्याप्यत्वं व्यभिचारदर्शनात्, परं नित्यगुणत्वस्यैव साश्रयकत्वव्याप्यत्वमस्तु, जलीयपरमाणुरूपादौ तथैव दर्शनादित्यतो नित्यप्रत्यक्षाश्रयविधयेश्वरसिद्धिः स्यादेवेति नैयायिकाशङ्कायां प्रकरणकार आह- **भावे** वेति । तादृशव्याप्तौ मानसत्त्वे वेति । इदमप्यभ्युपगमवादेन द्रष्टव्यम्, नित्यप्रत्यक्षरूपे पक्षे व्यभिचारशङ्कानिवर्तकानुकूल-तर्कविरहेणाऽप्रयोजकत्वान्नेयं व्याप्तिः प्रामाणिकी । तदुक्तं खण्डनखण्डखाद्ये हर्षेणाऽपि —> ''यावच्चाऽव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते । विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम् । (ख.ख.खा.) इति ।

जीवात्मान एव तदाश्रयाः = नित्यैकप्रत्यक्षस्य आश्रया , भवन्तु । एवकारफलमाह- **किं शिपिविष्टकल्पनाकष्टेन** = तदाश्रयविधया त्रिनेत्राभ्युपगमायासेन सृतम् । तादृशव्याप्तेः स्वीकारेऽपि 'कार्यस्योपादानगोचराऽपरोक्षज्ञानजन्यं कार्यत्वादि'-त्यनुमानेन लाघवसहकृतेन नित्यैकप्रत्यक्षसिद्धावपि जीवात्मनामेव तदधिकरणत्वसम्भवान्न तदर्थमीश्वरकल्पना युक्तिमतीति प्रकरण-कृदभिसन्धिः ।

नैयायिकः शङ्कते- **अथे**ति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । **जीवात्मनां** चैत्रमैत्राद्यात्मनां, **तदाश्रयत्वे** = सकलकार्यजनक-नित्यैकप्रत्यक्षाश्रयत्वे, चैत्रमैत्रादीनां **शुक्त्यादौ रजतादिभ्रमः कदापि न स्यात्, तत्र** = शुक्त्यादौ विषयतया **रजता-भाववत्ताधियः** = रजताद्यन्योन्याभावप्रकारिकाया बाधबुद्धेः, **सदा सत्त्वादि**ति । तदभाववत्ताबुद्धेः तद्वत्ताधीप्रतिबन्धकत्वात् शुक्त्यादौ रजतत्वाद्यत्यन्ताभावधीसत्त्वे तत्र रजतत्वादिप्रकारकधीर्न भवेत् । न चैवमस्तीति चैत्रादिजीवात्मसु नित्यैकप्रत्यक्ष-कल्पना नौचितिमर्हतीति तदाश्रयत्वं पार्वतीपतावेवोपगन्तव्यमिति नैयायिकाशयः ।

ननु विषयतासम्बन्धेन तद्वत्ताधियं प्रति विषयतया तदभाववत्ताबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वाऽभ्युपगमे तु मैत्रस्य शुक्त्यादौ रजतत्वाद्यभावप्रकारकज्ञाने सति चैत्रस्याऽपि तत्र विषयतासम्बन्धेन रजतादिभ्रमो न भवेत् कार्याधिकरणीभूतशुक्त्यादौ विषयता-संसर्गेण मैत्रीयरजतत्वाद्यत्यन्ताभावप्रकारकधीसत्त्वात् । प्रतिबन्धकाभावमृतेऽपि कार्योपलम्भेन व्यतिरेकव्यभिचारान्नैतादृशः प्रति-बध्य-प्रतिबन्धकभावो घटामञ्चति । किन्तु विषयतया चैत्रीयतद्वत्ताज्ञानं प्रति विषयतया चैत्रीयबाधबोधस्य प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् । शुक्त्यादौ विषयतया मैत्रीयबाधधीसत्त्वेऽपि चैत्रीयबाधज्ञानविरहात्तत्र चैत्रीयरजतत्वादिप्रकारकज्ञानोत्पादे व्यभिचाराऽयोगात् । परन्त्वेवं प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावाङ्गीकारे जीवात्मसु नित्यैकप्रत्यक्षस्य सकलकार्यजनकस्य सत्त्वेऽपि तेषां शुक्त्यादौ रजतत्वादि-भ्रमः सम्भवत्येव, चैत्रीयादिबाधबुद्धेस्तेषु विरहादित्याशयेन प्रकरणकृत्तन्मतमतङ्गजं विदारयति - **ने**ति । **प्रतिबन्धकतावच्छेदक-कोटौ** = बाधधीनिष्ठप्रतिबन्धकताया अवच्छेदककोटौ उपदर्शितरीत्या **अवश्यनिवेशनीयस्य** = अवश्यक्लृप्तस्य **चैत्रीयत्वादेरेव**

भावे वा इति । यदि गुणत्व में पराश्रितत्व की व्याप्ति को नैयायिक मनीषी कथमपि सिद्ध करे तो भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नित्य प्रत्यक्ष (केवलज्ञान) का आश्रय जीवात्माएँ ही बन सकती है, परमात्मा की तदाश्रयविधया कल्पना करने का कष्ट हम क्यों उठाये ? जीवात्मा ने क्या अपराध किया है कि उनमें नित्य ज्ञान की कल्पना करने से आप नैयायिक महाशय हिचकिचाहट महसूस करते हैं ? यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''जीवात्मा को ही नित्य प्रत्यक्ष का आश्रय माना जाय, तो फिर सीप आदि में चाकचिक्यादि की बदौलत रजतादि का भ्रम जीवात्मा को कदापि नहीं हो सकेगा, क्योंकि नित्य प्रत्यक्ष के आश्रय जीवात्मा में सीप आदि पुरोवर्तिपदार्थ में रजताभावप्रकारक बुद्धि सदा के लिए रहती ही है । 'नेदं रजतं' ऐसी रजतान्योन्याभावप्रकारक बुद्धि-प्रत्यक्ष होने पर 'इदं रजतं' ऐसा भ्रम कैसे हो सकता ? मगर जीवात्मा को ऐसे भ्रम अरबों की संख्या में होते हैं - यह तो सर्वजनविदित ही है । अतः जीवात्मा को नित्य प्रत्यक्ष का आश्रय नहीं माना जा सकता, किन्तु ईश्वर को ही'' <— तो यह नैयायिकोक्ति भी ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि केवल रजतत्वाभाव या रजतान्योन्याभाव की बुद्धि रजतभ्रम की प्रतिबन्धक नहीं हो सकती । मैत्र को सीप में रजतत्वात्यन्ताभाव की बुद्धि होने पर भी चैत्र को 'इदं रजतं' इत्याकारक भ्रम होता है । अतः चैत्रीय रजतभ्रम की प्रतिबन्धकतावच्छेदककुक्षि में चैत्रीयत्व का निवेश करना आवश्यक है । तब प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव इस तरह होगा - चैत्रीय रजतभ्रम के प्रति चैत्रीय रजताभावबुद्धि प्रतिबन्धक है, मैत्रीय भ्रम के प्रति मैत्रीय बाधबुद्धि प्रतिबन्धक है इत्यादि । इस तरह

देरेव तत्राऽभावात् । अवच्छेदकतया चैत्रादिविशिष्टत्वं हि तत्, न च तन्नित्यज्ञाने सम्भव-तीति ।



❀ जयलता ❀

तत्र = नित्यैकप्रत्यक्षे अभावात् ।

ननु चैत्रादिजीवात्मस्वेव नित्यैकप्रत्यक्षाऽङ्गीकारे कथ न तत्र चैत्रीयत्वादिक, येन प्रतिबन्धकतावच्छेदकविशिष्टस्य विषयतया शुक्त्यादौ विरह' स्यात् ? इत्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह- **अवच्छेदकतया** = स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतासम्बन्धेन, **चेत्रादिविशिष्टत्व** = चैत्रादिशरीरविशिष्टत्व **हि तत्** = प्रतिबन्धकीभूतबाधबुद्धिनिष्ठ चैत्रीयत्वादिकम् । **न च तत्** = निरुक्तसम्बन्धेन चैत्रादिशरीरवैशिष्ट्य **नित्यज्ञाने** चैत्रादिजीवात्मवृत्तितयाऽभ्युपगम्यमाने, सम्भवाति । अयमत्राभिसन्धिः अनित्यज्ञान विभावात्मनि शरीरावच्छेदेनोत्पद्यते इति नैयायिकराद्धान्त. । अत एव सर्वेषामात्मना विभुत्वेऽपि न शरीरेतरावच्छेदेन ज्ञानप्रतीति । चैत्रीयबाधधीश्चैत्रीयशरीरावच्छेदेन चैत्रात्मनि वर्तते । स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतासंसर्गेण च चैत्रशरीर तस्या वर्तते, स्वस्मिन् = चैत्रशरीरेनिष्ठया अवच्छेदकतया निरूपिताया अवच्छेद्यताया तद्बाधबुद्धौ सत्त्वात् । निरुक्तससर्गेण चैत्रशरीरविशिष्टा बाधधीरेव चैत्रीयबाधबुद्धिरित्यनुच्यते । परमेव नित्यज्ञाने वक्तु न पार्यते, तस्य निरवच्छिन्नत्वेन शरीरस्य तदवच्छेदकत्वाऽसम्भवात् । नित्यैकप्रत्यक्षस्य चैत्रादिजीवात्मवृत्तित्येऽपि निरुक्तसम्बन्धेन चैत्रादिशरीरविशिष्टत्वविरहात् न तस्य भ्रमप्रतिबन्धकत्वम् । इत्थञ्च चैत्रादिजीवात्मना भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदकविशिष्टशून्यत्वेन भ्रमोत्पादो निराबाध. । न च भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदककुक्षिप्रविष्ट चैत्रीयत्वादिक नावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतया चैत्रादिशरीरविशिष्टत्व गौरवात्, किन्तु स्वसमवेतत्वसम्बन्धेन चैत्राद्यात्मवत्त्वमेव । तच्च चैत्रादिजीवात्मवृत्तिनित्यैकप्रत्यक्षेऽपि सम्भवतीति रज्ज्वादौ सर्पादिभ्रमोऽनुत्थानपराहत एव जीवात्मसु नित्यप्रत्यक्षाभ्युपगमे इति वाच्यम्, तर्हि नानाजीवात्मसु एव व्यासज्यवृत्ति नित्यैकप्रत्यक्षमभ्युपगम्यता, स्वमात्रनिष्ठपर्याप्तिनिरूपकत्वसम्बन्धेन चैत्रवत्त्वादेरेव बाधबुद्धिनिष्ठप्रतिबन्धकतावच्छेदककुक्षौ निवेशोऽस्तु । न चोक्तससर्गेण चैत्रवत्त्वादेर्बाधबुद्धौ निवेशोऽन्यत्राऽसम्भवीति नात्रैव तत्प्रवेशो युक्तो गौरवादिति वाच्यम्, 'द्वित्व द्वयोरेव पर्याप्तमि'तिप्रतीत्या पर्याप्तिसम्बन्धेन घटपटयोर्द्वित्ववत् 'देवदत्तज्ञान देवदत्ते एव पर्याप्तमि'त्यबाधितानुभवबलेन पर्याप्तिसम्बन्धेन लौकिकदेवदत्तीयबाधबुद्धेर्देवदत्तवृत्तित्वोपगमात्, स्वमात्रनिष्ठपर्याप्तिनिरूपकत्वससर्गेण बाधबुद्धेर्देवदत्तविशिष्टत्वाद् देवदत्तीयभ्रमप्रतिबन्धकत्वसम्भवादित्यपि विभावनीयम् ।

भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदकदेह मे चेत्रीयत्व, मैत्रीयत्व आदि का निवेश करना आवश्यक है। मगर नित्य प्रत्यक्ष मे भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदक चेत्रीयत्व आदि नही रहता है । इसका कारण यह है कि बाध बुद्धि मे रहने वाले चेत्रीयत्वादि का मतलब है अवच्छेदकतासम्बन्ध से चैत्रादिविशिष्टत्व । नैयायिक के मतानुसार हमारा ज्ञान शरीरावच्छेदेन आत्मा मे उत्पन्न होता है - रहता है और प्रत्येक आत्मा नैयायिकमत मे विभु द्रव्य है । अतः चैत्रीय ज्ञान का मतलब है अवच्छेदकता सम्बन्ध चैत्रविशिष्ट ज्ञान यानी स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताऽवच्छेद्यतासम्बन्ध से चैत्रशरीरविशिष्ट ज्ञान । स्व = चैत्रशरीर, जो चैत्रात्मनिष्ठ = चैत्रात्मसमवेत ज्ञान का अवच्छेदक है । मैत्रसमवेत बाधज्ञान (= 'नेद रजत' इत्याकारक ज्ञान) मे चैत्रशरीर स्वनिष्ठावच्छेद-कतानिरूपित अवच्छेद्यतासम्बन्ध से नही रहता है। अतः चैत्र को 'इद रजत' इत्याकारक भ्रम हो सकता है। इस तरह जब प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव सिद्ध होता है, तब नित्य प्रत्यक्ष 'इद रजत' इत्यादि भ्रम का प्रतिबन्धक नही हो सकता है । इसका कारण यह है कि नित्य ज्ञान नैयायिकमतानुसार शरीरावच्छेदेन आत्मा मे नही रहता है । नित्य ज्ञान निरवच्छिन्न होता है, सपूर्ण आत्मा मे वह रहता है । ईश्वर का नित्य प्रत्यक्ष नैयायिक के मतानुसार ईश्वर मे शरीरावच्छेदेन नही रहता है, क्योकि ईश्वर को शरीर ही नही होता है, किन्तु वह परमात्मा मे निरवच्छिन्न होता है, सपूर्ण परमात्मा मे रहता है । इसी सिद्धान्तानुसार चैत्र, मैत्र आदि जीवात्मा मे रहने वाला नित्य प्रत्यक्ष भी निरवच्छिन्नवृत्तिताक होगा, चैत्रादि का शरीर नित्य प्रत्यक्ष का अवच्छेदक नही हो सकता । अतः चैत्रादि जीवात्मा मे समवेत नित्य प्रत्यक्ष मे स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतासम्बन्ध से चैत्रादिशरीर नही रह सकते । इस तरह जीवात्मा मे समवेत नित्य प्रत्यक्ष भ्रमप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूत चैत्रादिशरीर से शून्य होने से 'इद रजत' इत्यादि भ्रम का प्रतिबन्धक नही हो सकता । अतः चेत्रादि जीवात्मा मे नित्य प्रत्यक्ष रहने पर भी जवात्मा को भ्रम होने मे कोई हर्ज नही है । निष्कर्ष :- जीवात्मा मे समवेत नित्य प्रत्यक्ष भ्रमप्रतिबन्धक नही है ।

❀ जीवात्मा में नित्य प्रत्यक्ष मानने में लाघव ❀

न च जीवात्मवृत्तित्वेऽनेकात्मसम्बन्धकल्पनागौरवात् एकेश्वरकल्पना लघीयसीति वाच्यम्, त्वया तत्र जीवात्मना स्वसयुक्तसंयुक्तसमवायसम्बन्धः कल्पनीयः, मया तु समवायमात्रमिति लाघवात् ।

अथैवमेतस्य 'नित्यमेकमनेकसमवेत सामान्यमि'ति सामान्यलक्षणप्राप्तौ गुणत्वव्याघात

❋ जयलता ❋

न चेति । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽस्यान्वय । सकलकार्यजनकनित्यैकप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्वे अभ्युपगम्यमाने जीवात्मना नानात्वेन तत्र अनेकात्मसम्बन्धकल्पनागौरवात् एकेश्वरसम्बन्धकल्पनैव लघीयसीति तस्य त्रिलोचनसमवेतत्वमेवाऽस्त्विति तदाश्रयविधया महेश्वरसिद्धि निराबाधेति नैयायिकाकूतम् । परपक्षे गौरवोद्भावनेन प्रकरणकृत तस्य जीवात्मवृत्तित्व लाघव-सहकारेण साधयति - त्वया = नैयायिकेन तत्र = नित्यप्रत्यक्षे शशिशेखरसमवेतत्वेनाऽभ्युपगते जीवात्मना स्वसयुक्त-सयुक्तसमवायसम्बन्धः कल्पनीयः = अवश्यकल्प्य इति । स्वपदेन जीवात्मना ग्रहणम् । तत्संयुक्तश्च तेषामेव शरीर तेन सयुक्त महेश्वरे समवेत नित्यप्रत्यक्षमिति जीवात्मान तत्र नित्यैकप्रत्यक्षे स्वसयुक्तसयुक्तसमवायेन सम्बध्येरन् । विभूना सयोगानभ्युपगन्तृनये स्वसयुक्तसमवायेन जीवात्मनामीश्वरसमवेतनित्यप्रत्यक्षेऽसम्बद्धत्वात् द्वितीयसयुक्तपदोपादानम् । जीवात्मना महेश्वरस्य नित्यैकप्रत्यक्षस्य च परेणोपगमात् त्रिनेत्रसमवेतनित्यप्रत्यक्षे जीवात्मनामुक्तगुरुभूतसम्बन्धकल्पनाया आवश्यकत्वेन गौरवम् । मया = नित्यैकप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्ववादिना तु जीवात्मना तत्र नित्यप्रत्यक्षे समवायमात्र = स्वसमवेतत्वमेव केवल कल्पनीय यद्वा पूर्वोक्तरीत्या पर्याप्तिनिरूपकत्वससर्गमात्र कल्पनीयमिति प्रत्युत ईश्वरवाद्यपेक्षया लाघवात् नित्यप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्वमेव युक्तम् । न च त्वया तत्र धूर्जटेः स्वसयुक्तसयुक्तसमवायससर्गस्य स्वसयुक्तसयुक्तपर्याप्तिसम्बन्धस्य वा कल्पने तुल्यगौरवमिति वाच्यम्, नित्यप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्वोपपत्तावीश्वरस्यैवाऽप्रसिद्धे नित्यप्रत्यक्षे तत्सम्बन्धकल्पनाया अनुत्थान-पराहतत्वान्न गौरवमिति विशेष. ।

पर शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वय । एव = नित्यैकप्रत्यक्षस्य नानाजीवात्मसमवेतत्वोपगमे एतस्य = नित्यैकप्रत्यक्षस्य 'नित्यमेकमनेकसमवेत सामान्यमि'ति सामान्यलक्षणप्राप्ताविति । अनेकसमवेतत्व सयोगादीनामप्यस्त्यत उक्त नित्यमिति । विभुद्रव्यसयोगाऽङ्गीकर्तृनये नित्यसयोगेऽप्यतिव्याप्तिवारणाय 'एकमि'त्युक्तम् । नित्यत्वे सति समवेतत्व गगन-

न च जी इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि –> "हमारे मत मे ईश्वर एक होने से नित्य प्रत्यक्ष को ईश्वर मे वृत्ति मानने पर एक ईश्वरसम्बन्ध की कल्पना करनी होगी, जो लघुभूत है । जीवात्मा तो अनन्त होने से नित्य प्रत्यक्ष को प्रत्येक जीवात्मा मे वृत्ति मानने पर उसके अनत जीवात्मसम्बन्ध की कल्पना करनी होगी, जो गौरवग्रस्त है । अतः लाघव-सहकार से नित्य प्रत्यक्ष को ईश्वरनिष्ठ मानने मे लाघव है । अतः पराश्रितत्वनिरूपित गुणत्वनिष्ठ व्याप्ति के बल से और लाघव-सहकार से नित्य प्रत्यक्ष के आधारविधया ईश्वर की सिद्धि निराबाध है" <– तो यह कथन भी असगत है, क्योंकि नित्य प्रत्यक्ष को अनतजीवात्मवृत्ति मानने पर प्रत्येक जीवात्माओ मे नित्य प्रत्यक्ष के साथ केवल एक समवाय सम्बन्ध की ही कल्पना है, न कि अनेक सम्बन्ध की । जब कि नित्य प्रत्यक्ष को परमात्मवृत्ति मानने पर प्रत्येक जीवात्मा का नित्य प्रत्यक्ष मे एक समवाय सम्बन्ध नहीं, किन्तु स्वसयुक्तसयुक्तसमवायसम्बन्ध कल्पनीय होगा । स्व = जीवात्मा से सयुक्त = जीवात्मशरीर मे सयुक्त = ईश्वरात्मा मे नित्य प्रत्यक्ष समवेत होने मे जीवात्मा का ईश्वरवृत्ति नित्य प्रत्यक्ष के साथ स्वसयुक्तसयुक्तसमवायसम्बन्ध की कल्पना करनी होगी जो गौरवग्रस्त है । विभु द्रव्य का विभु द्रव्य मे सयोग प्राचीन नैयायिक ने नहीं माना है, क्योंकि 'अप्राप्तयो प्राप्ति सयोग.' यह सयोग का स्वरूप है । नित्य विभु द्रव्य सदा प्राप्त ही होते हैं । अत विभु विभु के बीच सयोग नहीं होता है । उसके मुताबिक स्वसयुक्तसमवाय नहीं कह कर स्वसयुक्तसयुक्तसमवायसम्बन्ध का उल्लेख किया है । जीवात्मा और परमात्मा के बीच जीवात्मा के शरीर द्वारा सम्बन्ध हो सकता है । नित्य प्रत्यक्ष को ईश्वरवृत्ति मानने पर जीवात्मा का नित्य प्रत्यक्ष के साथ स्वसयुक्तसयुक्तसमवायसम्बन्ध की अत्यन्त गुरुभूत कल्पना करने की बजाय, नित्य प्रत्यक्ष को जीवात्मवृत्ति मान कर उन दोनो के बीच केवल समवाय सम्बन्ध की कल्पना करने मे लाघव है। इस तरह गौरवदोष के सबब भी ईश्वरात्मा की कल्पना नही की जा सकती - यह तात्पर्य है ।

❋ जीवात्मवृत्ति नित्य प्रत्यक्ष में बाधक का निराकरण ❋

अथैव इति । यहाँ नैयायिक का यह कथन कि –> "नित्य प्रत्यक्ष को ईश्वरात्मा मे वृत्ति न मानकर अनन्त जीवात्मा

इति चेत् ? किमिदं लक्षणं तव वेद, येन तदुच्छेदे खेदः ?

यत्तु -> 'चैत्रस्य मैत्रस्य वा तदाश्रयत्वं ?' इत्यादिविनिगमनाविरहादेकस्येश्वरस्यैव तदाश्रयत्व युक्तमिति <- तन्न, सकलजीवात्मवृत्तित्वेऽपि बाधकाभावात् ।

अथैवमस्मदादीनां तत्प्रत्यक्षं कुतो न भवति ? इति चेत्,

❀ जयलता ❀

परिमाणादीनामप्यस्तीति 'अनेक'त्युक्तम् । नित्यत्वे सत्येकत्वे सत्यनेकवृत्तित्व घटात्यन्ताभावादावप्यस्तीत्यतो वृत्तित्वसामान्य विहाय समवेतत्वग्रहणम् । नित्यैकप्रत्यक्षस्य नानाजीवात्मसमवेतत्वे तत्रोक्तसामान्यलक्षणप्राप्तौ सत्या तस्य जातित्वाऽऽपातेन **गुणत्वव्याघातः** प्रसज्येत । नित्यैकप्रत्यक्ष गुणरूप न स्यात् किन्तु जातिरूपमेव, तल्लक्षणाक्रान्तत्वात् । अत एव तस्य नानाजीवात्मवृत्तित्व कल्पना नार्हतीति नैयायिकाभिप्रायः । प्रकरणकृदाह- **किमिद** = दर्शित **लक्षण** = सामान्यलक्षण **तव** = नैयायिकस्य **वेदः**, **येन** कारणेन **तदुच्छेदे** = सामान्यलक्षणोच्छेदे **खेदः** ? उपदर्शितसामान्यलक्षणस्यैवाऽप्रामाणिकत्वेन न तत्प्राप्तौ नानाजीवात्मवृत्तिनित्यैकप्रत्यक्षस्य जातित्वप्रसङ्गो न वा गुणत्वव्याघात. तत्प्रामाण्ये वा भूतत्व-कलशत्व-जातित्व-विशेषत्वादौ साङ्कर्यादिरिव 'प्रत्यक्ष गुण' इत्यादिप्रतीतिप्रतीतस्य गुणत्वस्याऽपि जातिबाधकत्वोपगमे क्षतिविरहात् ।

यत्त्विति । 'तन्ने'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । सकलकार्यजनकनित्यैकप्रत्यक्षस्य जीवात्मवृत्तित्वेऽभ्पगम्यमाने **चैत्रस्य मैत्रस्य वा** जीवात्मन. **तदाश्रयत्व** = नित्यप्रत्यक्षाश्रयत्व ? **इत्यादिविनिगमनाविरहादिति** । आदिपदेन नित्यैकप्रत्यक्षे चैत्रवृत्तित्व मैत्र-वृत्तित्व वा ? चैत्रस्य जगत्कर्तृत्व मैत्रस्य वा ? इत्यादिविनिगमनाविरहग्रह. । तस्येश्वरसमवेतत्वाऽभ्युपगमे तु नैतादृगविनिगमना-विरह इति **एकस्येश्वरस्यैव तदाश्रयत्व** = नित्यैकप्रत्यक्षाधिकरणत्व **युक्तमिति** । एवकारेण जीवात्मव्यवच्छेद. कृत. । प्रकरण-कृत्तन्निराकरोति- **तन्नेति** । नित्यप्रत्यक्षस्य **सकलजीवात्मवृत्तित्वेऽपि बाधकाभावात्**, लाघवतर्केण नित्यप्रत्यक्षस्यैकत्वे पर्याप्ति-सम्बन्धेनैव निखिलजीवात्मवृत्तित्वमस्तु, भ्रमोच्छेदस्तु पूर्वोक्तरीत्या निवारणीय इति प्रकरणकाराभिप्राय. ।

पर शङ्कते- **अथेति** । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । **एव** = नित्यैकप्रत्यक्षस्य सकलजीवात्मनिष्ठत्वे सति **अस्मदादीना** जीवात्मना **तत्प्रत्यक्ष** = नित्यप्रत्यक्षस्याऽनुव्यवसायात्मक मानसप्रत्यक्ष **कुतः** हेतो **न भवति** ? 'अय घट ' इत्यादिज्ञानेऽस्मदादिपु सति 'मया घटो ज्ञात ', 'अह घट जानामि', 'अह घटज्ञानवान्', 'एन घटत्वेन ज्ञातवानहमि'त्याद्याकारकानुव्यवसाय-रूपेण मानसप्रत्यक्षेण घटज्ञान प्रत्यक्ष भवति, अनुव्यवसायेनैव व्यवसायस्य तद्विषयस्य च निश्चयात् । अत नित्यैक-

मे समवेत मानने पर तो नित्य प्रत्यक्ष जातिस्वरूप हो जायेगा, क्योकि जो एक हो, नित्य हो और अनेक मे समवाय सम्वन्ध से रहता हो वह जातिपदार्थ वनता है । अत. एक नित्य प्रत्यक्ष को अनेक जीवात्मा मे समवेत मानने पर उसमे गुणत्व का व्याघात होगा और फिर भी उसे गुणस्वरूप माना जाय तो जाति के उपर्युक्त लक्षण का उच्छेद हो जायेगा'' <- भी ठीक नही है, क्योकि 'एक नित्य अनेकसमवेत सामान्य' ऐसा सामान्यलक्षणप्रतिपादक वचन वेदवचन नही है, जिसकी वजह उसके उच्छेद मे नैयायिक को खेद करना आवश्यक हो । मतलव कि सामान्य का उपर्युक्त लक्षण अप्रामाणिक होने से उसके मुताविक एक नित्य प्रत्यक्ष मे, जो प्रत्येक जीवात्मा मे समवेत है, गुणत्व का व्याघात नही हो सकता । अत. एक नित्य प्रत्यक्ष का जीवात्मा आश्रय हो सकता है ।

यत्तु इति । अन्य मनीपियो का यह अभिप्राय है कि -> ''एक नित्य प्रत्यक्ष का आश्रय जीवात्मा मानने पर चैत्रात्मा को उसका आश्रय मानना या मैत्र को या जैत्र को ? इस समस्या का कोई समाधान प्राप्त नही होता है । अत इस विनिगमनाविरह दोप की वदोलत एक परमात्मा को ही नित्य प्रत्यक्ष का आश्रय = समवायी मानना युक्त है । मतलव कि विनिगमकाभाव से भी सकलकार्यजनक एक नित्य प्रत्यक्ष के आश्रयविधया महेश्वर की सिद्धि हो सकती है'' <- किन्तु विचार करने पर यह मन्तव्य भी निराधार प्रतीत होता है, क्योकि एक नित्य प्रत्यक्ष को सकल जीवात्मा मे वृत्ति = समवेत मानने पर भी कोई वाधक नही है । अत. विनिगमनाविरह दोप तो अनुत्थानपराहत है ।

अथैवम इति । यहाँ अन्य विद्वानो का यह आक्षेप है कि -> ''यदि नित्य प्रत्यक्ष सकल जीवात्मा मे समवेत हो तो हम भी जीवात्मा होने से हमारे मे भी वह जरुर समवेत होना चाहिए । तव तो जैसे हमे घटज्ञान का साक्षात्कार होता है कि 'अह घटज्ञानवान्', 'मया घटो ज्ञात.', 'अह घट जानामि' ठीक वैसे ही 'अह सर्वं जानामि', 'मया सर्वं ज्ञात', 'अह सर्वं साक्षात्करोमि' ऐसा नित्य प्रत्यक्ष का भी साक्षात्कार = अनुव्यवसाय होना चाहिए । मगर तथाविध अनुव्यवसाय नही होता

लौकिकविषयिताऽभावात्, निर्विकल्पकवत् । द्वित्वजनकतावच्छेदिका लौकिकविषयिता तत्र बाढमस्त्येवेति चेत् ? किं तावता ? इन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदिकाया एव तस्याः प्रत्यक्षतायां तन्त्रत्वादित्येके ।

❀ जयलता ❀

प्रत्यक्षस्याऽस्मदादिवृत्तित्वेऽस्माकं 'परमाण्वादयो मया साक्षात्कृता', 'अहं परमाण्वादिकं जानामि', 'अहं परमाण्वादिगोचरसाक्षात्कारवान्,' 'एतान् परमाणुत्वादिभिरहं ज्ञातवानि'त्याद्याकारकेणाऽनुव्यवसायेन नित्यप्रत्यक्षगोचरं मानसप्रत्यक्षं स्यात् । न चैवं भवतीति न तस्य जीवात्मवृत्तित्वं श्रद्धातुमर्हतीति आशयः ।

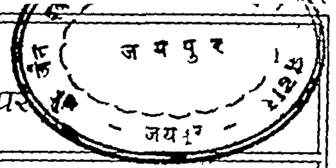
तत्समाधानमाविष्करोति - लौकिकविषयिताऽभावादिति । इन्द्रियसन्निकर्षप्रयोज्यविषयतानिरूपितविषयित्वपरिग्रहान्नाऽस्मदादीनां स्ववृत्तिनित्यैकप्रत्यक्षगोचरानुव्यवसायो भवति । तस्य नित्यत्वेन तद्गोचरे इन्द्रियसन्निकर्षप्रयोज्यविषयता नास्ति । अत एव तत्र तादृशविषयतानिरूपितविषयिताऽपि नास्ति । अतो न तदनुव्यवसायो भवितुमर्हति । 'सर्वेषामेव ज्ञानानामनुव्यवसायविषयत्वेन नाऽत्रोदाहरणं दर्शयितुं पार्यत' इत्याशङ्कायामाह- निर्विकल्पकवदिति । निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्याऽस्मदादिवृत्तित्वेऽपि अस्मदादीनां तत्प्रत्यक्षं यथा न भवति तथैवाऽस्मद्वृत्तिनित्यकप्रत्यक्षस्याऽपि प्रत्यक्षं न भवति । प्रकृते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरनुव्यवसायाऽयोग्यत्वान्वये साधर्म्यं बोध्यम् ।

कश्चिच्छङ्कते- द्वित्वजनकतावच्छेदिका = द्वित्वसंख्यानिष्ठजन्यतानिरूपिताया जनकताया अवच्छेदिका, लौकिकविषयिता तत्र = नित्यैकप्रत्यक्षे बाढमस्त्येवेति । उदयनादिमते द्व्यणुकपरिमाणनिकाया सङ्ख्याया एकत्वाऽन्यसङ्ख्यात्वेनाऽपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात् तादृशबुद्धौ द्वित्वजनकतावच्छेदकीभूतलौकिकविषयिताया अवश्यमङ्गीकार्यत्वात्तदभावेन नित्यबुद्धेरप्रत्यक्षत्वोपपादनं न घटामञ्चतीति शङ्काशयः । तत्समाधानमेकेषां विदुषां मतेनाऽऽविष्करोति - किं तावता ? इति । ज्ञानप्रत्यक्षताया न द्वित्वजनकतावच्छेदकीभूताया लौकिकविषयिताया नियामकत्वं, इन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदिकायाः = इन्द्रियसन्निकर्षविषयादिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वस्याऽवच्छेदकीभूताया एव तस्याः = लौकिकविषयितायाः प्रत्यक्षतायाः = अनुव्यवसायनिष्ठविषयितानिरूपितविषयताया ज्ञाननिष्ठाया तन्त्रत्वात् = नियामकत्वात् । नित्यकप्रत्यक्षे द्व्यणुकपरिमाणजनकद्वित्वसङ्ख्यानिरूपितजनकत्वस्यावच्छेदकीभूताया लौकिकविषयिताया सत्त्वेऽपि विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यतावच्छेदिका लौकिकविषयिता नास्ति, तस्य नित्यत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षाद्यजन्यत्वात् । तदभावादेव न तस्य जीवात्मवृत्तित्वेऽपि जीवात्मनामस्मदादीनां प्रत्यक्षमित्येकेषामाकूतम् ।

है । इससे ही यह फलित होता है कि नित्य प्रत्यक्ष प्रत्येक जीवात्मा में समवेत नहीं है, अपितु परमात्मा में समवेत है" <— मगर यह वचनप्रहार भी निराधार है, इसका कारण यह है कि उसी ज्ञान का हमें साक्षात्कार होता है, जिस ज्ञान में लौकिक विषयिता होती है । 'अयं घटः' इत्याकारक बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान में लौकिक विषयिता होने से उसका 'अहं घटं जानामि' इत्यादि रूप से साक्षात्कार = अनुव्यवसाय हो सकता है । मगर नित्य प्रत्यक्ष में लौकिक विषयिता नहीं है । अतः उसका 'अहं सर्वं जानामि' इत्याद्याकारक मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । जैसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का मानस प्रत्यक्ष = अनुव्यवसाय नहीं होता है, ठीक वैसे ही नित्य प्रत्यक्ष के अननुव्यवसाय = मानसाऽप्रत्यक्ष की उपपत्ति हो सकती है ।

ꕥ इन्द्रियसन्निकर्षजन्यतावच्छेदक लौकिकविषयिता प्रत्यक्षनियामक - अन्यमत ꕥ

द्वित्व इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि —> "नित्य प्रत्यक्ष में भी लौकिकविषयिता का स्वीकार करना आवश्यक है । इसका कारण यह है कि दो परमाणु के नित्य प्रत्यक्ष से परमाणुद्वय में द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है । द्वित्वजनकतावच्छेदक तो लौकिकविषयिता ही होती है । अतः परमाणुद्वय में द्वित्व संख्या के जनक नित्य साक्षात्कार में लौकिकविषयिता का स्वीकार करना आवश्यक है । यह ठीक इसी तरह उपपन्न हो सकता है, जैसे द्वित्वसंख्याजनक घटपटविषयक अपेक्षाबुद्धिस्वरूप ज्ञान में द्वित्वकारणतावच्छेदकीभूत लौकिक विषयिता का जैसे नैयायिक विद्वानों ने स्वीकार किया है, ठीक वैसे ही परमाणुद्वयविषयक नित्य प्रत्यक्ष में भी द्वित्वसंख्याजनकतावच्छेदकीभूत लौकिक विषयिता का स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा परमाणुद्वय में द्वित्व की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी । इस तरह नित्य प्रत्यक्ष में भी लौकिकविषयिता सिद्ध होती है, तब 'उसमें लौकिक विषयिता के नहीं होने से उसका मानस साक्षात्कार नहीं होता है' यह नहीं कहा जा सकता। अतः प्रत्येक जीवात्मा में नित्य प्रत्यक्ष को समवेत मानने पर उसका मानस साक्षात्कार होना अनिवार्य है ।"<— मगर इसके समाधान में अमुक नैयायिक यह कहते हैं कि —> "नित्य प्रत्यक्ष में लौकिक विषयिता, जो द्वित्वादिसंख्याजनकतावच्छेदक



तादूप्येण तद्विषयस्याऽहेतुत्वान्न तत्प्रत्यक्षमित्यन्ये ।
'विषयतया प्रत्यक्षमात्रकारणीभूतगुरुत्वाद्यन्यतमभेदाभावादि'त्यपरे ।

❀ जयलता ❀

अत्रैवाऽन्येषा मतमाह- **तादूप्येण** = विषयात्मना **तद्विषयस्य** = नित्यप्रत्यक्षगोचरस्य परमाण्वादे., **अहेतुत्वात्** = नित्यप्रत्यक्षाऽजनकत्वात् **न तत्प्रत्यक्ष** = नित्यैकप्रत्यक्षगोचरोऽनुव्यवसायात्मको मानससाक्षात्कार. इत्यन्ये मनीषिणो व्याचक्षते । 'अय घट' इत्याद्यनित्यप्रत्यक्षे घटात्मना घटस्य कारणत्वम् । तस्य विषयविधया घटजन्यत्वेन 'मया ज्ञातो घटः' 'अह घट जानामी'त्याद्याकारकोऽनुव्यवसायो भवति । ज्ञानप्रत्यक्षे तादूप्येण स्वविषयजन्यत्वस्यैव नियामकत्वात् जीवात्मवृत्तिनित्यप्रत्यक्षे तादूप्येण स्वविषयजन्यत्वस्य विरहादेव न तन्मानससाक्षात्कार इति निर्गलितार्थ । अन्य इत्यमेनाऽस्वरसप्रदर्शनम कृतम् । निर्विकल्पप्रत्यक्षे तादूप्येण विषयजन्यत्वस्य सत्त्वेऽपि न तदनुव्यवसायो भवति । **न च** तादूप्येण स्वविषयजन्यत्वे सति वैशिष्ट्यावगाहित्वस्यैव ज्ञानप्रत्यक्षे नियामकत्वमस्तु, निर्विकल्पके तु विशेष्याऽभावप्रयुक्तविशिष्टाभावान्न प्रत्यक्षमिति **वाच्यम्,** एव सति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेणाऽतिगौरवात्, विशेष्यस्यैव नियामकत्वसम्भवे व्यर्थविशेषणघटितत्वेन व्याप्यत्वासिद्ध्यापत्ते । **न च** विशेष्यस्यैव नियामकत्वमस्तु लाघवात्, अवश्यक्लृप्तत्वाच्चेति **वाच्यम्,** तथा सति जीवात्मवृत्तिनित्यप्रत्यक्षगोचरानुव्यवसायस्य वज्रलेपायमानत्वप्रसङ्गात्, तस्य वैशिष्ट्यावगाहित्वात् ।

अत्रैवाऽपरेषामभिप्रायमाह- **विषयतया प्रत्यक्षमात्रकारणीभूतगुरुत्वाद्यन्यतमभेदाभावात्** न जीवात्मवृत्तिनित्यप्रत्यक्षस्य मानससाक्षात्कार इति शेष । इदमत्र तत्त्वम्, विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्न प्रति स्वरूपसम्बन्धेन गुरुत्वादृष्टपरमाणुपिशाचादिभेदस्य हेतुत्वनियम । यथा स्वरूपसम्बन्धेन गुरुत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवति घटे विषयतासम्बन्धेन घटप्रत्यक्ष जायते । गुरुत्वादौ स्वरूपसम्बन्धेन गुरुत्वाद्यन्यतमत्वस्य सत्त्वेन तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविरहान्न तत्र विषयता-

है, सिद्ध होने से क्या ? इतने से ही नित्य प्रत्यक्ष का मानस साक्षात्कार का आपादन नही किया जा सकता, क्योकि द्वित्वजनकतावच्छेदकीभूत लौकिकविषयितामात्र ज्ञानप्रत्यक्ष मे नियामक नही है । ज्ञान के प्रत्यक्ष मे तो इन्द्रियसन्निकर्षादि जन्यतावच्छेदकीभूत लौकिकविषयता ही नियामक हे । जो प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष से जन्य होता है, उसमे रहने वाली लोकिकविषयिता इन्द्रियसन्निकर्ष की जन्यतावच्छेदक होती है । तादृश लौकिक विषयिता के आश्रयीभूत ज्ञान का ही मानस साक्षात्कार हो सकता है जेसे 'अय घट.' इत्याकारक लौकिक व्यवसाय ज्ञान का 'अह घट जानामि' इत्याद्याकारक मानस प्रत्यक्ष । मगर नित्य प्रत्यक्ष तो जन्य ही नही होने से इन्द्रियसन्निकर्षादि की जन्यतावच्छेदकीभूत विलक्षण लौकिक विषयिता उसमे नही रहती है । अतएव उसके मानस साक्षात्कार का आपादन नही किया जा सकता । आपादक से शून्य मे किसके वल पर अनिष्ट आपादन किया जाय ? अत. नित्य प्रत्यक्ष को प्रत्येक जीवात्मा मे समवेत मानने पर भी उसके मानस साक्षात्कार का अनिष्ट प्रसग अप्रसक्त है ।'' <—

तादूप्येण इति । अन्य विद्वान प्रत्येक जीवात्मा मे समवेत नित्य प्रत्यक्ष के मानस साक्षात्कार के निवारणार्थ यह कहते हे कि —> 'जिस ज्ञान का विषय तादूप्य से हेतु होता हे, उस ज्ञान का प्रत्यक्ष हो सकता हे । जैसे घटचाक्षुष के प्रति घट घटात्मना हेतु होने से 'अय घट.' इस चाक्षुष का 'अह घट पश्यामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय = मानस साक्षात्कार होता है । जीवात्माओ मे समवेत नित्य प्रत्यक्ष के प्रति परमाणु आदि विषय परमाण्वादिरूप से विषयविधया हेतु ही नही होते है । अत प्रत्येक जीवात्मा मे समवेत नित्य प्रत्यक्ष के मानस साक्षात्कार की आपत्ति नही दी जा सकती । अतः नित्य प्रत्यक्ष के आश्रयरूप मे ईश्वरात्मा की कल्पना करनी उचित नही है ।' <—

⁂ गुरुत्वादिअन्यतमभेद ही प्रत्यक्ष का नियामक - मतविशेषनिरूपण ⁂

विषयतया इति । अपर विद्वानो का यह वक्तव्य है कि - 'विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति स्वरूपसम्बन्ध से गुरुत्व आदि अन्यतम का भेद कारण होता है । आदि पद से अदृष्ट (पुण्य, पाप) नित्य प्रत्यक्ष आदि का ग्रहण अभिमत है । गुरुत्व, पुण्य, पाप आदि का कभी प्रत्यक्ष नही होता है । अत. जो गुरुत्वादि से भिन्न हो उसीका प्रत्यक्ष होता है । जैसे घटप्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से घट मे उत्पन्न होता हे और स्वरूपसम्बन्ध से तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक गुरुत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद भी घट मे रहता है । घट गुरुत्व, पुण्य, पाप आदि से भिन्न ही होता हे । यहाँ कार्यता-अवच्छेदकसम्बन्ध विषयतासम्बन्ध हे । उपर्युक्त भेदनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक स्वरूप सम्बन्ध हे । गुरुत्व आदि मे विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष उत्पन्न नही होता है, क्योकि गुरुत्व मे तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-गुरुत्वाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद स्वरूप

सयोगत्वावच्छेदेन द्रव्यस्य हेतुताग्रहात्, अजसयोग इव ज्ञानत्वाद्यवच्छेदेनाऽऽत्मादिहेतुताग्रहात् नित्यज्ञानादिकमपि न सिध्यतीत्यपि कश्चित् ।

❀ जयलता ❀

सम्बन्धेन प्रत्यक्षं जायते । विषयतासम्बन्धावच्छिन्न-प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नकारणताश्रयीभूतभेद-प्रतियोगिताकुक्षौ नित्यप्रत्यक्षस्याऽपि निवेशेन तत्र तादृशान्यतमत्वस्य सत्त्वेन प्रतियोगितावच्छेदकव्यधिकरणीभूतभेदस्य प्रत्यक्ष-कारणस्य विरहान्न विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं तत्रोत्पत्तुमर्हति, सामग्र्यभावे कार्यानुत्पादात् । न इत्थञ्च नित्यैकप्रत्यक्षस्य सकल-कार्यजनकस्य जीवात्मवृत्तित्वेऽपि न तन्मानससाक्षात्कारप्रसङ्ग इति फलितम् । अपरं इत्यनेन प्रकरणकृता स्वकीयाऽस्वरसोद्भावनं कृतम् । जीवात्मना नित्यप्रत्यक्षाश्रयत्वसिद्धौ प्रत्यक्षकारणीभूतभेदप्रतियोगिताकुक्षौ नित्यप्रत्यक्षनिवेशसिद्धिः, तत्सिद्धौ च सत्यां बाधकविरहेण जीवात्मना नित्यप्रत्यक्षाश्रयत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयकवलितत्वात्प्रकृतसमाधानस्येति तद्बीजम् ।

नित्यप्रत्यक्षानभ्युपगन्तुः कस्यचिन्मतमत्रैव प्रकरणकृदावेदयति - **सयोगत्वावच्छेदेन द्रव्यस्य हेतुताग्रहात्** = समवाय-संसर्गावच्छिन्नसयोगत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-द्रव्यत्वावच्छिन्नकारणत्वनिश्चयात्, **अजसयोग** = नित्य-सयोगः **इव ज्ञानत्वाद्यवच्छेदेनात्मादिहेतुताग्रहात्** = समवायसम्बन्धावच्छिन्न-ज्ञानत्वेच्छात्वकृतित्वाद्यवच्छिन्नकार्यतानिरूपित-तादात्म्यादिसम्बन्धावच्छिन्नात्मत्वाद्यवच्छिन्नकारणताया निश्चयात्, **नित्यज्ञानादिकं** = नित्यज्ञानचिकीर्षादिकं **अपि न सिध्यति** । समवायेन सयोगमात्रं प्रति द्रव्यसमवायिकारणत्वनिश्चयात् यथा कार्यतावच्छेदकीभूतसयोगत्वविशिष्टे नित्यत्वाऽयोगेन नित्यसयोगो नास्ति तथा समवायेन ज्ञानत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति आत्म-तन्मनःसयोगादेर्हेतुत्वनियमात् कार्यतावच्छेदकीभूतज्ञानत्वाद्याश्रये नित्य-त्वाऽसम्भवेन नित्यज्ञान-नित्यचिकीर्षा-नित्यकृतयो न सेद्धुमर्हन्ति । नित्यज्ञानादेरेवाऽप्रसिद्धौ तदाश्रयचिन्ता वन्ध्यापुत्रपितृशुद्धि-तुल्या प्रतिभातीति तात्पर्यम् ।

यत्तु स्याद्वादध्वान्तमार्तण्डे नृसिंहेण -> ''उपाध्याभावेन साध्याभावानुमाने यदि तत्र किमप्युपाध्यन्तरमागच्छेत् तदा पूर्वोद्भावित उपाधिरनुपाधिर्मन्तव्य इति हि दार्शनिकानां सम्प्रदायः । अनेन नियमेन वादिप्रदर्शितोपाध्यभावेन साध्याभावानु-मानाकारोऽयमस्ति यत्, 'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्त्रजन्यं शरीराऽजन्यत्वात्, खादिवत्' इति । अत्र प्रागभावाऽप्रतियोगित्वमुपाधिः । तस्य कर्त्रजन्येषु खादिषु साध्यव्यापकत्वं शरीराऽजन्येषु क्षित्यादिषु च साधनाऽव्यापकत्वमस्त्येवेति कृत्वा सिद्धान्त्यनुमाने प्रदर्शितः 'शरीरजन्यत्वमु'पाधिरनुपाधिरेव <— (स्या ध्वा मा) इत्युक्तं तत्तु तत्प्रदर्शितनियमेनैव कवलितम्, प्रागभावाऽ-प्रतियोगित्वलक्षणोपाध्यभावेन साध्याभावानुमानाकारोऽयमस्ति यदुत 'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं प्रागभावप्रतियोगित्वात् घटादि-वदि'ति । अत्र प्रायोगिकत्वमुपाधिः । तस्य घटादिषु कर्तृजन्येषु साध्यव्यापकत्वं द्व्यणुकारण्याऽङ्कुर-शैलादिषु प्रागभावप्रतियोगिषु साधनाऽव्यापकत्वमस्त्येवेति कृत्वा पूर्वोक्तानुमाने प्रदर्शितः प्रागभावाऽप्रतियोगित्वलक्षण उपाधिरनुपाधिरेवेति मन्तव्यम् । ततश्च

सम्बन्ध से नहीं रहता है । भेद स्वप्रतियोगितावच्छेदक धर्म का व्यधिकरण होने से गुरुत्वाद्यन्यतमत्व के अधिकरण गुरुत्व में नहीं रह सकता । इसी तरह परमाण्वादिविषयक नित्य प्रत्यक्ष में, जो कि प्रत्येक जीवात्मा में समवेत है, भी गुरुत्वाद्यन्यतमत्व रहता है, क्योंकि गुरुत्वपदोत्तरवर्ती आदि शब्द से नित्य प्रत्यक्ष का ग्रहण अभिमत है । नित्य प्रत्यक्ष में उक्त भेदप्रतियोगितावच्छेदक के रहने से उक्त भेद नहीं रह सकता, जो कि विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्षमात्र का हेतु है । अतएव नित्य प्रत्यक्ष में विषयतासम्बन्ध से मानस प्रत्यक्ष नहीं उत्पन्न हो सकता यानी प्रत्येक जीवात्मा में समवेत नित्य प्रत्यक्ष का मानस साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः नित्य प्रत्यक्ष के आश्रयविधया जीवात्मा की कल्पना करने में कोई दोष नहीं है । अतएव ईश्वर की सिद्धि नित्य प्रत्यक्ष के अधिकरणविधया नहीं हो सकती - यह फलित होता है ।'

❀ नित्य ज्ञानादि नामुमकिन - मतविशेष ❀

सयोगत्वा इति । किसी विद्वान् का यह मन्तव्य है कि -> 'सयोगत्वावच्छेदेन यानी सयोगमात्र के प्रति द्रव्य समवायिकारण होने से कोई भी सयोग नित्य नहीं होता है, ठीक वैसे ही ज्ञानत्वादिअवच्छेदेन यानी ज्ञानादिमात्र के प्रति आत्मा समवायी कारण होने से कोई ज्ञान, इच्छा या प्रयत्न नित्य नहीं हो सकता । कार्यतावच्छेदकीभूत ज्ञानत्वादि धर्म ईश्वरसमवेत ज्ञानादि में रहता है, फिर उसे अकार्य = नित्य कैसे माना जा सकता है ? अतः नित्य ज्ञानादि ही असिद्ध होने से उसके आश्रयविधया ईश्वर की सिद्धि कैसे की जा सकती है ? जो ज्ञान सिद्ध होगा, वह अनित्य ही होगा, जिसका आश्रय जीवात्मा हो सकता है । अतः जीवात्मा से विलक्षण परमात्मा की कल्पना अप्रामाणिक है' <— ।

वस्तुत· कृतेरपि चेष्टादिद्वारा विलक्षणसंयोगं प्रत्येव हेतुता न तु घट मात्रं प्रत्यपि, मानाभावात् । न चैवं कुम्भकारादेः स्वकृतिसाध्यताज्ञान विना घटादौ प्रवृत्तिः कथं ? इति वाच्यम्, स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानस्यैव तत्र प्रवर्त्तकत्वात् । 'स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोग-

❀ जयलता ❀

न प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणकार्यत्वावच्छिन्ने सकर्तृकत्वसिद्धि ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित् कार्यमात्रे सकर्तृत्वसिद्धि. । तथापि सकर्तृकत्व यदि प्रत्यक्षजन्यत्वरूप तदा घटादौ बाध , प्रत्यक्षस्येच्छाजनकत्वेन तत्राऽन्यथासिद्धत्वात् । अत एव चिकीर्षाजन्यत्वलक्षणमपि तत्र सम्भवति, तस्या अपि कृतावेव हेतुत्वात् । **अनेन** ज्ञानस्य चिकीर्षाद्वारा कृतिजनकत्वमित्युक्तावपि **न क्षतिः**, तथापि घटादौ प्रत्यक्षजन्यत्वाऽसिद्धे. । 'अस्तु तर्हि कृतिजन्यत्वमेव सकर्तृकत्व, कृते चेष्टादिद्वारा घटादिजनकत्वात् । न हि व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धिरि'ति नैया-यिकाशङ्काया प्रकरणकृदाह- **वस्तुत** इति । **कृतेरपि** किमुत ज्ञानादे ? इत्यपिशब्दार्थ., **चेष्टादिद्वारा** आदिपदेन पूर्वावयवविभाग-पूर्वसयोगनाशग्रहणम्, **विलक्षणसयोग** कपालद्वयादिविजातीयसयोग **प्रत्येव हेतुता न तु घटमात्र** = घटत्वाद्यवच्छिन्न **प्रत्यपि**, कृत· ? **मानाभावादिति** । कृते चेष्टादिद्वारा विजातीयसयोगजनने एवोपक्षीणत्वेन घटादिक प्रत्यन्यथासिद्धे घटत्वाद्यव-च्छिन्नजनकत्वे प्रमाणाभावादित्यर्थ ।

परकीयशङ्कामपहस्तयितुमुपक्षिपति - **न चेति** । वाच्यमित्यनेनाऽस्यान्वय. । एव = कृते. घटत्वाद्यवच्छिन्नजन्यता-निरूपितजनकत्वशून्यत्वे सति, **कुम्भकारादेः स्वकृतिसाध्यताज्ञान** = स्वसमवेतकृतिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यताबोध, **विना घटादौ प्रवृत्तिः** = घटाद्युद्देश्यकप्रवृत्ति , उद्देश्यकत्वस्य सप्तम्यर्थत्वात्, **कथ** स्यात् ? यद्धर्मावच्छिन्नोद्देश्यक प्रवर्तन तद्धर्मे स्वप्रयत्नजन्यतावच्छेदकत्वज्ञानस्य तद्धर्मावच्छिन्ने स्वप्रयत्नजन्यत्वज्ञानस्य वा प्रवर्त्तकत्वनियमात् । न हि कोऽपि मेर्वाद्यानयने प्रवर्त्तते, तत्र स्वकृतिसाध्यत्वावबोधस्य विरहात् । ततश्च घटादे. कृत्यजन्यत्वे तत्र स्वकृतिसाध्यत्वज्ञानविरहेण कुलालादिप्रवृत्ति नैव स्यादिति तदन्यथानुपपत्त्या कृते घटादिजनकत्वमकामेनाऽपि व्यवहारानुपातिनाऽभ्युपगन्तव्यमिति शङ्काशय ।

प्रकरणकृत्समाधत्ते- **स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानस्येवेति** । एवकारेण स्वकृतिसाध्यताज्ञानस्य व्यवच्छेद. कृत । **तत्र** = घटादौ, कुलालादीना **प्रवर्त्तकत्वात्** । इदमत्र प्रकरणकृत आकूतम्, साध्य नाम साक्षात् जन्य, प्रयोज्य नाम साक्षात् परम्परया वा जन्यम् । स्वकृतिसाध्यताज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वाभ्युपगमे स्वकृत्या परम्परया जन्यत्वज्ञानस्य व्यवच्छेद. भवति । न चैतादृशसङ्कोचे किमपि कारणमस्ति, बाधकाभावात् । अत स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वमङ्गीकार्यम् । युक्तञ्चैतत्, अन्यथा कृपिवलादीना कृष्यादौ प्रवृत्ति. कथ घटामञ्चेत् ? न हि तत्र तेषा स्वकृतिसाध्यताज्ञानमस्ति । स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञान तु घटादौ कुम्भकारादे बाढमस्ति, घटादे. कपालद्वयविजातीयसयागादिजन्यत्वात् । अतो न कुलालादे· घटादौ प्रवृत्त्यनुप-पत्ति. ।

पर शङ्कते - **स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगसम्बन्धेनेति** । स्वपदेन कुलालादिकृतिग्रहण, तत्प्रयोज्य. कपालादिसमवेतो

❀ कुलालादिप्रयत्न विजातीयसंयोग के प्रति ही कारण - स्याद्वादी ❀

वस्तुत इति । वस्तुस्थिति तो यह हे कि ज्ञानजन्य इच्छा से जन्य प्रयत्न भी चेष्टा के द्वारा विलक्षणसयोग के प्रति ही हेतु है, न कि घटमात्र के प्रति भी, क्योकि घटमात्र के प्रति भी हेतुता के स्वीकार मे कोई प्रमाण नही है । यहाँ यह शका हो सकती है कि --> 'विलक्षण सयोग मात्र के प्रति ही कृति चेष्टा के द्वारा कारण होने पर घटादि के उद्देश्य से कुम्हार आदि प्रवृत्ति कैसे करेगे ? स्वकृतिसाध्यताप्रकारक ज्ञान प्रवर्तक होता है । कुम्हार के प्रयत्न से विजातीय सयोग साध्य होने पर उद्देश्य से कुम्हार प्रवृत्ति करेगा, मगर घट तो कुम्हारप्रयत्न से साध्य = जन्य नही होने से घटोद्देश्यक कुम्हार प्रवृत्ति नही हो सकती' <-- मगर यह शका उचित नही है, क्योकि घटादि मे स्वकृतिसाध्यताज्ञान कुम्हार आदि को नही होने पर भी स्वकृतिप्रयोज्यताज्ञान तो होता है । कुम्हारादि के प्रयत्न से चेष्टाद्वारा विजातीयसयोग (= कपालद्वयविलक्षणसयोग-आदि) जन्य होता है और विजातीय सयोग से घटादि जन्य होता हे । अतः घटादि कुम्हारादि के प्रयत्न से जन्य नही होता हे, किन्तु प्रयोज्य होता है । साक्षात् हेतु को कारण कहते है और साक्षात् या परम्परया से हेतु को प्रयोजक कहते है । अत. घटादि के प्रति कुम्हारादि का प्रयत्न प्रयोजक है । कुम्हारादि को स्वप्रयत्न मे घटादिप्रयोजकता का ज्ञान होने से घटादि के उद्देश्य से कुम्हारादि की प्रवृत्ति हो सकती है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि - ''कुम्हारादि

सम्बन्धेन घटादौ कुम्भकारादिकृतेर्हेतुत्वेऽपि बाधकाभाव' इति चेत् ? न, दण्डावयवस्याऽप्येव घटं प्रति हेतुतापत्तेः । 'तत्रावश्यक्लृप्ते'त्याद्यन्यथासिद्धेः न हेतुत्वमिति यदि, तदाऽत्राऽपि तुल्यम् ।

❀ जयलता ❀

विलक्षणसयोगो घटाद्यसमवायिकारणत्वेनाभिमत , तादृशसम्बन्धेनेति । घटादौ कुम्भकारादिकृतेः हेतुत्वेऽपि बाधकाभाव इति। समवायेन घटादिक प्रति स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगेन कुलालादिकृत. हेतुत्वमिति कार्य-कारणभावोपगमेऽपि न किञ्चिद्बाधकमस्ति, कार्य-कारणसामानाधिकरण्यनिर्वाहात् । एतेन कृते. चेष्टादिद्वारा विजातीयसयोगत्वावच्छिन्न प्रति हेतुता न तु घटत्वावच्छिन्न प्रत्यपीति प्रत्युक्तम् ।

प्रकरणकार. तन्निराकुरुते- नेति । दण्डावयवस्याऽपीति । एव = स्वप्रयोज्यभ्रमणवत्त्वसम्बन्धेन, घट प्रति हेतुतापत्तेरिति । यथा कुलालकृति चेष्टादिद्वारा विजातीयसयोग सम्पादयति य समवायेन कपाले वर्तते तथा दण्डावयवा अपि दण्डद्वारा भ्रमिक्रिया सम्पादयन्ति या समवायेन कपाले वर्तते । ततश्च समवायेन घट प्रति यथा स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगेन कुलालकृते हेतुत्व तथैव समवायेन घट प्रति स्वप्रयोज्यभ्रमिमत्त्वसम्बन्धेन दण्डावयवानामपि कारणत्व सम्भवति ।

तत्र = दण्डावयवेषु, 'अवश्यक्लृप्ते'त्याद्यन्यथासिद्धे:' = 'अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमि'त्यन्यथासिद्धत्वग्रस्तत्वात्, न हेतुत्व = घटकारणत्वमिति यदि नैयायिकेन विभाव्यत इति शेष । प्रकृतकार्यनिरूपितलघुनियतपूर्ववृत्तित्ववद्भिन्नत्व प्रकृतकार्यनिरूपितान्यथासिद्धत्वमिति लक्षण बोध्यम् । दण्डावयवत्वापेक्षया दण्डत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वे लाघवाद् स्वजन्यभ्रमिमवत्त्वसम्बन्धेन दण्डादेव घटसम्भवे तद्भिन्नाना दण्डावयवाना घट प्रत्यन्यथासिद्धत्व, स्वसमवेतजन्यभ्रमिमत्त्वससर्गेण दण्डावयवाना घटकारणत्वे सम्बन्धगौरवाच्च न तद्धेतुत्वसम्भव इति यदि परेण विभाव्यते, तदा अत्र = कुलालकृते घटकारणत्वमते, अपि तुल्य = समसमाधानमिति प्रकरणकारेणोच्यते । तथाहि घट प्रत्यवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन. कपालद्वयविजातीयसयोगादेव घटसम्भवे तद्भिन्न-कुलालकृते घट प्रत्यन्यथासिद्धत्वम् । विजातीयसयोगस्य कारणत्वे समवायस्य कारणतावच्छेदकसम्बन्धत्व, कुलालकृते कारणत्वे तु स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगस्य कारणतावच्छेदकसम्बन्धत्व-

को स्वकृतिसाध्यतासम्बन्ध से विलक्षणसयोग के प्रति कारण मानना और घटादि के प्रति प्रयोजक मानना इसकी अपेक्षा कुम्हारादि की कृति को स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगसम्बन्ध से घटादि का हेतु मानना उचित है । स्व = कुलालादिप्रयत्न, उससे प्रयोज्य कपालद्वयादिविजातीयसयोग कपालादि मे रहता है । कुलालादिप्रयत्न स्वप्रयोज्यविलक्षणसयोगसम्बन्ध से कपालादि मे रहेगा । अत समवाय सम्बन्ध से घटादि भी वहाँ ही उत्पन्न होगा । इस तरह कुलालादिकृति घटादि की जनक हो सकती है, तो फिर घटादि मे कुलालादि की स्वकृतिसाध्यताज्ञान से प्रवृत्ति होने मे क्या बाध है ? अत 'कुलालादि स्वकृतिप्रयोज्यत्वज्ञान से घटादि के उद्देश्य से प्रवृत्ति करते है' यह मानना ठीक नही है'' <—

❊ कुलालादिप्रयत्न घटादि के प्रति अन्यथासिद्ध ❊

न, दण्डा इति । तो यह नैयायिकवक्तव्य भी नामुनासिब है, क्योकि कुलालादिकृति को स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगसम्बन्ध से घटादि का कारण - जनक माना जाय, तब तो दण्डावयव को भी घट का हेतु मानने की आपत्ति आयेगी, क्योकि स्वप्रयोज्यभ्रमणवत्त्वसम्बन्ध से दण्डावयव भी घट का कारण कहा जा सकता है । स्व = दण्डावयव, वह दण्ड द्वारा भ्रमि क्रिया को उत्पन्न करता है । तथा वह भ्रमण क्रिया समवाय सम्बन्ध से कपाल मे रहती है । अत दण्डावयव स्वप्रयोज्यभ्रमित्त्वसम्बन्ध से कपाल मे रहेगे और समवाय सम्बन्ध से घट भी कपाल मे उत्पन्न होता ही है । अत. कुलालादिप्रयत्न की भाँति दण्डावयव भी घट का हेतु हो सकता है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''दण्डावयव तो घट के प्रति अन्यथासिद्ध है, क्योकि घट के प्रति अवश्यक्लृप्त दण्ड से ही घट की उत्पत्ति सम्भवित है'' । <— तो यह समाधान कुलालप्रयत्न मे भी समान है । घट के प्रति अवश्य कल्पनीय कपालद्वयविजातीयसयोग से ही घट की उत्पत्ति सम्भवित है, तो कुलालादिप्रयत्न घट के प्रति अन्यथासिद्ध हो जायेगा । घट के प्रति कपालद्वयविजातीयसयोग मे कारणता अवश्य क्लृप्त है, क्योकि केवल कुलालादिप्रयत्न से ही घट उत्पन्न नही होता है किन्तु कुलालप्रयत्न से कपालद्वयविलक्षणसयोग उत्पन्न होने के बाद ही घट उत्पन्न होता है । इस तरह कुलालप्रयत्न मे घटकारणता की कल्पना करने पर भी कपालद्वयविजातीयसयोग मे घटकारणता मानना आवश्यक है और उसीसे घटोत्पाद का निर्वाह हो सकता है, तब कुलालप्रयत्न मे क्यो घटकारणता का अगीकार

अथैवं दण्डस्यापि घटं प्रति हेतुता न स्यात्, खण्डघटादौ व्यभिचारादिति चेत् ? न, तज्जन्यतावच्छेदकस्य घटत्वस्य स्वर्णघटादेरिव खण्डघटादेरपि व्यावृत्तत्वात् । कपाल-जन्यतावच्छेदकस्यैव दण्डजन्यतावच्छेदकत्वमुचितमिति चेत् ? बाधकसत्त्वे किमौचित्य-चिन्तासन्तापेन ?

❀ जयलता ❀

मिति सम्बन्धकृतगौरवदोषान्त कुलालकृतेरुक्तसम्बन्धेन घटहेतुत्वसिद्धिरित्यपि सुवचमिति प्रकरणकृदाशय ।

पर. शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वय. । एव = कुलालकृते. घट प्रति प्रयोजकत्व न तु हेतुत्वमित्येव स्वीकारे, **दण्डस्यापि** कुलालकृतेरिव **घट प्रति हेतुता न स्यात्** दण्डमृतेऽपि खण्डघटादेर्जायमानत्वेन **खण्डघटादौ व्यभिचारात्** = व्यतिरेकव्यभिचारात् । घटस्य किञ्चिदशापगमे विजातीयसयोगनाशे घटनाशो भवति तदनन्तर खण्डघटो दण्ड विनैव जायत इति व्यतिरेकव्यभिचारात् दण्डस्यापि घटकारणत्व न स्यात् । अपिशब्देन कुलाल-चक्रादेः समुच्चयः कृत. ।

प्रकरणकृत् तन्निराकुरुते - नेति । **तज्जन्यतावच्छेदकस्य** दण्डचक्रादिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यताया अवच्छेदकीभूतस्य, **घटत्वस्य स्वर्णघटादेरिव खण्डघटादेरपि** सकाशात् **व्यावृत्तत्वादिति** । यथा दण्ड-चक्रादिक विनैव सौवर्ण-राजत-ताम्रघटादे जायमानत्वेन दण्ड-चक्रादिजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व ततो व्यावृत्तमेवेति परेणोपगम्यते तथैव तत् खण्डघटादितोऽपि व्यावृत्त-मेव । खण्डघट-सौवर्णघटाद्यवृत्ति घटत्व दण्ड-चक्रादिजन्यतावच्छेदकमिति न व्यतिरेकव्यभिचारावकाश ।

पर. शङ्कते- **कपालजन्यतावच्छेदकस्यैव दण्डजन्यतावच्छेदकत्वमुचितमिति** । दण्डचक्रादिजन्यस्यैव घटस्य कपालजन्य-त्वेन कपालनिष्ठसमवायिकारणतानिरूपिताया कार्यताया अवच्छेदकस्यैव दण्ड-चक्रादिनिष्ठजनकतानिरूपिताया जन्यताया अव-च्छेदकधर्मत्व न्याय्य, लाघवात् । खण्डघटस्याऽपि कपालजन्यत्वेन कपालकार्यतावच्छेदकीभूतस्य घटत्वस्य खण्डघटवृत्ति-त्वसिद्धौ दण्ड-चक्रादिजन्यतावच्छेदकीभूतस्य घटत्वस्याऽपि तत्र सिद्धि , तयोरैक्यादिति दण्ड-चक्रादिजन्यतावच्छेदकीभूत घट-त्वस्य स्वर्णघटादेर्व्यावृत्तत्वेऽपि न खण्डघटादितो व्यावृत्तत्व युक्तमिति पराभिप्राय ।

अत्र प्रकरणकृत्समाधत्ते **बाधकसत्त्वे** = व्यतिरेकव्यभिचारलक्षणबाधकप्राप्तौ, **किमौचित्यचिन्तासन्तापेन** ? तेनाऽल-मित्यर्थ । दण्डादि-कपालयो जन्यतावच्छेदकैक्ये लाघवेऽपि खण्डघटादे. दण्डादिक विनैव जायमानत्वेन व्यतिरेकव्यभिचार-प्राप्तौ दण्डादिजन्यतावच्छेदकीभूतस्य घटत्वस्य खण्डघटादितो व्यावृत्तत्वमभ्युपगम्यते, बाधकसत्त्वे कार्य-कारणभावस्यैव विघटनेन

किया जाय ? निष्कर्ष - दण्डावयव की भाँति कुलालकृति भी घट के प्रति अन्यथासिद्ध है ।

❀ दण्ड भी घटविशेष का ही कारण है - स्याद्वादी ❀

अथैव इति । नैयायिक का यह वक्तव्य कि -> "इस तरह विचार किया जाय तो दण्ड भी घट का हेतु नही हो सकेगा, क्योकि खण्ड घट की दण्ड के विना ही उत्पत्ति होती है । निश्छिद्र घट उत्पन्न होने के बाद जब घट का कोई ककड घट से अलग हो जाता है तब सच्छिद्र घट यानी खण्ड घट उत्पन्न होता है या मगर तब दण्ड अनुपस्थित होता है । विना दण्ड के ही खण्ड घट की उत्पत्ति होती है। अत दण्ड भी घटमात्र के प्रति व्यतिरेक व्यभिचार से अन्यथासिद्ध = अकारण हो जायेगा" <— भी असगत है, क्योकि दण्ड भी सभी घट के प्रति कारण ही नही है । सुवर्णघट ताम्र-घट आदि की उत्पत्ति विना दण्ड के ही होती है । अतः दण्ड के जन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व स्वर्ण घट, ताम्र घट आदि से व्यावृत्त मानना आवश्यक ही है । तब तो यही कल्पना करनी उचित है कि दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्वविशेष सौवर्ण घट आदि की भाँति खण्ड घट मे भी नही रहता है । इस तरह खण्ड घट मे दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्वविशेष नही होने से विना दण्ड के खण्ड घट उत्पन्न हो तो भी दण्ड मे व्यतिरेक व्यभिचार प्रसक्त नही होगा । स्वकार्यतावच्छेदकधर्मशून्य की अपने विना उत्पत्ति हो यह व्यतिरेक व्यभिचार का स्वरूप नही है । अत. दण्ड को घटविशेष का कारण मानने मे कोई दोष नही है । यहाँ नैयायिक की और से यह कहा जाय कि -> "कपालजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व तो खण्ड घट मे भी रहता है, मगर आप स्याद्वादी उसमे दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व नही मानते है । यह उचित नही है, क्योकि इसमे गौरव है । इसकी अपेक्षा कपालजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व को ही दण्ड का जन्यतावच्छेदक मानना मुनासिब है" <— तो नैयायिक की यह औचित्यचिन्ता भी निरर्थक है, क्योकि लाघवगौरव के औचित्य का तब अवसर आता है, जब कोई बाधक न हो । बाधक होने पर लाघव का औचित्य अकिञ्चित्कर होता है । खण्ड घट मे दण्ड का उपर्युक्त व्यतिरेक

वस्तुतो दण्डादे· प्रयोजकत्वेऽपि न क्षति·, अनात्यन्तिकत्वात्, घटादौ निश्चयत. स्वद्रव्यस्यैव हेतुत्वात् । अत एव द्विकपालघटादेरपि कपालान्तरसंयोगेन त्रिकपालघटोत्पत्ति । न हि तत्र तदानी कुम्भकारादयो व्याप्रियमाणा दृश्यन्ते ।

अथ नेद युक्त, घटं प्रति घटजनकविजातीयसयोग प्रति च कपालत्वेनैव हेतुत्वादिति

❀ जयलता ❀

कार्यतावच्छेदकलाघवस्याऽकिञ्चित्करत्वात् । न च गौरव दोष , फलाभिमुखत्वेन तस्याऽदोषत्वात् । ततश्च खण्डित-सौवर्ण-राजतादिघटभिन्न घट प्रति दण्ड-चक्रादेः कारणत्वमिति फलितम् ।

इदञ्च व्यवहारनयमनुरुध्योक्तम् । निश्चयनयमतेन तु दण्डादे· न घटहेतुत्वमिति स्वाशयमविर्भावयति प्रकरणकार. - वस्तुत इति । दण्डादेरिति । आदिपदेन कुलाल-तत्कृति-चक्र-चीवरादेर्ग्रहणम् । घट प्रति प्रयोजकत्वे अङ्गीक्रियमाणे अपि न क्षतिः = व्यतिरेकव्यभिचारानवकाश , तस्य अनात्यन्तिकत्वात् = अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वाभावेनाऽकारणत्वात् । तदपि कुत ? इत्याशङ्कायामाह- घटादौ निश्चयत = निश्चयनयमवलम्ब्य स्वद्रव्यस्य = मृदादे , एव हेतुत्वात् दण्डादे. घटाद्यपेक्षया परद्रव्यत्वेनाऽकारणत्वमित्यर्थतो लभ्यते । प्रयोजकमृते कार्योत्पादे विद्वांसो न व्यतिरेकव्यभिचारमामनन्ति । अतो दण्डादे प्रयोजकत्वाऽभ्युपगमे व्यतिरेकव्यभिचारानवकाश । निश्चयनयाभिप्रायस्तु ग्रन्थान्तरादवसातव्य ।

अत एवेति । दण्ड-चक्र-चीवर-कुलालादीना घट प्रति प्रयोजकत्व मृदादेश्च कारणत्वमित्यभ्युपगमादेवेति । द्विकपाल-घटादेः सकाशात् अपि कपालान्तरसयोगेन त्रिकपालघटोत्पत्तिरिति । स्वद्रव्यस्यैव हेतुत्वकल्पने इयमुपपद्यते, यतो न हि तत्र त्रिकपालघटोत्पादस्थले, तदानी = त्रिकपालघटोत्पादाऽव्यवहितपूर्वक्षणे, कुम्भकारादयः = कुलालचक्रचीवरदण्डादाय , व्याप्रियमाणा· = व्यापार कुर्वन्तो दृश्यन्ते । कुलालादीनामपि घट प्रति कारणत्वे तु प्रकृते व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्निवारत्व-मायुष्मत ।

पर शङ्कते- अथेति । नेद युक्त = कपालान्तरसयोगेन द्विकपालघटादित त्रिकपालघटोत्पादकल्पन न सङ्गतम् । कुतो हेतो ? इत्याशङ्कायामाह- घट प्रति = समवायसम्बन्धेन घटत्वावच्छिन्न प्रति, घटजनकविजातीयसंयोग प्रति = घटाऽसमवायिकारणीभूतकपालद्वयविजातीयसयोगत्वावच्छिन्न प्रति, च कपालत्वेनैव हेतुत्वात् = कपालत्वावच्छिन्नस्य कारण-

---

व्यभिचार ही दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व को खण्ड घट मे मानने मे बाधक है । अतः कपालजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व को एव दण्डजन्यतावच्छेदकीभूत घटत्व को भिन्न भिन्न मानना ही उचित है । निष्कर्ष - दण्ड घटमात्र का नही, अपितु घटविशेष का कारण हे ।

वस्तुतः दण्ड घट का कारण नहीं, प्रयोजक है - स्याद्वादी

वस्तुतो द इति । वस्तुस्थिति तो यह है कि दण्ड घटविशेष का भी कारण नही है, किन्तु घटसामान्य का प्रयोजक है- ऐसा मानने मे कोई दोष नही है, क्योकि दण्ड घट के प्रति अत्यन्त आवश्यक = कारण नहीं है । निश्चयतः तो घटादि मे स्वद्रव्य = मृदादिद्रव्य ही हेतु है । पर द्रव्य मे निश्चय नय से कारणता ही नही होती है । दण्ड तो घट का स्वद्रव्य नही है । अत दण्ड मे निश्चयत घटकारणता नहीं हे । हाँ, दण्ड को घट का प्रयोजक कहने मे कोई क्षति नही है । निश्चय नय से घट का कारण मृद् द्रव्य ही है, उससे व्यतिरिक्त दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल आदि तो प्रयोजक है । इसीलिए तो द्विकपाल घट मे कपालान्तर का सयोग होने पर त्रिकपालवाले घट की उत्पत्ति की उपपत्ति हो सकती है । कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि का कोई भी व्यापार नहीं होता है, फिर भी दो कपाल वाला घट जब गीरता है तब तीसराकपाल उत्पन्न होता है और उसके सयोग से दरारवाले तीनकपाल वाले घट की उत्पत्ति द्विकपालवाले घट से होती है । उसके अनुरोध से दण्ड, चक्र, चीवर, कुम्हार, उसके ज्ञान आदि को घट का प्रयोजक मानना युक्त है, न कि कारण । इस परिस्थिति मे ईश्वर की सिद्धि कैसे हो सकती हे ? क्योकि ईश्वर या ईश्वरज्ञान आदि मे कारणता ही असिद्ध है - यह उपर्युक्त विचारशृखला से ध्वनित होता है ।

घट में भी कथञ्चित्कपालत्व साक्षात् रहता है - स्याद्वादी

अथ ने इति । यहाँ यह नैयायिक उद्गार कि —> ''दो कपाल वाले घट से ही कपालान्तर सयोग से तीन कपालवाले

चेत् ? न, **कथञ्चित्कपालत्वस्यापि तत्र स्वीकारात् । अत एव 'कपालमयो घट' इति प्रतीतिः । न हि इयं 'अयस्पिण्डस्तेजोमय' इतिवदुपपत्स्यते, साक्षात्सम्बन्धे बाधकाभा-**

❋ जयलता ❋

त्वनियमादिति । एवकारेणाऽन्ययोगव्यवच्छेद. कृतः, प्रकृते द्विकपालघटस्य त्रिकपालघटहेतुत्वव्यवच्छेद ज्ञेय· । घट. कपाल कपालविजातीयसयोग च विना न भवितुमर्हति, विजातीयसयोगश्च कपाल विना न भवितुमर्हति, कपालत्वस्य तत्कारणतावच्छेद-कत्वात् । ततश्च कपालान्तरसयोगेन सहकृताद् द्विकपालघटात् त्रिकपालघटो न भवितुमर्हति, द्विकपालघटे घटत्वावच्छिन्न-कार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकस्य कपालत्वस्य विरहात्, अन्यथा तदाकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । अत. कपालत्रिकादेव विजातीय-सयोगोत्पत्त्यनन्तर त्रिकपालघटोत्पाद उपगन्तुमर्हतीति शङ्काभिसन्धि. ।

प्रकरणकृत् प्रत्याचष्टे - नेति । **कथञ्चित्कपालत्वस्यापीति** । अपिशब्देन प्रतीतघटत्वादे. परिग्रह. । **तत्र** = द्विकपालघटे स्वीकारादिति । द्विकपालघटे 'इद कपालमि'तिव्यवहारप्रयोजकीभूतस्य कपालत्वस्याऽसत्त्वेऽपि घटत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपि-ततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकीभूतस्य कपालत्वस्य सत्त्वेन ततो विजातीयसयोगस्य घटस्य चोत्पादेऽपि व्यतिरेक-व्यभिचारानवकाश । कारणतावच्छेदकावच्छिन्नादेव कार्योत्पत्तेराकस्मिकत्वप्रसङ्गोऽपि नास्ति । 'पर द्विकपालघटे कथ कपालत्व-सिद्धि ?' इत्याशङ्कायामाह- **अत एवेति** । तत्र घटे स्यात् कपालत्वस्य सत्त्वादेव । **'कपालमयो घटः' इतिप्रतीतिः** उप-पद्यते । यथा मृत्त्वस्य घटे सत्त्वादेव 'मृण्मयो घट' इतिप्रतीतिर्भवति तथैवाऽपेक्षितकपालत्वस्य तत्र सत्त्वादेव 'कपालमयो घट' इति प्रतीतिर्भवितुमर्हति । प्रकृते परम्परासम्बन्धपराकरणार्थ प्रकरणकारः प्रक्रमते- **न हीति** । इय = 'कपालमयो घट' इति प्रतीति· । तेजस्त्वस्य समवायेनाऽयस्पिण्डे विरहेऽपि स्वसमवायिसयोगसम्बन्धेन तत्र वर्तमानत्वात् **'अयस्पिण्डस्तेजोमय' इतिवत्** = तादृशप्रतीतिवत्, **उपपत्स्यते** । कुतो हेतो. ? इत्याह- **साक्षात्सम्बन्धे** = समवायेऽपृथग्भावे वा सम्बन्धे स्वीक्रियमाणे, **बाधकाभावात्** = दोषाभावात् । अयोगोलकस्य शीतलीभवने तत्र तेजोमयत्वप्रतीते विरहात् न समवायेन तत्र तेजस्त्व स्वीकर्तुमर्हतीति स्वसमवायिसयोगलक्षणपरम्परासम्बन्धेन तत्र तेजस्त्वमङ्गीक्रियते, स्वस्य = तेजस्त्वस्य समवायिना = तेजसा तस्य सयुक्तत्वात् । समवायेन तत्र तेजस्त्वोपगमे तु पूर्वमिव पश्चादपि तादृशप्रतीतिप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वम् । न च प्रकृते

घट की उत्पत्ति की कल्पना युक्त नही है, क्योकि घट और घटजनक विजातीयसयोग के प्रति कपालत्वेन कपाल कारण होता है । घट के प्रति कपाल तादात्म्यसम्बन्ध से कारण होता है और घटजनक (= घटासमवायिकारण) विजातीय सयोग के प्रति भी वह तादात्म्यसम्बन्ध से कारण होता है । दो कपाल वाले घट मे कपालत्व ही नही होने से उससे कपालान्तर के सयोग से तीन कपाल वाले घट की उत्पत्ति नही हो सकती है । एव तीन कपाल वाले घट के जनक = असमवायी कारण तीनकपालसयोग की भी उत्पत्ति तीन कपाल के विना केसे हो सकेगी ? कपालान्तरसयोग से दो कपाल वाले घट को तीन कपालवाले घट का जनक मानने मे उपर्युक्त कार्य-कारणभाव का भङ्ग ही वाधक है'' <— भी नामुनासिव है, क्योकि द्विकपाल वाले घट मे हम स्याद्वादी कथचित्कपालत्व का भी स्वीकार करते है । इसलिए तो 'कपालमयो घट.' इत्याकारक प्रतीति होती हे । यहाँ यह कहना कि —> ''जैसे अग्नि से अतितप्त लोहपिण्ड मे भी 'अयस्पिण्ड. तेजोमय·' इत्याकारक प्रतीति होती है । मगर क्या इससे अग्नित्व लोहपिण्ड मे सिद्ध हो सकता है ? अग्नित्व तो समवायसम्बन्ध से अग्नि मे रहता है, जो कि लोहपिण्ड से सयुक्त है । अत लोहपिण्ड मे वह्नित्व समवाय से नही, वल्कि स्वसमवायिसयोगसम्बन्ध से रहने की वजह 'अग्निमयो लोहपिण्ड.' यह प्रतीति होती है, यह माना जाता है । ठीक वैसे ही कपालत्व भी द्विकपाल वाले घट मे समवायसम्बन्ध से नही, वल्कि स्वसमवायिसमवेतत्वनामक परम्परासम्बन्ध से रहेगा, जिसकी वजह 'कपालमयो घट.' यह प्रतीति होती है'' <— भी असगत है, क्योकि कथञ्चित्कपालत्व और घट के वीच साक्षात् सम्बन्ध के स्वीकार मे कोई वाध नही है । लोहपिण्ड जव शीत हो जाता है, तव 'अग्निमयो लोहपिण्डः' यह प्रतीति नही होने से वहाँ समवाय से वह्नित्व को नही माना जा सकता मगर घट के रहते हुए तो सदा के लिए 'कपालमयो घटः' यह प्रतीति हो सकती हे। इसलिए कथञ्चित्कपालत्व का घट मे साक्षात् सम्बन्ध मुमकिन है । जहाँ साक्षात् सम्बन्ध मुमकिन हो वहाँ परम्परा सम्बन्ध की कल्पना नही की जा सकती, क्योकि तव निरर्थक गोरव दोप प्रसक्त होता है । इसलिए समुचित तो यही है कि निर्दोपता और लाघव होने की वजह साक्षात् सम्बन्ध से ही कथञ्चित्कपालत्व घट मे रहता है, यह माना जाय । घटकारणतावच्छेदकीभूत कथञ्चित्कपालत्व घट मे कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से होने की वजह दो कपाल वाला घट कपालान्तर के सयोग से तीन कपाल वाले घट को उत्पन्न कर सकता है, भले कपालत्व को घटमात्र की कारणता का अवच्छेदक माना जाय । घट मे कथञ्चित्कपालत्व

वात् । चरमतन्तुप्रवेशपर्यन्तमेव पटानुत्पत्तौ पूर्व-पूर्वक्रियाया वैयर्थ्यप्रसङ्गेनाऽऽरभ्यारम्भ-वादस्यैव युक्तत्वात् ।

एवं सति 'पटे पट' इतिप्रतीति स्यादिति चेत् ? तर्हि पटत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपक-

❀ जयलता ❀

द्विकपालघटे समवायेन कपालत्वस्याऽभ्युपगमे किञ्चिद्बाधकमस्ति, सति घटे सर्वदा 'कपालमयो घट' इतिप्रतीते जायमानत्वात् । साक्षात्सम्बन्धसम्भवे परम्परासम्बन्धकल्पनाया अन्याय्यत्वात्, गौरवात् ।

वस्तुत स्वनये 'एतानि कपालान्येव घटतया परिणतानी'तिप्रतीत्याऽवयवावयविनो स्यादभेदससर्गो यथा सिध्यति तथैव 'वह्निपरिणतोऽयोगोलक' इतिप्रतीत्या तदानी तयोरपि कथञ्चिदभेद इष्ट एव । तदुक्त प्रवचनसारे 'परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मयत्ति पण्णत्त' (प्र सा १/८) इति । इयास्तु विशेषो यत् - स्वावयवावयविनोरेकप्रदेशभावेनाऽभेदोऽनयोस्त्वेकावगाहताभावेनेति पूर्वमुक्तमेव ।

ननु कथञ्चित्कपालत्वस्य घटवृत्तित्वे तु तयो स्यादभेद प्राप्त । न चेष्टापत्तिरिति वक्तव्यम्, कपालोत्पत्तिसमये एव घटोत्पत्त्यापत्तेरिति चेत् ? सैवम्, तदानी कपालाऽभिन्नत्वेन रूपेण घटस्योत्पादे बाधकाभावात् । न चान्त्यसमये एव घट उत्पद्यते न च त्वचरमसमयेऽपीति वाच्यम्, तथा सति मृदानयन-मर्दन-पिण्डविधान-चक्रारोपण-भ्रमणादिपूर्वपूर्वक्रियाया वैयर्थ्यापत्ते । न चोत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, स्यात्कपालाभिन्नत्वेन रूपेण घटस्य तदानीमुत्पन्नत्वेऽपि घटत्वेनाऽनुत्पन्नत्वात् । एवमेव पटस्थलेऽपि वक्तव्यमित्याशयेन प्रकरणकृदाह- चरमतन्तुप्रवेशपर्यन्तमेवेति । एवकारेणाऽचरमतन्तुप्रवेशपर्यन्तक्षणव्यवच्छेद कृत । पटानुत्पत्तौ = अचरमतन्तुकत्वेन रूपेण पटस्याऽनुत्पत्तौ, पूर्व-पूर्वक्रियाया॰ = द्विचरम-त्रिचरमादितन्त्वातान-वितानादिक्रियाया , वैयर्थ्यप्रसङ्गेन आरभ्यारम्भवादस्य = आरभ्यत्वेनाऽभिमतस्य प्रतिकर्म प्रतिक्षण च कथञ्चिदारम्भ इति वादस्य एव युक्तत्वादिति । एतेन द्वितन्तुकपटात् तन्त्वन्तरसयोगेन त्रितन्तुकपटोत्पत्तिरपि व्याख्याता ।

पर शङ्कते- एव सतीति । द्वितन्तुकपटादेव तन्त्वन्तरसयोगेन त्रितन्तुकपटोत्पादाऽभ्युपगमे सति, त्रितन्तुकपटस्य द्वितन्तुकपटजन्यत्वेन 'पटे पट' इतिप्रतीति॰ स्यात्, समवायिकारणस्यैव स्वकार्याधिकरणत्वादिति शङ्काशय । प्रकरणकृत् समाधत्ते - तर्हीति । पटत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपकतावच्छेदकत्व = पटत्वेनाऽवच्छिन्नाया आधेयताया यो निरूपको धर्मी तन्निष्ठाया

होने से ही उसमे तीनकपालवाले घट का जनक विजातीय सयोग भी उत्पन्न हो सकता है । इस तरह कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवर आदि के विना भी घट की उत्पत्ति मुमकिन होने से कुलालादि को भी घटत्वावच्छिन्न का कारण न मान कर घट का प्रयोजक मानना ही उचित है । इस तरह घटादि कार्य स्वद्रव्य से जन्य होने के सबब उपादानविशेष्यक प्रत्यक्ष आदि से साध्य नही है - यह सिद्ध होने से ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती है, यह उपर्युक्त विचारधारा का निष्कर्ष है ।

'कयमाणे कडे' सिद्धान्त से आरभ्यारम्भवाद

चरम इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि अवयवविजातीयसयोग को कार्यजनक मानने वाले नैयायिक विद्वानो के मतानुसार चरमतन्तुप्रवेशपर्यन्त पटात्मक कार्य उत्पन्न नही होता है । मगर ऐसा मानने पर पूर्व-पूर्व क्रिया व्यर्थ होने का प्रसग उपस्थित होता है, क्योकि पूर्वकालीन क्रिया बीत जाने पर भी पट अनुत्पन्न ही है । पूर्वकालीन क्रिया मे निरर्थकता की आपत्ति को दूर करने के लिए यही मानना उचित है कि तत् तत् क्षण मे जो आरभ्यमाण है, वह उसी क्षण मे उत्पन्न हो जाता है । जैसे सप्ततन्तुप्रवेश के समय सप्ततन्तुक पट आरभ्यमाण है और वह उसी समय उत्पन्न हो जाता है । अष्टतन्तुप्रवेश के समय अष्टतन्तुक पट आरभ्यमाण है और वह उसी समय उत्पन्न हो जाता है । ऐसा मानने पर पूर्व-पूर्व क्रिया के वैफल्य का अनिष्ट प्रसग उपस्थित नही होता । अत. चरमतन्तुप्रवेश के समय तत्सख्याकतन्तुक पट आरभ्यमाण है और वह उसी क्षण मे उत्पन्न हो जाता है । उस क्षण के पूर्व वह आरभ्यमाण ही नही होने से पूर्व-पूर्व क्रिया के होने पर भी उसकी उत्पत्ति नही होती है एव पूर्व-पूर्व क्रिया के नैष्फल्य का दोष भी प्रसक्त नही होता है, क्योकि पूर्व-पूर्व क्रिया से आरभ्य तत् तत् पट की उत्पत्ति तत् तत् क्षण मे हो चूकी है । अत आरभ्य-आरम्भवाद ही युक्त है । यहाँ यह शका हो कि —> ''पटात्मक कार्य का अपने कारण तन्तु से अभेद मानने पर तो जैसे 'तन्तो पट' यह प्रतीति प्रामाणिक होती है ठीक वैसे ही 'पटे पट.' यह प्रतीति भी प्रामाणिक हो जायेगी, क्योकि अधिकरणविधया प्रतीयमान तन्तु से अभिन्न पट का तन्तु के स्थान मे उल्लेख या प्रवेश निराबाध रूप से हो सकता है । अत 'पटे पट' यह प्रतीति प्रामाणिक होने लगेगी''

तावच्छेदकत्व तन्तुत्व एव कल्पयत. तव का हानि· ?
अत्र चार्थे 'कयमाणे कडे' इति सिद्धान्तसारोऽपि प्रमाणमिति दर्शयाम् ।

❀ जयलता ❀

निरूपकताया अवच्छेदकधर्मत्व, तन्तुत्वे एव कल्पयत· तव = नैयायिकस्य का हानिः ? अत्रेद तत्त्वम् - यथा परेण 'घटध्वसे घटो नास्ती'तिप्रतीतिबलेन सिद्धो घटध्वसाधिकरणको घटात्यन्ताभावो लाघवाद् घटध्वसात्मकाधिकरणस्वरूप एव न त्वतिरिक्तः, पर 'घटध्वसे घटो ध्वस्त' इत्यप्रत्ययात् घटध्वसस्य घटात्यन्ताभावत्वेन रूपेण स्वात्मनि सत्त्वेऽपि घटध्वसत्वेन तत्राऽसत्त्वमङ्गीक्रियते । तयोरैक्येन घटध्वसस्य घटध्वसत्वावच्छिन्नाधिकरणताया निरूपकत्वेऽपि तादृशनिरूपकताया अवच्छेदकत्व घटात्यन्ताभावत्वे एव परेणोपगम्यते । तथैव प्रकृतेऽचरमतन्तुकपटस्य चरमतन्तुकपटाधिकरणीभूततन्त्वभिन्नत्वेनोभयो· पटत्वावच्छिन्नाधेयताया निरूपकत्वेऽपि तादृशनिरूपकताया अवच्छेदकता त्वया प्रतीतिबलेन तन्तुत्वे एव कल्पनीयेति न 'पटे पट' इति प्रतीत्यापत्ति , पटत्वस्य पटत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपकतानवच्छेदकत्वादिति । एतेन 'घटे घट' इतिप्रतीत्यापत्तिरपि प्रत्युक्ता, घटत्वावच्छिन्न-समवायसम्बन्धावच्छिन्नाया आधेयतायाया निरूपकता धर्मिनिष्ठा तदवच्छेदकत्वस्य घटत्वेऽनभ्युपगमात् विशिष्टसत्ताया. शुद्धसत्तानतिरिक्तत्वेऽपि सत्तावद्गुणनिष्ठाधिकरणतानिरूपकताया सत्तानिष्ठाया अवच्छेदकत्वस्य गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वेऽनभ्युपगमवदिति भावनीयमवहितमानसैः ।

अत्र चार्थे = आरम्भारम्भवादे, 'कयमाणे कडे' इति सिद्धान्तसारः = नैश्चयिकसिद्धान्तरहस्य अपि प्रमाणमिति। इदमत्राकूतम् - प्रतिसमय विभिन्नान्येव कार्याणि समारभ्यन्ते निष्पाद्यन्ते च स्वकारणकाल-निष्ठाकालयोरेकत्वात् । अतीत-भविष्यत्क्रियाक्षणौ तु न कार्यकारकौ विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽसत्त्वात्, व्याघ्रशृङ्गवत् । तदसत्त्वेऽपि कार्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते तर्हि क्रियारम्भात् प्रागपि कार्योत्पादः प्रसज्येत, क्रियाऽसत्त्वाऽविशेषात् । न च क्रियोपरमे कार्य भवति न तु क्रियासद्भावे तस्याः स्वोत्पत्तावेव व्यग्रत्वादिति वाच्यम्, कारणीभूताऽभावप्रतियोगित्वेन क्रियोत्पादस्य प्रतिबन्धकत्वापत्ते· । न च तर्हि क्रियाकालस्य कथ दीर्घत्व, घटस्य प्रथमसमय एवोत्पन्नत्वादिति वाच्यम्, प्रतिसमयोत्पन्नाना परस्परविलक्षणस्वरूपाणा शिवक-स्थास-कोश-कुशूलादिकार्यकोटीना क्रियाकाल-निष्ठाकालयोरेकत्वेन प्रतिप्रारम्भसमयनिष्ठाप्राप्तानामेव दीर्घक्रियाकालोपलम्भात्, घटस्तु पर्यन्तसमय एवारभ्यते तत्रैव च निष्पद्यत इति न तस्य दीर्घो निर्वर्तनक्रियाकाल· । तदुक्त विशेषावश्यकभाष्ये --> 'पइसमउप्पण्णाण परोप्परविलक्खाण सुबहूण । दीहो किरियाकालो जइ दीसइ कि त्थ कुभस्स ? ॥ अन्नारभे अन्न किह दीसउ जह घडो पडारभे । सिवकादओ न कुभो किह दीसए सो तदद्धाए ? ॥ अते च्चिय आरद्धो जइ दीसइ तम्मि चेव को दोसो ? । अकय व सपइ गए कह कीरउ कह व एस्सम्मि ? ॥ पइसमयकज्जकोडीनिरवेक्खो घडगयाहिलासो सि । पइसमयकज्जकाल थूलमई ! घडम्मि लाएसि ॥ (वि आ भा २३१५/२३१८) इति । इदञ्च निश्चयनयप्रधानभावेन बोध्यम् ।

नैगमनयानुगृहीतनिश्चयनयेन तु प्रतिसमय शिवक-स्थासाद्यभिन्नत्वेन रूपेण घटो जायत एव । अत एव कुलालादीनामाद्यक्षणे 'अह घट करोमी'त्याद्यनाहार्यस्वारसिकानुभवोऽपि सङ्गच्छते । अत एव क्रियावैयर्थ्यप्रसङ्गोऽपि न सावकाशः, विद्यमाने हि वस्तुनि पर्यायविशेषाधानद्वारेण कथञ्चित्करणक्रियादिसाफल्योपपत्ते· । सर्वथा असति तु नेद सम्भवति । प्रन्थकृ-

<-- तो यह नामुनासिब है, क्योंकि पटत्वावच्छिन्न = पट मे रही हुई आधेयता की निरूपकता का अवच्छेदक तन्तुत्व धर्म है, न कि पटत्व - ऐसी कल्पना नैयायिक करे तो भी कोई दोष नैयायिक के मतानुसार नही हो सकती है । मतलब यह है कि तन्तु मे पट रहता है । पट मे तन्तु की आधेयता रहती है । तन्तु पटनिष्ठ आधेयता का निरूपक है । मगर तन्तु पट का तन्तुत्वेन रूपेण आधार है । और पटत्वेन रूपेण पट तन्तु मे आधेय है । अत पट मे पटत्वावच्छिन्न आधेयता आयेगी, जिसका निरूपक तन्तु या तन्तु से अभिन्न पट है, मगर तादृश आधेयता की निरूपकता का अवच्छेदक तन्तुत्व है, क्योंकि तन्तुत्वरूप से तन्तु पट का आधार है । 'पटे पट ' इस प्रतीति मे तो पटत्वावच्छिन्न पटनिष्ठ आधेयता की निरूपकता के अवच्छेदकविधया पटत्व का भान हो रहा है । अत यह प्रतीति प्रामाणिक नहीं है, किन्तु 'तन्तौ पट·' यह आधाराधेयभावावगाही प्रतीति प्रामाणिक है, भले ही तन्तु और पट मे कथञ्चिद्भेद क्यों न हो ? पटत्व और तन्तुत्व तो एक नहीं है। जैसे नैयायिक मत मे विशिष्टसत्ता शुद्ध सत्ता से अभिन्न होने पर भी गुणनिष्ठ अधिकरणता की निरूपकता की अवच्छेदकता सत्तात्व मे है, न कि विशिष्टसत्तात्व (गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्व) मे । इसी तरह यह भी सगत हो सकता है । आरम्भ-आरम्भवाद मे 'कयमाणे कडे' यानी क्रियमाण कार्य उसी समय कृत होता है यह सिद्धान्तसार भी प्रमाण = साक्षी है -

एतेन - खण्डघटादावेव कुम्भकारादिकृतेरभावात् खण्डघटाद्युत्पादकत्वे नैवेश्वरसिद्धिरिति - दीधितिकृन्मतमपास्तम्, एवं सति घटत्वावच्छिन्नं प्रति कुम्भकारत्वादिनाऽपि हेतुत्वविलयापत्तेः, विजातीयकृतिमत्त्वेन तथात्वे पुनरीश्वरासिद्धेः ।

❀ जयलता ❀

दृष्टान्तानुसारेण भावनीयमिदं तत्त्वं निश्चयनयानुसारिभिरित्यादिसूचनार्थं ध्येयमित्युक्तम् ।

एतेनेति । कुलालकृतिदण्डादिजन्यतावच्छेदकीभूतघटत्वस्य खण्डघटादिव्यावृत्तत्वेनेति । अस्य 'अपास्तमि'त्यनेनाऽन्वय । खण्डघटादावेवेति । अयोगव्यवच्छेदार्थमेवकार । अव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन कुम्भकारादिकृतेरभावात्, खण्डघटाद्युत्पादकत्वेन एव ईश्वरसिद्धिरिति । यो विशेषयो कार्य-कारणभावोऽसति बाधके स तत्सामान्ययोरपी'तिन्याये मानाभावेन कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति न कृतेर्हेतुत्वम् । घटत्वाद्यवच्छिन्नं कुलालादिकृतित्वेन वाऽपि न हेतुत्व, खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरसत्त्वात् । किन्तु घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कृतेर्हेतुत्वम् । अत खण्डघटाद्युत्पत्तिकालपूर्वं कृतेरावश्यकत्वे कुलालादिकृतेरसत्त्वेन तदाश्रयतया लाघवसहकृतपारिशेष्यन्यायादतिरिक्तेश्वरसिद्धिरिति दीधितिकृन्मत = रघुनाथशिरोमणिमतम् ।

प्रकरणकार. तन्निरासे हेत्वन्तरमाह- एवं सति = घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कृतित्वेन हेतुत्वाभ्युपगमे सति, घटत्वावच्छिन्नं = घटमात्र, प्रति कुम्भकारत्वादिनाऽपि हेतुत्वविलयापत्तेः = कारणतोच्छेदप्रसङ्गात्, कृतित एव घटोत्पादे कुलालादेरन्यथासिद्धत्वेनाऽकर्तृत्वप्रसङ्गादिति यावत् । विजातीयकृतिमत्त्वेन = घटानुकूलकृतिमत्त्वेन रूपेण तथात्वे = घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वाऽभ्युपगमे, कुलालादिव्यक्ते कर्तृत्वसम्भवेऽपि, पुन ईश्वरासिद्धेः, कुलालादे. स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन खण्डघटोत्पत्तिकालेऽपि सत्त्वात् । एतेन -> 'खण्डघट पक्षीकृत्य कुलालादिकृतिजन्यत्वसाधने जीवरूपकुलालकृतेर्बाधादीश्वरसिद्धि , घटकरणसमर्थस्यैव कुलालत्वेन तादृशकुलालत्वस्येश्वरेऽपि स्वीकारसम्भवात् । अत एव 'नम कुलालेभ्य' इति श्रुतिरपि सङ्गच्छते' <— (मु रा र पृ ४६) इति रामरुद्रभट्टवचन प्रत्युक्तम् ।

यह भी ध्यातव्य है ।

❀ दीधितिकारमतनिरास ❀

एतेन ख इति । ईश्वर की सिद्धि के लिए दीधितिकार रघुनाथशिरोमणि का यह मन्तव्य है कि -> "घटसामान्य के प्रति कुलाल की कृति, पटसामान्य के प्रति कुविन्द की कृति = यत्न कारण है । मगर खण्ड घट की उत्पत्ति कुलालकृति के विना और खण्ड पट की उत्पत्ति कुविन्दकृति के विना ही होती है । मगर उपर्युक्त कार्य-कारणभाव तो प्रामाणिक ही है। अत. उक्त कार्य-कारणभाव के अनुरोध से खण्ड घटादि के कारणविधया ईश्वरीय प्रयत्न की सिद्धि होती है । मतलब कि खण्ड घटादि का कर्ता ईश्वर है । इस तरह खण्डघटादिकर्ता के स्वरूप मे ईश्वर की सिद्धि होती है" - मगर इसका निराकरण तो -> 'कुलालादि की कृति का जन्यतावच्छेदकीभूत घटत्वादि सौवर्ण घट आदि की भाँति खण्ड घट आदि से भी व्यावृत्त है' <— इस पूर्वोक्त कथन से ही हो जाता है । दूसरी बात यह है कि खण्ड घटादि के कर्ता के स्वरूप मे ईश्वर का स्वीकार करने पर तो घटत्वावच्छिन्न = यावत् घट के प्रति कुम्भकारत्व रूप से हेतुता का भी विलय हो जायेगा। जिस नियम के आधार पर दीधितिकार ईश्वर की सिद्धि कर रहे है, उसी नियम का भग ईश्वर की कल्पना से हो जाता है । अत खण्ड घटादि के कर्तृविधया ईश्वर की कल्पना अप्रामाणिक है । यहाँ दीधितिकार की ओर से यह कहा जाय कि -> "घटत्वावच्छिन्न के प्रति कुम्भकारत्वेन हेतुता नहीं है, किन्तु विजातीयकृतिमत्त्वसम्बन्ध से हेतुता है । मतलब कि घटनिष्ठ घटत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता का अवच्छेदक धर्म कुलालत्व नही, अपितु विजातीयकृतिमत्त्व है । कुविन्दादि मे असमवेत ऐसी घटजनक कृति = यत्न का सूचन करने के लिए विजातीयत्व का कृति के विशेषणविधया ग्रहण किया है। तादृश विजातीयकृतिमत्त्व का आश्रय खण्ड घटोत्पत्तिस्थल मे कुलाल नही हो सकता है, क्योकि विना कुलाल के खण्ड घट की उत्पत्ति होती है । अत तादृश विजातीयकृतिमत्त्व के अधिकरणविधया ईश्वर की सिद्धि हो जायेगी और विजातीयकृतिमत्त्व मे घटत्वावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता की अवच्छेदकता का बाध = भग भी नही होगा । इस तरह साँप भी न मरे और लाठी भी नहीं टूटे"<— तो यह कथन भी अप्रामाणिक है, क्योकि विजातीयकृतिमत्त्व को घटकारणतावच्छेदक मानने पर भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है । खण्ड घट के कारणतावच्छेदक विजातीयकृतिमत्त्व का अधिकरण चैत्र आदि भी हो सकता है, जो घट को गिराता है । अत विजातीयकृतिमत्त्व के आश्रयविधया ईश्वर की कल्पना नही की जा सकती।

अथ कृतिमत्त्वेनैव घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति हेतुत्वं, स्वकृतिविशेष्यत्वञ्च कारणतावच्छेदकसम्बन्धः, तत्र दण्डादेरपि स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन हेतुत्वाच्च नातिप्रसङ्ग इति चेत् ? न, आत्मत्वादिनापि तथात्वे स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वादेश्च सम्बन्धत्वे विनि-

※ जयलता ※

वस्तुतस्त्वत्राऽस्माभि तत्र घटेऽखण्डत्वपर्यायनिवृत्तौ खण्डत्वपर्याय एव स्वीक्रियते । युक्तञ्चैतत्, प्रत्यभिज्ञोपपत्ते', तत्र सादृश्यादिदोषेण भ्रमत्वकल्पने गौरवात् । अत एव पाकेनाऽपि नान्यघटोत्पत्ति., विशिष्टसामग्रीवशाद् विशिष्टवर्णस्य घटादे द्रव्यस्य कथञ्चिदविनाशेऽप्युत्पत्तिसम्भवादिति व्यक्त वादमहार्णवे ।

ननु कृतिमत' कुलालादेर्न स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगसम्बन्धेन घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रति हेतुत्व गौरवात्, किन्तु स्वकृतिविशेष्यत्वसम्बन्धेनैव । खण्डघटाद्युत्पत्तिसमये कुलालादेः स्वकृतिविशेष्यतासम्बन्धेन कार्याधिकरणेऽसत्त्वात्तत्कारणतयेश्वरसिद्धि , लाघवतर्कादिना नित्यस्य व्यापकस्यैकस्येश्वरस्य स्वकृतिविशेष्यताससर्गेण कार्याधिकरणे सत्त्वेन प्रकृतकार्य-कारणभावोपपत्तेरितीश्वरवादिमतमुपदर्शयति- **अथेति** । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । **कृतिमत्त्वेनेवेति** । एवकारेण कृतित्वादेर्व्यवच्छेद. कृत । समवायेन **घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रति हेतुत्व, स्वकृतिविशेष्यत्वञ्च कारणतावच्छेदकसम्बन्धः** = कृतिमन्निष्ठ-कृतिमत्त्वावच्छिन्नकारणताया अवच्छेदक ससर्गः, स्वपदेन कृतिमत. कुलालादेर्ग्रहणम् । कपालेषु तदीयकृतिनिरूपितविशेष्यताया सत्त्वेन तेन सम्बन्धेन कुलालादे' तत्र सत्त्व समवायेन च घटोऽपि तत्रैवोत्पद्यत इतिकार्य-कारणभावसङ्गति. । खण्डघटाद्युत्पत्तिस्थले कारणतावच्छेदकीभूतसम्बन्धघटकस्वपदेन कुलालादेर्ग्रहण न सम्भवति, खण्डघटादिसमवायिकारणीभूतकपालादौ कुलालादिकृतेर्विशेष्यत्वविरहात् । अत तत्र स्वपदेनाऽस्मदादिविलक्षणपुरुषधौरेयस्य ग्रहणात् खण्डघटादिकर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिरित्यभिप्राय. परस्य ।

ननु खण्डघटादे. कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धावपि दण्डादिक विनैव तदुत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्वारत्वमित्याशङ्कायामीश्वरवादी गदति- **तत्रेति** । घटत्वाद्यवच्छिन्ने, **दण्डादेरपि** आदिपदेन चक्रचीवरादिग्रहणम्, **स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगसम्बन्धेनेति** । अनेन स्वजन्यभ्रमिवत्त्वसम्बन्धादेर्व्यवच्छेद. कृत' । **हेतुत्वाच्च नातिप्रसङ्गः** = न व्यतिरेकव्यभिचारावकाश' । पूर्वकपालतद्विजातीयसयोगसत्त्वे नूतनकपाल-तद्विलक्षणसयोगानुत्पादात् खण्डघटजनकयो नवीनकपाल-तद्विजातीयसयोगयो पूर्वकपाल-तद्विलक्षणसयोगनाशजन्यत्व, तयोश्च नाशयो' स्वप्रतियोगिजन्यत्व, तत्प्रतियोगिनोश्च दण्डादिजन्यत्वमिति खण्डघटजनककपालद्वयविजातीयसयोगस्य कपालनिष्ठस्य पूर्वदण्डादिप्रयोज्यत्वम् । अत समवायेन खण्डघट प्रति स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगवत्त्वसम्बन्धेन नवीनकपालवृत्ते. दण्ड-चक्रादेर्हेतुत्वमव्याहतमेवेति न व्यतिरेकव्यभिचारावकाश । अत एव खण्डघट प्रतीश्वरकृतेरिवेश्वरीयदण्ड-चक्रादिकल्पनमप्यनावश्यकमिति महेश्वरवादिनो नव्यनैयायिकस्याकूतम् ।

प्रकरणकृत्तन्निराकुरुते- **नेति** । **आत्मत्वादिनाऽपीति** । आदिपदेन प्रत्यक्षवत्त्वादेर्ग्रहणम् । **तथात्वे** = घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रति हेतुत्वे, **स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वादेश्चेति** । आदिपदेन स्वचिकीर्षाविशेष्यत्वादे. परिग्रह । **सम्बन्धत्वे** = कारणतावच्छेदक-

※ कृतित्वेन कारणता का स्वीकार मुनासिब ※

अथ कृ इति । यदि यहाँ यह कहा जाय कि –> ''घटत्वावच्छिन्न का कारणतावच्छेदक धर्म कृतिमत्त्व ही है, मगर चैत्रीय कृति से मैत्रीय घट की उत्पत्ति के अतिप्रसङ्ग का वारण करने के लिए स्वकृतिविशेष्यता का कारणतावच्छेदकसम्बन्धविधया ग्रहण किया जाता है । स्वपद से चैत्रादि का ग्रहण करने पर स्वकृति की विशेष्यता कपाल मे आयेगी, जिसमे समवाय सबध से चैत्रीय घट उत्पन्न होता है । इस तरह दण्डादि भी घट के प्रति स्वप्रयोज्यविजातीयसयोग सम्बन्ध से हेतु है । दण्ड भ्रमिक्रिया के द्वारा कपालद्वयविजातीयसयोग को, जो घट का असमवायी कारण हे, उत्पन्न करता है । अत. कपालद्वयविजातीयसयोग दण्ड से प्रयोज्य बनता है, जो समवाय सम्बन्ध से कपाल मे रहता है । अत दण्ड आदि भी स्वप्रयोज्यविजातीयसयोगसम्बन्ध से कपाल मे रहेगा जहाँ समवाय सम्बन्ध से, जो घटनिष्ठ कार्यता का अवच्छेदक = नियामक सम्बन्ध है, घट उत्पन्न होता है । इस तरह दण्ड आदि मे भी घटकारणता सिद्ध होती है और खण्ड घट की कृतिनिष्ठकारणता के अवच्छेदक सम्बन्ध के घटक स्वपद से ईश्वर का ही ग्रहण किया जा सकता है । इस तरह ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है'' <–

न, आ इति । तो यह वक्तव्य भी निराधार है, क्योकि घटत्वावच्छिन्न के प्रति स्वकृतिविशेष्यतासम्बन्ध से कृति को कारण मानना या स्वप्रत्यक्षविशेष्यतासम्बन्ध से आत्मा को हेतु मानना ? इस विषय मे कोई विनिगमक नहीं है । आत्मत्वेन आत्मा भी स्वप्रत्यक्षविशेष्यतासम्बन्ध से कपाल मे रह सकता है, क्योकि स्व = आत्मा के कपालप्रत्यक्ष की विशेष्यता कपाल

गमनाविरहात् । विजातीयकृतिमत्त्वेनैव व्यापकधर्मेण कार्यमात्रे सकर्तृकत्वनियमस्याऽप्रामाणिकत्वेन लाघवात्कृतित्वेनैव वा हेतुत्वौचित्याच्च ।

❀ जयलता ❀

सम्बन्धत्वे विनिगमनाविरहादिति । अस्तु दण्डादेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन घटत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वं परं समवायेन घटमात्रं प्रति स्वकृतिविशेष्यत्वसम्बन्धेन कृतिमत्त्वेन रूपेण कुलालादेर्हेतुत्वं स्वीकर्तुं न युज्यते, तत्र स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वसंसर्गेणाऽऽत्मत्वेन रूपेण कुलालादेर्हेतुत्वमित्यस्यापि सुवचत्वात् । आत्मत्वेन कुलालः स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वसंसर्गेण कपाले वर्त्तते तत्रैव च समवायेन घटो जायत इत्युपदर्शितकार्य-कारणभावस्याऽपि सम्भवात् नैयायिकोक्तहेतु-हेतुमद्भावे विनिगमनाविरहः । न च तर्हि स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वसम्बन्धेनाऽऽत्मत्वेन रूपेण घटमात्रं प्रति हेतुताऽस्तु । एवमपीश्वरः खण्डघटाद्यनुरोधेन सेत्स्यतीति वक्तव्यम्, प्रकृतेऽपि समवायेन घटमात्रं प्रति स्वप्रत्यक्षविशेष्यत्वसम्बन्धेनाऽऽत्मत्वेन रूपेण हेतुत्वं यदुत उपादानप्रत्यक्षवत्त्वरूपेण ? इति विनिगमनाविरहात् । एवं उपादानचिकीर्षामत्त्वेन रूपेण स्वचिकीर्षाविशेष्यत्वसंसर्गेण तद्धेतुत्वमाहोस्वित् जीवत्वरूपेण ? इत्यादिविनिगमनाविरहस्याऽपि प्रदर्शिताखिलफल-फलवद्भावविघटने बद्धकक्षत्वान्नैकोऽपि कार्य-कारणभावः सम्भवति, यद्बलेन खण्डघटाद्युत्पत्त्यनुरोधेनेश्वरः सिध्येत् ।

ननु 'कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वादि'त्यनुमाने विजातीयकृतिमज्जन्यत्वमेव साध्यं, कार्यत्व-विजातीयकृतिमत्त्वाभ्यामेव कार्य-कारणभावाऽभ्युपगमादिति पराऽऽशङ्कायां प्रकरणकृदाह-विजातीयकृतिमत्त्वेनैव व्यापकधर्मेण कार्यमात्रे = कार्यत्वावच्छिन्ने सकर्तृकत्वनियमस्य अप्रामाणिकत्वेनेति । व्याप्यधर्मेण कार्य-कारणभावसम्भवे व्यापकधर्मेण न कार्य-कारणभावः कल्प्यते, अन्यथासिद्धेः, अन्यथा घटत्वावच्छिन्नं प्रति दण्डत्वेनैव द्रव्यत्वादिनाऽपि कारणत्वापत्तेः । तदुक्तं –> 'अगृहीतव्यभिचारकलघुभूतव्याप्यधर्मान्तरसत्त्वे व्यापकरूपेण न कारणत्वं अन्यथासिद्धेः' <-- । ततश्च सौवर्ण-खण्डघटादिव्यावृत्तघटत्वावच्छिन्नं प्रति कुलालकृतित्वेनैव कारणत्वमिति नोपदर्शितः कार्य-कारणभावः प्रामाणिकः । यदि च लाघवगर्भितेन 'यो यद् विशेषयोः कार्य-कारणभावः' इत्यादिन्यायेन विजातीयकृतिमत्त्वलक्षणव्यापकधर्मेण कारणताऽभ्युपेयते तदा कृतित्वेनैव तदुपगम उचितः लाघवादित्याशयेन प्रकरणकृदाह- लाघवात् कृतित्वेनैव वा हेतुत्वोचित्याच्चेति । समवायेन कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कृतित्वेन कृतेः कारणत्वमिति सामान्यकार्य-कारणभावः स्वीकर्तुं युज्यते कारणतावच्छेदकधर्मलाघवादिति भावः । न चैवमपि खण्डघटाद्युत्पत्त्यनुरोधेन तज्जनककृत्याश्रयविधया भवसिद्धिरिति वाच्यम्, गुणस्य साश्रयकत्वव्याप्तौ मानाभावस्य पूर्वमुक्तत्वात् । न च वेदान्तिनयानुसारेण भवतामेवं वक्तुं न युज्यत इति वाच्यम्, तथाऽपि तत्र कुलालकृतेरेव स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन हेतुत्वसम्भवात् । न च लाघवात् स्वविशेष्यतासम्बन्धेनैव कृतेर्जनकत्वमस्तु, स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन तथात्वे तु गौरवमिति वक्तव्यम्, तथापि स्वप्रयोज्यसम्बन्धेनैव तद्धेतुत्वसम्भवात् । न च विशेष्यतात्वस्य कृतिनिष्ठकारणतावच्छेदकसम्बन्धतावच्छेदकत्वमाहोस्वित्

मे रहती है । ऐसा कार्य-कारणभाव भी मुमकिन है । इसमें कोई बाधक नहीं है । मगर इसके अंगीकार से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है । खण्ड घट आदि के कर्ता के स्वरूप मे आत्मा की सिद्धि होगी, न कि परमात्मा की । मतलब कि विनिगमनाविरह दोष की वजह प्रतिवादी से प्रतिपादित उपर्युक्त कार्य-कारणभाव मान्य नहीं हो सकता, जिसके फलस्वरूप मे प्रतिवादिसम्मत महेश्वर की प्रसिद्धि हो सके ।

विजा इति । इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि विजातीयकृतिमत्त्व धर्म व्यापक है = सामान्य है। व्यापक धर्म से कारणता का अंगीकार करने पर अकारण मे भी स्वरूपयोग्यता के स्वीकार का निष्प्रामाणिक गौरव उपस्थित होता है । अतः कार्यमात्र के प्रति विजातीयकृतिमत्त्व से सकर्तृकत्व = कर्तृजन्यत्व का नियम अप्रामाणिक है । इसकी अपेक्षा तो यही मुनासिब है कि कृतित्वस्वरूप लघु धर्म को ही कार्यमात्र का कारणतावच्छेदक माना जाय । मतलब कि 'कृति स्वविशेष्यतासम्बन्ध से कार्यमात्र का कारण है' - इत्याकारक लघु कार्यकारणभाव समुचित होने से खण्ड घटादि के कारणविधया कृति की सिद्धि होगी, न कि ईश्वर की, क्योंकि उक्त कार्य-कारणभाव मे किसी भी घटक के द्वारा ईश्वर का तो क्या आत्ममात्र का भी प्रवेश नहीं किया गया है । तथा 'गुणमात्र साश्रयक ही होता है' यह नियम भी पूर्वोक्त युक्ति से अप्रामाणिक होने से खण्ड घटादि के जनक प्रयत्न के आश्रयविधया भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती । यदि तादृशनियम को प्रामाणिक मान भी लिया जाय तो भी जीवात्मा मे ही तथाविधप्रयत्नाधिकरणता संभवित होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती - यह तात्पर्य है ।

जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति कृतित्वेन हेतुत्वेऽप्यभावकर्तृत्वाऽसिद्धेरीश्वरे जगत्कर्तृत्वं निर्युक्तिकम् । कार्यत्वं तु न कार्यतावच्छेदकं, कार्यतावच्छेदकसम्बन्धस्यैकस्याऽसत्त्वात् ।

❀ जयलता ❀

प्रयोज्यत्वस्येत्यत्र विनिगमकाभावान्न स्वप्रयोज्यसम्बन्धेन कृतेः कारणत्वसम्भव इति **वक्तव्यम्**, सकलविशेष्यवृत्तित्वे सति तदितराऽवृत्तित्वलक्षणस्य विशेष्यतात्वस्य गुरुत्वात् । **न च** साक्षात्परम्परया वा जन्यत्वरूपे प्रयोज्यत्वेऽपि तुल्यगौरवमिति **वाच्यम्**, तथापि तव विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहस्याधिकत्वात्, तस्यातिरिक्तत्वे सप्तपदार्थविभागातिक्रमप्रसङ्गादिति दिक् ।

अभ्युपगमवादेनाऽऽह- **जन्यसत्त्वावच्छिन्नमिति** । जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नमित्यर्थ. । **तेन** सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टसत्त्वस्य गुरुतेवेन कार्यतानवच्छेदकत्वोक्तावपि **न क्षतिः** । **कृतित्वेन हेतुत्वे** = कृतित्वावच्छिन्नकारणत्वाभ्युपगमे, **अपि** । किमुत तदनङ्गीकारे इत्यपिशब्दार्थ । समवायेन जन्यसन्मात्र प्रति विशेष्यतया कृते कारणत्वाऽङ्गीकारेऽपि, **अभावकर्तृत्वाऽसिद्धेः** = ध्वसकर्तृत्वाऽसम्भवात्, **ईश्वरे जगत्कर्तृत्व** = निखिलजन्यपदार्थकर्तृत्व, **निर्युक्तिक** = अप्रामाणिकम् । ध्वसस्य जन्यत्वेऽप्यभावत्वेन जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यलक्षणकार्यतावच्छेदकशून्यत्वेन न कृतेः तज्जनकत्व सम्भवति । **एतेन** कार्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकृतिनिष्ठजनकतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यताशालि प्रागभावप्रतियोगित्वादिति **प्रत्युक्तम्**, पक्षतावच्छेदकाक्रान्ते ध्वसे विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकृतिनिष्ठजनकतानिरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यत्वलक्षणसाध्यस्य विरहेण बाधात् । **न च** सत्त्वविशिष्टजन्यत्वस्यैव ध्वसव्यावृत्तस्य पक्षतावच्छेदकत्वोपगमान्न दोष इति **वाच्यम्**, हेत्वधिकरणे ध्वन्से उक्तसाध्याभावेन व्यभिचारात् । **न च** हेतो. सत्त्ववैशिष्ट्येन विशेषणान्न दोष इति **वाच्यम्**, एव सति महेश्वरे ध्वन्सकर्तृत्वासिद्ध्या जगत्कर्तृत्वबाधात्, विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावेन गौरवाच्च । **एतेन** विशेष्यता-समवायाभ्या कश्चिद्धेतु-हेतुमद्भाव. अन्यस्तु विशेष्यता-विशेषणताभ्यामिति ध्वसेऽपि कृतिजन्यत्वसिद्धिः सम्भवत्येवेति **प्रत्युक्तम्**, उपादानत्वाऽऽख्यविशेष्यतासम्बन्धेनैव कृते कारणत्वस्याऽङ्गीकरणीयतया ध्वसस्योपादानविरहेण त प्रत्युक्तविशेष्यतासम्बन्धेन कारणत्वाऽसम्भवाच्च । **एतेन** कार्यमात्रस्य कृतिजन्यत्वप्रवादोऽपि **प्रत्युक्तः**, ध्वन्सस्य कृतिजन्यत्वे मानाभावेन तादृशप्रवादस्य निर्युक्तिकत्वादिति नेश्वरे जगत्कर्तृत्वे मानमिति निहिताभिप्राय ।

अस्तु तर्हि ध्वसानुरोधेन कार्यत्वमेव कृतिनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यताया अवच्छेदकमित्याशङ्कायामाह- **कार्यत्व तु न कार्यतावच्छेदकमिति** । यद्यपि कार्यत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वेऽवच्छेद्यावच्छेदकयोरैक्येनात्माश्रयदोष तथापि स्फुटत्वात्तदुपेक्ष्य दोषान्तरमाह- **कार्यतावच्छेदकसम्बन्धस्य एकस्याऽसत्त्वादिति** । समवायस्य भावकार्य प्रति, विशेषणत्याश्चाभावकार्य प्रति कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन तद्घटितकार्यकारणभावभेदप्रसङ्गेन गौरवादित्यनुपदमेव विस्तरतो विभावितमेव । 'तर्हि कालिकसम्बन्ध-

☬ अभावकर्तृत्वबाध से ईश्वर में जगत्कर्तृत्व नामुमकिन ☬

जन्यस इति । इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि नैयायिक विद्वान् ईश्वर को जगत्कर्ता मानते है, जिसकी सिद्धि के लिए वे जन्यसन्मात्र के प्रति विजातीयकृतिमत्त्वेन हेतुता का स्वीकार करते है । मगर उपर्युक्त लाघवसहकार से जन्यसत्त्वावच्छिन्न = सकल जन्य भाव पदार्थ के प्रति स्वविशेष्यतासम्बन्ध से प्रयत्न को कारण मान भी ले तो भी इससे जन्य भावमात्र की जनक कृति की सिद्धि होगी, मगर घटध्वस, पटध्वस आदि जन्य अभाव पदार्थ के जनक प्रयत्न की सिद्धि उक्त कार्य-कारणभाव से नही हो सकती, क्योकि ध्वस मे कृतिजन्यतावच्छेदक धर्म जन्यसत्त्व या जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्य ही नही रहता है । अत. जन्य भाव के जनक प्रयत्न के आश्रयविधया नैयायिक ईश्वर की सिद्धि करे तो भी ईश्वर मे अन्य अभाव = ध्वस का कर्तृत्व सिद्ध नही होगा । जगत के घटक ध्वस का कर्तृत्व ईश्वर मे नही है, तो जगत्कर्तृत्व ईश्वर मे कैसे सिद्ध होगा ? यदि ईश्वर मे जगत्कर्तृत्व की सिद्धि करने के लिए नेयायिक की ओर से उपर्युक्त कार्य-कारणभाव मे यह परिष्कार किया जाय कि –> ''समवाय सम्बन्ध से कार्य के प्रति स्वविशेष्यतासम्बन्ध से प्रयत्न कारण हे । प्रयत्नजन्यतावच्छेदकीभूत कार्यत्व तो ध्वस मे भी रहता है । अत ध्वसजनक प्रयत्न की भी सिद्धि होगी, जिसका आश्रय ईश्वर हो जाने से ईश्वर मे जन्य भाव की भाँति ध्वस का भी कर्तृत्व सिद्ध होगा । फलतः ईश्वर मे जगत्कर्तृत्व की सिद्धि होगी'' <–

❋ कार्यत्व कार्यतावच्छेदक नही हो सकता ❋

कार्यत्व तु इति । मगर यह वक्तव्य भी अप्रामाणिक हे । कृतिनिरूपित कार्यता की अवच्छेदक कार्यता नही हो सकती,

कालिकादिसम्बन्धेन तथात्वे तु मानाभाव इत्यप्याहु ।

अथ द्यावापृथिव्योर्गुरुत्वादिपतनसामग्र्यां सत्यामपि यदीयधारणानुकूलप्रयत्नेन पतनप्रतिबन्धः स एव भगवान् भवानीपतिः सिध्यति । तथा च श्रुतिरपि 'एतस्य चाक्षरस्य

❀ जयलता ❀

स्वस्यैव कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वमस्तु तस्य जन्यभावाऽभावसाधारणत्वादिति न नानाकार्य-कारणभावगौरवमित्याशङ्कायामाह- कालिकादिसम्बन्धेन तथात्वे = जन्यजनकभावाऽभ्युपगमे, तु मानाभाव इति । एतेन विशेष्यतया कृतेरधिकरणे कपाले कालिकेन घटो घटध्वंसश्चोपजायेतेति न समवाय-विशेषणतान्यतरसम्बन्धस्य कार्यतावच्छेदकत्वमिति निरस्तम्, द्व्यणुकपार्थिव-परमाणुपाकजरूपादे कृतिजन्यत्वाऽभावप्रसङ्गात्, विशेष्यतया कृत्यधिकरणे परमाण्वादौ कालिकेन द्व्यणुकादेरवर्तमानत्वात् । एतेन 'कालनिष्ठप्रत्यासत्त्यैव कार्यमात्रं प्रति कृतेः कारणत्वस्योपगन्तव्यत्वादिति' (मु. ग. र. पृ. ४१) इति रामरुद्रभट्टवचनमपि प्रत्याख्यातम्, शब्दादेः कालिकेन गगनादाववर्त्तमानत्वेन कार्यत्वस्य कृतिजन्यतानवच्छेदकत्वात्, महेश्वरे शब्दादिकर्तृत्वबाधेन जगत्कर्तृत्वाऽसिद्धेः । न च द्व्यणुकादेः कालिकेन स्वस्मिन्नेवोत्पत्तिरित्युद्गीरणीयम्, तदुत्पत्तेः पूर्वं विशेष्यतया कृतेः तत्राऽसम्भवेनाऽऽकस्मिकोत्पादप्रसङ्गात् । यत्र यत्र वा कालिकेन कार्योत्पादे देशनियत्यभङ्गप्रसङ्ग इति न कालिकविशेषणतया कृतिनिष्ठविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतायाः अवच्छेदकसम्बन्धत्वं सम्भवति । न च दैशिकविशेषणताप्रत्यासत्त्या कार्यमात्रं प्रति कृतेर्विशेष्यतासम्बन्धेन हेतुत्वमिति वाच्यम्, स्वसमवायोपादानविरहेण तं प्रति उपादानत्वाभिधानविशेष्यतासंसर्गेण कृतेः कारणत्वाऽसम्भवादित्युक्तत्वादिति विभावनीयम् ।

ननु यदि महेश्वरो न स्यात् तर्हि गुर्वोः स्वर्गलोक-मनुष्यलोकयोः पतनं स्यात् । न च तद्भवतीति तत्र प्रतिबन्धकत्व-कल्पनाया आवश्यकत्वात् तत्पतनप्रतिबन्धकीभूतधारणानुकूलप्रयत्नाश्रयविधयैव त्रिपुरारिसिद्धिरित्याशयेना उदयनानुसारी परः शङ्कते- अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । द्यावापृथिव्योरिति । यथा पतत्रिसमवेतस्य धारणानुकूलप्रयत्नस्य पतनप्रतिबन्धकीभूतस्य सत्त्वात् खे उड्डयमानपक्षिशरीरस्य तत्संयुक्तफलादेश्च गुरुत्वेऽपि पतनं न भवति तथा द्यावापृथिव्योः गुरुत्वेऽपि पतनं न भवति, तत्र कस्यचित् धारणानुकूलप्रयत्नेन भवितव्यम् । स च प्रयत्नोऽस्मदादीनां न भवितुमर्हतीति पारिशेष्यन्यायादीश्वरस्य सिद्धिरिति निर्गलितार्थः । अत्रैव बृहदारण्यकवचनं प्रमाणयति- एतस्येति । साम्प्रतं तत्र 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि

क्योंकि अवच्छेद्य और अवच्छेदक मे अभेद होने मे आत्माश्रय दोष होगा । दूसरी बात यह है कि कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध भी एक नहीं हो सकता है । कपाल मे घटात्मक कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है और घटध्वंसस्वरूप कार्य स्वरूप सम्बन्ध से रहता है । कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध के भिन्न होने से उसमे घटित कार्य-कारणभाव भी भिन्न हो जायेगा । फलतः अनेक कार्य-कारणभाव के अंगीकार का गौरव होगा । एक कार्य-कारणभाव की सिद्धि के लिए ईश्वरवादी की ओर से यह कहा जाय कि —> "हम कालिक सम्बन्ध को ही प्रयत्ननिष्ठ कारणता से निरूपित कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध मानते हैं । कालिक सम्बन्ध से तो घटात्मक कार्य और घटध्वंसस्वरूप कार्य कपाल मे रह सकता है । अतः कार्य-कारणभाव मे लाघव होगा" <— तो यह वक्तव्य भी अप्रामाणिक है, क्योंकि कालिक सम्बन्ध को कार्यतावच्छेदक मानने मे कोई प्रमाण नहीं है । अतः उपर्युक्त कार्य-कारणभाव को मान्य नहीं किया जा सकता, जिसके फलस्वरूप मे ईश्वर मे जगत्कर्तृत्व की सिद्धि हो सके - ऐसा भी अमुक विद्वानों का कथन है ।

❀ द्युलोकपतनाभाव से ईश्वरसिद्धि - नैयायिक ❀

अथ द्या इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि - "जिस द्रव्य मे गुरुत्व होता है, उसका पतन यानी नीचे की ओर गमन अवश्य होता है, यदि स्थानविशेष मे उसको रोक रखनेवाला कोई पदार्थ न हो । रोकनेवाले पदार्थ को ही पतन का प्रतिबन्धक कहा जाता है । जैसे कोई पक्षी आकाश मे उडता है और अपनी चोंच मे काष्ठखण्ड, तृण, फल आदि को रखता है । उनमे गुरुत्व होता है, पक्षी के शरीर मे भी गुरुत्व होता है, फिर भी उनका पतन नहीं होता है । इसका कारण यह है कि पक्षी का गुरुतर शरीर पक्षी की आत्मा मे विद्यमान प्रयत्नविशेष से धारित रहता है एवं पक्षी के चोंच मे रहे हुए गुरुत्वविशिष्ट फलादि का भी पक्षी के प्रयत्नविशेष से पतन नहीं होता है । ठीक इसी तरह द्युलोक और पृथ्वीलोक भी गुरुतम होने पर भी नीचे नहीं गिरते हैं । यदि पतनप्रतिबन्धक कोई पदार्थ नहीं होता, तब तो गुरुत्वरूप पतनकारण होने से अवश्य उसका अधोगमन होना चाहिए । अतः मानना चाहिए कि किसी के प्रयत्नविशेष

प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत' (बृहदा ३/८/९) इति चेत् ? न, तत्प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतधारणानुकूलत्वस्य तत्कृताविव तज्ज्ञानादावपि सम्भवेन विनिगमनाविरहात् । तादृशकृतेर्घटादावपि सत्त्वेन घटादिपतनस्याऽप्यनापत्तेश्च । घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकतयाऽनतिप्रसङ्गे तु लाघवाद् घटादिभेदस्यैव तत्त्वौचित्यात् ।

❀ जयलता ❀

सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत , एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतव. सवत्सरा इति विधृता तिष्ठन्ति, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्य स्पन्दन्ते श्वेतेभ्य पर्वतेभ्य प्रतीच्योऽन्या या या च दिशमनु, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! ददतो मनुष्या प्रशसन्ति यजमान देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ता (बृ उप ३/९) इत्येव सम्पूर्ण. पाठ समुपलभ्यते ।

प्रकरणकृत्तदपास्यति-नेति । **तत्प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतधारणानुकूलत्वस्य** = द्यावापृथिवीपतननिष्ठया प्रतिबध्यतया निरूपिताया प्रतिबन्धकतया अवच्छेदकीभूतस्य धारणानुकूलत्वस्य, **तत्कृताविव** = ईश्वरसमवेतप्रयत्न इव **तज्ज्ञानादावपि** = त्रिलोचनसमवेतज्ञानचिकीर्षयोरपि, **सम्भवेन** प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावे विनिगमकाभावेन प्रतिबध्यलक्षणकार्य-प्रतिबन्धकाभावलक्षणकारणयो फल-फलवद्भावेऽपि **विनिगमनाविरहात्** 'यदीयधारणानुकूलप्रयत्नेन द्यावापृथिव्यो पतनप्रतिबन्ध ' इति नैयायिकोक्तिरसङ्गतेति भाव. । दोषान्तरमाह- **तादृशकृतेः** = द्यावापृथिवीपतननिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतधारणानुकूलत्वविशिष्टेश्वरीयप्रयत्नस्य, स्वनिष्ठविशेष्यितानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन पृथिव्यादाविव **घटादावपि सत्त्वेन घटादिपतनस्याऽपि अनापत्ते**· = असम्भवप्रसङ्गात्, घटादौ समवायेन पतनक्रियाया अनुत्पत्तिप्रसङ्गादिति यावत्, प्रतिबन्धकसत्त्वे सामग्रीवैकल्येन कार्योत्पादाऽयोगात् । एतेन धारणानुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतीना स्वातन्त्र्येणाऽन्वयव्यतिरेकाभ्या पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनाऽपि **प्रत्युक्ता, गौरवाच्च** ।

ननु तादृशकृते न स्वविशेष्यतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्व किन्तु घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासंसर्गेण तत्त्वम् । चन्द्रार्कादौ घटादिभेदस्य धारणानुकूलेश्वरीयकृतिनिरूपितविशेष्यतायाश्च सत्त्वेन तादृशकृते. घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन तत्र सत्त्वान्न तत्पतनम् । घटादे तादृशकृतिविशेष्यत्वेऽपि घटादिभिन्नत्वविरहेण तत्र तादृशकृते घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेनाऽसत्त्वान्न तत्पतनानुपपत्ति प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतिबन्धकस्य विरहादिति पराऽऽशङ्कायामाह - **घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन** धारणानुकूलेश्वरीयकृते. **प्रतिबन्धकतया** = प्रतिबन्धकताकल्पनया, **अनतिप्रसङ्गे** = घटादिपतनानुपपत्तिवारणे **तु लाघवात् घटादिभेदस्यैव तत्त्वौचित्यात्** = पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनाया न्याय्यत्वात् । कालिकेन प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धघटकी-

से उनका धारण किया जा रहा है । द्युलोकादि को मनुष्यादि तो अपने प्रयत्न से धारण नही कर सकते, क्योंकि वे असमर्थ हैं । जिसके प्रयत्न से ब्रह्माण्ड आदि का पतन नही होता है, वह ईश्वर से अन्य कोई नही हो सकता । अत ब्रह्माण्डधारणानुकूल प्रयत्न के आश्रयविधया भगवान् भवानीपति = शकर सिद्ध होते है । वेद भी ईश्वर को ही द्युलोक-पृथ्वीलोक आदि का धारक बताता है । जैसे 'एतस्य च अक्षरस्य प्रशासने गार्गी ! द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत·' इस वेदवाक्य मे गार्गी नामक महिला को सम्बोधित कर के यह कहा गया है कि कभी भी अपने स्वरूप से च्युत न होने वाले परमेश्वर के प्रशासन मे द्युलोक ओर पृथ्वीलोक अपने स्थल मे पतित न होते हुए स्थित है । अतः स्वर्गलोकादि के धारक महेश्वर ही है - यह वेदवाक्य से भी फलित होता है ।

❀ पृथ्वीलोकादि के पतनाभाव से ईश्वरसिद्धि नामुमकिन - स्याद्वादी ❀

न तत्र इति । व्याख्याकार श्रीमद्जी महामहोपाध्यायजी उपर्युक्त नेयायिकमत को यह कह कर अयुक्त बताते है कि - पृथ्वी आदि गुरुतम पदार्थ के पतन का प्रतिबन्धक केवल धारणानुकूल प्रयत्न नही हो सकता, मगर धारणानुकूल ज्ञान एव धारणानुकूल चिकीर्षा भी पतनप्रतिबन्धक हो सकती हे, क्योकि पतनप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूत धारणानुकूलत्व प्रयत्न की भाँति ज्ञानादि मे भी मुमकिन है । अत· पृथ्वीलोक आदि के पतनाभाव मे प्रयत्नविशेष को कारण = प्रयोजक मानना या ज्ञानविशेषादि को ? इस विषय मे विनिगमनाविरह हे । अत· पृथ्वीलोकादिपतनाभावनिमित्त कृतिविशेष के आश्रयविधया महेश्वर की सिद्धि नही की जा सकती । इसके अतिरिक्त दोष यह हे कि यदि ब्रह्माडपतनप्रतिबन्धकविधया कृतिविशेष की कल्पना करने पर तो तादृशकृति विशेष्यतासम्बन्ध से जैसे पृथ्वीलोक आदि मे रहती है, ठीक वैसे ही घटादि पदार्थ मे भी रहने

वस्तुत स्वभावाश्रयणस्यैव योग्यत्वाच्च । एतेन 'द्यावापृथिव्यो. धृति. कस्यचित्

❀ जयलता ❀

भूतवैशिष्ट्यविवक्षणे तु पुन घटादिपतनानापत्ते । दैशिकविशेषणतया वैशिष्ट्योपगमेऽपि घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतायाः पतन-प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धत्वं यदुत स्वविशेष्यताविशिष्टघटादिभेदस्येत्यत्र विनिगमनाविरहस्याऽनिराकार्यत्वात् । न च स्वविशे-ष्यता-घटादिभेदोभयससर्गेण प्रतिबन्धकत्वाऽङ्गीकारे न क्षतिरिति वाच्यम्, प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धकुक्षिनिविष्टेन तद्भेदेन घटादिभेदेनैव द्यावापृथिव्याद्यपतनोपपत्तौ अशरीरश्वरीयधारणानुकूलप्रयत्ने गुरुतरोक्तसम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया गौरवात्, घटादिभेदेनैव तदन्यथासिद्धेश्च । न च घटत्व-पटत्वाद्यवच्छिन्नानन्तभेदाना तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवेण लाघवात्कृतिविशेषस्यैव तत्त्वमस्त्विति वाच्यम्, घटपटादिसमूहप्रतियोगिकस्यैकस्यैव भेदस्य प्रतिबन्धकत्वसम्भवात् । न चैवमपि तत्पतनापादकस्य, घटेऽपि तादृशभेदस्य सत्त्वात्, न हि घटो घटपटमठादिकूटात्मको भवतीति वाच्यम्, घटपटाद्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन प्रति-बन्धकत्वविवक्षणात् । घटे घटपटाद्यन्यतमत्वस्य सत्त्वेन तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावाऽसम्भवात्, भेदस्य स्वप्रतियोगिता-वच्छेदकव्यधिकरणत्वनियमादिति न द्यावापृथिव्यादि-पतनप्रतिबन्धकाश्रयविधया शिवसिद्धिरित्यत्र प्रकरणकृत तात्पर्यम् ।

प्रकृते तदन्यत्वे सति तदन्यत्वे, सति तदन्याऽन्यत्वरूपस्याऽन्यतमत्वस्य प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ प्रवेशेन गौरव-मित्यस्वरस हृदि निधाय प्राह- वस्तुत इति । स्वभावाश्रयणस्यैव योग्यत्वाच्चेति । द्यावापृथिव्याद्यनुगतस्वभावस्यैव पतन-प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया योग्यत्वाच्चेत्यर्थः । एवकारेण धारणानुकूलकृत्यादेर्व्यवच्छेद कृत. । स्वभावविशेषेणैव तत्पतनाभावोपपत्तौ न नीलकण्ठसिद्धिरित्याकूतम् । एतेन 'स विश्वकृत स हि सर्वस्य कर्ता' (बृ उप ४/४/१३), 'वेशान्तान् पुष्करिणी स्रवन्ती सृजते स हि कर्ता' (बृ उप ४/३/१०) इति बृहदारण्यकोपनिषद्वचने निरस्ते, 'न तस्य कार्य करण च विद्यते' (श्वे उप ६/८) इति श्वेताश्वतरोपनिषद्वचनविरोधप्रसङ्गाच ।

से घटादि का भी पृथ्वीलोकादि की भाँति पतन नही होगा । पतनप्रतिबन्धक होने पर पतन कैसे हो सकता है ? यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''केवल विशेष्यतासम्बन्ध से धारणानुकूल प्रयत्न को हम प्रतिबन्धक नही मानते है किन्तु घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से धारणानुकूल प्रयत्न को हम प्रतिबन्धक मानते है । पृथिवीलोक, सूर्य, चन्द्र आदि मे घटादिभेद एव प्रयत्नविशेष की विशेष्यता दोनो रहने से ईश्वरीय धारणानुकूल प्रयत्न घटादिभिन्नत्वविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से पृथ्वीलोक, सूर्य आदि मे रहेगा, जिनका पतन नही होता है । घटादि पदार्थ मे यद्यपि तादृशप्रयत्न की विशेष्यता रहती है, मगर घटादिप्रतियोगिक भेद नही रहता है । अत सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से तादृशप्रयत्न घटादि मे नही रहता है । अत घटादि के पतन का कभी भी नहीं होने का अनिष्ट प्रसग उपस्थित नहीं होगा । प्रतिबन्धकतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतिबन्धक न होने पर कार्योत्पाद का प्रतिबन्ध कैसे हो सकता है ?'' <—

❊ स्वभावविशेष ही पतनाभाव मे नियामक - स्याद्वादी ❊

तु लाघ इति । तो यह नैयायिककथन भी नामुनासिब ही है, क्योकि ईश्वरीय धारणानुकूल प्रयत्न को घटादिभेदविशिष्टविशेष्यतासम्बन्ध से पतन का प्रतिबन्धक मानने की अपेक्षा उचित यही है कि प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धशरीर मे प्रविष्ट घटादिभेद को ही पतन का प्रतिबन्धक माना जाय, क्योकि ऐसा मानने मे लाघव है । नैयायिकमत मे गुरुतर प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्ध की कल्पना का गौरव है, जो घटादिभेद को प्रतिबन्धक मानने पर अप्रसक्त है । द्युलोक आदि मे घटादिभेद के रहने से उसका पतन नही होता है । घटादि मे घटादिभेद नही रहने से उनका पतन हो सकता है । प्रतिबन्धक न होने पर उसके पतन का प्रतिरोध कौन करेगा ? इस तरह पतन और घटादिप्रतियोगिक भेद मे प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की उपपत्ति हो जाने से प्रतिबन्धकाश्रयविधया महेश्वर की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? वस्तुस्थिति तो यह है कि अत्यत लाघव से द्युलोक-पृथिवीलोक आदि मे अनुगत स्वभाव को ही पतन का प्रतिबन्धक मानना मुनासिब है । सूर्य, चन्द्र आदि गुरुतर होने पर भी उनमे पतनप्रतिबन्धक स्वभावविशेष होने की वजह उनका पतन नही होता है । घट, पट आदि मे पतनप्रतिबन्धक स्वभावविशेष नही होने से पतनसामग्री से घटादि का पतन हो सकता है । इस तरह प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की सगति होने पर ईश्वर की सिद्धि कैसे हो सकती है ? क्योकि उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव या कार्य-कारणभाव के शरीर मे कृति = प्रयत्न का निवेश ही नही किया गया है, जिसके आश्रयविधया शिवजी की सिद्धि हो सके।

एतेन इति । यहाँ नैयायिक मनीषी ईश्वर की सिद्धि करने के लिए यह अनुमान प्रयोग करते है कि —> ''द्युलोक और

प्रयत्नजन्या धृतित्वात्, अस्मदादिजन्यघटादिधृतिवदि'त्यनुमानादीश्वरसिद्धिरित्यपि निरस्तम्, पतनप्रतिबन्धकविलक्षणसयोगाख्यधृते. द्यावापृथिव्योरिवेश्वरप्रयत्नवशाद् घटादावप्युत्पत्त्यापत्ते: । 'अदृष्टविशेषात्तत्रैव धृतिर्नान्यत्रे'ति चेत् ? तर्हि अदृष्टविशेष एव तत्प्रतिबन्ध-

❀ जयलता ❀

एतेनेति । द्यावापृथिव्याद्यनुगतस्वभावस्यैव पतनप्रतिबन्धकत्वौचित्येनेति । अस्याऽग्रे 'निरस्तमि'त्यनेनाऽन्वय । **द्यावापृथिव्योर्धृतिरिति** । पक्षनिर्देशोऽयत् । **कस्यचित् प्रयत्नजन्येति** । अनेन कृतिजन्यत्व साध्यमित्युपदर्शितम् । हेतुमाह- **धृतित्वादिति** । **अस्मदादिजन्यघटादिधृतिवदिति** दृष्टान्तप्रदर्शनम् । यथाऽस्मदादिहस्तादिवृत्ते गुरो. घटादे. धृतिरस्मदादिप्रयत्नजन्या तथैव द्यावापृथिव्यो धृतेरपि कृतिजन्यत्वेन भवितव्यम् । तादृशधृतिजनककृत्याश्रयत्वमस्मदादिषु न सम्भवतीति पारिशेषन्यायेन दर्शितानुमानात् ईश्वरसिद्धिरिति नैयायिकाभिप्राय. ।

द्यावापृथिव्यो. धृते स्वभावविशेपजन्यत्वेन त प्रति कृतेरन्यथासिद्धत्वात्कालात्ययापदिष्टत्व धृतित्वहेतो. तथापि प्रकरणकारोऽभ्युपगमवादेन दोषान्तरमाविष्करोति - **पतनप्रतिवन्धकविलक्षणसयोगाख्यधृतेः** = प्रतननिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकताश्रयीभूताया विलक्षणसयोगात्मिकाया धृते , समवायसम्बन्धेन **द्यावापृथिव्योरिव ईश्वरप्रयत्नवशाद्** = विभु-समर्थ-सोमेश्वरकृतिवशाद् **घटादावपि उत्पत्त्यापत्तेः** । ततश्च द्यावापृथिव्योरिव घटादेरपि कदापि पतन न स्यात् । न चैवमिति न तत्कृते. तादृशधृतिजनकत्व सङ्गतिमङ्गतीत्याशय स्याद्वादिन. ।

नैयायिक. शङ्कते- **अदृष्टविशेपात् तत्र** = द्यावापृथिव्यो **एव धृतिः न अन्यत्र** = घटादौ महेशकृतिवशात् समवायेन विलक्षणसयोगलक्षणधृतेरुत्पत्ति । अदृष्टस्य कार्यमात्र प्रति साधारणकारणत्वेन नातिरिक्तकार्य-कारणभावकल्पनापत्तिर्न वा घटादे पतनानुपपत्तिप्रसङ्ग इति नैयायिकाशय । स्याद्वादी समाधत्ते- **तर्हीति** । तत्कृतेदृष्टविशेपेण द्यावापृथिव्योरेव समवायेन विलक्षणसयोगलक्षणधृतेरुत्पादकत्वकल्पनाया, **अदृष्टविशेप एव तत्प्रतिवन्धकत्वेन** = द्यावापृथिवीपतनप्रतिबन्धकविधया, **आद्रियता**

पृथ्वीलोक की धृति (= पक्ष) किसीके प्रयत्न से जन्य हे क्योकि वह धृति है । जो जो धृति होती है वह सव प्रयत्नजन्य होती है । जैसे हमारे हाथ मे रहा हुआ = धारित घट आदि पदार्थ जिस धृति से युक्त है, वे हमारे धारणानुकूल प्रयत्न से जन्य है । द्युलोकादि की धृति भी धृतित्वविशिष्ट होने से किसीके प्रयत्न से जन्य होनी चाहिए । वह प्रयत्न जिसका है वह हम तो नही हो सकते । हमारा वह सामर्थ्य कहाँ कि सूर्य, चन्द्र आदि को हम धारण करे ? वह दिन कहाँ कि हमे ऐसा सोभाग्य प्राप्त हो ? उसका श्रेय तो महादेवजी को ही देना चाहिए, जो अपने प्रयत्न से दिन-रात सूर्य-चन्द्र आदि को धारण कर रहे है । इस तरह ईश्वर की सिद्धि होती है'' <— मगर नैयायिक महाशय ! अव पछताये होत क्या ? जव चिडियाँ चुग गई खेत ! सूर्य, चन्द्र आदि मे स्वभावविशेप ही ऐसा रहता है, जो उन्हे पतित नही होने देता । स्वभावविशेप से ही उनकी धृति जन्य है - यह हम स्याद्वादी अभी ही निवेदित कर चूके है । इस स्थिति मे द्युलोक आदि की धृति मे प्रयत्नजन्यत्वस्वरूप साध्य की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? अत. धृतित्व हेतुत्व वाधित = वाधदोप से ग्रस्त होता है । अतः साध्यघटकीभूत कृति के आश्रयविधया शकरजी की सिद्धि नही हो सकती । दूसरी वात यह हे कि ईश्वर के प्रयत्न से जैसे द्युलोक ओर पृथ्वीलोक मे पतनप्रतिवन्धक विलक्षणसयोगस्वरूप धृति उत्पन्न होती है ठीक वेसे ही घट आदि मे भी तादृश धृति उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी, क्योकि ईश्वर तो आपके मत मे विभु एव सर्वशक्तिमान हे । द्युलोक आदि की भाँति घटादि मे भी ईश्वरीय प्रयत्न से धृति उत्पन्न होने की आपत्ति का इष्टापत्तिविधया स्वीकार नैयायिक की ओर से नही किया जा सकता, क्योकि तव द्युलोकादि की भाँति घटादि का भी पतन नही हो सकेगा । इसका कारण यह है कि धृति सयोगविशेपात्मक है जो पतनक्रिया मे प्रतिबन्धक हे । यहाँ यह नैयायिककथन कि —> ''महेश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, मगर क्या करे ? जीवो का अदृष्ट = भाग्य = पुण्य-पाप ही ऐसा है कि ईश्वरीय प्रयत्न से विजातीयसयोगात्मक धृति द्युलोक आदि मे ही उत्पन्न होती है, न कि घटादि मे । अदृष्ट भी कार्यमात्र का साधारण कारण है । अतः महेश भी उसका अतिक्रमण कर के घटादि मे स्वप्रयत्न से धृति को उत्पन्न नही करते । अत. घट आदि का कभी भी पतन नही होने की आपत्ति को अवकाश नही है'' <—

अदृष्टविशेष से ही द्युलोकादिधृति की उपपत्ति

तर्हि इति । यह भी इसलिए नामुनासिव है कि द्युलोकादि की धृति के प्रति ईश्वरीय कृति को कारण मानने पर भी जीवो के अदृष्टविशेप को कारण मानना नैयायिक महाशय के मतानुसार भी आवश्यक ही है, तो फिर अदृष्टविशेप को

कत्वेनाऽऽद्रियता किमतिरिक्तकृतिकल्पनया, किं वा धृते प्रतिबन्धकत्वकल्पनया ? अथ धृते पतनप्रतिबन्धकत्वमन्यत्र क्लृप्तं नाऽदृष्टस्य, धृतित्वावच्छिन्नं प्रति च कृतित्वेन हेतुत्वमवधृतमिति जगत्पतनप्रतिबन्धकधृतिजनकैककृतिसिद्धिरिति चेत् ? न, एवं

❋ जयलता ❋

नैयायिकेन, किं अतिरिक्तकृतिकल्पनया = अक्लृप्तजगदीश्वरप्रयत्नकल्पनया कृतम् । किं = अलं वा धृते प्रतिबन्धकत्वकल्पनया = द्यावापृथिव्योः पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनया । अय समाधानाशयः समवायेन पतनक्रियां प्रति समवायेन धृतेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनं, समवायेन धृतिं प्रति विशेष्यतया कृतेः कारणत्वकल्पनं तत्राऽपि घटादौ धृत्यनुत्पत्तयेऽदृष्टविशेषस्य कृतिसहकारिकारणत्वमित्यादिक्लिष्टकल्पनाऽपेक्षया अस्मदृष्टविशेषस्यैव द्यावापृथिव्योः पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनं, लाघवात् । एतेन पतनाभावावच्छिन्नेश्वरप्रयत्नस्य धृतिजनकत्वमित्यपास्तम् तादृशज्ञानेच्छाभ्यां विनिगमनाविरहात्, क्लृप्तजातीयस्याऽदृष्टस्यैव ब्रह्माण्डधारकत्वकल्पनौचित्यात् । तदुक्तं योगशास्त्रे मूलकारैरपि -> निरालम्बा निराधारा विश्वाधारा वसुन्धरा । यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यन्न कारणम् ॥ (यो.शा.४/९८) इति । न चाऽऽत्माऽविभुत्ववादिनं सम्बन्धानुपपत्तिरिति वक्तव्यम्, असम्बद्धस्यापि तत्कार्यजननशक्तस्य तत्कार्यकारित्वात्, अयस्कान्तस्याऽसम्बद्धस्यापि लोहाऽऽकर्षकत्वदर्शनात् । अदृष्टविशेषस्यानभ्युपगमे तु जगदीशप्रयत्नस्य व्यापकत्वेन समरेऽपि शरपाताऽनापत्तेः । ततश्च लाघवादृष्टविशेषस्यैव ब्रह्माण्डादिपतनप्रतिबन्धकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । शिवेऽदृष्टानभ्युपगमाज्जीवात्मनामेव तादृशाऽदृष्टविशेषाश्रयत्वेन नोमापतिसिद्धिलेशगन्धलेशोऽपि ।

पर: शङ्कते अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । धृतेः पतनप्रतिबन्धकत्वं अन्यत्र = घटादिपतने क्लृप्तं = प्रमाणसिद्धं, नादृष्टस्य । अस्मदादिधृतौ सत्यां घटादेरपतनं तदसत्त्वे च तत्पतनमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां धृतेः पतनप्रतिबन्धकत्वं सिद्धम् । न चैवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामदृष्टस्य पतनप्रतिबन्धकत्वं सिद्धमिति नाऽदृष्टविशेषस्य द्यावापृथिव्योः पतनप्रतिबन्धकत्वकल्पनं युक्तम्, दृष्टहान्यदृष्टकल्पनादोषप्रसङ्गात् । धृतित्वावच्छिन्नं = समवायेन विलक्षणसंयोगलक्षणधृतिमात्रं, प्रति च कृतित्वेन हेतुत्वं = विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न-कृतित्वावच्छिन्नकारणत्वं अवधृतं = अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां निश्चितं इति नाऽतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवम् । एतत्कार्य-कारणभावबलादेव लाघवसहकृतात् जगत्पतनप्रतिबन्धकधृतिजनकैककृतिसिद्धिरिति तादृशनित्यैककृत्याश्रयविधया चन्द्रशेखरसिद्धिः गौरवपरिहारश्चेति नैयायिकाशयः ।

प्रकरणकृत्तमपाकुरुते - नेति । एवं सति = अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां धृतिमात्रं प्रति कृतेः हेतुत्वाऽङ्गीकारे सति,

ही ब्रह्माण्डादि के पतन का प्रतिबन्धक मानना उचित है, क्योंकि अदृष्टविशेष और ईश्वरीय कृति दोनों को ब्रह्माण्ड आदि की धृति का कारण मानना और धृति को ब्रह्माण्ड आदि के पतन में प्रतिबन्धक मानना- इस कुसृष्टि कल्पना की अपेक्षा मुनासिब तो यही है कि लाघव से अवश्यक्लृप्त अदृष्टविशेष को ही ब्रह्माण्ड आदि के पतन का प्रतिबन्धक माना जाय । अतिरिक्त अप्रामाणिक ईश्वरीय प्रयत्न की और धृति में पतनप्रतिबन्धकता की कल्पना करने का कष्ट क्यों अपने शिर पर उठाना ?

ईश्वर को शरीरी मानने की आपत्ति

अथ धृ. इति । यहाँ यह नैयायिक कथन कि -> "धृति पतन की प्रतिबन्धक है, यह तो अन्यत्र घट, पट आदि की धृति में प्रसिद्ध एवं आवश्यक है । जब तक चैत्रादि घट आदि को धारण करता है, तब तक उनका पतन नहीं होता है । अतः पतनप्रतिबन्धकता धृति में घटादि के पतनाभाव के अनुरोध से सिद्ध है । इसीलिए जब चैत्रादि घट आदि को धारण नहीं करता है, तब उनका शीघ्र ही पतन होता है । अन्वय-व्यतिरेक से धृति में पतनप्रतिबन्धकता सिद्ध है । मगर अदृष्ट में अन्वय-व्यतिरेक से धृति में पतनप्रतिबन्धकता सिद्ध नहीं है । अदृष्ट होने पर घटादि का अपतन और अदृष्ट नहीं होने पर घटादि का पतन होता है, यह अन्वय-व्यतिरेक में सिद्ध नहीं है । तब जीवों के अदृष्ट को ब्रह्माण्ड आदि के पतन का प्रतिबन्धक कैसे माना जा सकता है ? अतः धृति का ही ब्रह्माण्ड आदि के पतन का प्रतिबन्धक मानना मुनासिब है । एवं धृतिमात्र के प्रति कृति कारण है, यह भी अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है । इस तरह कृति में भी धृतिकारणता कल्पनीय नहीं है, अवश्यक्लृप्त है । इस परिस्थिति में हमारे मत में गौरव कहाँ ? प्रसिद्ध प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव और कार्य-कारणभाव ही लाघवसहकार से जगत् के पतन में प्रतिबन्धक धृति के जनक एक प्रयत्न को सिद्ध करता है, जिसका आश्रय होने का श्रेय ईश्वर को ही दिया जा सकता है । अतः ब्रह्माण्डपतनप्रतिबन्धक धृति के कर्ता के स्वरूप में महेश्वर का अंगीकार करना

सति शरीरस्याऽपि धृतित्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतावधारणात् तादृशशरीरस्याऽपि सिद्ध्यापत्तेः। अथ अस्तु परमाणूनामेवेश्वरप्रयत्नाधीनचेष्टावता सर्वेषामेव वेश्वरशरीरत्वमिति चेत् ?

※ जयलता ※

शरीरस्यापि अन्वय-व्यतिरेकाभ्या समवायेन **धृतित्वावच्छिन्न प्रति हेतुतावधारणात्** महेश्वरे **तादृशशरीरस्यापि** = धृतिनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकताविशिष्टशरीरस्यापि **सिद्ध्यापत्तेः** अन्यथा अर्धवैशप्रसङ्गात् । **एतेन** विशेषान्वय-व्यतिरेकाभ्या कर्तृत्वेन कार्यसामान्ये एव हेतुत्वग्रहात् क्षित्यादावकर्तृकत्वव्यवहारान्न बाध इत्यपि **प्रत्युक्तम्;** शरीरचेष्टयोरप्यन्वय-व्यतिरेकाभ्या कार्यसामान्यहेतुत्वात्तयोरपि नित्ययोगीश्वरे प्रसक्ते ।

किञ्च प्रवृत्तिविशेषे चिकीर्षान्वय-व्यतिरेकाविव प्रवृत्तिविशेषे द्वेषान्वय-व्यतिरेकावपि दृष्टौ, दु खद्वेषेण तत्साधनद्वेषे तन्नाशानुकूलप्रवृत्ते. कण्टकादौ दर्शनात् । न च जिहासयैव द्वेषान्यथासिद्धिरिति **वक्तव्यम्,** तद्धेतोरस्तु कि तेन ? इति न्यायेन द्वेषस्य तद्धेतुत्वौचित्यात्, अन्यथा द्वेषपदार्थ एव न स्यात्, 'द्वेष्मी'त्यनुभवे क्वचिदनिष्टसाधनताज्ञानस्य क्वचिच्चाऽनिष्टत्वज्ञानस्यैव द्वेषपदेना तथाऽभिलापात् । एवञ्च कार्यसामान्ये द्वेषस्याऽपि हेतुत्वसिद्धौ नित्यद्वेषोऽपि महेशे सिद्ध्येत् । अथ 'द्वेषवत ससारित्वप्रसङ्ग' इति चेत् । चिकीर्षावतोऽपि कि न स ? न च 'द्वेष-चिकीर्षयोस्तत्र समानविषयत्वे करणाऽकरणप्रसङ्ग , भिन्नविषयत्वे च तत्कार्य न कुर्यादेव, इति बाधकाद् द्वेषकल्पना त्यज्यते' इति **वाच्यम्,** एवमुत्तरकालोपस्थितबाधकेन तद्बाधोपगमे नित्यज्ञानादिकल्पनागौरवादिबाधकेन महेश्वरस्यापि त्यागप्रसङ्गात् ।

ननु प्रदर्शितरीत्या घटादे कुलालादिचेष्टायाश्चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्या हेतुत्वसिद्धौ 'यद्विशेषयो'रित्यादिन्यायेन कार्यत्वावच्छिन्न प्रति चेष्टात्वेन हेतुत्वाऽऽवश्यकत्वात् द्व्यणुकाद्युत्पत्तिपूर्व चेष्टानुरोधेन महेशे नित्यशरीरमप्यभ्युपगम्यत एव, चेष्टाश्रयत्वस्यैव शरीरत्वात् । न चेश्वरेऽतिरिक्तशरीरकल्पनागौरवम्, क्लृप्तपरमाणूनामेव तच्छरीरत्वाऽभ्युपगमात् । एवञ्चेश्वरकृतिजन्यचेष्टावद्भि. परमाणुभिरेव तच्छरीरभूतै तत्तत्कार्याणामुत्पत्ति., परमाणुक्रियाया चेष्टात्वरूपवैजात्याऽङ्गीकारात्, शरीरलक्षणेऽन्त्याऽवयवित्वाऽनिवेशाच्च न परमाणूना शरीरत्वाऽनुपपत्तिरित्याशयवतामुदयनानुयायिना मत निराकर्तुमावेदयति - अथेति । 'चेदि'-त्यनेनाऽरयाऽन्वय । **अस्तु परमाणूनामेवेति** । एवकारेणाऽतिरिक्तशरीरप्रतिषेध. कृत । **ईश्वरप्रयत्नाधीनचेष्टावता** = ईश्वरवृत्तिकृतिजन्यचेष्टाश्रयणाम् । ईश्वरसम्बन्धस्य सर्वेष्वेव परमाणुषु अविशेषेणैव सत्त्वात् 'इदमेवेशशरीरमि'ति नियमाऽयोगात्कल्पनान्तरमाह- **सर्वेषामेव वेति** । 'परमाणूनामि'त्यत्रानुवर्तते । केचित्तु 'परमाणव एव प्रयत्नवदीश्वरात्मसयोगाधीनचेष्टावन्त ईश्वरस्य शरीराणी' ति वदन्ति । 'वायुपरमाणव एव नित्यक्रियावन्तस्तच्छरीराणि, अत एव तेषा सदागतिमत्त्वमि'त्यपरे ।

मुनासिव है'' <—

नेव इति । भी इसलिए मान्य नही किया जा सकता कि जैसे अन्वय-व्यतिरेक से धृतिमात्र = धृतित्वावच्छिन्न = यावत् धृति के प्रति प्रयत्न मे कारणता सिद्ध है, ठीक वेसे ही शरीर मे भी तत्कारणता प्रसिद्ध है । आत्मा विभु होने पर भी यत्र तत्र धृति उत्पन्न नही होती हे, किन्तु सयोगादि से जहाँ शरीर होता है वहीं समवाय से विलक्षणसयोगात्मक धृति उत्पन्न होती हे । चेत्रीय शरीर भूतल मे होने पर पर्वतस्थ घट मे धृति उत्पन्न नही होती है । चैत्रशरीरसयुक्त घट मे ही धृति उत्पन्न होती है । घटादि के साथ शरीर साक्षात् सम्बद्ध हो या परम्परा से वह अलग बात हे । इस तरह धृतिमात्र के प्रति अन्वय-व्यतिरेक से शरीर मे कारणता सिद्ध होने से ईश्वर मे धृतिजनक कृति की भाँति शरीर की भी कल्पना करनी होगी । ऐसा होने पर ईश्वर शरीरी हो जायेगा ओर लाघव सहकार से वह शरीर भी नित्य मानना होगा।

※ परमाणु ईश्वरशरीर नही हो सकते - स्याद्वादी ※

अथ अ इति । यहाँ नैयायिक का यह वक्तव्य कि —> ''ईश्वर मे नित्य कृति की भाँति नित्य शरीर का भी हम अगीकार करते ही हे । नित्य परमाणुओ को छोड कर ईश्वर का अन्य शरीर क्या हो सकता है ? नित्य परमाणुओ को ईश्वरशरीर मानने का कारण यह है कि ईश्वर के प्रयत्न के अनुसार ही नित्य परमाणुओ मे चेष्टा उत्पन्न होती है । आत्मप्रयत्न के अनुसार जिसमे चेष्टा उत्पन्न हो उसे ही शरीर कहते हे । अत. नित्य परमाणुओ मे शरीर का लक्षण भी मुमकिन होने से शरीरलक्षणानुसार उन्हे ईश्वरशरीर मानने मे कोई दोष नही है । ईश्वरीयप्रयत्नानुसार चेष्टा करने वाले परमाणुओ को या सभी परमाणुओ को हम ईश्वरशरीर मानते है'' <— भी इसलिए नामुनासिव है कि अनन्त परमाणुओ मे ईश्वरीयशरीरत्व

न, अनेकेषु तेषु शरीरत्वकल्पनया महागौरवात्, क्लृप्तपरमाण्वादिषु एव शरीरत्वकल्पनयोपपत्तौ अतिरिक्तशरीराऽकल्पने जीवात्मस्वेव नित्यकृत्यादिकल्पनया निर्वाहेऽतिरिक्तेश्वराऽसिद्धेर्वज्रलेपायमानत्वाच्च ।

'सर्गादौ' व्यवहारप्रयोजकतया ईश्वरसिद्धि, प्रतिसर्गमनन्तानां मन्वादीनां कल्पने

❀ जयलता ❀

प्रकरणकृत् तन्मतमपाम्यति- नेति । अनेकेपु = अनन्तेपु, तेपु = परमाणुपु, शरीरत्वकल्पनया = चेष्टाश्रयत्वकल्पनया, महागौरवात् लाघवेनाऽतिरिक्तमेक शरीरमभ्युपगन्तव्यम् । अताऽनन्तपरमाणूनामीश्वरशरीरत्वकल्पनमयुक्तमित्यर्थ ।

ननु परमाणूनामनन्तत्वेऽपि प्रमाणसिद्धत्वेन क्लृप्तत्वात् परमाणुत्वस्य च पृथिवीत्वादिना साङ्कर्येण जातित्वाऽयोगात् चेष्टाश्रयत्वरूप शरीरत्वमस्माभि तत्रैवाऽभ्युपगम्यते । 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी'तिन्यायात् नातिरिक्तशरीरकल्पनम् । अतिरिक्तस्यैकस्येशशरीरस्य महत्त्वे पाषाणान्तर्वर्तिभेकशरीरोत्पादकत्वानुपपत्ति, तस्य पाषाणप्रवेशाऽसम्भवात् । अणुत्वे तु दूरस्थकार्योत्पादकत्वानुपपत्ति, तस्य तदसम्बद्धत्वादिति नैयायिकाऽऽशङ्कायां प्रकरणकृदाह- क्लृप्तपरमाण्वादिष्विति । आदिशब्देन गगनपरिग्रह, 'आकाशशरीरं ब्रह्म' ( ) इतिश्रुते कश्चित् 'आकाश शिवशरीरमि'त्यभ्युपगमात् । एवकारेणाऽतिरिक्तशरीरव्यवच्छेद कृत । शरीरत्वकल्पनया उपपत्तौ = द्व्यणुकादिसमुत्पादकत्वता सत्या अतिरिक्तशरीराऽकल्पने = महेशस्याऽतिरिक्तस्य शरीरस्य नैयायिकेन अकल्पने, तु लाघवात् जीवात्मस्वेव नित्यकृत्यादिकल्पनया ब्रह्माण्डादिपतनप्रतिबन्धकधृत्यादे निर्वाहे = निर्वाहसम्भवे अतिरिक्तेश्वराऽसिद्धे वज्रलेपायमानत्वाच्चेति । एकस्याऽऽत्मन सर्वदाऽनेकशरीरधारकत्वादर्शनेन महेश्वरस्या सर्वदाऽनन्तशरीरधारित्वकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च ।

किञ्च क्लृप्तपरमाण्वादिष्वेवेश्वरशरीरत्वकल्पने क्लृप्तघटादिस्वरूपेष्वेव ससर्गत्वकल्पनया समवायोऽपि स्वातन्त्र्येण परस्य कथ सिद्ध्येत् ?

ननूक्तश्रुतिबलेन गगनस्यैव तच्छरीरत्वमस्त्विति चेत् ? मैवम्, विभुद्रव्ययो परस्परसयोगस्य त्वयाऽनुपगतत्वेन तस्य तच्छरीरत्वाऽसम्भवात्, असयुक्तस्य शरीरत्वेऽतिप्रसङ्गात् । न च स्वसयुक्तसयोगेनेश्वरस्य गगनसम्बद्धत्वान्नाऽय दोष इति वाच्यम् तथाप्यदृष्टाऽभावेन भगवत शरीरपरिग्रहस्यैवाऽसम्भवात्, अन्यथा प्रदर्शितसम्बन्धस्य कालादिसाधारण्येन कालादेरपि तच्छरीरत्वे विनिगमनाविरहात् । न च 'आकाशशरीर ब्रह्म'- इति श्रुतेरेव विनिगमकत्वमिति वाच्यम्, युक्तिविरहे तस्या अकिञ्चित्करत्वात् । अस्तु वा तस्या प्रामाण्य यथाकथञ्चित्तथापि अन्याऽदृष्टेन गगनात्मकशरीरपरिग्रहे चैत्राऽदृष्टाकृष्ट शरीर मैत्रोऽपि परिगृह्णीयात् । न च प्राण्यदृष्टेन घटाद्युत्पत्तिवत् भगवत तत्परिग्रहोऽपि सम्भवेदिति वाच्यम्, घटादावतथात्वेऽपि तदीयशरीरे तदीयाऽदृष्टत्वेनेव हेतुत्वात्, अन्यथा मुक्तात्मनामपि तत्परिग्रहप्रसङ्ग, अविशेषात् । महादेवस्य तादृशशरीरपरिग्रहे नित्यसुखदु खादेरपि स्वीकारप्रसङ्गात् । न च निरवयवशरीरत्वान्न नित्यसुखादे प्रसङ्ग इति वाच्यम्, एव सति नित्यज्ञानादेरपि तत्र विलयप्रसङ्गात् । एतेनाऽदृष्टविरहेण न तत्र सुखाद्यापत्ति, सुखादे नित्यत्वे मानाभावादित्यपि प्रत्युक्तम्, इन्द्रियादिविरहेण ज्ञानादेरप्यपलापप्रसङ्गात्, ज्ञानादेर्नित्यत्वे मानाभावादित्यस्यापि सुवचत्वात् । दृष्टेष्टातिलङ्घनेन स्वाधिष्ठातरि भोगाऽजनकशरीरपरिग्रहे किं तस्य वेदादिप्रणयनेन ? सृत वा तत्र नित्यज्ञानादिनेति दिक् ।

पर प्रकारान्तरेणेश्वरसिद्धिमावेदयति - सर्गादाविति । सृष्टे प्रारम्भे व्यवहारप्रयोजकतया = घटादिव्यवहार प्रति प्रयो-

की कल्पना करने मे महागौरव है । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि क्लृप्त परमाणुओ मे ही शरीरत्व की कल्पना करने से धृतिजनक कृति की उपपत्ति हो जाने से नैयायिक अतिरिक्त एक शरीर की कल्पना ईश्वर मे नहीं करते है, क्योकि ऐसा मानने मे लाघव है, मगर हम स्याद्वादी यह कहते है कि यदि लाघवसहकार से ही नैयायिक महाशय ईश्वर के अतिरिक्त शरीर की, जो क्लृप्त = प्रमाणसिद्ध परमाणुओ से भिन्न हो, कल्पना नहीं करते है तब तो क्लृप्त = प्रमाण से उभयमत मे सिद्ध जीवात्माओ मे ही नित्य प्रयत्न आदि की कल्पना करना नैयायिक के लिए मुनासिब है । जीवात्माओ मे नित्य प्रयत्न आदि की कल्पना करने से भी ब्रह्माण्डादिपतनप्रतिबन्धक धृति की उपपत्ति हो सकती है तब लाघव तर्क से ईश्वर ही असिद्ध हो जायेगा, क्योकि अतिरिक्त ईश्वर की कल्पना करने मे भी गौरव ही है । इस तरह नैयायिक ज्यो ज्यो ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, त्यो त्यो ईश्वर की असिद्धि ही दृढ बनती है ।

गौरवादि'त्यपि मन्दम्, सर्गादेरेवाऽसिद्धेः ।

-> 'एतान्युपादानान्येतद्घटस्ये'ति प्रत्यक्षं घटजनकमन्वेषणीयं, तच्चेश्वरं विना न इति ईश्वरसिद्धिरप्रत्यूहा <- इति पुनरतिमन्दम्, एवं सत्यनीदृशस्य कुम्भकारोपादानप्रत्यक्षस्य

☙ जयलता ☙

जकतया ईश्वरसिद्धिः । न च मन्वादीनामेव सर्गारम्भे जायमानाना तत्तद्व्यवहारप्रवर्तकत्वमस्ति, अल शशिधरकल्पनयेति वाच्यम्, प्रतिसर्ग अनन्ताना मन्वादीना कल्पने गौरवात् । लाघवेनैकेश्वरस्य सर्गप्रथमव्यवहारप्रवर्तकतया सिद्धिरिति पराशय ।

प्रकरणकार आह- इति वक्तव्य मन्दम् । कुत ? इत्याह- सर्गादेरेवासिद्धेरिति । सर्गस्य प्रारम्भस्यैवाऽसिद्धे., इदानी-मिव सर्वदा पूर्व-पूर्वव्यवहारेणैवोत्तरोत्तरव्यवहारोपपत्ते । एतेन मास्तु कार्यत्व कृते. कार्यतावच्छेदक तथापि घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रति कृते कारणतया सर्गाद्यकालीनघटादिक पक्षीकृत्य सकर्तृकत्वसाधने जीवाना बाधादीश्वरसिद्धिरित्यपि प्रत्युक्तम्, पक्षस्य पक्षतावच्छेदकशून्यत्वेनाऽऽश्रयासिद्धे. । एतेन 'घटादिव्यवहार स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्य व्यवहारत्वात्, आधुनिककल्पितलिप्यादि-व्यवहारवदि'त्यनुमानादीश्वरसिद्धिरित्यपि प्रत्युक्तम्, पूर्वपूर्वकुलालादिनैवाऽन्यथासिद्धे. । न च प्रलयेन तद्विच्छेदान्नैवमिति वाच्यम्, प्रलयानभ्युपगमात् । एतेन ब्रह्माण्डनाश. प्रयत्नजन्यः नाशत्वात् पाट्यमानपरनाशवदित्यपि प्रत्युक्तम्, आश्रया-सिद्धे । न च ब्रह्माण्ड नाशप्रतियोगि जन्यभावत्वात् घटवदित्यनुमानेनैव तन्नाशसिद्धिरिति वाच्यम्, अहोरात्रस्याऽहोरात्र-पूर्वकत्वव्याप्यत्वेन तदसिद्धेरिति विभावनीयम् ।

खण्डनार्थमत्र प्रकारान्तरेणेश्वरसिद्धिमावेदयति- 'एतानि उपादानानि एतद्धटस्य' इति प्रत्यक्ष घटजनक अन्वेषणीय कर्तु विशेषत उपादानोपकरणाद्यभिज्ञत्वात् । तच्च = दर्शितोपादानप्रत्यक्षश्च, ईश्वर विना न सम्भवति, तस्यैव कात्स्न्र्येनोपादानवेत्तृत्वादिति तदाश्रयविधया ईश्वरसिद्धिरप्रत्यूहेति । 'एतान्युपादानानि तद् घटस्यैतद्धटस्य वे'ति विशेषतोऽज्ञाने कर्तुरुपादानविशेषे प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति तदाश्रयविधया महेशसिद्धिरिति तदाशय. ।

प्रकरणकार. स्वाभिप्रायमाह- इति = एवविध वक्तव्य, पुनः अतिमन्द, कुत ? इत्याह- एव सति = विशेषत उपादेयोपादानप्रत्यक्षस्य कार्यजनकत्वाऽङ्गीकारे सति, अनीदृशस्य = दर्शितप्रकारभिन्नस्य, कुम्भकारोपादानप्रत्यक्षस्य =

❁ सर्गादि अप्रामाणिक - स्याद्वादी ❁

सर्गादो इति । प्राचीन नैयायिक का यह कथन है कि -> ''घट, पट आदि अर्थ मे घट, पट आदि शब्दो के प्रयोगात्मक व्यवहार के प्रथम प्रवर्त्तकरूप मे ईश्वर की सिद्धि होती है, क्योकि सृष्टि होने के बाद आद्य व्यवहार का प्रवर्तक अन्य मनुष्य तो नही हो सकते । उन्हे तत् तत् पद की शक्ति का ज्ञान नही होने से वे कैसे सृष्टि के आद्य व्यवहार के प्रवर्तक हो सकते हे ? यहाँ यह शका हो कि - 'सभी सृष्टि मे मनु आदि भिन्न भिन्न प्राज्ञ व्यक्तिओ का जन्म होता है । अतः वे ही सृष्टि के प्रथम व्यवहार के प्रवर्तक हो सकते है । उसके लिए अतिरिक्त ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है' - यह भी ठीक नही है, क्योकि भिन्न भिन्न अनन्त सृष्टि मे मनु आदि अनन्त व्यक्तिओ की कल्पना करने मे गौरव है। इसकी अपेक्षा तो यही मुनासिब है कि सभी सृष्टि मे एक मात्र ईश्वर को आद्य व्यवहार का प्रवर्तक माना जाय, क्योकि ऐसा मानने मे लाघव है'' <-

मन्द इति । मगर प्रकरणकार का यह कहना है कि उक्त रीति से ईश्वर की कल्पना उचित नही होती, क्योकि सृष्टि का प्रारम्भ ही किसी प्रमाण से सिद्ध नही होता है । किन्तु यही कल्पना उचित प्रतीत होती है कि जैसे इस समय के व्यवहार अपने पूर्व पूर्व व्यवहारो से ही सपन्न होते हे ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण समय के व्यवहार अपने पूर्व व्यवहारो से ही सम्पन्न होते है । ऐसा मानने पर कोई आद्य व्यवहार सिद्ध नही होने से आद्यव्यवहार के प्रवर्तक की कल्पना की सभावना ही समाप्त हो जायेगी ।

एता इति । ईश्वरवादी अन्य विद्वानो का यह अभिप्राय है कि -> ''उपादान का प्रत्यक्ष उपादेय का जनक होता हे । मगर उपादान मे प्रवृत्ति के लिए विशेपत. उपादान-उपादेयभाव का ज्ञान कारण होता है, अन्यथा उपादानकारणविशेप मे उपादेयविशेप के लिए प्रवृत्ति नही हो सकती । जैसे 'ये कपाल इस घट के उपादानकारण है' इत्याकारक प्रत्यक्ष घट का जनक होता है । मगर ऐसा प्रत्यक्ष ईश्वर के विना अन्य किसीको नही हो सकता, क्योकि तव घट अनुत्पन्न होने से 'इस घट के ये उपादान है' ऐसा प्रत्यक्ष प्राकृत जन को नही हो सकता । अत. घटजनक उपर्युक्त प्रत्यक्ष के आश्रयविधया

घटहेतुताऽनापत्ते. ।

किञ्चेश्वरस्य सर्वज्ञत्वेऽपि मानाभाव·, उपादानप्रत्यक्षस्य कार्यमात्रं प्रति हेतुतया तज्ज्ञाने द्रव्यविषयकत्वमात्रस्यैव सिद्धे: । न च 'यः सर्वज्ञ: स सर्वविदि'त्यादिश्रुतिरेव तस्य सर्व-

❀ जयलता ❀

कुलालसमवेतस्योपादानसाक्षात्कारस्य, घटहेतुताऽनापत्तेरिति । 'एतानि उपादानानि घटस्ये' तिप्रत्यक्षस्य कुलाले सम्भवेऽपि 'एतान्युपादानानि एतद्घटस्ये'त्येवम्विधस्य प्रत्यक्षस्य कुलालेऽसम्भव अर्थसमाजग्रस्तस्यैतद्घटत्वस्यं कार्योत्पादानन्तरमुपलब्धे तत्पूर्व ज्ञातुमशक्यत्वात्, तदुत्तर तज्ज्ञाने सत्यपि तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, कार्यस्योत्पन्नत्वात्तदानीमिति कुलालस्याऽपि घट-कर्तृत्वमुच्छिद्येतेति नैतन्मतस्य युक्तत्वमिति भाव ।

ईशमभ्युपगम्य महादेववादिमते दोषान्तरमाह- किञ्चेति । **ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वेऽपि मानाभाव** इति । कुत. ? इत्याह- **उपादानप्रत्यक्षस्य कार्यमात्र** = केवल कार्य **प्रति हेतुतया तज्ज्ञाने** = ईश्वरीयप्रत्यक्षे, **द्रव्यविषयकत्वमात्रस्यैव सिद्धेरिति**। द्रव्यस्यैव कार्यमात्र प्रति समवायिकारणत्वात् । उपादानमात्रज्ञानसिद्धावप्यतिरिक्तज्ञानाऽसिद्धे , कारणाभावात्, मानाभावाच्च । **विधिविवेके मण्डनमिश्रेणाऽपि** —> 'किमेते (= कुलालादय.) स्वकार्यस्य निरवशेषोपकरणवेदिन ? कतिपयोपकरणवेदिनो वा ? न तावदशेषोपकरणवेदिन ते, अदृष्टस्याऽपरिज्ञानात् । नाऽपि सम्प्रदानप्रयोजनविशेषवेदिन , तस्याऽनेकस्यापि सम्भ-वात् तन्मात्रज्ञाने न सर्वज्ञतासिद्धि । बालोन्मत्तादयश्च सर्वकार्याणा न प्रयोजनादिवेदिन । साध्य चेत् कर्तृत्व, कथमनन्तर्भावित-सर्वज्ञत्व हेतुमन्तरेण सेद्धुमर्हन्ति ?' <— (वि वि पृ १५०) इत्युक्तम् । कुलालादिनिदर्शनेनेश्वरस्य तदुपकरणादिमात्रज्ञान स्यात्। न च तन्मात्रज्ञाने सर्वज्ञतासिद्धि , कतिपयज्ञो हि तथा सतीश्वर स्यादिति भाव ।

श्रुतिप्रमाणस्य खण्डनार्थमाह- **न** चेति । 'मानमि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय. । 'य: सर्वज्ञ' इति । सामान्यरूपेण सर्व-विषयकज्ञानवानित्यर्थः । सामान्यरूपेण सर्वविषयकज्ञानवत्त्व जीवानामपीत्यत आह- स सर्वविदिति । विशेषरूपेणाऽपि सर्व-विषयकज्ञानवानित्यर्थ । श्लोकश्चैव **मुण्डकोपनिषदि** 'य सर्वज्ञ स सर्वविद् यस्य ज्ञानमय तप । तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्न

ईश्वर की सिद्धि हो सकती है'' <—

अतिमद इति । प्रकरणकार श्रीमद्‌जी उपर्युक्त मन्तव्य को यह कह कर अत्यन्त तुच्छ बताते है कि ऐसा मानने पर तो कुलाल आदि भी घट आदि के कर्ता नही हो सकते, क्योकि कुलालादि का जो प्रत्यक्ष है वह 'ये कपाल घट का उपादानकारण है' इत्याकारक होता है, न कि 'ये कपाल इस घट का उपादानकारण है' इत्याकारक । अत. उक्त कार्य-कारणभाव को मान्यता देने पर तो कुलालादि भी घट आदि के कर्ता नही हो सकते, कुम्हारादि का प्रत्यक्ष भी घटादि का हेतु नही हो सकेगा । मगर कुलालादि घटादि के कर्ता के रूप मे प्रसिद्ध होने से उपर्युक्त जन्य-जनकभाव को मान्य नही किया जा सकता । इस तरह जब उपदर्शित कार्य-कारणभाव ही अप्रामाणिक- असिद्ध है, तब उस पर आधारित ईश्वरसिद्धि कैसे हो सकेगी ? न रहेगा बाँस, न बजेगी बासुरी !

❊ ईश्वर में सर्वज्ञता असिद्ध - स्याद्वादी ❊

किञ्चे इति । यद्यपि विचार करने पर उपर्युक्त रीति से किसी भी प्रकार से ईश्वर की सिद्धि नही होती है, फिर भी यदि द्व्यणुकादि के उपादानप्रत्यक्ष के आश्रयविधया ईश्वर का अगीकार अभ्युपगमवाद से किया जाय तो भी ईश्वर सर्वज्ञ नही हो सकता, क्योकि उसे जगत्कर्ता मानने के लिए उपादानस्वरूप द्रव्य के प्रत्यक्ष का आश्रय मानना आवश्यक है, क्योकि कार्य मात्र के प्रति द्रव्य ही उपादान कारण होता है । ईश्वर को द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष का अधिकरण मानने पर भी उसमे जगत्कर्तृत्व की उपपत्ति हो सकती है तब क्यो उसके प्रत्यक्ष को गुणादिविषयक भी माना जाय ? अनावश्य कल्पना करने मे केवल गौरव है, फायदा कुछ भी नही । इस परिस्थिति मे ईश्वर द्रव्यज्ञाता हो सकेगा, न कि सर्वज्ञ । यहाँ यह नही कहा जा सकता कि —> '' ईश्वर मे सर्वज्ञता की सिद्धि 'यः सर्वज्ञ. स सर्ववित्' इत्यादि श्रुति से ही होती है'' <— क्योकि वेदवचन से प्रतिपाद्य पदार्थ की जब तक तर्क, अनुमान आदि से सिद्धि नही होती तब तक हजारो वेदवचन भी वाद मे वस्तुसिद्धि के लिए असमर्थ हैं । युक्ति आदि का सहारा मिलने पर ही श्रुति = वेदवचन को स्वीकृति दी जाती है, अन्यथा सभी वादी अपने अपने आगमो के अनुसार अपने मन-पसद पदार्थ की सिद्धि करने मे समर्थ हो जायेगे । तब तो भारी गरबड हो जायेगी ।

ज्ञत्वे मानम्; युक्तिविरहे श्रुतिसहस्रस्याऽप्यकिञ्चित्करत्वात् । न चेन्द्रियादिजन्यताऽभावेन तज्ज्ञाने नियतविषयताऽभावे सिद्धे तस्य सर्वज्ञत्व सेत्स्यतीति वाच्यम्, इन्द्रियादिजन्यताऽभावेऽपि लाघवादिना तत्र नियतविषयताया एव सिद्धेः । यादृच्छिकनियमकल्पनाया अप्रयोजकत्वात् ।

जयलता

च जायते ॥ (मु उप १/९) । आदिपदेन 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोध· स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्ति· । अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा. पडन्तरङ्गाणि महेश्वरस्य' ॥ (   ) इत्यादे· परिग्रह । **तस्य** = ईश्वरपदप्रतिपाद्यस्य, **सर्वज्ञत्वे मानमिति** । अत्र प्रकरणकृत् प्रतिविधत्ते- **युक्तिविरहे श्रुतिसहस्रस्याऽपि अकिञ्चित्करत्वात्** । युक्तिमसहमानाया श्रुतेरप्रामाणिकत्वादिति न तत्सर्ववेतृत्वसिद्धिरित्यर्थ । **एतेन** 'त्वमेव सर्वज्ञ.' (त्रि वि म उप १/१) इति **त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्**वचन, 'सर्ववेद्य· सर्वज्ञ.' (ना परि ९/२०) इति **नारदपरिव्राजकोपनिषद्**वचन, 'सर्वविद् य' (श्वे उप.६/१६) इति **श्वेताश्वतरोपनिषद्**वचन च **निरस्तम्** ।

न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वयः । **इन्द्रियादिजन्यताऽभावेन** = इन्द्रियादिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यताया विरहेण, **तज्ज्ञाने** = महादेवसाक्षात्कारे **नियतविषयताऽभावे** = प्रतिनियतगोचरत्वविरहे **सिद्धे**, तज्ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वसिद्ध्या **तस्य** = महादेवस्य **सर्वज्ञत्व सेत्स्यतीति** । यदि हि तज्ज्ञानमिन्द्रियादिजन्य स्यात्, तर्हि महत्त्वशून्यातीन्द्रियपदार्थविषय न स्यात् । न चैवमस्ति । तज्ज्ञानस्येन्द्रियाद्यजन्यत्वात् । तदुक्त **नारदपरिव्राजकोपनिषदि** –> 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षु. स शृणोत्यकर्ण । स वेत्ति विश्व न हि तस्याऽस्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्य पुरुष महान्तम् ॥ (९/१६) । प्रयोगस्त्वेव महेश्वरज्ञान सर्वगोचर, इन्द्रियाद्यजन्यत्वात्, व्यतिरेके अस्मदादिघटप्रत्यक्षमुदाहरणमिति पराकूतम् ।

प्रकरणकार. तन्निराकरणायाऽऽह- **इन्द्रियादिजन्यताऽभावेऽपि** = इन्द्रियादिनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यत्वाऽभावेऽपि, **लाघवादिना** आदिपदेन हेत्वभाव-प्रमाणाभावादिग्रह , **तत्र** = ईश्वरज्ञाने **नियतविषयतायाः** = उपादानमात्रनिष्ठविषयतानिरूपितविषयितायाः **एव सिद्धेः** । तत एव घटादिकार्यकर्तृत्वोपपत्तेः । तदुक्त **धर्मकीर्तिनाऽपि प्रमाणवार्तिके** 'सर्व पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु । कीटसङ्ख्यापरिज्ञान, तस्य न क्वोपयुज्यते ? ॥ (प्र वा १/३३) इति । **एतेन** महेशज्ञान सर्वविषयक इन्द्रियाद्यजन्यत्वादिति **प्रत्युक्तम्, यादृच्छिकनियमकल्पनायाः** = यथाकथञ्चिद्व्याप्तिकल्पनाया **अप्रयोजकत्वात्** = विपक्षबाधकतर्कशून्यत्वात् । **एतेन** जगद्वैचित्र्याऽन्यथानुपपत्त्या तस्य सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्यपि **प्रत्युक्तम्**, तत्सार्वज्ञ्य विनाऽपि जगद्वैचि-त्र्यस्य शुभाशुभकर्मपरिपाकवशेनोपपद्यमानत्वात् । तस्य सर्वज्ञत्वे तु विसवादि-विगीतवेदादिप्रणेतृत्व न स्यात् ।

किञ्च महेशज्ञानस्य सर्वविषयकत्वे विषयतासम्बन्धेन तत् गुणादावपि स्यात् । अत तत्र घटादेरुत्पत्तिवारणाय समवायेन जन्यसन्मात्र प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य कारणताऽपि स्वीकर्तव्या स्यात् । तस्य द्रव्यमात्रविषयकत्वे तु नोपदर्शितपृथक्कारणताकल्पनाया आवश्यकत्वम्, तज्ज्ञानस्य विषयतासम्बन्धेन द्रव्यमात्रवृत्तित्वेनैवाऽनतिप्रसङ्गादित्याशयेन प्रकरणकृदाह- **तज्ज्ञानस्य**

न चे इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि –> ''यदि ईश्वर का ज्ञान इन्द्रिय आदि से जन्य होता तव तो उसमे नियत विपयता होती जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान मे अतीन्द्रियगोचरता नही होती । मगर ईश्वर का ज्ञान तो नित्य है, इन्द्रियादि से अजन्य है, तव उसके ज्ञान मे नियत विपयता केसे होगी ? अत. इन्द्रियादि से अनियम्य विपयताशाली ईश्वरप्रत्यक्ष सर्वविपयक ही मानना होगा, जिसके फल मे ईश्वर सर्वज्ञ वन जायेगा'' <– तो यह भी नामुनासिव है, क्योकि ईश्वरज्ञान इन्द्रियादि से अजन्य होने पर भी उसमे लाघव से नियत विपयता = द्रव्यमात्रविपयकत्व ही मानना उचित है, गुणादि-विपयकता की जगदीशप्रत्यक्ष मे कल्पना करने मे गोरव है । इन्द्रियादि से जन्यता मे सर्वविपयकत्व की व्याप्ति की मनमानी कल्पना मे कोई प्रयोजक तर्क नही है । ईश्वरज्ञान इन्द्रियादि से अजन्य होने पर भी सर्वविपयक न हो तो क्या दोप है ? इस समस्या का समाधान नैयायिक की ओर से नही वताया जा सकता । इसलिए इन्द्रियादिजन्यत्वविरह हेतु से ईश्वरीय ज्ञान मे सर्वविपयकता की सिद्धि हो सकती नही है ।

❋ ईश्वरज्ञान को गुणादिविषयक न मानने में लाघव ❋

तज्ज्ञानस्य इति । यहाँ यह शका करना कि –> 'ईश्वरज्ञान को सर्वविपयक न मान कर केवल द्रव्यविपयक मानने

तज्ज्ञानस्य गुणाद्यविषयकत्वे लाघवं द्रव्यत्वेन जन्यसत्त्वेन पृथक्कारणत्वाऽकल्पनात् । 'गुणादावुपादानप्रत्यक्षविरहेणैव जन्यसदनुत्पत्ते'रित्यप्येके । तच्चिन्त्यम्, तथापि कुलालाद्युपादानप्रत्यक्षस्य गुणादौ सत्त्वेन द्रव्यत्वेन जन्यसत्त्वेन कार्य-कारणभावस्याऽऽवश्यक-

❀ जयलता ❀

= जगन्नाथसाक्षात्कारस्य गुणाद्यविषयकत्वे अभ्युपगम्यमाने सति लाघवं, कुत ? इत्याह- द्रव्यत्वेन जन्यसत्त्वेन = जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्येन पृथक्कारणत्वाऽकल्पनादिति । तज्ज्ञानस्य द्रव्यमात्रविषयकत्वे विषयतासम्बन्धेन गुणाद्यवृत्तित्वेन गुणादौ समवायेन जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नोत्पादवारणाय समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नकार्यता-निरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणताया द्रव्यत्वावच्छिन्नत्वाऽकल्पनेन लाघवात्, समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति विषयतया ज्ञानस्य कारणत्वमित्यवश्यक्लृप्तकार्य-कारणभावेनैव तद्वारणसम्भवादिति । एतेन ईश्वरज्ञानीयविषयताया सङ्कोचे मानाभाव इत्यपि प्रत्युक्तम्, लाघवेनैव तत्सिद्धेः, तस्य सर्वविषयकत्वे प्रयोजनाऽभावाच्च ।

अत्रैवैकेषां मतमाह- गुणादौ विषयतासम्बन्धेन उपादानप्रत्यक्षविरहेण एव तत्र समवायेन जन्यसदनुत्पत्ते: = जन्यसदुत्पादापादानाऽसम्भवात् । समवायेन जन्यसन्मात्रं प्रति विषयतया प्रत्यक्षस्य न कारणत्वं किन्तूपादानप्रत्यक्षस्यैव । तच्च गुणादौ नास्ति, गुणादौ कस्यचिदप्युपादानत्वाऽभावात् । सामग्रीविकल्यादेव न तत्र जन्यसदुत्पादप्रसङ्गः । अतः शम्भुप्रत्यक्षस्य सर्वविषयकत्वेऽपि न जन्यसन्मात्रं प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य पृथक्कारणत्वकल्पनाया आवश्यकत्वमितीश्वरस्य सर्वज्ञत्वं बाधकाभावेनैव सेत्स्यतीति पराशयः ।

अत्र स्वकीयाऽस्वरसप्रदर्शनार्थं प्रकरणकृदाह- तच्चिन्त्यमिति । चिन्ताबीजमेव प्रदर्शयति- तथापीति । गुणादौ विषयतया ईश्वरीयस्योपादानप्रत्यक्षस्याऽसत्त्वेऽपीत्यर्थः । ततः किं ? इत्याह- कुलालाद्युपादानप्रत्यक्षस्य = 'इदं नीलं कपालं घटोपादानमि'त्याद्याकारकस्य यद्वा 'इदं कपालं कपालनीलरूपस्योपादानमि'त्याद्याकारकस्य कुलालादिसमवेतस्योपादानगोचर-साक्षात्कारस्य, विषयतासम्बन्धेन गुणादौ = कपालनीलरूपादौ, सत्त्वेन तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतावच्छेदकीभूतेन द्रव्यत्वेन समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतावच्छेदकीभूतेन जन्यसत्त्वेन = जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्येन कार्य-कारणभावस्य = हेतु-हेतुमद्भावस्य गुणादौ समवायेन जन्यसदुत्पादनिवारणकृते आवश्यकत्वात् = अवश्यमङ्गीकार्यत्वात् परेण । इत्थञ्च तत्प्रत्यक्षस्य सर्वविषयकत्वे

में लाघव क्या है ? जिसकी वजह आप उसे गुणादिविषयक मानने में हिचकिचाहट करते हैं ?'' <— ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वरज्ञान को गुणादिविषयक भी मानने पर विषयतासम्बन्ध से वह गुणादि में भी रहेगा । ऐसा होने पर गुणादि में भी समवाय सम्बन्ध से जन्य सत् पदार्थ उत्पन्न होने लगेगा, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से जन्य सत् के प्रति विषयता सम्बन्ध से ज्ञान कारण होता है । इस आपत्ति का निवारण करने के लिए समवाय सम्बन्ध से जन्य सत् के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य को कारण मानना होगा । गुणादि द्रव्यात्मक नहीं होने से वहाँ समवाय सम्बन्ध से जन्य सत् की उत्पत्ति नहीं होगी । इस तरह ईश्वरज्ञान को सर्वविषयक मानने पर जन्य सत् के प्रति द्रव्यत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना करनी होगी । जब कि ईश्वरज्ञान को द्रव्यमात्रविषयक मानने पर जन्य सत् पदार्थ के प्रति द्रव्यत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना अनावश्यक बनती है, क्योंकि ईश्वरप्रत्यक्ष विषयतासम्बन्ध से केवल द्रव्य में ही रहता है, जहाँ सभी जन्य सत् = द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं । अतः गुणादि में जन्य सत्तावान् पदार्थ की उत्पत्ति होने की कोई संभावना ही नहीं है, जिसके निवारणार्थ जन्यसत्त्व और द्रव्यत्व से स्वतंत्र कार्य-कारणभाव की कल्पना आवश्यक हो । अतः इस लाघव से भी ईश्वरज्ञान को उपादान-द्रव्यमात्रविषयक मानना ही उचित है । इस परिस्थिति में ईश्वर सर्वज्ञ कैसे हो सकेगा ?

गुणादौ इति । यहाँ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि —> ''समवाय सम्बन्ध से जन्य सत्तावान् के प्रति विषयता सम्बन्ध से केवल प्रत्यक्ष कारण नहीं है, किन्तु उपादान प्रत्यक्ष ही कारण है । गुणादि तो किसीका भी उपादान कारण नहीं है, क्योंकि केवल द्रव्य ही उपादान कारण होता है । अतः गुणादि में विषयतासंबंध से उपादानप्रत्यक्ष रहता ही नहीं है, तब उसमें जन्य भाव की उत्पत्ति के निवारणार्थ द्रव्यत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? अतः ईश्वरप्रत्यक्ष को सर्वविषयक मानने पर भी जन्यभाव और द्रव्य के बीच पृथक् कार्य-कारणभाव की कल्पना अनावश्यक है । उपादानप्रत्यक्ष तो विषयतासम्बन्ध से केवल-द्रव्य में ही रहता है'' <— मगर यह अयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि ईश्वरीय प्रत्यक्ष को सर्वविषयक मान कर समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति विषयता सम्बन्ध से उपादानप्रत्यक्ष को कारण मानने पर भी कुलालादि का

त्वात् । द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतया प्रत्यक्षत्वेन हेतुतयैवाऽनतिप्रसङ्गे तु तज्ज्ञानस्य गुणादि-(१घ)विषयकतायामप्येतल्लाघवाऽप्रच्यवात् । अधिकमन्यत्र बोध्यम् ।

जयलता

प्रदर्शितपृथक्कारणत्वकल्पनागौरवस्य वज्रलेपायितत्वाल्लाघवेन तस्य द्रव्यमात्रविषयकत्वमेवाऽभ्युपगन्तव्यमिति न महेशस्य सर्वज्ञत्व सिद्धिसौधमध्यास्त इति प्रकरणकृदभिसन्धि. ।

ननु महेशस्य सर्वज्ञत्वेऽपि न द्रव्यत्व-जन्यसन्मात्रवैजात्याभ्या पृथक्कारणताकल्पनाया आवश्यकत्वम्, समवायेन जन्यसन्मात्र प्रति द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन उपादानप्रत्यक्षस्य कारणत्वाऽङ्गीकारेणैव गुणादौ समवायेन जन्यसदुत्पादापत्त्योगात्, द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयताप्रत्यासत्त्या उपादानप्रत्यक्षस्य गुणाद्यवृत्तित्वादिति । न च महेशप्रत्यक्षे लौकिकविषयिताविरहात् कथमुक्तकार्य-कारणभावसम्भव इति **वाच्यम्,** भगवत्साक्षात्कारसाधारण-साक्षात्कारत्वावच्छिन्नविषयताऽतिरिक्तलौकिकविषयताया मानाभावादिति नैयायिकाशङ्काया प्रकरणकृदाह- **द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतयेति** । अनेन कारणतावच्छेदकसम्बन्धप्रदर्शन कृतम् । **प्रत्यक्षत्वेनेति** । अनेन कारणतावच्छेदकधर्मो दर्शित । **हेतुतयैव** = कारणताभ्युपगमेनैव, **अनतिप्रसङ्गे** = गुणादौ जन्यसदुत्पादप्रसङ्गनिरासे नैयायिकेन कर्तव्ये **तु तज्ज्ञानस्य** = शिवप्रत्यक्षस्य **गुणाद्यविषयकताया** अभ्युपगम्यमानाया **अपि एतल्लाघवाऽप्रच्यवात्** = द्रव्यत्व-जन्यसन्मात्रवृत्तिवैजात्याभ्या पृथक्कारणत्वाऽकल्पनस्वरूपलाघवस्य सत्त्वात्, प्रत्युत कारणतावच्छेदकसम्बन्धशरीरे द्रव्यनिष्ठत्वाऽनिवेशेनाऽधिकलाघवम् । **वस्तुतस्तु** इन्द्रियसन्निकर्ष-दोषविशेषादिनियम्यलौकिकविषयतानिरूपितविषयिताऽपि भवननाथज्ञाने नैव सम्भवतीति ध्येयम् । **अधिक अन्यत्र = स्याद्वादकल्पलताऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणादौ बोध्यमिति** ।

प्राश्चस्तु महेश्वरस्याऽखिलजगत्कर्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने शास्त्राणा प्रमाणेतरव्यवस्थाविलोप. स्यात् । तथाहि सर्व शास्त्र प्रमाण ईश्वरप्रणीतत्वात्, इतरतत्प्रणीतशास्त्रवत् । प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च सर्वेषामेवेश्वरादेशविधायित्वेन तत्प्रतिलोमाचरणानुपपत्तेरिति **प्राहुः** । प्रमाणयन्ति च ईश्वरो जगत्कर्ता न भवति निरुपकरणत्वात्, दण्ड-चक्र-चीवराद्युपकरणरहितकुलालवत् ।१। अत्रैव पक्षे व्यापित्वात्, व्योमवत् ।२। एकत्वात् तद्वत् ।३। अशरीरत्वात् मुक्तात्मवत् ।४। ईश्वरो जगन्निमित्त न भवति निष्क्रियत्वात् खवत् ।५। इति । तदुक्त **विशेषावश्यकभाष्ये** –> उवगरणाभावाओ निच्चेट्ठाऽमुत्तयाइओ वा वि । ईसरदेहारभे वि तुल्लया वाऽणवत्था वा ॥ <– (वि भा १६४२) इति । जगदुपप्लवकरणस्वैरिण· पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहानसुरादीस्तदधिक्षेपकृतोऽस्मदादीश्च सृजत तस्य नित्यैकसकलगोचरप्रत्यक्षाश्रयत्वमपि कथ सङ्गच्छते । न च सन्निवेशविशिष्टत्वादिहेतोः तत्कर्तरि नित्यैकसकलगोचरविज्ञानसिद्धिरिति **वाच्यम्,** सौधवल्मीकादौ व्यभिचारात् । तदुक्त **तत्त्वसङ्ग्रहे शान्तरक्षितेन** –>

सन्निवेशविशिष्टत्व यादृग्देवकुलादिषु । कर्तर्यनुपलब्धेऽपि यद्दृष्टौ बुद्धिमद्गति ॥
तादृगेव यदीक्ष्येत तन्वगादिषु धर्मिषु । युक्त तत्साधनादस्माद् यथाऽभीष्टस्य साधनम् ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्या यत्कार्य यस्य निश्चितम् । निश्चयस्तस्य तद्दृष्टाविति न्यायो व्यवस्थित. ॥•

उपादानप्रत्यक्ष विषयता सम्बन्ध से गुणादि मे भी रह सकता है, क्योकि 'यह कपाल कपालनीलरूप का उपादान कारण है', 'यह नीलकपाल नील घट का कारण है' इत्याद्याकारक कुलालादिनिष्ट उपादानप्रत्यक्ष मे गुण भी विषय होने से वह विषयता सम्बन्ध से कपालनीलरूप आदि गुण मे भी रहेगा । अत. गुणादि मे जन्य भाव की उत्पत्ति के निवारणार्थ समवाय से जन्य भाव के प्रति तादात्म्य से द्रव्य को कारण मानने की आवश्यकता होगी । फलत द्रव्यत्व से पृथक् कारणता की कल्पना का गौरव होगा । इस गौरव के निवारणार्थ ईश्वरप्रत्यक्ष को द्रव्यमात्रविषयक मानना ही मुनासिव है ।

द्रव्यनिष्ठ इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि –> ''ईश्वरप्रत्यक्ष को सर्वविषयक मानने पर भी गुणादि मे जन्य भाव की उत्पत्ति के निवारणार्थ जन्य भाव और द्रव्य के वीच स्वतन्त्र कार्य-कारणभाव की कल्पना का गोरव नही है, क्योकि हम समवाय सम्बन्ध से जन्यभावात्मक कार्य के प्रति द्रव्यनिष्ट लोकिक विषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष को कारण मानते हे । उपदर्शित रीति से कुलालादि का प्रत्यक्ष गुणादि मे विषयता सम्बन्ध से रहता है, किन्तु द्रव्यनिष्ट लौकिक विषयता सम्बन्ध से वह गुणादि मे नही रहता हे, क्योकि द्रव्यनिष्ट लोकिकविषयता गुणादि का व्यधिकरण सम्बन्ध है । लौकिक विषयता का द्रव्यनिष्टत्वविशेषण लगाने से वह प्रत्यक्ष इस सम्बन्ध से केवल द्रव्य मे ही रहेगा । अत. ईश्वर को सर्वविषयक प्रत्यक्ष का आश्रय मानने पर भी द्रव्यनिष्ट लौकिक विषयता को कारणतावच्छेदकसम्बन्ध मानने से ही गुणादि मे जन्य भाव की उत्पत्ति

'यथे'त्यस्योत्तरवाक्योपात्तत्वेन 'तथे'त्यस्य शा(?श)ब्दस्य नाऽपेक्षा, 'साधु चंन्द्रमसि

❀ जयलता ❀

सन्निवेशविशेषस्तु नैवामीषु तथाविध. । तनुतर्वादिभेदेषु शब्द एव तु केवल ॥

तादृश प्रोच्यमानस्तु सन्दिग्धव्यतिरेकताम् । आसादयति वल्मीके कुम्भकारकृतादिषु ॥ (त स ६१/६८)

नित्यैकबुद्धिपूर्वत्वसाधने साध्यशून्यता । व्यभिचारश्च सोधादेर्बहुभि. करणेक्षणात् ॥ (त स.८१)

तथाहि सौधसोपानगोपुराट्टालकादय । अनेकाऽनित्यविज्ञानपूर्वकत्वेन निश्चिता ॥

अत एवायमिष्टस्य विघातकृदपीष्यते । अनेकाऽनित्यविज्ञानपूर्वकत्वप्रसाधनात् ॥ (त.स १३/१४) इत्यादि ।

मीमासकास्तु ईश्वरानङ्गीकर्तारोऽपीश्वराङ्गीकर्तृवत् स्वस्वग्रन्थादौ मङ्गलमातेनिरे तच्चातिचित्रम् । तथाहि कुमारिलभट्ट. श्लोकवार्तिके –> विशुद्धज्ञानदेहाय, त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे । श्रेय प्राप्तिनिमित्ताय नम सोमार्धधारिणे ॥ <– (श्लो वा १) इति लिखितवान् । पार्थसारथिमिश्रोऽपि न्यायरत्नमालादौ –> 'आनन्दममृत ज्ञानमज माक्षिणमीश्वरम् । ब्रह्म सर्वमसर्वञ्च वन्दे देव हरि प्रभुम् ॥ <– इत्युक्तवान् । भट्टशङ्करोऽपि मीमासासारसङ्ग्रहे –> 'नत्वा गणेशवाग्रामगुर्वङ्घ्रीन् भट्टशङ्कर·' <– इति गदितवान् । वाचस्पतिमिश्रोऽपि न्यायकणिकारम्भे –> 'परामृष्ट. क्लेशै कथमपि न यो जातु भगवान् ।<– इति कथितवान् । लौगाक्षिभास्करोऽपि अर्थसङ्ग्रहप्रारम्भे –> 'वासुदेव रमाकान्त नत्वा' <– इति प्रणीतवान् । श्रीकृष्णयज्वा अपि मीमासापरिभाषाया 'सूर्यनारायण वन्दे देवी त्रिपुरसुन्दरीमित्याख्यातवान् । मीमासान्यायप्रकाशे आपदेवोऽपि –> 'वन्दे गोविन्द भक्तवत्सलमि'त्यूचिवानिति कति ब्रूम ।

वस्तुतस्तु भगवत उपास्यत्वे न जगत्कर्तृत्व तन्त्र किन्तु रागद्वेषाऽज्ञानाद्यकलङ्किताऽऽत्मविशुद्धिरेव । न हि वयमीश्वर निराकुर्म., किन्तु तत्र यत्परै जगत्कर्तृत्वकलङ्कमापादित तदेवेति नाऽस्माक नास्तिकत्वकलङ्कदूषितत्वम् । एतेन स्याद्वादिनस्तु नास्तिका ईश्वराऽनभ्युपगन्तृत्वादिति प्रत्युक्तम्, प्रत्युत परेषामेव महामोहविलसितत्व यदीश्वरे ससारित्वनिबन्धन कर्तृत्वमारोप्यते । तदुक्त पारमात्मिकोपनिषद्वृत्तावपि –> 'कर्तृत्व नाम यत्तस्य स्वातन्त्र्य परिबृंहितम् । <– (पा उप ? वृ) इति दिक् ।

अहो महान् प्रमादोऽयमीशे कर्तृत्वकल्पना । कर्मादितोऽन्यथासिद्धेर्ज्ञातृत्वमेव सम्मतम् ॥१॥

ननु यथाशब्दस्य तथाशब्दसापेक्षत्वात् मूलकारिकाया यथाशब्दग्रहणे तथाशब्दग्रहस्याऽप्यावश्यकत्वात्, अन्यथा न्यूनता-प्रसङ्गादित्याशङ्काया प्रकरणकृदाह - 'यथे'त्यस्य शब्दस्य उत्तरवाक्योपात्तत्वेन 'तथे'त्यस्य शब्दस्य नाऽपेक्षेति । यदि हि पूर्ववाक्ये कारिकाया यथाशब्दस्योपादान स्यात्, स्यादेव तर्हि तस्य तथाशब्दसापेक्षता । न चैवमस्तीति न तस्य तथाशब्द-सापेक्षतेति न न्यूनतादोष । 'सापेक्षपदस्य पूर्ववाक्योपादानत्व न तत्र तन्त्रमि'त्याशङ्काया काव्यप्रकाशसवादमाह - साध्विति ।

के अनिष्ट प्रसग का निवारण हो सकता हे'' <– तो यह भी ठीक नही है, क्योकि ईश्वरप्रत्यक्ष को गुणादिविषयक न मानने पर भी द्रव्यत्वेन पृथक् कारणता की कल्पना नही करने का लाघव तो रहता ही हे । ईश्वरप्रत्यक्ष को केवल द्रव्यविषयक मान कर भी पृथक् कारणता की कल्पना अनावश्यक बनती है, तब क्यो उसे सर्वविषयक मानने का व्यर्थ कष्ट उठाये ? प्रत्युत ईश्वरप्रत्यक्ष को केवल द्रव्यविषयक मानने पर कारणताअवच्छेदकसम्बन्ध के शरीर मे द्रव्यनिष्ठत्व विशेषण के निवेश का भी गोरव नही होगा । अत. लाघव सहकार से यह फलित होता है कि ईश्वरीय प्रत्यक्ष केवल द्रव्यविषयक ही है, न कि सर्वविषयक । इस पक्ष मे समवाय सम्बन्ध से जन्य भाव के प्रति लोकिक विषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष कारण है, इत्याकारक लघु एक कार्य-कारणभाव का सामान्यरूप से स्वीकार किया जाता हे । अत तादृश द्रव्यविषयक प्रत्यक्ष के अधिकरण ईश्वर मे सर्वज्ञता की कैसे सिद्धि होगी ? ईश्वर सर्वज्ञ नही होने से तत्प्रणीत वेदादि मे प्रामाण्य का निश्चय भी कैसे हो सकेगा ? फलत वेदादि मे भी प्रामाण्य प्रमाण से सिद्ध नही होगा । अत मूलकार श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने कारिका मे जो कहा है कि - हे भगवत ! आपने जिस तरह पदार्थ का निरूपण किया हे, वेसा मानने पर तनिक भी दोष नही है', वह यथार्थ ही हे - यह ध्वनित होता है ।

यथे इति । यहाँ यह शका हो सकती हे कि –> ''यथाशब्द तथाशब्द की अपेक्षा रखता हे, जैसे यत् शब्द तत् शब्द की अपेक्षा रखता हे ठीक वेसे ही । मूलकार ने कारिका मे 'यथात्थ भगवन्' ऐसा कहकर यथा शब्द का ग्रहण किया हे । अतः तथाशब्द का भी ग्रहण करना आवश्यक हे । मगर तथाशब्द का ग्रहण नही किया है । अतः न्यूनता दोष प्रसक्त होता है'' <– परतु यह ठीक नही हे, क्योकि जहॉ यथा, यत् आदि शब्द का पूर्व वाक्य मे ग्रहण किया जाता है, वहॉ

पुष्करै कृत मीलित यदभिरामताधिके' (काव्यप्रकाश ७/१८८) इत्यादौ तथादर्शनात् ।
ननु सर्वमिद सर्वज्ञसिद्धावेव शोभते, तत्रैव च किं मानं ? इति चेत् ?

जयलता

तथादर्शनादिति । यत्तदो नित्यसापेक्षत्वेऽपि प्रकृते यत्पदस्योत्तरवाक्योपात्तत्वेन न तच्छब्दस्याऽपेक्षेतिदर्शनादिति । तद्वदेवाऽत्रापि बोध्यम् । तदुक्त प्रकरणकृतैव **न्यायसिद्धान्तमञ्जरीशब्दखण्डटीकाया** –> ''तच्छब्दजन्यबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्ने यत्पदशक्ति , उत्तरवाक्यस्थयत्पदेनाऽपि तत्पदाक्षेपात्, अनाक्षेपे तत्र पृथक्शक्ति । एव यच्छब्दजन्यबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्ने तत्पद-शक्ति प्रक्रान्ताद्यर्थकतत्पदेनापि यत्पदाक्षेपात् अनाक्षेपे तत्रापि पृथक्शक्ति । अत एव मिश्रैरवान्तरवाक्योद्देश्यविषये तत्पदमित्यु-क्तम् । अत्रानाक्षेपपक्ष एव युक्त 'साधु चन्द्रमसि पुष्करै कृत मीलित यदभिरामताधिके' इत्यादौ प्रथमपादजन्यबोधादेव यत्पदेनोद्देश्यबोधेऽनुपदमाह वाक्यार्थबोधात् । आक्षेपे तु पुनस्तत्पदयोगेन प्रथमपादजन्यबोधकल्पने गौरवात्'' <– (न्या सि म टी पृ २७) इति । अत्र कृतमितिपदोपस्थाप्यव्यापारस्य मीलितपदोपस्थाप्ये मीलनेऽभेदसम्बन्धेनान्वयो भवति । 'मीलनाऽ-भिन्नव्यापारकतृणि पुष्कराणी'त्यन्वयबोध । स्वापेक्षयाऽभिरामताधिके चन्द्रमसि,उदय प्राप्ते सति पुष्करै = कमलै यद् मीलित तत् साधु कृतमि'त्युदाहरणार्थ । **गदाधरस्तु शक्तिवादे** –> तच्छब्दजन्यप्रतिपत्तिपूर्वमपि तत्प्रतिपाद्यतया वक्तुरभिसन्धि प्रकरणादिना सुग्रह इति न तच्छब्दजन्यप्रतीते यत्पदशक्तिग्रहेऽपेक्षा । इयश्च व्युत्पत्ति प्रक्रम्यमाणपरामर्शकयच्छब्दस्य 'चैत्र समागतो यस्तत्रावलोकित' इत्यादौ चैत्रादिपदेनाप्युपस्थापितस्य यच्छब्देन बोधनात् । अत्र एव 'साधु चन्द्रमसि पुष्करै कृत मीलित यदभिरामताधिके' इत्यादौ तत्पदाऽसत्त्वेऽपि न दोष , पूर्वप्रक्रान्तस्य कृतपदोपस्थाप्यव्यापारस्यैवाऽभेदेन मीलनान्वयि-तया यच्छब्देन बोधनात् <– (श वा.पृ २६०) इति व्याचष्टे ।

इत्थश्च गौतमीयाभिमते भवानीपतावेव मानाभावात् यथाकथञ्चित्तदभ्युपगमेऽपि तत्र सर्वज्ञत्वाऽसम्भवात् परेषा वचसि प्रामाण्याऽभ्युपगमस्य मोहविजृम्भितत्वात् मूलकारै 'यथात्थ भगवन्नि'त्युक्त्या यज्जिनेन्द्रवचनेऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्कलेशाऽ-सम्पर्कसूचन कृत तत्साध्विति फलितम् ।

मीमासकादि शङ्कते - **नन्विति** । **सर्व इद** = जिनेन्द्रवचनेऽप्रामाण्यलेशराहित्यसूचनादिक, **सर्वज्ञसिद्धावेव शोभते** । **तत्र** = सर्वज्ञे एव **कि मानम्** ? न तावत् प्रत्यक्षम्, अनुपलब्धे , नाऽप्यनुमान लिङ्गाऽदर्शनात्, नाऽपि आगम तेषा विभिन्नत्वात्, नाऽप्युपमान तत्सादृश्याऽज्ञानात्, नाप्यर्थापत्ति तमृतेऽपि सर्वार्थोपपत्तेरित्यनुपलब्धिप्रमाणगोचरत्व सर्वज्ञस्य । तदुक्त **श्लोकवार्तिके कुमारिलेन** –> 'सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभि । दृष्टौ न चैकदेशोऽस्ति लिङ्ग वा योऽनुमाप-येत् ।। अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथ प्रतिपाद्यते ।। अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञै प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथ सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयो ? ।। सर्वज्ञोक्ततया वाक्य सत्य तेन तदस्तिता । कथ तदुभय सिद्ध्येत्, सिद्धमूलान्तरादृते ।। असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्त स्ववाक्यात् कि न जानते ?।। सर्वज्ञसदृश

वे शब्द तथा, तत् आदि शब्द की अपेक्षा रखते है । मगर जहाँ उत्तर वाक्य मे या वाक्य के उत्तरार्ध मे यथा, यत् आदि शब्द का ग्रहण किया जाता है, वहाँ तथा, तत् आदि शब्द की अपेक्षा नही होती है । यहाँ 'यथा' शब्द का उत्तर वाक्य मे ग्रहण किया गया है । अतः वह 'तथा' शब्द की अपेक्षा नही रखता है । यह ठीक उसी तरह सगत होता है जैसे 'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृत मीलित यदभिरामताधिके' इस वाक्य के उत्तरार्ध मे 'यत्' शब्द का ग्रहण होने से वह 'तत्' शब्द की अपेक्षा नही रखता है । उदाहरण वाक्य का अर्थ यह है कि - 'अपनी अपेक्षा अधिक मनोहरता - अभिरामतावाले चन्द्र का उदय होने पर कमलो ने जो मीलन (बद होने का काम) किया वह बहुत अच्छा किया' । यहाँ उत्तरार्ध मे 'यत्' शब्द का ग्रहण होने से 'तत्' शब्द अपेक्षित नही है । अतः न्यूनतादोष की शका निराधार प्रतीत होती है । इसलिए मूलकारश्री ने कारिका के उत्तरार्ध मे जो कहा है कि - 'हे भगवत ! आपने जेसा पदार्थ का प्ररूपण किया है उसमे कोई दोष नही हे' वह यथार्थ ही है - यह सिद्ध होता है ।

सर्वज्ञसिद्धि में प्रमाण

ननु स इति । यहाँ यह भी आक्षेप करना कि –> 'श्रीजिनेश्वर भगवत के वचन मे प्रामाण्य का अटूट विश्वास रखना तब उचित महसूस होता, यदि वह सर्वज्ञ हो, क्योकि असर्वज्ञ के सभी वचन मे नितात प्रामाण्य नही माना जा सकता । मगर श्रीजिनेश्वर भगवत की तो वात दूर रहो, इस जगत मे कोई भी सर्वज्ञ ही नही हो सकता, क्योकि सर्वज्ञता मे कोई प्रमाण ही नही है । प्रत्यक्षादि प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि नही होने से श्रीजिनेश्वर भगवत मे सर्वज्ञता के वल

शृणु, तुल्यायामप्यध्ययनादिसामग्र्यां समानाभ्यासशालिनो· व्द्योरपि बुद्धौ तारतम्यदर्शनात् विचित्रज्ञानं प्रति विचित्रज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमस्य प्रतिबन्धकाभावविधया कारणता कल्प्यते । न चाऽदृष्टविशेषस्यैव तथात्वमस्तु किमनेन ? इति वाच्यम्, सति प्रतिबन्धकेऽदृष्टसहस्रस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, अदृष्टवैजात्यस्याऽनन्यथासिद्धत्वादेश्च कल्पने गौरवात्,

❀ जयलता ❀

कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ॥ उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माऽधर्मादिगोचर । अन्यथाऽप्युपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाऽभवत् ॥ यज्जातीयै प्रमाणैस्तु यज्जातीयाऽर्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥ प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राऽभावप्रमाणता ॥ (मी श्लो वा) इति । तस्मान्नास्ति सर्वज्ञ इति न जिनेन्द्रवचने सर्वज्ञप्रणीतत्वमूलकं प्रामाण्यं सङ्घटेतेति पूर्वपक्षसङ्क्षेप ।

अत्र यद्यपि शक्यते एव प्रतिविधातुं यदुत –> 'स्वसम्बन्धि यदीदं स्याद् व्यभिचारि पयोनिधे । अम्भ कुम्भादिसङ्ख्याने सद्भिरज्ञायमानकं ॥ सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते । सर्वबोधोऽस्ति चेत् ? कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥ सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न चक्षुरादिभि वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् । नानुमानादलिङ्गत्वात् क्वाऽर्थापत्त्युपमागति । सर्वज्ञस्याऽन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तित ॥ सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यश्च कथं मीमांसकस्य तत् । नापि वाच्यं त्वयैव तदभावोऽनुपलब्धित । प्रमाध्यते यतस्तस्य सर्वत्र ह्यप्रवृत्तित ॥ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥ तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे । जायेत नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नाऽन्यथा ॥ न चाऽशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षादुपेयते । न क्रमादन्यसन्तानप्रत्यक्षत्वाऽनधीष्टित ॥ यदा च क्वचिदेकत्र भवेत्तत्रास्तितागति । नैवान्यत्र तदा साऽस्ति क्वैव सर्वज्ञनास्तिता । <– तथापि प्रकारान्तरेण प्रकरणकृत् समाधत्ते - **शृण्विति** । **तुल्यायामप्यध्ययनादिसामग्र्यामिति** । आदिपदेनाऽध्यापक-पुस्तकादिपरिग्रह । तथाऽपि तुल्यमभ्यासमकुर्वतोर्विज्ञानतारतम्यमुपपद्येतेत्याह - **समानाऽभ्यासशालिनोरिति** । **बुद्धौ तारम्यदर्शनादिति** । यदि ज्ञानं प्रति ज्ञानावरणकर्मण प्रतिबन्धकत्वं न स्वीक्रियेत तदा प्रदर्शितज्ञानवैचित्र्यं नोपपद्येत । तदन्यथाऽनुपपत्त्या ज्ञानावरणस्य कर्मण ज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वमुन्नीयते । न चैवमस्मदादीनामिदानीं ज्ञानमेव नोपजायेत, ज्ञानावरणकर्मसत्त्वादिति वाच्यम्, विचित्रज्ञानोत्पादाऽन्यथाऽनुपपत्त्या विचित्रज्ञानावरणक्षयोपशमस्य प्रतिबन्धकाभावविधया विचित्रज्ञानं प्रति कारणत्वमनुमीयते । न चाऽवधारणशक्त्यादिवैचित्र्यादेव ज्ञानतारतम्योपपत्तिरिति वाच्यम्, तद्वैचित्र्यस्याऽपि ज्ञानावरणक्षयोपशमवैचित्र्यप्रयोज्यत्वात्, 'तद्धेतोरस्तु किं तेन ?' इतिन्यायेन ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमवैचित्र्यस्यैव ज्ञानवैचित्र्यहेतुत्वौचित्यात् ।

ननु विचित्रज्ञानं प्रति विचित्रज्ञानावरणक्षयोपशमस्य हेतुत्वाऽपेक्षया अदृष्टविशेषस्यैव तत्त्वौचित्यात्, कारणतावच्छेदकधर्मलाघवादिति शङ्कामपाकर्तुमुपक्रमते **न चेति** । 'वाच्यमि'त्यनेनाऽन्वय । **अदृष्टविशेषस्यैवेति** । एवकारेण ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमस्यव्यवच्छेद कृत । तथात्वं = तद्धेतुत्वं, अस्तु, किं = अलं, अनेन = ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमकल्पनेन, अदृष्टे ज्ञानावरणत्वाख्यविशेषधर्मं कल्पयित्वा तत्क्षयोपशमे प्रतिबन्धकाऽभावविधया तत्कारणत्वकल्पने गौरवादिति लाघवात् अदृष्टविशेषस्यैव तथात्वौचित्यादिति शङ्काशय ।

प्रकरणकृत् तन्निरासे हेतूनाह - **सति प्रतिबन्धके अदृष्टसहस्रस्य अकिञ्चित्करत्वात्** = ज्ञानजननेऽसमर्थत्वात्,

पर उसके सभी वचन मे प्रामाण्य का निश्चय करना भी असगत है' <– निराधार है, क्योंकि सर्वज्ञ की सिद्धि मे अनुमानादि प्रमाण विद्यमान है । आप कान खोल कर सुनो, समकक्ष अभ्यास वाले दो व्यक्ति के पास अध्ययन, अध्यापक, पुस्तक, परिश्रम, पाठपरावर्तन, लेखन आदि बाह्य सामग्री समान होने पर भी उनकी बुद्धि मे तरतमभाव होता है । एक की बुद्धि तेज होती है, तो दूसरे की मन्द । ज्ञान की बाह्य सामग्री समान होने पर भी उनके ज्ञान मे विचित्रता क्यो ? फल मे वैचित्र्य होने की वजह सामग्री मे भी वैचित्र्य का अभ्युपगम करना आवश्यक है । बाह्य सामग्री तो समान होने से अभ्यन्तर सामग्री मे ही वैचित्र्य मानना होगा । वह होगा ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम मे वैचित्र्य । प्राज्ञ व्यक्ति के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अधिक एव उसकी अपेक्षा मद बुद्धिवाले के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न्यून है - ऐसा ही मानना होगा । मतलब कि ज्ञान के प्रति ज्ञानावरण कर्म को प्रतिबन्धक और उसके विलय (क्षयोपशमादि) को प्रतिबन्धकाभाव के स्वरूप मे ज्ञान के प्रति कारण मानना होगा । ऐसा होने पर ही ज्ञानप्राप्ति की बाह्य सामग्री समान होने पर भी ज्ञानावरण कर्म

पुण्य-पापरूपे तत्र साङ्कर्येण वैजात्याऽसिद्धेश्च । एवञ्च ज्ञानावरणस्य क्षयोऽपि क्षयोपशमेन लिङ्गेन क्वचिदनुमेयः ।

❀ जयलता ❀

प्रतिवन्धकाभावस्याऽपि कारणत्वेन तदा सामग्रीवैकल्यात् । दर्शितज्ञानतारतम्याऽन्यथानुपपत्त्या ज्ञानावरणस्य तत्प्रतिबन्धकत्वे सिद्धे तत्सत्त्वे नाऽदृष्टविशेषेण ज्ञानमुत्पत्तुमर्हति । किञ्चाऽदृष्टसामान्यस्य न तद्धेतुत्वं सम्भवति, अतिप्रसङ्गादिति विजातीयाऽदृष्टस्यैव तत्त्वं वाच्यं, अदृष्टवैजात्ये च तत्कारणतावच्छेदकत्वं कल्पनीयमिति त्वन्मते गौरवमित्याह - **अदृष्टवैजात्यस्य** = ज्ञानकारणीभूताऽदृष्टनिष्ठस्य ज्ञानकारणतावच्छेदकत्वेन अदृष्टनिष्ठजातिविशेषस्य, अदृष्टविशेषे ज्ञानं प्रति **अनन्यथासिद्धत्वादेः** = अनन्यथासिद्धज्ञाननियतपूर्ववर्तित्वरूपकारणत्वस्य च त्वया **कल्पने** = कल्पनीये **गौरवात्** । 'अस्तु गौरवं, तस्य फलाभिमुखत्वेनाऽदोषत्वादि'त्याशङ्कायां दोषान्तरमावेदयति- **पुण्यपापरूपे तत्र** अदृष्टविशेषे, **साङ्कर्येण** = पुण्यत्वादिना सङ्करेण, **वैजात्याऽसिद्धेः** = तस्य जातित्वाऽयोगात् च । तथाहि मिथ्याज्ञानजनकाऽदृष्टविशेषे ज्ञानकारणतावच्छेदकधर्मोऽस्ति, पुण्यत्वं च नास्ति, सुखादिजनकादृष्टे पुण्यत्वमस्ति ज्ञानजनकतावच्छेदकधर्मश्च नास्ति । तदुभयञ्च तत्त्वज्ञानजनकाऽदृष्टविशेषेऽस्तीति साङ्कर्यं पुण्यत्वेन समम् । अत एव तस्य जातित्वं न सम्भवतीति न तदवच्छिन्नज्ञानकारणताकल्पनाया युक्तत्वम् । न चोपाधिसाङ्कर्यस्येव जातिसाङ्कर्यस्याऽपि न दोषत्वं, दोषत्वे वा तादृशनानाजातिकल्पनमस्त्विति वाच्यम्, तन्नानात्वकल्पने गौरवात् । न च तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वमिति वक्तव्यम्, तथापि कार्यतावच्छेदककोटावव्यवहितोत्तरत्वाऽनिवेशे व्यभिचारात् । न चाऽस्तु तन्निवेशोऽपीति वाच्यम्, नानाकार्य-कारणभावकल्पने महागौरवात् । न च तर्हि तस्योपाधित्वमेवाऽस्तु इति वाच्यम्, अनिर्वचनात् । न च तस्याऽखण्डोपाधित्वकल्पनान्नाऽयं दोष इत्युद्गीरणीयम्, तथापि ज्ञानतारतम्याऽनुपपत्तेः, कारणाऽविशेषादित्यकामेनाऽपि ज्ञानावरणक्षयोपशमस्यैव ज्ञानकारणत्वमभ्युपगन्तव्यम्, तद्वैचित्र्ये ज्ञानवैचित्र्योपपत्तेरिति विभावनीयं प्राज्ञैः ।

नन्वस्तु ज्ञानावरणक्षयोपशमस्य ज्ञानहेतुत्वं तथापि कथं सर्वज्ञसिद्धिः ? इत्याशङ्कायामाह - **एवञ्चेति** । प्रदर्शितरीत्या च, ज्ञानावरणस्य कर्मणः **क्षयोऽपि** = केवलज्ञानहेतुरपि, **क्षयोपशमेन लिङ्गेन** = हेतुना **क्वचित्** = पुरुषविशेषे, **अनुमेयः** । तदुक्तं **अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे** --> 'दोषावरणयोर्हानिः क्वचिदात्मनि निःशेषा भवति, अतिशयवतीत्वात् । या

के क्षयोपशम के वैचित्र्य से ज्ञान में वैचित्र्य = तारतम्य की उपपत्ति हो सकती है । यहाँ यह कहना कि --> 'ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को प्रतिवन्धकाभावविधया कारण मानने की अपेक्षा यही मानना मुनासिब है कि अदृष्टविशेष = कर्मविशेष ही ज्ञान का कारण है, क्योंकि ऐसा मानने पर कारणतावच्छेदक धर्म अदृष्टविशेषत्व = अदृष्टवृत्ति वैजात्य होगा, जो ज्ञानावरणकर्म-क्षयोपशमत्व की अपेक्षा लघु है' <-- भी असंगत है, क्योंकि ज्ञान के प्रति ज्ञानावरण कर्म प्रतिवन्धक होने से प्रतिवन्धक की उपस्थिति में हजारों अदृष्ट भी कार्य के जनक नहीं बन सकते । दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि - अदृष्टसामान्य को तो ज्ञान का कारण नहीं माना जाता किन्तु अदृष्टविशेष को ही कारण मानना होगा । अतः ज्ञानकारणतावच्छेदकविधया अदृष्टवैजात्य की कल्पना करनी होगी । तथा अदृष्टविशेष में ज्ञानकारणता उभयमत में सिद्ध नहीं होने से उसमें अनन्यथा-सिद्ध नियत पूर्ववर्तित्व की कल्पना करनी होगी, जो गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है । वास्तव में तो अदृष्ट में तादृश वैजात्य = ज्ञानकारणतावच्छेदक जातिविशेष की सिद्धि ही नहीं हो सकती, क्योंकि अदृष्ट पुण्य-पापात्मक होने से तद्गत जाति के साथ ज्ञानकारणतावच्छेदकीभूत जातिविशेष का सांकर्य होता है । वह इस तरह, मिथ्याज्ञान के जनक अदृष्टविशेष में ज्ञानकारणताअवच्छेदक विवक्षित जाति रहती है किन्तु पुण्यत्व = धर्मत्व जाति नहीं रहती है । यश, कीर्ति, सुख आदि के जनक अदृष्ट में पुण्यत्व = धर्मत्व जाति रहती है किन्तु ज्ञानकारणतावच्छेदक जाति नहीं रहती है । परस्परव्यधिकरण पुण्यत्व = धर्मत्व जाति और ज्ञानकारणतावच्छेदक विवक्षित जाति दोनों ही सम्यक् ज्ञान - तत्त्वज्ञान के जनक अदृष्ट में रहती है । इस तरह परस्परव्यधिकरण धर्म का एकत्र समावेश होने से प्रसक्त सांकर्य दोष की वजह अदृष्टगत ज्ञानकारणतावच्छेदकीभूत वैजात्य = जातिविशेष का स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतः प्रतिवन्धकाभावविधया ज्ञानावरणक्षयोपशम को ही ज्ञान का कारण मानना उचित है, न कि अदृष्टविशेष को - यह सिद्ध होता है । इस तरह जब ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम में ज्ञानकारणता सिद्ध होती है तब पुरुषविशेष में ज्ञानावरण कर्म के क्षय का भी अनुमान हो सकता है । तथाहि - ज्ञानावरण कर्म की संपूर्ण हानि हो सकती है, क्योंकि उसमें तरतमता होती है । जिस हानि में तरतमता होती है वह संपूर्ण भी हो सकती है, जैसे सुवर्ण में मल आदि की आंशिक = तरतमभाववाली हानि होती है, तो कभी संपूर्ण हानि भी होती है । ठीक वैसे ही हमारी आत्मा में ज्ञानावरण कर्म की आंशिक = तरतमभाववाली हानि होती है, तो किसी पुरुषविशेष में उसकी संपूर्ण हानि होनी चाहिए । मतलब कि ज्ञानावरण कर्म का संपूर्ण क्षय भी सिद्ध होता है । जिस पुरुषविशेष में ज्ञानावरण का संपूर्ण ह्रास

न चाऽप्रयोजकत्वं, मूलोच्छेदे कार्योच्छेदाऽवश्यम्भावात् । क्षयश्च स्वसमानाधिकरणतज्जातीयपर्यायप्रागभावाऽकालीनः तत्पर्यायध्वंसो

❀ जयलता ❀

हानिरतिशायिनी सा क्वचिन्निःशेषा भवति यथा कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलहानिरिति प्रयोगोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्राऽतिशायिनीत्वमाश्रयभेदव्यापारप्रयुक्ताऽल्पाऽल्पतर-बहु-बहुतरप्रतियोगिकत्वम् <— (अ स वि पृ.९२) इति । एतेन 'यत्राऽप्यतिशयो दृष्टः, स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ।। येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ।। प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् । स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान् ।। एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ।। ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दाऽपशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ।। ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु । न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ।। तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि । न स्वर्ग-देवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ।। दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न च योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ।। (मी.श्लो.वा.) इति कुमारिलप्रलापः परास्तः । तदुक्तं योगबिन्दौ —> ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने । दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ।। <— (४३१) इति । इतरसकलकारणसमवधानेऽसति प्रतिबन्धके कार्योत्पादस्य न्याय्यत्वादित्याशयेन प्रकृतेऽप्रयोजकत्वशङ्कामपास्यति - न चाऽप्रयोजकत्वमिति । अस्तु ज्ञानावरणक्षयः मास्तु सकलार्थविषयः साक्षात्कारः, तर्हि को दोषः ? इत्यप्रयोजकत्वं प्रकृते नास्तीत्यर्थः । कुतः ? इत्याह - मूलोच्छेदे यावत्प्रतिबन्धकात्यन्तक्षये, कार्योच्छेदाऽवश्यम्भावात् प्रतिबन्धकीभूतज्ञानावरणकार्यभूताऽज्ञानत्वावच्छिन्नध्वंसस्याऽवश्यम्भावनियमात् । अत एवाक्षानपेक्षा, यथाऽनादिसंस्कृतचक्षुष आलोकाऽनपेक्षा । अक्षापेक्षा हि ज्ञाने विषयस्पष्टत्वार्थम् । तच्च सम्पूर्णज्ञाने ज्ञानावरणक्षयादेवेति तस्याऽक्षानपेक्षत्वेऽपि न क्षतिः । विशदतरकार्यसिद्धावप्रतीयमानमपि कारणं कल्पनीयं न पुनरप्रतीयमानकल्पनाभयात्कार्यवैशद्यमपहोतुमुचितम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । एतेन 'न प्रत्यक्षं चक्षुरादिजन्म तावत्सर्वार्थेषु, तेषां विषयनियमात्, किञ्चिदेव हि वर्तमानं सम्बद्धञ्च तद्विषयो न सर्वेऽर्थाः' (वि वि पृ.८०) इति विधिविवेककृद्वचनमपि प्रत्युक्तम्, अनुक्तोपालम्भदानात् ।

क्षयपदार्थं प्ररूपयति-क्षयश्चेति । स्वसमानाधिकरणतज्जातीयपर्यायप्रागभावाऽकालीनः तत्पर्यायध्वंस इति । स्वसमानाधिकरणो यः स्वप्रतियोगिजातीयपर्यायप्रतियोगिकप्रागभावः तत्कालीनभिन्नः पर्यायविशेषप्रतियोगिको ध्वंसः क्षय इत्यर्थः । पर्यायविशेषध्वंसः क्षय इत्युक्तौ तु अस्मदादीनामपि सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तिः, प्रतिसमयमस्मदादिषु ज्ञानावरणकर्मणां नश्यमानत्वात् । अतः 'स्वप्रतियोगिजातीयपर्यायप्रागभावाऽकालीने'त्युक्तम् । तेन यत्किञ्चित्प्रतियोगिकप्रागभावाऽकालीनत्वमादायाऽपि नातिप्रसङ्गः । तथापि त्रयोदशादिगुणस्थानवर्तिनि ज्ञानावरणध्वंसेऽव्याप्तिः, अन्यजीववृत्तिज्ञानावरणप्रागभावसमानकालीनत्वादित्यतः 'स्वसमानाधिकरण' इति प्रागभावविशेषणम् । स्वपदेन तादृशध्वंसस्योपादानम् । यदि च परेण गौरवमुद्भाव्यते

होगा, उसका ज्ञान सर्वार्थगोचर होगा । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि —> 'ज्ञानावरण कर्म का संपूर्ण क्षय हो तो भी क्या ? इससे ज्ञान में सर्वार्थविषयकता कैसे सिद्ध हो सकती है ?' <— क्योंकि ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का प्रतिबन्धक है । उसका आंशिक उच्छेद होने पर आंशिक ज्ञान होता है तो उसका संपूर्ण उच्छेद होने पर संपूर्ण ज्ञान भी जरूर होना चाहिए, तनिक भी अज्ञान की तब संभावना नहीं है, क्योंकि अज्ञान ज्ञानावरण का कार्य होने से ज्ञानावरण कर्म का मूलतः उच्छेद होने पर उसके कार्य अज्ञान का भी संपूर्ण उच्छेद हो ही जायेगा । बिना कारण कार्य कैसे अपना स्थान पा सकता है ? इसलिए ज्ञानावरण कर्म के संपूर्ण ह्रास से होने वाले ज्ञान को सर्वविषयक मानना आवश्यक है ।

❀ क्षयपदार्थप्ररूपणा ❀

क्षयश्च इति । केवल ज्ञान के कारणीभूत ज्ञानावरणकर्मक्षय का स्वरूप बताते हुए प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते हैं कि पर्यायविशेष का ध्वंस क्षय है । मगर वह ध्वंस अपने अधिकरण में रहने वाले स्वप्रतियोगिसजातीयप्रतियोगिक प्रागभाव का समानकालीन नहीं होना चाहिए । अभी हमारी आत्मा में जो ज्ञानावरण कर्म का ध्वंस होता है, वह ज्ञानावरणकर्मप्रतियोगिक प्रागभाव का, जो हमारी आत्मा में रहता है, समानकालीन है, न कि भिन्नकालीन । अतः प्रदर्शित ज्ञानावरणकर्मक्षय का

न तु सर्वथाऽभावरूपः, तस्य क्वचिदपि स्याद्वादिभिरनभ्युपगमात् । तथा च यत्र सर्वज्ञानावरणविलयः, स एव भगवान् सर्वज्ञः सिध्यति ।

ननु ज्ञानस्य कथं सर्वविषयत्वं ? अतीतानागतयोः स्वरूपाऽभावेनोभयस्वरूपविषयताऽभावादिति चेत् ? न, आलेख्याऽऽकाराणामिवाऽवर्त्तमानस्याऽपि वस्तुनो ज्ञेयाकाराणां ज्ञाने सम्भवात् ।

❀ जयलता ❀

तदा प्रतियोगिन्यधिकरणज्ञानावरणध्वंसो ज्ञानावरणक्षय इति प्रदर्शनीयमिति दिक् ।

ननु ज्ञानावरणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्यैव लाघवेन तथात्वमस्त्वित्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह - **न तु सर्वथाऽभावरूप** इति । कुत ? इत्याह - **तस्य क्वचिदपि** आत्मनि **स्याद्वादिभिः** अस्माभिः **अनभ्युपगमा**दिति । एतेन -> क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' <- (यो सू १/२४) इति **पतञ्जलिवचनमपि प्रत्युक्तम्**, नित्यनिर्दोषपुरुषे मानाभावात्, नित्यत्वे सति तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावभिन्नत्वरूपस्याऽत्यन्ताभावत्वस्य जन्याभावत्वलक्षणध्वंसत्वाऽपेक्षया गुरुत्वाच्च । ध्वस्तदोषत्वस्यैवेश्वरत्वे तन्त्रत्वमिति **यत्र** आत्मनि **सर्वज्ञानावरणविलयः** = स्ववृत्तियावज्ज्ञानावरणध्वंस, **स एव** आत्मा **भगवान् सर्वज्ञ** इति **सिध्यति** ।

असर्वज्ञवादी शङ्कते - **नन्विति** । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । ज्ञानावरणक्षय-क्षयोपशमयोरेव सिद्धत्वेऽपि ज्ञानावरणक्षयसमाधस्य **ज्ञानस्य कथं सर्वविषयत्वं** = अतीतानागतवर्तमानव्यवहितातीन्द्रियाद्यर्थगोचरत्वं ? **अतीतानागतयोः** वस्तुनो निवृत्ताजातत्वात् **स्वरूपाऽभावेन** = निरुपाख्येयत्वेन, **उभयस्वरूपविषयताऽभावात्** = विज्ञानविषयोभयात्मकविषयत्वाऽसम्भवात् । विषयताया अतिरिक्तत्वे गौरवात् लाघवेन विषयविषयिस्वरूपत्वमेवेति तदन्यतराऽभावे उभयात्मकविषयताया एवाऽसत्त्वात् कथं ज्ञानस्याऽतीतादिविषयकत्वं स्यात् ? न खल्वतीतोऽजातो वा शत्रुः सम्प्रति सतर्पयति विवेकिनः न वाऽनागतः शङ्खश्चक्रवर्त्ती महारापन्निमित्तं विप्रानन्नपानैस्तर्पयतीतिशङ्काशयः ।

तन्निराकुरुते - **नेति** । **आलेख्याकाराणां** = आलेख्ये आकाराणां, **इवाऽवर्त्तमानस्याऽपि वस्तुनः** = अतीतानागतपदार्थस्य **ज्ञेयाकाराणां ज्ञाने सम्भवा**दिति । यथाऽविद्यमानस्य पुरुषस्य आकारो लेप्यादौ वर्तते तथाऽविद्यमानस्य वस्तुनो

हम अभी आश्रय नही है । एक ज्ञानावरण कर्म का हमारी आत्मा मे ध्वंस होने पर भी भावी काल मे हम दूसरे ज्ञानावरण कर्म का अधिकरण बनने वाले है । अतः अभी हमारी आत्मा मे ज्ञानावरण कर्म का प्रागभाव रहता है । अतएव हमारी आत्मा मे रहने वाला ज्ञानावरणकर्मध्वंस तादृश प्रागभाव का भिन्नकालीन नहीं कहा जा सकता । मगर जिस पुरुषविशेष मे भावी काल मे ज्ञानावरण कर्म की अधिकरणता नहीं होने वाली है, उसी पुरुषविशेष में रहनेवाला ज्ञानावरणकर्मध्वंस ही स्वसमानाधिकरण (= ज्ञानावरणध्वंसाधिकरणवृत्ति) स्वप्रतियोगिसजातीय(ज्ञानावरणकर्म)प्रतियोगिकप्रागभावकालीन नहीं होने से ज्ञानावरणकर्मक्षयात्मक सिद्ध होगा । मगर क्षय का अर्थ सर्वथा अभाव यानी ज्ञानावरणकर्मात्यन्ताभाव ऐसा नहीं है, क्योंकि हम स्याद्वादी ने किसी भी आत्मा मे दोषात्यन्ताभाव = त्रिकालिकदोषशून्यत्व का अंगीकार नहीं किया है । मतलब कि 'अनादि काल से जिस आत्मा मे दोष नहीं है, उसी आत्मा मे सर्वज्ञता है' ऐसा हम नहीं मानते हैं, क्योंकि सभी जीव अनादि काल से दोष (= ज्ञानावरण कर्म) से युक्त होते है और बाद मे रत्नत्रयादि की आराधना के बल से ज्ञानावरणकर्मक्षय द्वारा केवलज्ञान = सपूर्ण ज्ञान को प्राप्त करते है । जिस आत्मा मे ज्ञानावरण कर्म का प्रदर्शित क्षय रहता है, वही सर्वज्ञ यानी केवलज्ञानी भगवंत है, यह सिद्ध होता है ।

अतीतविषयक प्रत्यक्ष मुमकिन

ननु ज्ञा इति । यहाँ यह समस्या मुँह फाड़े खड़ी रहती है कि —> 'अतीत पदार्थ विनष्ट होता है और अनागत पदार्थ अनुत्पन्न होता है, इसलिए उनका वर्तमान काल मे कोई स्वरूप ही नहीं है । तब वे ज्ञान के विषय कैसे बन सकते हैं ? क्योंकि विषयता तो ज्ञान और विषय उभयात्मक होने से विषय न होने पर उभयात्मक विषयता भी नहीं हो सकती। इस तरह प्रत्यक्ष मे अतीत-अनागतवस्तुगोचरता नामुमकिन है, तो फिर त्रिकालवर्ती सब पदार्थ का विषयकत्व तो कैसे मुमकिन होगा ? अतः ज्ञानावरण के क्षय से सर्वविषयक ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती' - मगर इसका यह समाधान है कि जैसे अतीतादि पुरुष का आकार आलेख्य = चित्र मे होता है ठीक वैसे ही अवर्तमान = अतीतादि वस्तु का आकार

अथाऽऽलेख्ये न पुरुषाकारः, करचरणादिरूपस्य तस्य पुरुषे एव भावात्, तत्र 'पुरुष' इति धीस्तु सादृश्यज्ञानदोषादिनिबन्धनत्वाद्भ्रमरूपैव, तथा च ज्ञानेऽपि न ज्ञेयाकार इति चेत् ? न, न हि वयं ज्ञेयतदात्मानं आकारं ज्ञाने ब्रूमः, येन साकारवादपक्षनिक्षिप्तं दूषणं

❊ जयलता ❊

ज्ञेयाकारा ज्ञानेऽपि सम्भवन्तीति नातीतादिगोचरत्वं प्रत्यक्षे बाधितुं शक्यते । यच्चोक्तं -> 'विज्ञानविषयोभयात्मकं विषयत्वं' <- तदसत् विषयताया ज्ञानरूपत्वे 'घटवद्भूतलमि'त्यादिज्ञाननिरूपितानां घटभूतलादिवृत्तिविषयतानामभेदापत्त्या तादृशज्ञानान्तरं 'घटप्रकारकज्ञानवानहमि'त्यादिप्रतीतिवद् 'भूतलप्रकारकज्ञानवानहमि'त्यादिप्रतीतिप्रसङ्गात्, घटनिष्ठप्रकारत्वाऽऽख्यतज्ज्ञानस्वरूप-विषयताया एव भूतलवृत्तित्वात्, एवं 'घटपटावि'त्यादिसमूहालम्बनधियो भ्रमत्वापत्तिश्च । विषयस्वरूपत्वे च 'घटभूतलसंयोगा' इत्याद्याकारकसमूहालम्बनविशिष्टबुद्ध्योर्वैलक्षण्यानुपपत्तेरिति विज्ञानविषयाभ्यामतिरिक्तमेव विषयत्वमित्यनन्यगत्या स्वीकर्तव्यम् । अतो न विषयाऽसत्त्वे तादृशज्ञानाकाराऽसम्भवः, योग्यताया एव तदाक्षेपकत्वात् । न च ज्ञानाकारता कथं सिद्धा ? इति वाच्यम्, घटत्वादिप्रकारतानिरूपितघटादिविशेष्यतास्थानाभिषिक्ताया घटाद्याकारताया 'सागारं नाणं हवइ' इत्याद्यागमस्वा-रस्येनाऽभ्युपगतत्वात् । तथा च नाऽतीतादिगोचरताया निरूपकत्वसंसर्गेण ज्ञानेऽसम्भव इति फलितम् ।

परः शङ्कते- अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । आलेख्ये = लेप्य-प्रतिमादौ वस्तुतो न पुरुषाकारः, कुतः ? इत्याह - करचरणादिरूपस्य तस्य = पुरुषाकारस्य पुरुषे एव भावात् = सद्भावात् । 'तर्हि आलेख्ये पुरुषबुद्धिः किंनिबन्धना किंरूपा च' ? इत्याशङ्कायामाह - तत्र = आलेख्ये, 'पुरुष'इतिधीः = पुरुषत्वप्रकारिका बुद्धिस्तु सादृश्यज्ञानदोषादिनि-बन्धनात् = संस्थानादिसादृश्यधी-भेदाग्रहादिदोष-तादात्म्याऽऽरोपादिनिमित्तकत्वात्, भ्रमरूपा = तदभाववति तत्प्रकारक-त्वाऽवगाहित्वेन विपर्ययात्मिका एव । न तु प्रमेत्येवकारार्थः । ततः किं ? इत्याशङ्कायां निगमयति - तथा चेति । यथाऽऽ-लेख्ये न पुरुषाकारः तथा च, ज्ञानेऽपि न ज्ञेयाकारः अस्ति, तस्य ज्ञेयवृत्तित्वात्, अज्ञेयाकारेऽपि ज्ञाने ज्ञेयाकारत्वेन भानाद्भ्रमत्वमेवेति नातीतानागतविषयकत्वं ज्ञाने सम्भवति । अतीतादिपुरुषीयकरचरणादिरूपज्ञेयाकाराणां ज्ञानवृत्तित्वे योगाचार-मतप्रवेशप्रसङ्गादिति प्रकृते निर्गलितशङ्काभिप्रायः ।

समाधत्ते - नेति । न हीति । 'ब्रूम'इत्यनेनाऽन्वीयते । ज्ञेयतदात्मानं = ज्ञेयात्मकं आकारं = ज्ञेयाकारं ज्ञाने ब्रूमः, येन कारणेन साकारवादपक्षनिक्षिप्तं = योगाचारमतप्रविष्टं, दूषणं दुरुद्धरं स्यात् । तर्हि कीदृशो ज्ञेयाकारो

भी प्रत्यक्ष ज्ञान मे हो सकता है । इसमे कोई क्षति नही है । इसलिए ज्ञानावरणक्षय से सर्वविषयक ज्ञान की कल्पना यथार्थ ही प्रतीत होती है ।

अथाले इति । यहाँ यह शंका हो कि -> ''चित्र मे पुरुषाकार का जो दृष्टान्त बताया गया है, वही असिद्ध है, क्योकि पुरुषाकार का मतलब है हाथ, पाँव आदि । तादृश पुरुषाकार तो वास्तविक पुरुषशरीर मे होता है, न कि उसकी प्रतिमा, चित्र आदि मे । प्रतिमा आदि मे होने वाली 'यह पुरुष है' इत्याद्याकारक बुद्धि तो भ्रमात्मक ही है, क्योकि सादृश्यज्ञान, पुरुषभेदाऽग्रहात्मक दोष आदि की वजह वह बुद्धि उत्पन्न होती है । इसलिए प्रतिमादि मे पुरुषत्वप्रकारक बुद्धि के कर-चरणादि-स्वरूप पुरुषाकार की सिद्धि नही हो सकती, दोषादि से अजन्य बुद्धि से ही पदार्थ की सिद्धि होती है । जैसे प्रतिमादि मे पुरुषाकार नही होता है, ठीक वैसे ही ज्ञान मे ज्ञेयाकार भी नही होता है । वह तो ज्ञेय विषय मे रहता है । अतः अतीतादि ज्ञेय पदार्थ का आकार ज्ञान मे कैसे मुमकिन होगा, जिससे सर्वविषयक ज्ञान की सिद्धि हो सके ? अतः सर्वविषयक ज्ञान की कल्पना अप्रामाणिक है, अन्यथा साकारवाद की आपत्ति आयेगी'' <-

⋇ ज्ञानात्मक ज्ञेयाकार का ज्ञान में स्वीकार ⋇

न, न इति । तो यह भी असंगत है, क्योकि हम स्याद्वादी ज्ञेयतदात्मक = ज्ञेयाऽभिन्न आकार का ज्ञान मे स्वीकार नही करते हैं, जिसकी वजह साकारवाद की आपत्ति हो और उसकी वजह साकारवादमत = योगाचारपक्ष मे प्राप्त दोष का उद्धार भी हमारे पक्ष मे मुश्किल हो । किन्तु हम तो ज्ञान मे ज्ञानतदात्मक = ज्ञानाभिन्न आकार को मानते है । आशय यह है कि ज्ञान मे रहने वाला ज्ञेयाकार यदि ज्ञेयाऽभिन्न माना जाय तब तो बाह्य वस्तु का लोप, ज्ञानाद्वैत आदि अनेक दोष प्रसक्त होते है, जो साकारज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के मत मे प्रसक्त होते है । मगर हम ज्ञान मे रहने वाले ज्ञेयाकार को ज्ञानाऽभिन्न मानते हैं । अतः ज्ञेय की ज्ञान मे वृत्तिता के मूलक दोषपरम्परा प्रसक्त नही होती है । यह ठीक उसी

दुरुद्धरं स्यात् किन्तु ज्ञानतदात्मानम् । आलेख्येऽपि स्वतदात्मैव पुरुषाद्याकारो भासते न तु पुरुषादितदात्मा । अत एव 'इदमालेख्य पुरुषाकारवन्न तु करचरणादिमदि'तिप्रतीतिर्निर्वहतीति दिगम्बरा ।

वस्तुतो ज्ञानस्य सर्वविषयत्व स्वभाव एव प्रदीपादेरिव सर्वप्रकाशकत्वं, तस्य च ज्ञेयाकारशब्दाऽवाच्यत्वेऽपि न क्षतिरिति वदन्ति । (श्लो ९ संपूर्ण:)

❀ जयलता ❀

ज्ञानेऽभ्युपगम्यते ? इत्याशङ्कायामाह - **किन्तु ज्ञानतदात्मान** = ज्ञानाभिन्न ज्ञेयाकार ज्ञाने ब्रूम इत्यत्राऽप्यनुषज्यते । यदि ज्ञेयात्मको ज्ञेयाकारो ज्ञाने स्वीक्रियेत तदा योगाचारमतप्रवेश-तत्प्रयुक्तदोषप्रसङ्ग स्यात् किन्तु ज्ञानात्मको ज्ञेयाकारो ज्ञानेऽङ्गीक्रियत इति नातीतादिगोचरज्ञानाऽसम्भवो न वा ज्ञानाद्वैतमतप्रवेशप्रसङ्ग । पूर्वोक्तदृष्टान्तवैषम्यमाविष्करोति - **आलेख्येऽपि** = प्रतिमाचित्रादावपि, **स्वतदात्मैव** = आलेख्यात्मक एव, **पुरुषाद्याकारो भासते, न तु पुरुषादितदात्मा** ज्ञेय-पुरुषादिस्वरूप । अत्रैव कि विनिगमक ? इत्याशङ्कायामाह - **अत एवेति** । आलेख्यात्मकपुरुषाद्याकारस्यैवाऽऽलेख्ये भानादिति । '**इद आलेख्य** प्रतिमादिक **पुरुषाकारवत् न तु करचरणादिमदि'तिप्रतीतिर्निर्वहतीति दिगम्बरा** वदन्तीति शेष । उक्तप्रतीतेरयोगव्यवच्छेदाऽन्ययोगव्यवच्छेदावगाहित्वादालेख्ये स्वात्मक पुरुषाकारोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य पुरुषाद्यात्मक पुरुषाद्याकारश्च व्यवच्छेद्य इति सिद्धौ ज्ञानेऽपि ज्ञानात्मको ज्ञेयाकार स्वीकार्य ज्ञेयात्मकश्च ज्ञेयाकारो व्यवच्छेद्य इति सिद्धया क्षयोपशमादिना अतीतादिगोचरत्वमपि ज्ञाने सम्भवीति न ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वमसिद्धमिति तेषामाकूतम् ।

ज्ञानस्य सर्वविषयकत्व न ज्ञानावरणक्षयात् किन्तु ज्ञानस्वाभाव्यादेवेत्याशयेनाह- **वस्तुत** इति । **ज्ञानस्य सर्वविषयत्व** = सर्वनिष्ठविषयतानिरूपितविषयिताशालित्व **स्वभाव एव, प्रदीपादेरिवेति** । आदिपदेन सूर्यानलादिपरिग्रह । यथा प्रदीपादि स्वभावत एव सर्वप्रकाशक तथापि कुड्यादिप्रतिबन्धके सति न व्यवहितान् प्रकाशयति तदपगमे तु तान् प्रकाशयत्येव तथैव ज्ञानमपि स्वभावत सर्वविषयक तथापि तत्तद्गोचरज्ञानावरणे प्रतिबन्धके सति न तत्तत्पदार्थान् गोचरीकरोति तद्विलये तु तान् सर्वान् विषयीकरोत्येवेति नातीतादिविषयकत्व ज्ञाने व्याहन्यत इति सर्वविषयकज्ञानाश्रये सर्वज्ञत्व सिध्यत्येव । **तस्य** = सर्वविषयकत्वस्वभावस्य, **च ज्ञेयाकारशब्दाऽवाच्यत्वेऽपि न क्षतिरिति** । अत्र 'ज्ञेयाकारशब्दवाच्यत्वेऽपि' इति यद्वा 'ज्ञेयाकारशब्दाद्वाच्यत्वेऽपी'ति शुद्ध पाठ स्यादिति सम्भाव्यते । तादृशज्ञानस्वभाव एव दिगम्बरै ज्ञेयाकारशब्देन प्रतिपाद्यते तदा न दोष इत्यर्थ । ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वस्वभावानभ्युपगमे तु 'तादृशो ज्ञेयाकार कथ ज्ञाने एव न तु कृत्यादौ ?' इत्यत्र विनिगमनाविरहात्, तादृशस्वभावानङ्गीकारे तु 'ज्ञेयाकारो ज्ञानतदात्मको न तु कृत्यादि-तदात्मक' इत्यस्य दिक्पटै वक्तुमशक्यत्वादित्याशय ।

प्राञ्चस्तु सर्वज्ञत्वसाधनार्थ –> अस्ति सर्वज्ञ सुनिश्चिताऽसम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ।१।, कश्चिदात्मा सकलार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्यय तत् तत्साक्षात्कारि, यथाऽपगततिमिरादिप्रतिबन्धलोचन रूपसाक्षात्कारि, सकलार्थग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धश्च कश्चिदात्मा तस्मात् सकलार्थसाक्षात्कारी । न चाऽय विशेषणाऽसिद्धो हेतु , आगमद्वारेणाऽशेषार्थग्रहणस्वभावस्यात्मनि प्रसिद्धत्वात् ।२।,

तरह उपपन्न होता हे जेसे चित्रादि मे चित्रात्मक पुरुपाकार रहता है । चित्र मे भी पुरुपतदात्मक = पुरुपाऽभिन्न ऐसा पुरुपाकार नही प्रतीत होता है, किन्तु चित्रतदात्मक = प्रतिमा से अभिन्न पुरुपाकार का भान होता है । अतएव 'यह चित्र पुरुपाकारवाला हे, न कि कर-चरणादिवाला' इस प्रतीति का निर्वाह होता हे। इसलिए चित्रादि मे स्वात्मक पुरुपाद्याकार को अप्रामाणिक नही माना जा सकता, किन्तु पुरुपात्मक पुरुपाकार को, जिसका हम चित्र मे स्वीकार नही करते है, ही अप्रामाणिक माना जा सकता है - ऐसा दिगम्बरसम्प्रदाय है ।

वस्तुतो इति । वस्तुस्थिति का जव विचार किया जाय तव तो जैसे प्रदीपादि का सर्वप्रकाशकत्व स्वभाव है, ठीक वैसे ही ज्ञान का सर्वविपयकत्व स्वभाव ही हे । प्रदीप का ऐसा स्वभाव नही हे कि वह घट का प्रकाशक हो और पट का प्रकाशक न हो । इसी तरह ज्ञान भी स्वभावत सर्ववस्तुविपयक होता है । ज्ञान के सर्वविपयप्रकाशकत्व स्वभाव को ज्ञेयाकार शब्द से वाच्य माना जाय तो भी कोई क्षति नही है । अत. ज्ञानावरणक्षय से अतीतादिसर्वार्थगोचर ज्ञान की कल्पना करने मे कोई दोप नही है - ऐसा भी विद्वानो का मन्तव्य है ।

ॐ नमः परमानन्दकलाकलितकेलये । श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वाय मत्प्रत्यूहनिवारिणे ॥१॥
पूर्वसूत्रितावष्टम्भाय दृष्टान्तमाहुः - 'गुडो ही'ति ।

❀ जयलता ❀

ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तर-तमशब्दवाच्यत्वात् परिमाणतारतम्यवत् ।३।, सर्वे पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् घटवत् ।४।, अस्ति सर्वार्थसाक्षात्कारी अनुपदेशाऽलिङ्गाऽविसम्वादिविशिष्टदिग्देशकालप्रमाणाद्यात्मकचन्द्रादिग्रहणाद्युपदेशदायित्वात् ।५। ज्ञानं क्वचिदात्मनि प्रकर्षवत् स्वावरणहान्युत्कर्षे सति प्रकाशकत्वात् ।६।, समस्ति समस्तवस्तुविस्तारगोचरं विशदं प्रत्यक्षदर्शनं, तद्गोचरानुमानप्रवृत्तेः ।७। <— इत्यादि व्याचक्षते ।

'अर्था हि न विज्ञाने स्वाकारमर्पयन्ति किन्तु ज्ञानमेवाऽर्थग्राहकत्वेन परिणमति । तत्परिणामश्च वस्तुनोऽनेकस्वभावात्, अन्यथाऽर्थपरिच्छेदानुपपत्तेः । न चातीताद्यर्थाग्रहणप्रसङ्गः, तेषामसत्त्वादिति वाच्यम्, सर्वथाऽसत्त्वाऽनभ्युपगमात्, सतः सर्वथाऽसत्त्वाप्राप्तेरसतश्चोत्पादानापत्तेः तदा तेषां वर्तमानत्वमेव । वर्तमाना एव हि भावाः तथापरिणामेनाऽतीतादिव्यपदेशभाजो भवन्ति, अन्यथा वर्तमानस्याऽप्यनुपपत्तिरिति भूत-भवद्-भविष्यत्सकलपदार्थविस्तारबोधकः सर्वज्ञोऽपि सुव्यवस्थित' <— इत्यपि प्राहुः ।

ज्ञानावृतिक्षयप्राप्तकेवलालोकशालिने । नमोऽस्तु सततं तस्मै, कारुण्यकेलिशालिने ॥१॥

वक्ष्यमाणग्रन्थभूमिकामारचयति - **पूर्वसूत्रिताऽवष्टम्भायेति** । 'यदा तु नित्याऽनित्यत्वरूपते'त्यादिपूर्वकारिकोक्तार्थदार्ढ्याय, **दृष्टान्तमाहुः** श्रीहेमचन्द्रसूरय इति शेषः । **निगदसिद्धोऽयं** = कण्ठ्योऽयमित्यर्थः । तथापि लेशतो व्याख्यायते यथैकाकी **गुडः कफस्य** = श्लेष्मणो **हेतुः** = कारणं **स्यात्**, हिरवधारणे, **नागरं** केवलं **पित्तस्य कारणं** = निमित्तं **स्यात्**, **द्वयात्मनि** = द्वयोरेकीकरणेन कृते **गुडनागरभेषजे** = गुडिकाविशेषे **न दोषः अस्ति**, प्रत्युत पुष्ट्यादिगुणः **स्यात्** । तदुक्तं भावप्रकाशे 'उन्मीलनी बुद्धिबलेन्द्रियाणां, निर्मूलनी पित्तकफानिलानां' (भा.प्र.प्र.खंड) इति ।

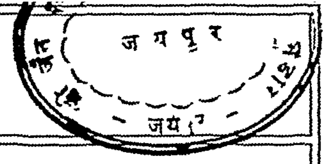
एतत्कारिकाव्याख्यानं स्याद्वादकल्पलतायाञ्चैवम् —> 'अथोक्तदोषनिवृत्तिर्न जात्यन्तरनिमित्ता किन्तु मिथोमाधुर्य-कटुकत्वोत्कर्षहानिप्रयुक्तेति चेत् ? न, द्वयोरेकतरबलवत्त्वे एवाऽन्याऽपकर्षसम्भवात्, तन्मन्दतायामपि मन्दपित्तादिदोषापत्तेश्च । एतेनेतरेतरप्रवेशादेकतरगुणपरित्यागोऽपि **निरस्तः**, अन्यतरदोषापत्तेः अनुभवबाधाच्च । अथ मिलितगुडशुण्ठीक्षोदेन नैकं द्रव्यमारभ्यते, विजातीयानां द्रव्यानारम्भकत्वात्, गुडत्व-शुण्ठीत्वसङ्करप्रसङ्गात् किन्तु कारणविशेषोपनीतरसविशेषवद् गुडशुण्ठीक्षोदसमाजादेव धातुसाम्याद् गुणदोषनिवृत्ती इति चेत् ? समुदितगुडशुण्ठीद्रव्यस्याऽप्येकपरिणतिमत एवोपलम्भात्, धातुसाम्ये रसविशेषवद् द्रव्यविशेषस्याऽपि प्रयोजकत्वात्, द्रव्यादिवैचित्र्यादाहारपर्याप्तिवैचित्र्योपपत्तेः, अनेकान्ते साङ्कर्याऽसम्भवात्, नृसिंहत्ववदुपपत्तेः । अथ समुदितगुडशुण्ठीद्रव्यं प्रत्येकगुडशुण्ठीभ्यां विभिन्नमेकस्वभावमेव द्रव्यान्तरं न तु मिथोऽभिव्याप्यावस्थितोभयस्वभावं जात्यन्तरमिति चेत् ? न, तस्य द्रव्यान्तरत्वे विलक्षणमाधुर्यकटुकत्वाऽननुभवप्रसङ्गात्, एकस्वभावत्वे दोषद्वयोपशमाऽहेतुत्वप्रसङ्गात्, उभयजननैकस्वभावस्य चाऽनेकत्वगर्भत्वेन सर्वथैकत्वाऽयोगात्, एकया शक्त्योभयकार्यजननेऽतिप्रसङ्गात्, विभिन्नस्वभावानुभवाच्च । तस्माद् माधुर्य-कटुकत्वयोः परस्परानुवेधनिमित्तमेवोभयदोषनिवर्तकत्वमादरणीयम् ।

ननु जात्यन्तरत्वेऽपि प्रत्येकदोषनिवृत्तिरिति न नियमः, पृथक्स्निग्धोष्णयोः पित्तकफकारित्ववत् समुदितस्निग्धोष्णस्याऽपि माषस्य तथात्वादिति चेत् ? न, माषे स्निग्धोष्णत्वयोर्जात्यन्तरात्मकत्वाऽभावात्, अन्योन्यानुवेधेन स्वभावान्तरभावनिबन्धनस्यैव तत्त्वात् । अत्र च स्निग्धोष्णत्वयोः गुञ्जाफले रक्तत्व-कृष्णत्वयोरिव खण्डशो व्याप्त्याऽवस्थानात्, जात्यन्तरात्मकस्निग्धोष्णत्वशालिनि

ॐ नम इति । इस तरह सर्वज्ञसिद्धिपर्यन्त निरूपण कर के पञ्चम कारिका की व्याख्या व्याख्याकार ने पूर्ण की है। यहाँ मध्यमंगल करते हुए प्रकरणकार श्रीमद्जी कहते हैं कि - मेरे विघ्नों का निवारण करने वाले और परमानन्द की कला से युक्त क्रीडा वाले श्रीशंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवंत को नमस्कार हो ।

❊ गुडशुण्ठीन्यायप्रदर्शन - श्लोक - ६ ❊

पूर्वसू इति । वीतरागस्तोत्रकार श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वर महाराजा ने अष्टम प्रकाश की पाँचवी कारिका में जो कहा था कि - 'वस्तु नित्यानित्य हो तब कोई दोष नहीं है ' इत्यादि, उसका समर्थन करने के लिए छट्ठी कारिका में उसके अनुरूप दृष्टान्त को वे ही बताते हैं 'गुडो हि .' इत्यादि कह कर । कारिका का अर्थ यह है कि-अकेला गुड कफ का कारण होता



गुडो हि कफहेतुः स्यात्, नागरं पित्तकारणम् ।
व्द्यात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ॥६॥

❀ जयलता ❀

च दाडिमे श्लेष्मपित्तोभयदोषाऽकारित्वमिष्टमेव, 'स्निग्धोष्णं हृद्यं, श्लेष्मपित्तविरोधि च' इति वैद्यकवचनादिति ।

इदमिह तत्त्वम् - तद्भेदस्य तदेकत्वाऽभावादिनियतत्वेऽपि जात्यन्तरानात्मकस्यैव विलक्षणस्य तस्य तथात्वात्, विलक्षणगुडत्वस्य कफकारितानियतत्वान्न दोषः । **एतेन** मया भेदसामान्ये तन्नियमः कल्पनीयः त्वया तु जात्यन्तराऽनात्मके तत्रेति गौरवमिति **निरस्तम्**, प्रातिस्विकरूपेणैव तन्नियमोपपत्तेरिति दिगिति <— (स्या क ल.स्त ७, श्लो.४८) वर्त्तते इति ध्येयम् ।

तदुक्तं **नयरहस्येऽपि** —> 'एकैकपक्षोक्तदोषापत्तिस्तु जात्यन्तरत्वाऽभ्युपगमान्निरसनीया । दृष्टा हि वैकल्यपरिहारेण तत्प्रयुक्तायाः परस्पराऽनुवेधेन जात्यन्तरमापन्नस्य गुडशुण्ठीद्रव्यस्य कफपित्तदोषकारितायाः निवृत्तिः । 'नेयं जात्यन्तरनिमित्ता किन्तु मिथो माधुर्यकटुकत्वोत्कर्षहानिप्रयुक्ते'ति चेत् ? न, द्वयोरेकतरबलवत्त्व एवाऽन्याऽपकर्षसम्भवात्, तन्मन्दतायामपि मन्दपित्तादिदोषापत्तेश्च । **एतेन** इतरेतरप्रवेशादेकतरगुणपरित्यागोऽपि **निरस्तः**; अन्यतरदोषापत्तेः, अनुभवबाधाच्च । अथ समुदितगुडशुण्ठीद्रव्यं प्रत्येकगुडशुण्ठीभ्यां विभिन्नमेकस्वभावमेव द्रव्यान्तरं न तु मिथोऽभिव्याप्याऽवस्थितोभयस्वभावं जात्यन्तरमिति **चेत् ? न,** तस्य द्रव्यान्तरत्वे विलक्षणमाधुर्यकटुकत्वाननुभवप्रसङ्गात्, एकस्वभावत्वे दोषद्वयोपशमाऽहेतुत्वप्रसङ्गात् । उभयजननैकस्वभावस्य चाऽनेकत्वगर्भत्वेन सर्वथैकत्वाऽयोगात्, एकया शक्त्योभयकार्यजननेऽतिप्रसङ्गात्, विभिन्नस्वभावानुभवाच्च । तस्मान्माधुर्य-कटुकत्वयोः परस्परानुवेधनिमित्तमेवोभयदोषनिवर्त्तकत्वमित्यादरणीयम् ।

ननु जात्यन्तरत्वेऽपि प्रत्येकदोषनिवृत्तिरिति नैकान्तः, पृथक् स्निग्धोष्णयोः कफपित्तविकारित्ववत् समुदितस्निग्धोष्णस्यापि मापस्य तथात्वादिति **चेत् ? न,** माषे स्निग्धोष्णत्वयोः जात्यन्तरात्मकत्वाऽभावात्, अन्योन्यानुवेधेन स्वभावान्तरभावनिबन्धनस्यैव तत्त्वात् । अत्र च स्निग्धोष्णत्वयोर्गुञ्जाफले रक्तत्वकृष्णत्वयोरिव खण्डशो व्याप्त्याऽवस्थानात्, जात्यन्तरात्मकस्निग्धोष्णत्वशालिनि च दाडिमे श्लेष्मपित्तोभयदोषाऽकारित्वमिष्टमेव, 'स्निग्धोष्णं दाडिमं रम्यं, श्लेष्मपित्तविरोधि चे'ति वचनादिति **सम्प्रदायः** । *यद्यपि जात्यन्तरत्वं न प्रत्येककार्याऽकारित्वेन नियतं भेदाऽभेदेन भेदाभेदव्यवहारात्* **तथापि** *विभिन्नधर्मयोरभिव्याप्य* समावेश एवोक्तनिदर्शनम्' <— (न र. पृ २९) इत्यादिकम् ।

तदुक्तं **धर्मसङ्ग्रहणीवृत्तौ** —> "न गुडशुण्ठ्योर्माधुर्यं कटुकत्वाननुविद्धं कटुकत्वं वा माधुर्यादेकान्ततः पृथग्भूतं । नाप्यनयोरेकरूपता किन्त्वितरेतरानुवेधतो जात्यन्तरमिदम् । अतः तदुपभोगात् कफादिदोषाभावः, अन्यथा केवलगुडशुण्ठ्युपभोगादिवत्तदुभयोपभोगादपि कफ-पित्तलक्षणदोषद्वयप्रवृद्धिः प्रसज्येत, स्वस्वभावानपगमात् । स्यादेतत् —> नैवेदं जात्यन्तरं, किं तर्हि ? माधुर्येण कटुकत्वोत्कर्षहानिराधीयते कटुकत्वेन च माधुर्योत्कर्षहानिः । अतस्तत्र पित्तादिदोषाभाव इति <— तदप्ययुक्तम्, उभयोर्मन्दतापत्तावपि तदुपभोगान्मन्दपित्तादिदोषसम्भवापत्तेः । एतेन-इतरेतरप्रवेशतोऽन्यतरैकमाधुर्याद्यभ्युपगमोऽपि निरस्तो द्रष्टव्यः, तत्राऽप्येकतरदोषापत्तेः । अनुभवबाधा चैव प्रसज्यते, यतोऽनुभूयते तत्राऽविगानेन माधुर्यं कटुत्वञ्चेति । अथोच्यते - प्रत्येकं गुडशुण्ठिभ्यामन्यैव एकरूपा जातिः गुडशुण्ठिः कफपित्तलक्षणदोषद्वयोपशमनस्वभावा जन्यते । ततो नेदमुभयात्मकं जात्यन्तरमिति । तदुक्तं - 'तन्मूलमन्यदेवेदं गुडनागरसञ्जितमिति' - तदप्यश्लीलम्, एकान्तैकस्वभावायास्तस्याः कफ-पित्तलक्षणदोषद्वयोपशमकारित्वाऽयोगात् । सा हि गुडशुण्ठिरेकतरस्मिन् कफोपशमे पित्तोपशमे वा कार्त्स्न्येनोपयुक्ता सती कथमन्यत्रोपयुज्येत ? स्वभावान्तराभावात् । अथ इत्थम्भूत एव तस्या एकः स्वभावो येनोभयमुपशमयति तेनाऽयमदोष इति चेत् ? न, इत्थं चित्रतागर्भस्य स्वस्वभावस्य सर्वथैकत्वायोगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गतो वस्तुव्यवस्थाविलोपप्रसङ्गात् । अतस्तत्र स्वभावनानात्वमवश्यमुररीकर्तव्यम् । तच्चानुभूयमानमाधुर्यकटुकत्वगुणेतरेतरानुवेधनिमित्तम्, अन्यथा माधुर्यकटुकत्वयोः स्वस्वभावानपगमेन स्वस्वकफादिदोषकारितापत्तेः" <— (गा ३४१-पृ २०७/८) इत्यादिकम् ।

तदुक्तं **चन्द्रसेनसूरिभिरप्युत्पादादिसिद्धिप्रकरणे** —> 'गुडनागरे गुडमाधुर्यशक्तिर्नागरतीव्रताशक्त्या प्रतिहन्यते, नागरतीव्रताशक्तिश्चेतरया । ततः प्रत्येकपरिणतद्रव्यद्वयापेक्षया तदन्योन्यानुबन्धे गुडनागरसञ्ज्ञितं जात्यन्तरं तदुपतिष्ठते । जात्यन्तरात्मकत्वे च तस्य तज्जन्मा दोषो न भवति । माषे तु स्निग्धशक्तिर्नोष्णशक्त्या प्रतिहन्यते, शीतशक्त्यैव विरोधोपलम्भादुष्ण-

है और अकेली शुंठी भी पित्त को उत्पन्न करती है, मगर गुड-शुण्ठी के मिश्रण से बना हुआ औषध, जो उभयात्मक है, न तो कफ को उत्पन्न करता है और न तो पित्त को, बल्कि दोनो दोष का निराकरण कर के वल, आरोग्य आदि का

निगदसिद्धोऽयं श्लोकः ॥ (श्लो ६ सपूर्ण.)

❀ जयलता ❀

शक्ते । एव स्निग्धशक्त्याऽपि नोष्णशक्ति प्रतिहन्तु शक्या । ततो यदि माष स्निग्धोष्ण कफपित्तकृत् स्यात् तदा किमनिष्टमापादितमस्माकम् ? यत स्वभावभेदनिबन्धनमेतज्जात्यन्तरत्व, न चात्र स्वभावभेद इति । 'शक्त्यपेक्षश्च तत्कार्यमि'-तीच्छता माषस्य कफपित्तकृत्त्वमुपलभ्य चित्रयोगिशक्तियोगित्व स्वयमेव देवानाम्प्रियेणाऽभ्युपगत भवतीति किमस्माकमेवमप्य-निष्टमजनि ? किञ्च, 'कटुकाकटुक पाके, वीर्योष्णश्चित्रको मत । तद्वद्दन्तीप्रभावात्तु विरेचयति सा नरम्' ।१। तथा 'कषायमधुर ग्राहि वातघ्न लघुदीपनम् । स्निग्धोष्ण दाडिम हृद्य, श्लेष्मपित्ताऽविरोधि च ॥ किञ्चिदम्ल तु सङ्ग्राहि, किञ्चिदम्ल भिनत्ति च । यथा कपित्थ सङ्ग्राहि, भेदि चामलक तथा ॥ मूत्रोन्मिश्रा यन्त्रितात्मा हरिद्रा, सात्मीकुर्वन् हन्ति माषेन कुष्ठम् । तद्वत्तैयश्चित्रक श्लक्ष्णपिष्ट , पिप्पल्येव पूर्ववन्मूत्रयुक्ता ॥ इत्याद्यभिधीयते विद्वद्भि । तथा च द्रव्यशक्तिवैचित्र्य दृष्टमपल-पितुमशक्यमेव'' (उ सि पृ १६०) इत्यादिकमिति भावनीय सुधीभि ।

षष्ठकारिकावतरणिकामवतारयति --> अथेति । विरोधशङ्कामिति । विरोधशङ्कानिरूपण श्रीप्रभानन्दसूरिकृतविवरणे चैवम् - 'ननु नित्यानित्य-भेदाभेद-सत्त्वासत्त्व-सामान्यविशेषात्मकाभिलाप्यानभिलाप्यात्मके तत्त्वे मन्यमाने दुर्धरविरोधगन्धविधुरता धुरन्धरता धारयति । तथाहि - यदि भेद तर्ह्यभेद कथ ? अभेदश्चेत्तर्हि भेद कथ स्यादिति विरोध १। तथा यदि भेदस्याधिकरण तर्ह्यभेदस्य न भवेत्, अथाऽभेदस्य तर्हि भेदस्य न स्याच्छीतोष्णस्पर्शवत् । न हि यदेव धूप-दहनादिक शीत तदेवोष्णमुपलभ्यते, तथाप्रतीतेरभावादिति वैयधिकरण्यम् २। यथा येन रूपेण भेदस्तेनाऽभेदोऽपि, येनाऽभेदस्तेन भेदोऽपि स्यात् इति व्यतिकर , 'परस्परविषयगमन व्यतिकर' इतिवचनात् ३। तथा येन रूपेण भेदस्तेन भेदोऽभेदोऽपि, येन चाऽभेदस्तेनाऽ-भेदो भेदोऽपीति सङ्कर 'सर्वेषा युगपत्प्राप्ति सङ्कर' इतिवचनात् ४। तथा येन रूपेण भेदस्तेन भेदाभेद , येन चाऽ-भेदस्तेनापि भेदाभेदोऽभ्युपगन्तव्य , अन्यथा सर्वमनेकान्तात्मकमित्यस्य विरोधानुषङ्गात् । तथा च भेदाभेदावपि प्रत्येक भेदाभेदात्मकौ स्याताम् । तत्रापि प्रत्येक भेदाभेदात्मकत्वपरिकल्पनायामनवस्था स्यात् ५। तथा केन रूपेण भेद केन चाऽ-भेद ? इति सशय (भेदाभेदात्मकत्वे वस्तुनोऽभेदात्मकमिद भेदात्मक वा ? इति निर्णयाभावात् सशय) ६। तथा भेद-रूपमभेदरूप वा दृष्ट वस्तु नाऽभ्युपगम्यते, अदृष्टश्च भेदाभेदात्मक परिकल्प्यत इति दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च स्यात् ७-८। तथा च परपरिकल्पितस्य वस्तुनोऽभाव एव युक्त । किञ्च, कि नानावस्तुधर्मापेक्षया सर्वमनेकान्तात्मक उत तन्निरपेक्षतया प्रत्येक सर्व वस्त्विति ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, द्वितीयपक्षेऽपि विरोधादिर्दोष ९। किञ्च, कि क्रमेण सर्वमनेकान्तात्मकमभ्युपगम्यते यौगपद्येन वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, द्वितीयपक्षे तु स एव दोष इति १०। किञ्च, अनेकधर्मान् वस्तु किमेकेन स्वभावेन नानास्वभावैर्वा व्याप्नुयादिति ? यद्येकेन तदा तेषामेकत्व वस्तुनो वा नानात्व स्यात्, एकस्यैकत्र(?)प्रवेशादिति । अथ नानास्वभावैस्तर्हि तानपि नानास्वभावान् किमेकेन स्वभावेन व्याप्नुयात् नानास्वभावैर्वा ? । यद्येकेन तदा सर्वधर्माणामेकत्व वस्तुनो वा नानात्व स्यात् । अथ नानास्वभावैस्तर्हि तानपि किमेकेन स्वभावेन नानास्वभावैर्वा व्याप्नुयादित्यादि सर्व वक्तव्य, अनवस्था च ११। किञ्च यदि सर्व वस्त्वनेकान्तात्मकमभ्युपगम्यते, तर्हि जलादेरप्यनलादिरूपता. अनलादेर्वा जलादिरूपता भवेत् । तथा च जलाद्यर्थिनो जलादावनलाद्यर्थिनश्चानलादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, अन्योन्यविरुद्धधर्मस्यापि सद्भावात् । को हि नाम विवक्षितार्थे विवक्षितार्थक्रियाकारिरूपमिवाऽविवक्षितार्थक्रियाकारिरूपमुपलभमानो विवक्षितार्थक्रियार्थी तत्र प्रवर्त्तेत प्रेक्षापूर्वकारी ? न चैवम् । विवक्षितार्थे विवक्षितार्थक्रियाकारिण्येव विवक्षितार्थक्रियार्थिन प्रवृत्तिदर्शनात् १२। किञ्च प्रमाणमप्यप्रमाण अप्रमाण प्रमाण वा भवेत् । तथा च सर्वजनप्रसिद्धप्रमाणाऽप्रमाणव्यवहारविलोपो भवेत् १३। किञ्च सर्वज्ञोऽप्यसर्वज्ञ स्यात् १४। किञ्च सिद्धस्याप्यसिद्धत्व स्यात् १५। किञ्च येन प्रमाणेन सर्वस्याऽनेकान्तरूपता प्रसाध्यते, तस्य कुतो नैकान्तरूपतासिद्धि ? यदि स्वत , तर्हि सर्वस्यापि तथा भविष्यति, कि प्रमाणपरिकल्पनया ? अथ परतस्तर्ह्यनवस्था १६। किञ्चानेकान्तबाधक प्रमाण-मस्ति । तथाहि - भेदाभेदादिकौ धर्मौ नैकाधिकरणौ परस्परविरुद्धधर्मत्वात्, शीतोष्णस्पर्शवदिति । तस्मादेकान्तरूपमेव वस्त्विति स्थितम्' <-- (वी स्तो वि पृ ७६ /७७)

जनक होता है । ठीक वैसे ही पदार्थ को केवल नित्य या केवल अनित्य मानने पर जो अर्थक्रियाकारित्वाऽसम्भव आदि दोष प्रसक्त होते हैं, वे वस्तु को नित्यानित्योभयात्मक मानने पर प्रसक्त नही होते है । इस तरह अनेकान्तवाद का समर्थन गुडशुण्ठी-उभयात्मक औषधविशेष आदि लोकप्रसिद्ध उदाहरण से भी किया जा सकता है । यद्यपि प्रकरणकार श्रीमद्जी ने इस कारिका

अथ नित्यानित्यत्व-भेदाभेद-सत्त्वाऽसत्त्व-सामान्यविशेषात्मकत्वा-भिलाप्यानभिलाप्यत्वादिधर्माणां स्वय विरोधशङ्कामुद्दिधीर्षवोऽभिदधति —> व्दयमिति ।

❀ जयलता ❀

तादृशानुसन्धानविकलानामुपकाराय अत्र प्रकरणकारीयव्याख्यानिरूपणपूर्व श्रीप्रभानन्दसूरिकृतविवरणस्थसमाधानवचनैरेवानन्तरोपदर्शितदोपनिराकरण क्रियतेऽधुना । तदुक्त तैस्तत्र —> 'एकस्मिन् पृथ्वी-पृथ्वीधरादौ वस्तुनि नित्यानित्यात्मकरूप द्वय न विरुद्धम् । न च विरोधोपलक्षितवैयधिकरण्यादिदोपकलुषम् । कथमिति चेदित्यत आह - असत्प्रमाणप्रसिद्धे । किमपि न तत्प्रमाण प्रामाणिकम्मन्यै प्रमाणीक्रियते, येन विरोधादीना सिद्धि साध्यते । तथाहि यत्तावदुक्तम् 'विरोधो बाधक· स्यादि'ति, तदयुक्तम्, पर्यायरूपतया भेदोऽभ्युपगम्यते, द्रव्यरूपतया चाऽभेद । तयोश्चैकत्र रूपरसयोरिव सत्त्वाऽसत्त्वयोरिव वाऽविरोधसिद्धे । प्रतीयमानयोश्च कथ विरोधो नाम ? स ह्यनुपलम्भसाध्य यथा वन्ध्यागर्भे स्तनन्धयस्य । ननु सत्त्वासत्त्वयोरिवेति दृष्टान्तोऽप्यसिद्ध इति चेत् ? तन्न, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया सत्त्वरूपस्य, परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया चाऽसत्त्वस्यैकस्मिन् क्षणे सर्वस्य पदार्थस्य प्रत्यक्षादिबुद्धौ प्रतिभासनात् । न खलु पदार्थस्य सर्वथा सत्त्वमेव स्वरूपम्, स्वरूपेणेव पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात् । नाऽप्यसत्त्वमेव, पररूपेणेव स्वरूपेणाऽप्यसत्त्वप्रसङ्गात् । न च स्वरूपेण सत्त्वमेव पररूपेणाऽसत्त्वम्, पररूपेण वाऽसत्त्वमेव स्वरूपेण सत्त्वम्, तदपेक्ष्यमाणनिमित्तभेदात् । स्वद्रव्यादिक हि निमित्तमपेक्ष्य सत्त्वप्रत्यय जनयति पदार्थ , परद्रव्यादिक त्वपेक्ष्याऽसत्त्वप्रत्ययम् इत्येकत्वद्वित्वादिसङ्ख्यावदेकस्मिन्पदार्थे सत्त्वासत्त्वयोर्भेद । न चैकस्मिन् वस्तुनि वस्त्वन्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसङ्ख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्राऽपेक्षैकत्वसङ्ख्यातो नान्या प्रतीयते । नापि सा स्वरूपात् तत्त्वतो भिन्नैव, अस्याऽसङ्ख्येयत्वप्रसङ्गात् । सङ्ख्यासमवायात्तत्त्वमित्यप्ययुक्तम्, कथञ्चित्तादात्म्यव्यतिरेकेण समवायस्याऽसम्भवात् । तस्मात् सिद्धोऽपेक्षणीयभेदात्सङ्ख्यावत् सत्त्वाऽसत्त्वयोर्भेद । तथाभूतयोश्चाऽनयोरेकस्मिन् पदार्थे प्रतीयमानत्वात् कथ विरोध ? यतो दृष्टान्तो न स्यात् । 'भ्रान्तेय प्रतीतिरि'त्यपि मिथ्या, बाधकस्याऽविद्यमानत्वात् । 'विरोध बाधक' इत्यप्यसत्यम्, इतरेतराश्रयानुषङ्गात्, सति हि विरोधे तेनाऽस्या बाध्यमानत्वाद् भ्रान्तत्वम्, ततश्च तद्विरोधसिद्धिरिति । विरोधश्चाऽविकलकारणस्यैकस्य भवतो द्वितीयसन्निधानेऽसत्त्वान्निश्चीयते, यथोष्णसन्निधाने शीतस्य । न च पर्यायरूपेण भेदस्य सन्निधाने द्रव्यरूपेणाऽभेदस्याभाव उपलभ्यते ।

किञ्चाऽनयोर्विरोध कि सहानवस्थानस्वभाव परस्परपरिहारस्थितिस्वभावो वध्यघातकस्वभावो वा ? तत्र न तावत्सहानवस्थानस्वभावो घटते, मृद्द्रव्यलक्षणे पदार्थे मृद्द्रव्यरूपतयाऽभेदस्य घटादिपर्यायरूपतया च भेदस्याऽध्यक्षबुद्धौ प्रतीयमानत्वात् । न च तथाप्रतीयमानयोरप्येकत्र तयोर्विरोधो युक्त , रूपरसयोरपि तत्प्रसङ्गात् । परस्परपरिहारस्थितिस्वभावो विरोधो घटादौ भेदाभेदयो सत्त्वासत्त्वयोर्वा रूपरसयोरिव सतोरेव नाऽसतोर्नापि सदसतो सम्भवति । वध्यघातकस्वभावोऽपि विरोधोऽहिनकुलयोरिव बलवदबलवतो । न च भेदाभेदयो सत्त्वाऽसत्त्वयोर्वा बलवदबलवद्भावो दृश्यते । न हि यथा नकुलेन बल-वता सर्वस्य विघात क्रियमाणो दृश्यते तथा भेदेनाऽभेदस्याऽभेदेन च भेदस्य विघातो दृश्यते, तथाप्रतीतेरभावात् ।

भवतु वा कश्चिद्विरोध इति, तथाप्यसौ सर्वथा कथञ्चिद्वा स्यात् ? न तावत् प्रथमपक्षो घटते शीतोष्णस्पर्शयोरपि प्रमेयत्वादिना विरोधाऽसिद्धे । एकाधारत्वेन चैकस्मिन्नपि हि धूपदहनादिभाजने क्वचित् प्रदेशे शीतस्पर्श क्वचिच्चोष्णस्पर्श प्रतीयत एव । अथाऽनयो प्रदेशयोर्भेद एवेष्यते । भवतु नामानयोर्भेद , धूपदहनाद्यवयविनस्तु न भेद । न चाऽस्य शीतोष्ण-

की व्याख्या नही की हे, क्योकि यह कारिका अत्यन्त सरल है, सस्कृतभापा के अभ्यासी को पढने से ही इसका अर्थबोध हो सकता है, तथापि पाठकवर्ग की सुगमता के लिए हमने यहाँ सक्षेप मे उक्त कारिका का लेशत निरूपण किया है ।।६।।

❁ सातवें श्लोक की व्याख्या ❁

मिलित गुड-शुण्ठी के दृष्टान्त से एक ही धर्मी को नित्यानित्य, भिन्नाभिन्न, सत्-असत्, अभिलाप्य-अनभिलाप्य माना जा सकता हे । मगर यहाँ इस विरोधदोपविपयक शका का कि —> "नित्यत्व और अनित्यत्व, भेद और अभेद, सत्त्व और असत्त्व, सामान्य और विशेप, अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व ये धर्म परस्पर विरोधी है। अतः जिसमें नित्यत्व हो उसमें अनित्यत्व, जिसमे अनित्यत्व हो वहाँ नित्यत्व, यत्र सत्त्व हो तत्र असत्त्व, जहाँ असत्त्व हो वहाँ भी सत्त्व, आदि कैसे मुमकिन होगा ? परस्पर विरोधी होने से उनका एकत्र समावेश ही नही हो सकता है, तब वस्तुमात्र को नित्यानित्योभयात्मक, सदसदुभयात्मक

द्वय विरुद्ध नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धित ।
विरुद्धवर्णयोगो हि दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

✻ जयलता ✻

सर्वाधारता नास्तीति वक्तु युक्तम्, अध्यक्षविरोधात् । तस्मान्न सर्वथा भावाना विरोधो घटते । कथञ्चिद्विरोधस्तु सर्वभावेषु तुल्यो न बाधक ।

यच्चोक्तम् –> 'वैयधिकरण्य स्यादिति' <– तदप्यसत्यम्, निर्बाध प्रत्यक्षबुद्धौ भेदाभेदयोरेकाधिकरणत्वेन प्रतिभासनात् । न खलु तथाप्रतीयमानयोर्वैयधिकरण्यम्, रूपरसयोरपि तत्प्रसङ्गात् । उभयदोषोऽपि न घटते, प्रतीयमाने कथमुभयदोषो नाम ? नानादोषोऽपि न स्यात् । यथैव हि घटादो भेदोऽनुभूयते तथाऽभेदोऽपीति कथ नानात्वदोष ? अत एव सङ्करव्यतिकरावपि न स्त । भेदाभेदयोरेकस्मिन् पदार्थे स्वरूपेण प्रतीयमानत्वात् । यच्चोक्तम् - 'अनवस्था स्यात्' तदप्यनुपपन्नम्, वस्तुन एव भेदाभेदात्मकत्वाऽभ्युपगमात्, न पुनर्भेदाभेदयोर्धर्मयो । पदार्थस्य तु भेदो धर्म एवाऽभेदस्तु धर्म्येवेति कथमनवस्था ? न चैकान्ताभ्युपगमो दोषाय, सम्यग्नयविषयस्य भेदाभेदस्य च स्याद्वादिभिरभ्युपगतत्वात् । सशयोऽपि न युक्त , भेदाभेदयो स्वरूपेण प्रतीयमानत्वात्, एकस्मिन् भेदाभेदाऽप्रतीतौ हि सशयो युक्त , क्वचित् प्रदेशे स्थाणुपुरुषत्वाऽप्रतीतौ तत्सशयवत् । चलिता च प्रतीति सशय । न चेय चलिता । तथा दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च न स्यात्, भेदाभेदात्मकस्य वस्तुन प्रत्यक्षादिप्रमाणबुद्धौ प्रतीयमानत्वात् । तत एवाभावोऽपि न युक्त ।

यच्चोक्त –> नानावस्तुधर्माऽपेक्षया' <– इत्यादि, तदसत्यम्, न खलु नानावस्तुधर्मापेक्षयैकस्याऽनेकान्तात्मकत्वमङ्गीक्रियते, येन सिद्धसाधन स्यात्, अपि त्वेकस्यैव वस्तुन स्वधर्मापेक्षया । न च तत्र विरोधादिदोषानुषङ्ग., तस्य प्रागेव निराकृतत्वात् । यच्चोक्तम् - 'क्रमेणे'त्यादि न तद्युक्तम्, क्रमेणाऽक्रमेण चाऽनेकान्तस्याऽभ्युपगतत्वात् । क्रमभाविधर्मापेक्षया हि क्रमेणाऽक्रमभाविधर्मापेक्षया चाऽक्रमेणेति । यच्चोक्तम्- 'अनेकधर्मान् वस्तु किमेकेन स्वभावेन व्याप्नुयान्नानास्वभावै. वा ? इत्यादि, तत्र नैकेन स्वभावेन नानास्वभावै वा भिन्नवस्तु भिन्नान् स्वभावान् स्वतो व्याप्नुयादिति जैनो मन्यते, किं तर्हि ? स्वस्वकारणकलापादनेकस्वभावात्मक मतमिति । यच्चोक्तम् - जलादेरप्यनलादिरूपता स्यादित्यादि-तदपीष्टमेव प्रमाणस्य स्वरूपापेक्षया प्रमाणरूपताया पररूपापेक्षया चाप्रमाणरूपताया स्याद्वादिनामिष्टत्वात् । ततो न लोकप्रसिद्धप्रमाणाप्रमाणव्यवहारविलोप. स्यात्, उक्तन्यायेन प्रमाणाप्रमाणव्यवहारस्य लोके प्रमाणेऽपि सुप्रसिद्धत्वादिति ।

यच्चोक्त –> 'सिद्धोऽप्यसिद्ध स्यादि'त्यादि <– तदपीष्टमेव । असर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञस्याऽप्यसर्वज्ञताया अभ्युपगतत्वादिति, प्रकारान्तरेण तस्याऽसर्वज्ञता न सम्भवत्येव, प्रमाणबाधनादिति । यच्चोक्तम् –> येन प्रमाणेन सर्वस्याऽनेकान्तरूपता प्रसाध्यते तस्य कुतोऽनेकान्तरूपतासिद्धि स्यादित्यादि' <– तत्रोच्यते, प्रमेय हि द्विविधमचेतन चेतन च । तत्राऽचेतन स्वपराध्यवसायविकल न स्वस्यैकान्तरूपतामनेकान्तरूपताञ्च परिच्छेत्तुमलम् । चेतनेन तत्राऽनेकान्तरूपता परिच्छिद्यते । चेतन तु स्वस्याऽप्यनेकान्तरूपता परिच्छेदनितु समर्थम् । न च तत्राऽपर प्रमाणमपेक्ष्यते, येनाऽनवस्था स्यात् । तथा हि - चित्ररूप वस्तु येन प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन वा परिच्छिद्यते तत् स्वरूपापेक्षयात्मनो भाव पररूपापेक्षया चाऽभाव परिच्छिनत्ति, अन्यथा यथावदसङ्कीर्णस्वरूपस्य ग्राहक न स्यात् । न चैवम्, व्यावृत्ताऽव्यावृत्तस्वरूपस्य प्रमाणस्य सिद्धरूपत्वादिति । यस्य तु कस्यचित् तत्रापि स्वदुरागमाऽऽहितवासनावशादेकान्तसमारोप , सोऽपि तस्य न्यायान्तरान्निराकर्तव्य । तथाहि - धूमादिलिङ्गस्य यथा स्वसाध्य प्रति गमकत्वम्, यथा साध्यान्तरं प्रत्यपि उतान्यथेति । यदि गमकत्वमेवाङ्गीक्रियते, तदा साध्यान्तरस्यापि तत एव सिद्धेर्लिङ्गान्तरकल्पनावैफल्य स्यात्, तत सर्वस्याऽपि साध्यस्य सिद्धेरिति । उताऽन्यथा तर्हि यथैक लिङ्ग गमकत्वागमकत्वरूपेणाऽनेकान्तरूपम्, तथा सर्वं वस्तु स्वपरकार्यकरणसामर्थ्यासामर्थ्येनाऽनेकान्तरूपमस्तु, विशेषाभावादिति ।

यदप्युक्तम् –> 'बाधक प्रमाणमस्ति, भेदाभेदौ नैकाधिकरणावि'त्यादि <– तदप्यनुपपन्नम्, पक्षस्य प्रत्यक्षेण बाध्यमान-

इत्यादि कैसे मानी जा सकती है ?'' <– निराकरण करने के लिए स्वय मूलकार आचार्यदेवेश श्रीमद्जी 'द्वय विरुद्ध .' इत्यादिरूप मे ७वीं कारिका प्रदर्शित कर रहे है । कारिका का सामान्य अर्थ यह है कि नित्यत्व-अनित्यत्व आदि युगल धर्म परस्परविरुद्ध नहीं है, क्योकि वे एक अधिकरण मे रहते हैं । विरोधग्राहक प्रमाण प्रसिद्ध न होने से विरोध असिद्ध है, क्योकि मेचक वस्तु = शबलवर्णवाली वस्तु मे विरुद्ध वर्ण का योग प्रसिद्ध है ।

अत्र एकत्र = एकस्मिन् वस्तुनि द्वय न विरुद्धमिति न व्याख्येयं, विरुद्धपदस्यैवैकाधिकरणाऽवृत्त्यर्थकत्वेन 'एकत्र' इत्यस्य पुनरनन्वयाऽऽपत्ते., विरुद्धे एकवृत्तित्वस्य बाधात्, अविरुद्धे तु तस्याऽविरुद्धत्वपर्यवसितस्याऽपि तेन रूपेणाऽसिषाधयिषितत्वात्, अविरुद्धत्वप्रकारिकाया एव सिषाधयिषायाः सत्वात् ।

❀ जयलता ❀

त्वाद्धेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वात्, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवदित्यादिवदिति । भेदाभेदयोरेकाधिकरणत्वेन प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनात् । न चाऽनयोर्विरुद्धधर्मयोरपि सतोः कापि क्षतिरीक्ष्यते इति पर्यालोच्य स्तुतिकृदपि विरोधाभावमाह- 'विरुद्धे'त्यादि । हि = यस्मात् विरुद्धवर्णसम्बन्धो मेचकवस्तुषु मिश्रवर्णपदार्थेषु दृष्टः, पर न तत्रैतद् दूषणकणघोषणान्वेषणापि कर्तु पार्यते । यदि तत्रापि वाग्डिण्डिमाडम्बरप्रचण्डपाण्डित्यपाटवनाट्यशीलैः प्रत्यक्षादिप्रमाणोपपन्ने कापि युक्ति प्रपञ्च्यते तदा एवमप्यस्तु । अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलवत् । अर्थतत्प्रत्यक्षबाधितपक्षानन्तर निर्दिश्यमानत्वेन कालात्ययापदिष्टम् । आ ! परमबन्धो ! पिब पीयूषयूपम्, वयमपि हस्तमुत्क्षिप्यैवमेव वदाम - मेचकवस्तुवत्प्रत्यक्षोपपन्नेऽप्यनेकान्ते का कुयुक्तिनिरुक्तिप्रपञ्चचातुरी ? तस्माद् विरोधादिदूषणवारणगणाऽधर्षणीय परा प्रौढरूढि प्रपन्नोऽनेकान्तकेशरी' <— (वी स्तो.वि. पृ ७७/८१) इति तदीयव्याख्याप्रदर्शनमपि अनेन कृत भवति ।

प्रकरणकृद् व्याख्यानयति - **अत्रेति** । प्रकृतकारिकायामिति । **एकत्र = एकस्मिन् वस्तुनि द्वय** = नित्यत्वानित्यत्वादिद्वय **न विरुद्ध इति न व्याख्येयम्** । कुत ? इत्याह-**विरुद्धपदस्यैव एकाधिकरणाऽवृत्त्यर्थकत्वेन** = एकाधिकरणानिरूपितवृत्तित्वाभाववद्वाचकत्वेन, **'एकत्रे'त्यस्य** पदस्य अर्थस्य **पुनः अनन्वयापत्तेः** = कुत्राऽप्यन्वयासम्भवप्रसङ्गात् । 'विरुद्धपदार्थे एव तदन्वयोऽस्त्विति शङ्कायामाह - **विरुद्धे** = विरुद्धपदप्रतिपाद्ये एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वशून्ये, 'एकत्रे'तिपदार्थस्य **एकवृत्तित्वस्य** = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वस्य **बाधात्** न तत्र तदन्वय सम्भवति, अन्यथा 'अनलवान् अनलाभाववानि'त्यादावपि तथान्वयबोधप्रसङ्गात् ।

ननु न विरुद्ध = अविरुद्धम् । एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वशून्यभिन्ने अविरुद्धपदप्रतिपाद्ये 'एकत्रे'तिपदार्थस्य एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वस्याऽविरुद्धत्वलक्षणस्य त्वन्वयो न बाधित । तथा च न 'एकत्रे'त्यभिधानार्थस्याऽनन्वयप्रसङ्ग इत्याशङ्काया प्रकरणकृदाह- **अविरुद्धे** = अविरुद्धपदार्थे **तु तस्य** = 'एकत्रे'तिपदार्थस्य, **अविरुद्धत्वपर्यवसितस्य** = एकाधिकरणनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयत्वलक्षणाऽविरुद्धत्वपदार्थपर्यवसन्नस्य, अन्वययोग्यत्वे **अपि तेन रूपेण** = अविरुद्धपदार्थवृत्तित्वेन रूपेण, **असिषाधयिषितत्वात्** = साधयितुमनभिमतत्वात् । कुत इदमज्ञायि भवद्भिरित्याशङ्कायामाह - **अविरुद्धत्वप्रकारिकाया एव सिषाधयिषायाः सत्त्वादिति** । इदमत्राऽभिसहितम् - उद्देश्य-विधेयभावस्थले उद्देश्यतावच्छेदकधर्मविधेययोर्भिन्नत्वमेव भवति, अन्यथा 'वह्निमान् वह्निमानि'त्यादावप्युद्देश्यविधेयभावप्रसङ्गात् । सिषाधयिषाया प्रकारीभूतस्यैव विधेयत्वनियमात् प्रकृते अविरुद्धत्वस्यैव विधेयत्वमिति नाऽविरुद्धस्योद्देश्यत्व भवितुमर्हति, उद्देश्यतावच्छेदकस्यैव विधेयत्वाऽऽपातात् । न चैव भवति विधेयस्योद्देश्ये सिषाधयिषितत्वेनोद्देश्यतावच्छेदकस्यापि तदभिन्नस्याऽसिद्धत्वप्रसङ्गात् । न ह्यप्रसिद्धमुद्दिश्य किञ्चिद् विधीयते प्रतिषिध्यते वा, वन्ध्यापुत्रमुद्दिश्य श्यामत्वादेरपि विधेयत्वादिप्रसङ्गात् । इत्थञ्च 'एकत्रे'तिपदार्थस्याऽविरुद्धत्वफलितस्य न विरुद्धे न वाऽविरुद्धेऽन्वयो भवितुमर्हतीति तदनन्वयप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् 'एकत्र द्वय न विरुद्धमि'ति न

❀ उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय भिन्न होते हैं ❀

अत्र इति । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस कारिका के पूर्वार्ध का ऐसा अर्थ नही लगाना कि 'एक वस्तु मे दो धर्म विरुद्ध नही है', क्योकि ऐसा व्याख्यान करने पर 'एकत्र' पद के अर्थ का कही भी अन्वय नही हो सकेगा । इसका कारण यह है कि 'एकत्र' पद का अर्थ हे एकाधिकरणवृत्तित्व । इसका 'विरुद्ध'पद के अर्थ मे तो अन्वय = सम्बन्ध नही हो सकता, क्योकि विरुद्ध पद का अर्थ है एकाधिकरण मे अवृत्ति । एक अधिकरण मे नही रहने वाले पदार्थ मे एक अधिकरण से निरूपित वृत्तिता = आधेयता अर्थ का सम्बन्ध बाधित होने से 'एकत्र'पदार्थ का विरुद्धपदार्थ मे अन्वय नही हो सकेगा। यदि 'न विरुद्ध' का अर्थ अविरुद्ध कर के उसमे 'एकत्र'पदार्थ का अन्वय किया जाय तो वह भी मुनासिब नही है, क्योकि यद्यपि 'एकत्र'पदार्थ एकाधिकरणवृत्तित्व अविरुद्धत्व अर्थ मे पर्यवसित = फलित होने से अविरुद्धपदार्थ मे अन्वय योग्य है

किन्तु 'द्वय न विरुद्ध' = न परस्परानधिकरणाधिकरणकम् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाहु 'एकत्रे'ति, एकाश्रयवृत्तित्वं तदर्थः । न चाऽयं हेतुरसिद्धः, एकत्रैव घटादौ नित्यानित्यादि-प्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् ।

ननु नेयं प्रमा तत्र विरोधग्राहकप्रमाणपरम्परासत्त्वेन विषयबाधात् । न च भ्रमाद् वस्तु-

❀ जयलता ❀

व्याख्यामर्हति ।

तर्हि किंस्वरूप तद्व्याख्यान ? इत्याशङ्कायामाह - किन्त्विति । पक्षमाह - द्वयमिति । नित्यानित्यत्वादियुगम-मिति तदर्थ इति वक्ष्यति । साध्य निर्दिशति - न विरुद्ध = न परस्परानधिकरणाधिकरणकमिति । परस्परानधि-करणनिष्ठाधिकरणतानिरूपकभिन्नत्व साध्यम् । तत्र = तत्सिद्धौ, हेतुगर्भं = हेतुघटित, विशेषणमाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वर-पादा इति शेष । 'एकत्रे'ति एकाश्रयवृत्तित्व = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्व तदर्थः = विशेषणवाचकपदार्थ । प्रयोगश्चा-त्रैवम् - द्वय न परस्परानधिकरणाधिकरणक एकाधिकरणवृत्तित्वात् रूपरसयोरिव । न च अय = एकाधिकरणवृत्तित्वलक्षण हेतु· असिद्धः = स्वरूपासिद्धिदोषग्रस्त पक्षतावच्छेदकीभूतवैमत्याधिकरणतावच्छिन्ननिरूपितवृत्तित्वशून्य इति यावत् सशय-तात्पर्यम् । तदपाकरणे हेतुमाह - एकत्रैवेति । एवकारेण भिन्नाधिकरणव्यवच्छेद कृत । घटादौ धर्मिणि नित्यानित्यादि-प्रतीतेः = नित्यत्वाऽनित्यत्व-भेदाभेदादिप्रकारकधिय सार्वजनीनत्वात् । तथा च नित्यत्वानित्यत्वादियुग्मे एकाधिकरण-निरूपितवृत्तित्वसिद्धौ न स्वरूपासिद्धिकवलितत्व हेतोरिति भाव ।

ननु न इय = 'घटो द्रव्यत्वादिना नित्यो घटत्वादिना चाऽनित्य' इत्यादिस्वरूपा प्रमा । प्रदर्शितप्रतीतेरप्रमात्वसाध-नार्थं हेतुमाह - तत्र = नित्यत्वानित्यत्व-भेदाऽभेद-सत्त्वासत्त्वादिधर्मयुग्मे, विरोधग्राहकप्रमाणपरम्परासत्त्वेन तस्या विषय-बाधादिति । नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुग्मे एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाऽवगाहित्वस्य बाधादित्यर्थ । ततः किं ? इत्याह - न

तथापि तादृश अन्वयबोध यहाँ इसलिए नही स्वीकार्य हो सकता कि अविरुद्धत्वरूप से अविरुद्ध पदार्थ को सिद्ध करना यहाँ ग्रन्थकार को अभिमत नही है । आशय यह है कि यहाँ ग्रन्थकार की इच्छा अविरुद्धत्वप्रकारक है, सिसाधयिषा का प्रकार = विधेय अविरुद्धत्व है और यहाँ अविरुद्धपदार्थ मे उसका अन्वय करने का मतलब यह होगा कि अविरुद्धपदार्थ को उद्देश्य करके अविरुद्धत्व का विधान करना । मगर ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि तब उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय एक बन जाने से तादृश अन्वयबोध नही हो सकता । प्रसिद्ध को उद्देश्य बना कर अप्रसिद्ध का विधान किया जाता है और उद्देश्यतावच्छेदक ज्ञात होने पर ही उद्देश्य प्रसिद्ध हो सकता है । मगर विधेय को ही उद्देश्यतावच्छेदक बनाने पर विधेय अप्रसिद्ध होने से तदभिन्न उद्देश्यतावच्छेदक भी अप्रसिद्ध बनेगा, फलत उद्देश्य ही अप्रसिद्ध हो जायेगा, तब तादृश विधान कैसे हो सकेगा ? अन्यथा 'घटो घट' इत्यादि वाक्यप्रयोग भी शिष्ट बनने की आपत्ति आयेगी ।

किन्तु इति । इसलिए सातवी कारिका के प्रथम पाद का व्याख्यान ऐसा करना चाहिए कि नित्यत्वानित्यत्वादि दो धर्म विरुद्ध = परस्परानधिकरणाधिकरणक नही है । कारिका मे दर्शित 'एकत्र' ऐसा 'द्वय' का विशेषण हेतुगर्भित है, जिसका अर्थ है एकाधिकरणवृत्तित्व । अत अनुमानप्रयोग इस तरह होगा कि नित्यत्व-अनित्यत्व आदि दो धर्म परस्पर के अनधिकरण मे रहने वाले होते नहीं है, क्योंकि वे एकाधिकरण मे रहते है । यहाँ दो धर्म पक्ष है, परस्पर के अनधिकरण मे अवृत्तित्व साध्य है और एकाधिकरणवृत्तित्व हेतु है । एकाधिकरण मे रहनेवाले दो धर्म परस्पर के अनधिकरण मे ही रहे यह तो कैसे मुमकिन हो सकता है ? यहाँ यह शका करना कि -> 'नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म मे, जो पक्ष है, एक अधिकरण मे निरूपित वृत्तिता ही नही होने से हेतु स्वरूपासिद्धि दोष से कलंकित है, तब उसके द्वारा स्वाभीष्ट साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है ?' <-

❀ एक धर्मी में नित्यत्वाऽनित्यत्वोभयप्रतीति प्रामाणिक ❀

एकत्रे इति । भी नामुनासिब है, क्योंकि एक ही घट आदि धर्मी मे नित्यत्व और अनित्यत्व, भेद और अभेद आदि युगल की प्रतीति सभी लोगो को होती है । 'घट मृत्त्व, द्रव्यत्व आदि रूप से नित्य है और घटत्व आदि रूप से अनित्य = नाशप्रतियोगी है' इत्यादि प्रतीति तो सर्वजनप्रसिद्ध है, जिससे एक ही धर्मी मे नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मों की सिद्धि होती है । यहाँ यह शका नही करनी चाहिए कि -> "यह प्रतीति प्रमा नही है किन्तु भ्रमात्मक है । यह प्रतीति भ्रमात्मक

सिद्धिरित्याशङ्कायामभिदधति —> असदिति, अत्र विरोध इति शेषः । सत्पदञ्च भावपरम् । तथा च विरोधे प्रमाणसिद्धेरसत्त्वादेकवृत्तित्वं निराबाधमिति हार्दम् । न हि जलानलयोरिव तयोर्विरोधः साक्षादनुभूयते, रूपरसयोरिव प्रत्युतैकवृत्तित्वस्यैवाऽनुभविकत्वात् । न वा छायातपयोरिव परस्परपरिहारेण वर्तमानत्व, एकदैवानुभवात् । नाऽपि घट-तदभावयोरिवैकज्ञानानन्तरमज्ञायमानत्वं, नित्यत्वादिज्ञाने सत्यप्यनित्यत्वादेर्ज्ञानात् । स्वभावतो विरोधाभिधानं तु स्ववासनामात्रविजृम्भितम् ।

❀ जयलता ❀

च भ्रमाद् वस्तुसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात् । दर्शितप्रतीतेर्भ्रमत्वात्र ततो नित्यानित्यत्वादिद्वन्द्वे एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसिद्धिरिति स्वरूपासिद्धिदोषस्य वज्रलेपायमानत्वमेवेति आशङ्कायां सत्या श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रवरा **अभिदधति - असदिति** । **सत्पदञ्च** = असच्छब्दघटकीभूत सत्पदञ्च, **भावपर** = सत्त्वविषयकबोधजननेच्छयोच्चरितम् । **तथा च** = सप्तम्यन्तविरोधपदाध्याहारे सत्पदस्य सत्त्वे लक्षणायाञ्च, **विरोधे प्रमाणसिद्धेरसत्त्वात्** = नित्यत्वाऽनित्यत्वादिविरोधविषयकप्रमाणसिद्ध्यभावात्, नित्यत्वानित्यत्वादियुगललक्षणे पक्षे **एकवृत्तित्व** = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वलक्षण लिङ्ग **निरावाध** = न स्वरूपासिद्ध **इति हार्दम्** । विरोधविषयकप्रमाणसिद्ध्यभावमेव प्रकरणकृत् समर्थयति - **न हीति** । शेष सुगमम् । वध्यघातकभाव-परस्परपरिहारसहानवस्थानलक्षणप्रसिद्धविरोधाऽसम्भवेऽपि नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुगले स्वभावत एव विरोधो भविष्यतीत्याशङ्कायां प्रकरणकार प्राह - **स्वभावतः** तत्र **विरोधाभिधान तु** प्रसिद्धप्रत्यक्षतर्कादिप्रतिकूलत्वेन **स्ववासनामात्रविजृम्भित** = एकान्तवादाऽऽहितमिथ्यासंस्कारवृन्दविलासमात्रम् । इत्थञ्चाऽत्र प्रमाणेन विरोधाऽसिद्धौ न हेतोरेकाश्रयवृत्तित्वलक्षणस्य स्वरूपासिद्धत्व, येन नित्यानित्यत्वादौ परस्परानधिकरणाधिकरणकत्वाभावासिद्धि स्यादिति तात्पर्यम् ।

होने का कारण यह है कि नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म मे विरोधग्राहक प्रमाणो की परम्परा विद्यमान होने से उक्त प्रतीति का विषय बाधित होता है । विरोध का मतलब यह है कि एक अधिकरण मे अवृत्तित्व । नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म मे एकाधिकरणवृत्तित्वाऽभाव का प्रमाण से भान होने पर एकाधिकरणवृत्तित्व की प्रतीति के विषय का बाध होने से वह भ्रमात्मक सिद्ध होती हे । भ्रम मे से तो नित्यत्व-अनित्यत्व आदि युगलधर्म मे एकाधिकरणवृत्तित्व की सिद्धि नही की जा सकती'' <— क्योकि विरोधगोचर प्रमाण ही असिद्ध हे । कारिका मे जो 'असत्' शब्द हे उसका घटक सत्शब्द भावपरक है यानी सत्त्व का बोधक है । अतः असत्पद का अर्थ असत्त्व = अविद्यमानता होगा । 'विरोधे' पद का अध्याहार करने पर समुदित अर्थ यह होगा कि विरोधविषयक प्रमाणसिद्धि अविद्यमान होने से नित्यत्व-अनित्यत्व आदि युगल धर्म मे हेतु 'एकत्र' = एकाश्रयवृत्तित्व निरावाध है । अत स्वरूपासिद्धि दोप का अवकाश नही है । जैसे एक धर्मी मे अग्नि और पानी के बीच विरोध का साक्षात् अनुभव होता है, वैसे नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्मो के बीच विरोध का साक्षात् अनुभव नही होता है, बल्कि जैसे रूप ओर रस मे एक ही घट आदि धर्मी से निरूपित वृत्तिता का भान होता हे वैसे नित्यत्व और अनित्यत्व आदि धर्म मे भी घट आदि एक धर्मी से निरूपित वृत्तिता का भी भान स्वरसत होता है । नित्यत्व ओर अनित्यत्व आदि धर्म मे छाया ओर प्रकाश की भाँति परस्परपरिहारनामक विरोध भी नही हे, क्योकि एक ही काल मे वे एक धर्मी मे प्रतीत होते है । एक काल मे एक अधिकरण मे रहने वाले धर्म मे परस्परपरिहार विरोध नही होता हे । यहाँ नित्यत्व ओर अनित्यत्व के बीच, घट ओर घटाभाव की भाँति, एक ज्ञान के वाद अज्ञायमानत्वात्मक विरोध भी नही है । मतलब यह है कि भूतल मे घटज्ञान होने के वाद अनन्तर क्षण मे वहाँ घटाभाव का भान नही होता हे और वहाँ घटाभाव का भान होने पर अव्यवहित उत्तर क्षण मे वहाँ घट का वोध नही होता है । अत. घट और घटाभाव परस्पर विरोधी कहे जाते है । मगर नित्यत्व ओर अनित्यत्व के लिए ऐसी वात नही हे । घटादि मे द्रव्यार्थादेश से द्रव्यत्वादिना नित्यत्व का ज्ञान होने पर भी पर्यायार्थादेश से घटत्वादिना अनित्यत्व का अवाधितरूप से ज्ञान होता हे । इसलिए नित्यत्व ओर अनित्यत्व आदि धर्म मे घट और घटाभाव आदि की भाँति विरोध का उद्भावन नही किया जा सकता । यहाँ यह तो नही कहा जा सकता कि —> 'नित्यत्व ओर अनित्यत्व के वीच स्वभावत. विरोध है' <— क्योकि ऐसा कहना केवल अपने दर्शन एकान्तवाद से आहित वासना का ही विलास है । इसमे कोई तर्क या तथ्य नही है । विरोध का दूसरा कोई प्रकार ही नही है, जिसके अनुरोध से एक धर्मी मे नित्यत्व ओर अनित्यत्व आदि धर्म के रहने पर विरोध का उद्भावन किया जाय । वेसा करना अपनी वुद्धि की विडवना है, दूसरा कुछ नही।

प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थ... नियम में परिष्कार की आवश्यकता

अथ प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमात् कथमसत्त्वे पञ्चम्यर्थान्वयः इति चेत् ? न, तवापि 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः' (न्या.सू.४/१/६) इति सूत्रे अमूढस्येतरोत्पत्त्यभावादित्यर्थकरणेन निपाताद्यर्थातिरिक्तस्थल एवैतन्नियमस्वीकारात् । वस्तुतः प्रकृतित्वं नैकमिति विशिष्यैतद्व्युत्पत्तिस्वीकारेऽत्र नेयं व्युत्पत्तिः किन्तु भिन्नैवेत्यपि बोध्यम् ।

अथ उक्तयाऽनया दिशा नान्वयो दृष्टचर इति चेत् ? तात्पर्यसत्त्वे किमदर्शनमात्रेण ।

जयलता

नैयायिकः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । प्रत्ययानां स्वादीनां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमात् = स्वप्रकृतिपदार्थान्वितस्वार्थबोधजननव्युत्पत्तेः कथं असत्त्वे = पञ्चमीविभक्त्यप्रकृतिभूताऽसत्पदार्थे, पञ्चम्यर्थान्वयः = प्रमाणप्रसिद्धिप्रकृतिकपञ्चम्यर्थस्यान्वयः प्रमाणप्रसिद्ध्यसत्त्वादित्यन्वयबोधः प्रदर्शितनियमविरोधान्नैव स्वीकर्तुं युज्यत इति पराभिप्रायः ।

प्रकरणकृत्तन्निराकुरुते - नेति । तव = नैयायिकस्य अपि 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्ते'रिति सूत्रे = न्यायसूत्रचतुर्थाध्यायसूत्रे, 'अमूढस्येतरोत्पत्त्यभावादित्यर्थकरणेनेति । प्रदर्शितसूत्रे 'तेषां = रागद्वेषमोहानां रागमोहयोर्द्वेषमोहयोर्वा मध्ये मोहः पापीयान् = बलवद्द्वेषविषयः, अमूढस्येतरोत्पत्त्यभावादि'त्यर्थो व्याख्यातः । अत्र पञ्चमीविभक्तिप्रकृतिभूतमुत्पत्तिपदं न तु नञ्पदं तथापि नञर्थाभावेनाऽन्वितपञ्चम्यर्थान्वयस्याऽभ्युपगतत्वेन न तादृशनियमस्य सार्वत्रिकत्वं कल्पनामर्हति । प्रकृतव्याख्यानबलेन निपाताद्यर्थातिरिक्तस्थल एवैतन्नियमस्वीकारादिति । अभावस्य निपातार्थत्वेन तदन्वितपञ्चम्यर्थान्वयस्य तादृशव्युत्पत्तिविषयातिक्रान्तत्वान्नाऽयं दोषः, प्रत्ययार्थे प्रकृतिनिपाताद्यतिरिक्तार्थान्वयोऽव्युत्पन्न इत्येवोक्तनियमतात्पर्यात् । अत एव 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (न्या सू ४/१/) इत्यत्र न्यायसूत्रे अनुपमृद्य प्रादुर्भावाभावादित्यर्थो व्याख्यातः । ईदृशे स्थले प्रकृत्यर्थान्वितनञर्थ-विभक्त्यर्थयोरन्वयस्वीकारात् । ततश्च प्रमाणप्रसिद्ध्यसत्त्वादिति व्याख्यानं साध्वेव । पञ्चम्यर्थश्चात्र ज्ञानज्ञाप्यत्वं यथा वह्निमान् धूमादित्यत्र धूमज्ञानज्ञाप्यवह्निमानितिवत् ।

वस्तुतः प्रकृतित्वं नैकं अननुगतत्वादिति विशिष्य = विशेषरूपेण, एतद्व्युत्पत्तिस्वीकारे = परिष्कृतनियमाङ्गीकारे, अत्र = असत्प्रमाणप्रसिद्धित इति स्थले, न इयं = 'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वरूपा व्युत्पत्तिः किन्तु भिन्नैव = प्रकृत्यर्थान्वितनञर्थ-विभक्त्यर्थान्वयनियमरूपैव इत्यपि बोध्यम् । ततश्च न प्रकृते क्षतिरित्यर्थः ।

परः शङ्कते-अथेति । उक्तया अनया - प्रकृत्यर्थान्वितनञर्थविभक्त्यर्थयोरन्वयनियमरूपया, दिशा नान्वयो दृष्टचरः प्रकृत्यर्थातिरिक्तार्थान्वितप्रत्ययार्थप्रकारकोऽन्वयः पूर्वमदृष्ट इति नायं सङ्गत इति शङ्काशयः । प्रकरणकारः समाधत्ते- तात्पर्यसत्त्वे

अथ प्र इति । यहाँ यह शंका की जाय कि –> ''असत्प्रमाणप्रसिद्धितः मे पंचमी विभक्ति प्रसिद्धिपद के अव्यवहित उत्तर मे होने से वह उसकी प्रकृति है, न कि 'असत्' पद । शाब्दबोधस्थलीय यह मर्यादा है कि प्रत्यय अपने प्रकृतिभूत पद के अर्थ से अन्वित = युक्त ही अपने अर्थ के बोधक होते हैं । अतः पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का अन्वय असत्पद के अर्थ असत्त्व मे नही हो सकता, किन्तु स्वप्रकृतिभूत प्रसिद्धिपद के अर्थ मे ही हो सकता है । मगर यहाँ तो 'विरोधविषय प्रमाण प्रसिद्धि नही होने से' ऐसा अर्थघटन किया गया है, जिस मे असत्त्व = अभाव मे पंचमी विभक्ति के अर्थ का अन्वय ज्ञात होता है, जो उपर्युक्त नियम के विरुद्ध होने से त्याज्य है'' <– तो यह ठीक नही है, क्योंकि 'तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः' इस न्यायसूत्र की व्याख्या ऐसी की गई है कि 'राग, द्वेष व मोह मे मोह पापिष्ठ है, क्योंकि मोह से रहित को राग और द्वेष की उत्पत्ति नही होती है' । इस न्यायसूत्रव्याख्या मे उत्पत्तिशब्द के उत्तर पंचमी विभक्ति के अर्थ मे प्रकृतिभूत उत्पत्तिपद के अर्थ का अन्वय न मान कर अप्रकृतिभूत 'न'पद के अर्थ अभाव का अन्वय करने से उपर्युक्त नियम दूषित होने से निपातातिरिक्त स्थल मे ही तादृश नियम का स्वीकार किया गया है । उक्त सूत्र मे 'न'पद निपात है तथा 'असत्'पद मे अ निपात है, जिसका अर्थ अभाव होता है । अतः अभावात्मक निपातार्थ से, जो प्रकृत मे उभयत्र पंचमी विभक्ति के प्रकृति पद का अर्थ नही है, अन्वित पंचमी विभक्ति के अर्थ का भान होने मे कोई बाध नही है । परिष्कृत नियम के अनुसार तादृश व्याख्या मान्य हो सकती है । वास्तविकता तो यह है कि प्रकृति मे रहा हुआ प्रकृतित्व भी एक नही है, इसलिए उपर्युक्त नियम का विशेषरूप से स्वीकार करना होगा, जो 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' इस स्थल मे प्राप्त नही है, किन्तु उससे भिन्न व्युत्पत्ति ही यहाँ प्राप्त है । अतः असत्त्व = अभाव मे पंचमी विभक्ति के अर्थ

अन्यथा 'नामूढस्येतरोत्पत्ते'रित्यत्राप्येतत्पर्यनुयोगापातात् ।

ननु 'द्वय न विरुद्धमि'त्यत्र सिद्धसाधन, रूपसादिद्वय(?या)विरोधे परस्याऽप्यविवादात् । द्वयसामान्ये विरुद्धभेदः पुनरसम्भवी गोत्वाश्वत्वयोरेव तदभावादिति चेत् ? न, अत्र द्वयपदस्य नित्यानित्यत्वादियुगमतात्पर्यकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

= तथाविधान्वयबोधजननप्रकारकवक्त्रिच्छासत्त्वदशाया, **किमदर्शनमात्रेण ?** तेन सृतमित्यर्थः । विपक्षबाधमाह- **अन्यथेति** । अन्यत्राऽदृष्टचरत्वेन प्रकृत्यर्थातिरिक्तार्थान्वितविभक्त्यर्थगोचरशाब्दबोधाऽनङ्गीकारे, **नामूढस्येतरोत्पत्तेरित्यत्रापि**, किमुत 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित' इत्यत्रेत्यपिशब्दार्थ. **एतत्पर्यनुयोगापातात्** = अदृष्टचरत्वप्रश्नप्रसङ्गादिति ।

अथ द्वित्वावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित् पक्षत्व तत्सामान्यस्य वा ? इत्येव विकल्पयुगलमत्र समुज्जृम्भत इत्याशयेन पर' शङ्कते **नन्विति** । चेदित्यनेनाऽस्यान्वय । प्रथमविकल्पे आह- **'द्वय न विरुद्धमि'त्यत्र सिद्धसाधनमिति** । कुत ? इत्याह - **रूपरसादिद्वयाऽविरोधे परस्य** = प्रतिवादिन **अप्यविवादात्** = विप्रतिपत्त्यभावात् । सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धे. सत्त्वेन पक्षताविरहान्न यत्किञ्चिद्द्वये विरुद्धभेदलक्षणसाध्यप्रकारकानुमिते. सम्भव इति पराशय. । द्वितीयविकल्पे आह- **द्वयसामान्ये** = द्वित्वावच्छिन्ने **विरुद्धभेदः** = अविरोध. **पुनरसम्भवी,** कुत ? इत्याह- **गोत्वाश्वत्वयोरेव तदभावात्** = विरुद्धभिन्नत्वविरहात्, एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थ । न हि गोत्वाधिकरणेऽश्वत्व तदधिकरणे गोत्व वा वर्त्तमान कदापि केनाऽपि दृष्टमिष्ट वा । द्वित्वश्चाऽत्राऽपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूप बोध्य न तु सङ्ख्यागुणात्मक, तेन रूपरसादौ गोत्वाश्वत्वादौ च गुणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावसत्त्वेऽपि न क्षति । विकल्पद्वयविधुरितत्वेन न प्रकृतानुमितिसम्भव इति पराभिप्राय. ।

प्रकरणकारस्तमपहस्तयति- **नेति** । **अत्र** = अनुमानप्रयोगे **द्वयपदस्य** पक्षप्रतिपादकस्य **नित्याऽनित्यत्वादियुग्मतात्पर्यकत्वात्** = नित्यत्वाऽनित्यत्व-भेदाऽभेद-सत्त्वासत्त्वादियुगलपरत्वात् । तथा च न परस्य सिद्धसाधन, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन तत्सामानाधिकरण्येन वा विरुद्धभेदस्य परेणाऽनङ्गीकृतत्वात् । न वाऽसम्भव गोत्वाश्वत्वादियुग्मस्य पक्षानन्तर्भावात् । पक्षतावच्छेदकश्च प्रकृतविचारानुकूलविवादविषयत्वमित्यादिक स्वयमूहनीयम् ।

का अन्वय हो सकता है । यहाँ यह शका करना कि --> 'आपने जो अन्वय बताया है, वह अन्यत्र इस रीति से नही देखा गया है, अतः उपदर्शित अन्वय कैसे मान्य किया जायेगा ?' <-- भी नामुनासिब है, क्योकि अन्वयबोध तो तात्पर्य = वक्ता की इच्छा के अनुसार ही होता है । यहाँ पर 'विरोधविषयक प्रमाण प्रसिद्ध न होने से' ऐसा मूलकार का तात्पर्य होने से उसके अनुसार ही अर्थघटन करना चाहिए । अन्यत्र तथाविध अन्वयबोध न होने से क्या ? तात्पर्य हो तो तथाविध अन्वयबोध हो सकता है । अन्यथा 'नामूढस्य इतरोत्पत्ते.' यहाँ भी यह समस्या तो होगी कि 'पचमी विभक्ति के अर्थ का स्वप्रकृतिभिन्न 'न'पद के अर्थ से अन्वित हो कर भान कैसे हो सकेगा ?' । इसलिए मानना चाहिए कि अन्यत्र अप्रसिद्ध भी अन्वयबोध तात्पर्य के बल से हो सकता है । अतः उपदर्शित व्याख्यान युक्त ही है - यह फलित होता हे ।

❀ सिद्धसाधनदोष का परिहार ❀

ननु द्व इति । यहाँ यह शका हो कि --> "दो धर्म अविरुद्ध है यानी दो धर्म मे अविरुद्धत्वात्मक साध्य को सिद्ध करने के लिए आपने उपर्युक्त अनुमान का प्रदर्शन किया है । मगर यहाँ तो सिद्धसाधन दोष होगा, क्योकि रूप ओर रस आदि दो धर्म एक घट आदि अधिकरण मे अविरुद्ध होते है, यह तो प्रतिवादी भी मानते है । अत. सिद्ध का ही साधन करने से उक्त अनुमानप्रयोग निरर्थक है, पिष्टपेषणतुल्य हे । यदि सभी दो दो धर्म मे अविरोध को साध्य बनाया जाय तो यह असभव ही हो जायेगा, क्योकि गोत्व-अश्वत्व आदि दो धर्म मे ही अविरुद्धत्व = विरुद्धभेद = एकाधिकरणवृत्तित्व बाधित होता हे । गोत्व गाय मे रहता हे और अश्वत्व अश्व मे रहता है, न कि दोनो एक अधिकरण मे रहते है । अतः न तो द्वित्वसामानाधिकरण्येन अनुमिति हो सकती हे और न तो द्वित्वावच्छेदेन अनुमिति हो सकती है" <-- तो यह नामुनासिब है, क्योकि यहाँ 'द्वय' शब्द से नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद आदि युगल का ग्रहण करने का तात्पर्य है । अत यहाँ प्रतिवादी नैयायिक आदि की ओर से सिद्धसाधन दोष का उद्भावन नही किया जा सकता, क्योकि उनके मतानुसार एक धर्मी मे नित्यत्व-अनित्यत्व आदि युगल धर्म का समावेश असिद्ध हे । एव असभव दोष भी अप्रसक्त है, क्योकि गोत्व-अश्वत्व आदि धर्म मे अविरुद्धत्व को सिद्ध करने का तात्पर्य ही नही है । अत. विवादास्पदीभूत नित्यत्व-अनित्यत्व आदि

नन्वसत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यत्र 'असच्च तत्प्रमाणञ्चे'ति न समासः, अयोग्यत्वात् । प्रमाणप्रसिद्धेरसदिति समासे तु असत्पदस्य पूर्वोपादानानुपपत्तिरिति चेत् ? अत्र केचित् - सतोऽभावोऽसदिति तत्पुरुषादसत्त्वमित्यर्थः, तत्र च पञ्चम्यर्थान्वयः, सत्त्वे च प्रमाणप्रसिद्धेरन्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । विभक्त्यन्तरावरुद्धप्रातिपदिकार्थे विभक्त्यन्तरार्थान्वयः कथ-

❀ जयलता ❀

समासासम्भवं परः शङ्कते - नन्विति । अयोग्यत्वादिति । प्रमाकरणत्वस्य सत्त्वव्याप्यत्वेन प्रमाणेऽसत्त्वस्य तादात्म्येनाऽसतो वाऽन्वयो योग्यत्वान्न भवतीति न 'असच्च तत्प्रमाणञ्चे'ति कर्मधारयसमाससम्भवः । तत्पुरुषसमासस्याऽप्यसम्भवमाह- प्रमाणप्रसिद्धेरिति समासे = तत्पुरुषसमासे, तु असत्पदस्य पूर्वोपादानानुपपत्तिः अव्ययीभावसमासादावेव पूर्वनिपातसम्भवात्, तत्पुरुषे सङ्ख्यावाचकपदस्यैव पूर्वनिपातसम्भवात् । न च प्रकृते एवमिति न तत्पुरुषसमासस्य सम्भवः । द्वन्द्वादेरपि न सम्भव इति असत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यत्र कः समासः ? इति पर्यनुयोगस्य दुरुद्धरत्वमिति शङ्काशयः ।

अत्र समाधानवार्तायां, केचित् विद्वांसो वदन्ति- सतोऽभावः = असदिति तत्पुरुषात् = षष्ठीतत्पुरुषसमासात्, असत्पदस्य असत्त्वमित्यर्थः । तत्र च = असत्त्वार्थे हि पञ्चम्यर्थान्वयः, असत्त्वप्रतियोगिनि सत्त्वे च प्रमाणप्रसिद्धेः अर्थस्य अन्वयः = सम्बन्धः, कुतः ? इत्याह- व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् = नियमविशेषात् । ततश्चाऽसत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यस्य प्रमाणप्रसिद्धिसत्त्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावादित्यर्थः ।

नन्वेवं सति प्रमाणप्रसिद्धिपदार्थे षष्ठ्यर्थान्वयो न स्यात् तद्वाचकपदस्य पञ्चमीविभक्त्यवरुद्धत्वादित्याशयेन कश्चिच्छङ्कते- विभक्त्यन्तरावरुद्धप्रातिपदिकार्थे = विभक्त्यन्तरेणाऽवरुद्धस्य प्रातिपदिकस्य = नाम्नः अर्थे, विभक्त्यन्तरार्थान्वयः = विभक्त्यन्तरस्याऽर्थस्य सम्बन्धः कथं ? प्रातिपदिकार्थे स्ववाचकपदाऽव्यवहितोत्तरविभक्त्यर्थस्यैवाऽन्वय इति नियमान्न पञ्चमीविभक्त्यन्तप्रमाणप्रसिद्धिपदार्थे षष्ठीविभक्त्यर्थान्वयस्य युक्तत्वमिति शङ्काभिप्रायः ।

धर्म को पक्ष बनाने में कोई दोष नहीं है - यह फलित होता है ।

❋ 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' यहाँ समासविचार ❋

नन्वस इति । 'असत्प्रमाणप्रसिद्धितः' का अर्थ 'प्रमाण प्रसिद्धि का अभाव होने से' ऐसा करने पर भी यह समस्या तो यहाँ मुँह फाड़े खड़ी है कि यहाँ किस प्रकार के समास का अंगीकार किया जाय ? क्योंकि 'असच्च तत्प्रमाणं च' अर्थात् 'असत् ऐसा प्रमाण' इत्याकारक विग्रहवाला कर्मधारय समास तो 'असत्प्रमाण' पद में नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह समास अयोग्य है । एक ओर प्रमाण बोलना और दूसरी ओर उसे असत् = अविद्यमान कहना यह कैसे हो सकता है ? प्रमाण हो तो उसे असत् कैसे माना जा सकता है और असत् हो उसे प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? अतः कर्मधारय समास अयोग्य है । यदि यहाँ 'प्रमाणप्रसिद्धेरसत्' यानी 'प्रमाणप्रसिद्धि से अविद्यमान' ऐसा विग्रह वाला पंचमी तत्पुरुष समास माना जाय तो 'असत्'पद का पूर्वनिपात नहीं हो सकता, क्योंकि पंचमी तत्पुरुष समास उत्तरपद प्रधान है । मगर मूलकारश्री ने कारिका में असत्पद का 'प्रमाणप्रसिद्धित' के पूर्व में ग्रहण किया है । अतः तत्पुरुष समास का भी अंगीकार नहीं किया जा सकता। द्वन्द्व, बहुव्रीहि, द्विगु, अव्ययीभाव आदि समास की तो कोई संभावना ही नहीं है । अतः 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित' यहाँ किस समास को मान्य किया जाय ? यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है ।

अत्र केचि इति । यहाँ उपर्युक्त उलझन को हटाने के लिए अमुक विद्वानों का यह कथन है कि —> "सतः अभावः = असत् ऐसा तत्पुरुष समास करने पर असत्त्व अर्थ प्राप्त होता है । सत् के अभाव का मतलब असत्त्व ही होता है । इस असत्त्व पदार्थ में प्रमाणप्रसिद्धित पद में रही हुई पंचमी विभक्ति के अर्थ का अन्वय होगा । असत्त्व के घटक सत्त्व में व्युत्पत्तिविशेष से प्रमाणप्रसिद्धि का अन्वय होगा । अतः 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित' का अर्थ होगा प्रमाण प्रसिद्धि की विद्यमानता = सत्ता नहीं होने से (नित्यत्वानित्यत्व आदि में एकाश्रयवृत्तित्व निराबाध है) । इस पर यह शंका हो कि —> 'प्रमाणप्रसिद्धित में प्रमाणप्रसिद्धिप्रातिपदिक के उत्तर में पंचमी विभक्ति है और आपने 'प्रमाणप्रसिद्धि की सत्ता नहीं होने से' ऐसा अर्थघटन कर के पंचमी विभक्ति से अवरुद्ध = आक्रान्त प्रमाणप्रसिद्धि पद के अर्थ में षष्ठी विभक्ति के अर्थ का अन्वय किया है । मगर ऐसा अन्वय नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो प्रातिपदिक अन्य विभक्ति से अवरुद्ध होता है उसके अर्थ में दूसरी विभक्ति के अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता है' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'नामूढस्येतरोत्पत्ते' यहाँ भी यह समस्या

मिति चेत् । तुल्यमिदमन्यत्र ।

अपरे तु 'अ'इति प्रतिषेधार्थको निपात·, 'अ-मा-नो-ना प्रतिषेधे' (   ) इत्यनुशासनात् । तथा च सत्प्रमाणप्रसिद्धेरभावादित्यर्थ ।

परे तु सत्पदं भावपर, विरोधस्येति शेषाच्च विरोधस्याऽसत्त्वे प्रमाणप्रसिद्धेरित्यर्थ. । तथाहि- नित्यानित्यत्वे न विरुद्धे, भिन्नावच्छेदेनैकत्र विशेषदर्शिना प्रतीयमानत्वात् संयोग-

जयलता

प्रतिवन्द्या समादधते- **तुल्यमिद** दूषण **अन्यत्र** = 'नामूढस्येतरोत्पत्तेरि'ति **न्यायसूत्रे** । उत्पत्तिपदस्य पञ्चमीविभक्त्यन्तत्वेन तदर्थे षष्ठीविभक्त्यर्थस्याऽन्वयोऽपि कथ स्यात् ? तथा चाऽमूढस्येतरोत्पत्तेरभावादित्येवमन्वयोऽप्यनुपपन्न । न चैव परेणाऽपि स्वीक्रियत इति तादृशनियमे सङ्कोचस्याऽऽवश्यकत्वेन प्रदर्शितन्यायसूत्रव्याख्यानवत् 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित' इत्यत्राऽपि तथाविधान्वयस्य प्रामाणिकत्वमिति तात्पर्यम् ।

अत्रैवाऽन्यमतमावेदयति- **अपरे** त्विति । **'अ'इति** शब्द **प्रतिषेधार्थकः** = अभाववाचक **निपातः**, **'अ-मा-नो-ना प्रतिषेधे'** इत्यनुशासनादिति । **तथा च** = दर्शितानुशासनबलाच्च असत्प्रमाणप्रसिद्धित इत्यस्य **सत्प्रमाणप्रसिद्धेरभावादित्यर्थः** । तथा च न समासनिर्वचनानुपपत्तिरित्यपरेषामभिप्राय. ।

अत्रैव परेषा मतमाविष्करोति- **पर** इति । **सत्पद भावपर** = सत्त्वबोधजननेच्छयोच्चरित, **विरोधस्येति शेषाच** = प्रकृतोपयोग्यश्रुतपदकल्पनाच्च, **असत्प्रमाणप्रसिद्धित** इत्यस्य **विरोधस्याऽसत्त्वे प्रमाणप्रसिद्धेः** = विरोधाभावप्रमाणप्रसिद्धे. इत्यर्थः विरोधस्य प्रतियोगितासम्बन्धेनाऽसत्त्वे, तस्य च विषयतासम्बन्धेन प्रमाणेऽन्वय तस्याऽपि विषयतासम्बन्धेन प्रसिद्धान्वय । कथ तत्प्रसिद्धि । इत्याशङ्काया प्रदर्शितार्थदार्ढ्याय वदन्ति- **तथाहीति** । **नित्याऽनित्यत्वे** इति पक्षनिर्देश· । साध्यमाहु **न विरुद्धे** इति । विरुद्धत्वाभाव साध्यम् । **भिन्नावच्छेदेनैकत्र विशेषदर्शिना प्रतीयमानत्वादिति** हेतुनिर्देश । **सयोग-**

ज्यो कि त्यो वनी रहती है, उत्पत्ति प्रातिपदिक = नाम पचमी विभक्ति से अवरुद्ध है और उसके अर्थ का अन्वय पष्ठी विभक्ति के अर्थ मे किया गया है, क्योकि 'इतर की उत्पत्ति का अभाव होने से' ऐसा अर्थघटन करने. से स्पष्ट होता है कि उत्पत्तिपदार्थ मे पष्ठी विभक्ति के अर्थ का अन्वय होता है, न कि पचमी विभक्ति के, जो स्ववाचकपद के अव्यवहित उत्तर मे है, अर्थ का अन्वय । उक्त न्यायसूत्र मे जैसे उपर्युक्त नियम का त्याग किया जाता है ठीक वैसे ही 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित.' यहाँ भी प्रमाणप्रसिद्धि मे पष्ठी विभक्ति के अर्थ का अन्वय भी हो सकता है । जो समाधान नैयायिक की ओर से 'नामूढस्येतरोत्पत्ते.' सूत्र की व्याख्या मे किया जायेगा, वही समाधान 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित.' की व्याख्या मे भी समान होगा । अत. उपदर्शित दिशा से व्याख्या करना सगत प्रतीत होता है'' ।

अपरे इति । यहाँ अन्य विद्वानो की यह राय है कि —> 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित· मे 'अ'शब्द निपात है, जिसका अर्थ प्रतिपेध = अभाव है, क्योकि 'अ-मा-नो-ना प्रतिपेधे' इस अनुशासन से 'अ'शब्द का अर्थ प्रतिपेध = अभाव है - यह प्राप्त होता है । इसलिए 'असत्प्रमाणप्रसिद्धित.' का अर्थ होगा सत्प्रमाणप्रसिद्धि का अभाव होने से । इस तरह स्वप्रकृति के अर्थ से अन्वित अभाव और पचमी विभक्ति के अर्थ मे परस्पर अन्वय करने पर उपर्युक्त अर्थ फलित होता है - यह तात्पर्य है' <— ।

पर इति । दूसरे मनीपियो का यह वक्तव्य है, कि सत्पद भावपरक है यानी सत्शब्द का अर्थ सत्तावान् नही किन्तु सत्ता है । अत. असत्पद का अर्थ असत्त्व = अभाव । 'विरोधस्य' इस पद का अध्याहार करने पर अर्थ यह होगा कि विरोध के अभाव मे प्रमाण प्रसिद्ध होने से अर्थात् विरोधप्रतियोगिकाभावविपयक प्रमाण की प्रसिद्धि होने से नित्यत्व और अनित्यत्व आदि दो धर्म परस्पर अविरोधी है । यहाँ यह शका नही करनी चाहिए कि —> 'विरोधाभावविपयक प्रमाण कौन है ? उसका स्वरूप क्या है ?' <— क्योकि अनुमान प्रयोग से ही विरोधाभाव की सिद्धि होती है । वह इस तरह - नित्यत्वानित्यत्व दो धर्म परस्पर विरुद्ध नही है, क्योकि वे विशेपदर्शी पुरुप से एक धर्मी मे भिन्न अवच्छेदेन प्रतीयमान है, जैसे सयोग और सयोगाभाव । एक ही वृक्ष मे शाखाअवच्छेदेन कपिसयोग ओर मूलावच्छेदेन कपिसयोगाभाव की प्रतीति होने से वे परस्पर विरुद्ध = परस्पर के अनधिकरण मे ही रहने वाले नही है । ठीक इसी तरह एक ही घट मे द्रव्यतावच्छेदेन नित्यत्व ओर घटत्वा-वच्छेदेन अनित्यत्व प्रतीयमान होने से वे एक धर्मी मे परस्परविरुद्ध नही है, यह सिद्ध होता है । विरोधग्राहक

तदभाववत् । विरोधग्राहकमनुमानादिकं त्वप्रयोजकत्वाद् दुर्बलमिति भावः ।

ननु भवतु प्रागुक्तदिशा नित्यानित्यत्व-भेदाभेदयोरेकत्र वृत्तित्वं, सत्त्वासत्त्वादीनां तु नैवमिति चेत् ? न, सत्त्वमिह न सत्ताजातिमत्त्वं, जात्यादिष्वपि तद्व्यवहारात् । नापि तया सहैकार्थवृत्तित्व, तदपेक्षया वृत्तित्वमात्रस्यैव तत्त्वौचित्यात्, 'अभाव सन्' इत्य(पि) व्यवहाराच्च । अत एव न प्रामाणिकत्वं वर्तमानकालसम्बन्धित्व वा तत्, अतीतघटेऽपि सत्त्व-

❀ जयलता ❀

तदभाववदिति दृष्टान्तनिर्देश । यथैकत्रैव वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसयोग मूलावच्छेदेन कपिसयोगाभावश्च प्रतीयेते इति न विरुद्धे तथैवैकत्र घटे द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्वसाप्रतियोगित्वलक्षण नित्यत्व घटत्वावच्छेदेन ध्वसप्रतियोगित्वलक्षणमनित्यत्वञ्च प्रतीयेते इति न परस्परविरुद्ध इति भाव । 'घटो घटत्वेन ध्वस्तो न तु द्रव्यत्वेनाऽपी'ति प्रतीतिस्तु प्रागुपदर्शितैव समर्थिता चेति न पुन तत्राऽस्माक यत्न । नित्यत्वानित्यत्वयो विरोधग्राहक अनुमानादिक तु अप्रयोजकत्वात् = विपक्षबाधकतर्कादिशून्यत्वात्, दुर्बल = विरोधसाधनायाऽकिञ्चित्करम् । एतेन बाध-सत्प्रतिपक्षादयो दोषा प्रतिक्षिप्ता ।

पर शङ्कते- नन्विति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वय । अभ्युपगमवादेनाऽऽह- भवत्विति । प्रागुक्तदिशा = प्रथमकारिकाव्याख्यानोक्तरीत्या नित्यानित्यत्वभेदयो· युगलयो एकत्र एकस्मिन् धर्मिणि वृत्तित्व = समावेश·, सत्त्वासत्त्वादीना = सत्त्वासत्त्व-सामान्यविशेषाभिलाप्यत्वानभिलाप्यत्वादियुगलाना तु नैव = नैकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वमस्त्व, सत्ताजात्यादे व्याप्यवृत्तित्वेन तदविरोधग्राहकप्रमाणप्रसिद्धिविरहादिति शङ्काशय ।

प्रकरणकृन्निराकुरुते- नेति । सत्त्व = सत्त्वपदप्रतिपाद्य इह प्रकृतविचारे न सत्ताजातिमत्त्व अभिमत, कुत ? इत्याह- जात्यादिष्वपि सत्ताजातिशून्येषु तद्व्यवहारात् = सत्पदप्रयोगात् । 'जाति सती, विशेष सन्' इत्यादिनिराबाधव्यवहारप्रसिद्धे तत्साधारणसत्त्वपदार्थकल्पनाया आवश्यकत्वान्न सत्ताजातिमत्त्व सत्त्वपदप्रतिपाद्यम् । यदि च परेण जात्यादावव्याप्तिव्यपोहाय सत्तासामानाधिकरण्य सत्त्वपदवाच्यमित्यभ्युपगम्यते तदाऽऽह- नापीति । तया = सत्ताख्यजात्या, सह एकार्थवृत्तित्वं = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्व सत्त्वपदवाच्य, जात्यादे सत्ताजातिमति वृत्तित्वेऽपि तदपेक्षया = सत्ताधिकरणनिरूपितवृत्तित्वापेक्षया लाघवेन वृत्तित्वमात्रस्यैव तत्त्वौचित्यात् = सत्त्वपदार्थत्वौचित्यात् । इत्थञ्च लाघवेन वृत्तित्वस्यैव सत्त्वपदार्थत्वाभ्युपगमेऽपि जात्यादिष्वपि सत्त्वव्यवहारोपपत्ते न सत्तया सहैकाधिकरणवृत्तित्व तदर्थत्वेनाऽङ्गीकर्तुमर्हतीति भाव । दोषान्तरमाह- 'अभाव. सन्' इत्यपि व्यवहाराच्च । सत्तया सहैकाधिकरणवृत्तित्वस्य सत्त्वपदार्थत्वेऽभ्युपगम्यमाने तु जात्याद्यधिकरणकाभावविषयक-सत्त्वव्यवहारो न सम्भवति, जात्यादौ सत्ताजातेरनङ्गीकारेण तद्वृत्त्यभावे सत्ताधिकरणनिरूपितवृत्तित्वविरहात् । न च समवाय-तादात्म्यान्यतरसम्बन्धेन सत्ताविशिष्टनिरूपितवृत्तित्वस्य तत्त्वमिति वाच्यम्, तथापि विशेषादौ यो घटाद्यभाव तद्गोचरसत्त्व-व्यवहारानुपपत्ते । अत एव न प्रामाणिकत्व वर्तमानकालसम्बन्धित्व वा तत् = सत्त्व, अतीतघटेऽपि = विनष्टघटेऽपि,

---

एकान्तवादिप्रदर्शित अनुमान आदि मे प्रयुक्त हेतु आदि अप्रयोजक = विपक्षबाधकतर्कशून्य होने से दुर्बल है । अत. उनसे प्रदर्शित अनुमान मे सत्प्रतिपक्ष दोष का उत्थापन नही किया जा सकता । इसलिए प्रदर्शित अनुमान प्रमाण से नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद, सत्त्व-असत्त्व आदि धर्म मे परस्पर अविरोध की सिद्धि होती है - यह तात्पर्य है ।

ननु भ इति । यहाँ इस समस्या का कि --> 'एक धर्मी मे पूर्वोक्त रीति से भले नित्यत्व और अनित्यत्व तथा भेद और अभेद रहे मगर सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म मे तो एक धर्मी से निरूपित वृत्तिता नही हो सकती, क्योंकि उसमे कोई प्रमाण नहीं है । जब कि तथाविध प्रमाण नही है तब सत्त्व-असत्त्व आदि मे एकधर्मिनिरूपित वृत्तिता कैसे सिद्ध होगी ?' <-- यह समाधान है कि यहाँ सत्त्व का मतलब सत्तात्मकजातिमत्त्व नहीं है, क्योकि जाति आदि मे भी सत्त्व का व्यवहार होता है । सत्ता होने की वजह सत्पद का प्रयोग माना जाय तो 'जाति सती, विशेष. सन्' इत्यादि व्यवहार नही हो सकेगा, क्योकि उनमे सत्ता नहीं रहती है । सत्ता तो केवल द्रव्य, गुण, कर्म मे ही रहती है । अत सत्ताजातिमत्त्व को सत्त्वपदार्थ नहीं माना जा सकता । यहाँ यह नही कहा जा सकता कि --> 'सत्त्वपद का अर्थ सत्ता जाति के अधिकरण मे रहना यानी सत्ताअधिकरणवृत्तित्व है । वह तो जाति आदि मे भी है, क्योकि जाति मे स्वय सत्ता जाति न रहने पर भी जाति तो सत्ता के अधिकरण मे रहती है । अत जहाँ जहाँ सत्पद का प्रयोग होगा वहाँ सत्ता जाति के साथ एक अधिकरण की वृत्तिता अवश्य रहेगी, जो सत्त्वपद का अर्थ है' <-- क्योकि सत्ता जाति के साथ एकाधिकरण मे रहना =

व्यवहाराच्च । किन्तु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं सत्त्वं निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्वञ्चाऽसत्त्वमिति । तदुभयमपि घटादौ स्व-परद्रव्यचतुष्टयावच्छेदेन प्रत्यक्षत एव प्रतीयते । प्रतीयन्ति हि पामरा अपि 'घट· कपाले सन्न तु तन्तुष्वि'ति ।

अथ सत्ता जातिरेव प्रत्यक्षवेद्या योग्यत्वान्न तु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं, अयोग्यघटित-

❀ जयलता ❀

सत्त्वव्यवहाराच्च । तर्हि सत्त्वस्याऽसत्त्वस्य च किं स्वरूपं ययोरेकत्र वृत्तित्वसाधनार्थमयमुपक्रम. ? इत्याशङ्कायामाह- किन्त्विति । विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्व = अस्तित्वप्रकारकज्ञानविषयत्व, सत्त्व = सत्त्वपदप्रतिपाद्य, निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्व = नास्तित्वप्रकारकधीगोचरत्व चाऽसत्त्व = असत्त्वपदवाच्यमिति । तदुभय दर्शितविषयताद्वय अपि एकस्मिन् घटादौ स्वपर-द्रव्यचतुष्टयावच्छेदेन प्रत्यक्षत एव प्रतीयते, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावावच्छेदेन सत्त्व परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावावच्छेदेन चाऽसत्त्व अध्यक्षत एव ज्ञायेते । तदेव समर्थयति - प्रतीयन्ति हि पामरा अपि 'घटः कपाले सन्न तु तन्तुष्विति । उपलक्षणात् 'घट. काशीयत्वेन सन्न तु प्रयागीयत्वेने'त्यादेर्ग्रहणम् ।

अत्र सोपयोगित्वात् लघुस्याद्वादरहस्यस्थपाठ. दर्श्यते । तदुक्त तत्र –> "सर्व हि वस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया सत् परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च न सत् । व्यवहरन्ति हि 'घटोऽय मार्त्तत्वेन काशीयत्वेनाऽद्यतनत्वेन रक्तत्वेन चास्ति, न तु ग्रावीयत्वेन प्रयागीयत्वेन श्वस्तनत्वेन श्यामत्वेन चे'ति । नन्वेतादृशमसत्त्व व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपर्यवसन्नमिति चेत् ? किं तावता ? तादृशाभावे मानमेव नास्तीति चेत् ? न, 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतेरेव तत्र मानत्वात् । यत्किञ्चि-द्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व यत्र तृतीयान्ताल्लभ्यते तत्र प्रकारीभूततद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैव व्युत्पत्तिबललभ्यत्वात् । कथमन्यथा 'घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती'त्यादिप्रतीतेरपि प्रामाण्यम् ? प्रत्यक्षे हि येन रूपेण प्रतियोगिनोऽनुपलम्भ तद्धर्मावच्छिन्ना प्रतियोगिता ससर्गमर्यादया भासते, तादृशधर्म एव च तृतीयान्तेनोल्लिख्यते इति । घटास्तित्वञ्च प्रदेशपुञ्जपरिणमन-रूप मार्त्तत्वेन न विरुद्धम् । न च समयकालस्याऽनवच्छेदकत्वाद् द्रव्यादिचतुष्टयबाध., तत्र प्रतीतिबलात् स्वस्यैव स्वास्तित्वा-वच्छेदकत्वात् । अथ यदेव स्वरूपेणाऽस्तित्व तदेव पररूपेण नास्तित्वमिति द्वयमेव तावत्प्रदर्शनीयमिति चेत् ? नयनमुन्मीलय, ग्रावत्वेन नास्तित्ववति पटादौ किं मार्त्तत्वेनाऽस्तित्वमुपलब्धवानसि ? मार्त्तत्व-मार्त्तभिन्नत्वाभ्यामस्तित्व-नास्तित्वयो. तथाप्यद्वैत-मेवोपलभे इति चेत् ? तत्किं तत्तन्निमित्तापेक्षाकृतविशेष ज्ञातवानसि ? साहजिकभेदयाञ्चा तु पृथग्द्रव्ययोरेवोचिता" <– (ल स्या रह पृ १९) इति ।

पर. शङ्कते - अथेति । अयोग्यघटितत्वेन चाक्षुषाद्ययोग्यप्रत्ययघटितत्वेन विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वस्यापि अयोग्यत्वात् = चाक्षुषाद्ययोग्यत्वात् । तत. सत्ताजातिमत्त्वस्यैव सत्त्वपदार्थत्वमस्तु न तु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वस्येति नैयायिकाभिप्राय ।

वृत्तित्व को सत्त्वपदार्थ मानने की अपेक्षा वृत्तित्व को ही सत्त्वपदार्थ मानना मुनासिब है, क्योकि इसमे लाघव है । दूसरी बात यह है कि 'अभाव. सन्' यानी 'अभाव विद्यमान = वृत्ति है' ऐसा व्यवहार भी होता है । मगर अभाव मे सर्वत्र सत्ता के अधिकरण मे वृत्तिता का भान नही होता हे । जाति आदि मे भी घटाभाव आदि का भान होता हे, मगर जाति मे सत्ता जाति नही रहती है । अतः सत्त्वपद का अर्थ वृत्तित्वमात्र है, न कि सत्ता के साथ एक अधिकरण मे वृत्तित्व- यह फलित होता है । इसलिए प्रामाणिकत्व या वर्तमानकालसबन्धित्व को भी सत्त्वपदार्थ नही माना जा सकता, क्योकि विनष्ट घट आदि मे भी सत्त्व का व्यवहार होता है । अतीत घट आदि मे प्रामाणिकत्व या वर्तमानकालसबद्धत्व नही है, फिर भी वहाँ सत्त्व का व्यवहार होता हे । इसलिए यही मानना उचित हे कि विधिमुख ज्ञान से वेद्यता ही सत्त्वपदार्थ है ओर निषेधमुख ज्ञान से वेद्यता यानी निषेधमुख ज्ञान की विषयता ही असत्त्वपदार्थ है । एक ही घट मे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावा-वच्छेदेन विधिमुख प्रत्यक्ष की विषयता ओर परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावावच्छेदेन निषेधमुख प्रत्यक्ष की विषयता प्रसिद्ध ही है । आबाल-गोपाल यह प्रतीति प्रसिद्ध हे कि 'घट कपाल (मिट्टी) मे सत् है, न कि ततु मे' । इस प्रतीति से 'कपालावच्छेदेन घट विधिमुख ज्ञान का विषय है ओर ततुअवच्छेदेन निषेधमुख प्रतीति का विषय है' यह सिद्ध होता है । अत एक ही प्रतीति से एक घट मे सत्त्व ओर असत्त्व का निवेश मुमकिन है । अतः उन्हे परस्पर अविरोधी मानना चाहिए ।

अथ स इति । यहाँ यह नैयायिक वक्तव्य कि –> "सत्ता जाति ही विधिमुख प्रत्यक्ष प्रमाण से वेद्य है, क्योकि वह योग्य हे । विधिमुखप्रतीतिवेद्यत्व को प्रत्यक्ष से वेद्य नही माना जा सकता, क्योकि वह अयोग्य पदार्थ से घटित होने

त्वेनाऽयोग्यत्वादिति चेत् ? न, योग्यताविशेषेण तादृशस्यापि क्वचित्कस्यचिद् योग्यत्वात् ।

एवं सामान्य-विशेषात्मकत्वमपि । स्वभावादेव हि घटोऽनुवृत्तिधियं जनयति, न तदर्थमतिरिक्तसामान्यकल्पनमुचितम्, यतः तदप्येकमेव सत् पटादौ किं नाऽनुवृत्तिधियं जनयेत् ? 'धर्मिताविशेषेण तत्र तन्नास्ती'ति चेत् ? धर्मिताविशेषेणैव तर्हि सामान्यस्याऽनुगतधीनियामकत्वं मन्वानस्तादात्म्येनैव तस्य तथात्वं किं नाऽभ्युपैषि, तवाऽन्योन्या-

❀ जयलता ❀

प्रकरणकारस्तन्निराकरोति- नेति । योग्यताविशेषेण = योग्यताविशेषबलेन तादृशस्यापि = अयोग्यघटितस्यापि क्वचित् कस्यचित् पुरुषादेः विशेषणस्य ज्ञातु योग्यत्वात् । 'विनष्टचैत्रस्याऽयं पुत्र' इत्यादौ विशेषणस्याऽयोग्यत्वेऽपि तद्विशिष्टस्य योग्यत्वेन यथा कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं भवति तद्वदेव प्रकृतेऽपि बोध्यम् । एतेन सत्ताजातिशून्यत्वमेव प्रत्यक्षवेद्यं न तु निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्वं, तस्याऽयोग्यघटितत्वेनाऽयोग्यत्वादित्यपि परास्तम् ।

एवं = नित्यत्वानित्यत्वादिविरोधग्राहकप्रमाणप्रसिद्धिविरहात् वस्तुनो नित्यानित्यत्वाद्यात्मकत्वमिव सामान्य-विशेषात्मकत्वमपि निराबाधम् । परेण सामान्य-विशेषयोरतिरिक्तत्वस्वीकारात्तन्निरासकृते आह- स्वभावादेव हि असाधारणार्थ. घटोऽनुवृत्तिधियं = 'अयं घट ', 'अयं घट' इत्याद्याकारकान्वयबुद्धिं जनयति इति हेतोः न तदर्थं = अनुगतप्रतीति-निर्वाहाय, अतिरिक्तसामान्यकल्पनं = घटादिव्यतिरिक्तस्य घटत्वादिसामान्यस्य कल्पनं उचितम् । तदतिरेके बाधकमुपदर्शयति - यतः तदपि अनन्तव्यक्तिनिष्ठं तद्भिन्नं घटत्वादिसामान्यं अपि एकमेव स्वीकृतं सत् पटादौ व्यक्तौ किं नानुवृत्तिधियं जनयेत् ? जनयेदेव. पदार्थान्तरभूतस्य घटत्वादिसामान्यस्य तत्सम्बन्धस्य च समवायरूपस्य परेण सर्वगतत्वेनाभ्युपगमात् ।

ननु समवायस्यैकत्वेन रूपरसादिसमवायवति पटादौ घटत्वादिसमवायसत्त्वेऽपि समवायेन न घटत्वादिसत्ता, तदाधारताया घटादिस्वरूपत्वादिति नोक्तदोष इत्याशयेन पर आह- धर्मिताविशेषेण घटानुयोगिकत्वविशिष्टसमवायसम्बन्धेन तत्र = पटादौ, तत् = घटत्वसामान्यं, नास्तीति न तत्रानुगतधीरिति परेणोच्यते चेत् ? तदा प्रकरणकृदाह- धर्मिताविशेषेण सम्बन्धेन एव तर्हि सामान्यस्य अनुगतधीनियामकत्वं मन्वानो गौतमीय त्वं तादात्म्येनैव सम्बन्धेन तस्य सामान्यस्य तथात्वं अनुगतबुद्धिजनकत्वं किं नाभ्युपैषि ? विषयतासम्बन्धेनाऽनुगतधियं प्रति तादात्म्येन सामान्यस्य जनकत्वमुचितं न तु घटानुयोगिकत्वविशिष्टसमवायरूपेण धर्मिताविशेषसम्बन्धेनेति स्याद्वादिवक्तव्यार्थः । तत्साधकमाह- तव नैयायिकस्य अन्योन्याभाव-

से अयोग्य है'' <— ठीक नहीं है, क्योंकि अयोग्यघटित होने पर भी योग्यताविशेष की वजह निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्व भी कभी किसी के लिए योग्य होता है ।

❦ वस्तु सामान्य-विशेषोभयात्मक है ❦

एवं सा इति । जैसे वस्तु सत्त्वासत्त्वोभयात्मक है, ठीक वैसे ही सामान्य-विशेषउभयात्मक भी है । घट अपने स्वभाव से ही अनुवृत्तिप्रत्यय = अनुगत बुद्धि को उत्पन्न करता है । हजारों घट में 'यह घट है', 'यह घट है' इत्याकारक अनुगत बुद्धि का निर्वाह घट के स्वभावविशेष से, जो घट से अभिन्न है, ही उपपन्न हो जाने से तदर्थ घट में अतिरिक्त नित्य जाति = सामान्य की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि घटत्वादि सामान्य तो एक एवं नित्य है और उसका सम्बन्ध समवाय भी नित्य और सर्वगत है । अतः अनेक घट की भाँति पट आदि में भी अनुगत बुद्धि उत्पन्न होने की समस्या खड़ी होती है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''समवाय एक नित्य और व्यापक होने से घटत्वसामान्य का समवाय तो पट आदि में भी है, मगर घटानुयोगिक समवाय सम्बन्ध से घटत्ववत्ता वहाँ नहीं है, क्योंकि तादृशाधारता घटस्वरूप होने से पटादि में नामुमकिन है । इस तरह धर्मिताविशेष सम्बन्ध से घटत्वसामान्य पटादि में नहीं होने से पटादि में 'अयं घट ', 'अयं घट.' इत्यादि अनुगत बुद्धि होने की आपत्ति नहीं है'' <— तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि धर्मिताविशेष सम्बन्ध से अतिरिक्त सामान्य को अनुगत बुद्धि का नियामक मानने की अपेक्षा तादात्म्य सम्बन्ध से ही सामान्य को अनुगत बुद्धि का नियामक क्यों न माना जाय ? मतलब कि घट को ही सामान्यात्मक मान कर उसे ही 'अयं घट ', 'अयं घट ' इत्याकारक अनुगत बुद्धि का नियामक मानना युक्त है । ऐसा मानने में लाभ यह है कि विषयता सम्बन्ध से होने वाली अनुगत बुद्धि के प्रति सामान्य में तादात्म्य सम्बन्ध से कारणता का स्वीकार होने से

भावगर्भव्याप्तिप्रवेशेन कारणतायां लाघवं किं न प्रतिसन्धत्से ?

अथ व्यक्तितादात्म्ये सामान्यमनेक सत् सामान्यरूपतामेव जह्यादिति चेत् ? तर्ह्युपाधयोऽपि किं तन्न जह्युः ? 'तेषामपि परम्परया जातिरूपतयैकत्वमिति चेत् ? तर्हि अत्राऽप्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपं सङ्ग्रहनयार्पणया सम्भवदेकत्व क. प्रतिक्षिपति ?

❀ जयलता ❀

गर्भव्याप्तिप्रवेशेन कारणतायाः = कारणताशरीरे **लाघवं किं न प्रतिसन्धत्से** ? अय भाव. भेदसम्बन्धेन कारणतास्वीकारे तदभाववदवृत्तित्वरूपाया व्याप्तेः स्वीकार कर्तव्य' स्यात्, अभेदसम्बन्धेन तदङ्गीकारे तु तदन्याऽवृत्तित्वरूपाया व्याप्तेरभ्युपगन्तव्यत्वेन लाघवम्, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावभिन्नाऽभावत्वरूपात्यन्ताभावत्वाऽपेक्षया तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वरूपान्योन्याभावत्वस्य लघुशरीरत्वात् । अत. तादात्म्येनैव सामान्यस्य कारणत्व युक्त, न तु समवायेन । ततश्च व्यक्त्यतिरिक्तसामान्याऽभ्युपगमस्याऽप्रामाणिकत्वमिति स्थितम् ।

पर शङ्कते- **अथेति** । सामान्यस्य **व्यक्तितादात्म्ये** = व्यक्त्यभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे तु व्यक्तीनामनेकत्वेन तदभिन्नत्वात् **सामान्य** अपि **अनेक सत् सामान्यरूपता** = अनुगतबुद्धिजनकता **एव जह्यात्**, सामान्यस्य नानात्वप्रसक्त्या अननुगतत्वापत्तेरिति नैयायिकाभिप्राय. । समाधानावतरणिकायै प्रकरणकृत् पर्यनुयुङ्क्ते- **तर्हीति** । **उपाधयोऽपि** अनेकत्वेनाऽननुगतत्वात् **किं तत्** = अनुगतबुद्धिजनकत्व **न जह्युः** ? न ह्येकमेव चेष्टाश्रयत्वलक्षण शरीरत्वमनेकशरीरेषु वर्तते न वा बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वस्वरूप भूतत्वमेकमेव पृथिव्यादिषु वर्तते । तथापि तत्रानुगतबुद्धिजनकत्वमस्त्येव तद्वत् सामान्यस्य व्यक्त्यभिन्नत्वेन नानात्वेऽप्यनुगतबुद्धिजनकत्वमुपपत्स्यत इति प्रकरणकृदभिप्राय ।

पर स्वाशयमावेदयति- **तेषा** = उपाधीना **अपि परम्परया** = परम्परासम्बन्धेन **जातिरूपतया एकत्वमिति** नानुगतधीजनकत्वानुपपत्ति. । प्रकरणकृदाह- **तर्हीति** । **अत्र** व्यक्त्यभिन्नसामान्ये **अपि अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूप सङ्ग्रहनयार्पणया** = सङ्ग्रहनयविवक्षया **सम्भवदेकत्व कः प्रतिक्षिपति** ? दर्शितैकत्वस्य व्यक्त्यात्मकसामान्येऽपि सम्भवेन नानुगतबुद्धिजनकत्वानुपपत्तिरित्यपि तुल्यम् ।

अन्योन्याभावगर्भित व्याप्ति का प्रवेश होगा, जो अत्यन्ताभावगर्भित व्याप्ति की अपेक्षा लघुभूत है । इस लाघव की वजह तादात्म्य सम्बन्ध से हे घटात्मक सामान्य को अनुगत बुद्धि का कारण मानना उचित है न कि समवाय सम्बन्ध से घटत्व को । आशय यह हे कार्य व्याप्य होता है और कारण व्यापक होता हे । यदि समवाय सम्बन्ध से सामान्य को कारण मानने पर तदभाववदवृत्तित्वस्वरूप व्याप्ति अनुगतबुद्धिस्वरूप कार्य मे माननी होगी । मगर तादात्म्य सम्बन्ध से सामान्य को कारण मानने पर तदन्याऽवृत्तित्वात्मक व्याप्ति उक्त कार्य मे माननी होगी, जो लघुभूत है । व्याप्ति मे तत् शब्द से सामान्य का ग्रहण अभिमत हे और व्याप्यताअवच्छेदक सम्बन्ध विषयता है। सामान्यभिन्न मे विषयता सम्बन्ध से अनुगत बुद्धि अवृत्ति होती है । निष्कर्ष . सामान्य और घट के बीच तादात्म्य सम्बन्ध हे, न कि समवाय ।

अथ व्य इति । यहाँ नैयायिक को यह शका हो कि —> 'सामान्य को व्यक्ति से अभिन्न मानने पर तो घटादि व्यक्ति अनेक होने से तदभिन्न सामान्य भी अनेक हो जायेगा । तब तो वह अननुगत होने से सामान्यात्मकता का ही त्याग कर देगा । अतः सामान्य और व्यक्ति के बीच तादात्म्य सम्बन्ध मानने के बजाय समवाय सम्बन्ध मान कर उन्हे परस्पर भिन्न ही मानना चाहिए' <— तो इसके खिलाफ नेयायिक के सामने यह समस्या भी खडी हो जायेगी कि —> ''उपाधि भी अननुगत होने की वजह अनुगतबुद्धिजनकता का क्यो त्याग न करेगी ? कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप उपाधि अननुगत होने से 'कम्बुग्रीवादिमान् अय', 'कम्बुग्रीवादिमान् अय' इत्यादि अनुगत बुद्धि की जनकता उपाधि मे कैसे मुमकिन होगी ?'' <— यदि इस समस्या का समाधान करने के लिए नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''उपाधियाँ अननुगत होने पर भी परम्परासम्बन्ध से जातिस्वरूप होने से एकपने का त्याग नही करने से अनुगत ही हे । अत' कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप उपाधि से अनगुतबुद्धिजनकता उपपन्न हो सकती है'' <— तो स्याद्वादी की ओर से भी यह कहा जा सकता हे कि सामान्य को घटादिव्यक्तिस्वरूप मानने पर भी सग्रह नय को प्रधान बनाने पर अपेक्षाबुद्धिविशेष की विषयतास्वरूप एकत्व तो अननुगत घटादिव्यक्तिस्वरूप सामान्य मे भी मुमकिन है । इस तरह सामान्य अनुगत सिद्ध हो सकता है, तो फिर क्यो उसमे अनुगतबुद्धिजनकता नामुमकिन होगी या उसका केसे त्याग होगा ? अत सामान्य और व्यक्ति के बीच तादात्म्यसम्बन्ध मानने पर भी अनुगत बुद्धि की उपपत्ति

एकत्वसङ्ख्यावत्त्व तु जातौ तवाऽपि नास्ति । 'अनेकस्य कथमेकत्वमि'ति चेत् ? स्वभावादेवेति ब्रूमः ।

अथानुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वनियमाद् घटत्वावच्छिन्नबुद्धौ घटत्वस्यानुगतस्यैव हेतुत्वौचित्यमिति चेत् ? न, लाघवेन व्यञ्जकत्वाभिमतानामुपाधीनामेव तत्त्वस्वीकारौचि-

❀ जयलता ❀

ननु व्यक्तिस्वरूपसामान्ये वर्तमानस्याऽपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपस्यैकत्वस्य गौणत्वेन न ततोऽनुगतधिय उपपत्तिरित्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह- एकत्वसङ्ख्यावत्त्व तु जातौ तव = नैयायिकस्य अपि नास्ति, जातेर्निर्गुणत्वात् । तद्वदेव प्रकृतेऽपि भावनीयम् ।

ननु सामान्यस्य व्यक्तितादात्म्ये व्यक्तीनामनेकत्वेन सामान्यस्याऽपि नानात्वप्राप्तौ कथ तत्र दर्शितैकत्व तत्प्रतीतेर्वा प्रामाण्य सम्भवेदित्याशयेन पर शङ्कते- अनेकस्येति । तत्समाधानमिद - स्वभावादेवेति वय स्याद्वादिनो ब्रूमः । व्यवहारनयेनाऽनेकस्यापि सतो वस्तुन सङ्ग्रहनयग्राह्यस्वभावादेकत्वमपि निरवाधम् । अत एव स्याद्वादाऽविरोधेनकत्वाऽपि धर्मभेदोपरागेणैकत्व-द्वित्वयोरविरोधमभिप्रेत्य 'एगे भव दुगे भवमि'ति सोमिलप्रश्ने 'दव्वट्ठयाए एगे अह नाणदसणट्ठयाए दुवे अहमि'ति (भग सू ६४८) प्रत्युवाच परमेश्वर. । तत्र सङ्ग्रहनयाभिप्रायेण प्रथममुत्तर द्वितीयञ्च व्यवहारनयाभिप्रायेणेति विभाव्यम् ।

अतिरिक्तसामान्यवादी नैयायिक पुनराशङ्कते- अथेति । अनुगतकार्यस्य अनुगतकारणजन्यत्वनियमात् अन्यथा कार्याऽऽकस्मिकत्वापत्ते घटत्वावच्छिन्नबुद्धौ = 'घटोऽय घटोऽयमि'त्यनुगताकारप्रतीतौ, घटत्वस्य अनुगतस्यैव प्रति घट वर्त्तमानस्यैव विषयविधया हेतुत्वौचित्यम् । एतेनातिरिक्तानुगतसत्तादिसिद्धिरपि प्रदर्शिता सर्वत्रानुगताकारप्रतीतीनामेकविषयत्वौचित्यात् 'सत्सदि'ति 'द्रव्यमि'त्यादिप्रतीतिभि सत्त्वद्रव्यत्वाद्यतिरिक्तानुगतसामान्यसिद्धेरिति गौतमीयाभिप्राय ।

प्रकरणकृत्तन्निराकुरुते - नेति । अतिरिक्त-घटत्वादिसामान्य परिकल्प्याऽपि सकलघटादिषु तज्ज्ञानार्थ कम्बुग्रीवादिमत्त्वादीनामुपाधीना तद्व्यञ्जकत्वेन कल्पनावश्यकत्वे तु लाघवेन व्यञ्जकत्वाभिमताना = जातिज्ञानजनकत्वेन योगाभीष्टाना, उपाधीनामेव तत्त्वस्वीकारौचित्यात् = 'घटोऽय, घटोऽयमि'त्याद्यनुगताकारकप्रतीतिजनकत्वाऽभ्युपगमस्य न्यायोचितत्वात्,

होने से उन दोनो के बीच समवाय सम्बन्ध का स्वीकार करना ठीक नही है । यहाँ यह भी शका करना कि –> 'सग्रह नय की दृष्टि से अनेक व्यक्तिस्वरूप सामान्य मे अपेक्षाबुद्धिविशेष की विषयताविशेषात्मक एकत्व तो गौण है, न कि मुख्य । अत अनुगत प्रतीति का निर्वाह गौण एकत्व से कैसे हो सकता है ?' <– नामुनासिब है, क्योंकि नैयायिकसमत घटत्व आदि सामान्य मे भी एकत्व सख्या मुख्य नही होने से उसको भी घटत्व आदि सामान्य मे गौण एकत्व का ही स्वीकार करना होगा । नैयायिकमतानुसार केवल द्रव्य मे ही एकत्व सख्या आदि गुण रहते है । अत जाति = सामान्य मे अनुगत प्रतीति का निर्वाहक एकत्व गौण ही मानने को उसे मजबूर होना पड़ता है । जैसे व्यक्ति से अतिरिक्त सामान्य मे गौण एकत्व होने पर भी अनुगत प्रतीति की उपपत्ति नैयायिक की ओर से की जाती है, ठीक वैसे ही स्याद्वादी की ओर से भी व्यक्तिस्वरूप सामान्य मे अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयतात्मक गौण एकत्व का सग्रह नय की दृष्टि से स्वीकार कर के अनुगत बुद्धि की उपपत्ति की जा सकती हे । यहाँ यह प्रश्न हो की –> 'व्यक्ति तो अनेक है, तब व्यक्तिस्वरूप सामान्य मे गौण एकत्व भी कैसे हो सकता हे ?' <– तो इसका समाधान यह हे कि स्वभावविशेष से ही अनेक मे भी एकत्व की कल्पना की जा सकती हे, क्योकि सग्रह नय की दृष्टि से घट, पट आदि पदार्थ सत् होने से एक ही है ।

नैयायिकसंमत जाति अप्रामाणिक

अथानु इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जा सकता है कि –> "अनुगत कार्य सदा अनुगत कारण से [illegible] होता हे । इस नियम के बल मे 'अय घट ', 'अय घट ' इत्याकारक घटत्वावच्छिन्नविषयक बुद्धिस्वरूप अनुगत कार्य का अनुगत कारण होना चाहिए और वह सभी घट मे अनुगत एक घटत्व जाति के सिवा और कुछ नही हो सकता । इस तरह 'यह घट हे', 'यह घट हे' इत्याकारक अनुगत बुद्धि का विषयविधया घटत्वात्मक अनुगत कारण जातिरूप मे सिद्ध होता ह । स्वय एक होते हुए अनेक मे रहने वाला ही अनुगत हो सकता हे । अतः सामान्य = जाति व्यक्तिस्वरूप न हो कर उससे अतिरिक्त सिद्ध होता हे" <–

त्यात्, अन्यथा प्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकत्वेन कारणत्वादीनामप्यतिरेककल्पनापत्तेः ।
अथ व्यञ्जकमपि परम्परया सास्नात्वादिकमेवेति नोपाधिभिर्जात्यन्यथासिद्धिरिति चेत् ? तथाप्यनुगतधीनियामकतया सिध्यतः सामान्यस्याऽभावादिसाधारणस्यैव स्वीकर्तु-

❀ जयलता ❀

यद्वा जातित्वाऽङ्गीकारौचित्यादित्यर्थः । **एतेनानुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वनियमोऽपि प्रतिक्षिप्तः**, उपाधीनामननुगतत्वेऽपि 'अस्मिन् घटत्वमस्मिन् घटत्वमि'त्यनुगताकारकधीजनकत्वस्य परेणापि स्वीकृतत्वात् । **अत एव** कम्बुग्रीवादिमत्त्वादीनामुपाधीना परम्परया कम्बुग्रीवत्वादिजात्या अनुगतत्वेन समानाकारकप्रतीतिजनकत्वकल्पनापि **प्रत्युक्ता**, व्यर्थगौरवात्, ऋजुगत्या सिध्यतोऽ-र्थस्य वक्रेण साधनाऽयोगात्, अन्यथा 'तद्धेतोरस्तु किन्तेन !' इतिन्यायस्याऽप्रामाणिकत्वापत्ते । प्रकरणकृद्विपक्षबाधमाचष्टे- **अन्यथेति** । उपाध्यतिरिक्तजात्यङ्गीकारे, यद्वाऽनुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वनियमाऽङ्गीकारे इत्यर्थ । **प्रवृत्त्यादिजनकता-वच्छेदकत्वेन कारणत्वादीनामप्यतिरेककल्पनापत्तेः** । अय भाव अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्याऽव्यवहितपूर्ववर्तित्वरूपस्य कारणत्वस्य प्रतिकारण भिन्नत्वेन प्रवृत्तित्वाद्यवच्छिन्नमनुगतकार्य प्रति कारणत्वजात्यवच्छिन्नस्य हेतुत्व स्वीकर्तव्य स्यात्, परेण अनुगतकार्यस्यानुगतकारणजन्यत्वस्वीकारात् । न चावच्छेदकावच्छेद्ययोरैक्यप्रसङ्गान्न तथास्वीकार इति **वाच्यम्**, उपाधिस्व-रूपावच्छेद्यकारणत्वापेक्षया जातिस्वरूपावच्छेदकीभूतकारणत्वस्य भिन्नत्वसिद्धेरप्रत्यूहात् । एवञ्च कारणाव्यवहितोत्तरवर्त्तित्व-रूपस्य कार्यत्वस्याऽप्यननुगतत्वेन कार्यत्वजात्यङ्गीकारप्रसङ्गोऽपि दुर्निवारः । न चैव परेणाऽपि स्वीक्रियत इति जातेरुपाधि-भिरन्यथासिद्धिरिति निष्कर्ष ।

पर शङ्कते- **अथेति** । जाते **व्यञ्जकमपि परम्परया** = स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन **सास्नात्वादिक** जात्यात्मक एव । स्वपदेन सास्नात्वादिग्रहः, तत्समवायिनि सास्नादौ समवेता या गौ तस्या सास्नात्वादि सामान्य स्वसमवायिसमवेतत्व-ससर्गेण वर्तते तत्रैव च गोत्वसामान्यमपि व्यज्यते तेनेति नोपाधे जातिव्यञ्जकत्व किन्तु जातेरेवेति **नोपाधिभिः जात्यन्यथा-सिद्धिः** = जातेश्चरितार्थत्वमिति नैयायिकाकूतम् ।

यद्यपि परम्परासम्बन्धेन जात्यप्रतिसन्धानेऽप्यनुगतबुद्धेर्दर्शनान्नेद युक्त, व्यर्थगौरवात् **तथापि** एतद्दोषस्य वक्ष्यमाणत्वा-त्साम्प्रत प्रकरणकारोऽभ्युपगमवादेनाऽऽह- **तथापीति** । परम्परया जातेरेव जातिव्यञ्जकत्वाऽङ्गीकारेऽपि, **अनुगतधीनियामकतया** = समानाकारकप्रतीतिजनकविधया **सिध्यतः सामान्यस्य अभावादिसाधारणस्यैव स्वीकर्तुमुचित्वात्** । एतेन सामान्य

न इति । मगर यह नैयायिकवक्तव्य भी नामुनासिव है । इसका कारण यह है कि अतिरिक्त घटत्व आदि व्यापक जाति का स्वीकार करने पर भी घट मे ही घटत्व का भान होता हे, न कि पट आदि मे - इसका निर्वाह करने के लिए 'कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप उपाधि घटत्व जाति की व्यजक = ज्ञानजनक हे' ऐसा नेयायिक मनीपी मानते है । मतलव कि 'अय घट ' इत्यादि समानाकारक प्रतीति के प्रति विपयविधया घटत्व जाति को कारण मानना और घटत्व के ज्ञान के प्रति विपयविधया कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप उपाधि को, जो प्रत्येक घट मे भिन्न-भिन्न होने से अननुगत है, कारण मानना - ऐसी दो कल्पना करने का गोरव होगा । इसकी अपेक्षा तो यही मुनासिव है कि उक्त उपाधि को ही जातिस्वरूप मान कर अनुगत प्रतीति का कारण = नियामक माना जाय, क्योकि इस पक्ष मे अतिरिक्त घटत्व की कल्पना अनावश्यक होने से लाघव है । यदि उपदर्शित रीति से लाघव प्राप्त होने पर भी उपाधि से अतिरिक्त जाति का स्वीकार किया जाय, तव तो प्रवृत्ति आदि की जनकता के अवच्छेदकविधया कारणत्व आदि अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना करने का प्रसग होगा, जो नैयायिक विद्वानो को भी मान्य नही है । अत. उपाधि से ही अनुगत प्रतीति का निर्वाह होने से उसके प्रति जाति अन्यथासिद्ध होती है ।

अथ व्य इति । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> ''जाति की व्यजक उपाधि भी परम्परासम्बन्ध से जातिस्वरूप ही है । वह इस तरह-सभी गाय मे 'यह गाय हे, यह गाय हे' इत्याकारक अनुगत वुद्धि का विपयविधया गोत्व जाति कारण है ओर 'इसमे गोत्व है, उसमे गोत्व है' इत्याकारक गोत्वजातिविपयक वुद्धि का कारण सास्नादिमत्त्व प्रत्येक गाय मे भिन्न भिन्न होने पर भी उसमे सास्नात्व आदि अनुगत है । अतः गोत्व का व्यजक परम्परासम्बन्ध से सास्नात्व आदि ही माना जाता है, जो कि जातिस्वरूप ही है । अत. उपाधि से जाति की अन्यथासिद्धि = चारितार्थता नही हो सकती'' <— तो यह भी नामुनासिव है, क्योकि अनुगत वुद्धि के नियामकविधया सिद्ध होने वाले सामान्य को अभावादि-साधारण मानना ही उचित हे, क्योकि 'यह अभाव हे, यह अभाव है' इत्याकारक वुद्धि भी अनुगताकारवाली ही है । अत

मुचितत्वात्, अन्यथा कारणतावच्छेदकत्वादिनाऽप्यखण्डोपाधेरेव स्वीकारेणोपाधिरेव परम्परासम्बद्धो जातिरित्यस्यापि सुवचत्वात् ।

'उपाधेः कारणताद्यवच्छेदकत्वे नानाविशेषणताना कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वे गौरवात्, जातेस्तथात्वे तु समवायस्यैकस्यैव तत्त्वे लाघवान्नाऽखण्डोपाधिनाऽपि जातिविलयापत्ति'रिति चेत् ? न, विशेषणताया अपि लाघवात्समवायवदेकस्या एव तवाऽभ्युपगन्तुं युक्तत्वात्, नानात्वेऽपि विशेषणतात्वेन तासामनुगमसम्भवाच्च ।

❀ नयलता ❀

द्रव्यगुणकर्मवृत्त्येवेति प्रत्युक्तम्, 'अयं अभावोऽयमभाव' इत्याद्यनुगतप्रतीतेरपि सर्वसिद्धत्वात् । न चाऽभावत्वाऽखण्डोपाधेस्तत्रापि सत्त्वेन नानुगततादृशधियोऽनुपपत्तिरिति वाच्यम्, अन्यत्राऽप्यखण्डोपाधेरेव स्वीकारापातेन त्वदभिमतजातेर्विलयप्रसङ्गादित्याशयेन प्रकरणकृद्विपक्षबाधमाह- अन्यथेति । अभावत्वादिलक्षणाऽखण्डोपाधेरिवाऽभावादावनुवृत्तिधीजनकत्वाऽङ्गीकारे, कारणतावच्छेदकत्वादिनाऽपि अखण्डोपाधेरेव स्वीकारेण = अभ्युपगमसम्भवेन उपाधिरेव परम्परासम्बद्धः जातिरित्यस्यापि सुवचत्वात् । तथा चोपाधिभिर्जातेरुपक्षीणत्वप्रसङ्गो दुर्निवार एवेत्याशयः ।

पर शङ्कते - उपाधेः कारणताद्यवच्छेदकत्वे तूपाधेः स्वरूपसम्बन्धेन वर्तमानत्वात् नानाविशेषणताना कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वे = कारणताद्यवच्छेदकताया अवच्छेदकसंसर्गत्वाभ्युपगमे गौरवात् = तादृशसम्बन्धगौरवात् । न च सम्बन्धगौरवस्याऽदोषत्वान्न क्षतिरिति वाच्यम्, सति लघौ गुरौ तदकल्पनात् । सम्बन्धगौरवनिर्दोषत्वप्रवादोऽपि सम्बन्धशरीरगौरवापेक्षयैव, न तु नानासम्बन्धकल्पनागौरवापेक्षयाऽपि । प्रकृते तु स्वरूपसम्बन्धरूपाया विशेषणताया प्रतिव्यक्ति भिन्नत्वेन नानाविशेषणताना तथात्वे गौरवस्य निर्दोषत्वाऽयोगात् । अपि च जातेः = अतिरिक्तसामान्यस्य तथात्वे = कारणताद्यवच्छेदकधर्मत्वे तु समवायस्यैकस्यैव तत्त्वे = कारणताद्यवच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गत्वे लाघवात् नाऽखण्डोपाधिनापि जातिविलयापत्तिः = जातेरन्यथासिद्धत्वप्रसङ्ग इति नैयायिकाभिप्रायः ।

गन्ध-रस-रूपादिप्रतियोगिपृथिवी-जल-तेजःप्रभृत्यनुयोगिभेदेऽपि यथा समवायो न भिद्यते तथैव विशेष्यादिभेदेऽपि विशेषणता न नानात्वमापद्यत इति त्वया स्वीकर्तुमुचितत्वान्न नानाविशेषणताना कारणताद्यवच्छेदकतावच्छेदकसंसर्गत्वकल्पनागौरवप्रसङ्ग इत्याशयेन प्रकरणकृदुपदर्शितनैयायिकाभिप्रायमपाकरोति- नेति । विशेषणताया इत्यादिकं विभावितार्थमेव । यदि च परो विशेषणताना नानात्वमेव स्वीकुर्यात्तदाऽऽह- नानात्वेऽपि विशेषणतात्वेन तासां = विशेषणताना अनुगमसम्भवाच्च न गौरवप्रसङ्गः ।

विना पक्षपात के द्रव्य, गुण, कर्म की भाँति अभाव आदि में भी जाति का स्वीकार उचित है, अन्यथा कारणतावच्छेदकविधया भी अखंड उपाधि का ही स्वीकार कर के उपाधि ही परम्परासम्बद्ध जाति है - यह भी अच्छी तरह कहा जा सकता है।

⊡ उपाधि कारणतावच्छेदक हो सकती है ⊡

उपाधे इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> "अखंड उपाधि को कारणता आदि का अवच्छेदक मानने पर कारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्धविधया अनेक विशेषणता का स्वीकार करना होगा, क्योंकि अखंड उपाधि स्वाश्रय में समवाय सम्बन्ध से न रह कर विशेषणता सम्बन्ध = स्वरूपसंसर्ग से रहती है । प्रत्येक आश्रय का स्वरूप अलग-अलग होने से तादृश सम्बन्ध भी अनेक बन जाने से अनेकविध सम्बन्ध में कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्व की कल्पना का गौरव होता है । जब कि जाति को कारणतावच्छेदक धर्म मानने पर कारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय होगा, क्योंकि जाति = सामान्य स्वाश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहती है । इस पक्ष में केवल एक समवाय में कारणतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्धत्व की कल्पना की जाती है, जो पूर्वोपदर्शित मत की अपेक्षा लघु है । अतः अखंड उपाधि से भी जाति का विलय होने का कोई अनिष्ट प्रसंग नहीं है । इसलिए जाति का स्वीकार उचित है" <—

न वि इति । तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि आप नैयायिक महाशय जैसे रूपसमवाय, रससमवाय, गन्धसमवाय आदि को एक ही मानते हैं, भले ही रूप, रस, गन्ध आदि प्रतियोगी भिन्न भिन्न हो, ठीक वैसे ही विशेषणता को भी, विशेष्य अलग-अलग होने पर भी, एक माननी आपके लिए मुनासिब है । अतः कारणतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्व की नानाविध विशेषणता में कल्पना करने के गौरव को यहाँ अवकाश नहीं है । यदि विशेषणता को एकविध मान कर अनेकविध मान

किञ्च परम्परासम्बन्धेन जात्यप्रतिसन्धानेऽपि उपाधिभिरनुवृत्तिधीजननदर्शनात् स्वभावत एव घटादीनानुवृत्तिधीनियामकत्वमुचितम् ।

अथैवमेतद्घटत्वेनापि घट कि नानुवर्त्तेत ? स्वभावाऽप्रच्यवादिति चेत् ? न, प्रतिव्यक्ति तुल्याऽतुल्यपरिणतिरूपधर्मयोरेव स्वभावतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिनियामकत्वात् । धर्मी पुनः कथञ्चिदनुवृत्तिव्यावृत्त्युभयस्वभाव इति स्पष्टीभविष्यति व्याख्यान्तरे पुरस्तात् ।

अथैवमप्यूर्ध्वतासामान्ये मानाभाव , अङ्गद-कुण्डलादौ काञ्चनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैव

❀ जयलता ❀

यत्तु 'व्यञ्जकमपि परम्परया सास्नात्वादिकमेवेति' (पृ ४७६) **परेणोक्त** तत्राऽऽह- **किञ्चेति** । **परम्परासम्बन्धेन** = स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन, **जात्यप्रतिसन्धानेऽपि** = गवादिषु सास्नात्वादिजातेरज्ञानेऽपि, **उपाधिभिः** = सास्नादिमत्त्वलक्षणै 'इय गौरिय = गौरि'**त्यनुवृत्तिधीजननदर्शनात्** न जातेरनुगतधीनियामकत्व न्याय्य किन्तु स्वभावत एव घटादीना गवादीनाञ्च **अनुवृत्तिधीनियामकत्वमुचितमिति** ।

पर शङ्कते- **अथेति** । एव = स्वभावत ण्व घटादीनामनुवृत्तिधीनियामकत्वे तु **एतद्घटत्वेनापि** रूपेण **घटः कि नानुवर्तेत** ? अनुवर्त्तेत ण्व, **स्वभावाऽप्रच्यवात्** = समानाकारकधीजननस्वभावाऽपरित्यागात्, अन्यथा मृगपतिशृङ्गसहोदरत्वप्रसङ्ग । न हि स्वभावो जातुचित् परावर्तते, तत्त्वहान्यापत्ते ।

प्रकरणकार तन्निराकुरुते- **नेति** । **प्रतिव्यक्ति तुल्याऽतुल्यपरिणतिरूपधर्मयोः** = समानाऽसमानपरिणामयो. एव **स्वभावतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिनियामकत्वात्** एतद्घटत्वस्याऽतुल्यपरिणामत्वेन न तेन रूपेण घटोऽनुवर्तते किन्तु घटत्वलक्षणसमानपरिणामेनैव । **न च** धर्मयोरेव स्वभावतस्तन्नियामकत्वे धर्मिणो घटादेस्स्वभावतस्तन्नियामकत्वाभिधान कथ सङ्गच्छते इति **वाच्यम्**, धर्मधर्मिणो· कथञ्चित्तादात्म्याऽङ्गीकारेण तथावक्तु सुवचत्वात् । न हि तयो सर्वथा भेद उपलभ्यते । **न चैवमपि** धर्मिणोऽनुवृत्तिस्वभावत्वमेव व्यावृत्तिस्वभावत्वमेव वा स्यात्, न तु तदुभयस्वभावत्व, विरोधादिति **वक्तव्यम्**, विशेषात्मना व्यावृत्तस्यैव धर्मिणः स्वरूपेण सामान्यात्मनाऽनुवृत्तस्योपलम्भेन तयो कथञ्चिदविरोधादित्याशयेनाऽऽह- **धर्मीति** ।

अनेकान्तवादिमते वस्तुन सामान्यविशेषात्मकत्वम्, तत्र सामान्यमनुवृत्तिप्रत्ययाऽसाधारणहेतुर्वस्त्वन्शः । भवति खलु भिन्नप्रदेशकनानाव्यक्तिविशेष्यकैकत्वप्रकारकप्रतीतौ तादात्म्येन तिर्यक्सामान्य हेतु । एकप्रदेशकनानापर्यायव्यक्तिविशेष्यकैकत्वप्रकारकप्रतीतौ च तादात्म्येनोर्ध्वतासामान्य हेतुरित्येतद्द्विविधमप्यनुवृत्तिप्रत्ययाऽसाधारणकारणम् । तदुक्त **परीक्षामुखे माणिक्य-**

लिया जाय तो भी विशेपणतात्व तो सभी विशेपणता मे अनुगत होने से उसका विशेपणतात्वरूप से अनुगत हो सकता हे । अतः व्यभिचार का भी कोई अवकाश नही है । दूसरी वात यह है कि - घट मे कवुग्रीवादि को देख कर परम्परासम्वन्ध से कम्बुग्रीवत्व आदि जाति का भान न होने पर भी 'यह घट है, वह घट हे' इत्याकारक अनुगत बुद्धि उत्पन्न होती हे, यह देखा गया हे । इस तरह जाति का भान न होने पर भी अनुगत वुद्धि उत्पन्न होती है, तव तो यही मानना मुनासिव हे कि घटादि स्वभाव से ही अनुगत वुद्धि का नियामक है, क्यो अतिरिक्त घटत्व की कल्पना का कष्ट उठाया जाए ?

अथै इति । यहाँ इस शका का कि —> 'घटत्वरूप से घट यदि अनुगत वुद्धि का जनक हे, तो फिर एतद्घटत्वरूप से भी वह क्यो 'अय घट. अय घट.' इत्याकारक अनुगत वुद्धि का जनक नही है ? क्योकि स्वभाव का तो त्याग नही होता है'' <— समाधान यह है कि प्रत्येक घटादि व्यक्ति मे तुल्य परिणाम ओर अतुल्य परिणामात्मक धर्म ही स्वभाव से अनुगत वुद्धि और व्यावृत्त वुद्धि का नियामक है, धर्मी घट आदि तो कथचित् अनुवृत्ति और कथचित् व्यावृत्ति उभय स्वभाव वाला होता है । एतद्घटत्व धर्म व्यावृत्ति का नियामक हे, क्योकि वह अतुल्यपरिणामात्मक धर्म है । अत. एक ही व्यक्ति तुल्य परिणाम से अनुगत वुद्धि का एव अतुल्य परिणति से व्यावृत्त वुद्धि की जनक है - यह फलित होता है । इस विपय की अधिक स्पष्टता इस श्लोक के उत्तरार्ध की अन्य व्याख्या मे आगे हो जायेगी ।

❊ तिर्यक्सामान्य की भाँति ऊर्ध्वतासामान्य वास्तविक ❊

अथैव इति । यहाँ इस शका का कि —> ''प्रतिव्यक्ति तुल्य परिणाम को अनुगत प्रतीति का नियामक मानने पर भी ऊर्ध्वतासामान्य की कल्पना मे कोई प्रमाण नही है, क्योकि काचनत्वादिस्वरूप तिर्यक् सामान्य से ही अगद, कुण्डल आदि

'काञ्चनं काञ्चनमि'त्यनुगतप्रतीतेर्निर्वाहादिति चेत् ? न, 'यदेव काञ्चनमङ्गदीभूतं तदेव कुण्डलीभूतमि'त्यादिप्रतीतीनामेकाकारत्वस्योर्ध्वतासामान्यं विनाऽनुपपत्तेः, विसदृशपरिणतिषु तिर्यक्सामान्यानवकाशाच्च ।

किञ्च प्रतीतावनुगतत्वं = एकविषयनिष्ठापरविषयभेदानवच्छेदकावगाहित्वं,

❋ जयलता ❋

नन्दिनाऽपि —> 'सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् । सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्ड-मुण्डादिषु गोत्ववत् । परापरविवर्त्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिष्विति <— (प. मु. ४/३-४-५ सूत्र) ।

अत्र पर आशङ्कते- अथेति । एवमपि = समानाऽसमानपरिणामयोरिव स्वभावतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिनियामकत्वाऽङ्गीकारेऽपि, ऊर्ध्वतासामान्ये तिर्यक्सामान्याऽतिरिक्ते मानाभावः । तर्हि पराऽपरविवर्त्तकलिते द्रव्ये कथं अनुगतबुद्धेः निर्वाहः ? इत्याशङ्कायामाह- अङ्गद-कुण्डलादौ काञ्चनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैव 'काञ्चनं काञ्चनमि'त्यनुगतप्रतीतेः निर्वाहात् = उपपत्तिसम्भवात् पराऽपराऽङ्गदकुण्डलादिपरिणामव्यापिद्रव्यात्मकोर्ध्वतासामान्यकल्पनमनतिप्रयोजनम्, गौरवादिति शङ्काशयः ।

प्रकरणकारः तन्निराकुरुते- नेति । 'यदेव काञ्चनमङ्गदीभूतं तदेव कुण्डलीभूतमि'त्यादिप्रतीतीनां एकाकारत्वस्य = अभिन्नद्रव्यावगाहित्वस्य ऊर्ध्वतासामान्यं अङ्गदकुण्डलपर्यायव्यापि द्रव्यं विना अनुपपत्तेः, पूर्वद्रव्यनाशानन्तरं नवीनद्रव्योत्पादाभ्युपगमे एकप्रदेशकनानापर्यायविशेष्यकैकत्वप्रकारकप्रतीतेरसम्भवात् । न च पूर्वकाञ्चननाशानन्तरमभिनवकाञ्चनोत्पत्तिस्वीकारेऽपि काञ्चनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैवैकाकारत्वं धियामुपपत्स्यते इति वाच्यम्, तथापि काष्ठ-दण्डस्य भस्मीभवने 'यदेव काष्ठं दण्डीभूतं तदेव भस्मीभूतमि'ति प्रतीतेरेकाकारत्वस्याऽनुपपत्तेरित्याशयेनाह- विसदृशपरिणतिषु तिर्यक्सामान्यानवकाशाच्च । न हि प्रकृते काष्ठत्वस्य तिर्यक्सामान्यत्वं सम्भवति । इत्थञ्च विकारकर्मस्थलानुरोधेनाऽप्यन्ततो गत्वोर्ध्वतासामान्याभ्युपगमस्याऽऽवश्यकत्वमिति फलितम् ।

किञ्चेति । प्रतीतौ = प्रतीतिवृत्ति अनुगतत्वं = एकविषयनिष्ठापरविषयभेदानवच्छेदकावगाहित्वमिति । समान-

में 'यह सुवर्ण है' इत्याकारक अनुगत प्रतीति हो सकती है'' —> समाधान यह है कि 'जो सुवर्ण अंगद नामक आभूषण था, वही सोना अभी कुंडल बन गया है' इत्याकारक प्रतीतियों में एकाकारता = एकद्रव्यविषयकत्व की उपपत्ति ऊर्ध्वता सामान्य के बिना नामुमकिन है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि एक काल में विभिन्न व्यक्तियों में जो अनुवृत्ति बुद्धि होती है, वह प्रतिव्यक्ति समानपरिणतिस्वरूप तिर्यक् सामान्य की वजह होती है । जैसे शाबलेय, बाहुलेय आदि अनेक गाय में एक ही काल में 'यह गाय है, यह भी गाय है' इत्याकारक जो अनुवृत्ति बुद्धि होती है, वह सास्नादिमत्त्व आदि समानपरिणामात्मक तिर्यक्सामान्य की वजह होती है । मगर एक ही द्रव्य में भिन्न भिन्न काल में अलग-अलग पर्याय होते हुए भी जो एकाकार प्रतीति होती है, उसका नियामक ऊर्ध्वतासामान्य है । जैसे एक ही सुवर्ण पूर्व काल में बाजुबंध = कंगन स्वरूप था बाद में कुण्डल बनता है तब 'यह वही सुवर्ण है जो पूर्व में कंगन था और अभी कुण्डल बन गया है' ऐसी एकाकार प्रतीति होती है, वह कंगन और कुण्डल पूर्वापरपर्यायव्यापक सुवर्ण द्रव्य की वजह ही हो सकती है । पूर्व कंगनपर्याय वाले सुवर्ण का नाश और कुण्डलपर्याय वाले सुवर्ण की निष्पत्ति मानने पर दोनों में अभेदावगाहिनी प्रतीति नहीं हो सकती । इसलिए ऊर्ध्वता सामान्य का अंगीकार करना आवश्यक है । दूसरी बात यह है कि यदि तिर्यक् सामान्य से अतिरिक्त ऊर्ध्वता सामान्य का स्वीकार न किया जाय तब काष्ठ की भस्म होने पर 'जो काष्ठ (= लकडा) दण्ड था, वही भस्म हो गया' इत्याकारक प्रतीति कैसे हो सकेगी ? तिर्यक् सामान्य का मतलब है तुल्य परिणाम । विसदृश परिणाम वाले द्रव्य में सदृशपरिणतिस्वरूप तिर्यक् सामान्य का अवकाश नहीं है । वहाँ तो दण्ड और भस्म स्वरूप पूर्वापर परिणाम के व्यापक पृथ्वी द्रव्यस्वरूप ऊर्ध्वतासामान्य का अंगीकार, इच्छा हो या न हो, करना ही पड़ेगा । इसमें कोई अपील नहीं है ।

◙ अनुगतत्व का निर्वचन ◙

किञ्च इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि प्रतीति में रहने वाला अनुगतत्व एकविषयनिष्ठ अपरविषयभेद की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक के अवगाहित्वस्वरूप है, जिसका निर्वाहक तिर्यक् सामान्य की भाँति ऊर्ध्वता सामान्य भी निराबाधरूप से है । आशय यह है कि शाबलेय, बाहुलेय, खण्ड, मुण्ड आदि विविध गाय में 'यह गाय है, यह भी गाय है' इत्याकारक जो प्रतीति होती है, वह शाबलेय आदि गाय में रहे हुए बाहुलेय आदि गाय के भेद की प्रतियोगिता के

तन्निर्वाहकत्वञ्च तिर्यक्सामान्यस्येवोर्ध्वतासामान्यस्याऽप्यक्षतमिति दिक् ।

यद्यपीदृशोर्ध्वतासामान्यत्वं चिरस्थायिनां गुणपर्यायाणामपि सम्भवति तथापि 'पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यमि' (प्र.न.त.५/५) त्यत्र द्रव्यपदं धर्मिपरमिति न कोऽपि दोषः ।

❀ जयलता ❀

कालीनेपु विभिन्नद्रव्येपु खण्ड-मुण्डादिपु 'अय गौरयमपि गौरि'ति प्रतीते खण्डनिष्ठमुण्डभेदानवच्छेदकीभूतगोत्वावगाहिन्या अनुगतत्वनिर्वाहकत्व यथा तिर्यक्सामान्यस्य तथैव मृत्पिण्ड-स्थास-कोश-शिवकादिपु एकद्रव्यपर्यायेपु पूर्वापरकालभाविषु 'अय मार्त्तोऽयमपि मार्त्त' इति प्रतीते मृत्पिण्डादिनिष्ठस्थासादिभेदनिरूपितप्रतियोगितानवच्छेदकीभूतमृत्परिणामावगाहिन्या अनुगतत्वनिर्वाहकत्व पूर्वापरपरिणामव्यापिमृद्रव्यलक्षणोर्ध्वतासामान्यस्यापि निराबाधमिति न तिर्यक्सामान्येनोर्ध्वतासामान्यस्याथासिद्धिरित्याशयेनाह- **तन्निर्वाहकत्व च** = निरुक्तानुगतत्वोपपत्त्यनुकूलत्व हि सदृशपरिणामलक्षणस्य **तिर्यक्सामान्यस्येव ऊर्ध्वतासामान्यस्याऽप्यक्षतमिति** । अधिक बुभुत्सुभि· 'पूर्वापरपरिणामसाधारण द्रव्यमूर्ध्वतासामान्य कट-कङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवदिति' (प्र न त ५/५) इति **प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रव्याख्या** द्रष्टव्या ।

यद्यपीति । 'तथापी'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । **ईदृशोर्ध्वतासामान्यत्व** = प्रतीतिनिष्ठानुगतत्वनिर्वाहकनिरुक्तोर्ध्वतासामान्यत्व, **चिरस्थायिना गुणपर्यायाणा** रूप-रसादि-मनुष्यत्व-देवत्वादिरूपाणा **अपि सम्भवति** नीलरूपनाशानन्तर रक्तरूपोत्पादेऽपि रूपपरिणामाविनाशात् बालाद्यवस्थानाशानन्तर युवाद्यवस्थोत्पादेऽपि मनुष्यपर्यायस्य तदुभयव्यापित्वात् । अत एव 'यदेव रूप नीलतया परिणतमासीत् तदेव रक्तीभूत' 'य एव मनुष्य बाल आसीत् स एव युवा जात' इत्याद्येकाकारप्रतीतेरप्युपपत्ति· । ततश्च पूर्वापरपरिणामव्यापिद्रव्यस्यव पूर्वापरपरिणामव्यापकगुणपर्यायाणामप्यूर्ध्वतासामान्यत्व स्वीकर्तव्य स्यात् । तथा च सूत्रविरोध प्रसज्येतेति **भावः** । समाधत्ते - **तथापीति 'पूर्वापरपरिणामसाधारण द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यमि'त्यत्र प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रे**, सपूर्ण सूत्रञ्चैव 'पूर्वापरपरिणामसाधारण द्रव्यमूर्ध्वतासामान्य कटक-कङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवदिति । अत्र सूत्रे **द्रव्यपद धर्मिपर** द्रव्यपदस्य धर्मिणि लक्षणाया· स्वीकारात् **न कोऽपि दोषः** अपसिद्धान्तादिलक्षण· । **एतेन** 'ऊर्ध्वतासामान्य तु द्रव्यमेव' (रत्ना अव ७/८) इति **रत्नाकरावतारिकावचनमपि व्याख्यातम्** ।

स्वसम्प्रदायानुरोधेनैकद्रव्येपूर्ध्वतासामान्येन अनेकद्रव्येषु च तिर्यक्सामान्येनानुगतप्रतीतिव्यवहारौ प्रदर्श्य साम्प्रत शुक्लाम्बरशिरामणि प्रकरणकार आशाम्बरसम्प्रदायानुरोधेन तदुपपत्तिमाह- **दिगम्बरास्त्विति** । तन्नये ह्यस्तित्व द्विविध स्वरूपा-

अवच्छेदक बाहुलेयत्व आदि का अवगाहन नही करती है, किन्तु तदनवच्छेदक सदृश परिणाम का अवगाहन करती है । तादृश अवगाहिता ही प्रतीति मे रहने वाला अनुगतत्व है, जिसका निर्वाहक शावलेय, बाहुलेय आदि गाय मे रहा हुआ सदृशपरिणामात्मक तिर्यक्सामान्य है । इसी तरह एक ही सुवर्ण मे, जो पूर्व मे कगनपरिणाम वाला था ओर अभी कुण्डलपरिणाम वाला है, होने वाली 'जो सुवर्ण कगन था वही कुण्डल बना है' इत्याकारक प्रतीति भी कगननिष्ठ कुण्डलभेद की प्रतियोगिता के अवच्छेदक सुवर्णपरिणाम का अवगाहन करती हे । तादृश अवगाहिता = विपयिता ही उस प्रतीति मे रहा हुआ अनुगतत्व है, जिसका निर्वाहक कगन-कुण्डलात्मक पूर्वापरपरिणाम मे अनुगत = व्यापक सुवर्ण द्रव्यात्मक ऊर्ध्वतासामान्य ही है न कि तिर्यक् सामान्य; क्योकि कगन और कुण्डल सदृश परिणाम नही है किन्तु विसदृश परिणाम है । इस तरह फलित होता है कि प्रतीतिनिष्ठ निरुक्त अनुगतत्व की निर्वाहकता तिर्यक् सामान्य की भॉति ऊर्ध्वता सामान्य मे भी अक्षत = निराबाध है । इस विपय मे अधिक विचार भी किया जा सकता है, यह तो एक दिग्दर्शन है - इस बात की सूचना देने के लिए प्रकरणकार ने दिक् शब्द का प्रयोग किया है । अधिक जिज्ञासु स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते है ।

यद्य इति । यद्यपि प्रतीति मे रहने वाले निरुक्त अनुगतत्व का निर्वाहक ऊर्ध्वता सामान्य पूर्वापरपरिणामव्यापक द्रव्य की भॉति चिरस्थायी गुण एव पर्याय मे भी मुमकिन है तथापि 'पूर्वापरपरिणामसाधारण द्रव्य ऊर्ध्वतासामान्य' इस प्रमाणनयतत्त्वालोकालकारसूत्र मे उल्लिखित द्रव्यशब्द की धर्मी मे लक्षणा अभिमत होने से तादृश द्रव्य की भाँति चिरस्थायी गुण एव पर्याय का भी ग्रहण हो सकता हे, क्योकि वे भी पर्यायविशेप के धर्मी हे एव पूर्वापरपरिणाम मे व्यापक = साधारण हो सकते हे । अत गुण, पर्याय का भी ऊर्ध्वतासामान्यविधया ग्रहण होने से कोई दोप नही हे ।

❀ दिगम्बरसम्प्रदायानुसार अनुगत व्यवहार की उपपत्ति ❀

दिगम्बरास्तु एकद्रव्येषु घटादिषु स्वरूपास्तित्वेनाऽनुगतव्यवहारः । स्वरूपास्तित्वञ्च स्वगुणपर्यायैरुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैश्च द्रव्यस्य स्वभाव एव । तदुक्तं 'सब्भावो हि सहावो, गुणेहि सगपज्जएहि चित्तेहि । दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ।। (प्र सा.२/४)'इति । अयमर्थः द्रव्यादिचतुष्टयेन द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृ-करणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणाञ्च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । तथा द्रव्यादिचतुष्टयेन गुणेभ्यः पर्या-

❀ जयलता ❀

स्तित्वं सादृश्यास्तित्वञ्च । प्रथमं ह्येकद्रव्येष्वनुगतधीव्यवहारकारणं द्वितीयञ्चानेकद्रव्येषु शाबलेयबाहुलेयादिषु अनुगतप्रतीति-प्रयोगकारणम् । तत्संवादार्थं कुन्दकुन्दस्वामिरचितप्रवचनसारगाथामेवोपदर्शयति- सब्भावो इति । तत्सम्प्रदायावलम्बिव्याख्या-नानुरोधेन तां विवृणोति - अयमर्थ इति । श्रोतॄणामुपकाराय दृष्टान्तादिगर्भां दिगम्बरीयव्याख्यामेव वयं दर्शयामः ।

अत्र अमृतचन्द्रीयव्याख्या –> 'अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद् विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत् ? तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते, यतो हि परस्पर-साधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत् । यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणाञ्च स्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः । तथाहि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधन-तया तैः निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैः निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः । किञ्च यथाहि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाऽङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्ति-युक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गद-पीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः । तथाहि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाऽङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरण-रूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाऽङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य

दिग इति । यहाँ तक श्वेताम्बर जैनसम्प्रदाय के अनुसार प्रतीतिनिष्ठ अनुगतत्व के व्यवहार का निरूपण करने के पश्चात् अब प्रकरणकार श्रीमद्जी दिगम्बराम्नाय का निरूपण करते हैं । दिगम्बर जैन मनीषियों का यह मन्तव्य है कि - एक ही द्रव्य से निष्पन्न घट, कपाल, कपालिका आदि में जो अनुगत व्यवहार होता है कि - 'जो मिट्टी घट थी वही मिट्टी अब कपाल बन गई है'; इसका नियामक स्वरूपास्तित्व है । स्वरूपास्तित्व का मतलब है अपने गुण-पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य के सद्भावात्मक द्रव्यस्वभाव । इसका हवाला देते हुए प्रकरणकार कुंदकुंदस्वामी के प्रवचनसार की गाथा बताते हैं, जिसका शब्दार्थ है 'विविध गुण, पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का सर्व काल में सद्भाव = सत्ता है वही द्रव्य का स्वभाव है' । इसका भावार्थ यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में गुण एवं पर्याय, द्रव्य से पृथक् = भिन्न उपलब्ध नहीं होते हैं । जैसे कि घट से पृथक् पट आदि की उपलब्धि होती है, वैसे घट से पृथक् घटीय नीलरूपादि गुण एवं जलाहरणादि पर्याय की उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि द्रव्य भी कर्ता, करण, अधिकरणविधया गुण एवं पर्याय के स्वरूप

१. सद्भावो हि स्वभावो गुणैः सह पर्यायैश्चित्रैः । द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रौव्यैः ॥

येभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्त्रादिरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणै. पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तै: निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभाव. ।

एवं द्रव्यादिचतुष्टयेन द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानै. कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्यय-ध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तै-

जयलता

मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्व स स्वभाव , तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्य पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यै. निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्व स स्वभाव.' <— (प्र सा २/४, अ व्या पृ ११९) इत्येव वर्तते ।

अत्र **जयसेनीयव्याख्या** त्वेवम् —> 'सहावो हि स्वभाव स्वरूप भवति हि स्फुटम् । क. कर्ता ? सब्भावो = सद्भाव. शुद्धसत्ता शुद्धास्तित्वम् । कस्य स्वभावो भवति ? दव्वस्स = मुक्तात्मद्रव्यस्य । तच्च स्वरूपास्तित्व यथा मुक्तात्मन सकाशात्पृथग्भूताना पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणा शेषजीवानाञ्च भिन्न भवति न च तथा, कै· सह ? गुणेहि सह पज्जेणहि = केवलज्ञानादिगुणै किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिस्वकीयपर्यायैश्च सह । कथम्भूतै ? चित्तेहि = सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वमकाय-त्वमयोगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नै न केवल गुणपर्यायै. सह भिन्न भवति । उप्पादव्वयधुवत्तेहि = शुद्धात्मप्राप्तिरूप-मोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षण ध्रौव्य चेत्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्न न भवति । कथम् ? सव्वकाल = सर्वकालपर्यन्त यथा भवति । कस्मात्तै सह भिन्न न भवतीति चेत् ? यत कारणाद् गुणपर्यायाऽस्तित्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्व साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्व साध्यत इति । तद्यथा यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै. सुवर्णादभिन्नाना पीतत्वादिगुण-कुण्डलादिपर्यायाणा सम्बन्धि यदस्तित्व स एव सुवर्णस्य सद्भाव. तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै. परमात्मद्रव्याद-भिन्नाना केवलज्ञानादिगुण-किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणा सम्बन्धि यदस्तित्व स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भाव. । यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै पीतत्वादिगुण-कुण्डलादिपर्यायेभ्य सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव पीतत्वादि-गुण-कुण्डलादिपर्यायाणा स्वभावो भवति तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै केवलज्ञानादिगुण-किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्या-येभ्य सकाशादभिन्नस्य मुक्तात्मद्रव्यस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव केवलज्ञानादिगुण-किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणा स्वभावो ज्ञातव्य । अथेदानीमुत्पादव्ययध्रौव्याणामपि द्रव्येण सहाभिन्नास्तित्व कथ्यते । यथा स्वकीयद्रव्यादिचतुष्टयेन सुवर्णाद-भिन्नाना कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायविनाश-सुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणा सम्बन्धि यदस्तित्व स एव सुवर्णसद्भाव , तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन परमात्मद्रव्यादभिन्नाना मोक्षपर्यायोत्पाद-मोक्षमार्गपर्यायव्यय-तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणा सम्बन्धि यदस्तित्व स एव मुक्तात्मद्रव्यस्वभाव । यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायव्यय-सुवर्णत्वलक्षण-ध्रौव्येभ्य सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव कटकपर्यायोत्पाद-कङ्कणपर्यायव्यय-तदुभयाधारभूतसुवर्णत्व-लक्षणध्रौव्याणा सद्भाव तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पाद-मोक्षमार्गपर्यायव्यय-तदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षण-

को ले कर होने वाली प्रवृत्ति से युक्त होता है तथा गुण एव पर्याय की निष्पत्ति भी द्रव्यास्तित्व से ही निष्पन्न हे । इस तरह अपने से अपृथग्भूत गुण एव पर्याय से द्रव्य का जो अस्तित्व हे, वही द्रव्य का मूलभूत स्वभाव है । जेसे द्रव्य से पृथक् = स्वतत्र गुण-पर्याय की उपलब्धि नही होती हे ठीक वेसे ही द्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा गुण एव पर्याय से स्वतन्त्र = रहित केवल द्रव्य की भी उपलब्धि नही होती हे, क्योकि कर्ता-करण-अधिकरणात्मना द्रव्य के स्वरूप को ले कर ही गुण एव पर्याय की प्रवृत्ति होती है ओर ऐसे गुण-पर्याय से ही द्रव्यनिष्पत्ति होती हे । द्रव्य के मूलसाधनविधया गुण एव पर्याय से जो द्रव्यास्तित्व निष्पन्न होता हे, वही द्रव्य का स्वभाव है । जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा द्रव्य से पृथक् = शून्य गुण एव पर्याय की उपलब्धि नही होती हे, ठीक वैसे ही द्रव्यादि चतुष्क की अपेक्षा उत्पाद, व्यय ओर ध्रौव्य की भी द्रव्य से पृथक् उपलब्धि नही होती है, क्योकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के स्वरूप को ले कर ही द्रव्य की प्रवृत्ति का प्रारभ होता हे ऑर द्रव्य के अस्तित्व से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की निष्पत्ति को अवकाश मिलता है । अपृथग्भूत उत्पाद-व्यय-ध्रोव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व = सद्भाव हे, वही द्रव्य का स्वभाव है । जैसे द्रव्यादिचतुष्क की अपेक्षा उत्पादादि

रुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्व द्रव्यस्य स स्वभाव । तथा द्रव्यादिचतुष्टयेन उत्पादव्ययध्रौव्ये-भ्य. पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्त्रादिरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्त्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यै· निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्व स स्वभाव इति । तच्च स्वरूपाऽस्तित्वमिति गीयते । परस्परकरम्बितशक्त्या निष्पाद्यनिष्पत्ति-मद्भाववतामस्तित्व स्वरूपास्तित्वमिति परमार्थ ।

अनेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारस्तु सादृश्यास्तित्वेन । तदुक्तं -

'इह विविहलक्खणाण लक्खणमेग सदिति सव्वगदं ।

उवदिसदा खलु धम्म जिणवरवसहेण पण्णत' ॥ (प्र सा २/५) इति ।

❀ जयलता ❀

ध्रौव्येभ्य सकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव मोक्षपर्यायोत्पाद-मोक्षमार्गपर्यायव्यय-तदुभयाधारभूत-मुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणा स्वभाव इति । एव यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्ये सह स्वरूपास्तित्वा-भिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्न व्यवस्थापित तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थ (प्र सा ज टी २/४- पृ ११७) ।

एकद्रव्यपर्यायेषु स्वरूपास्तित्वेनानुगतव्यवहारमुपपाद्यानेकद्रव्येषु तदुपपत्त्यर्थमाह-अनेकद्रव्येषु शाबलेय-बाहुलेयादिष्वेक-कालिकेषु अनुगतव्यवहारस्तु सादृश्यास्तित्वेनेति । अत्र प्रवचनसारगाथामाह- तदुक्त- इहेति । अत्र तत्त्वप्रदीपिकावृत्तिरेव → 'इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्य सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्ति-त्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्च प्रवृत्य वृत्त प्रतिद्रव्यमासूत्रित सीमान भिन्दत्सदिति सर्वगत सामान्य-लक्षणभूत सादृश्यास्तित्वमेक खल्ववबोद्धव्यम् । एव 'सदि'त्यभिधान 'सदि'ति परिच्छेदनञ्च सर्वार्थपरामर्शि स्यात् । यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किञ्चित्सदिति किञ्चिदसदिति किञ्चित्सच्चाऽसच्चेति किञ्चिदवाच्यमिति च स्यात् । तत्तु विप्रतिषिद्ध-मेवाऽप्रसाध्यञ्चैतदनोकहवत् । यथा हि बहूना बहुविधानामनोकहानामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्व-स्यावष्टम्भनात्तिष्ठन्नानात्व, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्व तिरियति । तथा बहूना बहुविधाना द्रव्याणामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्व सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना 'सदि'त्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्व तिरियति । तथा च तेषामनोकहाना सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापिते-नैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपाऽस्तित्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षण-भूतेन सादृश्योद्भासिना 'सदि'त्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्ना-नात्वमुच्चकास्ति' ← (प्र सा अ २/गा ५ अ टी पृ ११८) ।

अत्र तात्पर्यवृत्तिस्त्वेव → 'इह विविहलक्खणाण = इह लोके प्रत्येकसत्ताभिधानेन स्वरूपास्तित्वेन विविधलक्षणाना भिन्नलक्षणाना चेतनाचेतनमूर्तामूर्तपदार्थाना, लक्खणमेग तु एकमखण्डलक्षण भवति । कि ? कर्तृ 'सदि'ति = सर्व सदिति

की द्रव्य से पृथक् उपलब्धि नही होती है, ठीक वैसे ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से स्वतत्र = पृथक् = रहित द्रव्य की भी उपलब्धि नही होती है, क्योकि कर्ता-करण-अधिकरणविधया द्रव्यस्वरूप को ग्रहण कर के ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की प्रवृत्ति प्रवर्तमान होती है और ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से ही द्रव्य की निष्पत्ति का अस्तित्व होता है । द्रव्य के मूलसाधनविधया ऐसे अपृथग्भूत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से जो द्रव्यास्तित्व निष्पन्न होता है, वह द्रव्य का स्वभाव है, वही स्वरूपास्तित्वशब्द से अभिप्रेत है । इसका तात्पर्य यह है कि परस्परमिश्रित शक्ति से निष्पन्न होने वाली निष्पत्ति जिनमे होती है, उन भावो के आश्रय का जो अस्तित्व है वही स्वरूपास्तित्व है । इसी स्वरूपास्तित्व की वजह एक द्रव्य के विभिन्न पर्याय मे अनुगत व्यवहार होता है ।

अनेक इति । जैसे विभिन्न काल की अपेक्षा विविध पर्याय वाले एक ही द्रव्य मे अनुगत प्रतीति एव व्यवहार होता है, ठीक वैसे ही एक काल मे अनेक द्रव्य मे भी अनुगत प्रतीति एव व्यवहार होता है । प्रथम काल मे स्वरूपास्तित्व नियामक बनता है, और द्वितीय स्थल मे सादृश्यअस्तित्व नियामक होता है । एक ही काल मे नील, पीत, रक्त आदि अनेक घट मे 'यह घट है, यह भी घट है' इत्यादि अनुगत व्यवहार उनके सादृश्यास्तित्व से होता है । इस विषय मे प्रवचनसार

१ इह विविधलक्षणाना लक्षणमेक सदिति सर्वगतम । उपदिशता खलु धर्म जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम ॥

अथ सादृश्यास्तित्वानामपि प्रतिव्यक्ति स्वरूपभेदात् स्वरूपास्तित्वानामिव नाऽनेक-द्रव्यानुवर्त्तकत्व स्यादिति चेत् ?

अत्र केचित् सत्यपि प्रतिव्यक्ति स्वरूपभेदाऽविशेषे सादृश्यास्तित्वेनैव अनेक-द्रव्येष्वनुगतधी. न तु स्वरूपास्तित्वेनेति स्वभावस्यैव विजृम्भितमित्याहु ।

वस्तुत स्वरूपास्तित्व प्रतिव्यक्ति अनेकमेव । सादृश्यास्तित्व पुनरेकमपीति भिन्न-

जयलता

महासत्तारूपम् । किमविशिष्ट ? सव्वगय = सङ्करव्यतिकरपरिहाररूपस्वजात्यविरोधेन शुद्धसङ्ग्रहनयेन सर्वगत सर्वपदार्थ-व्यापकम् । इद केनोक्तम् ? उपदिसदा खलु धम्म जिणवरवसहेण पण्णत्त = धर्म वस्तुस्वभावसङ्ग्रहमुपदिशता खलु स्फुट जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तमिति । तद्यथा - यथा सर्वे मुक्तात्मान सन्तीत्युक्ते सति परमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरिता-वस्थलोकाकाशप्रमितशुद्धाऽसङ्ख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च सङ्करव्यतिकरपरिहाररूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषा सिद्धजीवाना ग्रहण भवति तथा 'सर्व सत्' इत्युक्ते सङ्ग्रहनयेन सर्वपदार्थाना ग्रहण भवति । अथवा 'सेनेय वनमिदिमि'त्युक्ते अश्वहस्त्यादिपदार्थाना निम्बाम्रादिवृक्षाणा स्वकीयस्वकीयजातिभेदभिन्नाना युगपद् ग्रहण भवति तथा 'सर्व सदि'त्युक्ते सति सादृश्यसत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसङ्ग्रहनयेन सर्वपदार्थाना स्वजात्यविरोधेन ग्रहण भवतीत्यर्थ <— (प्र सा २/५- ज टी पृ ११८) इति ।

पर शङ्कते- अथेति । अनेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारनिर्वाहकत्वेनाऽभिमताना **सादृश्याऽस्तित्वानामपि**, कि पुनरनेकद्रव्याणा ? इत्यपिशब्दार्थ, **प्रतिव्यक्ति** = व्यक्तौ व्यक्तौ **स्वरूपभेदात्, स्वरूपास्तित्वानामिव नानेकद्रव्येष्वनुवर्त्तकत्व स्यात्** । तद-ननुगतत्वे चानेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारोऽपि कथ सङ्गच्छेत ? न हि यदेव सादृश्यास्तित्व शाबलेये तदेव बाहुलेयादौ, अस्तित्व-स्य स्वाश्रयरूपत्वेन तद्भेदेऽस्तित्वभेदस्य न्याय्यत्वात् । यदि च सादृश्यास्तित्वानुगतत्वविरहेऽपि तेनाऽनेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहार स्यात्, तर्हि स्वरूपास्तित्वेनैवैकद्रव्यपर्यायेष्विवानेकद्रव्येष्वनुगतव्यवहारोऽस्तु कि सादृश्यास्तित्वकल्पनया ! इत्यथाशय ।

आदौ केषाञ्चिन्मतेन समाधानमाविष्करोति- **अत्र केचिदिति** । आहुरित्यनेनास्यान्वय. । **सत्यपीति** । तृणादौ दाह्य-त्वाऽविशेषेऽपि ज्वलनस्यैव तद्दाहकत्व न तु जलस्य, पावकादौ दाहकत्वाविशेषेऽपि तृणादेरेव तद्दाह्यत्व न त्वाकाशादेरित्यत्र यथा तथास्वभावमहिमा तथैव **प्रतिव्यक्ति** शाबलेयबाहुलेयादौ सादृश्यास्तित्वस्वरूपभेदाऽविशेषे **सत्यपि सादृश्यास्तित्वेनैव अनेकद्रव्येषु** शाबलेय-बाहुलेय-खण्ड-मुण्डादिषु **अनुगतधीः** तथाविधव्यवहारश्च **न तु स्वरूपास्तित्वेन इति स्वभावस्यैव विजृम्भितम्** । एतेनैकद्रव्येषु कथ न सादृश्यास्तित्वेनाऽनुगतधीव्यवहारौ, कथ वाऽनेकद्रव्येषु स्वरूपास्तित्वेन नानुगतधी-व्यवहारौ ? इत्यपि **प्रत्याख्यातम्**, स्वभावस्याऽपर्यनुयोज्यत्वात् ।

प्रकरणकारेण **आहुरित्यनेन** स्वकीयाऽस्वरसोद्भावन कृतम् । तद्बीजञ्चैव सत्येकान्तस्वभाववादिमतप्रवेश इति । अत एवाह- **वस्तुत** इति । **स्वरूपास्तित्व** स्वद्रव्यात्मकत्वेन **प्रतिव्यक्ति अनेक** = भिन्न एव, **सादृश्यास्तित्व पुनः**

मे कहा गया है कि - ''इस लोक मे वस्तु धर्म के उपदेश देते हुए श्रीजिनवरवृषभ ने ऐसी प्ररूपणा की है कि विविध लक्षण वाले अनेक द्रव्यो मे 'सत्' ऐसा एक लक्षण सर्वगत = सर्वद्रव्य मे रहता हे = सर्वद्रव्यसाधारण सादृश्य है'' । इस की वजह विभिन्न द्रव्य मे अनुगत व्यवहार होता हे ।

❋ अनेक द्रव्य में सादृश्यास्तित्व से ही अनुगत व्यवहार ❋

अथ इति । यहाँ यह शका हो सकती है कि —> ''जैसे स्वरूपास्तित्व प्रत्येक व्यक्ति मे अलग-अलग है, ठीक वैसे ही सादृश्यअस्तित्व भी प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न होता है । तब एक सादृश्यास्तित्व अनेक द्रव्य मे कैसे अनुगत हो सकता है ? अननुगत होने से सादृश्यास्तित्व अनेक व्यक्तियो मे अनुगत व्यवहार का जनक नही हो सकता है'' <—

अत्र क इति । यहाँ अमुक विद्वानो का यह समाधान है कि स्वरूपास्तित्व की भाँति सादृश्यास्तित्व प्रतिव्यक्ति भिन्न स्वरूप वाला होने पर भी 'सादृश्यास्तित्व ही अनेक द्रव्यो मे अनुगत बुद्धि एव अनुगत व्यवहार का जनक हे, न कि स्वरूपास्तित्व' इस विषय मे उसका स्वभाव ही नियामक है । उसका स्वभाव ऐसा ही क्यो हे ? ऐसा प्रश्न सावकाश नही है, क्योकि वस्तुस्वभाव के विषय मे प्रश्न नही किया जा सकता ।

द्रव्यानुवर्त्तकमिति बोध्यम् ।

अत्र यौगा· सङ्गिरन्ते । ननु सादृश्यं तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वम् । स्वस्मिन् स्वसादृश्यवारणाय 'तद्भिन्नत्वे सती'ति । न च 'गगनं गगनाकारमि'त्यादावव्याप्ति.; उपमितिक्रियाऽनिष्पत्त्याऽनन्वयस्याऽलक्ष्यत्वात् । अत एवोपमेयोपमाया अतादृश्या लक्ष्यत्वादेव न तत्राऽतिव्याप्ति. ।

❀ जयलता ❀

कथञ्चित्स्वद्रव्यव्यतिरिक्तत्वेन **एकमपीति भिन्नद्रव्यानुवर्त्तक** = नानाद्रव्यानुगतमिति तेनैवानेकद्रव्येष्वनुगतधीव्यवहारौ न तु स्वरूपास्तित्वेनेत्येव वक्तुमर्हति येनैकान्तस्वभाववादिमतप्रवेशो न स्यादिति बोध्यम् ।

अत्र = सादृश्यास्तित्वेनानेकद्रव्येष्वनुगतधीव्यवहारसमर्थने **यौगाः** = नैयायिका. **सङ्गिरन्ते** —> **नन्विति** । आहुरित्यनेनास्यान्वय । **सादृश्य** = सादृश्यपदप्रतिपाद्य नातिरिक्त किन्तु **तद्भिन्नत्वे** = उपमानभिन्नत्वे **सति तद्गतधर्मवत्त्व** = उपमानवृत्तिधर्मवत्त्वम् । तद्गतत्वश्चात्र न लक्षणघटक, गौरवात्, असम्भवापत्तेश्च । किन्तु तादृशधर्मस्योपमानोपमेयसाधारणत्वबोधनाय । सादृश्यघटकधर्मश्च क्वचिज्जातिस्वरूपो यथा 'घटसदृश पट ' इत्यादौ । क्वचिच्चोपाधिरूप यथा गोत्व नित्य तथाऽश्वत्वमपीत्यादौ यथा वा चन्द्रसदृश मुखमित्यादौ वर्तुलत्व-तेजस्वित्वाह्लादकत्वादि । **स्वस्मिन्** उपमेये **स्वसादृश्यवारणाय** = अतिव्याप्तिवारणाय **तद्भिन्नत्वे सतीति** विशेषणदानम्, घटादौ घटादिभेदविरहान्न 'घटो घटसदृश' इत्यादे. प्रसङ्ग । न च सादृश्यशरीरे तद्भिन्नत्वोपादाने **'गगन गगनाकारमि'**त्यादाविति 'गगन गगनाकार, सागर. सागरोपम. । रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव ॥ ( ) इति कारिका, अत्र **अव्याप्ति·**, गगनादौ गगनादिप्रतियोगिकभेदविरहात् । अव्याप्तिनिरासे हेतुमाह- **उपमितिक्रियाऽनिष्पत्त्येति** । 'सादृश्यमुपमाभेद' इत्यालङ्कारिकसूत्रेण भेदघटितसादृश्यस्यैवोपमात्वप्रतिपादनाद् गगनादौ गगनादिभेदासम्भवेनोपमितिक्रियाजन्माऽयोगात् नात्रोपमालङ्कार. किन्त्वनन्वयालङ्कार एव । **अनन्वयस्य** अलङ्कारस्य **अलक्ष्यत्वात्** तत्रोक्तसादृश्यलक्षणाऽगतेर्न दूषणत्व किन्तु भूषणत्वमेवेति नाऽव्याप्ति । अत्र **महादेवस्त्वव्याप्तिनिराकरणाय** —> 'तद्वृत्तिधर्ममात्रस्य तत्र विवक्षितत्वात्, युगभेदविवक्षया भेदसत्त्वाद्वा । अत एव युगभेदविवक्षायामिहोपमालङ्कारोऽन्यथाऽनन्वयालङ्कार इत्युक्तमालङ्कारिकं ' <— (मु दिन पृ ७२) इत्याह । अत्र —> 'युगभेदविवक्षयेति युगभेदप्रयुक्ततत्तद्युगविशिष्टगगनभेदविवक्षयेत्यर्थ । भेदसत्त्वाद्वेति गगने गगनभेदसत्त्वाद्वेत्यर्थ ' <— (मु राम पृ ७३) इति **रामरुद्रो** व्याचष्टे ।

अत एवेति । यस्यामुपमितिक्रियानिष्पत्तिस्तस्या एव लक्ष्यत्वादेवेत्यर्थ । **उपमेयोपमायाः अतादृश्या·** = अनिष्पन्नोपमितिक्रियाविलक्षणाया, **लक्ष्यत्वादेव** = उपमालक्ष्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वादेव, **न तत्र** = उपमेयोपमाया **अतिव्याप्तिः** किन्तु-

प्रकरणकार श्रीमद्जी का सुझाव यह है कि वस्तुस्थिति का विचार किया जाय तो स्वरूपास्तित्व प्रतिव्यक्ति अलग-अलग ही है, जब कि सादृश्यास्तित्व प्रतिव्यक्ति एक भी हो सकता है । अतएव अनेक द्रव्य मे सादृश्यास्तित्व एक हो कर अनुगत हो सकता है, जिसकी वजह अनेक द्रव्य मे सादृश्यास्तित्व की वजह अनुगत बुद्धि एव व्यवहार हो सकता है ।

नैयायिकमत से सादृश्य की व्याख्या

अत्र या इति । सादृश्यास्तित्व से अनेक द्रव्य मे अनुगत बुद्धि एव व्यवहार के समर्थन को जान कर नैयायिक मनीषी यह कहते है कि सादृश्य 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वस्वरूप' है । जैसे 'मुख चन्द्रसदृश' यहाँ मुख मे रहनेवाला चन्द्र का सादृश्य चन्द्रभिन्नत्व होते हुए चन्द्रगत आह्लादकत्व आदि धर्म स्वरूप है । अपने मे अपनी उपमा का निराकरण करने के लिए 'तद्भिन्नत्वे सति' ऐसे विशेषण लगाया गया है, अन्यथा चन्द्र मे चन्द्रोपमा का अनिष्ट प्रसग प्राप्त होता है, क्योकि चन्द्र मे चन्द्रगत सौम्यत्व, वर्तुलत्व आदि धर्म अक्षत है । मगर सादृश्य के घटकविधया उपमानभेद का निवेश करने पर चन्द्र मे चन्द्र की उपमा का प्रसग नहीं होगा, क्योकि चन्द्र मे चन्द्रभेद नहीं रहता है । यहाँ यह शका हो कि —> ''सादृश्य के घटकविधया तद्भेद का निवेश किया जाय तो 'गगन गगनाकार, सागर सागरोपम ' इत्यादि स्थल मे सादृश्यलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योकि गगन मे गगन का भेद या सागर मे सागर का भेद नहीं रहता है'' <— तो यह ठीक नहीं है, क्योकि यहाँ उपमान और उपमेय मे भेद नहीं होने से उपमिति क्रिया की निष्पत्ति ही नहीं होने से यहाँ उपमा अलकार नहीं है, किन्तु अनन्वय अलकार है, जो सादृश्य के लक्षण का अलक्ष्य है । अलक्ष्य = लक्ष्येतर मे लक्षण की प्रवृत्ति न होना दोष नहीं है, किन्तु गुण ही है । इसीलिए तो उपमेयोपमा मे उपमिति क्रिया की निष्पत्ति होने से वह अनन्वय अलकार सदृश नहीं है । अतएव

मिथस्तयोरेवोपमानोपमेयत्वविवक्षामात्रादस्या अलङ्कारान्तरव्यपदेशात् ।

यत्तु प्राचा –> 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोऽसाधारणधर्मवत्त्व सादृश्यम्' । पटादौ घट-सादृश्यवारणाय 'असाधारणे'ति, यत्किञ्चिदसाधारणाधर्मवति तद्वारणाय 'भूय' <– इत्युक्त

❀ जयलता ❀

पमालक्षणसङ्गतिरेव । 'यदि च तस्या लक्ष्यत्वमेव तर्हि कुतस्तस्या अलङ्कारान्तरव्यवदृ '' इत्याशङ्कायामाहु - **मिथस्तयोः** = परस्परमुपमानोपमेययो एव **उपमानोपमेयत्वविवक्षामात्रात् अस्याः** = उपमेयो ग **अलङ्कारान्तरव्यपदेशात्** । तदुक्त **काव्यप्रकाशे मम्मटेन** 'विपर्यास उपमेयोपमा तयो. ।९१। तयोः = उपमानोपमेययोः परिवृत्तिः अर्थाद् वाक्यद्वये इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमेति उपमेयोपमा । उदाहरणम् - कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः । धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी, सतत विभाति बत यस्य ।। (का प्र सू १३६ का ९१) इति । उपमाया उपमेयोपमाया वैवक्षिक एव भेदो न तु वास्तव । अत एव **दण्डि-रुद्रट-भोजादि**भिरुपमेयोपमात्वस्योपमात्वव्याप्यत्वमभ्युपगम्यते । **न** चानन्वयादुप-मेयोपमाया अभेद , अन्योपमाव्यवच्छेदस्योभयत्र साम्यादित्या**रेकणीयम्**, अनन्वये एकेनैव वाक्येन तद्व्यवच्छेद क्रियते उप-मेयोपमाया तु वाक्यद्वयेनेति विशेषात् । तदुक्त **काव्यप्रकाशे** –> 'उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वय. <– (का प्र सू १३५ का ९०) इति । किञ्चानन्वये एकस्यैवोपमेयत्वमुपमानत्वञ्च, उपमेयोपमायान्तूभयोरित्यपि तयोर्विशेष । तदुक्त **काव्यानुशासने श्रीहेमचन्द्राचार्यैः** –> 'उभयोरुपमेयत्वे उपमानत्वे चोपमेयोपमा । एकस्यैवोपमानत्वोपमेयत्वेऽनन्वय. (का अ अ ६, सू ३) इत्यादिक विभावनीयमलङ्काररसिकै ।

यत्त्विति । उक्तमित्यनेनास्यान्वय । **प्राचा** = प्राचीननैयायिकेन, **'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोऽसाधारणधर्मवत्त्व सादृश्य** = सादृश्यपदप्रतिपाद्यम् । तदेव समर्थयति- **पटादौ घटसादृश्यवारणाय 'असाधारणे'ति** धर्मविशेषणम् । असाधा-रण्यञ्च सकलपदार्थाऽवृत्तित्वेन बोध्यम् । **एतेन** पदार्थमात्रस्य पदार्थमात्रेणाऽपि सम सादृश्य स्यात्, तद्गतप्रमेयत्व-वाच्य-त्वादिधर्मवत्त्वसत्त्वादिति **प्रत्युक्तम्**, प्रमेयत्वादेरसाधारण्याभावात् । तथापि घटभिन्नत्वेन सिह-शृगालयोरपि सादृश्य प्रसज्येतेत्याशङ्कायामाह- **यत्किञ्चिदसाधारणधर्मवति** = घटभेदाद्यसाधारणधर्माश्रये सिह-शृगालादौ **तद्वारणाय** = सादृश्यापाकर-णाय **'भूय'** इति असाधारणधर्मविशेषणम् ।

वह लक्ष्य है । अतः वहाँ उपर्युक्त सादृश्यलक्षण की प्रवृत्ति हो तो भी अतिव्याप्ति दोप का अवकाश नही है । अलक्ष्य मे लक्षण की प्रवृत्ति होने पर ही अतिव्याप्ति दोप का उद्भावन किया जाता है । यहाँ परस्पर उन दोनो मे ही उपमान-उपमेयभाव की विवक्षा होने से उपमा अलकार से अतिरिक्त उपमेयोपमा नामक अन्य अलकार का व्यवहार होता है ।

◙ प्राचीनमत में दूषणोद्भावन ◙

यत्तु इति । प्राचीन नैयायिक सादृश्यलक्षण बताते हुए कहते है कि –> ''तद्भिन्नत्व होते हुए तद्गत अनेक असाधारण धर्मो का होना ही तत्सादृश्य हे । तत्शब्द से उपमान का ग्रहण अभिमत है । जैसे 'मुख चन्द्रसदृश' यहाँ मुख उपमेय हे ओर चन्द्र उपमान है । मुख मे चन्द्र का भेद एव चन्द्रगत आह्लादकत्व, वर्तुलत्व, तेजस्विता आदि अनेक असाधारण धर्म भी रहते हे, वही मुखगत चन्द्रसादृश्य है । यदि सादृश्य का लक्षण केवल इतना ही बनाया जाय कि उपमानभिन्नत्व होते हुए उपमानगत अनेक धर्म उपमेय मे हो वही सादृश्य है, तो फिर विजातीय घट-पट मे भी सादृश्य रह जायेगा, क्योकि पट मे घटभेद एव घटगत प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि अनेक धर्म रहते है । इस आपत्ति के निवारणार्थ धर्मसामान्य न कह कर असाधारण धर्म का ग्रहण किया गया है । पट मे वाच्यत्व, प्रमेयत्व आदि घट के साधारण धर्म रहते है, मगर असाधारण धर्म नही रहते है । अतः 'पटो घटसदृश.' इसकी आपत्ति नही है । यहाँ घट का असाधारण धर्म द्रव्यत्व पट मे भी रहता है । अतः पुन. 'पट. घटसदृश.' इत्याकारक प्रयोग की आपत्ति आयेगी । इसके निवारणार्थ 'भूय.' यानी 'अनेक' ऐसा असाधारण धर्म का विशेपण लगाया गया है । घट के असाधारण = केवलान्वयिभिन्न द्रव्यत्व धर्म की पट मे विद्यमानता होने पर भी घट के अनेक असाधारण धर्म पट मे नही रहते है । अत 'पट घटसदृश.' इस प्रयोग का अनिष्ट प्रसग नही होगा । अतः सादृश्य का घटक केवल धर्म नही है, किन्तु अनेक असाधारण धर्म है - यह फलित होता हे'' <–

तत्र इति । मगर विचार किया जाय तो प्राचीन नैयायिक का उपर्युक्त वक्तव्य भी नामुनासिव प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि पट मे भी कथचित् घटसादृश्य धर्म का सादृश्यलक्षण मे प्रवेश करना असगत है । घट की भाँति पट

तत्र, पटादेरपि कथञ्चिद्घटसादृश्यव्यवहारात् । तद्वाचकानां इवादिपदानां शक्तिस्तु भेदे वृत्तित्वे धर्मे च खण्डश एवेति लाघवाच्चन्द्रादिपदसमभिव्याहाराच्च चन्द्रादिभिन्नत्वलाभः ।

❀ जयलता ❀

तत्र = प्राचीननयायिकोक्तं न सम्यक् । हेतुमाह- पटादेरपि कथञ्चिद्घटसादृश्यव्यवहारादिति । 'घट इव पटादिरपि रूपवानि'ति व्यवहारप्रसिद्धेरिति । ततश्चासाधारणविशेषणस्याऽयुक्तत्वमिति फलितम् ।

मुक्तावलीकारस्तु --> 'सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्, यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमि'त्याह <-- (मुक्ता का २-पृ ७२) । 'अत्र भूयस्त्वं न विवक्षितं, एकधर्मेण सादृश्यानुपपत्तेः भूयानतिशयितः, तात्पर्यविषय इति' <-- (मुक्ता म पृ ७३) मञ्जूषाकारो व्याचष्टे । महादेवस्तु --> 'तद्भिन्नत्वे सतीति, इदञ्च सादृश्यनिरूपकेऽतिव्याप्तिवारणाय । अनुयोगितासम्बन्धविवक्षणे तु न देयमत्र । तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमिति । तत्राऽसाधारण्येन विद्यमाना ये भूयांसो धर्मास्तद्वत्त्वमित्यर्थः' <-- (मुक्ता दि पृ ७२) इति व्याख्यातवान् । अत्र रामरुद्रस्तु --> 'यद्यपि घटभेदपटभेदादयो भूयांसो धर्मास्तत्र सम्भवन्त्येव, गोत्वाश्वत्वयोर्नित्यत्वरूपैकधर्ममादाय सादृश्यमङ्गीकृत्यैवोक्तमिति भूयस्त्वोपादानमसङ्गतमेव तथापि प्रायो भूयोधर्मैरेव सादृश्यप्रतीतिरितितात्पर्यविषयार्थकमेव प्रकृते भूयःपदमिति ध्येयम् । 'नरोऽयं सिंहसदृश' इत्यादौ तु घटभिन्नत्वादिर्न तात्पर्यविषयः किन्तु पराक्रमः । तस्यापि तथात्वे त्विष्टापत्तेः । तस्मादसाधारण्येनेत्यपि न देयम् । यथा घटो वाच्यस्तथा पटोऽपीति व्यवहाराच्च' <-- (मुक्ता रा पृ ७२) इति प्रोक्तवान् ।

केचित्तु 'तद्गतत्वं न लक्षणे प्रविष्टं किन्तु चन्द्रभिन्नत्वे सति आह्लादकत्वं चन्द्रसादृश्यमिति रीत्या विशिष्यैव धर्माणां लक्षणे प्रवेशः । ते च धर्मा उपमानसाधारणा ग्राह्याः । तेन चन्द्रभिन्नत्वे सति केशादिमत्त्वं न चन्द्रसादृश्यमिति स्फोरणाय तद्गतत्वोत्कीर्तनमित्याहुः ।

तद्वाचकानां = सादृश्यवाचकानां इवादिपदानां आदिना तुल्यादिग्रहः, शक्तिस्तु भेदे वृत्तित्वे धर्मे च खण्डश एव, न तु चन्द्रादिभिन्नत्वविशिष्टचन्द्रादिवृत्त्याह्लादकत्वादिधर्मवत्त्वलक्षणसादृश्येऽखण्डा शक्तिः महागौरवात् । 'तर्हि मुखादौ चन्द्रादिभेदः कथं प्रतीयेत ? तत्प्रतीतौ वा घटादेरपि भेदः किं न प्रतीयेत ?' इत्याशङ्कायामाह- लाघवात् = उपस्थितिकृतलाघवात्, चन्द्रादिपदसमभिव्याहाराच्च = चन्द्रादिवाचकपदसान्निध्याच्च चन्द्रादिभिन्नत्वलाभः = भेदे चन्द्रादिप्रतियोगिकत्वबोधः । इत्थमेव चन्द्रादिनिरूपितत्वस्य वृत्तित्वे लाभः । तात्पर्यसहकारेणाऽऽह्लादकत्व-तेजस्वित्वादिधर्मबोधः ।

अथैवं सति 'चन्द्र इव मुखमाह्लादकमि'ति वाक्ये पौनरुक्त्यप्रसङ्गः, आह्लादकत्वस्येवपदेनैव लब्धत्वादिति चेत् ? अत्र पट्टाभिरामः --> 'इवपदेन साधारणधर्मत्वेनैवाह्लादकत्वबोधनेन पौनरुक्त्याभावात् । अयं तु विशेषः यत्र विशिष्य साधारणधर्मवाचकपदसमभिव्याहारोऽस्ति तत्र साधारणधर्मत्वेनैवाह्लादकत्वमिवादिर्बोधयति । यत्र तु स नास्ति सति तात्पर्ये आह्लादकत्वत्वेनैव बोधः, अन्यदा तु साधारणधर्मत्वेनैवाह्लादकत्वादिर्बोध्यते' (मुक्ता म पृ ७५) इति समाधत्ते । आह्लादकपदं तात्पर्यग्राहकमिति न पुनरुक्तिरित्यन्ये ।

भी रूपवाला होने से रूप की अपेक्षा 'घट इव पटः' इत्यादि वाक्य का प्रयोग तो लोक मे होता ही है । अतः अनेक असाधारण धर्म का सादृश्यलक्षण मे प्रवेश करने से अव्याप्ति- नामक दोष का प्रसग भी प्राचीन नैयायिक के मत मे दुर्वार बन जायेगा ।

इवादिशब्द की खंडशः शक्ति - नैयायिक

तत्र इति । उपर्युक्त मीमांसा से यह फलित होता है कि सादृश्य तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप है । इस सादृश्य के वाचक इव, तुल्य, सदृश आदि शब्दो की शक्ति सादृश्य के घटक भेद (= भिन्नत्व), वृत्ति और धर्म मे खण्डशः है । यहाँ इस शंका का कि --> "यदि भेद, वृत्ति और धर्म इन तीनो मे इव आदि शब्द की खंडशः शक्ति मानी जाय तो 'मुख चन्द्र इव' इत्यादि स्थलो मे मुख मे शब्द का भान हो सकेगा, मगर चन्द्रादि के भेद का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? क्योंकि चन्द्रादिप्रतियोगिक भेद मे इवपद की शक्ति का स्वीकार नही किया गया है" <-- समाधान यह है कि उपस्थितिकृत लाघव से एवं चन्द्रादिपद के समभिव्याहार से मुख मे चन्द्रादिप्रतियोगिक भेद का लाभ हो सकता है । यहाँ मुख मे घटादिप्रतियोगिक भेद का भान नही हो सकता है, क्योंकि तब घटादि की उपस्थिति = ज्ञान नही है, एवं तद्वाचक पद का सान्निध्य भी नही है ।

अनवच्छिन्नविशेषणताया भेदससर्गत्वाच्च न कपिसयोगवति कपिसंयोगवत्साहश्यापत्ति. ।
अथैव –> 'पटो न घटसहश' इतिधीर्न स्यात्, घटवृत्तिधर्मसामान्याभावस्य पटेऽसम्भवात् ।
'अत्रोपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसंसर्गेण वृतित्वविशिष्टधर्माभावबोधान्नायं दोष' इति

❀ जयलता ❀

ननु 'चन्द्रसदृश मुखमि'त्यत्र चन्द्रस्य प्रतियोगितासम्बन्धेन भेदे निरूपितत्वसम्बन्धेन च वृत्तित्वे तस्य तु स्वरूपसम्बन्धेन धर्मेऽन्वयमङ्गीकृत्य 'चन्द्रभिन्नत्वविशिष्ट-चन्द्रवृत्त्याह्लादकत्वादिधर्मवन्मुखमि'तिशाब्दबोधाभ्युपगमे तु शाखावच्छेदेन कपिसयोगवति वृक्षे कपिसयोगवत्सादृश्यप्रसङ्गो दुर्निवार., वृक्षे मूलावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्धेन कपिसयोगिभेदस्य वृत्तित्वादित्याशङ्कायामाह- **अनवच्छिन्नविशेषणतायाः** = निरवच्छिन्नवृत्तिताकविशेषणतायाः **भेदससर्गत्वात् च** = सादृश्यघटकभेदनिष्ठवृत्तितावच्छेदक-सम्बन्धत्वविवक्षणात् हि **न कपिसयोगवति** वृक्षादौ **कपिसयोगवत्सादृश्यापत्तिः** । न हि वृक्षे निरवच्छिन्नविशेषणतासंसर्गेण कपिसयोगिभेदो वर्तते, शाखाया तरय कपिसयोगित्वात् । एवञ्चान्योन्याभावस्याऽव्याप्यवृत्तित्वाऽङ्गीकारेऽपि न क्षति ।

पर शङ्कते- **अथेति** । द्वितीयचेत्पदेन सहास्यान्वय । एव = सादृश्यलक्षणघटकधर्मविशेषणविषयाऽसाधारणत्वस्याऽनङ्गीकारे सति, **'पटो न घटसदृश'' इति धीर्न स्यात्**, पटस्य घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिप्रमेयत्वादिधर्मवत्त्वेन **घटवृत्तिधर्म-सामान्याभावस्य पटेऽसम्भवात्** । विशेषण-विशेष्योभयवति विशिष्टाभावस्य वक्तुमशक्यत्वेन विशिष्टवत्प्रतियोगिकभेदस्याऽसत्त्वात् पटे घटसदृशभिन्नत्वप्रतीतिर्नैव स्यादित्यथाभिप्राय ।

कश्चित् समाधत्ते- '**अत्र** = 'पटो न घटसदृश' इत्यादौ **उपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वससर्गेण वृत्तित्व-विशिष्टधर्माभावबोधात् नाय दोष'** = न तादृशबोधानुपपत्तिप्रसङ्ग । उपमानभूतघटनिरूपितवृत्तित्व आश्रयतासम्बन्धेन पट-साधारणे प्रमेयत्वादौ धर्मे वर्तते किन्तु उपमानपदार्थतावच्छेदकघटत्वनिष्ठाश्रयत्वससर्गेण वृत्तित्व घटत्वे एव वर्तते न तु प्रमेयत्वादौ धर्मे । न हि प्रमेयत्वादिक प्रकृते उपमानपदार्थतावच्छेदक, तस्याऽतिप्रसक्तत्वात्, किन्तु घटत्वमेव तथा । उपमानात्मक-घटपदार्थतावच्छेदकघटत्वनिष्ठाश्रयत्वससर्गेण वृत्तित्वविशिष्टो यो घटत्वधर्म स तु नोपमेये पटे वर्तत इति तत्र घटसादृश्यविरहात् 'पटो न घटसदृश' इतिधीरनाविलैवेति मुग्धसमाधानाशय ।

अनव । यद्यपि **'उपमानभिन्नत्वे सति उपमानवृत्तिधर्मवत्त्व' को सादृश्य मानने पर शाखाअवच्छेदेन कपिसयोग वाले वृक्ष मे 'यह कपिसयोगिसदृश है' इत्याकारक वाक्यप्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति आ सकती है, क्योकि 'वृक्ष शाखा मे कपिसयोगी है, न कि मूल मे भी' इस प्रतीति से मूलावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से वृक्ष कपिसयोगिभिन्नत्वविशिष्ट है । एव उपमानगत कपि-सयोग भी वृक्ष मे रहता है** तथापि **अनवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से भेद की वृत्तिता का स्वीकार करने पर उपर्युक्त आपत्ति का परिहार हो सकता है, क्योकि मूलावच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से ही वृक्ष कपिसयोगिप्रतियोगिक भेद वाला है न कि निरवच्छिन्न-विशेषणतासंसर्ग से । वृक्ष मे शाखावच्छेदेन कपिसयोग होने से निरवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से कपिसयोगिभेद की वृक्ष मे सभावना नही हो सकती है, अन्यथा तब 'वृक्षो न कपिसयोगी' ऐसी प्रतीति के प्रामाण्य की आपत्ति आयेगी ।**

शका ·- अथैव इति । **यहाँ यह कहा जा सकता है कि सादृश्य को तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वात्मक मानने पर तो 'पटो न घटसदृश.' ऐसी बुद्धि नही हो सकेगी, क्योकि घटगत प्रमेयत्व-वाच्यत्व आदि धर्म तो पट मे रहते ही है ओर घटभेद भी पट मे रहता है । पट मे घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिप्रमेयत्वादिधर्म रहने से 'पटो घटसदृशः' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, न कि 'पटो न घटसदृशः' ऐसी प्रतीति । यदि यहाँ यह कहा जाय कि –> ''सादृश्य के लक्षण का जो उत्तर अश है 'उपमानवृत्तिधर्मवत्त्व' इसका अर्थ है उपमाननिरूपितवृत्तिताविशिष्टधर्मवत्त्व । यहाँ वैशिष्ट्य केवल आश्रयत्वसम्बन्ध से ग्राह्य नही है, किन्तु उपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्ध से ग्राह्य है । ऐसा मानने पर 'पटो न घटसदृश.' यह बुद्धि अनुपपन्न नही होगी, क्योकि पट मे जो वाच्यत्वादि घटवृत्ति धर्म रहते हे, उनमे उपमानपदार्थतावच्छेदकीभूतघटत्वनिष्ठाश्रयता-सम्बन्ध से घटनिरूपित वृत्तिता नही रहती है, किन्तु वाच्यत्वादिनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्ध से या आश्रयत्वसामान्यसम्बन्ध से घटनिरूपित-वृत्तिता रहती है । सिर्फ घटत्व धर्म ऐसा है कि जो घटात्मक-उपमानपदार्थतावच्छेदक होने की वजह उसमे रहने वाली घटनिरूपित वृत्तिता घटत्वनिष्ठाश्रयत्वससर्ग से रह सकती है । मगर वह घटत्व धर्म पट मे नही रहता है, भले ही निरवच्छिन्नविशेषणतासम्बन्ध से घटभेद पट मे रहता हो । सादृश्य के विशेष्य अश के विरह से घटसादृश्य पट मे नही रहता है । अत. 'पटो न घटसदृश.' इत्याकारक बुद्धि एव व्यवहार निराबाध हो सकता है'' <– तो यह भी असगत है, क्योकि उपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्व-सम्बन्ध से उपमाननिरूपितवृत्तिताविशिष्ट ऐसे धर्म का उपमेय मे भान मानने पर तो 'घट· पटसदृशः' ऐसी बुद्धि, जो स्वारसिकतया**

चेत् ? न, एव सति 'घट· पटसदृश' इति बुद्ध्यनापत्तेरिति <– चेत् ? न, 'घटो न पटसदृश' इति बुद्ध्यनापत्तेरिष्टत्वात्, अनिष्टत्वे वा धर्मपद घटत्वादिपरं बोध्यम् । 'एवमपि घट-भिन्नत्वविशिष्टघटत्वाऽप्रसिद्धे कथ तदभावबोध इति चेत् ? न ह्यत्र विशिष्टस्याभावबोध

❀ जयलता ❀

अथवादी तन्निराचष्टे- नेति । एव = उपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धेन उपमाननिरूपितवृत्तित्वविशिष्टो यो धर्मस्तस्य सादृश्यलक्षणघटकत्वाऽभ्युपगमे सति 'घट· पटसदृश·' इति बुद्ध्यनापत्तेरिति । घटे पटभेदसत्त्वेऽपि उपमान-भूतपटपदार्थतावच्छेदकपटत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धेन वृत्तित्वविशिष्टस्य धर्मस्य विरहात् । अतो द्रव्यत्वेन घटे पटसादृश्यधी-व्यवहारो न स्यातामित्येक सीव्यतोऽपरप्रच्युतिर्दुर्वारेति नोपमानपदार्थतावच्छेदकनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धेन वृत्तित्वविशिष्टो यो धर्मस्तद्वत्त्वस्य सादृश्यलक्षणनिवेशो युक्त , अन्यथा 'मुख चन्द्र इवे'त्यादौ सर्वत्र सादृश्यानुपपत्ति प्रसज्येत, 'घट कुम्भ इवे'त्यादे प्रामाण्य-प्रसङ्गश्चेत्यसाधारणत्वनिवेशस्याऽऽवश्यकत्वमेवेत्यधाशय ।

नैयायिकास्तन्निराकुर्वन्ति- नेति । 'घटो न पटसदृश' इति बुद्ध्यनापत्तेरिष्टत्वादिति । ततश्च सादृश्यलक्षणघटकधर्म-विशेषणविधयाऽसाधारणत्वनिवेशोऽनावश्यक इति भाव । यदि च परेण 'घटो न पटसदृश' इति बुद्धे प्रामाणिकत्व स्वीक्रियते तदा विकल्पान्तरमाहु - अनिष्टत्वे वेति । तादृशबुद्ध्यनापत्तेरनिष्टत्वे वेत्यर्थ । धर्मपद = सादृश्यलक्षणघटकधर्मवाचकपद, घटत्वादिपर = लक्षणया घटत्वादिबोधक बोध्यमिति । घटत्वस्य पटेऽभावात् 'घटो न पटसदृश' इति धिय उपपत्तिरित्यर्थ ।

पर शङ्कते - एवमपि = सादृश्यलक्षणघटकीभूतधर्मबोधकपदस्य घटत्वादौ लक्षणाऽङ्गीकारेऽपि घटभिन्नत्वविशिष्ट-घटत्वाऽप्रसिद्धे· 'पटो न घटसदृश' इतिवाक्यात् कथ तदभावबोध ? पटे घटभेदविशिष्टघटत्वलक्षणसादृश्याभावगोचर-शाब्दबोधो नव स्यात् । यत्र घटत्व तत्र न घटभिन्नत्व यत्र च घटभिन्नत्व तत्र न घटत्वमिति सामानाधिकरण्येन घट-भिन्नत्वविशिष्टस्य घटत्वस्य कुत्राऽप्यप्रसिद्धे पटे न तदभावात्मक-घटसादृश्याभावबोध सम्भवति, अप्रसिद्धप्रतियोगिका-भावस्याऽनभ्युपगमात् । इत्थञ्च तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वरूपस्य सादृश्यलक्षणस्य घटकीभूतधर्मपद लक्षणया घटत्वादि-बोधक स्यात् तदा 'पटो न घटसदृश' इतिवाक्याच्छाब्दबोधो न कथमपि सङ्गच्छेतेति शङ्काशय ।

नैयायिका समादधते- न हीति । अत्र = 'पटो न घटसदृश' इति स्थले, विशिष्टस्य = सामानाधिकरण्येन घट-भेदविशिष्टस्य घटवृत्तिघटत्वस्य अभावबोध· स्वीक्रियते, येन 'असओ णत्थि णिसेहो' इति वचनात् अप्रसिद्धप्रतियोगिक-

---

सर्वजनविदित है, भी नही हो सकेगी, क्योकि यहाँ उपमान पट होने से उपमानपदार्थतावच्छेदक पटत्व है, जिसमे रहने वाले आश्रयत्वसम्बन्ध से पटनिरूपितवृत्तिताविशिष्ट केवल पटत्व धर्म ही है, जो कि उपमेय घट मे नही रहता है । घट मे निरवच्छिन्न-विशेषणतासम्बन्ध से पटभेद रहने पर भी पटत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्ध से पटनिरूपितवृत्तिताविशिष्ट ऐसा धर्म नही होने से पटसादृश्य ही नही है, तो 'घट· पटसदृश' ऐसी बुद्धि कैसे हो सकेगी । अत इन दोषो से मुक्ति पाने के लिए सादृश्यघटक धर्म के विशेषणविधया असाधारणपदार्थ का निवेश आवश्यक है । तभी 'पटो न घटसदृश ' इस बुद्धि एव व्यवहार की उपपत्ति हो सकेगी ।

समाधान ·- न, घ इति । मगर विचार करने पर उपर्युक्त कथन भी असगत प्रतीत होता है, क्योकि 'पटो न घटसदृश ' इस बुद्धि की अनुपपत्ति ही है । मतलब कि पट मे घटसादृश्य होने से 'पटो न घटसदृश ' यह बुद्धि स्वीकार्य ही नही होने की वजह इसकी अनुपपत्ति इष्टापत्ति है । अत उसके अनुरोध से सादृश्यलक्षण के शरीर मे असाधारण का धर्मविशेषणविधया निवेश अनावश्यक हे । अत 'तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्व' को ही सादृश्य का लक्षण मानना मुनासिब हे न कि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिभूयोऽसाधारणधर्मवत्त्व' को-यह फलित होता ह । यदि 'पटो न घटसदृश.' यह बुद्धि अभीष्ट हो ओर इसीकी वजह 'पटो न घटसदृश ' इत्याकारक बुद्धि की अनापत्ति = अनुपपत्ति = असगति अनिष्ट हो तो उसकी उपपत्ति के लिए यह कहा जा सकता है कि सादृश्यलक्षणघटक धर्मपद घटत्वादिपरक हे यानी धर्मपद की घटत्वादि मे लक्षणा करनी चाहिए । तब 'पटो न घटसदृश.' इत्याकारक बुद्धि उपपन्न हो सकती है, क्योकि पट मे घटभेद होने पर भी घटवृत्ति घटत्व धर्म का अभाव होने से घटसादृश्य नही रहता है । विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव अबाधित होने से 'पटो न घटसदृश ' इत्याकारक बुद्धि का समर्थन हो सकता है ।

एवमपि इति । यहाँ यह शका हो कि –> ''पट मे घटसादृश्य का निषेध कैसे किया जा सकता है ? क्योकि

किन्तु घटभिन्नत्व-घटवृत्तिधर्माभावयो. 'एकत्र द्वयमि'ति न्यायेनेति 'घटभिन्नत्वविशिष्टघट-वृत्तिधर्मस्य घटत्वीयसम्बन्धेन अभावबोधान्नाऽत्राऽनुपपत्तिरित्यप्याहु ।

एतत्कल्पे च सामानाधिकरण्यसम्बन्धेनेवाद्यर्थस्य भेदस्य स्वार्थे धर्म एवान्वयो

❀ जयलता ❀

निषेधाऽऽक्रान्तत्वेन तादृशबोधानुपपत्ति. **किन्तु घटभिन्नत्व-घटवृत्तिधर्माभावयोः 'एकत्र द्वयमि'तिन्यायेनेति** । यथा 'घट-भूतलत्ववद्भूतलमि'त्यत्र भूतले स्वतन्त्रयो. घटभूतलत्वयोरन्वयो भवति तथा 'पटो न घटसदृश' इत्यत्र पटे घटभिन्नत्वस्य घटवृत्तिघटत्वधर्माभावस्य चैकत्र द्वयमितिन्यायेनान्वयबोधो भवति न तु विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही बोध इति न प्रतियोग्यप्रसिद्धि-दोषावकाश । न चैकविशेषणविशिष्टेऽपरविशेषणवैशिष्ट्यमिति रीत्या न वा विशेष्ये विशेषण तत्राऽपि विशेषणान्तरमिति रीत्या प्रकृतेऽन्वयबोध , तस्य सादृश्यव्यवहारानौपयिकत्वात् ।

कल्पान्तरमावेदयन्ति - **घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मस्य घटत्वीयसम्बन्धेन** = घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धेन **अभावबोधात्** = अभावान्वयबोधाभ्युपगमात्, **न अत्र** = 'पटो न घटसदृश' इतिस्थले **अनुपपत्ति·** = अन्वयबोधाऽसङ्गतिरिति । **यद्यपि** पटे घटभेदविशिष्ट-घटवृत्तिद्रव्यत्वादिधर्मो वर्तते तथापि स द्रव्यत्वादिप्रतियोगिकसम्बन्धेन न तु घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धेनेति घटत्वप्रतियोगिकससर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिद्रव्यत्वादिधर्माभावस्य पटे सत्त्वात् 'पटो न घटसदृश' इत्यत्र न शाब्दबोधानुपपत्ति , निरुक्तस्य घटसादृश्याभावस्य पटेऽक्षतत्वात् । **न च** घटभेदविशिष्टद्रव्यत्वस्य घटत्वीयसम्बन्धेन कुत्राऽप्यप्रसिद्धे. कथमेतादृशान्वयबोध इति वाच्यम्, व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य स्वीकारात् । **अत एव** प्रतियोगिताया व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नत्वमिव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्वमपि स्यादित्युक्तावपि **न क्षति·**, इष्टापत्ते । न हि स्वरसवाहिप्रतीत्यपलाप शक्यते कर्तुं मनीषिभि , अन्यथा शून्यवादिमतप्रवेशप्रसङ्गात् ।

एतत्कल्पे च = घटत्वीयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटभेदविशिष्टघटगतधर्माभावलक्षणघटसादृश्याभाववत्पटाऽङ्गीकर्तृमतेऽ-नन्तरप्रदर्शिते हि **सामानाधिकरण्येन** सम्बन्धेन **इवाद्यर्थस्य भेदस्य स्वार्थ** = इवादिशब्दार्थे **धर्मे** द्रव्यत्वादिलक्षणे **एव अन्वयः**

घटभिन्नत्वविशिष्टघटत्वात्मक घटसादृश्य कही भी प्रसिद्ध नही है । जहाँ घटभेद रहता है वहाँ घटत्व नही रहता है और जहाँ घटत्व रहता है वहाँ घटभेद नही रहता हे । अत. सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटभेदविशिष्टघटत्व अप्रसिद्ध है । अप्रसिद्ध पदार्थ का निषेध नही हो सकता है । अत· 'पटो न घटसदृश.' इस वाक्य से पट मे घटभिन्नत्वविशिष्टघटत्वप्रतियोगिकाभावात्मक घटसादृश्याभाव का बोध नही हो सकेगा'' <— तो इसका यह समाधान है कि 'पटो न घटसदृश·' यहाँ घटभेदविशिष्टघटत्व के अभाव का पट मे भान नही माना गया है किन्तु पट मे घटभिन्नत्व और घटवृत्तिघटत्वधर्माभाव का 'एकत्र द्वय' न्याय से भान माना गया है । एक विशेष्य मे दो विशेषण का जहाँ भान माना जाता हे वहाँ 'एकत्र द्वय' न्याय की प्रवृत्ति होती हे । पटात्मक एक विशेष्य मे घटभिन्नत्व एव घटत्वाभाव-इन दो विशेषण का भान माना जा सकता है । अब प्रतियोगी की अप्रसिद्धि का दोष नही है, क्योकि अभाव का प्रतियोगी केवल घटत्व है, जो घट मे प्रसिद्ध ही हे । इसके समाधानार्थ यह भी कहा जा सकता हे कि घटभिन्नत्वविशिष्ट घटवृत्ति धर्म के अभाव का घटत्वीयसम्बन्ध से बोध होने से भी 'पटो न घटसदृश ' इत्यादि स्थल मे अनुपपत्ति नही हे । मठभेद आदि घटवृत्ति धर्म सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटभिन्नत्वविशिष्ट है। अत विशिष्ट धर्म की अप्रसिद्धि का दोष नही है । मगर पट मे वह विशिष्ट धर्म मठभेदप्रतियोगिकसम्बन्ध से रहता हे, न कि घटत्वप्रतियोगिक सम्बन्ध से । अत. पट मे घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्ध से घटभिन्नत्वसमानाधिकरण (= विशिष्ट) घटवृत्ति धर्म का अभाव रहता है । तादृश विशिष्ट धर्म घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्ध = घटत्वीयसम्बन्ध से पट मे नही रहता है । इसलिए 'पटो न घटसदृश.' इस वाक्य से घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तादृशाभाव का पट मे भान हो सकता है- ऐसा नेयायिक विद्वानो का कथन हे ।

एतत् इति । 'पटो न घटसदृश.' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध के अनन्तर प्रदर्शित कल्प मे इवादिशब्द के अर्थ भेद का इवादिशब्द के अर्थ = स्वार्थ धर्म मे सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से ही अन्वय होता है - यह ज्ञातव्य है । जैसे 'चन्द्र इव मुख' यहाँ मुख मे चन्द्रभेद ओर चन्द्रगत आह्लादकत्वादि धर्म रहने से सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से चन्द्रभेदविशिष्ट चन्द्रवृत्तिआह्लादकत्वादिधर्मात्मक चन्द्रसादृश्य का मुख मे भान होता हे । सादृश्य का निर्वचन करने वाला यही पक्ष समीचीन हे । 'पटो न घटसदृश.' यहाँ 'एकत्र द्वय' न्याय से पट मे घटभेद और घटवृत्तिघटत्वधर्माऽभाव दोनो का भान मानने वाला प्रथम पक्ष मान्य नही किया जा सकता, क्योकि वैसा मानने पर 'घटो न घटसदृश.' इत्याकारक बोध अनुपपन्न हो जायेगा ।

बोध्य । समीचीनश्चाऽयमेव पक्ष, पूर्वत्र 'घटो न घटसदृशः' इतिबोधानापत्ते. ।

ननु घटत्वादावपि पटत्वात्यन्ताभावादिरूपघटभेदवैशिष्ट्याद् घटे घटसादृश्यं कथं नेति चेत् ? तादृशघटभेदस्य घटे सत्त्वेऽपि घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणताया अभावात्, अन्यथा

❀ जयलता ❀

= सम्बन्ध बोध्यः । पटात्मके एकस्मिन्नेवाधिकरणे घटभेदस्य घटवृत्तिद्रव्यत्वादिधर्मस्य च सत्त्वात् स्वसामानाधिकरण्येन घटभिन्नत्वविशिष्ट-घटवृत्तिधर्मस्य प्रसिद्धि । इत्थञ्च विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिशाब्दबोधाऽङ्गीकारेऽपि न क्षति, अभावप्रतियोगिनोऽत्र पक्षे प्रसिद्धेस्तत्प्रतियोगिकाभावस्य निरुपलपनीयत्वात् । समीचीनश्च अयमेव = अनन्तरोक्त एव पक्षः । 'एकत्र द्वयमि'ति-रीत्या पूर्वप्रदर्शितप्रकारेणान्वयबोधस्वीकर्तृप्रथमपक्षस्यैवकारेण व्यवच्छेद कृत । तस्याऽसमीचीनत्वे हेतुमाविष्कुर्वन्ति- पूर्वत्र = 'पटे घटभिन्नत्वस्य घटवृत्तिघटत्वधर्माभावस्य चैकत्र द्वयमितिन्यायेनाऽन्वयबोधाऽङ्गीकर्तृपूर्विले पक्षे, 'घटो न घटसदृश' इतिबोधानापत्ते· = उपमेये घटे घटभिन्नत्वस्य घटवृत्तिधर्माभावस्य च बाधेन 'घटो न घटसदृश'इत्याकारकशाब्दबोधस्यानुपपत्ते । न च 'घटो न घटसदृश' इतिशाब्दबोधानापत्तेरिष्टत्वमिति वाच्यम्, उपमाया उपमानोपमेयभेदनियतत्वात् । अत एव घटमुद्दिश्य 'अय घटसदृश' इति मुग्धेनोक्ते घट विद्वान् 'अय घट एव न तु घटसदृश इति प्रयुङ्क्ते । न हि चैत्र कदापि 'अह चैत्रसदृश.' इति प्रयुङ्क्ते, किन्तु 'अह चैत्र' इत्येवमेव स्वपरिचय दत्ते । न च प्रकृतकल्पे कथ 'घटो न घटसदृश' इति बुद्धि सङ्गच्छेतेति शङ्कनीयम्, घटे घटत्वीयसंसर्गेण घटत्वस्य सत्त्वेऽपि सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिघटत्वधर्मस्य घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धेनाऽसत्त्वात्, घटे घटभेदस्याऽसम्भवात् । इत्थञ्च विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावस्य घटत्वप्रतियोगिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य सत्त्वेन 'घटो न घटसदृश' इतिबुद्ध्युपपत्ते ।

ननु घटत्वादावपि सामानाधिकरण्येन पटत्वात्यन्ताभावादिरूपघटभेदवैशिष्ट्यात् तादृशघटभेदविशिष्टघटत्वस्य घटवृत्तित्वात् घटे घटसादृश्य कथ न भवति ? अय शङ्काशय 'पटत्वात्यन्ताभावो न घट ' इत्यादिप्रतीत्या घटभेद पटत्वात्यन्ताभावाद्यात्मक सिध्यति, अभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणात्मकत्वात् । पटत्वात्यन्ताभावादेर्घटवृत्तित्वेन तदभिन्नत्वेन घटभेदस्यापि घटवृत्तित्वात् घटत्वादे सामानाधिकरण्येन पटत्वात्यन्ताभावाद्यात्मकघटभेदविशिष्टत्वम् । इत्थञ्च पटत्वात्यन्ताभावादिस्वरूपघटभेदविशिष्टघटवृत्तिघटत्वधर्मस्य घटत्वीयसम्बन्धेन घटवृत्तित्वसिद्धौ घटभिन्नत्वविशिष्टघटत्वलक्षणघटसादृश्य घटे निराबाधमिति 'घटो न घटसदृश' इतिबुद्धचनापत्तेरिष्टत्वान्नैकत्र द्वयमितिन्यायेन 'पटो न घटसदृश' इत्यत्र घटभिन्नत्व-घटत्वाभावयो पटेऽन्वयस्याऽयुक्तत्वमिति निहिताशयो ननुवादिन ।

घटे घटसादृश्याभाव समर्थयति- तादृशघटभेदस्य = पटत्वात्यन्ताभावादिस्वरूपस्य घटभेदस्य घटे उपमेये सत्त्वेऽपि घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणताया· = घटभेदत्वावच्छिन्नाऽऽधेयतानिरूपिताधिकरणताया पटत्वात्यन्ताभावादौ सत्त्वेन घटे अभावादिति । यथा 'घटध्वसे घटो नास्ती'तिप्रतीत्या सिध्यतो घटध्वसाधिकरणकस्य घटात्यन्ताभावस्य लाघवेन घटध्वसात्मकत्वेऽपि घटध्वसवति कपाले प्राचीननैयायिकमतानुसारेण घटध्वसत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपितवाऽधिकरणता, न तु घटात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताऽपि, घटध्वसस्य घटध्वसत्वेनैव रूपेण कपाले सत्त्वात् न तु घटात्यन्ताभावत्वेनाऽपि रूपेण तथैव

उपमेय घट मे घटभेद ओर घटवृत्तिधर्माभाव दोनो नही रहते है ।

❊ घट में घटभेद की शंका का परिहार ❊

ननु व इति । यहाँ यह शका हो कि —> ''घट मे सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटभेदविशिष्टघटत्व = घटसादृश्य तो रहता हे, क्योकि घटवृत्ति घटत्व धर्म मे सामानाधिकरण्यसम्बन्ध से घटभेदविशिष्टत्व अबाधित है । वह इस तरह - 'पटत्वात्यन्ताभावो न घट ' इस प्रतीति से घटभेद पटत्वात्यन्ताभाव मे रहता हे यह सिद्ध होता है । नेयायिकमतानुसार अभाव मे रहने वाला अभाव अधिकरणीभूत अभावस्वरूप होने से पटत्वात्यन्ताभावाधिकरणक घटभेद पटत्वाऽत्यन्ताभावात्मक सिद्ध होता है । घट मे पटत्वात्यन्ताभाव के रहने से तत्स्वरूप घटभेद भी रह जायेगा । एक ही घट मे घटत्व एव पटत्वाभावस्वरूप घटभेद के रहने से घटत्व सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से पटत्वाभावस्वरूपघटभेदविशिष्ट होगा । इस तरह घट मे तादृशघटभेदविशिष्टघटत्व रहता है, जो घटसादृश्यात्मक है । अत 'घटो न घटसदृश ' इत्याकारक बुद्धि की अनुपपत्ति इष्टापत्ति है । घट मे घटसादृश्य सिद्ध होने पर 'घट घटसदृश नही है' यह कैसे माना जा सकता हे ?'' <—

तो यह भी नामुनासिब है, क्योकि घट मे पटत्वात्यन्ताभावस्वरूप घटभेद रहने पर भी घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणता

'घटो न घट' इति प्रतीत्यापत्तेरिति गृहाण ।

अथ तद्भिन्नत्वमात्रमेव सादृश्यमस्तु प्रमेयत्वादिना सर्वत्र सर्वसादृश्याद् व्यर्थो विशेष्यभाग इति चेत् ? न, तद्भिन्नत्वमात्रस्य सादृश्यव्यवहारानौपयिकत्वाद्, विशिष्टाधिकरणताया भिन्नत्वेन वैयर्थ्याभावाच्च ।

❀ जयलता ❀

प्रकृते 'पटत्वात्यन्ताभावो न घट' इति प्रतीत्या सिध्यतः पटत्वात्यन्ताभावाधिकरणकस्य घटभेदस्य लाघवेन पटत्वात्यन्ताभावस्वरूपत्वेऽपि पटत्वात्यन्ताभाववति घटे पटत्वात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नाऽऽधेयतानिरूपितैवाऽधिकरणता न तु घटभेदत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताऽपि, पटत्वात्यन्ताभावस्य पटत्वात्यन्ताभावत्वेनैव रूपेण घटे सत्त्वात् न तु घटभेदत्वेनाऽपि रूपेणेति । घटभेदत्वेन रूपेण घटभेदस्य यदधिकरण तत्समानाधिकरणस्य घटवृत्तिधर्मस्य घटभिन्नत्ववैशिष्ट्य प्रकृतोपयोगि । तच्च न घटे सम्भवति घटभेदत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतासम्बन्धेन घटवृत्तिघटत्वधर्मस्य घटभेदविशिष्टत्वाभावेन घटभेदविशिष्टघटवृत्तिधर्मस्य घटत्वीयसम्बन्धेन घटे विरहात् ।

ननु पटत्वात्यन्ताभावाधिकरणकस्य घटभेदस्य लाघवेन पटत्वात्यन्ताभावस्वरूपत्वे पटत्वात्यन्ताभाववति घटे कथ न घटभेदत्वावच्छिन्नाधिकरणता ? इत्याशङ्कायामाह- **अन्यथेति** । घटे घटभेदत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतायाः स्वीकारे, **'घटो न घट' इति प्रतीत्यापत्तेः** = 'घटो घटभेदवानि'ति प्रतीते प्रामाण्यापत्तेः, घटे पटत्वात्यन्ताभावत्वेन घटभेदस्य सत्त्वेऽपि घटभेदत्वेन तस्याऽभाव एवेति **गृहाण** = जानीहीति 'नैकत्र द्वयमि'ति रीत्या पटे घटभेदस्य घटत्वाभावस्य चान्वय 'पटो न घटसदृश' इति स्थले कर्तु युज्यत इति निर्गलितार्थ ।

अथ तद्भिन्नत्वमात्रमेव सादृश्यमस्तु, न तु तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वम् । हेतुमाह- **प्रमेयत्वादिना सर्वत्र सर्वसादृश्याद् व्यर्थः** तद्वृत्तिधर्मवत्त्वलक्षणे **विशेष्यभाग**, तदनिवेशेऽपि प्रमेयत्व-वाच्यत्वादिना घटादौ पटादिसादृश्योपपत्ते तत्र पटादिभेदस्य सत्त्वादिति **चेत् ? न** तद्वृत्तिधर्मवत्त्वलक्षणविशेष्याऽघटितस्य **तद्भिन्नत्वमात्रस्य सादृश्यव्यवहारानौपयिकत्वात्** = केवलमुपमानभेदस्योपमेये सादृश्यप्रयोगानुपायात्मकत्वात् सादृश्यलक्षणे विशेष्याशनिवेशोऽपि आवश्यक इत्यर्थः ।

ननु व्यावृत्तेरेव लक्षणप्रयोजनत्वात् स्वस्मिन् स्वसादृश्यवारणाय तद्भिन्नत्वमेव तत्सादृश्यलक्षणमस्तु लाघवादित्याशङ्कायामाह- **विशिष्टाधिकरणताया भिन्नत्वेन वैयर्थ्याभावाच्चेति** । न च यथा विशिष्ट शुद्धान्नातिरिच्यते तद्वदेव विशिष्टाधिकरणताऽपि शुद्धाधिकरणताया नातिरिच्येतेति शङ्कनीयम्, गुणे विशिष्टसत्तात्वेन रूपेण गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताया अपि स्वीकारापत्ते , सत्ताधिकरणताया इव विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्नाधिकरणताया गुणे स्वीकारात् । न चैवमिति विशिष्टाधिकरणताया

नही रहती हे । मतलब यह है कि घट मे पटत्वात्यन्ताभावात्मक घटभेद पटत्वात्यन्ताभावत्वरूप से रहता है, मगर घटभेदत्वरूप से रहता नही हे । इससे यह फलित होता है घटभेदत्वावच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता घट मे नही है, किन्तु पटत्वाऽत्यन्ताभावत्वावच्छिन्न आधेयता से निरूपित अधिकरणता रहती है । घटवृत्ति घटत्व धर्म मे जो घटभेदवैशिष्ट्य अभिमत है, वह घटभेदत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतासम्बन्ध से विवक्षित हे । इस सम्बन्ध से घटत्व घटभेदविशिष्ट नही होने से घट मे तद्भेदविशिष्टघटत्वस्वरूप घटसादृश्य नही होने से 'घटो न घटसदृशः' यह बुद्धि अभीष्ट ही हे ।

यहाँ यह शका नही करनी चाहिए कि —> 'घट मे घटभेद की पटत्वाऽत्यन्ताभावत्वरूप से अधिकरणता होने पर घटभेदत्वरूप से अधिकरणता क्यो नही रहती हे ?' <— इसका कारण यह हे कि घटभेदत्वरूप से घटभेद घट मे रहने पर 'घटो न घट ' यानी 'घट घटभेदवान् है' इत्याकारक बुद्धि भी प्रामाणिक हो जायेगी । घटभेदत्व रूप से घटभेद की अधिकरणता घट मे होने पर घट मे घटभेद की प्रतीति को भ्रमात्मक नही माना जा सकता । इसलिए घट मे घटभेदत्वरूप से घटभेद की अधिकरणता को मान्य नही की जा सकती ।

❧ सादृश्य में विशेष्य अंश आवश्यक ❧

अथ त इति । यहाँ यह शका हो कि —> ''तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्व को सादृश्य मानने के स्थान मे तद्भिन्नत्व को ही सादृश्य क्यो न माना जाय ? क्योकि प्रमेयत्व आदि केवलान्वयी धर्म की अपेक्षा सभी पदार्थ मे सभी पदार्थ का सादृश्य रहता ही हे । अतः तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप विशेष्य अश अनुपयोगी होने से निरर्थक है'' <— तो यह भी नामुनासिब है, क्योकि केवल उपमानभेद सादृश्यव्यवहार मे उपयोगी नही है । 'घट पटसमान है' ऐसा प्रयोग करने वाले वक्ता का

न ह्यत्र विशिष्टाधिकरणताघटिता व्याप्तिर्विशेष्यभाग विना ग्रहीतुं शक्यत इति । एवञ्च पटादौ घटसादृश्यस्यापि घटभिन्नत्वविशिष्टद्रव्यत्वाद्यखण्डधर्मरूपतया द्रव्यत्वमात्रस्यैव(न)-सामान्यत्वमुचितं, विशिष्टस्य घट एवाऽननुवृत्ते. ।

अथैव पशुत्वादिना सखण्डधर्मेण सादृश्य न स्यादिति चेत् ? न, तस्यापि परम्पर-याऽखण्डत्वादिति ।

❀ जयलता ❀

अतिरिक्तत्वमेवोपगन्तव्यम् । 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनमि' (   ) त्यभियुक्तोक्त्या व्यवहारस्याऽपि लक्षण-प्रयोजनत्वात् तदर्थ विशेष्यभागस्यावश्यनिवेशनीयत्वेन विशिष्टाधिकरणतायाश्चातिरिक्तत्वेन न तद्वृत्तिधर्मवत्त्वलक्षणविशेष्याशस्य निरर्थकतेत्यभिप्राय । तदेव समर्थयति - न हि अत्र = तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूपे सादृश्यलक्षणे, **विशिष्टाधि-करणताघटिता** तद्भेदत्वावच्छिन्नाधिकरणतासम्बन्धेन तद्भेदविशिष्टतद्वृत्तिधर्मवत्त्वनिष्ठा **व्याप्तिःविशेष्यभाग** तद्वृत्तिधर्मवत्त्व-स्वरूप **विना ग्रहीतु** = ज्ञातु **शक्यते**, घटकाऽज्ञाने तद्घटितस्याऽज्ञानात् ।

ननु यदि सादृश्यव्यवहारार्थ विशेष्यभागस्याऽऽवश्यकत्व तदा तन्मात्रमेव सादृश्यमस्तु, विशेषणाशस्य नैरर्थक्यादित्या-शङ्कायामाह- एवञ्चेति । **पटादो घटसादृश्यस्यापि घटभिन्नत्वविशिष्टद्रव्यत्वाद्यखण्डधर्मरूपतया द्रव्यत्वमात्रस्य** = शुद्धद्रव्य-त्वस्य **एव न सामान्यत्व** = उपमानोपमेयसाधारण्य सादृश्यमिति यावत्, **उचितम्** । 'ननु लाघव कि न प्रतिसन्धत्से' ? इत्याशङ्काया विशिष्टद्रव्यत्वस्यैव सादृश्यत्वमुपपादयति - **विशिष्टस्य घट एवाननुवृत्तेरिति** । एवकारश्च भिन्नक्रम· । तत विशिष्ट-द्रव्यत्वस्यैव घटेऽननुवृत्तेरित्यर्थ । द्रव्यत्वमिव निरुक्तविशिष्टद्रव्यत्वस्याऽप्यखण्डधर्मत्वान्न तस्य सादृश्यत्वाऽङ्गीकारे गौरवम् । प्रत्युत द्रव्यत्वस्य सादृश्यत्वाऽङ्गीकारे घटेऽपि घटसादृश्यप्रसङ्गात्, शुद्धद्रव्यत्वस्य घटेऽपि सत्त्वात् । घटभिन्नत्वविशिष्टद्रव्यत्वस्य घटसादृश्यत्वे तु न घटे घटसादृश्यप्रसङ्ग , तस्य घटेऽननुवृत्ते , असत्त्वादिति यावत् । न च विशिष्टद्रव्यत्वस्य सामानाधि-करण्येन घटभेदविशिष्टद्रव्यत्वरूपत्वेन कथमखण्डत्वमिति वाच्यम्, घटभेदविशिष्टद्रव्यत्ववन्मात्रवृत्तिवैजात्ये तात्पर्यात्, तस्य घटाऽवृत्तित्वे सति घटेतरसकलवृत्तित्वेन घटे घटसादृश्यापत्ते पटादौ तदनापत्तेश्चाऽसम्भवादिति भावनीयमवहितमानसै ।

कश्चिच्छङ्कते- **अथेति** । एव = अखण्डधर्मेणैव सादृश्याऽङ्गीकारे, **पशुत्वादिना** लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वादिस्वरूपेण **सखण्ड-धर्मेण** गवादे मेषादिभि सम **सादृश्य न स्यात्** । न हि पशुत्व जातिस्वरूप सम्भवति, येन तस्याऽखण्डत्व स्यात् । न च तस्य जातित्वे कि बाधकमिति वाच्यम्, उच्चै श्रवत्वादिना साङ्कर्यस्यैव तद्बाधकत्वात् । न च लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वस्वरूपेणैव पशुत्वेन मेषसादृश्य गवादावस्त्विति वाच्यम्, तस्य सखण्डरूपत्वेन गुरुत्वात् ।

तन्निराकुरुते - **नेति** । **तस्यापि** = पशुत्वादेरपि **परम्परया** = स्वसमवायिसमवेतत्वलक्षणपरम्परासम्बन्धेन लोमवल्लाङ्गूल-त्वात्मकतया **अखण्डत्वात्** । स्वपदेन लोमवल्लाङ्गूलत्वजातिग्रहणात् तत्समवायिनि लोमवल्लाङ्गूले समवेतस्य पशो स्वसमवायि-

केवल 'घट मे पटभेद है' ऐसा तात्पर्य नही होता हे, किन्तु 'घट मे पटगत धर्म रहता है' ऐसा भी अभिप्राय होता ह। अत उपमेय मे वृत्ति केवल उपमानभेद को सादृश्य नही माना जा सकता । दूसरी वात यह हे कि विशिष्ट की अधिकरणता शुद्ध की अधिकरणता से भिन्न = अतिरिक्त होती है । इसलिए तद्भिन्नत्व की अधिकरणता ओर तद्भिन्नत्वविशिष्ट तद्वृत्ति धर्म की अधिकरणता अलग-अलग सिद्ध होने से विशेष्याश का निवेश निरर्थक नही हे, क्योकि विशिष्ट की अधिकरणता से घटित व्याप्ति का विशेष्याश के विना ज्ञान ही नहीं हो सकता है । जेसे सादृश्यशरीर मे तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप विशेष्य अश का निवेश आवश्यक हे, ठीक वेसे ही तद्भिन्नत्वस्वरूप विशेषण अश का प्रवेश भी जरूरी हे, क्योकि घट मे रहने वाला घटसादृश्य भी घटभिन्नत्वविशिष्ट द्रव्यत्वादिस्वरूप होने से अखट धर्मात्मक होने से विशेषणाश के निवेश मे गौरव नही हे । केवल द्रव्यत्व को, जो घटवृत्ति धर्म है, घटसादृश्य नही माना जा सकता, क्योकि वह तो घट मे भी रहने से 'घटो घटसदृश ' इत्याकारक प्रयोग एव वुद्धि की आपत्ति आयेगी । जव कि घटभिन्नत्वविशिष्ट घटवृत्ति द्रव्यत्व धर्म को घटसादृश्य मानने मे उपर्युक्त अनिष्टापत्ति को अवकाश नही है, क्योकि घटभेदविशिष्टद्रव्यत्व ही घट मे नही रहता हे । अत. घटभेदविशिष्टघटत्वात्मक अखड धर्म से ही घटसादृश्य का अगीकार करना युक्तिसगत है ।

❧ पशुत्व भी परम्परा से अखण्डधर्मस्वरूप है ❧

अथ इति । यहाँ यह शका हो कि –> 'यदि अखड धर्म से ही सादृश्य का स्वीकार किया जाय तो पशुत्व आदि

अत्र वदन्ति - सादृश्यं न तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्, किन्तु तद्वृत्तिधर्मैकधर्मवत्त्वम् । एकत्वञ्च सङ्ग्रहनयाऽर्पणार्पितबुद्धिविशेषविषयत्वं, तेन नैतद्घटत्वादेः सामान्यत्वं, सङ्ग्रहस्य विस्तरावधिकत्वात् । नाऽपि पटत्वादेर्घटसादृश्यत्वम्, तत्तदितरसाधारणधर्मेष्वेव सङ्ग्रहसम्भवात् ।

❀ जयलता ❀

समवेतत्वसम्बन्धेन लोमवल्लाङ्गूलत्वजातिस्वरूपपशुत्वविशिष्टत्वाद्गवादेः निरुक्ताखण्डपशुत्वेन रूपेण मेषादिसादृश्ये किञ्चिद्बाधकं नास्तीति समाधानाभिप्रायः ।

अत्र वदन्ति स्याद्वादिन इति शेषः । नैयायिकसम्मतसादृश्यप्रतिक्षेपपूर्वकं तद्वक्तव्यमेवावेदयति प्रकरणकारः - सादृश्यं = सादृश्यपदप्रतिपाद्यं न तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमिति । तद्भिन्नत्वांशस्य व्यर्थत्वेन गौरवात्, 'गगनं गगनाकारमि'त्यादावव्याप्तेः, एकधर्मेणाऽपि गोत्वाश्वत्वयोः सादृश्यव्यवहारेण भूयःपदस्याऽपि व्यर्थत्वेन गौरवात्, एकधर्मेण सादृश्यस्थलेऽव्याप्तेश्च । किन्तु तद्वृत्तिधर्मैकधर्मवत्त्वमेव सादृश्यम् । तत्पदेनोपमानग्रहणमभिमतम् । ननु जातित्वेन द्रव्यत्वादावेकत्वस्याऽघटमानत्वेनैकत्वविशिष्टधर्मरूपस्यैकधर्मस्याऽसम्भवेन नैतत्सादृश्यनिर्वचनं युक्तमित्याशङ्कायामाह - एकत्वञ्चेति । सादृश्यघटकधर्मविशेषणीभूतमेकत्वञ्चेत्यर्थः । सङ्ग्रहनयाऽर्पणाऽर्पितबुद्धिविशेषविषयत्वं = सङ्ग्रहनयविवक्षाकृतप्रतिभासविशेषविषयतास्वरूपम् । तच्च घटपटादिसाधारणपरिणामेष्वपि सम्भवतीति न तत्सादृश्यानुपपत्तिः । एतेनैतद्घटत्वेनाऽपि घटं किं नानुवर्त्तेतेति प्रत्युक्तमित्याशयेनाह-तेनेति । सङ्ग्रहनयार्पणार्पितबुद्धिविशेषविषयत्वात्मकैकत्वविवक्षणेनेत्यर्थः । न एतद्घटत्वादेः सामान्यत्वं = निरुक्तसादृश्यत्वं, सङ्ग्रहस्य विस्तरावधिकत्वात्, एतद्घटत्वादेस्त्वेकमात्रव्यक्तिवृत्तित्वेनाऽतुल्यपरिणामत्वान्न तेन रूपेणोक्तसादृश्यसम्भवः ।

तर्हि पटत्वादेरेव घटसादृश्यत्वमस्तु, तस्याऽनेकवृत्तित्वेन साधारणधर्मत्वादित्याशङ्कायामाह - नापीति । तत्तदितरसाधारणधर्मेषु = पटत्वादिभिन्नेषु साधारणधर्मेषु द्रव्यत्वादिस्वरूपेषु एव सङ्ग्रहसम्भवात् = सङ्ग्रहनयप्रवृत्तिसम्भवात् । भेदकुक्षिप्रविष्टत्वेन न पटत्वादिना घटसादृश्यप्रसङ्गः ।

धर्म से कभी भी सादृश्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि पशुत्व आदि सखण्ड धर्म है, न कि अखण्ड धर्म । पशुमात्र में रहने वाला पशुत्व लोमवल्लाङ्गूलवत्त्व = बालवाली पुच्छस्वरूप है । यह धर्म सखण्ड होने से पशुत्वरूप से गाय आदि में भैंस, सिंह आदि का सादृश्य अनुपपन्न हो जायेगा' <— तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पशुत्व भी परम्परासम्बन्ध से अखण्डधर्मस्वरूप ही है । आशय यह है कि पशुमात्र में बालवाली पुच्छ रहती है और उसमें लोमवल्लाङ्गूलत्व जाति रहती है । वह स्वसमवायिसमवेतत्वात्मक परम्परासम्बन्ध से पशुमात्र में रहती है और वही पशुत्व है । जातिस्वरूप होने से वह अखण्ड एवं अनुगत और लघुधर्म है । इस तरह लोमवल्लाङ्गूलत्वस्वरूप जातिविशेषरूप ही पशुत्व मानने से पशुत्वधर्म की अपेक्षा गाय, भैंस, सिंह आदि में सादृश्य हो सकता है । इसलिए लाघव तर्क से अखण्ड धर्म की अपेक्षा ही सादृश्य का स्वीकार करना मुनासिब है - यह सिद्ध होता है । यह नैयायिकमत है ।

❀ उपमानगतधर्मैकधर्मवत्त्व ही सादृश्य - स्याद्वादी ❀

अत्र वद इति । उपर्युक्त नैयायिक मत के खिलाफ में स्याद्वादियों का यह कथन है कि सादृश्य तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप नहीं है, किन्तु तद्गतधर्मैकधर्मवत्त्व ही सादृश्य है । जैसे 'पटो घटसदृशः' यहाँ घटगतद्रव्यत्वधर्मैकधर्म पट में रहता है, वही घटसादृश्य है । यहाँ एक धर्म ऐसा जो कहा गया है उसका अर्थ है एकत्वविशिष्ट धर्म और एकत्व भी संख्यात्मक नहीं, किन्तु संग्रह नय की विवक्षा से कृत = अर्पित बुद्धिविशेषविषयतास्वरूप अभिमत है । ऐसे एकत्व को गृहीत करने का तात्पर्य यह है कि घटगत एतद्घटत्व से घटसादृश्य = सामान्य के अंगीकार की आपत्ति न हो, अन्यथा वह समस्या अपरिहार्य बनी रहती है । संग्रहनयविवक्षाकृत बुद्धिविशेषविषयतास्वरूप एकत्व का ग्रहण करने पर उक्त समस्या का अवकाश नहीं है, क्योंकि संग्रह नय विस्तारविषयक है । एतद्घटत्व तो केवल एतत् घट में, जो एक ही है, रहता है, न कि सर्व घट में । अतः व्यापकविषयतावाला संग्रह नय एतद्घटत्व धर्म को अपना विषय नहीं बनाता है । इस तरह पटत्वादि धर्म से भी घटसादृश्य की आपत्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि पटत्वादि से भिन्न उपमान-उपमेयसाधारण में ही संग्रह नय की प्रवृत्ति मुमकिन है । पटत्वादि यद्यपि अनेक पटादि में साधारण-व्यापक है फिर भी उपमान घट में नहीं रहने

न च स्वस्मिन् स्वसादृश्यापत्तिः, इष्टत्वात्, कथमन्यथा 'अस्या इवाऽस्या' इत्यादौ इवशब्दप्रयोगः साधीयान् । न चैवमनन्वयस्याऽलङ्कारान्तरत्वं न स्यादिति वाच्यम्, स्वस्यैवोपमानोपमेयत्वविवक्षया तत्राऽलङ्कारान्तरव्यपदेशात् ।

अथ 'अस्या इवाऽस्या' इत्यादावपि वैधर्म्यरूपभेदप्रतिसन्धान एव सादृश्यव्यवहारो

❀ जयलता ❀

वस्तुतस्तु पटत्वादिधर्मस्य उपमानोपमेयसाधारण्याभावेन 'पटो घटसदृशः', 'घटः पटसदृशः' इत्यादेः पटत्वादिना प्रमङ्ग इति ध्येयम् ।

ननु तद्वृत्तिधर्मैकधर्मवत्त्वं तूपमेय इवोपमानेऽपि सम्भवतीति स्वस्मिन् स्वसादृश्यप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वमित्याशङ्कामिष्टापत्तित्वेन समाधत्ते - न च स्वस्मिन् स्वसादृश्यापत्तिरिति । इष्टत्वादिति । ततश्च मिष्टमिष्ट वैद्योपदिष्टञ्चेतिन्यायप्राप्तिः । इष्टापत्तित्वमेव समर्थयति - कथमन्यथा 'अस्या इव अस्या' इत्यादौ इवशब्दप्रयोगः साधीयानिति । स्वस्मिन् स्वसादृश्याऽनङ्गीकारे उपदर्शितप्रयोगे इवशब्दस्याऽसाधुत्वं स्यात् । न चेष्टापत्तिरत्रैव किं न स्यादिति वक्तव्यम्, प्रसिद्धत्वेन तस्याऽनपलपनीयत्वात् । इवशब्दस्य सादृश्यवाचकत्वेनोक्तस्थलानुरोधात् स्वस्मिन्नपि स्वसादृश्यमङ्गीकार्यमेव । इत्थमेव 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिवे'त्यादेरपि साधुत्वोपपत्तेः ।

ननु स्वस्मिन्नपि स्वसादृश्याऽङ्गीकारे 'गगनं गगनाकारमि'त्यादावुपमालङ्कार एव स्यान्न त्वनन्वयाऽलङ्कार इत्याशङ्कां दूरीकरोति - न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्यान्वयः । तदयुक्तत्वे हेतुमाह - स्वस्यैवेति एवकारेण परव्यवच्छेदः कृतः । उपमानोपमेयत्वविवक्षया तत्र = 'गगनं गगनाकारमि'त्यादौ, अलङ्कारान्तरव्यपदेशात् = उपमाभिन्नाऽनन्वयाऽलङ्काराभिधानात्, आलङ्कारिकैरिति शेषः । इदं समाधानाकूत स्वस्मिन् परसादृश्यवत् स्वसादृश्यमपि वर्तते । पर यदा स्वस्मिन् परसादृश्यं तदोपमालङ्कारव्यवहारः, उपमानोपमेययोर्भेदे तत्प्रवृत्तेः । यदा तु स्वस्मिन् स्वसादृश्यं तदाऽनन्वयालङ्काराभिधान, उपमानोपमेययोरभेदे तत्प्रवृत्तेः । अतो नानन्वयालङ्कारोच्छेदो न वा स्वस्मिन् स्वसादृश्यापलाप इति ।

परः शङ्कते - अथेति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । नान्यथा = वैधर्म्यलक्षणभेदाऽनवबोधे तत्र न सादृश्यव्यवहारः ।

से उसमें संग्रह नय की प्रवृत्ति नामुमकिन है । विस्तारग्राही संग्रह नय तो उपमान-उपमेयसाधारण द्रव्यत्व, रूपवत्त्व आदि धर्म में ही प्रवृत्त होता है, न कि एतद्घटत्व में या पटत्वादि धर्म मे ।

❀ स्व में स्वसादृश्य सम्मत - स्याद्वादी ❀

न च स्व. इति । यहाँ जो सादृश्य का निर्वचन किया गया है, उसमें की तद्भिन्नत्व का निवेश नहीं किया गया है। इसलिए अपने में अन्य के सादृश्य की भाँति अपने सादृश्य की आपत्ति का उद्भावन हो सकता, क्योंकि स्वगत धर्म तो स्व में रहता ही है । मगर यह आपत्ति अनिष्ट नहीं है, किन्तु इष्ट-अभिमत ही है । अतः दोषात्मक नहीं है । 'गगन गगन जैसा है, सागर सागर जैसा है' इत्यादि में उपमेय में स्वात्मक उपमान के सादृश्य की प्रतीति सर्वजनसिद्ध है । यदि अपने में अपना सादृश्य अमान्य हो तो फिर 'अस्याः इव अस्याः' इत्यादि वाक्य में इवशब्द का प्रयोग समीचीन कैसे हो सकता है ? क्योंकि इवशब्द सादृश्य का वाचक है और प्रकृत दृष्टान्त में उपमान और उपमेय एक होने की वजह स्व में स्वसादृश्य का स्वीकार न किया जाय तो इवशब्द निरर्थक = अशिष्ट हो जाता है । मगर उपर्युक्त वाक्य प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य होने की वजह वहाँ प्रयुक्त इवशब्द को समीचीन मानना आवश्यक है । वह तभी संगत होता है, यदि अपने में स्वसादृश्य का अंगीकार किया जाय । यहाँ यह शंका हो कि --> 'यदि अपने में स्वसादृश्य का स्वीकार किया जाय तो उपर्युक्त स्थल में उपमा अलंकार को मानना होगा, क्योंकि सादृश्यस्थल में उपमा अलंकार की प्रवृत्ति होती है । मगर ऐसा मानने पर अनन्वय अलंकार उपमा अलंकार से अलग सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि स्व में स्वसादृश्य को मान्य कर के अनन्वय अलंकार के स्थान में उपमा अलंकार को आपने मान्य किया है' <-- तो यह नामुनासिब है, क्योंकि उपमान और उपमेय में अभेद की विवक्षा होने पर यानी अपने में ही उपमानत्व और उपमेयत्व की विवक्षा होने पर अनन्वय अलंकार का व्यवहार होता है । मगर इसकी वजह स्व में स्वसादृश्य का अपलाप करना ठीक नहीं है । भिन्न धर्मी में उपमान-उपमेयभाव की विवक्षा होने पर उपमा अलंकार कहा जाता है और एक धर्मी में उपमान-उपमेयभाव की विवक्षा होने पर अनन्वय अलंकार कहा जाता है । इसलिए अनन्वय अलंकार के उच्छेद की आपत्ति भी नहीं है । अतः स्व में स्वसादृश्य का अपलाप नहीं किया जा सकता है - यह फलित होता है ।

नान्यथा । अनुगतव्यवहारस्तु भेदानुपरक्ताऽखण्डधर्ममात्रेणेति सादृश्यात्सामान्यमतिरिच्यत इति चेत् ? कोशपानप्रत्यायनीयमेतद्, वैधर्म्याऽप्रतिसन्धानेऽपि तत्रैवाद्यर्थबोधानपवादात् । 'तदप्रतिसन्धानेऽनन्वय एव नोपमे'ति चेत् ? न; सादृश्यस्य भेदगर्भितत्वे इवादिपदात्तत्प्रतिसन्धानस्यैवाऽवश्यम्भावात् ।

❀ जयलता ❀

'सादृश्यव्यवहारेऽवश्यम्भेदोल्लेखाभ्युपगमे कथं तत्राऽनुगतव्यवहार. स्यात् ? वैधर्म्यज्ञानस्याऽनुगतधीव्यवहारविरोधित्वात्, अन्यथा घटपटादिष्वप्यनुगतधीव्यवहारौ प्रसज्येता, वैधर्म्याऽविशेषादित्याशङ्कायामथवाद्याह - **अनुगतव्यवहारस्तु** = 'अय घटोऽयमपि घट' इत्याद्यनुगतप्रयोगस्तु, **भेदानुपरक्ताऽखण्डधर्ममात्रेण** = भेदानुल्लेखिघटत्वादिलक्षणाऽखण्डधर्मेण 'इदं द्रव्यमिदमपि द्रव्यमि'त्यनुगतव्यवहारस्त्वभिमत एव । भेदज्ञाने सादृश्यव्यवहारात् भेदाघटिताऽखण्डधर्मेण चाऽनुगतव्यवहारात् सादृश्यात् सामान्यमतिरिच्यत एवेति सादृश्यकुक्षौ तद्भिन्नत्वे सतीति निवेश आवश्यक एवेति न तद्गतधर्मैकधर्मवत्त्वं सादृश्यमर्हतीत्यथाशयः पर्यवस्यति ।

प्रकरणकृत्तदपाकरोति - **कोशपानप्रत्यायनीय** = युक्तिविकल एतत् = 'भेदप्रतिसन्धान एव सादृश्यव्यवहार' इत्यभिधानम् । अत्र हेतुमाह - **वैधर्म्याऽप्रतिसन्धाने** = वैधर्म्यात्मकभेदानवबोधे **अपि तत्र** = 'अस्या इवाऽस्या', 'गगन गगनाकार' इत्यादौ, **इवाद्यर्थबोधानपवादात्** = सादृश्यधर्मप्रकारकधिय सादृश्यव्यवहारस्य चानपलपनीयत्वात् । न हि 'घट· पट इव रूपवानि'त्यादिस्थलेऽपि लोका घटे पटभेदमवबुध्यैव पटसादृश्य जानन्ति किन्तु रूपं प्रतिसन्धायैवेति न वैधर्म्यप्रतिसन्धानस्य साधर्म्यप्रतिसन्धानसमनियतत्वम् । एतेन सादृश्यस्य सामान्यव्यतिरिक्तत्वमपि प्रत्याख्यातम्, गौरवाच्च ।

पुनरपि परः शङ्कते - **तदप्रतिसन्धाने** = वैधर्म्यस्वरूपभेदानवबोधे सति 'अस्या इव अस्या' इत्यादौ **अनन्वयः** अलङ्कार **एव नोपमा** इति न तत्र सादृश्यधीव्यवहारौ । प्रकरणकृत् तन्निराचष्टे - **नेति** । यद्यपि स्वमते सादृश्यस्य न भेदघटितत्व तथापि अभ्युपगमवादेनाऽऽह - **सादृश्यस्य** = सादृश्यपदार्थस्य, **भेदगर्भितत्वे** = भेदघटितत्वे सति सादृश्यवाचकात् **इवादिपदात् तत्प्रतिसन्धानस्य** = भेदावबोधस्य **एव अवश्यम्भावात्** । 'गगन गगनमिवे'त्यादौ युगभेदप्रयुक्ततत्तद्युगविशिष्टगगनभेदस्योपमेयगगने, सत्त्वादिवपदात् भेदगर्भितसादृश्यबोध परेणाऽप्यवश्यमङ्गीकर्तव्य इति भाव· ।

▣ वैधर्म्यज्ञान के बिना भी सादृश्यभान मुमकिन - स्याद्वादी ▣

अथ इति । यहाँ यह शका हो कि —> "सादृश्य को भेदगर्भित मानना ही युक्तिसंगत है, क्योंकि 'अस्या इवास्याः' इत्यादि स्थल मे भी वैधर्म्यस्वरूप भेद का ज्ञान होने पर ही सादृश्य का व्यवहार होता है, न कि भेदज्ञान न होने पर भी । उपमान और उपमेय मे भेद होने पर भी उनमे जो अनुगत व्यवहार होता है, वह भेदानुपरक्त अखण्डधर्म से ही होता है । घट पट मे भेद होने पर भी भेदानवगाही द्रव्यत्वात्मक अखण्ड धर्म से ही उनमे 'इद द्रव्य, इदमपि द्रव्यं' ऐसा अनुगत व्यवहार होता है । सादृश्यव्यवहार मे उपमान-उपमेय मे भेद का ज्ञान आवश्यक है और अनुगत व्यवहार मे भेदानवगाही अखण्ट धर्म का ज्ञान आवश्यक है । इसलिए सादृश्य से सामान्य अतिरिक्त है, ऐसा फलित होता है । अतः सामान्य को ही सादृश्य नहीं कहा जा सकता" <—

कोश इति । तो यह भी ठीक नही है, क्योकि उपमान और उपमेय मे भेदज्ञान होने पर ही सादृश्यव्यवहार होता है, इस विषय मे कोई युक्ति नहीं है । यहाँ यह कहना कि —> 'मै कसम खा कर कहता हूँ कि उपमान और उपमेय में भेद का ज्ञान होने पर ही सादृश्यव्यवहार होता है' <— भी असगत है, क्योकि दार्शनिक जगत मे वादादिस्थल में हजारों शपथ से वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती, किन्तु युक्ति-प्रमाण से ही वस्तुसिद्धि हो सकती है । 'अस्या इव अस्या', 'गगन गगनाकार' इत्यादि स्थल मे उपमान और उपमेय मे वैधर्म्य = भेद का ज्ञान न होने पर भी सादृश्य का, जो इव आदि शब्द का वाच्यार्थ है, बोध होता है । इसका अपलाप नहीं किया जा सकता । इसलिए सादृश्य को भेदगर्भित नहीं माना जा सकता ।

❋ भेद इव आदि शब्द का अर्थ नहीं है - स्याद्वादी ❋

तद इति । यहाँ यह वक्तव्य कि —> "उपमान और उपमेय मे भेद की प्रतीति न होने पर तो 'गगनं गगनमिव' इत्यादि स्थल मे अनन्वय अलकार की ही प्रवृत्ति होगी, न कि उपमा अलंकार की" <— भी इसलिए निराधार है कि सादृश्य को भेदगर्भित मानने पर उपर्युक्त स्थल मे सादृश्यवाचक इव आदि शब्द से उपमान और उपमेय में भेद का ज्ञान अवश्य

'अयोग्यताभ्रमादितस्तदप्रतिसन्धानेऽनन्वय' इति चेत् ? तर्हि यत्र नाऽयोग्यताभ्रमादिकं तत्र क्वचिद्वैधर्म्याऽप्रतिसन्धानेऽपीवादिपदादर्थबोध इति कथं तस्यैवाद्यर्थत्वम् ?

इदमत्रावधेयम् । 'पटो घटसदृश', 'पटो द्रव्यमि'तिप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्याधीनं, विषयं विनैव धिया विशेषे साकारवादापातात् । तथा च सावच्छिन्ननिरवच्छिन्नप्रकारता-

❀ जयलता ❀

पुनरपि परः शङ्कते - अयोग्यताभ्रमादितः आदिपदेन तादृग्व्युत्पत्तिविकल्पादेर्ग्रहणम् । तदप्रतिसन्धाने = उपमानभेदानवबोधे अनन्वयः अलङ्कारः । 'गगनस्यैकत्वेन तत्तद्युगविशिष्टगगनभेदान्वयो गगनेऽयोग्य' इति भ्रमात् गगने गगनभेदानवबोधे तु तत्राऽनन्वयाऽलङ्कारोऽवकाशं लभेतैवेति न तत्रोपमाऽलङ्कारसम्भव इति साधर्म्यस्य भेदघटितत्वमेव वाच्यमिति शङ्काभिप्रायः ।

प्रकरणकारस्तमपहस्तयति - तर्हीति । यत्र = पुरुषादौ नाऽयोग्यताभ्रमादिकं तत्र क्वचित् कदाचित् वैधर्म्याऽप्रतिसन्धानेऽपि वैधर्म्यस्वरूपभेदानवबोधेऽपि इवादिपदात् = 'अस्या इवाऽस्या'इत्यादिवाक्यघटकात् अर्थबोधः = सादृश्यावबोधो जायत एव इति कथं तस्य = भेदस्य इवाद्यर्थत्वं ? नैवेत्यर्थः । व्युत्पन्नस्य तत्पदात् यावदस्खलद्वृत्त्या समुपतिष्ठते तावत् तत्पदशक्यत्वनियमेन भेदे नास्तीवादिपदशक्तिरिति तात्पर्यम् ।

ननु भेदस्येवादिशब्दाऽवाच्यत्वे कथं सादृश्यबुद्ध्यनुगतबुद्ध्योर्वैलक्षण्यस्योपपत्तिः ? इत्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह - इदं = अनुपदं वक्ष्यमाणं, वर्त्तमानत्वेन सन्निकृष्टत्वादिदमः शब्दस्योपादानम् । अत्र = सादृश्यविचारे अवधेयम् । तदेवाऽऽह - 'पटो घटसदृशः' 'पटो द्रव्यमि'तिप्रतीत्योः विद्यमानं वैलक्षण्यं = वैचित्र्यं, विषयवैलक्षण्याधीनं = विषयनिष्ठवैचित्र्यनिमित्तकमिति वक्तव्यम् । विपक्षबाधकमाह - विषयं = विषयवैलक्षण्यं विनैव धिया विशेषे = बुद्धिवैलक्षण्येऽभ्युपगम्यमाने सति साकारवादापातात् = साकारज्ञानवादियोगाचाराभिधानयोगतमतप्रवेशप्रसङ्गात् । तन्मते ज्ञानाकारातिरिक्तविषयस्याऽसत्त्वेन बहिर्विषयविशेषमृत एव ज्ञानविशेषाभ्युपगमात्प्रकृते विषयवैचित्र्यमृते प्रदर्शितप्रतीतिवैलक्षण्याभ्युपगमे साकारज्ञानवादिमतप्रवेशापत्तेरिति भावः । तथा चेति । साकारज्ञानवादिमतप्रवेशापाकरणाय चेति । सावच्छिन्न-निरव-

होना ही चाहिए । कलियुग मे गगन त्रेता-द्वापरादियुग मे विशिष्ट नही होने से त्रेतादियुगविशिष्ट गगन का कलियुगकालीन गगन मे भेद ज्ञान होकर उपमा अलकार 'गगन गगनमिव' इत्यादि मे माना जा सकता है, अन्यथा सादृश्यवाचक इव शब्द अनुपपन्न-असगत-निरर्थक हो जायेगा । यहाँ यह कहना कि --> 'गगन एक होने से उसमे उपर्युक्त रीति से विशिष्टगगनभेदान्वय मे अयोग्यता का भ्रम आदि होने की वजह उपमेय गगन मे उपमान गगन के भेद का शाब्द बोध नही होने पर उपर्युक्त स्थल मे अनन्वय अलकार की प्रवृत्ति हो सकती है । अतः सादृश्य को भेदगर्भित मानना आवश्यक है, जिसके फलस्वरूप सादृश्यवाचक इव शब्द की भेद मे शक्ति सिद्ध होगी, अर्थात् भेद भी इवादि शब्द का अर्थ सिद्ध होगा' <-- भी नामुनासिब है, क्योकि जिस पुरुष को अयोग्यताभ्रम आदि नही है, उसे भी कभी गगन मे विशिष्टगगनभेद का ज्ञान नही होने पर भी 'गगन गगनमिव' इत्यादि स्थल मे इव आदि शब्द से सादृश्य अर्थ का शाब्दबोध होता ही है - यह तो अनुभवसिद्ध ही है । इवशब्द का प्रयोग होने पर भी भेद का शाब्द ज्ञान नही होता है - इस स्थिति मे भेद कैसे इव आदि शब्द का अर्थ होगा ? क्या घटपद से पट का शाब्दबोध नही होने पर भी पट को घटशब्दार्थ माना जा सकता है ? अतः सादृश्य को भेदघटित नही माना जा सकता । अतएव भेद सादृश्यवाचक इवादि शब्द का अर्थ नही है - यह सिद्ध होता है ।

❦ सादृश्यबुद्धि और अनुगतबुद्धि के वैलक्षण्य की उपपत्ति ❦

इदमत्रा इति । यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि 'पटो घटसदृश.' यह बुद्धि सादृश्यावगाही है, जब कि 'पटो द्रव्य', 'घटो द्रव्य' इत्यादि बुद्धि अनुगत बुद्धि है । उपर्युक्त बुद्धि मे वैलक्षण्य है, वह विषयवैलक्षण्य के आधीन है । विषय मे विलक्षणता नहीं होने पर बुद्धि मे विलक्षणता नही हो सकती है, क्योकि विषयविशेष के विना ही ज्ञान मे विशेषता - वैलक्षण्य मानने पर साकारवाद - ज्ञानसाकारवाद = योगाचारमत मे प्रवेश होने की आपत्ति मुँह फाड़े खड़ी रहती है। योगाचार बौद्ध ज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ का स्वीकार ही नही करता है । उसके मत मे घट, पट आदि बाहरी पदार्थ नही है, किन्तु ज्ञान का ही आकारविशेष है । अतः उसके मतानुसार विषयविशेष के विना भी ज्ञान मे वैलक्षण्य मान्य करने पर साकारज्ञानवादी योगाचार के मत मे प्रवेश अनिवार्य हो जायेगा । इसलिए विषयवैलक्षण्य से ही उपर्युक्त दोनो प्रकार

भ्यामेव तयोर्वैलक्षण्यं वाच्यं, न तु तदनुरोधेन सादृश्यमेव तद्भिन्नत्वगर्भं वाच्यमिति ।

नव्य(म)त(?ता)नुयायिनस्तु सादृश्यमतिरिक्तमेव बहुषु धर्मेषु तत्त्वकल्पने गौरवात् । न च तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वस्य तद्व्यञ्जकत्वकल्पने विपरीतगौरवम्, एवं सत्य-

❀ जयलता ❀

च्छिन्नप्रकारताभ्यामेव **तयोः** = प्रदर्शितप्रतीत्योः **वैलक्षण्यं वाच्यं** = अभ्युपगन्तव्यमिति । अयम्भावः 'पटो घटसदृशः' इतिप्रतीतौ पटस्य विशेष्यत्वं घटसादृश्यस्य च विशेषणत्वम् । घटसादृश्यस्य जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तत्वेन तन्निष्ठप्रकारताया सावच्छिन्नत्वम्, जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थस्य किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्वनियमात् । 'पटो द्रव्यं घटो द्रव्यमि'त्यनुगतप्रतीतौ पटादेः विशेष्यत्वं द्रव्यत्वस्य च प्रकारत्वम् । जातेः स्वरूपतो भाननियमात् द्रव्यत्वजातिनिष्ठप्रकारताया निरवच्छिन्नत्वम् । इत्थमेवानुगतसादृश्यावगाहिबुद्ध्योर्वैलक्षण्यस्योपपत्तौ सादृश्यस्य भेदघटितत्वकल्पनमयुक्तमित्याशयेनाह - **न तु तदनुरोधेन** = साकारज्ञानमतप्रवेशपरिहारपूर्वं प्रदर्शितप्रतीतिवैलक्षण्यप्रतिपादनानुरोधेन प्रथमप्रतीतिप्रकारीभूतं **सादृश्यमेव तद्भिन्नत्वगर्भं** = उपमानभेदघटितं **वाच्यमिति** न भेदस्यैवादिपदवाच्यत्वसिद्धिरिति भावः ।

केचित्तु भूयोऽवयवसामान्ययोगं सादृश्यमित्याहुः; **तन्न चारु**, निरवयवद्रव्येषु गुणादिषु च तदनापत्तेः । तदुक्तं **स्याद्वादरत्नाकरे** —> 'न भूयोऽवयवसामान्ययोगरूपं सादृश्यं, अपि तु समानपरिणामलक्षणमेव सादृश्यम्' (स्या २, परि ४/सू १०/वृ ६९७) इति ।

सादृश्यमतिरिक्तमेव, अन्यथा 'सदृशः' इत्याकारकप्रतीतेः सर्वत्र समानाकारतानुभवापलापापत्तेः । प्रतीतेः समानाकारत्वञ्चैकप्रकारकत्वम् । ततश्च तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वलक्षणस्य सादृश्यस्याऽङ्गीकर्तृमते 'चन्द्रसदृशं मुखमि'त्यादौ आह्लादकत्वादेः प्रकारता 'घटसदृशः पटः' इत्यादौ तु द्रव्यत्वपृथिवीत्वादेः प्रकारतेति तादृशप्रतीत्योः सादृश्यांशेऽनुभवसिद्धाया समानाकारताया अपलापो दुरुद्धरः । सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थः इतिवादिमते तु न तदनुपपत्तिः । **न च** तस्याऽतिरिक्तत्वे पदार्थविभागव्याघातः इति **वक्तव्यम्**, तस्य साक्षात्परम्परया वा तत्त्वज्ञानोपयोगिपदार्थमात्रनिरूपणपरत्वादित्याशयवता नव्यनैयायिकाना मतं खण्डयितुमुपदर्शयति - **नव्येति** । अनतिरिक्तवादिमते दोषमावेदयति - **बहुषु** = अनन्तेषु **धर्मेषु** = उपमेयधर्मेषु **तत्त्वकल्पने** = सादृश्यत्वकल्पने **गौरवात्** । यथाऽनन्तेषु भूतलादिस्वरूपेषु रूपादिप्रतियोगिकत्वकल्पनाया गौरवादतिरिक्तसमवायः सिध्यति तथैवाऽनन्तेषूपमेयधर्मेषु सादृश्यत्वकल्पनाया गौरवादतिरिक्तसादृश्यसिद्धिरित्याशयः । अनतिरिक्तसादृश्यवादी शङ्कते - **न चेति** । **तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वस्य तद्व्यञ्जकत्वकल्पने** = सादृश्यज्ञानजनकत्वकल्पने, **विपरीतगौरवमिति** । अतिरिक्तं सादृश्यमङ्गीकृत्याऽपि तादृशधर्मवत्त्वे तादृशज्ञानजनकत्वमावश्यकमेवेति नव्यमतेऽतिरिक्त-

की बुद्धि में वैलक्षण्य की उपपत्ति करनी होगी । वह इस तरह हो सकती है कि 'पटो घटसदृशः' इस बुद्धि में जो प्रकारता ज्ञात होती है, वह सावच्छिन्न = किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न है और 'घटो द्रव्यं' इस बुद्धि में जो प्रकारता ज्ञात होती है, वह निरवच्छिन्न = किञ्चित् धर्म से अनवच्छिन्न होती है । जाति और अखण्ड उपाधि से अतिरिक्त धर्म का किञ्चित् रूप से अवच्छिन्न ही भान होने से प्रथम बुद्धि की प्रकारता सावच्छिन्न होती है और जाति का स्वरूपतः भान होने की वजह दूसरी बुद्धि निरवच्छिन्न प्रकारता = विशेषणता का अवगाहन करती है । द्रव्यत्व तो जाति ही है, जो दूसरी बुद्धि का प्रकार = विशेषण है । इस तरह दूसरी बुद्धि को निरवच्छिन्नप्रकारताक और प्रथम बुद्धि को सावच्छिन्नप्रकारताक मानने से ही बुद्धिस्थ वैलक्षण्य की उपपत्ति हो सकती है । इसलिए योगाचारमतप्रवेशनिराकरणार्थ उपर्युक्त बुद्धि के वैलक्षण्य के समर्थन के लिए सादृश्य को भेदगर्भित मानना अनावश्यक है-ऐसा स्याद्वादियों का वक्तव्य है ।

⋙ सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है - नव्य नैयायिक ⋘

नव्य इति । सादृश्य के बारे में नव्य नैयायिकों का यह वक्तव्य है कि सादृश्य को तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वात्मक या तद्गतधर्मस्वरूप मानने में तादृश अनंत धर्मों में सादृश्यत्व की कल्पना करनी पड़ती है, जिसमें गौरव है । अनन्त धर्मों में सादृश्यत्व की गुरुभूत कल्पना करने की अपेक्षा मुनासिब तो यही है कि सादृश्य को ही एक अतिरिक्त पदार्थ माना जाय, जो कि अनन्त उपमेय में अनुगत हो । अतः लाघव तर्क से सादृश्य द्रव्यादि सात पदार्थ से अतिरिक्त है - यह सिद्ध होता है । यहाँ यह शंका हो कि —> "सादृश्य को अतिरिक्त मानने पर भी उपमेय में उपमानसादृश्य का व्यंजक कौन है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । जैसे गोत्व जाति का व्यंजक (=ज्ञापक = ज्ञानजनक) सास्नादिमत्त्व होता है,

खण्डपदार्थमात्रविलयापत्तेः, स्मर्यमाणारोपादिकारणतावच्छेदकत्वेनानुगतस्यैव तस्य सिद्धौ तद्गौरवस्य फलमुखत्वाच्च । घटादिसादृश्यञ्च पटादौ द्रव्यत्वाद्यवच्छेदेन न तु गुणत्वाद्यवच्छेदेनेति 'पटो द्रव्यत्वेन घटसदृशो न तु गुणत्वेने'त्यादिप्रतीतेर्नानुपपत्तिरित्याहुः ।

❋ जयलता ❋

सादृश्यकल्पनं तादृशधर्मवत्त्वे च सादृश्यज्ञानजनकत्वकल्पनमिति गौरवम् । तदपेक्षया तादृशधर्मेष्वेव सादृश्यत्वकल्पनमुचितमिति शङ्काभिप्रायः । नव्याः तमपाकुर्वन्ति - एवं सतीति । क्लृप्तेषु व्यञ्जकत्वकल्पनागौरवभयेनाऽतिरिक्तपदार्थप्रतिक्षेपे सतीत्यर्थः । अखण्डपदार्थमात्रविलयापत्तेरिति । अतिरिक्तं सामान्यमभ्युपगम्याऽपि क्लृप्तेष्ववयवसन्निवेशादिषु सामान्यव्यञ्जकत्वकल्पनागौरवस्य तदवस्थत्वेन सामान्यादेरपि विलयप्रसङ्गादित्यर्थः । अतः सामान्यपदार्थादिवत् सादृश्यपदार्थोऽप्यतिरिक्तः स्वीकर्तव्य इत्यर्थः । तदतिरिक्तत्वे हेत्वन्तरमाह - स्मर्यमाणारोपादिकारणतावच्छेदकत्वेन = सादृश्यज्ञानकारणीभूतस्मृतिविषयोपमानधर्मार्थ्यारोपनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकविधया अनुगतस्यैव = तत्तदुपमेयसाधारणस्यैव तस्य = सादृश्यस्य सिद्धौ सत्यां तद्गौरवस्य = सादृश्यव्यञ्जकत्वकल्पनागौरवस्य फलमुखत्वात् = प्रमाणसिद्धार्थनिर्वाहकत्वात् । तादृशकारणतावच्छेदकधर्मविधयाऽतिरिक्तसादृश्यसिद्धौ उपमानभिन्नत्वे सत्युपमानगतभूयोधर्मवत्त्वस्य सादृश्याभिव्यञ्जकत्वकल्पनायाः पश्चादुपस्थितत्वेन तद्गौरवस्य सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातेनाऽदोषत्वादिति भावः ।

ननु पटादौ घटादिसादृश्यमङ्गीकृतं न वा ? इति विकल्पयुगली समुपतिष्ठते । द्वितीये 'पटो घटसदृशः' इत्यादिव्यवहारानुपपत्तिः । आद्ये तु 'पटो द्रव्यत्वेन घटसदृशः' इतिव्यवहारवत् 'पटो गुणत्वेन घटसदृशः' इतिव्यवहारस्यापि प्रामाण्यापत्तिः, पटेऽतिरिक्तस्य घटसादृश्यस्याऽङ्गीकृतत्वात् । अनतिरिक्तसादृश्यवादिमते तु गुणत्वस्य पटाऽवृत्तित्वेन विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टसादृश्याभावान्न 'पटो गुणत्वेन घटसदृशः' इति धीव्यवहारयोः प्रामाण्यापत्तिरित्याशङ्कायां नव्याः प्राहुः - घटादिसादृश्यं च = घटादिप्रतियोगिकमतिरिक्तं सादृश्यं हि पटादौ सादृश्यानुयोगिनि द्रव्यत्वाद्यवच्छेदेन = द्रव्यत्व-पृथिवीत्वादिधर्मावच्छेदेन वर्त्तते, न तु गुणत्वाद्यवच्छेदेन = व्यधिकरणीभूतगुणत्व-कर्मत्वादिधर्मावच्छेदेन, इतिः हेत्वर्थः सर्वः । तथा च निरुक्तहेतो 'पटो द्रव्यत्वेन घटसदृशो न तु गुणत्वेने'त्यादिप्रतीतेः उपलक्षणात्तादृशव्यवहारस्य च नानुपपत्तिः । गुणत्वावच्छेदेन घटसादृश्यस्य पटे विरहात् । यथा दण्डे घटकारणता दण्डत्वावच्छेदेन, न तु गुणत्वाद्यवच्छेदेनेति 'दण्डो दण्डत्वेन घटकारणं,

ठीक वैसे यहाँ अतिरिक्त सादृश्य के व्यंजकविधया उपमानभिन्नत्वे सति उपमानगतधर्मवत्त्व का स्वीकार करना आवश्यक होगा, अन्यथा उपमेय से भिन्न पदार्थ में भी उपमानसादृश्य की आपत्ति आयेगी । मगर इस कल्पना में अधिक गौरव है, क्योंकि अतिरिक्त सादृश्य पदार्थ की कल्पना और उसके व्यंजकविधया तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्व की कल्पना करने में दो कल्पना का गौरव है । इसकी अपेक्षा सादृश्य को तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वस्वरूप मानना ही मुनासिब है" <— तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि इस तरह तो अखण्ड जाति आदि पदार्थ का भी उच्छेद हो जायेगा । प्राचीन नैयायिक के मतानुसार भी अनेक घट में अनुगत प्रतीति की वजह अतिरिक्त घटत्व की कल्पना की जाती है । वहाँ अखण्ड सामान्य की कल्पना करने के बावजूद भी कम्बुग्रीवादिमत्त्व में उसके व्यंजकत्व की कल्पना करनी ही पडती है, अन्यथा अविशेषरूप से सर्वत्र अखण्ड घटत्व के भान की समस्या अवकाश पाती है, क्योंकि सामान्यपदार्थ सर्वव्यापी है । व्यंजक की कल्पना का गौरव होने पर भी जैसे अखण्ड जाति की कल्पना की जाती है, ठीक वैसे ही अतिरिक्त सादृश्य की कल्पना भी की जा सकती है । इसलिए अतिरिक्त सादृश्य की कल्पना में हिचकिचाहट करना नामुनासिब है । यहाँ यह शंका करना कि —> 'फिर भी अतिरिक्त सादृश्य की एवं व्यंजक की कल्पना का गौरव तो दोषात्मक ही है' <— भी नामुनासिब है, क्योंकि स्मर्यमाण उपमान के धर्म के आरोप आदि की कारणता के अवच्छेदकविधया उपमेय में अनुगत सादृश्य की ही सिद्धि होने की वजह व्यंजककल्पना तन्निर्वाहक होने से वह गौरव फलाभिमुख है । कारणतावच्छेदकविधया अतिरिक्त सादृश्य की प्रामाणिक सिद्धि होने के पश्चात् उपस्थित व्यंजककल्पनागौरव की बदौलत प्रमाणसिद्ध अतिरिक्त सादृश्य का अपलाप नहीं किया जा सकता, अन्यथा लाघवतर्क से शून्यवाद की ही सिद्धि हो जायेगी ।

घटा इति । यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सादृश्य भी अव्याप्यवृत्ति पदार्थ है । एक धर्मी में एकावच्छेदेन सादृश्य एवं अन्यावच्छेदेन उसका अभाव भी रहता है । जैसे पटादि में घटादि का सादृश्य द्रव्यत्वावच्छेदेन ही रहता है, न कि गुणत्वादिधर्मावच्छेदेन । इसीलिए तो 'पट द्रव्यत्वरूप से घटसदृश है, न कि गुणत्वरूप से' इत्यादि प्रतीति की अनुपपत्ति नहीं है । यदि तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्व ही सादृश्य हो तब तो एक धर्मी में विवक्षित उपमान के सादृश्य और सादृश्याभाव

तच्चिन्त्यम्, 'घटसदृशः पटः' इति निर्णयोत्तरं 'घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इति संशयानुदयात्, अतिरिक्ततन्निश्चयस्य तत्प्रतिबन्धकत्वादिकल्पने गौरवात् । न च तवापि घट-

❋ जयलता ❋

न तु गुणत्वेने'त्यादिप्रतीतिव्यवहारौ सङ्गच्छेते तथैव प्रकृतेऽपि भावनीयम् । न च गुणत्वस्य दण्डपटाद्यसम्बद्धत्वेन कथं तदवच्छेदकत्वमिति वाच्यम्, स्वविषयकज्ञानविषयत्वलक्षणवैज्ञानिकसम्बन्धेन गुणत्वस्यापि दण्डपटादिसम्बद्धत्वेन तदवच्छेदकत्वसम्भवात् । न चेवं व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावसिद्धिरपि दुष्प्रतिकारेति वाच्यम्, इष्टापत्तेः । ततश्च सादृश्यमतिरिक्तमेवेति नव्यनैयायिकाभिप्रायः ।

अत्राऽस्वरसप्रदर्शनार्थमाह - **तच्चिन्त्यमिति** । चिन्ताबीजमेवाऽऽवेदयति - **'घटसदृशः पटः'इतिनिर्णयोत्तरं** 'पटः **घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इति संशयानुदयात्** पटवृत्ति घटसादृश्यं नातिरिक्तं किन्तु घटवृत्तिधर्मस्वरूपमेव, समानप्रकारकनिश्चयस्य समानप्रकारकसंशयविरोधित्वात् । न च घटवृत्तिधर्मप्रकारकसंशयं प्रति घटवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयस्येवाऽतिरिक्तघटसादृश्यप्रकारकस्य निश्चयस्यापि विरोधित्वात् 'पटो घटसदृशः' इति निर्णयोत्तरं न 'पटो घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इति संशयोदय इति **वाच्यम्, अतिरिक्ततन्निश्चयस्य** = अतिरिक्तसादृश्यनिर्णयस्य **तत्प्रतिबन्धकत्वादिकल्पने** = उपमानवृत्तिधर्मप्रकारकसंशयप्रतिबन्धकत्वादिकल्पने **गौरवात्** । **एतेन** तदभाववत्ताबुद्धिं प्रति तत्प्रकारक-तद्व्याप्यप्रकारकनिश्चययोः प्रतिबन्धकत्वमित्यपि **प्रत्युक्तम्**, लाघवेन तत्प्रकारकनिश्चयस्यैव प्रतिबन्धकत्वौचित्यात् । **न च** तदभाववत्ताधियं प्रति तद्व्याप्यप्रकारकनिश्चयस्य तत्प्रकारकधीद्वारा प्रतिबन्धकत्वमिति **वाच्यम्**, तद्व्याप्यप्रकारकनिश्चयस्य तत्प्रकारकनिश्चये एवोपक्षीणत्वात्, प्रकृते तथाऽननुभवाच्च । न हि प्रथममतिरिक्तसादृश्यनिश्चयः तदनन्तरं घटवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयः तदुत्तरञ्च निरुक्तसंशयोच्छेद इत्यनुभवोऽस्ति । किञ्चोपमानवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयस्य प्रथममुपजातस्य तादृशसंशयप्रतिबन्धकत्वसम्भवेऽतिरिक्तसादृश्यनिश्चयस्योपमानवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयद्वारा तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । **एतेन** प्रथममतिरिक्तसादृश्यनिश्चय एवोपजायते य उपमानवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयमुत्पाद्य तादृशसंशयं प्रति प्रतिबन्धको भवतीत्यपि **निरस्तम्**, अतिरिक्तसादृश्यनिश्चयसमकालमेव तादृशसंशयोदयप्रसङ्गाच्च ।

अतिरिक्तसादृश्यवादिशङ्कामपाकर्तुमुपदर्शयति - **न चेति** । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । **तव** = अनतिरिक्तसादृश्य-

की उपपत्ति नहीं हो सकती । इस तरह विचार करने पर सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है - यह फलित होता है ।

❋ सादृश्यविषयकनव्यनैयायिकमतनिरास ❋

तचि. इति । अतिरिक्तसादृश्यवादी नव्य नैयायिक के उपर्युक्त वक्तव्य के खिलाफ प्रकरणकार श्रीमद्जी का यह वक्तव्य है कि 'सादृश्य अतिरिक्त ही है' ऐसा नव्यनैयायिककथन विचारणीय है, न कि आँखें मूँदकर स्वीकर्तव्य । इसका कारण यह है कि जिस धर्मी में जिस धर्म का ज्ञान निश्चयात्मक होता है, उसके बाद उस धर्मी में उस धर्म के विषय में संदेह नहीं होता है कि 'इसमें यह धर्म है या नहीं ?' । 'पटः घटसदृशः' ऐसा निश्चय होने के बाद 'पट घटवृत्तिधर्मवाला है या नहीं ?' इत्याकारक संशय का उदय नहीं होता है । इससे यह फलित होता है कि 'पट घटसदृश है' यह निश्चय 'पट घटगतधर्मवाला है' इत्याकारक ही होता है । अन्यथा पट में घटसादृश्य के निर्णय मे उपर्युक्त संशय की विरोधिता = प्रतिबन्धकता ही नामुमकीन हो जायेगी । समानधर्मिक तत्प्रकारक निश्चय ही समानधर्मिक तत्प्रकारक संशय या तदभावप्रकारक बुद्धि का प्रतिबंधक होता है - यह तो सर्वमान्य अटल नियम है । इसके अनुरोध से सादृश्य को अतिरिक्त नहीं माना जा सकता, किन्तु उपमानगतधर्मस्वरूप, जो उपमान और उपमेय में साधारण है, ही मानना चाहिए । सादृश्य को अतिरिक्त मान कर अतिरिक्तसादृश्यविषयक निश्चय में उपमानगतधर्मविषयक संशय की प्रतिबंधकता की कल्पना करने में गौरव है । यहाँ यह शंका हो कि --> सादृश्य को अतिरिक्त न मान कर तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्त्वस्वरूप मानने वाले आपके मत में भी 'पटो घटसदृशः' यह निश्चय घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मप्रकारक एवं पटविशेष्यक होने से वह 'पट घटवृत्तिधर्मवाला है या नहीं ?' इस संशय के समानाकारक नहीं होने से उसमें तादृश संशय की प्रतिबन्धकता उपर्युक्त प्रसिद्ध नियम से प्राप्त नहीं होती है, अपितु कल्पनीय होती है । इसलिए प्रतिबन्धकता की कल्पना तो आपके मत में भी समान ही है । तद्भिन्नत्वविशिष्ट तद्गत धर्म और तद्वृत्ति धर्म - ये दो एक तो नहीं ही हैं, जिससे उपर्युक्त निर्णय और संशय के बीच प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव सिद्ध हो सके । तद्वत्ता का निश्चय ही तदभाववत्ता के ज्ञान का विरोधी होता है'' <-- तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि 'पट घटभेदविशिष्टघटवृत्तिधर्मवाला है' इत्याकारक शाब्द बोध होने के पश्चात् भी 'पट घटवृत्तिधर्मवाला है या नहीं ?' ऐसा संशय कभी भी नहीं होता है -

भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्तारूपतन्निश्चयस्य घटवृत्तिधर्मवत्त्वसंशयव्यावृत्ततया पृथक् प्रतिबन्धकत्वकल्पने ध्रुवं साम्यमिति वाच्यम्, 'पटो घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिधर्मवानि'तिशाब्दबोधोत्तर तदनुत्पत्त्या तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनस्याऽऽवश्यकत्वादिति दिक् ।

सामान्यस्य पराभिमते नित्यत्वाऽनेकसमवेतत्वेऽपि कथं समगंसाताम् ? 'अत्र मृत्पिण्डे घटत्वमासीदि'ति प्रतीत्या तस्याऽनित्यत्वसिद्धेः ।

❋ जयलता ❋

वादिन अपि घटभिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मवत्तारूपतन्निश्चयस्य = घटभेदविशिष्टघटवृत्तिधर्मवत्त्वप्रकारकस्याऽनतिरिक्तघटसादृश्यनिश्चयस्य, घटवृत्तिधर्मवत्त्वसंशयव्यावृत्ततया = घटवृत्तिधर्मप्रकारकसंशयापेक्षया भिन्नप्रकारकतया 'पटो घटसदृश' इति निश्चयस्य 'पटो घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इत्याकारकसंशयप्रतिबन्धकत्व न स्यात् । घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयस्याऽपि घटवृत्तिधर्मप्रकारकनिर्णयस्येव तादृशसंशय प्रति पृथक्प्रतिबन्धकत्वकल्पने = स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वाऽभ्युपगमे ध्रुव साम्य = तुल्यगौरवम् । यथाऽतिरिक्तसादृश्यनयेऽतिरिक्तसादृश्यनिर्णयस्यापि निरुक्तानतिरिक्तसादृश्यनिश्चयस्येव तादृशसंशय प्रति स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्व कल्प्यते तथैवाऽनतिरिक्तसादृश्यमते घटभिन्नत्वविशिष्टघटवृत्तिधर्मप्रकारकनिश्चयस्यापि घटवृत्तिधर्मप्रकारकनिर्णयस्येव तादृशसंशय प्रति स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वमुपेयते इति गौरवसाम्यमिति शङ्काभिप्राय ।

प्रकरणकृत समाधत्ते - 'पटो घटभिन्नत्वे सति घटवृत्तिधर्मवानि'ति शाब्दबोधोत्तर तदनुत्पत्त्या = 'पटो घटवृत्तिधर्मवान् न वा ?' इत्याकारकसंशयानुदयेन तत्प्रतिबन्धकत्वकल्पनस्य = निरुक्तसन्देह प्रति प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमस्य, आवश्यकत्वात् । 'ह्रदो जलवान् न वा ?' इति संशय प्रति 'ह्रदो जलवान्' इतिनिर्णयस्येव 'ह्रदो सदापहारिजलवानि'ति निश्चयस्यापि प्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधाद्यथा कल्प्यते तथैव प्रकृतेऽपि । न हि कल्पनागौरवभिया निरुक्तकार्यकारणभाव स्वारसिकप्रतीतिबलोपजायमानोऽपह्नोतुमर्हतीति भाव ।

परसम्मतसामान्यस्वरूप खण्डयितुमुपक्रमते - सामान्यस्येति । कथ समगसाताम् ? नैवेत्यर्थ । तत्र यथाक्रम हेतुद्वयमाह - 'अत्र मृत्पिण्डे घटत्वमासीदि'ति प्रतीत्या तस्य = घटत्वलक्षणसामान्यस्य अनित्यत्वसिद्धेः = ध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणाऽनित्यत्वस्य लङ्प्रत्ययबलात् सिद्धे । न चैष विशेषणाभावमेव विषयीकुरुत इति वाच्यम्, विशेषणीभूतस्य मृत्पिण्डस्य विद्यमानत्वेन तत्र ध्वंसप्रतियोगित्वान्वयाऽसम्भवात्, विशेष्ये बाधकाभावाच्च । एतेन घटत्वे गौणमेव ध्वंसप्रतियोगित्व, तदाश्रये घटे एव तन्मुख्यत्वादिति प्रत्युक्तम्, 'एतन्मृत्पिण्डवृत्ति घटत्व ध्वंसप्रतियोगी'त्येवोक्तप्रतीतिस्वारसिकार्थात्, घटस्योक्तप्रतीतावनुल्लेखाच्च ।

यह तो सर्वजनविदित है। उक्त निर्णय के पश्चात् तादृश संशय की अनुपपत्ति से इन दोनो के बीच तथाविध प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना अवश्य सभी को करनी पड़ती है, न कि केवल हमको। 'भूतल मे चैत्रीय घट है' इत्याकारक निर्णय के पश्चात् 'भूतल घटवाला है या नही ?' ऐसा संशय क्या किसीको भी होता है ? इसलिए विशिष्ट अतिरिक्त वादी के मतानुसार भी उपर्युक्त प्रतिबन्धकता स्वीकर्तव्य ही होने से सादृश्य को अतिरिक्त न मानने वाले के पक्ष मे जो समान गौरव दोष का उद्भावन किया गया है, वह ठीक नही है। इसलिए सादृश्य को अतिरिक्त मानने का दुःसाहस करना नामुनासिब है - यह फलित होता है। इस विषय मे अधिक विचार भी किया जा सकता है। यहाँ जिन विचारो का उल्लेख किया गया है - यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है, जिसके अनुसार मनीषी लोग अधिक मीमासा कर सके - इस बात की सूचना करने के लिए प्रकरणकार ने 'दिक्' शब्द का यहाँ प्रयोग कर के सादृश्यविषयक वादस्थल पर भी यहाँ पर्दा डाल दिया है।

(❋) जाति में नित्यत्वादि असिद्ध (❋)

समा इति। अब प्रकरणकार नैयायिकसमत जाति = सामान्यपदार्थ का पूर्वाचार्यो के मतानुसार निराकरण करते है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व' नैयायिकसम्मत जाति का लक्षण है। मगर जाति मे न तो नित्यत्वस्वरूप विशेषण मुमकिन है और न तो अनेकसमवेतत्वात्मक विशेष्यांश भी सभवित है। इसका कारण यह है कि - 'इस मृत्पिंड मे घटत्व था' ऐसी प्रतीति होने से घटत्वात्मक सामान्य मे नित्यत्व बाधित होता है। जैसे 'रामचन्द्रजी हो गये' इत्यादि प्रतीति से रामचन्द्रजी मे विनष्टत्व की सिद्धि होती है ठीक वैसे उक्त प्रतीति से घटत्व मे विनाशप्रतियोगित्व सिद्धि होती है। अतः ध्वंसाऽप्रतियोगित्वस्वरूप नित्यत्व सामान्य मे बाधित होता है। इस तरह अतीत और अनागत व्यक्ति मे सामान्य वृत्ति नही होने से समवायावच्छिन्न यावत् व्यक्तिवृत्तित्वस्वरूप अनेकसमवेतत्व भी सामान्य मे असिद्ध है। अतीत घटादि व्यक्ति विनष्ट होने से और अनागत

अतीताऽनागतव्यक्तिवृत्तित्वस्यैव दुरुपपादत्वेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वरूपस्याऽनेकसमवेतत्वस्य दुर्वचत्वाच्चेति प्राञ्चः ।

अथ यथा भवन्मते एकस्य शब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वं अतीतानागतव्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितवाचकताया एकत्वेन निर्वहति, तथा ममाऽपि तत्तद्व्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितसमवायस्यैकतया यावद्व्यक्तिसम-

❀ जयलता ❀

सामान्येऽनेकसमवेतत्वाऽसम्भवमाह - **अतीतानागतव्यक्तिवृत्तित्वस्य** = विनष्टानुत्पन्नघटादिव्यक्तिनिरूपितस्य समवायसम्बन्धावच्छिन्नस्याऽऽधेयत्वस्य, एव घटत्वादिस्वरूपे सामान्ये **दुरुपपादत्वेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वरूपस्य** = अतीतानागतवर्त्तमानकालीन-निखिलघटादिव्यक्तिनिरूपित-समवायावच्छिन्नवृत्तित्वात्मकस्य, **अनेकसमवेतत्वस्य** = अनेकसमवेतत्वपदार्थस्य, **दुर्वचत्वाचेति प्राञ्चः** = पूर्वजैनाचार्या प्राहुरिति शेष । पराभिमतविशेषणविशेष्याशयोरघटमानत्वेन विशिष्टात्मकस्य सामान्यस्य नरशृङ्गसमत्वमेवेति तेषामाशय । न हि घटकानुपपत्तौ तद्घटितोपपत्ति सम्भवति ।

परो विशेष्याशमुपपादयति - **अथेति** । चेदित्यनेनाऽस्यान्वय । **यथा भवन्मते** = स्याद्वादिदर्शने, **एकस्य शब्दस्य** = प्रत्येकपदस्य, सति तात्पर्ये **सर्वार्थवाचकत्व** = अतीतानागतसाम्प्रतकालिकाखिलविषयनिरूपितवाचकत्व, **अतीतानागतव्यक्तिनिरूपितत्वस्य** = नष्टाऽजातव्यक्तिनिष्ठनिरूपकतानिरूपितनिरूपितत्वस्य, प्रत्येकशब्दनिष्ठवाचकताया **कादाचित्कत्वे** = असार्वकालिकत्वे **अपि तन्निरूपितवाचकताया** = अतीतादिव्यक्तिनिरूपितवाचकताया **एकत्वेन निर्वहतीति** । यद्यपि अतीतानागतव्यक्तीना पूर्वापरकालीनत्वेन वाचकताया तन्निरूपितनिरूपिततानामपि पूर्वापरकालीनत्व तथापि अतीतानागतव्यक्तिनिष्ठनिरूपकतानिरूपितनिरूपितत्वाश्रयीभूताया शब्दनिष्ठाया वाचकताया सर्वदैकत्वेन प्रत्येकशब्दस्य सर्वार्थवाचकत्व स्याद्वादिभिरुपपाद्यत इति भाव । लोकोत्तरोदाहरणप्रदर्शनेऽपि यदि लौकिकदृष्टान्तबुभुत्सा तदा सेत्थमुपशमनीया यथा दशरथमृत्यनन्तर रामनिष्ठपुत्रत्वे दशरथनिरूपितत्वस्याऽसत्त्वेऽपि तन्निरूपितपुत्रत्वस्य सर्वदैकत्वेन 'रामो दशरथपुत्र' इत्येव तदाऽप्यबाधितो व्यवहार समुपपद्यते इति । दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह - **तथा मम** = नैयायिकस्य **अपि, तत्तद्व्यक्तिनिरूपितत्वस्य** = अतीतानागतव्यक्त्यनुयोगिकत्वस्याऽतीतानागतव्यक्तीना पूर्वापरकालिकत्वेन **कादाचित्कत्वेऽपि** = असार्वदिकत्वेऽपि, **तन्निरूपितसमवायस्य** = अतीतादिव्यक्त्यनुयोगिकसमवायससर्गस्य, **एकतया** = सर्वदैकत्वेन, **यावद्-**

घटादि व्यक्ति अनुत्पन्न होने से उनमे घटत्वादि सामान्य कैसे रह सकता है ? अविद्यमान = असत् पदार्थ मे कोई वस्तु नही रहती है । इसलिए सामान्य मे नित्यत्व और अनेकसमवेतत्व बाधित होने से परसम्मत सामान्यपदार्थ का सम्यक् निर्वचन नही हो सकता है । अतएव वह भी असिद्ध = अप्रामाणिक है, यह फलित होता है - ऐसा प्राचीन जैनाचार्यो का वक्तव्य है ।

❀ जाति में अनेकसमवेतत्व की उपपत्ति का निराकरण ❀

नैयायिक :- अथ य इति । स्याद्वादियो की यह मान्यता है कि प्रत्येक शब्द सर्व अर्थ का वाचक होता है । मगर शब्दनिष्ठ सर्वार्थवाचकता कैसे मुमकिन होगी ? क्योकि अतीत ओर अनागत व्यक्ति अविद्यमान होने से उनकी वाचकता शब्द मे नही होती है । अतः केवल वर्त्तमान व्यक्ति की ही वाचकता प्रत्येक शब्द मे होगी, न कि अतीतादि सर्वार्थविषयक वाचकता । यदि यहाँ स्याद्वादियो की ओर से ऐसा कहा जाय कि —> ''अतीत - अनागत व्यक्ति अविद्यमान होने से उनसे निरूपितत्व शब्दनिष्ठ वाचकता मे कादाचित्क होने पर भी अतीतादिविषयनिरूपित वाचकता, जो शब्द मे रहती है, एक होने की वजह प्रत्येक शब्द मे सर्वार्थवाचकता की उपपत्ति हो सकती है । यह ठीक उसी तरह सगत हो सकता है, जैसे 'काकवान् देवदत्तगृह' यहाँ काक देवदत्त के घर का उपलक्षण है । वह सर्वदा देवदत्तगृह मे नही रहता है, फिर भी 'देवदत्त का घर काकवाला है' ऐसा व्यवहार होता है । इसी तरह अतीतादि विषय मे रहने वाली वाच्यता अनन्त एव कदाचित्क होने पर भी उनसे निरूपित = उपलक्षित वाचकता देवदत्तगृह की भाँति एक होने से प्रत्येक शब्द सर्वार्थवाचक कहा जाता है'' <— तो फिर इसी तरह सामान्य = जाति मे अतीतादियावद्व्यक्ति की वृत्तिता भी मुमकिन होने से यावद्व्यक्तिवृत्तित्वस्वरूप अनेकसमवेतत्व भी जाति मे अबाधित है । वह इस तरह - अतीतादि घटादि व्यक्ति कादाचित्क होने से अतीतादि तत्तत् घटादि व्यक्ति की निरूपितता भी कादाचित्क होने पर भी उनसे निरूपित समवाय यानी अतीतादिव्यक्तिअनुयोगिक समवाय-

वेतत्वं जातेर्निर्वक्ष्यति । भवतामेकस्य शब्दस्य यावदर्थवाचकत्वमिव यावद्व्यक्तिवृत्तित्वं जातेरेकदा तु न व्यवह्रियते । किञ्च, पटादौ नष्टघटभेद इव जातावतीतानागतव्यक्तिसमवेतत्वं नाऽसम्भवदुक्तिकमिति चेत् ? न, समवायस्यैवाऽविष्वग्भावातिरिक्तस्याऽसिद्धेः ।

❋ जयलता ❋

व्यक्तिसमवेतत्व = अतीतादिनिखिलघटादिव्यक्तिनिरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्व, जातेः = घटत्वादिसामान्यस्य निर्वक्ष्यतीति न विशेष्याशानुपपत्ति ।

'तथाप्येकस्मिन् काले कथं घटत्वादावतीतादिसकलघटादिव्यक्तिसमवेतत्वव्यवहारः सङ्गच्छते ?' इत्याशङ्कायां नैयायिक आह - भवता = स्याद्वादिना एकस्य शब्दस्य यावदर्थवाचकत्व = अतीतादिसर्वघटादिव्यक्तिवाचकत्व इव यावद्व्यक्तिवृत्तित्व = अतीतादिसकलघटादिव्यक्तिनिरूपितसमवायावच्छिन्नवृत्तित्व जातेः = घटत्वादिसामान्यस्य एकदा = एककालावच्छेदेन तु न व्यवह्रियते अस्माभिः, किन्तु कालभेदेनैवेति शेषः । 'एकमेव घटत्वादिसामान्यं पूर्वकालावच्छेदेनाऽतीतघटादिसमवेतं वर्त्तमानकालावच्छेदेन साम्प्रतिकघटादिनिरूपितसमवायसंसर्गावच्छिन्नवृत्तितावत् अनागतकालावच्छेदेन च भविष्यद्घटादिवृत्ति' इत्येवमेव प्रतिपाद्यतेऽस्माभिः, घटत्वादेर्नित्यत्वात्, न तु 'वर्त्तमानकालावच्छेदेनाऽतीतादिघटवृत्ति' इति व्यपदिश्यते इति न काऽप्यनुपपत्तिर्गौतमीयदर्शने ।

ननु तथाप्यतीतादिव्यक्तिसमवेतत्वं घटत्वादेः कथं सम्भवति ? अतीतादिघटादिव्यक्तीनामसत्त्वात्, अन्यथा वन्ध्यापुत्रसमवेतत्वमपि तत्र सम्भवदुक्तिकं स्यात्, असत्त्वाऽविशेषादित्याशङ्कायामाह - किञ्चेति । पटादौ नष्टघटभेद इवेति । अतीतघटस्याऽसत्त्वेऽपि तन्निष्ठप्रतियोगितानिरूपकभेदस्तु पटादौ वर्तत एव, अन्यथा 'नष्टघटो न पटादि' इतिप्रत्ययानुपपत्तेः । तथैव जातौ = घटत्वादौ अपि अतीतानागतव्यक्तिसमवेतत्वं नासम्भवदुक्तिकम् । न चैवं वन्ध्यापुत्रसमवेतत्वमपि जातौ सम्भवदुक्तिकं स्यादिति वाच्यम्, तस्य कदाऽप्यसत्त्वात्, अतीतघटादेस्तु यदाकदाचित्सत्त्वादिति विशेषात् । ततश्च जातेरनेकसमवेतत्वं निराबाधमिति फलितमिति फक्किकार्थः ।

मूलशैथिल्यप्रदर्शनेन प्रकरणकारः तमपाकरोति - नेति । अनेकसमवेतत्वघटकीभूतस्य समवायस्यैव पराभिमतस्य अविष्वग्भावातिरिक्तस्य असिद्धेरिति । यदि अनुयोगि-प्रतियोगिव्यतिरिक्तः परैष्टः समवायः सिध्येत् तदा तद्गर्भितं अनेकसमवेतत्वं जातौ सिध्येत् । परं स एव नास्ति, तत्र मानाभावस्य पूर्वमेव (पृष्ठ ७१-८१) विस्तरतः प्रतिपादितत्वात् । परिणामपरिणामिनोस्तु अपृथग्भावलक्षण एव सम्बन्धः । तस्यैव समवायवाच्यत्वेऽस्माकं न कश्चिद्विरोधो नाम । परः स च नैकान्तनित्यो न वा सर्वथैक एव, तस्य कथञ्चित्परिणामाऽनतिरेकात्, परिणामानां कथञ्चिदनित्यत्वात् स्यादनेकत्वाच्च । अत एवातीतादिव्यक्त्यनुयोगिकत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तदनुयोगिकसम्बन्धस्यैकत्वेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वं जातेर्नोपपादयितुं शक्यते, अपृथग्भावसम्बन्धस्य सर्वथैकत्वविरहात् । एतेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्वं जातेरेकदा तु न व्यवह्रियत किन्तु कालभेदेनेति प्रत्युक्तम्, अनित्यत्वेन यावत्कालं सामान्यस्याऽसत्त्वाच्चेति भावनीयम् ।

सम्बन्ध एक होने की वजह जाति मे यावत् व्यक्ति समवेतत्व भी उपपन्न हो सकता है, यह आगे बताया जायेगा । दूसरी बात यह है कि आप स्याद्वादियो के मत मे एक शब्द मे एक ही काल मे यावदर्थवाचकता की भाँति जाति मे एक काल मे यावत् व्यक्तिनिरूपित वृत्तित्व का व्यवहार भी नही होता है, किन्तु भिन्न-भिन्न काल की अपेक्षा अनेकसमवेतत्व का व्यवहार होता है । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि विद्यमान पट मे जैसे विनष्ट घट का भेद मुमकिन है, ठीक वैसे ही जाति मे अतीतानागतव्यक्तिसमवेतत्व भी मुमकिन है । इसलिए यावद्व्यक्तिसमवेतत्व का जाति मे प्रतिपादन करना नामुमकिन नही है । अतः 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व' यह जातिलक्षण सुसगत है - यह फलित होता है ।

स्याद्वादी :- न सम इति । ओ नैयायिक महाशय ! अब पछताये होत क्या जब चिडियाँ चुग गई खेत ! अविष्वग्भाव से अतिरिक्त समवाय नाम का सम्बन्ध ही असिद्ध है तो फिर समवायघटित अनेकसमवेतत्व भी जाति मे कैसे उपपन्न होगा ? क्योकि अनेकसमवेतत्व का अर्थ यावद्व्यक्तिनिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता । उसका घटक समवाय असिद्ध होने से विशेष्यांश अनेकसमवेतत्व भी असिद्ध ही रहता है । फलतः नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व भी जाति मे नामुमकिन होगा ।

❋ वर्धमान उपाध्याय के मत का निरास ❋

एतेन अनेकवृत्तित्व स्वाश्रयाऽन्योन्याभावसामानाधिकरण्यमि' ( ) ति वर्धमान-वचनमप्यपास्तम्, विशेषेऽतिव्याप्तितादवस्थ्यवारणाय सामानाधिकरण्यस्य समवायगर्भत्वा-वश्यकत्वात् ।

❀ जयलता ❀

एतेनेति । अपृथग्भावातिरिक्तसमवायनिराकरणेनेत्यर्थ । अस्याऽपास्तमित्यनेनाऽन्वय । सामान्यनिष्ठ **अनेकवृत्तित्व** नाम **स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्य** = स्वाधिकरणप्रतियोगिकभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वम् । स्वपदेन सामान्यस्य ग्रहणम् । 'स्वाश्रये'त्युक्त्या सामान्ये स्वाश्रयवृत्तित्व प्रतीयते । स्वाश्रयभिन्ननिरूपितवृत्तित्वस्य चाग्रभागेन भानादनेकवृत्तित्वो-पपत्ति । तथाहि - घटत्वे स्वाश्रयनीलघटनिरूपितवृत्तित्व स्वाश्रयनीलघटप्रतियोगिकभेदाधिकरणीभूतपीतादिघटनिरूपित-वृत्तित्वश्च वर्त्तेते इत्यनेकवृत्तित्व घटत्वलक्षणसामान्य उपपद्यते । एवमेव पटत्वादिस्वरूपसामान्येऽपि भावनीयमित्यर्थक **वर्धमान-वचन** = गङ्गेशपुत्रवर्धमानवचन **अपि अपास्तम्** ।

यत्किञ्चित्सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाभ्युपगमे विशेषादावतिव्याप्तिप्रसङ्गात् । विशेषे स्वाश्रयपरमाणुनिरूपितवृत्तित्वस्य स्वाश्रय-परमाणुप्रतियोगिकभेदाधिकरणीभूतघटादिव्यक्तिनिरूपितकालिकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वस्य च सत्त्वात्, घटादेरनित्यत्वेन कालोपाधि-तया कालिकससर्गेण विशेषाश्रयत्वात् । एवमेव समवायाऽभावद्रव्यगुणादा-वपि सम्बन्धभेदेनाऽतिव्याप्ते । ततश्च **विशेषे** उपलक्ष-णात्समवाये च **अतिव्याप्तितादवस्थ्यवारणाय सामानाधिकरण्यस्य समवायगर्भत्वावश्यकत्वादिति** । ततश्चानेकवृत्तित्व स्वाश्रय-प्रतियोगिकभेदाधिकरणनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वमित्यभ्युपगन्तव्यम् । ततो न विशेषादावतिव्याप्तितादवस्थ्यम्, घटादौ परमाणुवृत्तिविशेषस्य समवायेनाऽवृत्तित्वात्, समवायादेश्च समवायेन स्वाश्रयभेदाधिकरणाऽवृत्तित्वात् । **न च** कपाल-द्वयादिप्रारब्धघटादावतिव्याप्ति , स्वाश्रयप्रथमकपालप्रतियोगिकभेदाधिकरणीभूतद्वितीयकपालनिरूपितसमवायससर्गावच्छिन्नवृत्तित्व-मत्त्वादिति **वाच्यम्**, सामान्यलक्षणे 'नित्यत्वे सती'ति विशेषणात् । **एतेन** सयोगादावतिव्याप्तिरपि **प्रत्युक्ता**, नित्यसयोगानभ्युपग-मात् । परन्त्वेवमवश्यक्लृप्त समवायगर्भितसामानाधिकरण्य तदभिमतसमवायस्याऽसत्त्वेन न घटामञ्चति, समवायनिरासेनैव तन्निरासात् । अविष्वग्भावस्थानीयसमवायाऽङ्गीकारे तु सामान्येऽतीतानागतव्यक्तिनिरूपितवृत्तित्वाऽसम्भवेन यावद्व्यक्तिवृत्तित्व बाधितम्, अविष्वग्भावस्य नानात्वात् । अविष्वग्भावस्य कथञ्चिदेकत्वेनाऽतीतादियावद्व्यक्तिनिरूपितवृत्तित्वोपपादने तु अभावेऽ-तिव्याप्तितादवस्थ्यात् । **न** चाऽभावभिन्नत्वे सतीति विशेषणान्न दोष इति **वक्तव्यम्**, गौरवात्, नित्यसयोगेऽतिव्याप्तेश्च । **न** च नित्यसयोगे मानाभाव इति **वाच्यम्**, 'गगन नात्मसयुक्तमि'ति प्रतीते प्रामाण्यापत्ते तदभ्युपगमस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

एतेन इति । जातिनिष्ठ अनेकसमवेतत्व की व्याख्या वर्धमान उपाध्याय इस तरह करते है कि —> 'अनेकसमवेतत्व का मतलव हे अनेकवृत्तित्व और वह स्वाश्रयाऽन्योन्याभावसामानाधिकरण्यस्वरूप है । स्वपद से जाति का ग्रहण अभिप्रेत हे । जेसे स्व = घटत्वजाति का आश्रय विवक्षित नील घट और उसका भेद रहता हे पीतादि घट मे, जिसमे घटत्व रहता है । वही अनेकवृत्तित्व = स्वाश्रयभेदसामानाधिकरण्य = स्वाश्रयभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्व है । इस तरह घटत्व स्वाश्रय = नील घट एव स्वाश्रयभिन्न = पीतादि घट मे वृत्ति होने से अनेकवृत्तित्वविशिष्ट है । इस तरह जातिलक्षण के विशेष्य अश की घटत्व जाति मे उपपत्ति होने से जातिलक्षण असभवदोपग्रस्त नही है एव पटत्वादि जाति मे अव्याप्ति दोप भी अप्रसक्त हे, क्योकि नीलपट = स्वाश्रय के भेद के अधिकरण पीतादि पट की वृत्तिता = स्वाश्रयभिन्नवृत्तित्व पटत्व जाति मे अवाधित हे' <— मगर यह व्याख्या भी असगत है, क्योकि इस तरह असभव ओर अव्याप्ति दोप का निराकरण करने पर अतिव्याप्ति दोप प्रसक्त होता है । देखिये, परमाणु मे विशेप नाम का पदार्थ नैयायिकमतानुसार रहता है । अत॰ स्व = परमाणुगत विशेप के आश्रय = परमाणु के भेद का अधिकरण = स्वाश्रयान्योन्याभावाधिकरण घट, पट आदि पदार्थ होते है, जिनमे कालिकसम्बन्ध से विशेप पदार्थ रहता हे, क्योकि अनित्य होने की वजह घटादि कालोपाधि वनते हे । अतः स्वाश्रयभेदाधि-करणनिरूपितवृत्तित्वात्मक अनेकवृत्तित्व विशेप मे भी रहता है । विशेप तो जाति नही होने से अलक्ष्य है, फिर भी उसमे उक्त अनेकवृत्तित्व रहने से अतिव्याप्ति दोप का प्रसग आता है । ऊँट को निकालने पर भी वकरी तो घुस ही गई । इस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए गगेश उपाध्याय से सपूत वर्धमान उपाध्याय को यही कहना होगा कि —> 'स्वाश्रयभेदसामा-नाधिकरण्य कालिकादि यत्किञ्चित् सम्वन्ध से नही किन्तु समवाय सम्वन्ध से अभिमत है । स्व (= विशेप) आश्रय (= परमाणु) भेदाधिकरणीभूत घटादि मे विशेप, जो सात पदार्थ मे से पॉचवा पदार्थ हे, समवाय सम्वन्ध से तो नही ही रहता हे । अतः स्वाश्रयभेदाधिकरण-निरूपित समवायसम्वन्धावच्छिन्न वृत्तित्व तो विशेपपदार्थ मे नही रहने से अतिव्याप्ति दोप का अवकाश

विशेषपदार्थस्वीकारोऽपि तेषां भेदकधर्मान्तराभाववतां परमाण्वादीनां नित्यद्रव्याणां परस्परयोगिभेदप्रत्यक्षान्यथाऽनुपपत्तेः । सोऽप्यनुपपन्नः, तद्गुणेष्वपि तत्स्वीकारापत्तेः ।

❋ जयलता ❋

वस्तुतस्तु समानानां स्वभाव एव सामान्यं, न त्वतिरिक्तम् । अत एव स्व-स्वातिरिक्तपदार्थेषु प्रमेयत्वस्वभावेन 'प्रमेयमि'ति बुद्धिवत् भावत्वस्वभावेनैव 'सदि'तिधीरिति दिक् ।

नैयायिकसम्मतविशेषपदार्थसमर्थनार्थमुपक्रमते - विशेषपदार्थस्वीकारोऽपीति । अतिरिक्तविशेषाख्यपदार्थाऽभ्युपगमोऽपि, अस्याऽग्रे 'अन्यथानुपपत्तेरि'त्यत्राऽन्वयः । तेषां = नैयायिकानां भेदकधर्मान्तराभाववतां = व्यावर्त्तकधर्मविरहवतां सतां परमाण्वादीनां = परमाण्वाकाशात्मदिक्कालमनसां नित्यद्रव्याणां परस्परयोगिभेदप्रत्यक्षान्यथानुपपत्तेः = परस्परप्रतियोगिकभेदगोचरयोगजप्रत्यासत्तिजन्यसाक्षात्कारस्य भेदकधर्ममन्तरा असम्भवप्रसङ्गात् । यद्यपि द्व्यणुकेषु कथञ्चित्सद्गुणेषु च परस्परस्माद् भेदस्य लौकिकप्रत्यक्षाऽसम्भवेऽपि यादृशसन्निकर्षेण घटादिषु परस्परप्रतियोगिकभेदः प्रत्यक्षसिद्ध एवेति न तत्र व्यावर्त्तकधर्माऽपेक्षा तथापि घटादिषु परस्परसदृशावयवेषु चालोकादिषु तथाविधेषु परस्परावयवभेदग्रहान्वयव्यतिरेकानुविधायिभेदग्रहोऽवयविनां दृष्टो नाऽपह्नोतुमर्हति । न च क्वचित्प्रत्यक्षस्य सदृशोत्तरप्रत्यक्षे विशेषदर्शनस्य कारणत्वात् । यदा तु प्रत्यक्षसामग्र्याः परिकल्पनता तदाऽनुमितिरेवेत्यपि । उभयथाऽपि तत्तदवयवभेदस्य व्यावर्त्तकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । भेदधीजनकधीविषयत्वमेव हि व्यावर्तकत्वम् । किञ्च प्रत्यक्षावगतमपि भेदमप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितमाऽपनयनाय दृढतरसंस्काराऽऽपादनाय परं प्रति सम्यगुपपादनाय च युक्तिभिः स्थिरीचिकीर्षन्तः तत्तदवयवभेदमेव युक्तितयाऽनुगच्छन्तो दृष्टाः । द्व्यणुकादिस्तु योगिनां भेदप्रत्यक्षं परमाणुभेदावबोधात्सम्भवत्येव । पार्थिवपरमाणूनां जलादिपरमाणुभेदग्रहो योगिनां जातिभेदग्रहादेव सम्भवति । परं सजातीयपरमाणूनां परस्परं भेदप्रत्यक्षं योगिनां नावयवभेदग्रहात् वैजात्यग्रहाद्वा सम्भवति, तेषां निरवयवत्वात्, सजातीयत्वाच्च । न च निर्निमित्तमेव तदङ्गीकार्यम्, अन्यत्राऽपि तथाप्रसङ्गात् । अतः तत्कृते नित्यपरमाण्वादिषु क्लृप्तपदार्थातिरिक्तो विशेषाभिधानः पञ्चमपदार्थः स्वीकर्तव्य इति नैयायिकाभिप्रायः ।

प्रकरणकारस्तन्निराकरोति - सः = अतिरिक्तविशेषपदार्थस्वीकारः अपि अनुपपन्नः, तद्गुणेषु = परमाण्वादिगुणेषु अपि तत्स्वीकारापत्तेः = विशेषपदार्थाङ्गीकारप्रसङ्गात्, तेषु परस्परप्रतियोगिकभेदविषयकयोगिप्रत्यक्षानुपपत्तेः, अन्यथाऽर्ध-

नहीं है' <— मगर समवाय सम्बन्ध का तो हम स्याद्वादी पहले ही खण्डन कर चुके है, तब समवायगर्भित स्वाश्रयभेदसामानाधिकरण्य की बाँग पुकारना कैसे समीचीन होगा ? अतः वर्धमान उपाध्याय का वक्तव्य भी असंगत है ।

❋ नैयायिकसंमत विशेषपदार्थ अप्रामाणिक ❋

विशे इति । जैसे नैयायिकसम्मत सामान्य पदार्थ अप्रामाणिक है ठीक वैसे ही नैयायिक अभिमत विशेष पदार्थ भी अप्रामाणिक है । विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए नैयायिक मनीषियों की ओर से यह युक्ति बताई जाती है कि —> ''घट और पट विजातीय द्रव्य के बीच परस्पर के भेद का साधक घटत्व-पटत्व जातिभेद है । सजातीय घट, घट के बीच परस्पर के भेद का साधक उनका अवयवभेद है, क्योंकि दोनों घट के अवयव कपाल भिन्न होते हैं । इस तरह दो द्व्यणुक के बीच भेद का साधक उनके अवयव परमाणुओं का भेद होता है । मगर निरवयव परमाणुओं के बीच भेद का साधक कौन होगा ? क्योंकि परमाणुओं में कोई अवयव नहीं होते हैं । हाँ, पार्थिव परमाणु और जलीय परमाणु के भेद का साधक पृथ्वीत्व, जलत्व सामान्यभेद हो सकता है, मगर दो पार्थिव परमाणुओं के भेद का साधक जातिभेद नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें भिन्न जाति नहीं होती है । यह तो नहीं कहा जा सकता कि सजातीय अनेक परमाणुओं में भेद ही नहीं होता है, क्योंकि योगी को सजातीय परमाणुओं में भेद का योगज प्रत्यक्ष होता है । योगजप्रत्यासत्तिजन्य सजातीयअनेकपरमाणुभेदविषयक योगिप्रत्यक्ष की अन्यथा अनुपपत्ति से भिन्न अवयवादि भेदकधर्म से शून्य सजातीय परमाणुओं में विशेष नामक अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना की जाती है । सजातीय परमाणुओं में विशेषपदार्थ अलग-अलग होने से योगियों को उन परमाणुओं में भेद का साक्षात्कार होता है । इस तरह विशेष नामक पंचम पदार्थ की सिद्धि होती है'' <—

सोऽप इति । मगर प्रकरणकार श्रीमद्जी का इसके खिलाफ यह वक्तव्य है कि उक्त रीति से विशेष पदार्थ का स्वीकार भी अनुपपन्न = अप्रामाणिक है, क्योंकि तब तो परमाणुओं के गुणों में भी भेदसिद्धि के लिए विशेष पदार्थ के स्वीकार की आपत्ति, जो नैयायिक को अनिष्ट है, आयेगी । सजातीय अनेक परमाणु के भेद के योगिप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति

अथ तत्र शुक्लतरत्वाद्यवान्तरजातय. स्वीक्रियन्ते, परमाणौ त्वन्त्यकार्याऽवृत्तित्वा-दवान्तरजातय: स्वीकर्तुं न शक्यन्त इति चेत् ? तथापि अवान्तरजातीयेष्वपि रूपादौ-(?दिषु) परस्परव्यावृत्ति. किमधीना ?

जयलता

जरतीयापत्ते ।

पर शङ्कते - **अथेति** । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । **तत्र** = परमाणुगुणेषु शुक्लादिलक्षणेषु, **शुक्लतरत्वाद्यवान्तर-जातयः** = शुक्लत्वादिव्याप्या शुक्लतरत्व-शुक्लतमत्वनीलतरत्वादिजातय **स्वीक्रियन्ते** अस्माभिः नैयायिकैरिति शेष. । सजातीयपरमाण्वो शुक्लगुणो शुक्लत्वव्याप्याभ्या शुक्लतरत्व-शुक्लतमत्वाभ्यामेव परस्पर भिद्येते इति न तदर्थ तत्र विशेष-कल्पनमर्हति । अक्लृप्तकल्पने तु गौरवमिति यौगाशय । 'तर्हि सजातीयपरमाणुष्वपि पृथ्वीत्वाद्यवान्तरजातय कल्पयतस्तव कि छिद्यते येन तत्र विशेषकल्पनायासमातनुसे ?' इत्याशङ्काया नैयायिक आह - **परमाणौ त्विति** । परमाणुगुणापेक्षया परमाणौ विशेषसूचनार्थ तुशब्द । तदेवाह - **अन्त्यकार्याऽवृत्तित्वात्** = सजातीयद्व्यणुकलक्षणान्त्यकार्याऽसमवेतत्वात्, **अवान्तरजातयः** = पृथ्वीत्वादिव्याप्यजातय **स्वीकर्तु न शक्यन्त** इति । पार्थिवजलीयद्व्यणुकयो द्रव्यत्वव्याप्यपृथ्वीत्वजलत्व-जात्यो समवेतत्वेन तत्कारणीभूतपरमाणुषु द्रव्यत्वन्यूनवृत्तिपृथिवीत्वजलत्वजातिविशेषौ कल्पयितु शक्येते पर सजातीयद्व्यणुकयो पृथिवीत्वाद्यवान्तरजातिविरहेण तत्कारणीभूतपरमाणुषु पृथिवीत्वादिव्याप्यजातय कल्पयितु नार्हन्ति । ततश्च सजातीयपरमाणुषु परस्परप्रतियोगिकभेदगोचरयोगिप्रत्यक्षान्यथानुपपत्त्या अतिरिक्तविशेषकल्पनमर्हत्येवेति नैयायिकाभिप्राय ।

यद्यपि परमाण्वादिसमवेतनित्यैकत्वपरिमाणादिगुणेषु परेणाऽवान्तरजातयो नैव स्वीकर्तु शक्यन्त इति तत्र विशेषपदार्थाङ्गी-कारप्रसङ्गस्य दुर्वारत्व तथापि रफुटत्वात्तद्दोषमुपेक्ष्य अभ्युपगमवादेन प्रकरणकृदाऽऽह - **तथापीति** । सजातीयपरमाणुशुक्लादि-गुणेषु शुक्लतरत्व-शुक्लतमत्वादीना शुक्लत्वादिव्याप्यजातीना कल्पनेऽपीति । **अवान्तरजातीयेषु** शुक्लत्वादिव्याप्यजाति-विशेषविशिष्टेषु **अपि रूपादिषु** शुक्लादिरूपादिगुणेषु सजातीयपरमाणुसमवेतेषु **परस्परव्यावृत्तिः** = इतरेतरप्रतियोगिक-भेदलक्षणव्यावृत्ति **किमधीना** ? = किनिमित्तका ? परमाणुसमवेतयो शुक्लतरशुक्लतमरूपयो परस्परव्यावृत्ते शुक्लतरत्व-शुक्लतमत्वजातिविशेषनिमित्तकत्वोपपादनेऽपि सजातीयपरमाणुसमवेतयो शुक्लतररूपयो परस्परप्रतियोगिकभेदस्य योगिसाक्षा-त्कारविषयस्य नाऽवान्तरजातिविशेषनिमित्तकत्वमुपपादयितु शक्यते, द्वयो शुक्लतरत्वजाते समवेतत्वेनाऽविशेषात् । अत तत्र

से भेदाश्रय सजातीय परमाणुओ मे विशेष पदार्थ का स्वीकार जैसे किया जाता है, ठीक वैसे ही सजातीय परमाणुओ के सजातीय शुक्ल आदि गुणो के भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष की अन्यथाअनुपपत्ति से सजातीयपरमाणुवृत्ति अनेक शुक्ल गुणो मे भी, जो पररपरप्रतियोगिक भेद के आश्रय है, विशेष पदार्थ का स्वीकार भी तुल्य युक्ति से मान्य करना होगा ।

नैयायिक :- अथ त इति । जी नही, परमाणुगत अनेक सजातीय शुक्ल गुणो मे विशेष पदार्थ के स्वीकार की आपत्ति हमारे मत मे नही होगी, क्योकि परमाणुओ के अनेक शुक्ल गुणो मे शुक्लतरत्व, शुक्लतमत्वस्वरूप अवान्तर जातिविशेष का हम अगीकार करते है, जो उनका भेदक है । मगर पार्थिव अनेक परमाणु या जलीय अनेक परमाणुओ मे अवान्तर जातिविशेष की कल्पना नही की जा सकती, क्योकि अत्य कार्य पार्थिव द्व्यणुको मे ही अवान्तर जातिविशेष नही रहती है । पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक मे अवान्तर = द्रव्यत्वव्याप्य पृथ्वीत्व-जलत्व जातिविशेष रहने से पार्थिव परमाणु और जलीय परमाणु मे अवान्तर पृथ्वीत्वादि जातिविशेष की कल्पना की जा सकती है । मगर दो पार्थिव द्व्यणुक मे अवान्तर जातिविशेष नही होने से उनके अवयव पार्थिव परमाणुओ मे अवान्तर जातिविशेष की कल्पना नही की जा सकती है । सजातीय परमाणुओ मे परस्पर भेदक जातिविशेष नही होने की वजह उनमे विशेष पदार्थ की कल्पना आवश्यक बन जाती हे, जिससे सजातीय परमाणुओ मे परस्पर भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष मुमकिन बने ।

स्याद्वादी :- तथापि इति । ठीक है दो शुक्ल गुण मे शुक्लतरत्व ओर शुक्लतमत्व नामक जातिविशेष की कल्पना कर के आप नैयायिक महाशय ने दो शुक्ल गुण मे भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष का समर्थन किया । मगर अनेक शुक्लतर गुणो मे, जो सजातीय अनेक परमाणुओ मे रहते हे, परस्पर भेदविषयक जो योगिप्रत्यक्ष होता हे, उसकी उपपत्ति आप केसे करेंगे ? क्योकि उनमे तो शुक्लतरत्व जाति समान ही है । इसलिए अवान्तर जातिविशेष की कल्पना से भी वहाँ भेदावगाही योगि-साक्षात्कार की उपपत्ति नही हो सकती हे । इसलिए शुक्लतरत्व जाति के आश्रय अनेक शुक्लतर गुणो मे भी विशेष पदार्थ का स्वीकार आपके लिए अनिवार्य हो जायेगा, जिससे उनमे परस्परभेदावगाही योगिप्रत्यक्ष की उपपत्ति हो सके, अन्यथा

स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्धेन विशेषाधीनैवेति चेत् ? तर्हि 'स विशेषो गुणनिष्ठ एव कल्प्यतां, परमाण्वादिषु परस्परव्यावृत्तिस्तु स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेन विशेषाधीना' इत्यत्र किं विनिगमकम् ? 'गुणाना बहुत्वात् तत्राऽनन्तविशेषकल्पनाया गौरव बाधकमि'ति चेत् ?

☙ जयलता ☙

परेणाऽवश्य विशेषाभिधानपञ्चमपदार्थकल्पन कर्तव्यमिति विशेषस्य निरवयवद्रव्यसमवेतत्वराद्धान्तभङ्गप्रसङ्ग. परस्य दुर्वार इति प्रकरणकृदभिप्राय ।

नैयायिक शङ्कते - स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्धेनेति । स्वपदेन परमाणुसमवेतातिरिक्तविशेषपदार्थग्रह , तदाश्रये = तत्समवायिनि परमाणौ आश्रित = समवेत यत्शुक्लतरादिरूपादि तत्र स्वाश्रयाश्रितत्वसंसर्गेण परमाणुसमवेतविशेषो वर्तत इति परमाणुसमवेतयो शुक्लतररूपयो परस्परप्रतियोगिकव्यावृत्ति स्वसमवायिसमवेतत्वसंसर्गेण विशेषाधीना = विशेषनिमित्तका एवेति न शुक्लतररूपादो समवायेन विशेषपदार्थकल्पनाप्रसङ्ग , निरुक्तसंसर्गेण तत्रकस्य विशेषपदार्थस्याऽवर्त्तमानत्वात्, प्रतिपरमाणु तद्भेदादिति गौतमीयाभिप्राय ।

प्रतिबन्द्या प्रकरणकृत् प्रत्युत्तरयति - तर्हीति । अन्यत्र समवेतेनैव विशेषपदार्थेन परम्परया क्वचिदन्यत्र परस्परव्यावृत्तिसम्भवे इति । सः = परस्परसजातीयव्यावृत्तिनिमित्तक विशेषः समवायेन गुणनिष्ट एव कल्प्यता नैयायिकै युष्माभि । 'तर्हि सजातीयपरमाणुषु परस्परव्यावृत्त्युपपत्ति कथ ? इत्याशङ्कायामाह - परमाण्वादिषु परस्परव्यावृत्तिः तुर्विशेषणार्थ तदेवाह- स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेनेति । स्वसमवायिसमवायित्वसम्बन्धेनेति । स्वपदेन गुणवृत्तिविशेषग्रहण तत्समवायिषु परमाणुप्रभृतिसमवेतशुक्लतरादिगुणेषु परमाण्वादीना समवायित्वेन परमाण्वादिषु स्वसमवायिसमवायित्वसंसर्गेण विशेषाणा वृत्तित्वेन तत्र परस्परव्यावृत्ति निरुक्तसंसर्गेण विशेषाधीना = विशेषनिमित्तका सम्भवत्येव कल्पयितु, प्रतिगुण विशेषभेदेन परमाण्वादिष्वेकस्यैव तस्य निरुक्तसंसर्गेणाऽवृत्ते । ततश्च विशेष निरवयवद्रव्यसमवेत सन् परम्परया तद्गुणेषु परस्परव्यावृत्तिधिय जनयति यदुत निरवयवद्रव्यगुणसमवेत सन् परम्परया निरवयवद्रव्येषु परस्परव्यावृत्तिबुद्धिमादधातीत्यत्र किं विनिगमक = एकतरपक्षपातियुक्त्यादिक ? नैवेत्यर्थ ।

नैयायिक विनिगमकमावेदयति - गुणाना = परमाण्वादिसमवेतगुणाना परमाण्वाद्यपेक्षया बहुत्वात् = अधिकसङ्ख्याकत्वात् तत्र = निरवयवद्रव्यगुणेषु अनन्तविशेषकल्पनाया = अधिकानन्तविशेषपदार्थकल्पनाया गौरव बाधकम् । न च प्रतिनिरवयवद्रव्यमनन्तगुणानामनभ्युपगमात्कथमधिकानन्तविशेषपदार्थकल्पनापत्ति विशेषाणा तद्गुणसमवेतत्वकल्पन इति

'शुक्लतर अनेक गुणो मे परस्परभेदविषयक योगिप्रत्यक्ष किनिमित्तक है ?' यह समस्या मुँह फाड़े खड़ी रहेगी ।

नैयायिक :- स्वाश्र इति । जनाब, सजातीय परमाणुओं मे रहने वाले अनेक शुक्लतर गुणो मे भेदविषयक योगिप्रत्यक्ष की उपपत्ति तो परस्परभेद के आश्रय अनेक शुक्लतर गुणो के आश्रय सजातीय परमाणु मे वृत्ति विशेष पदार्थ ही स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्ध से करेगा, क्योकि स्व = विशेष के आश्रय सजातीय परमाणुओं मे शुक्लतर अनेक गुण आश्रित होने से सजातीयपरमाणुसमवेत विशेष पदार्थ स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्ध से शुक्लतर गुणो मे, जो सजातीयपरमाणुगत है, रहते है । अतः शुक्लतर अनेक गुणो मे परस्परप्रतियोगिक भेद की उपपत्ति के लिए समवाय सम्बन्ध से शुक्लतर गुणो मे विशेष पदार्थ की कल्पना अनावश्यक है । अत 'शुक्लतर गुणो मे परस्परप्रतियोगिक भेद की उपपत्ति किसके अधीन होगी ?' इस समस्या को अवकाश नही है ।

❀ विशेषपदार्थ परमाणु में है या उनके गुण में ? ❀

स्याद्वादी :- तर्हि इति । आप नैयायिक विशेष पदार्थ को समवाय सम्बन्ध से परमाणु मे मान कर उसे ही स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्ध से सजातीयपरमाणुगत सजातीय गुणो के परस्पर भेद का निर्वाहक मानते है । इसकी अपेक्षा विशेष पदार्थ को समवाय सम्बन्ध से सजातीय गुणो मे, जो सजातीय परमाणुओ मे रहते है, ही मान कर उसे स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्ध से सजातीय परमाणुओ के परस्परप्रतियोगिक भेद का निर्वाहक = निमित्त क्यो नही मानते हे ? क्योकि स्व = विशेष के आश्रय = सजातीय गुण का समवायी सजातीय परमाणु होने से गुणसमवेत विशेष पदार्थ स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्ध से सजातीय परमाणुओ मे रह सकता है । इसलिए विशेष पदार्थ को परमाणुसमवेत माना जाय या परमाणुगुणसमवेत माना

तथापि प्रत्येकं विनिगमनाविरहः कुत्र लीनः ?
किञ्च, तादृशविशेषाणामपि व्यावृत्तिः कुतः ? 'स्वत एवेति' चेत् ?

जयलता

वाच्यम्, निरवयवद्रव्याणामनन्तत्वेन प्रतिनिरवयवद्रव्यमनेकेषां गुणानां समवेतत्वेन च विशेषाणां निरवयवद्रव्येषु समवेतत्वकल्पनापेक्षया तद्गुणेषु तत्त्वकल्पनेऽधिकानन्तविशेषकल्पनागौरवस्याऽव्याहतप्रसरत्वात् । वस्तुतस्तु निरवयवद्रव्यगुणेषु विशेषाणां समवेतत्वकल्पनेऽनन्तगुणाधिकविशेषपदार्थकल्पनागौरवं, पाकजरूपादीनामनित्यत्वेनैकस्मिन्नपि परमाण्वादौ कालभेदेनाऽनन्तपाकजादिगुणानां सम्भवादिति प्रकृतगौरवमेव विशेषाणां निरवयवद्रव्यगुणसमवेतत्वे बाधकं सन्निरवयवद्रव्यसमवेतत्वनिर्णायकमिति नैयायिकाभिप्रायः ।

प्रौढिवादेन प्रकरणकृत्प्रत्यवतिष्ठते --> **तथापीति** । परमाण्वादीनां सर्वेषु गुणेषु विशेषकल्पनायामनन्तगुणाधिकविशेषपदार्थकल्पनागौरवे सत्यपीति । **प्रत्येकं विनिगमनाविरहः कुत्र लीनः ?** विशेषः समवायेन परमाण्वादौ वर्तते आहोस्वित् तदीये एकस्मिन् रूपादौ गुणे ? इत्यस्य विनिगमनाविरहस्य बद्धकक्षत्वमव्याहतमेव, तुल्यगौरवादिति । **एतेन** --> 'नित्यद्रव्येषु विशेषसिद्धौ तादृशविशेषेणैव तादृशनित्यद्रव्यवृत्तिगुणक्रियाध्वंसादेरपि व्यावृत्तिसम्भवान्न तेष्वपि विशेषाङ्गीकार आवश्यकः <-- (मु. प्र. पृ. १२९) इति **नृसिंहवचनं**, तथा --> 'नित्यद्रव्येषु विशेषाः सिद्धाः तद्गुणास्तु न विशेषवन्तः, आश्रयरूपेण विशेषेणैव तेषां व्यावृत्तत्वात्, आश्रयस्य च विशेषवत्तया व्यावृत्तत्वेन विशेषत्वसम्भवादि' <-- (मु. दि. पृ. १२२)ति **महादेववचनञ्च निरस्ते**, विशेषाणां रूपादिवृत्तित्वे विनिगमकाभावात् । 'रूपादिनिष्ठत्वे तस्य सजातीयघटद्वयपर्यन्तः परम्परासम्बन्धो बहुघटितः स्यादि'ति चेत् ? किं ततः ? नानारूपवदवयवारब्धावयविनो नीरूपत्वमते तत्प्रत्यक्षत्वाय परमाणुगतरूपस्य तद्वृत्तितानियामकसम्बन्धविशेषवदिहापि तादृशसम्बन्धविशेषकल्पने तव रसनाया अव्याहतप्रसरत्वात् । 'योगिनो विशेषमीक्षन्ते' इति चेत् ? तर्हि त एव प्रष्टव्याः किं ते विशेषमतिरिक्तमीक्षन्तेऽनतिरिक्तं वा ? इति श्रद्धामात्रगम्य एवायं विशेषपदार्थः' (वादसंग्रह-पृ. १११) इत्यधिकं **विशेषवादे** द्रष्टव्यम् ।

लघुस्याद्वादरहस्ये चात्र 'रूपे एव विशेषः कल्प्यते पृथिवीपरमाणुरूपाणां पाकादिनैव विशेषः, तत्र विशेषाऽकल्पनलाघवादित्यप्याहुः' (ल. स्या. रह. पृ. २१) इत्यधिकः पाठः सुगमश्चेति न तन्यते ।

ननु विशेषाः परस्परवृत्तिविशेषभिन्नत्वेनाऽज्ञाताः कथं परस्परस्मात्परमाणूनां भेदका भविष्यन्ति ? विशेषेषु विशेषाऽङ्गीकारे त्वनवस्थेत्युभयतः पाशरज्जुरित्याशयेन प्रकरणकृदाह - **किञ्चेति** । **तादृशविशेषाणां** = निरवयवद्रव्यसमवेतविशेषपदार्थानां **अपि** परस्परस्माद् **व्यावृत्तिः** = भेदः **कुतः स्यात्** ? नैयायिकः प्रत्युत्तरयति - **स्वत एवेति** । स्वत इत्यस्यावृत्तिः । स्वतः = स्वात्मकलिङ्गात्, स्वतः = स्वीयात् स्वसजातीयादिति यावद् स्वात्मकलिङ्गादित्यत्र पञ्चम्या ज्ञानज्ञाप्यत्वमर्थः । स्वसजातीयादित्यत्र पञ्चम्या प्रतियोगित्वमर्थः । एतदुभयमपि भेदेऽन्वेति । तथा च विशेषः स्वात्मकलिङ्गज्ञानजन्यज्ञानविषयस्वसजातीयप्रतियोगिकभेदाश्रय इत्यर्थो लब्धः । स्वत एवेत्यत्रैवकारेण स्वभिन्नलिङ्गज्ञानजन्यज्ञानविषयस्वसजातीयप्रतियोगिकभेदशून्य

जाय ? इस विषय मे कोई विनिगमक नही है । अतः परमाणुओ की भाँति तद्गत गुण मे भी विशेष की कल्पना करनी पड़ेगी । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि --> "परमाणुओं की अपेक्षा परमाणुगत गुण तो रूप, रस, गन्ध आदि अनेक होते है । इसलिए गुण मे समवाय सम्बन्ध से विशेष पदार्थ की कल्पना करने मे अनन्तअधिक विशेष पदार्थ की कल्पना का गौरव होगा । इसकी अपेक्षा परमाणुओ मे विशेष पदार्थ को समवेत मानने पर अल्प संख्या मे विशेष पदार्थ की कल्पना करनी होगी, जिसमे लाघव है । यह लाघव ही विशेष पदार्थ को परमाणुसमवेत मानने मे साधक है और परमाणुगुणसमवेत मानने मे बाधक है" <-- तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि फिर भी 'परमाणु मे विशेष पदार्थ को समवेत माना जाय या परमाणुगत रूप-रस-गन्ध आदि गुणो मे से किसी एक गुण मे उसे समवेत माना जाय ?' इस विषय मे तो विनिगमनाविरह का लय = उच्छेद कैसे नैयायिक मनीषी करेंगे ? अतः विशेष पदार्थ को परमाणुओ मे ही समवेत मानने का नैयायिक का सिद्धान्त समीचीन नही है ।

❋ विशेष स्वतःव्यावृत्त है या उसका आश्रय ? ❋

किञ्च ता इति । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि सजातीय परमाणुओ की व्यावृत्ति तो तद्गत विशेष पदार्थ से हो जायेगी, मगर अनेक परमाणुओ मे आश्रित अनेक विशेष पदार्थ की व्यावृत्ति किसके अधीन होगी ? क्योकि उनमे तो कोई विशेष पदार्थ आप नही मानते है, जिससे उनकी व्यावृत्ति हो सके । यदि यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि --> 'विशेष पदार्थ तो स्वतः व्यावृत्त है । परमाणुओ को परस्परप्रतियोगिक भेद की सिद्धि के लिए विशेष पदार्थ

तर्हि तदाश्रयाणामपि स्वत एव साऽस्तु । 'वैधर्म्यव्याप्ता सा कथं तद्विने'ति चेत् ? न, अन्ततः तत्तद्व्यक्तित्वादीनामपि तत्त्वसम्भवात्, प्रतिद्रव्यमनन्ताऽगुरुलघुपर्यायाणां सिद्धान्तसिद्धत्वाच्च ।

❀ जयलता ❀

इत्यर्थो लभ्यते । अत्र व्यावृत्तत्वं भेदनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यतारूपमिति (मु. प्र. पृ. १२१) नृसिंहो व्याचष्टे ।

मञ्जूषाकारस्तु -> 'यथा क्षित्यङ्कुरादिकं कृतिजन्यमित्यनुमितौ तस्याः कृतेरनित्यत्वे गौरवमिति गौरवज्ञानसहकाराज्जायमानानुमितिः कृतौ नित्यत्वमप्यवगाहमाना क्षित्यङ्कुरादिकं नित्यकृतिजन्यमित्याकारिकैव जायते एवमेषा व्यावर्तकान्तरव्यावृत्तत्वेऽनवस्थागौरवमिति ज्ञानसहकाराज्जायमानानुमितिः परस्परभिन्नत्वमप्यवगाहमाना परमाणुषु परस्परभेदानुमितिः परस्परभिन्नलिङ्गप्रमाजन्येत्याकारिकैव जायते इति न विशेषाणां परस्परभेदसिद्धये लिङ्गान्तरमपेक्षणीयमिति भावः । तथा च स्वतो व्यावृत्तत्वं स्वग्राहकमानसिद्धभेदकत्वं <- (मु. म. पृ. १२४) इत्याह ।

-> 'स्वतो व्यावृत्तत्वञ्च स्वभिन्नलिङ्गजन्यस्वविशेष्यकस्वसजातीयेतरभेदानुमित्यविषयत्वमि' <- (मु. दि. पृ. ११०)ति महादेवः । रामरुद्रस्तु 'स्वतो व्यावृत्तत्वं स्वप्रयोज्यस्वनिष्ठस्वसजातीयप्रतियोगिकभेदकत्वमि'त्याह ।

प्रकरणकृत् प्रतिवन्द्या प्राह - तर्हीति । विशेषाणां स्वतो व्यावर्त्तकत्वे तदाश्रयाणां परमाण्वादीनां अपि स्वत एव = स्वात्मकलिङ्गादेव, सा = स्वसजातीयप्रतियोगिकव्यावृत्तिः अस्तु अनन्तातिरिक्तविशेषान् कल्पयित्वा तत्र स्वतो व्यावर्तकत्वकल्पनापेक्षया 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी'तिन्यायात् क्लृप्तपरमाण्वादीनामेव स्वतो व्यावर्तकत्वधर्मकल्पनाया उचितत्वात् ।

परः प्रत्यवतिष्ठते - वैधर्म्यव्याप्ता = भिन्नधर्माभाववन्निरूपितवृत्तित्वाभावशालिनी सा = सजातीयव्यावृत्तिः कथं तत् = वैधर्म्यं विना ? न हि सजातीयपरमाण्वादिषु वैधर्म्यमस्ति, न च तदृते परस्परव्यावृत्तिः सम्भवतीति तस्या अन्यथानुपपत्त्या तत्र विशेषपदार्थलक्षणवैधर्म्यमङ्गीकरणीयमिति नैयायिकाभिप्रायः । प्रकरणकृत्तन्निराकरोति - नेति । परमाणुगततत्तत्क्रियाव्यसादिभेदेनैव तद्व्यावृत्तिसम्भवात् । न च तत्तत्क्रियाव्यसादेर्भेदोऽपि किमधीनः ? इति वाच्यम्, प्रतियोगिभेदेनैव तद्भेदोपपत्तेः । तत्तत्क्रियालक्षणप्रतियोगिनां परस्परं व्यावृत्तिः कथं ? इत्याशङ्कायामाह - अन्ततः तत्तद्व्यक्तित्वादीनामपि तत्त्वसम्भवात् = व्यावर्तकत्वसम्भवात् । सजातीयपरमाण्वादीनां तत्तद्व्यक्तित्वलक्षणप्रातिस्विकरूपेणैव परस्परं व्यावृत्तिः सम्भवति । तत्तद्व्यक्तित्वस्य कथञ्चित्तत्तद्व्यक्त्यव्यतिरिक्ततया नातिरिक्तपदार्थगौरवमिति न विशेषकल्पनं न्याय्यमिति भावः । हेत्वन्तरमाह - प्रतिद्रव्यं अनन्तागुरुलघुपर्यायाणां भिन्नानां सिद्धान्तसिद्धत्वाच्चेति । तैरपि परमाण्वादीनां परस्परं व्यावृत्तिः सम्भव-

की अपेक्षा रहती है, मगर परमाणुगत विशेष पदार्थ को परस्परप्रतियोगिक भेद की सिद्धि के लिए अन्य विशेष पदार्थ की अपेक्षा नहीं है । वे स्वयं ही परस्परप्रतियोगिक भेद के निर्वाहक होते हैं, क्योंकि वे स्वतः विलक्षण हैं, न कि परतः' <- तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अतिरिक्त अनन्त विशेष की कल्पना कर के उनमें स्वतः व्यावर्त्तकत्व की कल्पना करने की अपेक्षा विशेषाश्रयविधया अभिमत परमाणुओं में ही स्वतः व्यावर्त्तकत्व की कल्पना क्यों न की जाय ? क्योंकि इस पक्ष में अनन्त विशेष की कल्पना अनावश्यक होने से लाघव है । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि -> 'व्यावृत्ति वैधर्म्यव्याप्य है । सजातीय परमाणुओं में विशेष के अतिरिक्त कोई वैधर्म्य नहीं है, जिसकी वजह उनमें परस्पर व्यावृत्ति हो सके । अतः विशेष की कल्पना परमाणुओं में आवश्यक ही है, जिससे उनमें परस्परव्यावृत्ति की उपपत्ति हो सके । जब विशेष की कल्पना परमाणुओं में आवश्यक ही है, तब उन्हें स्वतः व्यावृत्त कैसे कहा जा सकता है ? विना वैधर्म्य के व्यावृत्ति = भेद मानने पर तो अपने में भी अपना भेद रहने लगेगा' <- तो इसके खिलाफ स्याद्वादियों की ओर से यह भी कहा जा सकता है कि सजातीय परमाणुओं में दूसरा कुछ वैधर्म्य नैयायिक महाशय को भले ही ना मिले, मगर अततः तत्तत् व्यक्तित्व आदि में भी परस्परभेदकत्व मुमकिन है । प्रत्येक परमाणुओं का व्यक्तित्व अलग-अलग होता है और वह प्रत्येक परमाणुस्वरूप ही होता है, न कि उससे अतिरिक्त । इस तरह सजातीय परमाणुओं में भी परस्परप्रतियोगिक भेद की उपपत्ति तत् तत् व्यक्तित्व आदि धर्म से मुमकिन होने से अतिरिक्त अनन्त विशेष पदार्थ की तदर्थ कल्पना करना अनुचित है । दूसरी बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त अगुरुलघु पर्याय होते हैं, जो परस्पर विलक्षण होते हैं एवं कथंचित् स्वाश्रयस्वरूप होते हैं । उनसे परमाणुओं में परस्पर व्यावृत्ति की उपपत्ति हो सकती है । अतः परमाणुओं में परस्परभेद के निर्वाह के

एतेन –> अयमनारब्धद्रव्यः परमाणुः एतत्परमाणुनिष्ठजातिगुणकर्मभिन्नधर्मसमवायी परमाणुत्वात्, अन्यपरमाणुवदित्यनुमानमपि <– निरस्तम्, तर्कविरहेऽनुमानसहस्रस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, द्रव्यसमवायित्वस्योपाधित्वाच्च ।

※ जयलता ※

तीति न तदर्थमतिरिक्तानन्तविशेषपदार्थकल्पना युक्ता ।

एतेनेति । तत्तद्व्यक्तित्वादिभि. परमाण्वादीना परस्पर व्यावृत्तिसम्भवेनेति । अस्य निरस्तमित्यनेनाऽन्वयः । पक्षं निर्दिशति- **अयमनारब्धद्रव्यः परमाणुरिति** । अनारब्ध द्व्यणुकलक्षण द्रव्य येन स अनारब्धद्रव्यः स्वतन्त्रः परमाणुरिति यावत् । **एतत्परमाणुनिष्ठजातिगुणकर्मभिन्नधर्मसमवायीति** । साध्यश्च गुणकर्मसामान्यविजातीयधर्मसमवायित्व गुणकर्मसामान्याऽतिरिक्तधर्मसमवायित्व वा । उदाहरणमाह- **अन्यपरमाणुवदिति** । समारब्धद्रव्य· परमाणुरिवेत्यर्थ· । परमाणुत्वहेतुमति समारब्धद्रव्ये परमाणौ गुणकर्मसामान्यातिरिक्तद्व्यणुकस्वरूपधर्मसमवायित्व दृष्टम् । न च द्व्यणुकस्य गुणाद्याश्रयस्य कथ धर्मत्व नाम ? इति **शङ्कनीयम्**, स्वसमवायिपरमाण्वपेक्षया तस्य धर्मत्वाऽप्रच्यवात्, अन्यथा गुणादेरपि जात्याद्याश्रयत्वेन धर्मत्व न स्यात् । उपर्युक्तदृष्टान्ते व्याप्तेर्ग्रहात् पक्षे स्वतन्त्रपरमाणावपि परमाणुत्वहेतुबलेन गुणकर्मजातिव्यतिरिक्तधर्मसमवायित्व सेत्स्यति । स च धर्मो विशेषपदप्रतिपाद्य इति प्रकृतानुमानेन स्वतन्त्रपरमाणौ परमाणुत्वहेतुना विशेषसिद्धौ निरवयवद्रव्यत्वहेतुना समारब्धद्रव्येषु परमाणुषु गगनादिषु च तत्सिद्धिरिति नैयायिकाभिप्राय ।

तन्निरासे प्रकरणकारो हेत्वन्तरमाह - **तर्कविरहे** इति । विपक्षबाधकयुक्तिविरहे इति । अस्तु अनारब्धद्रव्ये परमाणौ परमाणुत्व मास्तु गुणकर्मसामान्यातिरिक्तधर्मसमवायित्व इत्येव विपरीतकल्पने बाधक किमपि नैयायिकेन दर्शयितु न पार्यत इति भाव· । तदभावे **चानुमानसहस्रस्याऽकिञ्चित्करत्वात्** व्यभिचारसशयाऽनिवृत्ते., सति प्रतिबन्धके साधकस्य कार्योत्पत्तयेऽसमर्थत्वात् । अन्यथा 'अनारब्धद्रव्य कपाल गुणकर्मसामान्यातिरिक्तधर्मसमवायि कपालत्वात् समारब्धघट कपालमिवे'त्याद्यनुमाने. कपालादावपि विशेषसिद्धिप्रसङ्गात् ।

प्रदर्शितानुमाने दूषणान्तरमाह - **द्रव्यसमवायित्वस्य** = द्रव्यप्रतियोगिकसमवायवत्त्वस्य परमाणुत्वलक्षणहेतौ उपाधित्वाचेति । तस्य समारब्धद्रव्येषु परमाणुषु गुणकर्मसामान्यव्यतिरिक्तधर्मसमवायित्वलक्षणसाध्यव्यापकत्वे सति स्वतन्त्रपरमाणुषु

लिए अतिरिक्त विशेष पदार्थ की कल्पना अनावश्यक हे । यहाँ यह शका नही करनी चाहिए कि –> 'प्रत्येक द्रव्य में अनंत अगुरुलघु पर्याय मानने मे प्रमाण क्या है ?' <– क्योकि जैन आगम = भगवती सूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थ से ही प्रतिद्रव्य अनत अगुरुलघु पर्यायविशेष सिद्ध होते है । सर्वज्ञकथित होने से जैनागम की प्रामाणिकता मे सदेह करना अनुचित है ।

※ विशेषसाधक अनुमान उपाधिग्रस्त - स्याद्वादी ※

एतेन इति । नैयायिक विद्वान् विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए अनुमान प्रयोग करते है कि –> 'अनारब्धद्रव्यवाला (= स्वतन्त्र) यह परमाणु एतत्परमाणु में रहनेवाली जाति, गुण, कर्म से भिन्न धर्म के समवाय वाला है, क्योकि वह परमाणु है, जैसे द्व्यणुक वाले परमाणु । यहाँ स्वतन्त्र विवक्षित परमाणु पक्ष है । एतत्परमाणुसमवेतजातिगुणकर्मभिन्नधर्मप्रतियोगिक समवाय साध्य है । परमाणुत्व हेतु है । द्व्यणुकसमवायी परमाणु = जिनमे द्व्यणुक समवेत है वैसे परमाणु दृष्टान्त हे । द्व्यणुकसमवायी परमाणुओ मे परमाणुत्व हेतु रहता है एवं परमाणु-समवेत जाति, गुण, कर्म से भिन्न द्व्यणुक का, जो परमाणु-समवेत होने की अपेक्षा धर्मात्मक है, समवाय भी, जो साध्य है, रहता है । दृष्टान्त मे हेतु और साध्य के बीच व्याप्य-व्यापकभाव = व्याप्ति का निश्चय होने से पक्ष = स्वतन्त्र परमाणु मे भी परमाणुत्वस्वरूप हेतु से जाति, गुण, कर्म से भिन्न धर्म के समवाय स्वरूप साध्य की सिद्धि हो जायेगी । उस समवाय का प्रतियोगी द्व्यणुकात्मक धर्म नहीं हो सकता, क्योकि स्वतन्त्र परमाणुओ मे द्व्यणुक समवेत नहीं होता है । दूसरा कोई धर्म भी उस समवाय का, जो साध्य है, प्रतियोगी नहीं माना जा सकता । अतः अन्ततो गत्वा विशेष को ही साध्यात्मक समवाय का प्रतियोगी मानना होगा । अर्थात् जाति, गुण, कर्म से भिन्न विशेषपदार्थस्वरूप धर्म का समवाय स्वतत्र परमाणु मे सिद्ध होने से तादृश समवाय के प्रतियोगिविधया विशेष पदार्थ की सिद्धि होगी । अतः विशेष पदार्थ परमाणुसमवेत है-यह फलित होता है । इसलिए विशेष पदार्थ का स्वीकार अवश्य कर्तव्य है' <–

तर्कवि इति । मगर इसके प्रतिविधान में स्याद्वादियो की ओर से यह कहा जाता है कि जब तक व्याप्ति मे विपक्षबाधक

किञ्च, एवमप्याकाशादौ न विशेषसिद्धिः, शब्दादेरेव तत्र व्यावर्तकत्वाच्च ।

❀ जयलता ❀

परमाणुत्वलक्षणसाधनव्यापकत्वाभावात् । न हि परमाणुत्वशालिषु स्वतन्त्रपरमाणुषु गुणकर्मसामान्यातिरिक्तधर्मप्रतियोगिक-समवायवत्त्वं विशेषसिद्धेः प्राक् प्रसिद्धम् । विशेषसिद्धिपूर्वमेव व्यापकीभूतद्रव्यसमवायित्वाभावेनानारब्धद्रव्ये परमाणौ गुणकर्म-सामान्यव्यतिरिक्तधर्मसमवायित्वलक्षणव्याप्याभावसिद्ध्या तत्र परमाणुत्वहेतौ तत्साधनेऽप्रत्यलत्वात् । यद्वा द्रव्यसमवायि-त्वस्यात्र सन्दिग्धोपाधित्वं स्वधिया भावनीयम् ।

एतेन —> परमाणुभेदः किञ्चिल्लिङ्गज्ञाप्यः भेदत्वात्, कपालभेदज्ञाप्यघटभेदवदिति <— (मु ग पृ १२२) रामरुद्र-भट्टोक्तं निरस्तम्, घटादेः परस्परभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन दृष्टान्ते साध्यासिद्धेः, अनिषाधयिषितत्वविशिष्टसिद्धत्वाभावस्यो-पाधित्वाच्च । अत एव परमाण्वादीनां परस्पर योगिभेदप्रत्यक्षान्यथानुपपत्तेर्विशेषसिद्धिरित्यपि प्रतिक्षिप्तम्, योगजधर्मसहकृतमनो-जन्यपरमाण्वादिगोचरसाक्षात्कारवता योगिना तद्भेदग्रहे व्यावर्त्तकधर्मदर्शनस्याऽहेतुत्वात् ।

दोषान्तरसमुच्चयार्थमाह - किञ्चेति । एवमपीति । परमाणुत्वहेतुना स्वतन्त्रपरमाणौ साध्यस्वरूपसमवायित्वप्रतियोगि-विधया विशेषस्य साधनेऽपि, परमाणुत्वहेतुना आकाशादौ = गगनात्मदिक्कालमनस्सु न विशेषसिद्धिः = साध्यघटक-विधया विशेषपदार्थसिद्धिः सम्भवति, तत्र परमाणुत्वहेतौ स्वरूपाऽसिद्धत्वात् । गगनादौ विशेषसाधने परेण नित्यत्वद्रव्यत्व-हेतुप्रदर्शने दूषणान्तरमाह - शब्दादेरेवेति । आदिपदेन ज्ञानादिग्रहणम् । तत्र = गगनादौ व्यावर्तकत्वात् = परस्पर भेदकत्वादिति । ईश्वराकाशयोर्नित्यज्ञानशब्दाभ्यां व्यावृत्तेः सम्भवान्न तत्र विशेष इत्यपि केचित् ।

यत्तु नृसिंहेण —> 'नित्यज्ञानस्येश्वरनिष्ठभेदानुमापकत्वं न ज्ञानत्वेन व्यभिचारित्वात्, न नित्यत्वविशिष्टज्ञानत्वेन तद्व्य-क्तित्वेन वा सामान्याश्रयस्य सामान्यरूपेण भेदसाधकत्वनियमात्, नित्यज्ञानत्वस्य नित्यत्वघटितत्वेनोपाधिरूपतया तेन रूपेण तद्व्यक्तित्वेन वा व्यावर्तकत्वाऽसम्भवात्' <— (मु.प्र पृ १३०) इत्युक्तं, तन्न, स्वसमानाधिकरणेश्वरत्वसम्बन्धेन ज्ञानत्वावच्छिन्न-स्यैव तद्व्यावर्तकत्वसम्भवात् । न च तादृशस्य सम्बन्धत्वे मानाभाव इति वक्तव्यम्, बाधकाभावात्, परमाणुगतैकत्वमादाय

तर्क न हो तब तक हजारो अनुमान प्रयोग किये जाय तो भी उनसे स्वाभिमत साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती । यहाँ परमाणुत्व में परमाणुसमवेतजातिगुणकर्मभिन्नधर्मसमवायित्व की व्याप्ति का विपक्षबाधक कोई तर्क नहीं है अर्थात् 'स्वतन्त्र परमाणु में परमाणुत्व हेतु भले रहे, मगर परमाणुगतगुणकर्मजातिभिन्नधर्मसमवायित्व न रहे तो क्या दोष है ?' इस विपरीत कल्पना के निवर्तक किसी तर्क का सहारा नैयायिक को नहीं मिलता है, जिसके बल पर नैयायिक उपर्युक्त व्याप्ति को सुरक्षित बना सके । अतः असहाय व्याप्ति के आधार पर उक्त अनुमान के द्वारा स्वतन्त्र परमाणु में विशेषसमवायित्व की सिद्धि नहीं हो सकती । नैयायिक से प्रदर्शित व्याप्ति में कोई अनुकूल तर्क तो नहीं है, मगर उपाधिग्रस्तता ही है । वह उपाधि है द्रव्यसमवायित्व । जो साध्य की व्यापक एवं साधन की अव्यापक हो वह उपाधि कही जाती है । जहाँ जहाँ परमाणुगत गुणकर्म-जातिभिन्नधर्मसमवायित्व होता है वहाँ वहाँ द्रव्यसमवायित्व होता है, जैसे पार्थिवद्व्यणुकसमवायी परमाणु, जलीय-द्व्यणुकसमवायी परमाणु आदि में । इस तरह द्रव्यसमवायित्व उपर्युक्त साध्य का व्यापक है । मगर जहाँ जहाँ परमाणुत्व होता है, वहाँ वहाँ द्रव्यसमवायित्व नहीं होता है, क्योंकि स्वतन्त्र परमाणुओं में परमाणुत्व होने पर भी किसी द्व्यणुक आदि द्रव्य का समवायित्व नहीं होता है । स्वतन्त्र परमाणुओं में कोई द्रव्य समवेत नहीं होने से द्रव्यसमवायित्व = द्रव्यप्रतियोगिकसम-वायवत्त्व कैसे होगा ? अतः द्रव्यसमवायित्व परमाणुत्व हेतु का अव्यापक है । द्रव्यसमवायित्व में साध्य की व्यापकता एवं हेतु की अव्यापकता होने से वह उपर्युक्त अनुमान में उपाधि है । साध्यव्यापक उपाधि अपने अभाव का निश्चय कराती है । साध्याभावाधिकरणविधया निश्चित स्वतन्त्र परमाणुस्वरूप पक्ष में परमाणुत्व हेतु कैसे स्वाभिमत साध्य की सिद्धि के लिए समर्थ हो सकेगा ? क्योंकि तब परमाणुत्व हेतु बाधित = बाधदोषग्रस्त होता है । इसलिए नैयायिकप्रदर्शित अनुमान विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए असमर्थ है - यह फलित होता है ।

❀ आकाशादि में विशेष की सिद्धि नामुमकिन - स्याद्वादी ❀

किञ्च इति । दूसरी बात यह है कि भेदक धर्मान्तर = अन्य धर्म के अभाववाले परमाणुओं में परस्परप्रतियोगिक भेदगोचर योगिप्रत्यक्ष की अन्यथा अनुपपत्ति के बल पर विशेष पदार्थ की सिद्धि करने पर तो आकाश आदि पदार्थ में, जिनमें नैयायिक विशेष पदार्थ को समवेत मानते हैं, विशेष पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि अन्य निरवयव पदार्थ

सिद्ध्यसिद्धिव्याघातेन तु विशेषस्येव द्रव्यस्यैव व्यावृत्तिस्वभावत्वं न्याय्यमिति दिग् ।

❀ जयलता ❀

समानाधिकरणतादृशैकत्ववत्त्वसम्बन्धेन सत्तारूपलिङ्गेनैव परमाण्वन्तरभेदसाधनसम्भवे विशेषासिद्धेरिष्टत्वात् ।

ननु प्रमाणेन विज्ञातो विशेषो भवता प्रतिक्षिप्यतेऽविज्ञातो वा ? इति विकल्पयुगली प्रकृते समुज्जृम्भते । तत्र नाद्य क्षोदक्षम , प्रमाणेन सिद्धस्य प्रतिक्षेप्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा घटादीनामपि प्रतिक्षेपप्रसङ्गात् । नापि द्वितीय चारुतया चतुराणा चेतसि चकास्ति, अप्रसिद्धस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् अभावस्य प्रसिद्धप्रतियोगिकत्वनियमात् । इदमेवाऽभिप्रेत्य —> 'असओ णत्थि णिसेहो' (वि आ भा गा) इति **श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणोक्ति** । विकल्पान्तरस्य चाऽसम्भवात्र विशेषपदार्थखण्डनस्य युक्तत्वमिति विशेषस्य स्वतो व्यावर्त्तकत्वमव्याहतमेवेति नैयायिकाऽऽशङ्काया प्रकरणकृदाह - **सिद्ध्यसिद्धिव्याघातेन** = प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिविकल्पद्वयविकल्पद्वयविरोधेन **तु विशेषस्येव द्रव्यस्यैव व्यावृत्तिस्वभावत्व न्याय्य** = न्यायानपेतम् । स्वभावत· परस्पर व्यावृत्तानि एव द्रव्याण्युत्पद्यन्त इति परेण स्वतो व्यावृत्त द्रव्य प्रमाणेनाऽज्ञायि न वा ? इति विकल्पद्वयावतारे तु द्रव्यस्य व्यावृत्तिशालित्व निराबाधम् । युक्तश्चैतत् अनन्तविशेषाऽकल्पनलाघवात् । न हि स्वभावतोऽव्यावृत्तस्य सत. कस्यचित् केनचिद् व्यावृत्ति. कर्तु पार्यते । तच्छङ्कानिवृत्त्यर्थ क्वचिद् व्यावर्तकधर्मदर्शनमुपयुज्यते व्यभिचारशङ्कानिवृत्तौ तर्कस्येव । **एतेन** —> त्र्यणुकावयव. सावयव· महदारम्भकत्वादित्यनुमानेन परमाणोरव्यावृत्तस्यापि सिद्धिसम्भवेन नित्यद्रव्याणा व्यावृत्तत्वस्य धर्मिग्राहकमानाऽसिद्धत्वमेवेति <— (मु.रा पृ.१२३) **दिनकरीयतरङ्गिणीकृद्वचन निरस्तम्**, प्रकृतानुमानेन सिध्यतो व्यावर्तकान्तरव्यावृत्तत्वेऽनवस्थागौरवमिति ज्ञानसहकारात्तत्र स्वतो व्यावृत्तत्वमप्यवगाहमानैवानुमिति· सम्भवति,

से आकाशादि का व्यावर्त्तक शब्द आदि विशेष गुण ही हो सकते है । परमाणु मे शब्द गुण नही होता है और आकाश मे शब्द गुण होता है - यह तो नैयायिक ही कहते हे । तव तो निरवयव परमाणु से आकाश को व्यावृत्त करने वाला शब्द गुण ही होगा, फिर क्यो आकाशादि निरवयव द्रव्य मे विशेष पदार्थ का स्वीकार किया जाय । अनारब्धद्रव्यवाले परमाणु को पक्ष वना कर जो विशेष पदार्थ सिद्धि की गई है, उसके मुताविक तो आकाशादि मे विशेष पदार्थ की सिद्धि हो ही नही सकती है, मगर भेदगोचर योगिप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति से भी आकाशादि मे विशेष पदार्थ की सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि शब्द आदि गुण ही उनके भेदक = व्यावर्त्तक हो सकते है - यह अभी ही हम वता चुके है । अतः स्वतत्र विशेष पदार्थ की कल्पना अप्रामाणिक है ।

द्रव्य ही व्यावृत्तिस्वभाववाला है - स्याद्वादी

सिद्ध्य. इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'आप स्याद्वादी जोर-शोर से नेयायिकसम्मत विशेष पदार्थ का खण्डन कर रहे हे, मगर हम आपसे यह प्रश्न करते है कि 'क्या आप स्याद्वादी विशेष पदार्थ को प्रमाण से जानते हे या नही ? यदि प्रमाण से विशेष पदार्थ को जानते है, तो फिर आप विशेष पदार्थ का खडन कैसे कर सकते है ? क्योकि प्रमाणसिद्ध पदार्थ को खटित करने का दुःसाहस कोई भी बुद्धिमान् पुरुष नही करता है । यदि आप विशेष पदार्थ को नही जानते है, तव तो उसका खडन नितरा नही कर सकते, क्योकि कोई भी अक्कलमद आदमी अज्ञात पदार्थ का निराकरण करने मे प्रवृत्त नही होता है । अतः स्याद्वादी न तो प्रमाण से ज्ञात विशेष पदार्थ का खडन कर सकते हे और न तो अज्ञात विशेष पदार्थ का । इसलिए हम नैयायिक विद्वान् विशेष को स्वतः व्यावृत्तस्वभाववाला मानते है - वह युक्तिसगत ही है'' <—

द्रव्य इति । तो यह भी ठीक नही है, क्योकि सिद्धि ओर असिद्धि से इस तरह विशेष पदार्थ मे व्यावृत्तिस्वभाव = भेदकत्व की कल्पना करने की अपेक्षा तो यही मुनासिव है कि सिद्धि और असिद्धि के द्वारा उक्त रीति से द्रव्य मे ही व्यावृत्तिस्वभाव = भेदकत्व की कल्पना करना युक्तियुक्त है । मतलव यह है कि द्रव्य ही विशेषपदार्थ की भाँति स्वतः व्यावृत्तिस्वभाववाला है - यह मानना सुसगत है । यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि —> 'व्यावृत्तिस्वभाववाला द्रव्य अप्रामाणिक है' <— तो नैयायिक से हमारा यह प्रश्न है कि —> 'स्वतः व्यावृत्तिस्वभाववाले द्रव्य को आप नैयायिक प्रमाण से जानते हे या नही ?' यदि स्वतः व्यावृत्ति स्वभाव वाले द्रव्य को आप प्रमाण से जानते है, तव उसका निरास कैसे कर सकते है ? स्वय प्रमाण से सिद्ध पदार्थ को जान-बूझकर उसका निराकरण नही किया जा सकता । यदि आप स्वतः व्यावृत्तिस्वभाव वाले द्रव्य को नही जानते तव तो नितरा उसका अपाकरण नही कर सकते । क्या घट को नही

अभिलाप्यत्वानभिलाप्यत्वेऽपि न विरुध्दे, दृष्टं हि घटस्य यथा घटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वं तथा पटपदापेक्षयाऽनभिलाप्यत्वमपीति ।

ननु अभिलाप्यभावापेक्षयाऽनन्तगुणिता अनभिलाप्या भावा भवद्भिरुपेयन्ते । यदुक्तं

जयलता

अन्यथा विशेषेऽपि तदसिद्धिप्रसङ्गात् । अत एव नवीननैयायिकैरपि –> अतिरिक्तविशेषपदार्थे मानाभावः विशेषाङ्गीकर्तृमते यथा विशेषाणां स्वतो व्यावृत्ततया सिद्धिः तथा नित्यद्रव्याणामपि स्वतो व्यावृत्ततया सिद्धिसम्भवात् <– इत्यभिधीयते । एतेन सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातोऽपि प्रत्युक्तः विकल्पसिद्ध धर्मिणमुद्दिश्यापि अनुमितिस्वीकारात्, अन्यथा नैयायिकस्य सांख्याभिमतप्रकृत्यादिनिराकरणं कथं सङ्गच्छेत् । 'प्रसङ्गापादनमेव तत्र क्रियत' इति चेत् ? तर्हि प्रकृतेऽपि तदेव बोध्यमित्यादिसूचनार्थं दिक्पदनिवेशः कृतः ।

अभिलाप्यत्वानभिलाप्यत्वलक्षणपञ्चमधर्मयुगलाऽविरोधसाधनार्थं साम्प्रतमुपक्रमते प्रकरणकारः- अभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वे परस्परं विरुद्धत्वेन पराभिमते अपि वस्तुगत्या न परस्परं विरुध्दे । तथाहि तयोर्हि किं वध्यघातकभावलक्षणो विरोधः स्यात् सहानवस्थानरूपः परस्परपरिहारात्मको वा ? इति पक्षत्रयी समुपतिष्ठते । तत्र नाद्यः क्षेमङ्करः, अहिनकुलयोरिव परस्परमुपमृद्याऽनवस्थानात् । नापि द्वितीयः समीचीनः, एकत्र तयोः सहावस्थानोपलब्धेः । तदेव दर्शयति- दृष्टं हि घटस्य = घटपदार्थस्य यथा घटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वं = घटपदनिष्ठाभिलापकतानिरूपिताभिलाप्यत्वं तथा पटपदापेक्षयाऽनभिलाप्यत्वं = पटपदनिष्ठाभिलापकतानिरूपिताभिलाप्यत्वाभाववत्त्वं अपीति । न हि घटपदवाच्यस्य परेण पटपदवाच्यत्वमभ्युपेयते । अत एव न तृतीयोऽपि सम्यक्त्वमश्नुतीति सिद्धं तयोरविरोधित्वमिति । एतेनाऽभिलाप्यत्वस्य केवलान्वयित्वमपि प्रत्युक्तम्, केषुचिदेवाऽर्थधर्मेषु शब्दवाच्यतापरिणत्यभ्युपगमात्, आख्यातुमशक्यत्वेऽपि प्रत्याख्यातुमशक्यानां माधुर्यविशेषादीनां बहूनामर्थधर्माणामनुभवसिद्धत्वात् । इदमेवाभिप्रेत्याऽभ्यधायि अध्यात्मोपनिषत्प्रकरणे 'यो ह्याख्यातुमशक्योऽपि प्रत्याख्यातुं न शक्यते । प्राज्ञैर्न दूषणीयोऽर्थः स माधुर्यविशेषवत् ॥ (अ.उप. १/७६)

मुग्धः शङ्कते - नन्विति । अभिलाप्यभावापेक्षया अनन्तगुणिता अनभिलाप्या भावा भवद्भिः = स्याद्वादिभिः उपेयन्ते = स्वीक्रियन्ते । सम्वादमाह - यदुक्तमिति । बृहत्कल्पभाष्य इति गम्यते । पन्नवणिज्जेति । –> ये प्रज्ञापयितुं शक्यन्ते ते प्रज्ञापनीया अभिलाप्या इत्येकोऽर्थः । ते च भू-भूधर-विमान-ग्रह-नक्षत्रादयः । एतद्विपरीता अप्रज्ञापनीया ।

पहचानने वाला 'भूतल मे घट नहीं है' ऐसा कह सकता है ? अतः सिद्धि और असिद्धि से व्याघात होने की वजह द्रव्य ही स्वतः व्यावृत्तिस्वभाव-वाला है - यह फलित होता है । इस विषय मे अधिक विचार भी किया जा सकता है । यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह तो एक दिग्दर्शनमात्र है । इस दिशा के अनुसार अक्कलमंद वाचक वर्ग स्वयं अपनी बुद्धि से आगे विचार कर सकते है - इस बात की सूचना देने के लिए प्रकरणकार महोपाध्याय श्रीमद्जी ने 'दिक्' शब्द का उल्लेख कर के विशेषपदार्थ के खंडन को यहाँ जलांजलि दी है ।

अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व में अविरोध - स्याद्वादी

अभि । जिस तरह एक ही धर्मी मे नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद, सत्त्व-असत्त्व, सामान्य-विशेष इन युगलों का परस्पर अविरोध है, ठीक वैसे एक ही वस्तु मे अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व धर्म भी परस्पर विरुद्ध नहीं है । एक ही घट अर्थ घटपद की अपेक्षा अभिलाप्य होता है और पटादिपद की अपेक्षा अनभिलाप्य = अवाच्य भी होता है - यह तो लोकव्यवहार मे भी देखा गया है । घटपदार्थ जैसे घटपद से वाच्य होता है, वैसे पट आदि पद की अपेक्षा वाच्य नहीं होता है - यह तो आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है । अतः एक धर्मी मे अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व धर्म को परस्पर विरुद्ध नहीं कहा जा सकता या माना जा सकता ।

अनभिलाप्य अर्थ भी कथंचित् अभिलाप्य है - स्याद्वादी

ननु इति । यहाँ नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि –> "आप स्याद्वादी ने ही अभिलाप्य भाव की अपेक्षा अनभिलाप्य भावो को अनन्तगुण माना है, क्योंकि आप ही के आगम मे कहा गया है कि - अनभिलाप्य भावो के अनन्त भाग मे प्रज्ञापनीय = अभिलाप्य भाव = पदार्थ है । यदि अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व एक-दूसरे के अविरोधी हो कर

'पन्नवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं' (बृ.क.भा.९६४, वि.आ.भा.१४१)ति । तेष्वेवेदमुभयमनुपपन्नमिति चेत् ? न, तेषामनभिलाप्यपदेनैवाऽभिलाप्यत्वात् ।

ननु तर्हि किमीदृशानभिलाप्यव्यावृत्तमभिलाप्यत्वं ?

❀ जयलता ❀

द्वावपि च राशी अनन्तौ, पर महान परस्पर विशेष । तथाहि - प्रज्ञापनीया भावाः सर्वेऽपि समुदिताः सन्तोऽनभिलाप्याना भावाना अनन्तभागो भवति, अनन्ततमे भागे वर्तत इति भावः <— (बृ क भा वृ पृ ३०४) इति **श्रीक्षेमकीर्त्याचार्यव्याख्या** । प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्त इति प्रज्ञापनीया वचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इत्यर्थः । के भावाः ? ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्तर्निविष्टभू-भवन-विमान-ग्रह-नक्षत्र-तारकार्केन्द्रादय ते सर्वेऽपि मिलिता । कि ? इत्याह अनन्ततम एव भागे वर्तन्ते । केषा ? अत्राह- अनभिलाप्यानामर्थपर्यायत्वेनाऽवचनगोचरतापन्नानामित्यर्थ । अनभिलाप्यवस्तुराशेरभिलाप्यपदार्थसार्थ सर्वोऽप्यनन्ततम एव भागे वर्तत इत्यर्थः <— (वि आ भा १४१ श्लो व्या पृ ४५) इति **श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरिव्याख्या विशेषावश्यकभाष्ये** । यदि चैकत्रैवाऽभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वसमावेश स्यात् तर्हि अभिलाप्यानभिलाप्यभावा परस्पर तुल्याः स्युः । पर अभिलाप्येभ्योऽनभिलाप्यभावानामनन्तगुणत्वेनाऽनभिलाप्यभावेषु केवलमनभिलाप्यत्वमेवाऽङ्गीकार्य, न तूभय, तत्त्वहानिप्रसङ्गात् । इत्थञ्च **तेषु** = अनभिलाप्यभावेषु एव **इदमुभय** = अभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वधर्मयुगल **अनुपपन्नम्** । ततश्च सर्वत्र तयोरेकत्र समावेशो दुर्घट इति शङ्काशयः ।

प्रकरणकृत्तन्निराकरोति - **नेति** । **तेषा** = अनभिलाप्यभावाना **अनभिलाप्यपदेनैवेति** । एवकारार्थः प्रकृतेऽयोगव्यवच्छेदो बोध्य । तेनाऽप्रज्ञापनीयाऽवाच्याऽवक्तव्याऽनिर्वचनीयाऽनाख्येयादिपदैस्तेषाभिलापेऽपि न क्षति । **अभिलाप्यत्वादिति** । अनभिलाप्यपदनिष्ठाभिलापकतानिरूपिताऽभिलाप्यत्वादनभिलाप्यभावेषूभय नाऽनुपपन्नम् । न चैव तेषामनभिलाप्यत्व विरुद्ध्येत इति **वाच्यम्**, अनभिलाप्यातिरिक्तपदापेक्षयैव तेषामनभिलाप्यत्वाऽभ्युपगमात्, अनभिलाप्यातिरिक्तपदनिरूपितवाच्यत्वशून्यत्वस्यैवाऽनभिलाप्यपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । **एतेन** सर्वथाऽनभिलाप्यत्वैकान्तोऽपि **परिहृतः**, अनभिलाप्याना स्यादनभिलाप्यत्व, स्यादभिलाप्यत्व, स्यादुभयत्व, स्यादवक्तव्यत्व, स्यादनभिलाप्यत्वाऽवक्तव्यत्व, स्यादभिलाप्यत्वाऽवक्तव्यत्व, स्यादुभयत्वाऽवक्तव्यत्वमित्येव सप्तभङ्ग्यव्याहतप्रसरादिति दिक् ।

अभिलाप्यत्वपदार्थ परीक्षितुमुपक्रमते - **नन्विति** । 'वचनप्रामाण्यादि'त्यन्तोऽय प्रौढपूर्वपक्षः । **तर्हि** = अनभिलाप्यभावानामनभिलाप्यातिरिक्तपदाऽवाच्यत्वे सत्यनभिलाप्यपदवाच्यत्वाङ्गीकारे सति कि = किंस्वरूप **ईदृशानभिलाप्यव्यावृत्त** = अनभिलाप्यपदातिरिक्तपदनिरूपितवाच्यत्वाभावविशिष्टेभ्योऽनभिलाप्यपदनिरूपितवाच्यताश्रयेभ्योऽनभिलाप्यभावेभ्यो व्यावृत्त **अभिलाप्यत्व** = अभिलाप्यत्वपदवाच्य स्याद्वादिभि. स्वीक्रियते ? इति मीमासाया 'पदशक्तिविषयत्वरूप तत् ? यद्वा 'पद-

---

एक ही द्रव्य मे रह सकते है, तब तो अभिलाप्यभाव की अपेक्षा अनभिलाप्य = अनभिलाप्यत्वविशिष्ट भाव अनन्तगुण कैसे हो सकते ? दोनो समान ही होने चाहिए । अतः अभिलाप्य भाव की अपेक्षा अनन्तगुण अनभिलाप्य भावो मे ही अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व उभय अनुपपन्न हो जायेगा । इसलिए उनमे अनन्तगुण अधिक-न्यूनभाव के प्रतिपादक जैन आगम से ही अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व धर्म मे विरोध सिद्ध होता है" <— तो यह भी ठीक नही है, क्योकि अनभिलाप्य भावो का भी अनभिलाप्यपद से अभिलाप होने से उनमे भी अनभिलाप्यशब्द की अपेक्षा अभिलाप्यत्व रहता ही है, अन्यथा उनका प्रतिपादन अनभिलाप्य शब्द से कैसे हो सकता ? फिर भी उन्हे अनभिलाप्य कहने का तात्पर्य यह है कि वे अनभिलाप्य पद से भिन्न पद से अभिलाप्य नहीं होते है, केवल अनभिलाप्यपद से ही अभिलाप्य होते है । अतः अनभिलाप्य भावो मे भी अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व का विरोध नही है - यह सिद्ध होता है । शक्कर की मिठाश, गुड की मिठाश, आम के रस की मधुरता, मिठाई की मधुरता मे भेद होने पर भी उनका शब्द से निर्वचन नहीं किया जा सकता । इस दृष्टि से उनके बीच मे भेद अनभिलाप्य कहा जाता है, इत्यादि दृष्टिकोण से जैन सिद्धान्त ग्रन्थो मे अनभिलाप्य पदार्थ का निरूपण किया गया है, न कि अनभिलाप्यशब्द से भी वे अभिलाप्य = वाच्य नहीं है, इसकी अपेक्षा से । इस तरह अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व का एक धर्मी मे समावेश सिद्ध होने से वे परस्पर विरुद्ध नहीं है - यह प्रकरणकार का गर्भित आशय है ।

पूर्वपक्ष :- ननु त. इति । यहाँ अभिलाप्यत्व को कहा गया है, जो प्रदर्शित अनभिलाप्यभाव से व्यावृत्त है, उसका स्वरूप क्या है ? क्या पदशक्तिविषयत्वस्वरूप अभिलाप्यत्व आपको अभिमत है ? यह तो नहीं माना जा सकता, क्योकि

न तावत् पदशक्तिविषयत्वं, अतिप्रसङ्गात् । नापि पदजन्यबोधविषयत्वं, तदविषये क्वचिद् घटादावभावात् । नापि तद्बोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्व, घटस्यापि पटपदाभिलाप्यत्वापत्तेः, एकस्यापि पदस्य सर्वार्थवाचकत्वेन पटपदाभिलाप्यतावच्छेदकप्रमेयत्ववत्त्वस्य घटे सत्त्वात् ।

जयलता

जन्यबोधविषयत्व तत् ? उदश्वित् ³पदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्व तत् ? आहोस्वित् 'गृहीततत्तदर्थनिरूपितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्व तत् ? उताहो 'गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकधर्मवत्त्व तत् ? इति विकल्पपञ्चतयी निरुपमरूपरसगन्धादिविषयपञ्चतयीव कमनीय कमनीयव्यापारसारा प्रसरीसरीति वर्गयर्मा । तत्र नाद्यो विकल्पोऽनवद्य इत्याशयेनाह ननुवादी - न तावदिति । प्रथमार्थकोऽय निपात । पदशक्तिविषयत्व = पदनिष्ठशक्तिनिरूपितविषयत्व, यथा घटपदनिष्ठशक्तिविषयत्व घटपदार्थवृत्ति घटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वमिति प्रथमविकल्पाभिप्राय । तदयुक्तत्वे हेतुमाह - अतिप्रसङ्गादिति । अनभिलाप्यभावेष्वप्यनभिलाप्यपदनिष्ठशक्तिनिरूपितविषयत्वलक्षणस्य निरुक्ताभिलाप्यत्वस्य सत्त्वेनातिव्याप्ते न पदशक्तिविषयत्वस्याभिलाप्यत्वलक्षणत्व घटामञ्चतीति नन्वाशय ।

द्वैतीयिकविकल्प निराकरोति - नापीति । पदजन्यबोधविषयत्वमिति । पदनिष्ठजनकतानिरूपिताया जन्यताया आश्रयीभूतो य शाब्दबोध तन्निष्ठविषयितानिरूपितमर्थनिष्ठ विषयत्व निरस्ताभिलाप्यत्व, यथा घटपदनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यताश्रयीभूतशाब्दबोधनिरूपितविषयत्व घटपदार्थवृत्ति घटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्व, घटपदेन घटगोचरशाब्दबोधस्योत्पत्ते प्रसिद्धत्वादिति द्वितीयविकल्पार्थ । यद्यपि अनभिलाप्यभावेष्वप्यनभिलाप्यपदनिरूपितजन्यताश्रयीभूतशाब्दबोधनिरूपितविशेष्यताख्यविषयत्वस्य सत्त्वेनाऽतिव्याप्तिर्दुर्वारा तथापि स्फुटत्वात्तामुपेक्ष्य दोषान्तरमाविष्करोति - तदविषये = घटादिपदजन्यशाब्दबोधनिरूपितविषयताशून्ये क्वचिद् घटादौ घटादिपदनिरूपितजन्यताश्रयशाब्दबोधनिरूपितविषयत्वस्य अभावात् अव्याप्ते । यत्र घटादौ केनाऽपि घटादिपद न प्रयुक्त तत्र घटादिपदजन्यशाब्दबोधविषयत्वस्याऽभावेऽप्यभिलाप्यत्वविरहो नाभ्युपेयत इत्यव्याप्ति । न च तस्यापि सर्वादिपदजन्यबोधविषयत्वेन नाऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, य उत्पत्त्यनन्तरक्षणे एव विनष्ट न च तदुत्पत्तिक्षणे केनापि सर्वादिपद प्रयुक्त तत्र घटादावव्याप्ते अनभिलाप्यभावेष्वतिव्याप्तेश्च ।

तर्हि घटादिपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वमेव घटादिपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वमस्तु, यत्र विनष्टे घटादौ न केनापि घटादिपद प्रयुक्त तस्य घटादिपदजन्यशाब्दबोधाऽविषयत्वेऽपि घटादिपदबोध्यतावच्छेदकीभूतघटत्वादिधर्मवत्त्वेनाऽव्याप्तेरनवकाशादित्याशङ्काया तार्तीयकविकल्पोच्छित्तये उपक्रमते- नापि तद्बोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्व निरस्ताभिलाप्यत्वम् । घटादिपदनिष्ठशक्ततानिरूपितशक्यताया अवच्छेदको यो धर्म तादृशधर्मवत्त्वस्य घटादिपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वस्वीकारे तु घटस्यापि पटपदाभिलाप्यत्वापत्तेरिति । पटपदनिष्ठशक्ततानिरूपितशक्यतावच्छेदकीभूतप्रमेयत्ववत्त्वेन घटस्यापि पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वस्वीकारप्रसङ्गात् । तदेव दर्शयति- एकस्यापि पदस्य सति तात्पर्ये सर्वार्थवाचकत्वेन = सर्वार्थनिष्ठशक्यतानिरूपितशक्ततावत्त्वेन स्याद्वादिनये पटपदस्यापि सर्वार्थान्तर्गतघटनिष्ठवाच्यतानिरूपितवाचकतावत्त्वेन प्रमेयत्वस्य पटपदशक्यतावच्छेदकत्वसिद्ध्या पटपदाभिलाप्यतावच्छेदकप्रमेयत्ववत्त्वस्य = पटपदनिष्ठशक्ततानिरूपितशक्यताया अवच्छेदकीभूतप्रमेयत्वधर्मवत्त्वस्य घटे सत्त्वात् । योऽर्थ यत्पदवाच्य तस्मिन् तत्पदवाच्यता तत्पदवाच्यतावच्छेदकश्च स्त इति सर्वार्थाना प्रत्येकपदवाच्यत्वनये घटस्य पटपदवाच्यत्वेन सर्वार्थसाधारणस्य

अनभिलाप्यपद की विषयता तो अनभिलाप्य भावो मे रहने से उन्हे भी अभिलाप्य मानने की आपत्ति आयेगी । अर्थात् अतिव्याप्ति दोष आयेगा । यदि अभिलाप्यत्व को पदजन्यबोधविषयतास्वरूप भी माना जाय, जैसे घटपद से जन्य घटत्वप्रकारक शाब्दबोध की विषयता घटपदार्थ मे रहती है वही घटपदार्थनिष्ठ अभिलाप्यत्व है, तो यह भी ठीक नही है, क्योकि जो घट उत्पन्न हो कर टूट गया है और उसके उद्देश से किसीने घटपद का प्रयोग नही किया है, उसमे तो पदजन्य बोध की विषयता ही नही रहती है, फिर भी उस घट को अभिलाप्य ही कहा जाता है, न कि अनभिलाप्य । इसलिए पदजन्य बोध से निरूपित विषयता को अभिलाप्यत्व मानने पर तादृशविषयताशून्य घट मे अभिलाप्यत्व के अभाव का प्रसग आयेगा अर्थात् अव्याप्ति दोष आयेगा । यदि यह कहा जाय कि —> 'अभिलाप्यत्व पदबोध्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वात्मक है । जिस घट के उद्देश से घटपद का प्रयोग नही किया गया है उसमे भले ही घटपदजन्यबोधनिरूपित विषयता न रहे, मगर घटपदबोध्यतावच्छेदक घटत्व धर्म तो उसमे रहता ही है । अत॰ उसमे अव्याप्ति की या अभिलाप्यत्वाभाव की अनिष्ट आपत्ति नही है' <— तो यह भी नामुनासिब है, क्योकि स्याद्वादियो ने प्रत्येक पद को सर्व अर्थ का वाचक माना हे । इसलिए घटपदार्थ मे पटपद की अपेक्षा भी अभिलाप्यत्व

अथ पटपदादित· प्रमेयत्वेनाऽबोधान्न तदवच्छिन्ने शक्ति:, शक्तिज्ञानपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधानां समानप्रकारकत्वेनैव कार्यकारणभावादिति चेत् ? किं तावता, तथापि घटत्वादे· पटपदबोध्यतावच्छेदकत्वस्य निरपायत्वात् ।

जयलता

प्रमेयत्वस्य पटपदवाच्यतावच्छेदकत्वसिद्ध्या घटस्य तादृशधर्मवत्त्वात्पटपदापेक्षया अभिलाप्यत्वप्रसङ्ग इति भाव· ।

पर शङ्कते - **अथेति** । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वय· । **पटपदादितः** घटस्य **प्रमेयत्वेन** रूपेण **अबोधात्** = शाब्दबोधविरहात् **न तदवच्छिन्ने** = प्रमेयत्वावच्छिन्ने यावत्प्रमेय इति **शक्तिः** । तत्र हेतुमाह - **शक्तिज्ञानेत्यादि** । यदि विषयतासम्बन्धेन शाब्दबोध प्रति विषयतासम्बन्धेन पदार्थोपस्थितिशक्तिग्रहयो कारणत्व विषयतासम्बन्धेन पदार्थोपस्थिति प्रति च विषयतासम्बन्धेन सङ्केतग्रहस्य कारणत्वमित्येव कार्य-कारणभावाऽङ्गीकारेऽपूर्वव्यक्तिभान शक्तिग्रह-पदार्थोपस्थित्योरपेक्षित भवेत् । न चैवमस्ति, तथा सत्यवच्छेदकनियमनाय तत्तद्धर्मावच्छिन्नविषयत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकतया कारणतावच्छेदकतया चाऽभ्युपगमप्रसक्तौ महागौरवात् । ततश्च प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबोध प्रति प्रकारतासम्बन्धेन सङ्केतग्रह-पदार्थोपस्थित्यो. प्रकारतया पदार्थोपस्थिति प्रति च प्रकारतासंसर्गेण शक्तिग्रहस्य कारणत्वमित्येवाऽभ्युपगन्तव्यम् । इत्थञ्च शक्तिग्रहपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधाना समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणभावसिद्धौ प्रत्येकपदस्य सर्वार्थवाचकत्वनये घटस्य पटपदवाच्यत्वेऽपि प्रमेयत्वस्य न पटपदशक्यतावच्छेदकत्व पटपदेन घटस्य प्रमेयत्वरूपेणाऽबोधात् । यदि च प्रमेयत्वरूपेण पटपदाद् घटभान स्यात् तदा प्रकारतासम्बन्धेन तादृशशाब्दबोधस्य प्रमेयत्ववृत्तित्वसिद्धौ फलबलात् प्रकारतासम्बन्धेन पटपदशक्तिग्रहस्य प्रमेयत्ववृत्तित्वसिद्ध्या प्रमेयत्वस्य पटपदनिष्ठशक्तिनिरूपितविषयतावच्छेदकत्व सिध्येत् । न चैवमस्ति । अतो न प्रमेयत्वस्य पटपदशक्यतावच्छेदकत्वम् । अत एव पटपदशक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वमपि घटे नास्तीति न घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वप्रसङ्ग· । ततश्च निरुक्तावच्छेदकधर्मवत्त्वमपि घटे नास्तीति न घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वप्रसङ्ग । ततश्च निरुक्ताभिलाप्यत्व पदशक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वस्वरूपमेवेति अथाशय ।

ननुवादी तन्निराकुरुते - **कि तावता ? इति** । प्रमेयत्वस्य पटपदशक्यतानवच्छेदकत्वेन कि नश्छिन्नम् ? इत्यर्थ । **तथापि** = शक्तिग्रह-पदार्थोपस्थिति-शाब्दबोधाना समानप्रकारतासंसर्गेण कार्यकारणभावस्याऽङ्गीकारेऽपि, पटपदेन घटादे· घटत्वादिरूपेण भानात् **घटत्वादेः पटपदबोध्यतावच्छेदकत्वस्य** = पटपदनिष्ठशक्ततानिरूपितशक्यताया अवच्छेदकत्वस्य **निरपायत्वात्** = अबाधात् । प्रत्येकपदस्य सर्वार्थवाचकत्वनये यदि घटत्वादिक पटपदशक्यतावच्छेदक न स्यात् तर्हि पटपदात् घटत्वादिरूपेण घटादिभान न स्यात्, प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबोध प्रति प्रकारतासम्बन्धेन सङ्केतग्रह-पदार्थोपस्थित्योर्हेतुत्वात् । तादृशशाब्दबोधस्य प्रकारतासंसर्गेण घटत्वादिवृत्तित्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या तत्कारणीभूतशक्तिग्रहस्य प्रकारतासम्बन्धेन घटत्वादिवृत्तित्वसिद्धौ घटत्वादे पटपदशक्यतावच्छेदकत्व सिध्यति । घटादे. तादृशघटत्वादिधर्मवत्त्वेन पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्व-

मानने का प्रसग होगा, क्योकि पटपदवाच्यतावच्छेदक प्रमेयत्व धर्म रहता है । पटपद सर्व अर्थ का वाचक होने से सब अर्थ मे रहने वाले प्रमेयत्व धर्म को पटपदवाच्यतावच्छेदक मानना ही होगा ।

अथ इति । यहाँ यह कहा जाय कि —> ''पटपद का वाच्यतावच्छेदक प्रमेयत्व धर्म नही हो सकता है, क्योकि पटपद से भी घट का प्रमेयत्वरूप से भान नही होता हे । अतएव प्रमेयत्वावच्छिन्न मे पटपद की शक्ति की कल्पना नही की जा सकती, क्योंकि पदशक्तिज्ञान के कार्य पदार्थउपस्थिति और उसके कार्य शाब्दबोध मे प्रकार समान = एक ही होता है । अर्थात् समानप्रकारक शक्तिज्ञान ही समानप्रकारक पदार्थोपस्थिति का कारण होता हे तथा समानप्रकारक पदार्थउपस्थिति ही समानप्रकारक शाब्दबोध का कारण बनती हे । इसलिए जब प्रमेयत्वावच्छिन्न मे पटपद की शक्ति ही नही है अर्थात् प्रमेयत्व पटपदशक्यतावच्छेदक ही नही है तब 'पटपदबोध्यतावच्छेदकीभूत प्रमेयत्व धर्म घट अर्थ मे रहता है' यह कैसे कहा जा सकता है ? अतः पदबोध्यतावच्छेदकधर्मवत्त्व को अभिलाप्यत्व माना जा सकता है'' <—

कि ता इति । तो यह भी ठीक नही हे । पटपद से घट का प्रमेयत्वरूप से बोध नही होने से प्रमेयत्व पटपदबोध्यतावच्छेदक न हो तो क्या हुआ ? प्रत्येक पद सब अर्थ के वाचक है - इस मत के अनुसार घट अर्थ का पटपद से घटत्वरूप से तो बोध हो सकता ही है । इसकी वजह पटपदवाच्यतावच्छेदक घटत्व धर्म हो सकता हे । पटपदवाच्यतावच्छेदकताविशिष्ट घटत्व धर्म घट मे हाने से घट अर्थ मे पटपद की अपेक्षा अभिलाप्यत्व का प्रसग अपरिहार्य ही होगा ।

नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, पटपदस्यापि घटे सङ्केतग्रहसम्भवात् तद्दोषानतिवृत्ते. । नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रित-सङ्केतक-पदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं, घटे हि घटपदस्यैव सङ्केत· कोशादिना नियम्यते न तु पट-

❋ जयलता ❋

प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वमिति ननुवादिनोऽभिप्राय· ।

ननु 'सर्वे शब्दा· सर्वार्थवाचका. सति तात्पर्ये' इति नयानुरोधात् घटत्वादे पटपदशक्यतावच्छेदकत्व काममभिमतम् । पर घटादौ घटादिपदसङ्केत एव गृह्यते न तु पटपदनिष्ठसङ्केतोऽपि, 'निरूपकतासम्बन्धेन घटादौ घटादिपदसङ्केत एव वर्तते न तु पटपदसङ्केतोऽपी'त्येवाऽनुभवात् । ततश्च निरुक्तानभिलाप्यपदार्थव्यावृत्तमभिलाप्यत्व न तत्तत्पदशक्यतावच्छेदकरूप-वत्त्वरूप किन्तु गृहीततत्तदर्थनिरूपितसङ्केतकपदशक्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्वरूपमिति चतुर्थो विकल्प एव न: शरणमस्त्वि-त्युक्तौ ननुवादी तमपहस्तयितु त्वरते - **नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपितसङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्** = विवक्षिता-भिलाप्यत्वम् । **गृहीत** = ज्ञात. तत्तदर्थे निरूपित सङ्केत यस्मिन् पदे तस्य शक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्व विवक्षिताभिलाप्य-त्वम् । तत्तदर्थाना विवक्षितसङ्केतनिरूपकत्वेन यदा तत्तदर्थनिरूपित सङ्केत: पदे ज्ञायते तदा तादृश पद गृहीततत्तदर्थ-निरूपितसङ्केतक भवति । तादृशपदशक्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वमभिलाप्यत्वमिति चतुर्थविकल्पतात्पर्यम् । तदयुक्तत्व ननुवादी दर्शयति - **पटपदस्यापि** किमुत घटपदस्येत्यपिशब्दार्थ., **घटे सङ्केतग्रहसम्भवा**दिति । 'सर्वे शब्दा· सर्वार्थवाचका' इति नया-भिज्ञपुरुषस्य घटपदवत् पटपदमपि घटवाचकमिति ज्ञाने सति पटपदनिष्ठसङ्केतस्य घटनिरूपितत्वज्ञानात् घटस्य गृहीत-घटलक्षणार्थनिरूपितसङ्केतकपटपदनिरूपितशक्यतावच्छेदकघटत्ववत्त्वेन **तद्दोषानतिवृत्तेः** पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वप्रसङ्गस्य दुर्वार-त्वान्न चतुर्थो विकल्पोऽर्हतीति ननुवादिनोऽभिप्राय ।

ननु पटपदनिष्ठसङ्केतस्य घटार्थनिरूपितत्वेऽपि न कोशादिनियन्त्रितत्वमिति तादृशसङ्केते नियन्त्रितत्वविशेषण-दानादेवाऽनतिप्रसङ्ग इति पञ्चमविकल्पस्यैव कक्षीकारोऽस्त्वित्याशङ्का निराकर्तुमुपदर्शयति - **नापी**ति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽ-न्वयः । **गृहीते**ति । **गृहीत·** = ज्ञात तत्तदर्थनिरूपित कोशादिना नियन्त्रितश्च सङ्केतो यस्मिन् पदे तद्बोध्यतावच्छेदकरूप-वत्त्व = तन्निष्ठवाचकतानिरूपितवाच्यताया अवच्छेदकरूपवत्त्व विवक्षिताभिलाप्यत्वम् । तत्तदर्थनिरूपितत्वेन ज्ञातस्य सङ्केतस्य नियन्त्रितत्वेन विशेषणीयत्वे कथ घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वदोपप्रच्युतिः ? इत्याशङ्कायामाह - **घटे हि घटपदस्यैव सङ्केतः कोशादिना नियम्यते न तु पटपदस्ये**ति **न प्रागुक्तदोपः** = घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वप्रसङ्ग , पटपदनिष्ठस्य

यहाँ यह कहा जाय कि –> ''सर्व पद को सर्व अर्थ के वाचक मानने वाले विद्वानो के मतानुसार पटपदवाच्यतावच्छेदक धर्म भले घटत्व हो, मगर अभिलाप्यत्व को तत् तत् अर्थ से निरूपित सकेत का जिसमे ग्रहण (= ज्ञान) किया गया है-ऐसे पद की बोध्यता के अवच्छेदक धर्मवत्त्वस्वरूप मानने मे कोई दोष नही है, क्योकि घट अर्थ मे पटपदवाच्यतावच्छेदकीभूत घटत्व धर्म होने पर भी घट अर्थ मे पट पद का सकेत गृहीत नही होने से घट अर्थ मे गृहीत सकेतवाले पट पद की वाच्यता का अवच्छेदक धर्म घट मे नही है । इस तरह विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव घट में होने से घट को पटपद की अपेक्षा अभिलाप्य = अभिलाप्यत्वधर्मवाला मानने का अनिष्ट प्रसग नहीं है'' <–

पटपद इति । तो यह भी अनुचित है, क्योकि सर्व पद सर्व अर्थ के वाचक होने की वजह पुरुपविशेष को घट अर्थ मे भी पटपद के सकेत का ज्ञान मुमकिन होने से घट अर्थ मे ज्ञात सकेत वाले पटपद की वाच्यता का अवच्छेदक घटत्व धर्म घट अर्थ मे अबाधित होने से घट को पटपद की अपेक्षा अभिलाप्य = अभिलाप्यत्वधर्मशाली मानने की आपत्ति ज्यो की त्यों बनी रहती है । यहाँ विशेपणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव नही बताया जा सकता, क्योकि घट अर्थ मे ज्ञात सकेत्त-वत्त्वस्वरूप विशेपण पटपद मे अबाधित है ।

यहाँ यह कहा जाय कि –> ''सव पद सर्व अर्थ के वाचक है, इस मत के अनुसार भले ही पुरुपविशेप को घट अर्थ मे पटपद के सकेत का ज्ञान हो, मगर वह सकेत यादृच्छिक = अपनी इच्छा से कल्पित है, न कि कोश, व्याकरण आदि से नियन्त्रित । इसलिए तत् तत् अर्थ से निरूपित कोशादि से नियन्त्रित एवं ज्ञात संकेत वाले पद की वाच्यता के अवच्छेदकी-भूत धर्मवत्त्व को अभिलाप्यत्व माना जा सकता है । घट अर्थ मे पटपद का सकेत कोशादि से अनियन्त्रित होने की वजह

पदस्येति न प्रागुक्तदोष इति वाच्यम्, श्रुताऽनिबद्धेषु प्रज्ञापनीयेषु तादृशपदसङ्केतग्रहाऽसम्भवात् । न च तेषामेवाऽसिद्धिः, 'पन्नवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुअनिबद्धो' (बृ.क.भा गा. ९६४/वि आ.भा.गा. १४१)त्तिवचनप्रामाण्यात् ।

जयलता

सङ्केतस्य घटनिरूपितत्वेऽपि कोशाद्यनियन्त्रित्वात् । ततश्च विशेषणाभावप्रयुक्तस्य विशिष्टाभावस्याऽव्याहतत्वान्न घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वप्रसङ्ग । 'कोशादिने'त्यत्राऽऽदिपदेन व्याकरणोपमानादिग्रहणम् । तदुक्तम् - शक्तिग्रहो व्याकरणोपमान, कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च । वाक्यस्य शेषादद्विवृत्तेर्वदन्ति, सान्निध्यत सिद्धिपदस्य वृद्धा ॥ ( )

प्रदर्शितपञ्चमविकल्पनिराकरणे हेतुमाह - **श्रुताऽनिवद्धेपु** = श्रुते सूत्ररचनयाऽग्रथितेषु **प्रज्ञापनीयेपु** = अभिलाप्येषु भावेपु **तादृशपदसङ्केतग्रहाऽसम्भवात्** = कोशादिनियन्त्रितस्य पदनिष्ठसङ्केतस्य ज्ञानाऽसम्भवात्, न हि श्रुताऽनिबद्धेपु प्रज्ञापनीयभावेपु कोशादिनियन्त्रितसङ्केत सम्भवति । ततश्च तेषु ज्ञाततत्तदर्थनिरूपित-कोशादिनियन्त्रितसङ्केतकपदनिरूपितशक्यताया अवच्छेदकधर्मवत्त्वस्याऽभावेनाऽव्याप्तिप्रसङ्ग इति भाव ।

ननु प्रज्ञापनीयाश्चेत् श्रुतेऽनिबद्धा न स्यु , तेषा वक्तु शक्यत्वात् । श्रुताऽनिबद्धाश्चेत् प्रज्ञापनीया न स्यु , श्रुताऽनिबद्धत्वात् तेऽनभिलाप्या एव भवेयु । ततश्च प्रज्ञापनीया श्रुताऽनिबद्धा इति वचन 'पिता मे बालब्रह्मचारी'ति वचनमिव व्याहतमित्याशङ्का निराकर्तुमुपक्रमते - **न चेति** । **तेषा** श्रुताऽनिबद्धाना सता प्रज्ञापनीयाना भावाना **एव असिद्धिः** = प्रमाणाऽगोचरत्वमिति । ननुवादी तत्सिद्ध्यर्थमागमप्रमाण दर्शयति - **पन्नवणिज्जाण** ति । —> 'प्रज्ञापनीयपदार्थाना पुनरनन्तभाग एव चतुर्दशपूर्वलक्षणे श्रुते निबद्ध = भगवद्भिर्गणधरै साक्षाद्ग्रथित' <— (वि आ भा गा १४१ म हे टीका) इति **श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरि**व्याख्या । **वृहत्कल्पभाष्यवृत्तिकृ**द्वचन तु —> 'तेषामपि प्रज्ञापनीयाना भावानामनन्ततम एव भाग श्रुते द्वादशाङ्गलक्षणे सूत्ररचनया निबद्ध ' <— (बृ क भा पृ ३०४) इत्येवम् । श्रुतनिबद्धप्रज्ञापनीयभावापेक्षया श्रुताऽनिबद्धप्रज्ञापनीयभावानामनन्तगुणाधिक्यसिद्धौ तेषा कोशादिनियन्त्रितसङ्केताऽविषयत्वसिद्ध्या तत्र गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रितसङ्केतकपदशक्यतावच्छेदकधर्मविरहेणाऽव्याप्तिरिति न पञ्चमोऽपि विकल्प स्थेमानमाधत्ते । इत्थ विकल्पपञ्चतयीसतापितोऽभिलाप्यत्वपदार्थो विषयपञ्चतयीसन्त्रासितो जीव इव ब्रुडत एवेति ननुवाद्यभिप्राय ।

उपर्युक्त धर्म घट मे नही हे । अतएव घट मे पटपद की अपेक्षा अभिलाप्यत्व = वाच्यत्व की आपत्ति नही दी जा सकती, क्योकि घट अर्थ मे कोश आदि के द्वारा घटपद का ही सकेत नियन्त्रित होता है, न कि पटपद का भी'' <—

श्रुता इति । तो यह कथन भी असगत हे, क्योकि फिर भी अव्याप्ति दोप का परिहार नही हो सकता है । देखिये, प्रज्ञापनीय = अभिलाप्य भाव भी जैन सिद्धान्त के अनुसार द्विविध होते है, श्रुतनिवद्ध और श्रुतअनिवद्ध । श्रुत = आगम मे अनिवद्ध = अग्रथित अभिलाप्य = प्रज्ञापनीय भावो मे कोश आदि से नियन्त्रित सकेत का ग्रहण ही नामुमकिन होने से कोशादि से नियन्त्रित अर्थविशेपनिरूपित ज्ञात सकेत वाले पद की वाच्यता का अवच्छेदक धर्म भी उनमे रह सकता नही है । अतः प्रज्ञापनीय श्रुताऽनिवद्ध भावो मे उपर्युक्त अभिलाप्यत्व नही रहने से अव्याप्ति दोप आयेगा । यहाँ यह तो नही कहा जा सकता कि —> ''जो भाव प्रज्ञापनीय = अभिलाप्य होने पर भी श्रुत मे उल्लेखित न हो सके यह वात असभव होने से श्रुताऽनिवद्ध प्रज्ञापनीय भाव असिद्ध है, तव उनमे अभिलाप्यत्व की अव्याप्ति का उद्‌भावन कैसे किया जा सकता हे ?'' <— क्योकि श्रुत मे अनिवद्ध प्रज्ञापनीय भावो का प्रतिपादन आगम मे ही किया गया है । यह रहा वृहत्कल्पवृत्ति का वचन - 'पन्नवणिज्जाण पुण अणतभागो सुअनिवद्धो' । इसका अर्थ है - प्रज्ञापनीय भाव का अनतवाँ भाग श्रुत मे निवद्ध = दर्शित है । इससे अर्थतः फलित होता है कि श्रुतनिवद्ध प्रज्ञापनीय भाव की भाँति श्रुतअनिवद्ध प्रज्ञापनीय भाव भी होते है, जो श्रुत-निवद्ध प्रज्ञापनीय भाव से अनन्तगुण होते है । श्रुत = आगम मे भी जिन प्रज्ञापनीय भावो का उल्लेख नही किया गया है या किया नही जा सकता है, उनमे कोश आदि से नियन्त्रित सकेत की विपयता ही कैसे हो सकती है ? ओर वह नामुमकिन होने पर तादृशपदवाच्यतावच्छेदक धर्म भी उनमे कैसे सभवित हो सके ? अतः श्रुताऽनिवद्ध प्रज्ञापनीय भावो मे उपदर्शित अभिलाप्यत्व के लक्षण की अव्याप्ति ज्यो की त्यो वनी रहेगी । इस तरह अभिलाप्यत्व धर्म का सम्यक् निर्वचन = व्याख्यान नही किया जा सकता है, तव एक धर्मी मे अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व के अविरोध का निरूपण

अत्र वदन्ति - तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, श्रुतज्ञानेन तन्निश्रितमतिज्ञानेन वा तत्तद्रूपेण तत्तदर्थान् प्रतिपादयत्पद हि तत्तदर्थपरिणामभाग् भवति, अन्यथा प्रवृत्त्यादिप्रतिनियमानुपपत्ते· ।

एतेन 'विकल्पयोनय· शब्दा., विकल्पा· शब्दयोनयः । कार्यकारणता तेषां, नार्थं

❀ जयलता ❀

प्रकरणकार समाधानग्रन्थमाविष्करोति - अत्र वदन्तीति । स्याद्वादिन इति शेष । **तत्तदर्थेति** । तत्तदर्थस्वरूपो य परिणामविशेष तेन परिणत = कथञ्चिदर्थतादात्म्यापन्न यत्पद तन्निष्ठशक्ततानिरूपितशक्यताया अवच्छेदकीभूतधर्मवत्त्व **तत्** = अनभिलाप्यभावव्यावृत्तमभिलाप्यत्वम् । तदेव समर्थयति **श्रुतज्ञानेनेति** । श्रुताऽनिबद्धाना प्रज्ञापनीयभावाना सङ्ग्रहार्थमाह **तन्निश्रितमतिज्ञानेन** = श्रुतज्ञाननिश्रितमतिज्ञानेन **वा तत्तद्रूपेण** = तत्तद्विवक्षितधर्मेण **तत्तदर्थान्** = जिज्ञापयिषितान् अर्थविशेषान् **प्रतिपादयत् पद हि तत्तदर्थपरिणामभाग्** = विवक्षितार्थपरिणामविशेषशालि **भवति** । श्रुतज्ञान-श्रुतनिश्रितमतिज्ञानान्यतरकरणक-विवक्षितधर्मप्रकारक-विवक्षितार्थविशेष्यकशाब्दबोध जनयत्पद कथञ्चिदर्थतादात्म्यशालि भवतीत्यर्थ । विपक्षे दण्डमाह - **अन्यथेति** । निरुक्तशाब्दबोधजनकशब्दे कथञ्चिदर्थतादात्म्याऽनभ्युपगम इत्यर्थ । **प्रवृत्त्यादिप्रतिनियमानुपपत्तेः** = 'घटमानय' इतिवाक्येन घटस्यैवानयन न तु पटादेरिति नियमाऽघटनात् । अय भाव 'घटपद कम्बुग्रीवादिमति शक्तमि'ति सङ्केतग्रहात्मकश्रुतज्ञानवान् पुरुष 'घटमानये'तिवाक्यश्रवणात् घटमेवानयति न तु पटादिकमिति प्रवृत्तिनियमोपलम्भेन ज्ञायते यत् घटपदश्रवणात् तस्य घटज्ञानमेव जात न तु पटादिगोचर ज्ञानम् । पर घटपद कथ घटमेव बोधयति न तु पटादिकमपि ? इति मीमासाया सत्या इदमेव प्रतिभाति यदुत घटपद कथञ्चिद्घटार्थतादात्म्यशालि न तु पटाद्यर्थतदात्मतापन्नम् । **न च** पदशक्त्या एव तन्नियमोपपत्तिरिति **वाच्यम्**, तस्य अतिरिक्तत्वे गौरवात् । न च तस्या शब्दस्वरूपत्वमेवेति **वक्तव्यम्**, तथापि शब्दार्थयो सर्वथा भेदे घटपदेन घटार्थस्यैव भान न तु पटादेरित्यस्याऽनुपपत्तितादवस्थ्यात् । ततश्च तत्तदर्थपरिणतिविशेषापेक्षया शब्दार्थयोस्तादात्म्यमकामेनापि स्वीकर्तव्यमेव । ततश्च घटार्थपरिणतिविशेषपरिणतघटपदशक्यतावच्छेदकीभूतघटत्वस्य घट एव सत्त्वात्, तस्यैव घटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वम् । पटार्थपरिणतिविशेषपरिणतपटपदवाच्यतावच्छेदकपटत्वधर्मशून्यत्वात्पटपदापेक्षया घटस्याऽनभिलाप्यत्वमेव । **एतेन** व्यतिकरादिदोषवृन्दमप्यपास्तम् । शब्दाऽप्रामाण्यवादिबौद्धमत निराकर्तुमुपक्रमते - **एतेनेति** । शब्दार्थयो कथञ्चित्तादात्म्येनेति । अस्य निरस्तमित्यनेनाऽन्वय । **विकल्पयोनयः** = कल्पनाजनका **शब्दाः**, **विकल्पाः** = कंल्पना **शब्दयोनयः** = शब्दनिमित्ता वक्तुर्मनसि यो विकल्प घटाद्याकारो जायते तेन स घटादिशब्द

करना तो बहुत दूर की बात है ।

उत्तरपक्ष :- अत्र वद इति । अभिलाप्यत्व भले ही उपर्युक्त स्वरूप न हो, मगर फिर भी कोई दोष नही है, क्योंकि तत् तत् अर्थस्वरूप परिणाम मे परिणत पद की बोध्यता के अवच्छेदक धर्मवत्त्व को ही हम अभिलाप्यत्व कहते है । जैसे घट पद का प्रयोग किया जाय, तब घटपद घटपदार्थ के परिणाम से परिणत होता है । अतएव लोगो को घटपद से घट अर्थ का भान होता है, न कि पटादि अर्थ का । श्रुतज्ञान या श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के सहकार से शब्द तत् तत् धर्म से तत् तत् अर्थविशेष का प्रतिपादन करता हुआ शब्द तत् तत् अर्थविशेष के परिणाम को धारण करता है । यदि घटशब्द को घट अर्थ के परिणाम से परिणत न माना जाय तब तो घटशब्द को सुन कर घट मे ही प्रवृत्ति होती है, न कि पट, मठ आदि मे - यह नियत प्रवृत्ति अनुपपन्न बन जायेगी । 'घटमानय' = 'तुम घट ले आओ' इस वाक्य को सुन कर कोई पट आदि को लाने की प्रवृत्ति नही करता है । इसीसे फलित होता है कि घटप्रतिपादक घटशब्द घट अर्थ के परिणाम से परिणत होता है, न कि पटादि अर्थ के परिणाम से । तादृश पद की वाच्यता का अवच्छेदक धर्म घटत्व है और वह घटमात्र मे, चाहे उसमे घटपद का किसीने प्रयोग किया हो या न किया हो. रहने से सभी घट मे घटपद की अपेक्षा अभिलाप्यत्व अबाधित है । अत· अव्याप्ति का अवकाश नही है ।

☫ शब्द और अर्थ में कथंचित् भेदाऽभेद - स्याद्वादी ☫

एतेन इति । बौद्ध मनीषियो का यह मत है कि —> 'कल्पना से शब्द उत्पन्न होते है और कल्पनाएं भी शब्द से उत्पन्न होती है । मतलब कि सामने घट न होने पर भी वक्ता को घटशब्द का उच्चारण करने की इच्छा होने की वजह

शब्दाः स्पृशन्त्यपि' ।। (   ) इति निरस्तम्, कथञ्चित्तादात्म्येनैव शब्देनार्थप्रतिपादनात् । तदुक्तं परमर्षिभिः "खुरअग्गिमोअगुच्चारणम्मि, जम्हा उ वयणसवणाणं । णवि छेओ णवि दाहो ण पूरण तेण भिण्णं तु ।। जम्हा य मोअगुच्चारणम्मि, तत्थेव पच्चओ होइ । ण य होइ स अण्णत्थो, तेण अभिण्णं तदत्थाओ ।। (बृहत्कल्पभाष्य)त्ति । न चैवमेकस्मादपि

❊ जयलता ❊

प्रयुक्ते । निर्विकल्पमनसः शब्दाऽप्रयोक्तृत्वमेवेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विकल्पस्य शब्दकारणत्वं सिद्धम् । वक्तृविकल्पजन्यघटादि-शब्दश्रवणेन श्रोतुः घटाद्याकारो विकल्पो जायते तदश्रवणे तु नेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दस्य विकल्पकारणत्वं सिद्धमिति **कार्यकारणता** = कार्यकारणभावः, **तेषां** = विकल्पशब्दानामेव परस्परं, **नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि** = नाऽर्थपरिणतिभाजः शब्दाः भवन्तीत्यर्थः, कल्पनाया वितथत्वात् । विसंवादिशब्दोपलम्भादपि न तस्याऽर्थतादात्म्यमिति बौद्धाभिप्रायः । तदयुक्तत्व-मेव प्रकरणकृदुपदर्शयति - **कथञ्चित्तादात्म्येन** = कथञ्चित् अर्थस्य तादात्म्यं यस्मिन् स तथा तेन एव **शब्देन अर्थप्रतिपाद-नात्** = कथञ्चित्स्वाऽभिन्नार्थविषयकश्रोतृबोधजननात् । अन्यथा पदार्थोपस्थितिशाब्दबोधप्रवृत्तिप्रतिनियमानुपपत्तेः । शब्दार्थयोर्न सर्वथा भेदोऽभेदो वा किन्तु कथञ्चिद्भेदाभेद एवेत्यत्र संवादमाह - **तदुक्तं परमर्षिभिरिति** । **खुरेति** । यदि च शब्दार्थयोः सर्वथाऽभेदः स्यात् तर्हि क्षुरशब्दस्योच्चारणेन वदनस्य तच्छ्रवणेन कर्णस्य च छेदः स्याताम्, एवमग्निशब्दस्योच्चारेण वदनस्य तच्छ्रवणेन श्रवणस्य च दाहः प्रसज्येताम् तथा मोदकपदोक्त्या वदनस्य तच्छ्रवणेन श्रोत्रस्य च पूरणं भवेताम् । न चैवमिति शब्दार्थयोर्भेदः न तु सर्वथाऽभेदः । तर्हि तयोः सर्वथा भेद एवाऽस्त्वित्याशङ्कायामाह - **जम्हा य** इत्यादि । यदि शब्दार्थ-योः सर्वथा भेद एव स्यात् तर्हि मोदकशब्दोच्चारणे मोदक इव घटादावपि विषयतासम्बन्धेन बोध उपजायेत । **न च भवति स** = मोदकशब्दजन्यशाब्दबोधः **अन्यार्थः** = घटादिगोचरः **तेन** कारणेन मोदकपदं **अभिन्नं** = कथञ्चिदभिन्नं **तदर्थात्** = स्वार्थतः । अतः शब्दार्थयोः भेदानुविद्धाभेद एवेति श्लोकद्वयार्थः सङ्क्षेपतः ।

न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । **एवं** = शब्दार्थयोः कथञ्चित्तादात्म्याऽङ्गीकारे **एकस्मादपि पदात्** = पटादि-

वह घट शब्द को बोलता है और श्रोता को वक्तृकल्पनाजन्य घट शब्द से घटाकारवाली कल्पना उत्पन्न होती है । इस तरह कल्पना और शब्द के बीच ही कार्य-कारणभाव है, मगर शब्द का वास्तव मे अर्थ के साथ कोई संबंध नही होता है । शब्द तनिक भी वास्तविक अर्थ का स्पर्श नही करता है, केवल काल्पनिक अर्थ से ही उसका सम्बन्ध है' <— मगर अभी हम स्याद्वादियो ने जो बताया कि 'शब्द अर्थपरिणाम से परिणत हो कर ही अर्थ का प्रतिपादन करता है' इससे ही यह बौद्धमत निरस्त हो जाता है । वास्तव मे शब्द अर्थ के परिणाम से कथचित् परिणत हो कर यानी कथचित् अर्थ से अभिन्न हो कर ही अर्थ का भान कराता है, अन्यथा घटपद से ताजमहल का भी बोध होने लगेगा । मगर ऐसा नही होता है । इसलिए शब्द को अर्थ से कथचित् अभिन्न मानना आवश्यक है, भले वह सर्वथा अर्थ से अभिन्न न हो । पूर्वाचार्यो ने भी कहा है कि —> शब्द सर्वथा अर्थ से अभिन्न हो तो तलवारशब्द का उच्चारण करने पर जिह्वा का छेद हो जायेगा, 'आग' ऐसा बोलने पर ही जीभ जल जायेगी और 'लड्डू' बोलने पर ही मुँह लड्डू से भर जायेगा, क्योकि शब्द और अर्थ मे सर्वथा अभेद पक्ष का अभी विचार चल रहा है । लक्ष्मी शब्द को बोलने पर भी लक्ष्मी की वर्षा नही होती है । इसलिए शब्द और अर्थ मे कथचित् भेद है, यह सिद्ध होता है । मगर शब्द और अर्थ मे सर्वथा भेद भी नही माना जा सकता, क्योकि लड्डू शब्द का उच्चारण करने पर लड्डू का ही भान होता है, न कि दिल्ली का । विवक्षित शब्द से अर्थविशेष का ही भान होता है - इसीसे सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ मे कथचित् अभेद भी होता है । इसलिए शब्द और अर्थ मे न तो सर्वथा भेद है और न तो सर्वथा अभेद, किन्तु कथचित् भेदाऽभेद है - यह सिद्ध होता है ।

❊ कथंचित् अर्थपरिणत शब्द संकेतज्ञानसहकार से बोधजनक है - स्याद्वादी ❊

न चे इति । यहाँ यह शका हो सकती है कि —> 'सर्व शब्द सभी अर्थ के वाचक = प्रतिपादक होने पर तो एक पद से ही सर्व अर्थ मे प्रवृत्ति होने की आपत्ति आयेगी, क्योकि एक ही पद का सभी अर्थ के साथ तादात्म्य मानते

१ क्षुराग्निमोदकोच्चारणे यस्मात्तु वदनश्रवणानां । नापि छेदो नापि दाहो न पूरणं तेन भिन्नं तु ।।
यस्माच्च मोदकोच्चारणे तत्रैव प्रत्ययो भवति । न च भवति स अन्यार्थः तेनाऽभिन्नं तदर्थात् ।।

पदात् सर्वत्र प्रवृत्तिः स्यात्, सर्ववाचकस्य सर्वतादात्म्यादिति वाच्यम् यत्रैव हि यत्पदस्य सङ्केतो गृह्यते तत्रैव तत्तादात्म्यपरिणतिरिति नियमात् । न च तत्तत्सङ्केतग्रहस्य तत्तदर्थबोध प्रत्येव हेतुताऽस्तु किं तत्तादात्म्यपरिणतिहेतुताकल्पनेनेति वाच्यम्, शब्दाननुविद्धस्याऽर्थस्याऽभानादित्यन्यत्र विस्तरः ।

❀ जयलता ❀

पदात् सर्वत्र घटादौ प्रवृत्तिः स्यात् 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः' इति नये सर्ववाचकस्य = सर्वार्थप्रतिपादकस्य पटादिपदस्य सर्वतादात्म्यात् = स्यात्सर्वार्थाभिन्नत्वात् । प्रवृत्तिश्चोपलक्षणं शाब्दबोधोत्पत्तेः । ततश्च प्रतिनियतशब्दात् प्रतिनियतार्थोपस्थिति-शाब्दबोधप्रवृत्तिप्रभृतयो विशीर्येरन् । अतः तयोर्भेद एव युक्त इति शङ्काशयः । तत्समाधानमाह - यत्रैव हि अर्थे यत्पदस्य सङ्केतो गृह्यते = ज्ञायते तत्रैव अर्थे तत्तादात्म्यपरिणतिः = तत्पदतादात्म्यपरिणाम इति नियमात् स्याद्वादिभिः । पटपदस्य पटे एव शक्तिग्रहात् पटार्थेन सह तादात्म्यं न घटाद्यर्थेन साकमिति न पटपदात् सर्वत्र शाब्दबोधादिप्रसङ्गः । यदि 'सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः' इति नयानुरोधात् पटपदस्य घटे सङ्केतो गृह्यते तदा घटार्थेन सह पटपदस्य कथञ्चित्तादात्म्यपरिणामाद् घटगोचरशाब्दबोधादिकमभिमतमेव । न चैवं चैत्रेण पटपदस्य घटे सङ्केतग्रहे मैत्रस्य पटपदाद् घटे प्रवृत्त्यादिप्रसङ्गः, पटपदस्य घटार्थतादात्म्यपरिणत्यङ्गीकारादिति वाच्यम्, तत्र सङ्केताऽग्रहेण सामग्रीविरहादेव पटपदेन मैत्रस्य घटगोचरशाब्दबोधादेरनापाद्यत्वात् । न चेति । वाच्यमित्यनेनाऽन्वीयते । तत्तत्सङ्केतग्रहस्य = विवक्षितशब्दस्य विवक्षितार्थे सङ्केतग्रहस्य एव तत्तदर्थबोधं = विवक्षितार्थगोचरशाब्दबोधं प्रति, एवकारो भिन्नक्रमः स च योजित एव, हेतुताऽस्तु अवश्यक्लृप्तत्वात्, किं तत्तादात्म्यपरिणतिहेतुताकल्पनेन = शब्दार्थतादात्म्यपरिणामस्य कारणत्वकल्पनया सृतम्, अन्यथासिद्धत्वात् ।

समाधत्ते - शब्दाननुविद्धस्य = शब्दविनिर्मुक्तस्य अर्थस्य शाब्दबोधे अभानात् । प्रयोगस्त्वेवम् - सर्वे भावाः शब्दमयाः तदाकारानुस्यूतत्वात् । ये यदाकारानुस्यूतास्ते तन्मयाः यथा घटशरावोदञ्चनादयो मृदाकारानुस्यूता मृण्मयाः । न चैवमपि शब्दार्थतादात्म्यमसिद्धमिति वाच्यम्, शब्दान्न कथञ्चिद्व्यतिरिच्यतेऽर्थः तत्प्रतीतावेव प्रतीयमानत्वात् । यत्प्रतीतावेव यत्प्रतीयते न तत्ततो व्यतिरिच्यते, यथा शब्दस्य स्वरूपम् । शब्दप्रतीतावेव प्रतीयते चार्थः । तस्मात्तथा । तदुक्तं भर्तृहरिणा वाक्यपदीये --> 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेत् अवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ (वा.प.का.१/१२३-१२४) न चैवं शब्दाद्वैतमतप्रवेशप्रसङ्गान्नेदमभिधानं स्याद्वादिना युक्तमिति वाच्यम्, अभिनिविष्टनयाभिप्रायखण्डनेऽपरनयाश्रयणस्यापि शास्त्रार्थत्वात् । न च तथापि सिद्धान्तविरोध इति वाच्यम्, सिद्धान्तेऽपि शब्दार्थयोः कथञ्चित्तादात्म्यस्याभिमतत्वात् । इदमेवाभिप्रेत्य विशेषावश्यकभाष्येऽपि 'जेसु अनाएसु तओ न नज्जए, नज्जए य नाएसु । किह तस्स ते न धम्मा घडस्स रूवाइधम्म व्व' ॥ (वि.आ.भा.श्लो.४८०) इत्युक्तं सङ्गच्छते इति दिक् ।

उपसंहरति - इत्थञ्चेति । श्रुतज्ञानेन तन्निश्रितमतिज्ञानेन वा तत्तद्रूपेण तत्तदर्थान् प्रतिपादयत् सत् तत्तदर्थपरिणाम-

है' <-- मगर यह शंका इसलिए निराधार है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत गृहीत = ज्ञात होता है उसी अर्थ का तादात्म्य उस शब्द में होता है । घटपद का संकेत घट अर्थ में गृहीत होने से घटपद में कथंचित् घटतादात्म्य होता है । इसलिए उससे सभी अर्थ के बोध की या सभी अर्थ में प्रवृत्ति होने की आपत्ति नहीं आयेगी । यहाँ यह शंका करना कि --> तत् तत् अर्थ के बोध के प्रति तत् तत् में संकेतज्ञान को ही कारण मानना चाहिए, क्योंकि संकेतज्ञान के बिना किसी शब्द से अर्थबोध नहीं होता है । मगर अर्थबोध के प्रति शब्द-अर्थ के कथंचित् तादात्म्यपरिणाम को हेतु मानना आवश्यक नहीं है । शब्द-अर्थ में तादात्म्यपरिणाम नहीं होने पर भी शब्द से नियत अर्थ का शाब्दबोध संकेतज्ञान के सहकार से हो तो क्या दोष है ?' <-- भी निराधार है, क्योंकि शब्द से अननुविद्ध = विनिर्मुक्त अर्थ का कभी भी भान नहीं होता है । घटशब्द कथंचित् घटाभिन्न नहीं होने पर घट अर्थ के ज्ञान के साथ घटशब्द का भी अवश्य भान नहीं होना चाहिए, अन्यथा पटादि शब्द का भी भान होना चाहिए । मगर घट अर्थ के साथ घटशब्द का ही अवश्य भान होता है । इसके अनुरोध से अर्थ में कथंचित् शब्दतादात्म्य मानना ही चाहिए । इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन अन्यत्र द्रष्टव्य है - ऐसा कह कर शब्द और अर्थ में कथंचित् तादात्म्य के विषय को प्रकरणकार तिलांजलि देते हैं ।

केवली श्रुतविषयभूत अर्थ के ही प्रतिपादक हैं

इत्थञ्चानभिलाप्यानामनभिलाप्यत्वेनाऽनभिलाप्यपदप्रतिपाद्यत्वेऽपि नाभिलाप्यत्वं, प्रातिस्विकरूपेण पदाऽप्रतिपाद्यत्वात् । तत्तदर्थपरिणततत्तत्पदप्रयोक्तैव च पुरुषः तत्तदर्थप्रतिपादकत्वेन व्यवह्रियते । अत एव न भगवतां तत्तत्पदप्रयोक्तृणामपि श्रुतज्ञानाविषयीभूतार्थ-

※ जयलता ※

परिणत यत्पद तद्बोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्याऽभिलाप्यत्वसिद्धौ च, **अनभिलाप्याना** भावाना **अनभिलाप्यत्वेन** रूपेण **अनभिलाप्यपदप्रतिपाद्यत्वे** = अभिलाप्यपदबोध्यतावच्छेदकधर्मवत्त्वे अपि **नाभिलाप्यत्व** प्रसक्त, **प्रातिस्विकरूपेण पदाऽप्रतिपाद्यत्वादिति** ।

अत्रेद विचार्यते - प्रातिस्विकरूपपदेनाऽत्र किमभिमतम् ? विशेषधर्मस्य प्रातिस्विकरूपपदार्थत्व नार्हति, घटत्वादिरूपेण घटादिपदवाच्यस्य घटादेरनभिलाप्यत्वापत्ते , नीलघटत्वाद्यपेक्षया घटत्वादे सामान्यधर्मत्वात् । **न च** घटत्वादे द्रव्यत्वापेक्षया विशेषधर्मत्वाऽव्याहतेर्न दोष इति **वक्तव्यम्**, तथा सत्यनभिलाप्यत्वस्यापि भावत्वापेक्षया विशेषधर्मत्वेनाऽनभिलाप्यपदादनभिलाप्यत्वेन प्रतिपाद्यानामनभिलाप्यभावानामभिलाप्यत्वापत्ते । किन्त्वनभिलाप्यत्वातिरिक्तधर्मपर प्रातिस्विकरूपपदमत्र बोध्यम् । **एतेनातिप्रसङ्गाऽप्रसङ्गादयो दोषा निरस्ताः** । **न** चैवमपि श्रुताऽनिबद्धेषु प्रज्ञापनीयेषु भावेष्वव्याप्तेर्दुर्वारत्वमिति **वाच्यम्**, श्रुताऽनिबद्धत्वेऽपि तेषा शब्देन प्रतिपादयितु शक्यत्वात् । तदुक्त **श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरिभिः** —> 'अभिलाप्य वस्तु सर्वमक्षरेणोच्यते । अतस्तदभिधानशक्तिरूपा सर्वेऽपि तस्याभिलाप्या प्रज्ञापनीया स्वपर्याया उच्यन्ते । शेषास्तदनभिलाप्या परपर्याया ' <— (वि.आ.भा म री श्लो ४८७) इति । युक्तश्चैतत्, तेषा शब्दाऽवाच्यत्वेऽनभिलाप्यत्वापत्ते । तदुक्त **बृहत्कल्पवृत्तौ** —> 'यावत· पदार्थान् केवली भाषते तावत एव श्रुतकेवल्यपि । ये तु श्रुतज्ञानस्याऽविषयीभूता भावा केवलिनाऽवगम्यन्ते तेषामप्रज्ञापनीयतया केवलिनाऽपि वक्तुमशक्यत्वादि' <— (बृ क भा श्लो ९६३)ति । यत्तत्पदाभ्या श्रुताविषयत्वाऽप्रज्ञापनीयत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावस्यैवाऽत्र दर्शितत्वात् । **न च** तेषा शब्दविषयत्वेऽपि कथ श्रुताऽनिबद्धत्वमित्याशङ्**कनीयम्**, तेषा बहुत्वादायुषोऽल्पत्वाच्च तेषा शब्दविषयत्वेऽपि श्रुताऽनिबद्धत्वोपपत्ते । तदुक्त **विशेषावश्यकभाष्ये** 'तीरति न वोत्तु जे सुओवलद्धा बहुत्तभावाओ । सेसोवलद्धभावा साभव्वबहुत्तओऽभिहिया' ॥ (वि आ.भा.गा १३९) इति । श्रुताविषयाऽतिरिक्तज्ञानचतुष्कविषयाणामेवाऽनभिलाप्यत्व तथास्वाभाव्यादित्युत्तरार्द्धाभिप्राय. । श्रुताऽनिबद्धाना प्रज्ञापनीयभावाना शब्दाऽवाच्यत्वेऽभ्युपगम्यमाने तु तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वलक्षणमभिलाप्यत्व कथ तेषु सम्भवेत् ? **न च** 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इति नयानुरोधात् तेषामभिलाप्यत्वाऽव्याहतिरिति **वाच्यम्**, एव सति घटस्य पटपदापेक्षयाऽप्यभिलाप्यत्वप्रसङ्गात् । तन्निवारणकृते सङ्केते नियन्त्रितत्वविशेषणस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

किञ्च प्रज्ञापनीयाना सर्वेषामेव श्रुतनिबद्धत्वे चतुर्दशपूर्वधराणा परस्पर षट्स्थानपतितत्वमपि विशीर्येत । तदुक्त **बृहत्कल्पवृत्तौ** —> 'यदि हि सर्व एव प्रज्ञापनीया भावा श्रुते निबद्धा भवेयुस्तर्हि चतुर्दशपूर्विणोऽपि परस्पर तुल्या एव भवेयुर्न षट्स्थानपतिता ' <— (बृ क भा गा.९६५) इति । **न च** श्रुतकेवलिना सूत्रत परस्पर तुल्यत्वमेव, षट्स्थानपतितत्व तु तेषामेकस्मादपि सूत्रादनन्ताद्यर्थगोचरमतिज्ञानविशेषापेक्षयैवेति श्रुतनिबद्धानामेव भावाना प्रज्ञापनीयत्वमङ्गीकार्यमित्यारेकणीयम्, तेषा मतिविशेषाणामपि श्रुते एवाऽन्तर्भूतत्वात् । तदुक्त **विशेषावश्यकभाष्ये** —> 'अक्खरलभेण समा, ऊणहिया हुति मइविसेसेहि । ते पुण मईविसेसे सुयनाणब्भतरे जाण ॥' <— (वि आ.भा.गा १४३) । ततश्च गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रित-

इत्थ. इति । यहाँ तक के विचारविमर्श से यह फलित हुआ कि तत् तत् अर्थस्वरूपपरिणाम से परिणत शब्द की वाच्यता के अवच्छेदक धर्म का होना ही अभिलाप्यत्व है, जो अनभिलाप्य भावो मे नही होने से उनमे अनभिलाप्यत्व है । यद्यपि अनभिलाप्य शब्द से अनभिलाप्य भावो का भी प्रतिपादन होता है, फिर भी उनमे प्रदर्शित अभिलाप्यत्व की आपत्ति नही है, क्योकि अनभिलाप्य भाव प्रातिस्विक विशेषरूप से किसी भी शब्द से प्रतिपाद्य नही हे । जैसे घट, पट, मठ आदि सभी द्रव्य होने पर भी घटत्व आदि प्रातिस्विक = विशेषरूप से घट, पट, मठ आदि शब्दो के द्वारा प्रतिपाद्य होने से वे अभिलाप्य भाव कहे जाते है । मगर अनभिलाप्य भाव का प्रातिस्विक रूप से निरूपण नही होने से उनमे घटादि की भाँति अभिलाप्यत्व की आपत्ति नही दी जा सकती । अतः वे अनभिलाप्य ही कहे जायेगे । तत् तत् अर्थ मे परिणत तत् तत् पद का प्रयोग करने वाला पुरुष ही तत् तत् अर्थ का प्रतिपादक कहा जाता हे । इसीलिए केवली भगवान भी श्रुत ज्ञान के विषय न होने वाले अर्थ के प्रतिपादक नही कहे जाते है, क्योकि अनभिलाप्य भावो मे सकेत नामुमकिन होने से शब्द से उनके प्रातिस्विक

प्रतिपादकत्वम् ।

इदमेवाऽभिप्रेत्याऽभ्यधायी 'केवलविण्णेयत्थे सुअणाणेण जिणो पयासेइ । सुअनाणकेवली वि हु तेणेवत्थे पयासेइ ॥ (बृ क भा ९६६)ति । श्रुतज्ञानेन = वाग्योगेनेत्यर्थ, अन्यथा

❁ जयलता ❁

सङ्केतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वमभिलाप्यत्वमित्यपि सङ्गतं एव । न चैतत्प्रकरणकाराभिप्रायविरुद्धमित्याशङ्कनीयम्; लघुस्याद्वादरहस्ये —> 'गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियन्त्रितसंकेतकपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्यैव तत्त्वात् । घटे हि घटपदस्यैव कोशादिना सङ्केतो नियम्यते न तु पटपदस्येति नातिप्रसङ्ग । अत एव श्रुतज्ञानाविषयीभूतानामर्थाना प्रातिस्विकरूपेण सङ्केत-ग्रहाऽसम्भवादनभिलाप्यत्वमि'ति <— (ल स्या रह पृ ११) निरूपितत्वात् । प्रातिस्विकरूपेणेति अनभिलाप्यत्वव्यतिरिक्त-धर्मेणेत्यर्थ । तेन नाऽनभिलाप्यानामभिलाप्यत्वप्रसङ्ग । न चैवमन्योन्याश्रय दुर्वार अभिलाप्यत्वलक्षणेऽभिलाप्यत्वाभावात्म-कानभिलाप्यत्वव्यतिरिक्तधर्मनिवेशादिति वक्तव्यम्, गोत्वाश्वत्वयोरिवाऽभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वयो स्वतन्त्रधर्मत्वात् । घट-तदभावयोरिवाभिलाप्यत्व-तदभावात्मकत्व तु तयोर्न युक्तम्, 'अनभिलाप्यत्व स्वतन्त्रधर्म अभिलाप्यत्व तु तदभावरूपमि'त्यत्र विनिगमकाभावात् । 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इतिनयानुरोधात् घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वप्राप्तौ तन्निरासार्थ नियन्त्रितपदनिवेश इति तु पूर्वमुक्तमेव । तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदबोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्याऽभिलाप्यत्वे तु 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इतिनयानु-रोधेन घटस्य पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्व तु लघुस्याद्वादरहस्ये व्यक्तमेव । न चेष्टापत्तिरिति वक्तव्यम्, तथा सत्यनभिलाप्यभावानामपि पटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्वापत्तेर्दुर्वारत्वादिति विभावनीय समाकलितागमरहस्ये ।

इदमेव = भगवता श्रुताऽविषयीभूतार्थाऽप्रतिपादकत्वमेव, अभिप्रेत्य = सम्प्रधार्य अभ्यधायीति । बृहत्कल्पभाष्ये इति शेष । केवल इत्यादि । श्रीक्षेमकीर्त्त्याचार्यसन्दृब्धव्याख्येयम् —> 'केवलेन विज्ञेया येऽर्थास्तान् यावत् श्रुतज्ञानेन जिन केवली प्रकाशयति । इह च केवलिन सम्बन्धी वाग्योग एव श्रोतृणा भावश्रुतकारणत्वात् कारणे कार्योपचारात् श्रुतज्ञान-मुच्यते, न पुनस्तस्य भगवत किमप्यपर केवलज्ञानव्यतिरिक्त श्रुतज्ञान विद्यते, 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे' (आ वि गा ५३९) इति वचनात् । श्रुतज्ञानकेवल्यपि तानेव = तावत तेनैव = श्रुतज्ञानेन अर्थान् = जीवादीन् प्रकाशयति । अत श्रुतकेवलि-केवलिनौ द्वावपि प्रज्ञापनया तुल्यौ इति स्थितम् <— (बृ क भा गा ९६६) इति । तदुक्त विशेषावश्यकभाष्ये-ऽपि —> 'केवलनाणेणत्थे नाउ जे तत्थ पन्नवणजोग्गे । ते भासइ तित्थयरो वइजोग सुय हवइ सेस ॥ नाऽन्नहा केवलेण भासइ न सुण्ण ज सुयाईओ । पण्णवणिज्जे भासइ नाणभिलप्पे सुयाईए ॥ तत्थवि जोग्गे भासइ नाजोग्गे गाहयाणु-वित्तीए । भणिए व जम्मि सेस सयमूहइ भणइ तम्मत्त ॥ वइजोगो त न सुय खओवसमिय सुय जओ न तओ । विन्नाण से खइय सद्दो उण दव्वसुयमित्त ॥ सेस छउमत्थाण विन्नाण सुयानुसारेण । त भावसुय भण्णइ खओवसमिओवओगाओ ॥ भण्णत वा न सुय सेस काल सुय सुणेताण । त चेव सुय भण्णइ कारणकज्जोवयारेण ॥ अहवा वइजोगसुय सेस सेस ति ज गुण-ब्भूय । भावसुयकारणाओ जप्पहाण तओ सेस ॥ वइजोगसुय तेसि ति केइ तेसि ति भासमाणाण । अहवा सुयकारणओ वइजोगसुय सुणेताण ॥ (वि आ भा गा ८२०/८३६) तदेव समर्थयति - श्रुतज्ञानेन = वाग्योगेनेत्यर्थ

स्वरूप को नही बताया जा सकता है । इसी अभिप्राय से विशेषावश्यकभाष्य एव बृहत्कल्पभाष्य मे भी कहा गया है कि —> 'केवल ज्ञान से ज्ञेय अर्थों को केवलज्ञानी श्रुत ज्ञान से बताते है तथा श्रुतकेवली भी श्रुत ज्ञान से ही उन अर्थों की प्ररूपणा करते ह' <— । यहाँ जो श्रुत ज्ञान शब्द का उल्लेख किया गया है, उसका अर्थ है वचनयोग । यदि ऐसा अर्थघटन न किया जाय तो केवलज्ञानी भगवत मे श्रुत ज्ञान नामुमकिन होने से यथाश्रुत अर्थ असगत बनता है । मति-श्रुत-अवधि-मन.पर्यव, इन छाद्मस्थिक ज्ञानो का नाश होने पर ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है । इसलिए केवलज्ञानी भगवान मे श्रुत ज्ञान का अभाव सिद्ध होने से 'केवलज्ञानी श्रुत ज्ञान से अर्थ का निरूपण करते है' इसका अर्थ यही हो सकता है कि 'केवलज्ञानी वचनयोग से अर्थ की प्ररूपणा करते है' । यहाँ यह तो नही कहा जा सकता कि —> 'केवलज्ञानी मे जैसे क्षायिक केवल ज्ञान होता है, ठीक वैसे ही क्षायिक श्रुत ज्ञान माना जा सकता है । क्षायिक होने की वजह उसका केवलज्ञान की भाँति नाश नही हो सकता और यह छाद्मस्थिक = छद्मावस्थाकालीन ज्ञान नहीं होने से उसका विलय होने पर ही केवल ज्ञान की उत्पत्ति मानने की भी कोई आवश्यकता नही है । इसलिए 'केवलज्ञानी भगवान श्रुतज्ञान = क्षायिक श्रुतज्ञान से अर्थ की प्ररूपणा करते है' ऐसा यथाश्रुत = जैसा कहा गया या सुना गया है वैसा अर्थ मानने मे कोई क्षति नही है'<—

केवली में क्षायिक श्रुतज्ञान नामुमकिन

भगवतः श्रुतज्ञानाऽसम्भवाद् यथाश्रुताऽर्थानुपपत्तेः, तत्र क्षायिकश्रुतज्ञानादिसत्त्वपक्षस्याऽनभ्युपगमात्, अन्यथोपयोगद्वयमात्राभिधानविरोधात् । तथा च भगवान् सर्वमर्थं संविदानोऽपि

जयलता

इत्यादिना । **अन्यथा** = श्रुतज्ञानपदस्य वाग्योगे लक्षणाया अनङ्गीकारे, **भगवतः** केवलज्ञानिनि 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे' (आ नि ५३९) इति वचनेन **श्रुतज्ञानाऽसम्भवात् यथाश्रुतार्थानुपपत्तेः** = श्रुतज्ञानपदशक्यार्थान्वियानुपपत्ते ।

ननु सन्त्येव मतिश्रुतादिज्ञानान्यपि सयोगिकेवल्यादौ, केवलमफलत्वात् सन्त्यपि न तदानी विवक्ष्यन्ते, यथा सूर्योदये नक्षत्रादीनि । उक्तञ्च, 'अन्ने आभिणिबोहियणाणाईणि वि जिणस्स विज्जति । अफलाणि सूरुदए जहेव नक्खत्तमाईणि ॥ (   ) इति । **न चार्थक्रियाकारित्वाभावात्तेषामसत्त्वमाशङ्कनीयम्**, मत्यादीना स्वस्वावरणक्षयोपशमभावेऽपि अभिव्यज्यमानाना नि शेपत स्वस्वावरणक्षये सद्भावस्य सुतरा न्याय्यत्वात्, चारित्रपरिणामदानादिलब्धिप्रभृतिवत् । अत एव श्रुतज्ञानपदलक्षणाया अन्याय्यत्वम्, तस्या जघन्यवृत्तित्वात् । उक्तञ्च 'आवरणदेसविगमे जाइ विज्जति मइसुयाईणि । आवरणसव्वविगमे, कह ताई न हुति जीवस्स ? ॥(   ) इति । इत्थमेव केवलज्ञानविज्ञेयार्थाना श्रुतज्ञानेन प्रकाशनमप्युपपद्यते, श्रुतकेवलज्ञानोभयनिरूपितविपयताश्रयाणा निरूपणोपपत्ते , श्रुतज्ञानस्यैव मुखरत्वात् । अत एव **विशेषावश्यकभाष्यवृत्तिकृता** 'मत्यवधिमन पर्यवकेवलज्ञानविषयाणामनभिलाप्यत्वप्रतिपादनमपि सङ्गच्छते, श्रुतविषयतानाक्रान्तामेव सता मत्यादिज्ञानविषयाणामनभिलाप्यत्वाऽभिप्रायादित्याशङ्काया प्रकरणकृदाह - **तत्र** = केवलज्ञानिनि, **क्षायिकश्रुतज्ञानादिसत्त्वपक्षस्य** सिद्धान्तपक्षे **अनभ्युपगमादिति** । यथा भास्करस्याऽतिसमुन्नतघनाघनश्यामघनपटलान्तरितस्यापान्तरालावस्थितकटाद्यावरणप्रविष्ट प्रकाशो घटादीन् प्रकाशयति तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्याऽपान्तरालमतिज्ञानावरणादिक्षयोपशमविवरविनिर्गत प्रकाशो जीवादीन् प्रकाशयति । यथा सकलघनपटलकटाद्यावरणापगमे तथाविध प्रकाशो भास्करस्याऽस्पष्टरूपो न भवति किन्तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमन पर्यवज्ञानावरणादिविलये न तथाविधो मतिज्ञानादिसञ्ज्ञित· केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति किन्तु सर्वात्मना यथावस्थित वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एव । तदुक्त 'कटविवरागयकिरणा मेहतरियस्स जह दिणेसस्स । ते कडमेहावगमे न हुति जह तह इमाइपि ॥ (   ) इति । **आवश्यकनिर्युक्तावपि** 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे' (आ नि ५३९) इति प्रोक्तम् । **न च** सामानाधिकरण्यावच्छिन्नस्वपूर्ववर्तितासम्बन्धेन केवलस्यैव स्वसमानाधिकरणगुणनाशकत्वे ज्ञानचतुष्टयवत् शमादीनामपि नाशप्रसङ्ग , स्वसमानाधिकरणज्ञानचतुष्कनाशत्वस्य केवलकार्यतावच्छेदकत्वे स्वसमानाधिकरणशमादिनाशत्वेन विनिगमनाविरहादिति **वाच्यम्**, केवलिनि क्षायोपशमिकाणा शमादीनामनभ्युपगमात् । **न च** केवलिनि क्षायिकशमादिवत् क्षायिकमत्यादिप्रसङ्ग इति **वाच्यम्**, केवलज्ञानावरणस्य मत्यादिहेतुत्वेन केवलिनि तदापादनाऽयोगात् । इदमेवाभिप्रेत्य **तत्त्वार्थटीकायामपि** --> 'केवलज्ञानव्यावृत्त-ज्ञानत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्न प्रति केवलज्ञानावरणस्यैव हेतुत्वात्, केवलज्ञानत्वाच्छिन्ने च लाघवाद् ज्ञानावरणक्षयत्वेनैव हेतुत्वात्, ज्ञानावरणपञ्चकक्षयादेक केवलज्ञानमेवोत्पद्यते न मत्यादीनि इति तै साहित्य न केवलज्ञानस्ये' <-- (त सू अ १।सू ११)ति । **ज्ञानविन्दौ** अपि मन्दप्रकाशे आवरणस्य हेतुत्व समर्थितम् । मत्यादीना क्षायोपशमिकत्वादपि न कृत्स्नज्ञानावरणविलये उत्पत्ति सङ्गतिमङ्गति ।

अत्रैव विवक्षबाधकमाह - **अन्यथा** = केवलज्ञानिनि क्षायिकश्रुतादिसत्त्वे, **उपयोगद्वयमात्राभिधानविरोधात्** = केवलज्ञानिनि केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयमेव केवल्यवस्थापेक्षया, एककाले त्वेक एव तदन्यतरलक्षण उपयोग इति सिद्धान्त-

तत्र इति । उपर्युक्त वक्तव्य अप्रामाणिक होने का कारण यह है कि सिद्धान्त = जैनागम के अनुसार 'केवलज्ञानी मे क्षायिक श्रुतज्ञान आदि होते है' इस मत का स्वीकार किया गया नही है । इसका कारण यह है कि सिद्धान्त मे 'जीव को एक समय मे एक ही उपयोग होता हे, न कि दो उपयोग' ऐसा निरूपण किया गया है । यदि केवलज्ञानी मे क्षायिक केवलज्ञान की भाँति क्षायिक श्रुत ज्ञान भी माना जाय तो एक समय मे दो उपयोग की आपत्ति आयेगी । 'केवली अवस्था के दौरान भिन्न समयावच्छेदेन केवल ज्ञान और केवल दर्शन दो ही उपयोग होते है' इस सिद्धान्त का भी केवली मे क्षायिक श्रुत ज्ञान मानने पर विरोध होगा, क्योकि तव केवली अवस्था के वाद क्षायिक श्रुतज्ञान, केवलज्ञान और केवलदर्शन, इन तीन उपयोग के स्वीकार की आपत्ति आयेगी । इसलिए 'केवलज्ञानी भगवत वचनयोगस्वरूप श्रुत ज्ञान से केवलज्ञानज्ञेय पदार्थ का निरूपण करते है' - यही अर्थघटन करना मुनासिव है । इस तरह वचनयोग से देशना देना का मतलव यही हुआ

१ दृश्यता विशेषावश्यकभाष्यस्य १३९ तमश्लोकस्य मलधारवृत्ति ।

वाग्योगस्वाभाव्यात् श्रुतज्ञानविषयीभूतमेवार्थं प्रतिपादयति नान्यदिति प्रतिपत्तव्यम् ।

दिगम्बरास्तु - परकीयघटादिज्ञानस्य स्वेष्टसाधनताज्ञानात्तत्र प्रयोक्तुरिच्छा, तत इष्टघटादिज्ञानसाधनतया घटादिपदे तत्साधनतया च कण्ठताल्वाद्यभिघातादाविच्छा, ततः प्रवृत्त्यादिक्रमेण घटादिपदप्रयोग, इत्येतादृशपरिपाट्या. केवलिनामभावान्न ते शब्दप्रयोक्तारः किन्तु

जयलता

वचनविरोधप्रसङ्गात् । एतेन 'जुगव दो णत्थि उवओगा' (वि आ भा) इत्यादिवचनमपि व्याख्यातम्, एकत्र एककालावच्छेदेनोपयोगद्वयनिषेधपरत्वात्तस्य । एतेन 'नोपयोगौ सह स्यातामित्यार्या ख्यापयन्ति ये । दर्शनज्ञानरूपौ तौ न तु ज्ञानात्मकाविति' ॥ (त श्लो वा अ १/सू ३०/श्लो ७) इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककारवचनमपि प्रत्युक्तम्, क्षायिकक्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनद्वयवत् क्षायिकक्षायोपशमिकज्ञानद्वयस्य परस्पर विरुद्धत्वात्, क्षायोपशमिकधर्मसन्यासलक्षणप्रथमसामर्थ्ययोगानन्तरमेव केवलज्ञानोत्पत्ते . केवलज्ञान-केवलदर्शन-सम्यग्दर्शन-चारित्र-लब्धिपञ्चकलक्षणनवविधक्षायिकभावानामेवाऽभ्युपगमेन मतिश्रुतज्ञानादीना क्षायिकत्वाऽसम्भवात् । तदुक्त चतुर्थकर्मग्रन्थे श्रीदेवेन्द्रसूरिभिः -> 'नाण केवलजुयल सम्म दाणाइलद्धि पण चरण' (च क ग्र श्लो ६५) इति दिक् ।

दिगम्बरास्त्विति । आहुरित्यनेनाऽस्यान्वय । परकीयघटादिज्ञानस्य स्वेष्टसाधनताज्ञानात् तत्र = परकीयघटादिज्ञाने प्रयोक्तुः 'परो घटादिक जानातु' इत्याकारिका इच्छा जायते । ततः = निरुक्तेच्छानन्तर इष्टघटादिज्ञानसाधनतया = स्वेष्टस्य परकीयघटादिज्ञानस्य साधनत्वेन च ज्ञाते कण्ठताल्वाद्यभिघातादौ इच्छा सञ्जायते । ततः = स्वेष्टपरकीयघटादिज्ञानसाधनीभूतकण्ठताल्वाद्यभिघातादिगोचरेच्छानन्तर, प्रवृत्त्यादिक्रमेण = कण्ठताल्वाद्यभिघातादौ प्रयत्न प्रवृत्ति चेष्टा इति रीत्या घटादिपदप्रयोगो भवति । न हि श्रोतृबोधोत्पादेच्छामृत एव प्रेक्षावान् वक्ति, तत्त्वहान्यापत्ते । नाप्युपेयेच्छा विनवोपायेच्छा प्रादुर्भवति, सर्वदा तत्प्रसक्ते । नाप्युपायाभिलाष विनैवेष्टसाधनगोचरप्रवृत्त्यादिक दृष्टचरमित्येवमन्वय-व्यतिरेकाभ्या शब्दप्रयोग प्रति परम्परयेच्छाया प्रयोजकत्व सिध्यति । तत किं ? इत्याशङ्कायामाह - एतादृशपरिपाट्याः = इष्टसाधनताज्ञानेच्छाप्रयत्नाद्यानुपूर्व्या वीतरागत्वेन केवलिना = केवलज्ञानिना अभावात् न ते = वीतरागा शब्दप्रयोक्तारः । न हि वीतरागाणा किमपीष्ट भवति, इष्टत्वस्येच्छाविषयत्वरूपत्वेन तेषा सरागत्वप्राप्ते । वीतरागाणा कुत इच्छा ? तस्या

कि केवलज्ञानी भगवत केवल ज्ञान से सभी विषयो को जानते हुए भी वचनयोग के स्वभाव की वजह श्रुत ज्ञान के विषयीभूत अर्थ का ही प्रतिपादन करते है, न कि श्रुतज्ञान के अविषयीभूत अर्थ का भी । जो विषय शब्द का अगोचर हो उसका शब्द से निरूपण या ज्ञान कैसे हो सकता है ? नयन के अगोचर परमाणु-पिशाच-काल आदि पदार्थो का ज्ञान क्या नयन से हो सकता है ? नहीं ही हो सकता । अतः केवली श्रुतज्ञानविषयीभूत अर्थ का ही निरूपण करते है - यह अवश्य अगीकर्तव्य ह ।

विस्रसापरिणाम से केवलिदेशना - दिगंबरमत

दिग इति । केवलज्ञानी की देशना वचनयोग से होती ह-यह श्वेताम्बर जन मनीषियो का मत है । मगर दिगम्बर जन विद्वानो का यह मत है कि केवली की देशना विस्रसापरिणाम से होती है । उनका अभिप्राय यह है कि वक्ता शब्द का प्रयोग अन्य = श्रोता को बोध कराने की इच्छा से करता है, जो बोध वक्ता का इष्टसाधन हो । जैसे 'चैत्र को घटज्ञान कराना मेरे इष्ट का साधन है' ऐसा ज्ञान देवदत्त को होने पर देवदत्त को 'चैत्र घटज्ञानवाला हो' ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है । बाद मे 'अपने इष्ट = इच्छाविषयीभूत चैत्रीय घटज्ञान का साधन घटपद है' ऐसा ज्ञान देवदत्त को होने पर घटशब्द के कारण कठतालु आदि के अभिघात = ध्वनिजनकसयोग आदि की इच्छा होती है । जब तक कठतालु आदि मे अभिघात नही उत्पन्न होता है तब तक घटशब्द की उत्पत्ति नही होती है और जब तक घटशब्द का उच्चारण न हो तब तक चैत्र को घटविषयक शाब्दबोध नही हो सकता, जो देवदत्त का इष्टसाधन है । अत. कठतालु आदि के अभिघात आदि की इच्छा देवदत्त को होती है । बाद मे कठतालुअभिघात आदि का प्रयत्न उत्पन्न होता है, जिससे देवदत्त कठतालु अभिघात आदि मे प्रवृत्ति करता है । बाद मे घटशब्द की उत्पत्ति होती है । इस क्रम से शब्द की उत्पत्ति होती है । श्रोता को घटादिविषयक ज्ञान कराना वक्ता को इष्ट न हो या वक्ता के इष्ट का साधन न हो, तब वक्ता घटादिशब्द का उच्चारण नही करता है, अन्यथा वह वचन उन्मत्तप्रलाप बन जायेगा । मतलब कि शब्द की उत्पत्ति के लिए परपरा से इच्छा कारण बनती है । इस

विस्रसात एव मूर्ध्नो निरित्वरा ध्वनयस्तत्तच्छब्दत्वेन परिणम्याऽर्थविशेषं बोधयन्ति । न चैवमुपदेशादि तस्य नियतकालीनं न स्यादिति वाच्यम्, वैस्रसिकस्यापि तस्य स्वभावतो नियतकाल एव भावाद्, घनगर्जितादिवत् । उक्तञ्च –> '१ठाणणिसेज्जविहारा, धम्मुवदेसो य नियदिणा तेसिं । अरहताणं काले मायाचारो व्व इत्थीण' ।। (प्र.सा १/४४) <– इत्याहु ।

❀ जयलता ❀

अभिष्वङ्गरूपत्वात् । तस्या विरहे कुत प्रयत्न । तदभावे च कुत प्रवृत्ति ? अतो न ते शब्द प्रयुञ्जत इति सिद्धम् । 'केवलज्ञानिना शब्दाऽप्रयोक्तृत्वे कथ तीर्थस्थापनादिक सम्भवेत् ? इत्याशङ्कायामाह - **किन्त्विति** । **विस्रसात एव** = विस्रसापरिणाममाश्रित्य, एवकारेण प्रायोगिकपरिणामव्यवच्छेद कृत , **मूर्ध्नः** = शिरस नि सरन्त **निरित्वराः** = सातत्यशालिन **ध्वनयः**, अनेन वर्णात्मकशब्दव्यवच्छेद कृत., **तत्तच्छब्दत्वेन परिणम्यार्थविशेप बोधयन्तीति** । ततश्च केवलज्ञानिन कण्ठताल्वाद्यभिघातादिद्वारा वर्णात्मकशब्द नोत्पादयति । न च वैस्रसिकध्वन्यात्मकशब्दाना वर्णात्मकशब्दत्वेन परिणतत्वस्याऽभ्युपगमे मृदङ्गादिध्वनीनामपि वर्णत्वेन परिणामापत्तेर्नैय कल्पना युक्तेति **वक्तव्यम्**, तीर्थंकरनामकर्मोदयेनैव ध्वनीना वर्णत्वेन परिणतत्वाऽङ्गीकारेणाऽनतिप्रसङ्गात् । **एतेन** ध्वनीना वर्णत्वेन परिणतत्वकल्पनाया अप्रामाणिकत्वमपि **प्रत्युक्तम्**, अन्यथा श्वेतपटस्यापि अर्धमागधीभाषात्मिकाया तीर्थकरदेशनाया तत्तच्छ्रोतृभाषात्वेन परिणामोऽपि नैव सङ्गच्छेत । **न चेति** । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय । **एव** = भगवद्ध्वनीना वैस्रसिकत्वेऽभ्युपगम्यमाने **उपदेशादि** = उपदेशस्थाननिपद्याविहारादिक **तस्य** = तीर्थकरस्य **नियतकालीन न स्यात्** कदाचिद्रात्रौ क्वचिद्दिवा द्वितीयादिप्रहरेऽपि उपदेशविहारादिक प्रसज्येतेति शङ्काशय । आशाम्बरास्तन्निराकुर्वन्ति - **वैस्रसिकस्य** = विस्रसापरिणामजन्यस्य **अपि तस्य उपदेशादेः स्वभावतः नियतकाल एव भावादिति** । तच्छिरसोऽहर्निश ध्वनीना नि सरणेऽपि तत्तच्छब्दत्वेन परिणामस्तु दिनप्रथमचरमपौरुष्योरेव भवति नियतिवशादिति न तीर्थकरदेशनाया नैयत्यव्याहतिरिति दिक्पटाभिप्राय । उक्तार्थे सवादमावेदयन्ति - **उक्तञ्चेति** । **प्रवचनसारे कुन्दकुन्दस्वामिनेति** शेष । **ठाणेत्यादि** । नियतिपदेन ज्ञानेच्छादिव्यवच्छेद कृत । **काल** इति नियतकाल इत्यर्थ । अत्र **तत्त्वप्रदीपिकाकारः** –> 'यथाहि महिलाना प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहार प्रवर्त्तते तथाहि केवलिना प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासन विहरण धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्त्तन्ते । अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भोधराकारपरिणताना पुद्गलाना गमनमवस्थान गर्जनमम्बुवर्षश्च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिना स्थानादयोऽबुद्धिपूर्विका एव दृश्यन्ते । अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिना क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति' <– (प्र सा १/४४ अ टी पृ ५१) इत्येव व्याख्यातवान् ।

क्रम से केवली शब्द को उत्पन्न नही कर सकते, क्योकि केवली को कोई इच्छा ही नही होती हे । इच्छा रागस्वरूप है ओर केवलज्ञानी वीतराग है । इस तरह जव केवलज्ञानी को इच्छा ही नही होती, तव स्वेष्टसाधनताज्ञान = अपनी इच्छा के विषयीभूत पदार्थ की साधनता का ज्ञान आदि केसे मुमकिन हो सकता है ? इसलिए केवलज्ञानी भगवत शब्द का प्रयोग नही करते हे, किन्तु विस्रसापरिणाम से केवलज्ञानी के मस्तक मे से सतत = निरित्वर ध्वनि निकलती है, जो तत् तत् घटादिशब्द मे परिणत हो कर घटादि तत् तत् अर्थ का शाब्दवोध श्रोता को कराती हैं । यहाँ यह शका हो कि –> 'यदि केवलज्ञानी के सिर से विस्रसापरिणाम द्वारा ध्वनि निकलते हे, तव तो केवलज्ञानी की देशना नियतकालीन नही होगी, मगर रात ओर दिन चलती रहेगी । मगर जैन आगम मे तो कहा गया है कि तीर्थंकर की देशना दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर मे ही होती है । यह कैसे सगत होगा ?' <– तो इसका समाधान यह हे कि वे ध्वनि विस्रसापरिणामजन्य = वैस्रसिक होने पर भी नियत काल मे ही उत्पन्न होती हे, न कि रात और दिन २४ घटो तक । यह ठीक उसी तरह सगत हो सकता है, जेसे आकाश मे वादल की गर्जना विस्रसापरिणाम से उत्पन्न होती है, फिर भी सभी ऋतु मे वादलगर्जना नही होती है, किन्तु वारिस के दिनो मे यानी वर्षाऋतु मे ही उत्पन्न होती है । विस्रसापरिणाम से जन्य पदार्थ भी नियतकालीन हो सकते हे । अतः तीर्थंकर का उपदेश दिन के प्रथम ओर चरम प्रहर (= दिन का चतुर्थ भाग) मे मुमकिन है । इस विपय मे प्रवचनसार ग्रन्थ मे दिगम्वराचार्य कुदकुद स्वामी ने कहा है कि 'अरिहत भगवान का वेठना, विहार करना, धर्मोपदेश देना इत्यादि नियति = स्वभाव से ही उचित काल मे होता है । जेसे स्त्री मे माया का आचार स्वभाव से होता है, न

१ स्थाननिपद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियत्या तेपा । अर्हता काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ।

तत्र, वर्णमात्र प्रत्येव पुरुषप्रयत्नस्य कारणत्वात् तं विना तदनुत्पत्तेः । न च रागविशिष्टवर्णं प्रत्येव तस्य हेतुता, अनन्तप्रवृत्तिकार्यतावच्छेदककोटौ रागविशिष्टत्वदानापेक्षया रागविशिष्टप्रवृत्ति प्रत्येवेच्छाया हेतुत्वकल्पने लाघवात् । न च तत्तन्मोहविशिष्टत्वा-

❋ जयलता ❋

निरुक्तदिगम्बरमतमपहस्तयितुमुपक्रमते - तत्रेति । वर्णमात्र प्रति = वर्णत्वावच्छिन्न प्रति, तेन नाऽनुपदवक्ष्यमाणैवकारपदेन सह पौनरुक्त्य एवकारेण रागविशिष्टवर्णत्वावच्छिन्न प्रतीत्यस्य व्यवच्छेद कृत । पुरुषप्रयत्नस्य = जीवयत्नस्य, तेन न ग्रव्यादिप्रयत्नजन्यशब्दे व्यतिरेकव्यभिचार । यद्वा पुरुषपद परिचायक, कारणतावच्छेदक तु प्रयत्नत्वमेव, लाघवात् । कारणत्वात् = अन्वयव्यतिरेकाभ्या कारणत्वसिद्धे , त = प्रयत्न विना तदनुत्पत्तेः = वर्णोत्पादाऽसम्भवात् । स्वकारणतावच्छेदकावच्छिन्नमृते कार्यस्य सत्त्वाऽभ्युपगमे नित्य सत्त्वप्रसङ्गात् । ननु रागविशिष्टशब्द प्रत्येव कृतेर्हेतुत्वमिति रागशून्यशब्दस्य प्रयत्नमृतेऽप्युत्पत्तौ दोषाभावादित्याशङ्का निराकरोति - न चेति । अत्र बाधकमावेदयति - अनन्तप्रवृत्तिकार्यतावच्छेदककोटौ = अनन्तप्रयत्ननिष्ठकारणतानिरूपिताया कार्यताया अवच्छेदकत्वशरीरे, रागविशिष्टत्वदानापेक्षया = रागवैशिष्ट्यस्य निवेशापेक्षया, रागविशिष्टप्रवृत्ति = रागविशिष्टप्रयत्न प्रति एव इच्छाया = रागस्य हेतुत्वकल्पने प्रयत्नकार्यतावच्छेदकदेहे लाघवादिति । इदमुक्त भवति - यदि प्रयत्नस्य कार्यता रागविशिष्टवर्ण इत्यङ्गीकारेण वीतरागवर्णस्य कण्ठताल्वाद्यभिघाताद्यनुकूलप्रयत्न विनैवोपपादनेऽपि स्थानासन-विहार-चङ्क्रमणानप्राण-रक्तभ्रमण-हस्तादिचालनादिक वीतरागस्य प्रयत्न विना नैवोत्पत्तुमर्हति, प्रयत्नस्य तत्कारणत्वात् । तदुत्पत्त्यनुरोधेन वीतरागे प्रयत्नस्वीकारे प्रयत्नादेव वर्णोत्पादसम्भवे किं रागविशिष्टवर्ण प्रति प्रयत्नस्य कारणताया कल्पनेन, गौरवात् । अथ प्रयत्नत्वावच्छिन्नस्येच्छाजन्यत्वाऽवधारणान्निरिच्छे भगवति न स्थानासनाद्यनुरोधात्प्रयत्न स्वीक्रियते । न च तर्हि प्रयत्न विना कथ तदुत्पत्ति ? अन्यत्र स्थानासनादिक प्रति प्रयत्नस्य कारणत्वावधारणेन व्यतिरेकव्यभिचारप्रसङ्गादिति वाच्यम्, वीतरागस्थानासनविहाराद्यनुरोधेन रागविशिष्टस्थानासनविहारादिक प्रत्येव यत्नस्य कारणत्वकल्पनादिति चेत् ? अहो ! दिक्पटस्याऽभिनिवेश । एव रागविशिष्टत्वस्य प्रयत्ननिष्ठकारणतानिरूपिताऽनन्तकार्यतायाअवच्छेदकशरीरे प्रवेशे मानाभावात्, व्यर्थगौरवाच्च, तदपेक्षया लाघवेन रागविशिष्टप्रयत्न प्रत्येवेच्छाया. कारणत्व कल्पयितुमर्हति । न चेवमपि तवेच्छानिरूपितकार्यतावच्छेदककोटौ रागविशिष्टत्वनिवेशगौरवमव्याहतमेवेति वाच्यम्, मयेच्छानिरूपिताया प्रयत्ननिष्ठाया एकस्या एव कार्यताया अवच्छेदकत्वशरीरे रागवैशिष्ट्यस्य निवेशात् त्वया तु प्रयत्ननिरूपिताया स्थानासनविहारचङ्क्रमणवर्णादिनिष्ठाया अनन्ताया कार्यताया अवच्छेदकत्वकुक्षौ रागविशिष्टत्वस्य प्रवेशात्तव मत एव स्पष्ट गौरवम् । इत्थञ्च प्रयत्नकार्यताया सङ्कोचे मानाभावेन प्रयत्नमृते वीतरागदेशनादिक नैव भवितुमर्हतीति स्थितम् ।

ननु तिष्ठासालक्षणमोहविशिष्टस्थितिक्रिया प्रति तिष्ठासालक्षणमोहस्य कारणत्व, जिगमिषाविशिष्टगमनक्रिया प्रति जिगमिषास्वरूपमोहस्य हेतुत्व, बुभोधयिषात्मकमोहविशिष्टशब्द प्रति बुभोधयिषालक्षणमोहस्य निमित्तत्वमित्येवमेवान्वयव्यतिरेकाभ्या कार्यकारणभावकल्पनमर्हति । ततश्च वीतमोहाना भगवता न शब्दप्रयोक्तृत्वमित्याशाम्बराशामपाकर्तुमुपक्रमते - न चेति । अस्य 'वाच्यमि'त्यनेनान्वय । 'तत्तन्मोहे'त्यादिक भावितमेव । प्रकरणकार समाधत्ते - तथापीति । बुभोधयिषा-जिगमिषा-तिष्ठासादितत्तन्मोहविशिष्टत्वावच्छिन्नवर्णविहारस्थानासनादिक प्रति बुभोधयिषा-जिगमिषा-तिष्ठासादितत्तन्मोहत्वेन कारणत्वा-

कि इच्छा से, ठीक वेसे ही' । अतः केवली शब्द का प्रयोग नही करते है - यह फलित होता है ।

❀ दिगम्बरमतनिराकरण ❀

तत्र इति । श्वेताम्बरशिरोमणि प्रकरणकार श्रीमद्जी उपर्युक्त दिगम्बर मान्यता के खिलाफ यह कहते हे कि —> 'केवली भगवत के मस्तक मे से निरित्वर ध्वनियाँ निकलती है ' इत्यादि दिगम्बर आम्नाय अप्रामाणिक है, क्योकि जीवप्रयत्न वर्णमात्र के प्रति ही कारण होता हे, न कि रागविशिष्ट वर्ण के प्रति । जीव प्रयत्न करता है, तव वर्ण = शब्द उत्पन्न होते हे, आर वर्णानुकूल प्रयत्न के विरह मे शब्द उत्पन्न नही होते हे । इस तरह अन्वय-व्यतिरेक से शब्दमात्र के प्रति ही जीव का प्रयत्न कारण होता है, न कि रागविशिष्ट वर्ण के प्रति ही, क्योकि जीवप्रयत्न को रागविशिष्ट वर्ण का कारण मानने पर प्रवृत्ति का कार्यतावच्छेदक धर्म रागविशिष्टशब्दत्व वनने की वजह अनत प्रवृत्ति की कार्यता की अवच्छेदककुक्षि मे रागविशिष्टत्व का अधिक प्रवेश होता हे । इसकी अपेक्षा यही मुनासिव है कि इच्छा को ही रागविशिष्ट प्रवृत्ति के प्रति प्रयत्न के द्वारा कारण माना जाय, क्योकि इस पक्ष मे प्रवृत्ति की कार्यतावच्छेदककुक्षि मे लाघव होता है । यहाँ यह कथन हो

वच्छिन्नं प्रति तत्तन्मोहत्वेन हेतुताऽस्त्विति वाच्यम्, तथापि तेषां प्रयत्नसत्त्वे शब्दप्रयोगस्य निरपवादत्वात् । भगवतां मोहाभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपाया इच्छाया असत्त्वेऽपि तदनभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपानुजिघृक्षादिसत्त्वमविरुद्धम् । अत एव 'तो भासइ सव्वण्णू भविय-

जयलता

भ्युपगमेऽपीत्यर्थः । तेषां = वीतरागाणां भगवतां प्रयत्नसत्त्वे शब्दप्रयोगस्य = मोहविशिष्टत्वशून्यशब्दप्रयोगस्य निरपवादत्वात् । न हि स्वकार्यतावच्छेदकधर्मानाक्रान्तस्य स्वसूते उत्पादे व्यतिरेकव्यभिचारमामनन्ति विद्वांसः । मोहकार्यतावच्छेदकशून्यत्वेन प्रयत्नादिसामग्र्या भगवतां शाब्दप्रयोक्तृत्वे बाधकाभावात्, सामग्रीसत्त्वे कार्यसत्त्वस्य न्याय्यत्वात् । ततश्च मोहविशिष्टत्वविनिर्मुक्तशब्दप्रयोगो भगवतामनपाय एव । न च प्रयत्नत्वावच्छिन्नं प्रतीच्छायाः कारणत्वावधारणाद्भगवतां वीतरागत्वव्याहतिः, इच्छाया रागरूपत्वादिति वाच्यम्, अनुग्रहेच्छाया वीतरागे सत्त्वे बाधकाभावात्, अभिष्वङ्गलक्षणेच्छाया एव रागात्मकत्वात् । तदेव भावयति - **भगवतां वीतरागाणां मोहाभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपाया इच्छाया असत्त्वेऽपि तदनभिव्यक्तचैतन्यविशेषरूपानुजिघृक्षादिसत्त्वं** = मोहानभिव्यक्तायाश्चैतन्यविशेषात्मिकाया अनुग्रहेच्छाया वृत्तित्वं वीतरागत्वेन सह **अविरुद्धम्** । अत्रानुजिघृक्षापदप्रतिपाद्यो मोहानभिव्यक्तचैतन्यविशेषो 'निरुपाधिकहितपरिणति-ऽकल्याणाशयो'चितपरिणामाऽ'नुग्रहानुकूलतादिरूपो बोध्यः । तदुक्तं **स्याद्वादकल्पलतायां** –> 'देशनाबीजं भगवतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छा न रागः, सामायिकचिद्विवर्तरूपत्वात्' <– (स्या.क.ल.स्त.१०/१८) इति । **अत एवे**ति अनुजिघृक्षाया वीतरागत्वाऽविरुद्धत्वादेवेत्यर्थः । आवश्यकनिर्युक्तिसंवादमाह- **'तो'** इति । 'तव-नियम-नाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी' इति गाथापूर्वार्द्धं । स्पष्टार्था । यदि सर्वज्ञो न शब्दप्रयोक्ता तदा 'भासइ' इति पदं **नैव स्वरसतः** = लक्षणां विना सङ्गच्छते । यदि वीतरागेऽनुजिघृक्षा नाऽभ्युपेयते तदा 'भवियजणविबोहणट्ठाए' इत्यपि नैव **स्वरसतः सङ्गच्छते** इति भावः । **न च एवं** = अनुजिघृक्षाया वीतरागत्वाऽविरुद्धत्वेन केवलिनि तस्याः स्वीकारे, **मोक्षे** = सकलकर्मक्षयावस्थाया अपि देशनाद्वारा **अनुजिघृक्षापत्तिः** इति वाच्यम्, **जिननामकर्मोदयादिसाचिव्यात् एव तत्प्रवृत्तेः** = केवलिनां देशनादिप्रवृत्तेः स्वीकारादिति । एतेन प्रकृष्टौदासीन्यभावेन वीतरागस्य देशनाप्रवृत्तिरयुक्तेति निरस्तम्, औदासीन्येनैव प्रवृत्तेश्च । न हि भगवतः तिर्यङ्नरामरेषु देशनाया विशेषः । तथाप्रवृत्तिरप्येकान्तौदासीन्यबाधिनीति चेत् ? न, तस्याः तीर्थकरनामकर्मनिर्जरणहेतुत्वात् । तदुक्तं भगवता श्रीभद्रबाहुस्वामिना 'तं च कहं वेइज्जइ ? अगिलाए धम्मदेसणादिहिं' (आ.नि.७४३) इति । न च तत्कर्माभावे तत्क्षयायोपायप्रवृत्तेः कृतकृत्यत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, एकान्तेन कृतकृत्यत्वाऽनभ्युपगमात् । तदुक्तं **विशेषावश्यके** –> 'जं गंतूण कयत्थो जेणोदिन्नं जिणिंदनामं से । तदवज्झफलं तस्स य खवणोवाओऽयमेव जओ' ॥ <– (वि.आ.भा.११०३) इति । न चान्यनिमित्ताऽपि प्रकृष्टौदासीन्यबाधिनी प्रवृत्तिस्तदवस्थैवेति वाच्यम्, स्थितिप्रवृत्त्या व्यभिचारात् । साऽप्रवृत्तस्यापि स्वरसत एवेति चेत् ? तथाविधकर्मयुक्तस्य देशनाप्रवृत्तिरप्येवंविधेत्यदोषः । तथाप्यतीर्थकरवीतरागदेशनाप्रवृत्तिरयुक्तेति चेत् ? न, अनभ्युपगमात् । न हि सामान्यकेवलिनः तथा-देशनायां प्रवर्तन्ते । न चोपादाननिबन्धाऽभावात्कथं भगवद्वक्तृत्वमिति वाच्यम्, भाषाद्रव्यात्मप्रयत्नयोस्तदुपादानत्वात् । अत एव क्वचित् प्रक्रान्तवस्तुनि रागाद्यभावेऽपि सतां साक्षादेव वक्तृत्वोपलब्धेः, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । न च विवक्षामन्तरेण

कि –> 'तत् तत् रागादिस्वरूप मोह से विशिष्ट के प्रति तत् तत् रागादिस्वरूप मोह को ही कारण मानना अच्छा है, न कि इच्छा को रागाविशिष्ट प्रवृत्ति के प्रति कारण मानना' <– तो भी केवलज्ञानी भगवतों का प्रयत्न, जो शब्दानुकूल प्रवृत्ति का जनक हो, होने पर शब्द की उत्पत्ति होने मे कोई दोष नही है, क्योंकि वह शब्द मोहविशिष्ट नही होने की वजह मोहहेतुक नही होने से मोह के विना भी उत्पन्न हो सकता है । यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि –> 'शब्दानुकूल प्रवृत्ति का जनक प्रयत्न भी इच्छाजन्य होने से निरीह वीतरागी केवलज्ञानी भगवंत मे तथाविध प्रयत्न भी नामुमकिन होगा, क्योंकि रागात्मक इच्छा का केवली मे अभाव होता है' <– । यह वक्तव्य अनुचित होने का कारण यह है कि केवलज्ञानी वीतराग भगवतो मे मोह से अभिव्यक्त चैतन्यविशेषस्वरूप इच्छा, जो कि वीतरागता की विरोधी है, नहीं होने पर भी मोह से प्रकट नही होने वाली अन्य जीवों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा तो हो सकती है, क्योंकि परोपकारविषयक इच्छा के साथ वीतरागता का विरोध नही है । अतएव संपूर्ण श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामीजी ने आवश्यकनिर्युक्ति मे जो कहा है कि - 'सर्वज्ञ भगवान भव्य जीवो को प्रतिबोध करने के लिए तीर्थंकर नामकर्म के उदय से बोलते है = देशना देते है' वह भी स्वारसिकतया उपपन्न हो सकता है, अन्यथा लक्षणा का आश्रय करना पड़ेगा । भव्यजीवों के प्रतिबोधार्थ बोलने का मतलब ही यह हुआ कि प्रतिबोधस्वरूप भाव उपकार = अनुग्रह की इच्छा से केवलज्ञानी भगवंत शब्द का प्रयोग करते

जणविबोहणट्ठाए' इत्याद्यार्षं स्वरसत सङ्गच्छते । न चैवं मोक्षेऽप्यनुजिघृक्षापत्तिः, जिननामकर्मोदयादिसाचिव्यादेव तत्प्रवृत्तेरित्यप्याहु. । इत्यधिकं मत्कृताध्यात्ममतपरीक्षायाम् ।

जयलता

कथ वक्तृत्वमिति वाच्यम्, तामन्तरेणाऽपि वक्तृत्वस्य सुप्तमत्तादिषूपलब्धे । तत्राऽपि साऽस्तीति चेत् ? न, तथाप्रतीत्यभावात्, प्रबुद्धादावुक्तस्मरणानुपलब्धे , तथापि तत्कल्पनेऽतिप्रसङ्गात्, कातरविवक्षाया क्वचिच्छूरशब्दप्रयोगदर्शनात् । तत्राप्यन्तराले शूरविवक्षास्तीति चेत् ? न, प्रमाणाभावात् । तच्छब्दप्रयोगान्यथानुपपत्ते प्रमाणत्वमिति चेत् ? न, सन्देहाऽनिवृत्ते , अविवक्षापूर्वकत्वेऽपि विरोधाऽसिद्धे । तदभावे त्वहेतुकत्वेन सदा तच्छब्दप्रयोगापत्तेर्विरोधसिद्धिरिति चेत् ? न, अहेतुकत्वाऽसिद्धे , तथाविधभाषाद्रव्यात्मप्रयत्नहेतुकत्वात् । तेषाञ्च तथाविधत्वस्याऽदृष्टादिनिबन्धनत्वात्, अन्यथा विवक्षाया अपि सदा भावेनोक्तदोषानतिवृत्ते , अमनस्कत्वेन च भगवत इच्छानुपपत्ति,, तथावाग्योगस्य च चेष्टामात्रत्वात्, इच्छाया सद्भावेऽपि शुद्धेच्छाया रागाऽयोगात्, तथालोकप्रतीतेरित्याद्युक्त **श्रीहरिभद्रसूरिचक्रवर्तिना सर्वज्ञसिद्धौ** ।

वाचस्पतिमिश्रेणापि न्यायकणिकाया –> 'न हीच्छामात्र राग किन्तु चित्तमलमात्मनो दर्शनावरण अभूतगुणाभिनन्दन रागमाचक्षते' <– (न्या क पृ ८०) इत्यभ्यधायि ।

एतेन –> 'गेण्हदि णेव ण मुचदि ण पर परिणमदि केवली भगव । पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस' ॥ <– (प्र सा १/३२) इति **प्रवचनसारवचनमपि परास्तम्**, सत्यपि ज्ञाने आत्मप्रदेशै. कर्मादानवद् योगप्रदेशैर्बहिरर्थादानस्याऽप्युपपत्ते । ध्वनिरूपा पारमेश्वरी वाक् तु न युक्ता कल्पयितुम्, ध्वनिरूपायाम्तस्या· प्रतिसर्वज्ञ श्रोतृभाषापरिणामवदक्षरपरिणामाऽयोगात्, अव्यक्तैकरूपतया सत्याऽसत्यामृषादलद्वयनिष्पादकवाग्योगद्रव्यवैयर्थ्यात्, 'अद्धमागहीए भासाए भासति' ( ) इति सूत्रविरोधात्, नियत्यैव प्रयत्न विना वचनोपपत्तौ च तयैव तद्विनाऽपि परानुग्रहोपपत्ते । ध्वनेरपि पौरुषेयतयाऽक्षररूपतया तुल्ययोगक्षेमत्वात्, अन्यथा बाह्यमतप्रवेशाच्चे'त्यादिक **'स्याद्वादकल्पलतातो**ऽवसेयम् ।

तत्त्वार्थवृत्तावपि –> 'इच्छा विना कथमुपदेशादौ प्रवृत्तिस्तस्य ? इति तीर्थान्तरीयाशङ्का न श्रेयसी, जीवनयोनियत्नादिव्यावृत्तस्येव भगवद्यत्नव्यावृत्तस्यैव वैजात्यस्य यत्नगतस्येच्छाजन्यतावच्छेदकत्वात्, एव हि जन्यत्वविशेषणगौरवमपि परिहृत भवति । पुद्गलग्रहणनिसर्गादिप्रवृत्तौ मोहोदयस्यैव हेतुत्वमिति क्षीणमोहस्योपदेशादिक नैयतिकमेवेति नग्नाटवचन तु न श्रद्धेयम्, मोहोदयस्याऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामारम्भादिप्रवृत्तिविशेष एव हेतुत्वात्, अन्यथा गुरुविनयस्वाध्यायाध्ययनदानादिप्रवृत्तीनामपि मोहजन्यत्वापत्ते , नियतानियते सर्वत्र कार्ये व्यवस्थिते भगवच्चेष्टाया केवलनियतत्ववचनस्याऽनागमिकत्वाच्च । इच्छा विना न प्रवृत्ति , प्रवृत्ति विना च न चेष्टेति निश्चेष्टतैव तस्य प्रसज्येत, विलक्षणचेष्टायामेव प्रवृत्तिर्हेतुरित्यभ्युपगच्छश्च विलक्षणकृतावेवेच्छा हेतुरिति निरीहप्रवृत्ति भगवत कुतो नाऽभ्युपगच्छेदिति' <– (त यशो टी कारिका-१०) प्रतिपादितम् । **एतेन** भगवत शब्दप्रयोक्तृत्वे कर्मबन्धप्रसङ्ग इत्यपि **प्रत्युक्तम्**, केवल प्रयत्नस्य कर्मबन्धाऽजनकत्वात्, कर्मबन्धकारणीभूतरागादिपरिणामस्य विलयेन तदापादनस्य निर्युक्तिकत्वात् । तदुक्त **प्रवचनसारे** –> परिणामादो बधो परिणामो रागदोसमोहजुदो' <– (प्र सा २/८८) इति ।

मत्कृताध्यात्मपरीक्षायामिति । तत्र 'एय सहाववाणी कह जुत्ता जेण तेसि वयजोगो । हेऊ दव्वसुअस्सा पओअण कम्मखवणा य' ॥ (अ म प श्लो ९९) इति गाथाया विस्तरेणाऽनक्षरभगवद्वाणीनिराकरण कृत ततोऽवसेयम् ।

है । अत मोहव्यावृत्त अनुग्रहविषयक इच्छा एव शब्दप्रयोक्तृत्व सर्वज्ञ भगवत मे मानने चाहिए । यहाँ यह नही कहना चाहिए कि –> 'यदि केवलज्ञानी भगवतो मे भव्य जीवो के प्रतिबोध की अनुजिघृक्षा = अनुग्रहइच्छा जैसे १३वें गुणस्थानक मे होती है, ठीक वैसे ही मोक्ष मे भी वह जरूर होनी चाहिए । तब तो भगवत जैसे अघाति कर्म की उपस्थिति मे भव्य जीवो के प्रतिबोधार्थ देशना देते है, ठीक वैसे ही मोक्ष मे जाने के बाद भी प्रतिदिन धर्मदेशना करते रहेगे, क्योकि तब भी भव्य जीवो के अनुग्रह की इच्छा रहती है एव अप्रतिबोधित भव्य जीव भी इस लोक मे सदा होते ही है <– । यह कथन अयुक्त होने का कारण यह है कि केवली भगवन्त मोक्षावस्था के दौरान भी भव्य जीवो के अनुग्रह की इच्छा तो होती ही है, मगर तदर्थ धर्मदेशनारूप प्रवृत्ति के लिए तीर्थंकर नामकर्म का उदय आदि भी सहकारी कारण है । उसके सहकार से ही तीर्थंकर भगवत धर्मदेशनास्वरूप प्रवृत्ति करते है । मोक्षावस्था मे कर्ममात्र का अभाव होने से तीर्थंकरनाम कर्म का उदय ही नही होता है, तब मोक्षदशा मे धर्मदेशना का आपादन कैसे किया जा सकता है ? केवल एक कारण

१ दृश्यता स्याद्वादकल्पलताया द्वादशस्तवकस्य ६४ तमश्लोकस्य १८ तमश्लोकस्य च व्याख्या ।

एवञ्च नित्याऽनित्यत्वादिधर्माणा वस्तुतो विरोधाऽभावेऽपि यदि कथञ्चिद्विरोध. परेणाऽभ्युपेयते, अभ्युपेयता तर्हि बाढ, तथापि तेषामेकत्र समावेशे न किञ्चिद्बाधकं पश्यामः । कथञ्चिद्विरुद्धत्वेनाऽभ्युपेतानामपि नीलपीतादीनामेकत्र समावेशस्य दृष्टत्वादित्याहुः 'विरुद्धे'ति । मेचकवस्तुषु = मिश्रवस्तुषु विरुद्धवर्णाना नीलपीतादीनां योग = एकत्र समावेशो हि = यतो दृष्ट = सकलजनानुभवसिद्ध । प्रतियन्ति हि सर्वेऽपि लोकाः चित्रमपि घट

❀ जयलता ❀

एतावता 'न हि सर्वज्ञस्य शब्दोच्चारणे रसनाव्यापारोऽस्ति, तीर्थकरनामकर्मोदयोपजनितत्वादि' (त श्लो वा २/१८)ति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककृद्वचनमपि प्रतिक्षिप्त मन्तव्य, अदृष्टस्याऽपि दृष्टकारणातिक्रमेण कार्योत्पादकत्वाऽसम्भवात्किन्तु दृष्टकारणसम्पादनद्वारैव, अन्यथा एककारणमात्रपरिशेषापत्तेरिति दिक् ।

प्रकरणकारः प्रक्रान्तवीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशसप्तमकारिकोत्तरार्धप्रस्तावनार्थमुपक्रमते -> एवञ्चेति । यदि **कथंञ्चिद्विरोधः** = एकत्रैकावच्छेदेनाऽनवस्थान **परेण** = नैयायिकादिना **अभ्युपगम्यते** । अत्र स्वसम्मतिमाह - **अभ्युपेयता तर्हि बाढ** । तर्हि कथ तेषामेकत्र समावेशसिद्धि ? इत्याशङ्काया प्राह **तथापि** = कथञ्चिद्विरुद्धत्वेऽपि, **तेषा** = नित्याऽनित्यत्वादिधर्मयुगलाना एकत्र धर्मिणि **समावेशे न किञ्चिद्बाधक पश्यामः**, शाखामूलावच्छेदेनैकत्रैव घटादौ धर्मिणि नित्यत्वाऽनित्यत्वयो समावेशसम्भवात्, अन्यथा सर्वथा विरुद्धत्व स्यात् ।

ननु सयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वेन सयोगतदभावयोरेकत्र समावेशसम्भवेऽपि नित्यत्वस्याऽतथात्वान्न नित्यत्वतदभावयोरेकत्राऽवच्छेदकभेदेन समावेश सम्भवेदित्याशङ्काया परमतप्रसिद्धोदाहरणान्तरमाह- **कथञ्चिद्विरुद्धत्वेन** प्रतिवादिना **अभ्युपेतानामपि नीलपीतादीना** रूपाणा एकत्र धर्मिणि **समावेशस्य दृष्टत्वादित्याहुः श्रीहेमचन्द्रसूरय** इति शेष । **'विरुद्धे'**ति । शेष सुगमम् ।

ननु चित्रघटेऽवयविनि न नीलपीतादिरूपाणि सन्ति किन्त्वेकमेव चित्र रूपम्, 'चित्रोऽय घट' इत्यबाधितप्रतीते । अत एव तत्र नीलपीतादिनानावर्णप्रतीतेर्विषयो नावयविलक्षणघटसमवेतवर्ण किन्तु तदवयवसमवेतनीलपीतादिवर्ण एव । **न चैकत्रैव घटे नीलपीतादीना समावेशे कि बाधकमिति वाच्यम्**, तेषा व्याप्यवृत्तित्वोच्छेदापत्तेरेव बाधकत्वमिति गृहाण । **एतेन** 'घटोऽयमग्रावच्छेदेन नील पृष्ठावच्छेदेन पीत' इति प्रतीतेरेकत्र घट एव नीलादिवृत्तित्वमित्यपि **परास्तम्** । **न च तर्हि घटे** नीलपीतादिप्रतीतेर्भ्रमत्व स्यादिति वाच्यम्, अभिमतत्वात्, घटावयवसमवेतानामेव नीलपीतादीना वर्णाना स्वसमवायिसमवेतत्व-

---

से कार्य की निष्पत्ति नही होती है, किन्तु सामग्री से ही । अतः मोक्षावस्था मे अनुग्रह इच्छा होने पर भी जिननामकर्मोदयस्वरूप कारणान्तर के अभाव से धर्मदेशना की आपत्ति नही है । इस विषय का अधिक निरूपण प्रकरणकार श्रीमद्जी ने अध्यात्ममतपरीक्षा मे किया है । विशेष जिज्ञासु उस ग्रन्थरत्न का अवलोकन कर के अपने ज्ञान की प्यास का शमन कर सकते है ।

▣ एक धर्मी में अनेकवर्णसमावेश प्रामाणिक ▣

एवञ्च इति । 'अभिलाप्यत्व और अनभिलाप्यत्व का एक धर्मी मे विरोध नही है' इस विषय के निरूपण के प्रसग से 'केवली भगवत शब्द का प्रयोग करते है' इस विषय का निरूपण करके प्रकरणकार श्रीमद्जी मूल विषय का निरूपण करते है कि प्रदर्शित रीति के अनुसार एक धर्मी मे नित्यत्व-अनित्यत्व, सामान्य-विशेषादि धर्मयुगल का वस्तुतः विरोध नही है, फिर भी यदि प्रतिवादी नैयायिक आदि उन धर्मो मे कथचित् विरोध का अगीकार करे तो भले वैसा स्वीकार करे । हमारी इसमे अनुमति है तथापि एक धर्मी मे नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मो का समावेश होने मे कोई बाधक नही है, क्योकि कथचित् विरोधी धर्मो का एक धर्मी मे समावेश हो सकता है । जिन पदार्थो का प्रकारान्तर से या अवच्छेदकान्तर से विरोध न हो वे ही कथचित् विरोधी कहे जाते है । इस बात को दृष्टान्त से समझना हो तो कहा जा सकता है कि नील, पीत, शुक्ल आदि रूप परस्पर कथचित् विरोधी है फिर भी चित्रपट, विचित्रघट, मोर के पख आदि एक धर्मी मे उनका समावेश होता है । इसी बात को सूचित करने के लिए मूलकार श्रीकलिकालसर्वज्ञ वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की, जिसके विवरणरूप मे महोपाध्यायजी महाराज ने इस स्याद्वादरहस्य नामक प्रकरण की रचना की है, ७वीं कारिका के उत्तरार्ध मे कहा है कि विरुद्ध = कथचित् विरोधी वर्णो = रूपो का मेचकवस्तु = मिश्रवस्तु मयूरपख आदि मे योग = एकधर्मिवृत्तिता प्रत्यक्षसिद्ध है । शबल घट को भी लोक 'यह इस भाग मे पीतवर्णवाला है, उस भाग मे रक्तरूपवाला है, ऊपर के भाग मे श्यामवर्णवाला है' इत्यादि स्वरूप से जानते है । इसलिए यहाँ यह नही कहा जा सकता कि -> 'चित्र घट मे केवल एक अतिरिक्त

नीलत्वपीतत्वादिना । न च तत्राऽवयवनीलादिमत्त्वैव परम्परया प्रतीतेर्विषयः, एवं सति योग्य-रूपादीनां त्रुटिमात्रगतत्वापत्तेः । चित्रत्वव्यवहारस्तु नीलविशिष्टपीतादिना एकवृत्तिनीलपीतो-

जयलता

लक्षणपरम्परासम्बन्धेन घटे प्रतीयमानत्वादित्याशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते - न चेति । तत्र = चित्रघटे अवयवनीलादिमत्ता = घटावयवसमवेतनीलादि एव परम्परया = स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन प्रतीतेः विषय इति वाच्यमिति गम्यते । तदयुक्तत्वमेव समर्थयति- एवं सतीति । अवयवसमवेतनीलपीतादीनामेवावयविनि भानाऽभ्युपगमे सति । योग्यरूपादीनामिति । अनुद्भूताभि-भूतरूपादिव्यवच्छेदार्थं 'योग्ये'ति । त्रुटिमात्रगतत्वापत्तेः = त्रसरेणुमात्रसमवेतत्वस्वीकारप्रसङ्गात् । चित्रकपालारब्धघटे प्रती-यमानानां नीलपीतादिवर्णानां कपालिकासमवेतत्वं चित्रकपालिकावत्कपालारब्धघटे प्रतीयमानानां नीलपीतादिरूपाणां प्रकपा-लिकासमवेतत्वमित्येवं यावत्त्रसरेणुसमवेतत्वप्रसङ्गात् । यद्वा घट इव कपालस्याऽप्यवयवित्वात्तत्र प्रतीयमानानां रूपादीनां कपालिकासमवेतत्वं, तस्या अपि सावयवत्वात्प्रकपालिकासमवेतत्वमित्येवं यावत्त्रसरेणुसमवेतत्वाऽभ्युपगमापत्तेः । न चैवं पर-माणुगतत्वमेवाऽस्त्विति वाच्यम्, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तद्रूपादेरेव भानाऽसम्भवान्न घटेऽपि परम्परया भानं स्यादतः त्रुटिगत-त्वापादनमत्र कृतमित्यादि भावनीयम् ।

ननु यदि चित्रघटे नातिरिक्तं चित्राख्यं रूपं किन्तु नीलपीतादिरूपाणि तर्हि 'घटो नीलो रक्तः पीतः' इत्यादिप्रतीतिर्व्यव-हारश्च स्याताम् न तु 'चित्रोऽयं घटः' इति प्रतीतिव्यवहारौ । तदनुपपत्तिः स्याद्वादिसाम्राज्ये कलङ्कमित्याशङ्कायामाह- चित्रत्व-व्यवहारस्त्विति । इदञ्चोपलक्षणं चित्रत्वप्रकारकप्रतीतेः । स्वसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन नीलविशिष्टपीतादिना एकवृत्तिनील-

चित्र रूप ही है, न कि नील, पीत, श्याम आदि अनेक रूप' - अन्यथा उपर्युक्त अतिप्रसिद्ध स्वाभाविक लोकानुभव का अपलाप करने का दोष आयेगा । यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि —> "शबल (रंगबिरंगी = Colouring) घट में केवल एक चित्र रूप ही होता है, फिर भी लोगों को जो उपदर्शित प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति तो उस घट के भिन्न भिन्न अवयव के नील, पीत, श्याम आदि अनेक रूप का परंपरा सम्बन्ध यानी स्वाश्रयसमवेतत्वसंसर्ग से घट में भान मानने से भी हो सकती है । मगर एक ही घट में समवाय सम्बन्ध = साक्षात्संबंध से नील, पीत, श्याम आदि विविध वर्ण का भान नहीं होता है । जैसे जपाकुसुम आदि उपाधि के रक्त रूप का परम्परासम्बन्ध से स्फटिक में ज्ञान होता है ठीक वैसे ही घटावयवगत विविध वर्ण का परम्परासंसर्ग से घट में भान होता है" <— ।

अवयवगत विविधवर्ण का अवयवी में भान अप्रामाणिक - स्याद्वादी

न च स इति । यह कथन अयुक्त होने का कारण यह है कि - 'अवयवगत विविध वर्ण का परम्परा संबंध से चित्र घट में भान मानने पर तो उसी चित्र घट के कपाल में विविध वर्णों का जो भान होता है उसे भी भिन्न भिन्न कपालिका में रहने वाले अनेक रूप को परम्परा सम्बन्ध से कपाल में विषय करने वाला मानना होगा, क्योंकि आपके मतानुसार तो कपालात्मक एक धर्मी में एक चित्र वर्ण ही रह सकता है, न कि अनेक नील, पीत आदि वर्ण । एवं जिस कपालिका में अनेक वर्ण का भान होता है, उस ज्ञान को भी भिन्न भिन्न प्रकपालिका में समवेत अनेक रूप को परम्परा संसर्ग से कपालिका में विषय बनाने वाला मानना होगा । इस तरह प्रत्यक्ष के योग्य नील, पीत आदि रूप को त्रसरेणु में ही समवेत मानना होगा । मतलब कि एक अतिरिक्त चित्र रूप वाले घट में परम्परासम्बन्ध से विविधत्रसरेणुसमवेत विविध वर्ण का ही परम्परा संबंध से भान मानना होगा, जिसके फल में 'प्रत्यक्षयोग्य नील, पीत, श्याम आदि रूप केवल त्रसरेणु में ही रहने वाले है' इस बात को मान्य करना होगा, जो प्रामाणिक नहीं है । इसलिए मानना होगा कि एक ही घट में नील, पीत, श्याम आदि विविध वर्ण का साक्षात्संबंध से समावेश हो सकता है । यहाँ यह शंका हो कि —> "यदि घट में एक अतिरिक्त चित्र वर्ण नहीं है, किन्तु नील, पीत, श्याम आदि अनेक रूप है, तो फिर 'यह घट चित्र रूप वाला है' यह प्रतीति कैसे हो सकेगी ? क्योंकि आप स्याद्वादी तो अतिरिक्त चित्र रूप का स्वीकार ही नहीं करते है । आपके मतानुसार तो घट में नील, पीत, श्याम आदि अनेक रूप रहने से केवल 'घट विविध वर्ण वाला है' ऐसी ही प्रतीति एवं व्यवहार होना चाहिए । अतः आपके मत में घट में चित्रत्वप्रतीति एवं चित्रत्वव्यवहार अनुपपन्न बनेंगे" <—

स्याद्वादानुसार चित्रत्वव्यवहार मुमकिन

चित्रत्व इति । तो इसका समाधान यह है कि नीलविशिष्ट पीतादि रूप होने की वजह या तो एक धर्मी में रहनेवाले नीलपीतवर्ण उभय आदि के कारण घटादि में चित्रत्व का व्यवहार होता है । आशय यह है कि जो घट केवल नील रूपवाला

भयादिना वा, विशिष्टाविशिष्टभेदं तु स्याद्वादिनो वयं न प्रतिक्षिपामः, रूपविभाजकोपाधीनां पञ्चत्वानतिरेक एव तात्पर्यात् ।

❀ जयलता ❀

पीतोभयादिना वा उपपद्येतेति शेषः । अत्र सामानाधिकरण्यं यद्वा वैशिष्ट्यं एकधर्मिवृत्तित्वं च समवायेनाऽपृथग्भावसंसर्गेण वा ग्राह्यं, तेन नातिप्रसङ्गः । यत्र केवलं पीतं रूपं तत्र न चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारौ तन्निमित्तीभूतनीलविशिष्टपीतरूपाद्यभावात् । किन्तु नीलविशिष्टपीतरूपादिकं तत्रैव चित्रत्वप्रतीतिव्यवहारौ । अतो न चित्रत्वप्रतीतिव्यवहारान्यथानुपपत्त्या अतिरिक्तचित्ररूपाऽङ्गीकार आवश्यकः । अत्र नीलस्य विशेषणत्वं पीतरूपस्य विशेष्यत्वमिति गौणप्रधानभावः तथापि विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहात्कल्पान्तरप्रदर्शनं-**एकवृत्तिनीलपीतोभयादिना** वेति । अत्र नीलस्य पीतरूपस्य च प्राधान्यम् । एकवृत्तित्वोपादानान्नाऽनेकवृत्तिनीलपीतादितः चित्रत्वप्रतीत्याद्यापत्तिः ।

वस्तुतस्तु चित्रत्वप्रतीत्यादिनिमित्तत्वं नीलविशिष्टपीतादेरेव न त्वेकधर्मिनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टनीलपीतोभयादेः, गौरवात् । न च विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरह इति वाच्यम्, तथापि तत्परिणत्यनतिरेकात् । **न** चैवं नीलरूपविशिष्टपीतरूपाश्रयीभूते घटे पीतत्वप्रकारकप्रमित्याद्यापत्तिः, नीलविशिष्टपीतरूपस्याऽपि पीतरूपानतिरेकात्, 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत' इति नियमादिति वाच्यम्, विशिष्टस्य कथञ्चिच्छुद्धातिरिक्तत्वाऽभ्युपगमात्, सर्वथा तदभेदस्तु प्रतीत्यैव पराहत इत्याशयेनाऽऽह-**विशिष्टाऽविशिष्टभेदं** = विशिष्टानुयोगिकाऽविशिष्टप्रतियोगिककथञ्चिद्भेदं **तु स्याद्वादिनो वयं न प्रतिक्षिपाम** इति । नीलविशिष्टपीतरूपादेः पीतरूपादितः स्याद्भिन्नत्वेन न चित्रघटे 'पीतोऽयमि'ति प्रमित्याद्यापत्तिरित्याशयः । **न** चैवमतिरिक्तचित्ररूपाऽङ्गीकार एव नामान्तरेण भवता कृत इति शिरोवेष्टनेन श्रोत्रग्रहणन्यायप्रसङ्ग इति वाच्यम्, नीलविशिष्टपीतरूपादेः पीतरूपादितः कथञ्चिदतिरेकेऽपि तत्र पीतत्वाद्यतिरिक्तचित्रत्वजात्यनङ्गीकारादित्याशयेनाऽऽह- **रूपविभाजकोपाधीनां** = रूपत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्माणां, **पञ्चत्वाऽनतिरेक एव तात्पर्यादिति** । चैत्रत्वस्य चैत्रे कथञ्चित्तदतिरिक्तदण्डविशिष्टचैत्रे च वृत्तित्वमिव पीतत्वादीनां रूपत्व-साक्षाद्व्याप्यजातीनां पञ्चानां पीतादिवर्णेषु नीलविशिष्टपीतरूपादिषु च वृत्तित्वं न तु पीतादिषु पीतत्वादीनां नीलविशिष्ट-पीतादिषु च चित्रत्वस्य वृत्तित्वमित्यत्र स्याद्वादिनामस्माकमभिप्रायः । **एतेन** नीलविशिष्टपीतवर्णस्य रक्तरूपविशिष्टपीतवर्णस्य शुक्लवर्णविशिष्टपीतवर्णस्येत्यादीनां बहूनां पीतादितः कथञ्चिदतिरिक्तत्वकल्पनापेक्षयैकस्य चित्ररूपस्यैव कल्पनं युक्तमित्यपि निरस्तम्, चित्रघटे 'नीलविशिष्टपीतरूपवान् घटः' इत्यादिप्रतीतेरनुपपत्तेश्च अवयवगतरूपादितः तदुपपादनस्य तु पूर्वमेव निरस्तत्वात् । न च रूपादीनामव्याप्यवृत्तित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, इष्टत्वात् । न चैवं नानारूपवदवयवारब्धे घटे नीलकपालाद्य-वच्छेदेन पीताद्युत्पत्तिवारणाय समवायेन नीलम्प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलरूपातिरिक्तरूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वमित्यु-क्तदिशा प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाऽङ्गीकारे तदभावस्य कारणत्वस्यापि कल्पनीयतया गौरवापत्तिरिति वाच्यम्, अवच्छेदकता-

है या केवल पीतरूपवाला है उसमें 'नीलो घटः' या 'पीतो घटः' इत्याकारक व्यवहार होगा, न कि 'चित्रो घटः' इत्याकारक। मगर जिस घट के एक भाग में नील रूप और दूसरे भाग में पीत वर्ण होता है उसीमें 'चित्रोऽयं घटः' इत्याकारक व्यवहार होता है, क्योंकि उस घट में सामानाधिकरण्यसंबंध से नीलरूपविशिष्ट पीत रूप रहता है या एक अधिकरण में नीलपीत उभय वर्ण रहते हैं । वही चित्रत्वव्यवहार का निमित्त है, न कि नील, पीत आदि रूप से सर्वथा अतिरिक्त चित्र रूप । यहाँ यह शंका हो कि —> 'विशिष्ट अविशिष्ट से तो अतिरिक्त होता नहीं है । अतः नीलरूपविशिष्ट पीत रूप भी शुद्ध पीत वर्ण से अतिरिक्त नहीं है । अतः नीलरूपविशिष्ट पीत रूप वाले घट में 'पीतो घटः' इत्याकारक व्यवहार भी होना चाहिए' <— तो इसका समाधान यह है कि विशिष्ट और अविशिष्ट के भेद का हम स्याद्वादी सर्वथा प्रतिक्षेप नहीं करते हैं मतलब कि विशिष्ट अविशिष्ट = शुद्ध से सर्वथा अनतिरिक्त = अभिन्न है-ऐसा हम नहीं मानते हैं । किन्तु विशिष्ट शुद्ध से कथंचित् अतिरिक्त = भिन्न भी होता है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं । अतः नीलरूपविशिष्ट पीत वर्ण भी सर्वथा शुद्ध पीतवर्णस्वरूप नहीं है किन्तु शुद्ध पीत वर्ण से कथंचित् भिन्न है । 'पीतोऽयं घटः' इस व्यवहार में तो अविशिष्ट पीत वर्ण ही निमित्त होता है, न कि विशिष्ट पीतरूप । नीलरूपविशिष्ट पीत रूप वाले घट में पीतत्वव्यवहारनिमित्तभूत केवल पीत वर्ण नहीं होने से उसमें 'पीतोऽयं घटः' इत्याकारक व्यवहार की आपत्ति नहीं है । यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि —> 'विशिष्ट भी यदि अविशिष्ट से भिन्न है, तो फिर चित्र रूप को अतिरिक्त = नील-पीतादिरूप से भिन्न मानने में स्याद्वादी को क्या हानि है ?' <— क्योंकि हम स्याद्वादियों का तात्पर्य यही है कि रूपविभाजक = रूपत्वसाक्षात्व्याप्य उपाधि = धर्म नीलत्व, पीतत्व आदि पाँच ही है, न कि चित्रत्वसहित ६। विशिष्टवर्ण से ही चित्रत्वप्रकारक प्रतीति एवं

अथ तत्रापि नैकावच्छेदेन नानारूपसत्त्व, किन्तु नीलपीतकपालाद्यवच्छेदकभेदेनेति चेत् ? सत्यम्, इत एवोपाधिभेदादेव नित्यत्वाऽनित्यत्वादय एकत्र समाविशन्तीत्युक्तम् ।

अथवा विरुद्ध = विरुद्धत्वेनाऽभिमतं, द्वय = नित्याऽनित्यत्वादिक, नैकत्राऽसत् = नैकत्राऽवृत्ति । कुत ? प्रमाणप्रसिद्धित = एकवृत्तितया प्रमाणेन प्रमीयमाणत्वादित्यर्थः । एकवृत्तित्वेन प्रमीयमाणस्यापि विरुद्धत्वाभिमानात् समावेशानभ्युपगमे नीलपीतादीनामपि स न स्यादित्याहु. - विरुद्धेति । तथा चाय प्रयोग· - नित्यानित्यत्वादिकं नैकत्राऽवृत्ति

❀ जयलता ❀

सम्बन्धेन नीलादिक प्रति समवायेन नीलादे कारणत्वाऽङ्गीकारात् । न च प्रकरणकारेणैव न्यायखण्डखाद्ये —> 'नीलत्वादिव-चित्रत्वमपि जातिविशेष एव' <— (न्या ख खा) इत्यभ्यधायीति तद्विरोधप्रसङ्ग इति वाच्यम्, अतिरिक्तैकचित्ररूपाभ्युपगन्तृणो मतमवलम्ब्य तत्र तथोक्तत्वादिति व्यक्तमेव न्यायप्रभायाम् । दीधितिकारेणापि —> नानारूपवदवयवारब्धेऽवयविनि अव्याप्य-वृत्तीनि नानारूपाण्येवोत्पद्यन्ते, चित्रत्वव्यवहारस्तु परस्परसमानाधिकरणनानारूपवत्त्वनिबन्धन <— इत्यङ्गीकारात् ।

मुग्ध शङ्कते - अथेति । तत्र = चित्रघटे अपि नैकावच्छेदेन नानारूपसत्त्व विरोधात्, किन्तु नीलपीतकपालाद्य-वच्छेदकभेदेन एव । न चैवमेकत्र घटे नित्यत्वाऽनित्यत्वादीनि सम्भवन्ति, नीलकपालावच्छेदेन नित्यत्व पीतकपालावच्छेदेन चाऽनित्यत्वमिति वक्तुमशक्यत्वात् । ततो न मेचकवस्तुदृष्टान्तेनाऽन्यत्र नित्यत्वाऽनित्यत्वादीनि समानाधिकरणानि कल्पयितु युज्यन्त इति शङ्कातात्पर्यम् । प्रकरणकृत् समाधत्ते-सत्यमिति । अर्धाऽङ्गीकारसूचकमिद पदम् । इत एव = एकावच्छेदे-नैकत्र कथञ्चिद्विरुद्धधर्माणा समावेशाऽसम्भवादेव, उपाधिभेदात् = अवच्छेदकभेदात् एव नित्यत्वाऽनित्यत्वादयो धर्मा एकत्र धर्मिणि समाविशन्तीति । नीलपीतकपालयो नित्यत्वानित्यत्वावच्छेदकत्वाऽसम्भवेऽपि द्रव्यत्वपर्यायत्वयो तथात्वसम्भवात् देशवत् भावानामप्यवच्छेदकत्वसम्भवात् । न चोपाधिभेदान्नित्यत्वानित्यत्वादीनामेकत्र समावेशो मूलकृदभिप्रायविरुद्ध , तदुक्त तैरेव अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाया- 'उपाधिभेदोपहित विरुद्ध, नार्थेष्वसत्त्व सदवाच्यत च । इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहता पतन्ति ॥२४॥

यदि च 'नित्यत्वानित्यत्वयोरेकाश्रयवृत्तित्वाऽवगाहिनी बुद्धि नाऽप्रमा विरोधगोचरप्रमाणप्रसिद्ध्यभावादि'ति व्याख्याने लक्षणाया आश्रयणात्कश्चिदस्वरसमुद्भावयेत्तन्मनसिकृत्य व्याख्यान्तरमावेदयति - अथवेति । सुगम शेषम् ।

व्यवहार मुमकिन है, तब चित्रत्व को भी नीलत्व आदि धर्म की भाँति रूपविभागप्रयोजक उपाधि मानना नामुनासिब है । नीलरूप से पीतत्वप्रकारक प्रतीति या व्यवहार नामुमकिन होने की वजह नीलरूप से पीतरूप को अतिरिक्त मान कर नीलत्व से अतिरिक्त पीतत्व धर्म को रूपविभाजक उपाधि मानना आवश्यक है । जब कि एकरूप से विशिष्ट अन्य रूप के निमित्त से चित्रत्वप्रकारक प्रतीति या व्यवहार मुमकिन होने से नील आदि रूप से सर्वथा अतिरिक्त चित्र रूप को मानना और नीलत्वादि पाँच धर्मो से अतिरिक्त चित्रत्व धर्म को रूपविभाजक उपाधि मानना अनावश्यक है - यही स्याद्वादियो का अभिप्राय है, जो विचार करने पर समुचित प्रतीत होता है । यहाँ यह कहा जाय कि —> 'एक घट मे एक ही भाग मे अनेक वर्ण नही रह सकते, किन्तु भिन्न-भिन्न भाग मे ही विविध वर्ण रह सकते है । मतलब कि नील रूप घट मे नीलकपालावच्छेदेन, पीत वर्ण पीतकपालावच्छेदेन और रक्त रूप रक्तवर्णविशिष्टकपालावच्छेदेन रहते है, इसी तरह माना जा सकता है' <— तो हम स्याद्वादी भी इस बात का सहर्ष स्वीकार करते है । भिन्नदेशावच्छेदेन = अवच्छेदकभेद से एक धर्मी मे परस्पर कथचित् विरोधी नील, पीत, रक्त आदि रूप का समावेश हमे मान्य होने की वजह ही उपाधिभेद = अवच्छेदकभेद से ही नित्य-अनित्यत्व आदि परस्पर कथचित् विरुद्ध धर्मो का एक धर्मी मे समावेश होता है' ऐसा कहा है ।

❊ सातवें श्लोक की अन्य व्याख्या ❊

अथवा । महोपाध्यायजी वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की सातवीं कारिका का अन्य रीति से निरूपण करते है कि - प्रतिवादी को विरुद्धत्वरूप से अभिमत नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल एक अधिकरण मे अवृत्ति नही है, क्योकि एकअधिकरणवृत्तित्वविधया प्रमाण से सम्यक् ज्ञायमान है । एकअधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसत्त्वरूप से प्रमाण के द्वारा ज्ञायमान होने पर भी नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुग्म को अभिनिवेश से विरुद्ध मान कर उनका एक अधिकरण मे समावेश मान्य

एकवृत्तित्वेन प्रमीयमाणत्वात्, नीलपीतादिवत् । विरुद्धत्व = परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वमिति यथाश्रुतमेव सम्यगिति तु न युक्तं, स्वमते नित्यानित्यत्वादावेव तदभावात्, एकवर्णस्यापि निश्चयत. पञ्चवर्णत्वाच्च, अन्यथा शुक्लस्य पाकादिना पश्चात् श्यामत्वानुपपत्तेः,

❀ जयलता ❀

नन्वेकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसिद्ध्यर्थं मूलकृद्भि· विरुद्धत्वेन रूपेण नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुग्मप्रदर्शन कृत भवद्भिस्तु तत्परिहारेण नित्यानित्यतात्वादिकपक्ष प्रदर्शित इति किं तत्त्यागे प्रयोजन ? इत्याशङ्कायामाह- **विरुद्धत्वमिति** । विरुद्धत्व-पदप्रतिपाद्यमित्यर्थ । **परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्व** = इतरेतरानधिकरणनिरूपितवृत्तित्वमद्वृत्तिजातिमत्त्व इति हेतो **यथाश्रुतमेव** = 'विरुद्ध द्वय' इत्येव **सम्यगिति तु न युक्तम्** । कुत ? इत्याह- **स्वमते** = स्याद्वादिदर्शने, **नित्यानित्यत्वादावेव** = पक्षे एव **तदभावात्** = निरुक्तविरुद्धत्वाभावात् । ततश्चाऽऽश्रयाऽसिद्धिप्रसङ्ग , नित्यानित्यत्वादिलक्षणपक्षे पक्षतावच्छेदकीभूतनिरुक्तविरुद्धत्वविरहात् । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थक· । जैनमते नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुगलाना परस्पराधिकरणाधिकरणकत्वेन परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वस्वरूपविरुद्धत्वाऽयोगात्, तन्निश्चये वा बाधप्रसङ्गात् । नापि नीलपीतादिधर्मेपूदाहरणविधयोपदर्शितेषु निरुक्तविरुद्धत्व सम्भवति, चित्रघटे एव तेषा तदपगमात् । **न च** शुक्लघटे श्यामादिवर्णानामभावात्तत्र श्वेतिमा-कालिमा-पीतिमादीना परस्परानधिकरणाधिकरणत्वसिद्धिरिति **वक्तव्यम्,** शुक्लघटेऽपि श्यामादिवर्णाभ्युपगमादित्याशयेनाऽऽह- **एकवर्णस्यापीति** । एक एव प्रतीयमानो वर्णो यस्मिन् घटादौ स घटादि· एकवर्ण , तस्य, किमुतानेकवर्णस्य ? इत्यपिशब्दार्थ । **निश्चयतः** = परमार्थमवलम्ब्य, निश्चयनयमाश्रित्य वा, **पञ्चवर्णत्वाच्चेति** । पञ्च वर्णा यस्मिन् स तद्भाव तत्त्व तत इत्यर्थ । एक शुक्लो वर्णो यत्र प्रतीयते तत्रापि निश्चयेन श्यामादयो वर्णा सन्त्येवेति न ते परस्परानधिकरणवृत्तय इति भाव ।

विपक्षदण्डमाह - **अन्यथेति** । शुक्लवर्णवति घटादौ श्यामादिवर्णानङ्गीकारे सतीत्यर्थ । **पूर्व** = पाकपूर्वकालावच्छेदेन, **शुक्लस्य** = श्वेतवर्णविशिष्टस्य घटादे , **पाकादिना पश्चात् श्यामत्वानुपपत्तेः** = कृष्णवर्णसत्त्वाऽसङ्गते· । यदि पाकपूर्वकाल-

न किया जाय तब तो नील पीत आदि धर्मो का भी एक शबल वस्तु (मयुरपख आदि) मे समावेश नही हो सकेगा । इसी बात को सूचित करने के लिए कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद्जी प्रस्तुत ७वीं कारिका के उत्तरार्ध मे कहते है कि विरुद्ध नील-पीत आदि वर्णो का समावेश मयूर-पख, गाय आदि मेचकवस्तु मे प्रमाण से ज्ञायमान है । इसी तरह एक धर्मी मे नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल भी समाविष्ट हो सकते है । मतलब कि मूलकारश्री ने ७वीं कारिका के पूर्वार्ध मे पक्ष, साध्य और हेतु का क्रमशः उल्लेख किया है और उत्तरार्ध मे उदाहरण को बताया है । अतः यहाँ अनुमानप्रयोग इस तरह किया जा सकता है कि - नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल एकअधिकरणाऽवृत्ति नही है, क्योकि एक-अधिकरणवृत्तित्वविधया प्रमाण से ज्ञायमान हे, जैसे कि नील, पीत, श्वेत आदि वर्ण । यहाँ यह शका हो कि --> 'मूलकारश्री ने तो कारिका मे 'विरुद्ध' पद का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है विरुद्धत्ववाला । व्याख्याकार श्रीमद्जी ने तो विरुद्धपद का त्याग कर के पक्षविधया नित्यत्व-अनित्यत्वादि धर्मयुगल का ही निर्देश किया है, जो मूलकारश्री के आशय के खिलाफ प्रतीत होता है' <-- तो इसका समाधान व्याख्याकार श्रीमद्जी की ओर से इस तरह बताया जाता है कि - विरुद्धत्व का अर्थ यह होता है परस्पर के अनधिकरण मे रहने वाले धर्मो का साजात्य (= समानजातिमत्त्व) । मगर यह तो नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुग्म, जिसका यहाँ पक्षविधया उल्लेख किया गया है, मे ही स्वमत = स्याद्वाद के अनुसार नही रहने से आश्रयअसिद्धि नाम का दोप प्रसक्त होता है । नित्यत्व ओर अनित्यत्व आदि धर्मयुगल जैनदर्शन के अनुसार परस्पर के अनधिकरण मे रहने वाले धर्म के सजातीय नही है, किन्तु विजातीय है, क्योकि वास्तव मे वे परस्पर के अधिकरण मे रहते है । दूसरी बात यह है कि एकवर्णवाली वस्तु भी निश्चय नय से पॉच वर्णवाली होने से नील-पीत आदि वर्ण भी परस्पर के अनधिकरण मे रहनेवाले नही होने से सदा परस्पर के अनधिकरण मे ही रहनेवाली कोई चीज ही प्रसिद्ध नही होने से तत्सजातीयत्वस्वरूप विरुद्धत्व ही अप्रसिद्ध है । अन्धकार और प्रकाश भी देशावच्छेदकभेद से या कालावच्छेदकभेद से एक धर्मी मे रहते है । अतः निरुक्त विरुद्धत्वपद के अर्थ की अनुपपत्ति होने से विरुद्धपद का त्याग उचित ही है । यहाँ यह शका हो कि --> 'एक वर्ण वाले घट आदि मे पॉच वर्ण का स्वीकार क्यो किया जाय ? क्योकि प्रत्यक्ष से तो घट श्याम रूप वाला ही उपलब्ध होता है' <-- तो यह नामुनासिब है, क्योकि यदि पाक से पूर्व काल मे शुक्ल रूप वाले घट मे श्याम रूप का अगीकार न किया जाय तो पाक के पश्चात्काल मे घट मे श्याम वर्ण की उत्पत्ति नही हो सकेगी । श्याम रूप का कारण तो श्याम रूप ही होता है । अतः

लाघवात् श्याममात्र प्रत्येव श्यामस्य हेतुत्वात्, पाकाऽजन्यत्वादेस्तत्कार्यतावच्छेदकप्रवेशे गौरवात्, सदसत्कार्यवादस्य व्यवस्थापितत्वाच्च ।

अथवा द्वय = नित्यत्वाऽनित्यत्वादिकं, विशेषेण = परस्परकरम्बितस्वभावेन रुद्ध

❀ जयलता ❀

वच्छेदेन शुक्लरूपाश्रये घटादौ कृष्णादिरूपाणि न स्यु तर्हि पाकानन्तरकालावच्छेदेन श्यामत्व न स्यात्, लाघवात् = कार्यतावच्छेदकधर्मलाघवात् समवायेन श्याममात्रं = श्यामत्वावच्छिन्न प्रत्येव स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन श्यामस्य वर्णस्य हेतुत्वात् । न चावयविनि श्याम रूप क्वचित् पाकेन क्वचिच्चावयवश्यामरूपेण जन्यते' इति तृणारणिमणिन्यायेन पाकाजन्यत्वावच्छिन्नश्यामरूप प्रति स्वाश्रयवृत्तित्वसम्बन्धेन श्यामरूपस्य हेतुत्वान्न पाकपूर्व शुक्ले घटादौ श्यामादिरूपाऽङ्गीकारस्यावश्यकत्वमिति वाच्यम्, पाकाजन्यत्वविशिष्टश्यामत्वस्याऽवयवश्यामरूपकार्यतावच्छेदकत्वाऽपेक्षया श्यामत्वस्यैव तत्त्वे लाघवादित्याशयेनाऽऽह- पाकाऽजन्यत्वादेः तत्कार्यतावच्छेदकप्रवेशे = अवयवश्यामरूपनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकशरीरनिवेशे, कार्यतावच्छेदककोटौ गौरवात् । किञ्च पूर्व तत्र सर्वथाऽसत श्यामवर्णस्य पश्चादपि पाकेनोत्पत्ति नैव सम्भवति, अत्यन्ताऽसतोऽनुत्पत्ते अन्यथा खरविषाणादेरपि जन्मापत्ते । पाकपूर्वकालावच्छेदेन शुक्लघटे कथञ्चिच्छ्यामरूपाऽङ्गीकारस्यापि न्याय्यत्वादित्याशयेनाऽऽह - सदसत्कार्यवादस्य = कथञ्चित्सदसत्कार्यनियमस्य पूर्व (पृ १२९) व्यवस्थापितत्वाच्चेति । ततश्चाऽकामेनाऽपि श्वेतकालावच्छेदेन घटे श्यामवर्णाऽङ्गीकार कार्य । ततश्चैकदैकत्र शुक्लश्यामादिवर्णसमावेशेन शुक्लश्यामादिवर्णेष्वपि परस्परानधिकरणनिरूपितवृत्तित्वमत्त्वस्याऽप्रसिद्धे परस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वलक्षण विरुद्धत्वमप्यप्रसिद्धम् । न च तम प्रकाशयोरेव निरुक्तविरुद्धत्व प्रसिद्धमिति वक्तव्यम्, कालभेदेनैकत्र तत्समावेशस्य दृष्टत्वात् । न चेककालीनपरस्परानधिकरणवृत्तिजातीयत्वमेव विरुद्धत्वमस्त्विति वाच्यम्, एकदाऽपि विभिन्नावयवावच्छेदेन तम प्रकाशयोरेकत्रोपलब्धे तयोरपि निरुक्तविरुद्धत्वलक्षणाऽयोगात् । ततश्च निरुक्तविरुद्धत्वविनिर्मोकेणैव नित्यत्वानित्यत्वादिधर्मयुग्माना पक्षत्वेन निर्देशस्य न्याय्यत्वमिति निर्गलितोऽर्थ ।

पुन व्याख्यान्तरमावेदयति- अथवेति । नाऽसदिति । द्वौ नञौ प्रकृतार्थ गमयत इति न्यायेन सत्त्वस्याऽत्र साध्यत्व

पाक के पश्चात्कालावच्छेदेन श्याम रूप वाले घट मे पूर्वकालावच्छेदेन भी श्याम वर्ण का अगीकार करना मुनासिव है । यहाँ यह शका हो कि --> 'श्याम वर्ण की उत्पत्ति कभी स्वाश्रयावयवगत श्याम रूप से होती है, तो कभी पाक = विलक्षण अग्निसयोग से होती है । अतः श्याम रूप का कार्य श्याम रूप नही है, किन्तु पाकाऽजन्य श्याम वर्ण है । शुक्ल घट मे श्याम रूप पाकजन्य होने की वजह, उसका कारण श्याम रूप नही है, किन्तु पाक ही कारण है । अतएव व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नही है' <-- तो यह भी निराधार है, क्योकि समवाय सम्बन्ध से श्याम रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसबध से श्याम वर्ण को कारण मानने मे लाघव है, जब कि समवाय सबन्ध से पाकाऽजन्य श्याम रूप के प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसबध से श्याम रूप को कारण मानने मे गोरव है । प्रथम पक्ष मे कार्यतावच्छेदक धर्म केवल श्यामत्व बनता है, जब कि द्वितीय पक्ष मे कार्यतावच्छेदक धर्म पाकाजन्यत्वविशिष्ट श्यामत्व होता है, जो श्यामत्व की अपेक्षा गुरुभूत है । अतः द्वितीय पक्ष मे गोरव स्पष्ट है । अतः श्वेत रूप वाले घट मे भी श्याम रूप का अगीकार करना आवश्यक है, जिससे पश्चात् उसमे श्याम रूप की उत्पत्ति हो सके । दूसरी बात यह है कि श्वेत घट मे यदि श्याम रूप का सर्वथा अत्यन्ताभाव माना जाय तो पश्चात् उस घट मे श्याम रूप की उत्पत्ति नही हो सकेगी, क्योकि सर्वथा असत् की उत्पत्ति नही हो सकती है, किन्तु कथचित् सत् की ही उत्पत्ति हो मकती है । इस सदसत्कार्यवाद की तो पूर्व मे सिद्धि की गई है । इसलिए यहाँ उसका पुनरावर्तन करना अनावश्यक है । सदसत्कार्यवाद के बल पर शुक्ल घट मे भी श्याम रूप का अगीकार करना आवश्यक है । अतः शुक्ल रूप और श्याम रूप भी एक अधिकरण मे वृत्ति होने की वजह परस्परअनधिकरणवृत्ति नही हे । अतः 'परस्पर-अनधिकरणवृत्तिसजातीयत्व-स्वरूप विरुद्धत्व की अप्रसिद्धि होने से उसका त्याग करना मुनासिव ही है, यह निष्कर्ष है ।

❀ नित्यानित्यत्व जातिविशेषस्वरूप है - स्याद्वादी ❀

अथवा द्व इति । व्याख्याकार श्रीमद्जी ७वीं कारिका की अन्य रीति से व्याख्या करते है कि - नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म विशेषरूप से परस्परमिश्रित स्वभाव से मिलित (= रुद्ध) है, यह असत् = काल्पनिक नही है, क्योकि तदेकत्वविषयक प्रमाण प्रसिद्ध है । तात्पर्य यह है कि नित्यानित्यत्व नरसिहत्व आदि की भाँति जातिविशेषात्मक है, क्योकि परस्पर मे समाविष्ट विषयक प्रतीति की उससे उत्पत्ति होती हे । केवल नरत्व और केवल सिहत्व से नरसिहत्वप्रकारक प्रतीति की भाँति केवल

मिलित, नाऽसत्, 'एकत्र प्रमाणप्रसिद्धित' = एकत्वे प्रमाणप्रसिद्धेरित्यर्थः । अयं भाव. नित्यानित्यत्व हि नरसिंहत्वादिवज्जात्यन्तर, समाविष्टप्रतीतिजननात् । न हि केवलनरत्व-सिहत्वाभ्यामेकनरसिंहप्रतीतिरिव केवलनित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यां समिलितप्रतीतिरुपपादयितुं शक्यते ।

अथ नरसिंहत्वमेकव्यक्तिवृत्ति न जात्यन्तरं नरत्वादिकमपि साङ्कर्यभिया न

❀ जयलता ❀

लभ्यते । एकत्वे प्रमाणप्रसिद्धेः = एकत्वविषयकप्रमाणप्रसिद्धेरिति हेतुर्लभ्यते । न च पक्षतावच्छेदकीभूतविशिष्टरुद्रत्वावच्छिन्ने नित्यत्वाऽनित्यत्वादौ हेतोरसत्त्वेन स्वरूपासिद्धिरिति वाच्यम्, तथापि एकत्वगोचरप्रसिद्धप्रमाणविषयत्वस्य हेतुत्वे दोषाऽभावात् । एतेन वैयधिकरण्यदोषोऽपि प्रत्याख्यातः । न चोदाहरणवैकल्यमाशङ्कनीयम्, नरसिहत्वस्य तथात्वसम्भवात् । यथैकत्वगोचरप्रसिद्धप्रमाणविषयत्वेन नरसिहत्वजातेर्नाऽसत्त्व तथैव तत एव नित्यत्वाऽनित्यत्वादेरपि नाऽसत्त्वमिति भाव । एतेन हेतुघटकीभूतप्रसिद्धत्वस्य प्रमाणविशेषणस्याऽसिद्धिरपि प्रत्युक्ता । वस्तुतस्तु प्रसिद्धत्व परिचायक, न तु हेतुतावच्छेदकशरीरे प्रविष्टमिति न व्याप्यत्वाऽसिद्धेरवकाश ।

प्रकृतमेव समर्थयति - अय भाव इत्यादिना । प्रयोगस्त्वेवम् - नित्यत्वाऽनित्यत्व जात्यन्तर समाविष्टप्रतीतिविषयत्वात्, नरसिहत्ववत् । परस्परव्यामिश्रितप्रतीतिगोचरत्वेन नरसिहत्वस्य जातिविशेषत्ववत् तत एव नित्यत्वाऽनित्यत्वस्यापि जात्यन्तरत्वमुपपत्स्यत इति भाव । स्वतन्त्रनित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्या नित्यानित्यत्वप्रकारप्रतीत्युपपत्तिमपाकरोति - न हीति । भिन्नावयवावच्छेदेन वृत्तिभ्या नरत्वसिहत्वाभ्यामेकत्र नरसिहत्वप्रतीतेरुपपादनेऽपि प्रकृते नैव सम्भवति, परस्परानुप्रविष्टत्वेन नित्यत्वानित्यत्वप्रतीते । पृथग्देशावच्छेदेनाऽवस्थिताभ्या नित्यत्वानित्यत्वाभ्या मिथोऽनुरक्तनित्यत्वानित्यत्वप्रतीतेरसम्भवात्, सम्भवे वा भ्रमत्वापत्ते । वस्तुतस्तु भिन्नदेशावच्छेदेन नित्यत्वानित्यत्ववृत्तित्वमपि नास्ति, किन्तु द्रव्यत्व-पर्यायत्वावच्छेदेनैव रामे ज्येष्ठराजपुत्रत्वविशिष्टशिष्टाचारपालकत्वावच्छेदेन राज्याधिकारित्व-पुरुषोत्तमत्ववत् । ततो न भिन्नदेशावस्थिताभ्या ताभ्या परस्परसम्मिलितनित्यत्वानित्यत्वप्रतीतिरुपपादयितु शक्यते । एकदेशावच्छेदेनाऽवस्थितत्वात् । परस्परानुरक्तप्रत्ययजनकत्वाच्च जात्यन्तरत्वकल्पनैवाऽर्हति, समुदितद्रव्यत्व-पर्यायत्वाभ्या तदभिव्यक्त्युपपत्तेरिति प्रघट्टकार्थ ।

पर शङ्कते - अथेति । 'नेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वय । 'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व ' (किरणाव) इत्युदयनवचनेनैकव्यक्तिवृत्तित्वस्य जातिबाधकत्वान्न नरसिहत्व जातिविशेषरूपमित्याशयेन हेतुगर्भविशेषणमुखेनाऽऽह- नरसिहत्वमेकव्यक्तिवृत्ति न जात्यन्तरमिति । नृसिहशरीरे हि न मनुष्यत्व सिहत्व वाऽस्ति, एकैकमात्रस्वीकारे विनिगमकाभावात् उभयो स्वीकारे च जातिसङ्करप्रसङ्गात्, आंशिकत्वापाताच्च । किन्तु तदीयमुखाद्यवयवेषु प्रसिद्धसिहमुखाद्यवयववृत्तिजातिमत्त्व तदीयोदरपादाद्यवयवेषु च प्रसिद्धमानुषीयोदरपादादिवृत्तिजातिमत्त्व स्वीक्रियते । तैश्चोभयजातीयैरवयवैरारभ्यमाणे शरीरे नृसिहत्व जात्यन्तर कल्प्यते । तच्च न सभवति, एकव्यक्तिवृत्तिकत्वात् । अतो न तदनुरोधेन नित्यानित्यत्वस्य जात्यन्तरत्वकल्पना युक्तेत्यभिप्राय । वस्तुत नरत्वमपि न जातिस्वरूप किम्पुन नरसिहत्व ? इत्याशयेनाऽऽह- नरत्वादिकमपि पार्थिवजलीयादिशरीरवृत्तितया साङ्कर्यभिया न जातिरूपमभ्युपगम्यते । जलीयनरे पृथिवीत्व नास्ति, नरत्वमस्ति, पृथिव्या पृथिवीत्वमस्ति नरत्व नास्ति, अस्मदादिषु तूभयमिति पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यान्नरत्वस्य न जातित्वमिति फलितम् ।

नित्यत्व और केवल अनित्यत्व से नित्यानित्यत्वप्रकारक समिलितोभयविषयक प्रतीति उत्पन्न नही हो सकती हे । इसलिए नित्याऽनित्यत्व को जात्यन्तरस्वरूप मानना आवश्यक है - यह फलित होता है । यहाँ यह शका हो कि –> 'नरसिहत्व के उदाहरण से नित्यानित्यत्व को जात्यन्तर = जातिविशेषस्वरूप सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि नरसिहत्व भी वस्तुतः एक व्यक्ति मे ही रहने की वजह जातिविशेषरूप नही हे । जातित्व के ६ दोष बाधक होते है, जिनमे व्यक्त्यभेद यानी एकव्यक्तिवृत्तित्व प्रथम जातिबाधक दोष हे । गगनत्व की भाँति नरसिहत्व भी केवल एक आधार मे रहने से जातिविशेषरूप नही माना जा सकता । दूसरी बात यह है कि नरत्व या सिहत्व भी वस्तुतः जातिविशेषात्मक नही हे, क्योकि वैसा मानने पर पृथ्वीत्व आदि जाति के साथ साकर्य प्रसक्त होता हे, जो जातिबाधक तृतीय दोष है । अतः नरसिहत्व के दृष्टान्त से नित्यानित्यत्व को जातिविशेषात्मक नही माना जा सकता' <–

साकर्य जातिबाधक नहीं है - स्याद्वादी

जातिरूपमभ्युपगम्यते इति चेत् ? न, उपाधिसाङ्कर्यस्येव जातिसाङ्कर्यस्याऽप्यदोषत्वान्नरत्वसमाविष्टसिंहत्वस्यैव तत्त्वात् । 'जातिसाङ्कर्यस्याऽदोषत्वे शिंशपात्वादेरन्यत्र सम्भावनया 'वृक्षः शिंशपायाः' इत्याद्यनुमानमप्युच्छिद्येत' इति चेत् ? न, उपाधिसाङ्कर्येऽप्यस्य दोषस्य तुल्यत्वात्, तर्कादिना संशयनिवृत्तेरुभयत्र सम्भवात् ।

※ जयलता ※

प्रकरणकृत्समाधत्ते - नेति । परेण प्रतिब्रह्मकल्पं नृसिंहावतारस्वीकारात् उपासनादृष्टवशेन नृसिंहशरीरोत्पादस्वीकाराच्च नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वय इति 'नरसिंहत्वमेकव्यक्तिवृत्ति न जात्यन्तरमि'त्यस्याऽयुक्तत्वं स्पष्टमेवेति तदुपेक्ष्य परेण 'नरत्वादिकमपि साङ्कर्यभिया न जातिरूपमभ्युपगम्यते' इति यदुक्तं तत्र समाधत्ते- उपाधिसाङ्कर्यस्येवेति । यदि जातिसाङ्कर्यं दोषः स्यात् तर्हि तस्योपाधित्वेऽपि दोषत्वं तदवस्थमेव । न चोपाधिसाङ्कर्यं दोषत्वेन परेणाऽभ्युपगम्यते । तद्वदेव जातिसाङ्कर्यस्याऽप्यदोषत्वमुपपत्स्यत इत्यर्थः । गुञ्जाफले रक्तत्व-कृष्णत्वयोरिवैकत्र नित्यत्वाऽनित्यत्वयोः स्वरसतो व्याप्याऽवस्थानं नाभ्युपगम्यते, किन्तु दाडिमे स्निग्धत्वोष्णत्वयोरिव परस्परानुवेधेनाऽवस्थानमङ्गीक्रियते । एवमेव नरत्वसिंहत्वयोः स्वातन्त्र्येणाऽवस्थानं न स्वीक्रियते किन्तु परस्परव्यामिश्रितत्वेनैव, तथैव प्रत्ययात् । तदेव तत्र जात्यन्तरत्वमित्याशयेनाऽऽह- नरत्वसमाविष्टसिंहत्वस्यैव तत्त्वात् = जात्यन्तरात्मकत्वात् । एतेन सर्वथा तदतिरिक्तत्वकल्पनागौरवमपि परिहृतम्, स्वरसवाहिसार्वलौकिकप्रत्यक्षस्यैव बलवत्त्वात् ।

परः शङ्कते - जातिसाङ्कर्यस्य = परस्परव्यधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशस्य अदोषत्वे परापरभावानुपपत्तेः शिंशपात्वादेः व्याप्यत्वेनाऽभिमतजातेः अन्यत्र = वृक्षत्वशून्ये सम्भावनया = वृत्तित्वसम्भावनया, 'वृक्षः शिंशपायाः' इत्याद्यनुमानमप्युच्छिद्येतेति । 'अयं वृक्षः शिंशपायाः' इत्यत्र समवायेन वृक्षत्वस्य साध्यत्वं तादात्म्येन शिंशपाया हेतुत्वम् । प्रसिद्धञ्चेदमनुमानम् । परं जातिसाङ्कर्यस्वीकारे शिंशपात्व-वृक्षत्वयोर्व्याप्य-व्यापकभावानुपपत्त्या समवायावच्छिन्नवृत्तिताकशिंशपात्वव्याप्यतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिताकशिंशपाहेतोः समवायसंसर्गावच्छिन्नवृत्तिताकवृक्षत्वसाधकत्वं न स्यादिति शङ्कातात्पर्यम् ।

प्रतिबन्द्या प्रकरणकारः समाधत्ते - उपाधिसाङ्कर्येऽपि किम्पुनर्जातिसङ्कर इत्यपिशब्दार्थः, अस्य प्रसिद्धानुमानोच्छेदलक्षणस्य दोषस्य तुल्यत्वादिति । अयं चेष्टाश्रयः पशुत्वादित्याद्यनुमाने पशुत्वादिसङ्कीर्णोपाधौ पराऽपरभावानुपपत्त्या स्वाभिमतसाध्यसाधकत्वं न स्यादित्यस्यापि तुल्यत्वादित्यर्थः । न च विपक्षबाधकतर्कादिना सङ्कीर्णोपाधिलक्षणहेतौ व्यभिचारसंशयो विलीयत इति नोक्तानुमानोच्छेदापत्तिरिति वाच्यम्, सङ्कीर्णजातिलक्षणहेतावपि प्रकृतसमाधानस्य तुल्यत्वादित्याशयेनाऽऽह- तर्कादिनेति । संशयनिवृत्तेः = व्यभिचारसन्देहविलयस्य, उभयत्र = सङ्कीर्णजात्युपाध्योः तुल्यत्वादिति ।

न उपा. इति । तो यह भी नामुनासिब है, क्योंकि उपाधिसांकर्य की भाँति जातिसांकर्य भी दोषात्मक नहीं है । आशय यह है कि कल्पभेद से नरसिंह अवतार भी अनेक होने की वजह नरसिंहत्व केवल एक अधिकरण में नहीं रहता है । अतएव वह जातिस्वरूप हो सकता है । तथा नरत्व आदि को जातिविशेषस्वरूप मानने में जो पृथ्वीत्व आदि के साथ सांकर्य का दोषोद्भावन किया गया था, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सांकर्य होने पर भी भूतत्व को जैसे नैयायिक मनीषियों ने उपाधिस्वरूप माना है, ठीक वैसे ही सांकर्य होने पर भी नरत्व को जातिस्वरूप माना जा सकता है । यदि सांकर्य उपाधित्व का बाधक नहीं है, तो फिर जातित्व का बाधक कैसे हो सकता है ? संकर को जातिबाधक मानने पर उपाधिबाधक मानना भी न्यायप्राप्त है । अतः नरत्व आदि को भी जातिस्वरूप माना जा सकता है । दूसरी बात यह है कि हम नरसिंहत्व को जातिविशेषात्मक मानते हैं, वह भी सर्वथा नरत्व और सिंहत्व से भिन्न तृतीय जातिस्वरूप नहीं मानते हैं, किन्तु नरत्वसमाविष्टसिंहत्व को ही हम नरसिंहत्व कहते हैं । एक अधिकरण में नरत्व और सिंहत्व जाति का सांकर्य दोषरूप नहीं होने से नरत्वमिश्रित सिंहत्व को ही नरसिंहत्वरूप जात्यन्तर कहा जा सकता है । यहाँ यह शंका हो कि --> 'सांकर्य को जातिबाधक न मानने पर तो एक जाति और दूसरी जाति के बीच पराऽपरभाव यानी व्याप्य-व्यापकभाव का ही उच्छेद हो जाने से शिंशपात्व जाति की वृक्षत्वशून्य में भी संभावना होने से 'अयं वृक्षः शिंशपायाः' इत्यादि अनुमान का भी उच्छेद हो जायेगा । तादात्म्यसंबंध से शिंशपाविशिष्ट व्यक्ति वृक्षभिन्न भी हो सकती है, क्योंकि जातिसांकर्य को निर्दोष मानने की आपने इजाजत दे दी है' <-- तो यह दोष तो उपाधिसांकर्य को निर्दोष मानने पर भी समानरूप से प्रसक्त हो सकता है, क्योंकि संकीर्ण उपाधि में भी पराऽपरभाव = व्याप्य-व्यापकभाव दुर्घट होने से 'अयं चेष्टाश्रयः पशुत्वादि'त्यादि अनुमान का उच्छेद होने वाला

अथ घटत्वपटत्वादेर्नियतविरोधदर्शनेन परस्पराऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वस्य विरोधितावच्छेदकत्वकल्पनान्न तदवच्छिन्नजात्यो· समावेशसम्भव इति चेत् ? न, परस्परत्वस्य नानात्वेन तन्नियमस्य विशिष्य विश्रामात्,

❀ जयलता ❀

पर. शङ्कते- **अथेति** । 'चेदि'त्यननाऽस्याऽन्वय । **घटत्वपटत्वादेः नियतविरोधदर्शनेन** = सर्वत्र परस्पराधिकरणाऽवृत्तित्वोपलम्भेन, **परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वस्य विरोधितावच्छेदकत्वकल्पनान्न तदवच्छिन्नजात्योः** = विरोधितावच्छेदकीभूतपरस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वावच्छिन्नजात्यो **समावेशसम्भव इति** । घटत्वाद्यत्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्व पटत्वादौ वर्तते, पटत्वाद्यत्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्व च घटत्वादौ वर्तत इति घटत्वपटत्वाद्यो जात्योर्विरोधसिद्धया नैकत्र समावेश इति न जातिसाङ्कर्य निर्दोषमिति अथाशय. ।

अत्र **यद्यपि** जातिसाङ्कर्यस्य स्वरूप यदि सिद्ध तदा तदाधारभूत जातिद्वयमपि सिद्धमिति न तस्य दूषणत्वम् । **अथ** न सिद्ध तदा स्वरूपाऽसिद्धेरेवाऽदूषणत्वम् । अथ यदिपदोपसन्दानेनापादकीभूय दूषणमेतत् यदि जातिसाङ्कर्य स्यात् तदा घटत्वपटत्वयोरप्येकदेशवृत्तित्व स्यादिति **चेत् ? न**, आपादकाऽप्रसिद्धे । न हि जातिसाङ्कर्य क्वचित्प्रसिद्ध येन तत्स्वात्मनि आपादकत्व स्वीकुर्यात् । यदि च सङ्कीर्णयोर्भूतत्वमूर्तत्वयो जातित्व स्याद्, घटत्वपटत्वयोरपि सामानाधिकरण्य स्यादिति विभाव्यते, तदपि फल्गु, आपाद्यापादकयोर्वैयधिकरण्येन परेणोक्तापत्तिप्रदानस्याऽसम्भवात् । **एतेन** जातित्व यदि तादृशधर्मवृत्ति स्यात्, उभयवादिसम्मततादृशधर्मवृत्ति स्यादित्येव यदि जातिसाङ्कर्य स्यात् घटत्वपटत्वयोरपि सामानाधिकरण्य स्यादित्यापादनस्यार्थोपवर्णन **तन्निरस्तम्**, अप्रयोजकत्वात् । **अत· एव** स्वसामानाधिकरण्य-स्वाभावसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन जातिविशिष्टजातित्वावच्छेदेन स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वाभाव इति नियमस्य भङ्गप्रसङ्ग एव जातिसाङ्कर्ये बाधक इत्यपि **प्रत्याख्यातमित्यादि** वक्तु शक्यते **तथापि** स्पष्टत्वात्तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण निराकरोति- **नेति** । **परस्परत्वस्य नानात्वेनेति** । परपदार्थघटितस्य परस्परत्वस्य परपदार्थभेदेन भिन्नत्वेनेत्यर्थ । **तन्नियमस्य** = परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्वस्य विरोधितावच्छेदकत्वनियमस्य, **विशिष्य विश्रामात्** = परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण-परस्पराऽसमाविष्टजातित्वस्य विरोधिता-

ही है । तर्क आदि से व्यभिचार शका का निवर्तन तो सकीर्ण उपाधि की भाँति सकीर्ण जाति मे भी समानतया हो सकता है । अतः उपाधिसकर भी भाँति जातिसकर भी दोपात्मक नही है - यह मानना आवश्यक है ।

नरत्वाभावसमानाधिकरण सिंहत्वत्व विरोधितानवच्छेदक

अथ घ इति । यहाँ यह शका हो कि —> 'घटत्व और पटत्व आदि मे परस्पर नियत विरोध प्रत्यक्षतः सिद्ध है । जहाँ घटत्व होता हे, वहाँ पटत्व नही ही होता है और जहाँ पटत्व होता है, वहाँ घटत्व भी नही रहता है । मतलब कि घटत्व जाति पटत्वाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरण हे और पटत्व जाति घटत्वाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरण है । घटत्व, पटत्व आदि जाति मे इस तरह रहने वाला परस्पराऽत्यन्ताभावसमानाधिकरण जातित्व ही परस्परविरोधिता का अवच्छेदक = नियामक है । विरोधितावच्छेदक जातित्व घटत्व, पटत्व मे रहने की बदौलत घटत्व और पटत्व जाति का, जो परस्परविरोधितावच्छेदकीभूत जातित्व से अवच्छिन्न = विशिष्ट है, एक अधिकरण मे समावेश नही हो सकता है, अन्यथा घटत्व, पटत्व मे रहने वाला जातित्व विरोधिता का नियामक ही नही हो सकता । घटत्व, पटत्व आदि की भाँति नरत्व और सिहत्व का भी एक धर्मी मे समावेश नही हो सकता' <— तो यह नामुनासिब है, क्योकि परस्परत्व का घटक परपदार्थ अननुगत होने से परस्परत्व भी अनेकविध होने की वजह परस्परत्व से घटित यह नियम कि - 'परस्पराऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणजातित्व परस्परविरोधितावच्छेदक होता हे' - भी घटत्व, पटत्व आदि प्रसिद्ध विरुद्ध धर्म मे ही प्रवृत्त हो सकता है, न कि सर्वत्र । अननुगत पदार्थ से घटित नियम कभी भी सार्वत्रिक नही हो सकता है । फिर भी यहाँ यह कहा जाय कि —> 'घटत्व, पटत्व आदि मे रहनेवाले जातित्व की भाँति नरत्व ओर सिहत्व मे रहने वाला जातित्व भी परस्परविरोधितावच्छेदक तो हो सकता है, जिसकी वजह एक धर्म मे दोनो का समावेश नही हो सकेगा' <— तो यह भी बेसिरपैर का वक्तव्य है, क्योकि एक ही धर्मी मे नरत्व और सिहत्व की, जो परस्पर समिलित हे, प्रतीति होने से नरत्वाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणसिहत्वत्व परस्परविरोधिता का अवच्छेदक ही नही हे, जिसकी वजह तादृश सिहत्वत्व से अवच्छिन्न = विशिष्ट सिहत्व के अधिकरणीभूत नृसिह मे नरत्व का समावेश न हो । अतः परस्परमिश्रित नरत्व-सिहत्व को ही जात्यन्तरात्मक मानना मुनासिब है । अतः उपाधिसाकर्य की भाँति जातिसाकर्य

नरत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणसिंहत्वत्वादेर्विरोधितानवच्छेदकत्वात् ।

अथ जात्यन्तररूपतेव व्यक्त्यन्तररूपतैवाऽस्य कुतो न सङ्गीयत इति चेत् ? स्वतन्त्रपरिभाषाया अपर्यनुयोज्यत्वात् ।

एवञ्च सामान्य-विशेषात्मकत्वस्यापि तथात्वं साधु सङ्गच्छते । एकैकनयार्पणया

❊ जयलता ❊

वच्छेदकत्वमित्येव विशेषरूपेण पर्यवसानात् । अत एव घटत्व-पटत्वयोर्विरोधदर्शनेन विरोधितावच्छेदकमनुगतं किञ्चिदवश्यमुपगन्तव्यम्, अन्यथा गोत्वाश्वत्वयोरपि विरोधित्वाऽसङ्गतयेऽवच्छेदकान्तरस्य वक्तव्यताया विशेषतो जातिविशेषविरोधितावच्छेदकोपवर्णन एव जन्मसहस्रं मनीषिणो व्याप्रियेरन् तथापि न तदन्तमाप्नुयुः । तच्च रूपं परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमेव यदनङ्गीकारे सजातीय-विजातीयव्यवस्थोच्छिद्येतेति परेषामभिनिवेशोऽपि प्रत्याख्यातः, परस्परसमाविष्टधर्मस्थले तथा वक्तुमशक्यत्वात् । 'तथापि नरसिंहस्थले प्रदर्शितनियमप्रवृत्तिः स्यादि'ति चेत् ? न, एकत्रैव धर्मिणि परस्परैर्कवृत्तितनरसिंहप्रतीतिबलेन नरत्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणसिंहत्वत्वादेः विरोधितानवच्छेदकत्वादिति ।

ननु यथा नरसिंहत्वस्य जात्यन्तरत्वमेव कल्प्यते तथा नरसिंहस्य व्यक्त्यन्तरत्वमेव कुतो न कल्प्यते ? इत्याशयेन शङ्कते - अथेति । समाधत्ते - स्वतन्त्रपरिभाषाया अपर्यनुयोज्यत्वादिति । 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना श्रेयसी'ति न्यायादपि न व्यक्त्यन्तरकल्पनमर्हतीति ध्येयम् ।

एवञ्च = विरोधस्य विशिष्यैव विश्रान्तत्वेन च, सामान्य-विशेषात्मकत्वस्यापि तथात्वं = अविरुद्धत्वं जात्यन्तरात्मकत्वं वा साधु सङ्गच्छत इति । अभेदग्राहिनयविवक्षया वस्तुनि सदृशपरिणतिः केवलमनुवृत्तिधियमुत्पादयति भेदग्राहिनयानुरोधेन वस्तुनि विसदृशपरिणतिः केवलं व्यावृत्तिधियं जनयति । तादृशसदृशपरिणतिरेव केवलसामान्यात्मिका तादृशवैसादृश्यपरिणतिरेव च केवलविशेषात्मिकोच्यते । नयभेदेनैव व्यवस्थिते त एव प्रमाणापेक्षया पुनरेकदैवानुवृत्तिव्यावृत्तिधियं सम्पादयतः । अत एव प्रमाणार्पणया ते जात्यन्तरम् । एवं प्रमाणेन वस्तु स्यादनुगमव्यतिरेकपरिणतिमज्जात्यन्तरमेवेत्याशयवता मतेनाऽऽह- एकैकेति । विभावितार्थमेवैतत् ।

उत्पादादिसिद्धिप्रकरणकृतस्तु- 'न द्रव्य-पर्याययोः प्रत्येकमनुवृत्तिरूपतां प्रतिपद्यामहे, प्रतिनियतस्य द्रव्यपर्यायलक्षणस्य पदार्थद्वयस्य स्वतन्त्रस्य कदाचिदनभ्युपगमात् । एकमेव हि तद्वस्तु अनुवृत्तिप्राधान्येन विवक्षितं तदेव पर्यायव्यपदेशमासादयति । ततः कथं पर्यायद्वयं स्यात् । न हि घटपटत्ववद्द्रव्यपर्यायौ कौचित् स्वतन्त्रौ स्तः । अनुवृत्तिव्यावृत्ती च वस्तुस्वभाव एव युक्तः, तयोरनुवर्त्तमानव्यावर्त्तमानाधीनत्वात् । तदेव वस्त्वनुवर्त्तते इत्यनुवर्त्तमानाकारप्राधान्येन विवक्षितमनुवृत्तिरित्युच्यते ।

भी निर्दोष ही है - यह फलित होता । यहाँ यह प्रश्न कि -> 'नरसिंहत्व को जात्यन्तरस्वरूप माना जाता है, वैसे नरसिंह को ही व्यक्त्यन्तरात्मक क्यों नहीं माना जाता ? जैसे नृसिंहत्व न तो केवल नरत्वस्वरूप है और न तो केवल सिंहत्वस्वरूप है किन्तु शुद्ध दोनों से विलक्षण जातिविशेषस्वरूप ही है, यह कल्पना की जाती है । उसके स्थान में यह कल्पना कि, नरसिंह न केवल शुद्ध नरव्यक्ति है और न तो केवल सिंहव्यक्ति है, किन्तु उन दोनों से विलक्षण व्यक्तिविशेष ही है, क्यों नहीं की जाती ?' <- भी निराधार है, क्योंकि स्वतन्त्र परिभाषा में यह प्रश्न नहीं हो सकता कि- 'यह ऐसा क्यों माना गया है ?' वैसा क्यों नहीं ?' आर्ष पुरुषों की इच्छा अपर्यनुयोज्य = प्रश्नाऽनर्ह होती है । नरसिंहत्व की भाँति नित्याऽनित्यत्व भी नित्यत्वसमिलिताऽनित्यत्वस्वरूप जात्यन्तरात्मक है । इस तरह जातिविशेष से ही विलक्षण प्रतीति की उपपत्ति हो जाती है, तब नित्याऽनित्यात्मक व्यक्तिविशेष की कल्पना करनी अनावश्यक है- यह उपर्युक्त वक्तव्य से ध्वनित होता है ।

❊ सामान्य और विशेष परस्पराऽविरुद्ध एवं वस्तुदेश हैं - स्याद्वादी ❊

एवञ्च इति । जैसे वस्तु में नित्यानित्यत्व जातिविशेषात्मक सम्यक् उपपन्न होता है, ठीक वैसे ही सामान्यविशेषात्मकत्व भी जात्यन्तररूप सम्यक् संगत हो सकता है । जब अभेदनय की विवक्षा की जाय तब अनेक वस्तुओं में रही हुई सामान्यपरिणति = सदृशपरिणति केवल अनुगत बुद्धि को उत्पन्न करती हुई केवल सामान्यस्वरूप कही जाती है और भेदनय की विवक्षा से वस्तुस्थ विसदृशपरिणति केवल व्यावृत्तिबुद्धि को उत्पन्न करती हुई केवल विशेषस्वरूप कही जाती है । जैसे अभेदनय की विवक्षा होने पर अनेक घट में घटत्वात्मक या कंबुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप सदृशपरिणति 'यह घट है, यह घट है' इत्याकारक अनुगत बुद्धि

प्रतीयमाने सदृश-विसदृशपरिणती हि केवलानुवृत्ति-व्यावृत्तिधियावर्पयन्त्यौ केवलसामान्य-विशेषरूपे प्रमाणार्पणया प्रतीयमान वस्तु पुनर्युगपदुभयधिय जनयत्कथञ्चिदनुगमव्यावृत्ति-मज्जात्यन्तरमेवेत्याहु ।

अथैवं सामान्य वस्तु न स्यादिति चेत् ? न वस्तु नाप्यवस्तु किन्तु वस्त्वेकदेश इत्येव सिद्धान्त ।

जयलता

न चानयोर्वस्तुस्वभावता ? भावो हि भवित्रधीनस्तदैव भवति तदा तद्वस्तुस्वभाव ण्वाय स्यात्, अन्यथा यद्यनुवृत्तिव्यावृत्ति-भिन्ने ण्व तदा न भावोऽनुवर्त्तते व्यावर्तते वा, तदा तदपरवस्त्वन्तरवत्' <— (उ सि पृ १५४) इत्यादि **व्याचक्षते** ।

ननु नयभेदावतारे सदृशाऽसदृशपरिणतिरूपौ सामान्यविशेषावित्यङ्गीकारे केवल सामान्य विशेषो वा कथ पूर्ण-वस्तुस्वरूपमासादयेत् ? अत तयो स्वतन्त्रयोरवस्तुत्वमेवापद्येतेत्याशयेन मुग्ध शङ्कते - **अथेति** । समाधानमाह- **न वस्त्वि-त्यादि** । वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेनैकैकभागस्य न वस्तुत्व नाऽप्यवस्तुत्वम् । **न च** वस्तुत्वाऽवस्तुत्वयो परस्परविरहरूपत्वे-नैकनिषेधेऽपरविधानमेव प्राप्त घट-तदभावयोरिवेति वाच्य, यत्र प्रकारान्तराऽसम्भव तत्रैवैकनिषेधेऽपरविधानात् यथैकान्त-निषेधेऽनेकान्तविधान, प्रकृते तु समुद्राशदृष्टान्तेन वस्त्वगरूपप्रकारान्तरसम्भवेन तथाप्रसङ्गविरहात् । तदुक्त - 'नाय वस्तु न चाऽवस्तु वस्त्वश कथ्यते बुधै । नाऽसमुद्र समुद्रो वा समुद्राशो यथैव हि' ॥ ( ) न चोदाहरणमपि न नोऽभि-मतमिति **वक्तव्यम्**, समुद्रैकदेशस्य समुद्रत्वे शेषाशाना समुद्रत्वानापत्ते , विनिगमनाविरहेणाशान्तराणामपि प्रत्येक समुद्रत्वे त्वेकत्रापि समुद्रे 'बहव· समुद्रा' इति धीव्यवहारौ प्रसज्येताम् । समुद्रैकदेशस्याऽसमुद्रत्वे त्वशान्तराणामप्यसमुद्रत्वापत्तौ समूहिव्यतिरिक्तसमूहस्य विरहेण समुद्रधीव्यवहारावेवोच्छिद्येताम् । तस्मादनन्यगत्या तस्य समुद्राशत्वमेवाऽभ्युपगन्तव्यम् । ण्व वस्त्वशस्याऽपि भावनीय, युक्तेरपक्षपातित्वात् । तदुक्त - 'ण्काशस्य समुद्रत्वे शेषाशस्याऽसमुद्रता । समुद्रबहुता वा स्यात्

को उत्पन्न करती हे । अत: वह सदृशपरिणति ही केवल सामान्यात्मक कही जाती है । मगर भेदनय की प्रवृत्ति होती है, तव वह अनेक घट मे रही हुई विसदृशपरिणति को ग्रहण करता है । भेदनयविपयीभूत विसदृशपरिणति अनेक घट मे 'यह रक्त हे, यह श्याम हे, यह अमदावादीय है, वह वापीय है' इत्याद्याकारक व्यावृत्तिवुद्धि को उत्पन्न करती है । इसी सवव वह केवल विशेपरूप कही जाती है । इस तरह प्रत्येक नय की विवक्ष होने पर अनुगतवुद्धिजनक सदृशपरिणति शुद्ध सामान्य ओर व्यावृत्तिवुद्धिजनक विसदृशपरिणति शुद्ध विशेप कही जाती है । मगर जव प्रमाण की विवक्षा होती है तव अनेक वस्तुओ मे एक ही काल मे अनुवृत्ति और व्यावृत्ति की वुद्धि को सदृश-विसदृश परिणति उत्पन्न करती है । इसकी वजह वस्तु कथचित् अनुगमव्यावृत्तिवाली जात्यन्तरवाली ही कही जाती है । प्रमाण सर्वनयसमूहात्मक होता है । अतः प्रमाण की विवक्षा होने पर वह भेदनय और अभेदग्राही. नय के विपय को प्रधानरूप से ग्रहण करता है । अतण्व नयविशेप की अपेक्षा वस्तु के अशभूत होने की वजह परस्पराऽविरोधी सामान्य अश और विशेप अश ही मिलित हो कर प्रमाण की विवक्षा होने पर जात्यन्तर-रूप जातिविशेपात्मक वन कर एक ही काल मे अनुवृत्तिव्यावृत्तिउभयप्रकारक = अन्वयव्यवच्छेदप्रकारक वुद्धि एव व्यवहार के निमित्त वनते हे - ऐसा प्राचीन जेनाचार्यो का वक्तव्य है ।

अथै इति । यहाँ यह शका हो कि —> 'यदि नय की अपेक्षा वस्तु की सदृश परिणति ही सामान्य हे और विसदृश परिणति ही केवल विशेपपदार्थ है तो फिर सामान्य और विशेप दोनो वस्तुस्वरूप नही वन पायेगे, क्योकि वस्तु परिणाम नही हे, किन्तु वह परिणामवाली = परिणत है । अतः सामान्य और विशेप अवस्तु वनने की वजह नरशृग की भाँति असत् वन जायेगे' <— तो यह भी ठीक नही है, क्योकि सामान्य या विशेप न तो वस्तु है और न तो अवस्तु यानी सर्वथा वस्तुभिन्न नगी है, किन्तु वस्तु का एक देश = अश है - यही जैनसिद्धान्त है । जैसे समदर का छोटा भाग न तो पूर्ण समदर है और न तो सर्वथा समदर से भिन्न है किन्तु उसका एक अश कहा जाता हे, ठीक वैसे ही समानपरिणामस्वरूप सामान्य पदार्थ एव असमानपरिणामात्मक विशेप पदार्थ भी न तो सपूर्ण वस्तु है ओर न तो सर्वथा वस्तु से भिन्न है, किन्तु वस्तु का एक अश है । समान परिणाम को पूर्ण वस्तुस्वरूप मानने पर वस्तु के शेप परिणाम सर्वथा वस्तुभिन्न वन जायेगे या जितने परिणाम हे उतनी सख्या मे वस्तुएँ वन जायेगी और समानपरिणति को सर्वथा वस्तुभिन्न मानने पर शेप परिणाम भी वस्तु से सर्वथा भिन्न वनने की वजह वस्तु तत् तत् परिणाम से शून्य हो जायेगी और उसीकी वजह वस्तु की ही असिद्धि हो जायेगी। अतः मानना होगा कि सामान्य और विशेप दोनो ही वस्तु के अश है ।

अथ मिलिताभ्यां सामान्यविशेषाभ्यामेव कथञ्चिदनुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवहारस्यैकदा सम्भवात् तयोरेव जात्यन्तररूपताऽस्त्विति चेत् ?

❀ जयलता ❀

तत्त्वे क्वाऽस्तु समुद्भवः' ॥ ( ) एवं वस्तुनः स्याऽनुवृत्त्यंशः सामान्यं व्यावृत्त्यंशश्च विशेषपदार्थ इति सिद्धान्ताशयः ।

यत्तु शान्तरक्षितेन तत्त्वसङ्ग्रहे स्याद्वादपरीक्षाप्रकरणे —

'ननु सत्येकरूपत्वे धर्मभेदो न सिद्ध्यति । अकल्पितो विभेदो हि नानात्वमभिधीयते ॥

नानात्मत्वं तु शक्तीनां विवक्षामात्रनिर्मितम् । एकवस्त्वात्मकत्वे हि न भेदोऽत्रापि युक्तिमान् ॥

एकमित्युच्यते तद्धि यत्तदेवेति गीयते । नानात्मकं तु तन्नाम न तद्भवति वस्तुनः ॥

तद्भावश्चाऽप्यतद्भावः परस्परविरोधतः । एकवस्तुनि नैवाऽयं कथञ्चिदवकल्प्यते ॥

विधानप्रतिषेधौ हि परस्परविरोधिनौ । शक्यावेकत्र नो कर्तुं केनचित्स्वस्थचेतसा ॥

सजातीयविजातीयाऽनेकव्यावृत्तवस्तुनः । ततस्तत्परावृत्तेर्धर्मभेदस्तु कथ्यते ॥

एकस्यापि ततो युक्ता कल्पिताऽसद्बहुरूपता । वास्तवं नरभावस्य द्वैरूप्यमपि सङ्गतम् ॥

नरसिंहादयो ये हि द्वैरूप्येणोपवर्णिताः । तेषामपि द्विरूपत्वं भाविकं नैव विद्यते ॥

स ह्यनेकाणुसन्दोहस्वभावो नैकरूपवान् । यश्चित्र न तदेकं हि नानाजातीयरत्नवत् ॥

ऐक्ये स्यान्न द्विरूपत्वान्नानाकारावभासनम् । मक्षिकापदमात्रेऽपि विचित्रेऽनावृतिश्च न ॥

नृसिंहभागानुस्यूतप्रत्यभिज्ञानहेतवः । ते चाणवः प्रकृत्यैव विशिष्टप्रत्ययोद्भवात् ॥

एतेनैव प्रकारेण चित्ररत्नादयो गताः । नानात्मना हि सचित्र्यमकत्वेन निरूप्यते ॥

अर्थक्रियासमर्थत्वं वस्तुत्वमभिधीयते । यदि तस्यानुगामित्वं सर्वं स्यात्सर्वकार्यकृत् ॥(त.स. १७०८/१७३७) इत्युक्तम् ।

तत्र मया -> 'द्रव्यात्मनैकरूपत्वेऽप्यत्र भेदो न दुष्यति । पर्यायात्मतया वास्तवो विभेदोऽभिधीयते ॥१॥

नानात्मत्वं न शक्तीनां विवक्षामात्रनिर्मितम् । एकवस्त्वात्मकत्वेऽपि कथञ्चिद्भेदबोधतः ॥२॥

एकमित्युच्यते तद्धि यदनुवर्तते खलु । नानात्मकं तु तन्नाम तत्र यद् व्यतिरिच्यते ॥३॥

अवच्छेदकभेदेन परस्पराऽविरोधतः । एकत्राऽप्युभयं नैव कथञ्चिदवकल्प्यते ॥४॥

विधानप्रतिषेधौ हि परस्पराऽविरोधिनौ । एकत्र नयभेदेन शक्येते दूषितुं केन ? ॥५॥

कथञ्चिदनुवृत्तस्य व्यावृत्तस्य च वस्तुनः । एकानेकस्वभावत्वं बाधितुं नैव शक्यते ॥६॥

एकस्यापि ततो युक्ताऽकल्पिताऽसद्बहुरूपता । वास्तवं चैकभावस्य द्वैरूप्यमपि सङ्गतम् ॥७॥

नरसिंहादयो भावा द्वैरूप्येणाऽभ्युपेता हि । तेषामपि द्विरूपत्वं भाविकं नैव बाध्यते ॥८॥

कथञ्चिदणुसन्दोहव्यतिरिक्ताः स्वभावतः । अतो न सर्वथा नानात्वमाबिभ्रति ते खलु ॥९॥

नानात्वे स्यात्कुतोऽखण्डाकारावभासनं तदा । तदेकदेशकर्षे कुतो नाऽन्यभागकर्षणम् ॥१०॥

नृसिंहभागानुस्यूतप्रत्यभिज्ञानहेतवः । ते चाऽणवः प्रकृत्यैवेत्यत्र मानं न विद्यते ॥११॥

एतेनैव प्रकारेण चित्ररत्नादयो मताः । द्रव्यैकत्वं विरुद्धं न चित्रपर्यायराशिभिः ॥१२॥

द्रव्यात्मनाऽनुगामित्वं पर्यायैर्व्यतिरेकिता । वस्तुत्वेऽपि ततो नैव सर्वं स्यात्सर्वकार्यकृत् ॥१३॥

व्यवहारानुरोधेन तत्तदर्थक्रिया मता । एकाऽनेकस्वभावत्वेऽप्यर्थक्रिया न दुष्यति ॥१४॥'' <— इत्येवं प्रतिविधीयते ।

परः शङ्कते- अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । मिलिताभ्यां सामान्यविशेषाभ्यामेवेति । एवकारेण परस्पराऽसम्मिलितयोस्तयोः परस्परसम्मिलिततदुभयव्यतिरिक्तस्य जात्यन्तररूपस्य सामान्यविशेषत्वस्य च व्यवच्छेदः कृतः । तयोरेवेति । मिलितयोः सामान्यविशेषयोरेवेति । एवकारेण चाऽमिलिततदुभय-तद्व्यतिरिक्तसामान्यविशेषत्वयोर्व्यवच्छेदः कृतः । युगपदनु-

---

अथ मि. इति । यहाँ यह शंका हो कि -> 'नय की दृष्टि मे सामान्य और विशेष दो परिणाम और प्रमाण की दृष्टि मे उन दोनो से भिन्न जातिविशेषरूप सामान्यविशेषात्मकत्व की कल्पना करने की अपेक्षा यही कल्पना करनी उचित महसूस होती है कि नयगोचर सामान्य और विशेष ही समिलित हो कर एक काल मे कथंचित् अनुवृत्तिबुद्धि और व्यावृत्तिबुद्धि को

प्रमाणार्पणयैकत्वेन पर्यवसितयोराधारतया प्रतीयमानयोस्तयोरेव समुदायित्वेन तथात्वमुत्पश्याम । अंशांशिनोर्विवक्षाभेदेनैव भेदात्, परमार्थतो भेदेंऽशांशिभावाऽसम्भवात् । यथा हि कणानामेव समुदितानां राशित्व, असमुदितानां तु तदेकदेशत्व तथाऽत्राऽपि भावनीयमिति दिक् ।

अत्र दृष्टान्तमाहु. - विरुद्धेति । विरुद्धाना परस्परकरम्बितस्वभावानां वर्णाना = नीलपीतादीनां योग = समावेश , हि = यत दृष्ट = प्रमाणसिद्ध:, मेचकवस्तुषु = नानारूपवद-

❀ जयलता ❀

वृत्तिव्यावृत्तिधीव्यवहारकृते जात्यन्तरात्मकस्य मिलितसामान्य-विशेषव्यतिरिक्तस्य नयसमूहात्मकप्रमाणसम्मतस्य सामान्यविशेषत्वस्य कल्पनमनावश्यकमित्यथाशय ।

नयभेदेनाऽनेकविधत्वेन सिद्धयोरपि प्रमाणेनैकत्वविधया फलितयो सामान्यविशेषयोराधारत्वेन प्रतीयमानत्वात् सन्तानित्वविधया जात्यन्तरत्वमित्याशयेन प्रकरणकृत्समाधत्ते - **प्रमाणार्पणया** = प्रमाणविवक्षया, **एकत्वेन** = अभिन्नत्वेन रूपेण, **पर्यवसितयोः** = प्रसिद्धयो **आधारतया** = धर्मित्वेन रूपेण **प्रतीयमानयोः तयोः** = सामान्यविशेषयो **एव समुदायित्वेन** = अशत्वेन **तथात्व** = जात्यन्तरत्वमिति । सामान्यविशेषयो प्रमाणावतारेऽभिन्नत्व तयोर्धर्मित्वेन ज्ञायमानत्वात् । धर्मित्वेन ज्ञायमानत्वेऽपि धर्मरूपेण तयोरेव जात्यन्तरत्वम् । **न च** वस्त्वशभूतस्य सामान्यस्य विशेषस्य वा कथ ततोऽभिन्नत्व येन तयोस्ततोऽभिन्नत्वमित्याशङ्कनीयम्, वस्त्वशस्य वस्तुतो वस्तुनो भिन्नत्वेऽपि विवक्षाविशेषेणैव तद्भेदादित्याशयेन प्रकरणकृदाह - **अशांशिनोः** = वस्तु-तदेकदेशयो **विवक्षाभेदेनैव भेदात्** = परस्पर भिन्नत्वात् । एवकारफलमाह - **परमार्थतः** = वस्तुगत्या, वस्तु-तदशयो परस्पर **भेदे** अभ्युपगते सति तयो **अशांशिभावाऽसम्भवात्** । न हि वस्तु-तदेकदेशयो परस्पर सर्वथा भेदे सत्यशांशिभाव सम्भवति, अन्यथा विन्ध्यहिमाचलयोरपि परस्परमशांशिभावप्रसङ्गात् । समुदायसमुदायिनो कथ वस्तुतोऽभेद सम्भवतीत्याशङ्कायामाह - **यथेति** । **अत्राऽपि भावनीयमिति** । सामान्यविशेषयो. समुदितयो. वस्तुत्व बुद्ध्या पृथक्कृतयो· तयोरेव वस्त्वेकदेशत्वमित्येव भावना कार्येत्यर्थ ।

ननु सामान्य-विशेषयो परस्पर विरुद्धत्वेन कथमेकत्र धर्मिणि तदुभयसमावेशो घटामञ्चेदित्याशङ्कायामाह- **अत्र** = सामान्यविशेषयोरेकत्र समावेशे, **दृष्टान्तमाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरय** इति शेष । **विरुद्धाना** = विरुद्धत्वेन पराभिमताना, पर वस्तुगत्या **परस्परकरम्बितस्वभावाना** = अन्योऽन्यानुरक्तशीलाना **वर्णाना नीलपीतादीना समावेशः प्रमाणसिद्धः** = लोकप्रसिद्ध-प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्ध , एकत्रैव **मेचकवस्तुष्विति** । 'नीलपीतादीना विरुद्धत्व परस्परकरम्बितस्वभावत्वञ्चाऽभिधीयमान कथ

उत्पन्न करते है । अतः समानपरिणाम और असमानपरिणामरूप सामान्य और विशेप को ही जातिविशेपात्मक मानना युक्त है । सामान्य ओर विशेप से अतिरिक्त सामान्यविशेपत्वरूप जातिविशेप की कल्पना करने मे गौरव है' <— तो यह भी असगत है । इसका कारण यह है कि प्रमाण की विवक्षा होने पर एकत्वेन = अभिन्नरूप से फलित होते हुए और आधारत्वरूप से प्रतीयमान समान परिणाम और असमान परिणाम ही समुदायीरूप से जातिविशेपात्मक वनते है । यही हमे (= प्रकरणकार महामहोपाध्यायजी को) सगत लगता है । अश और अशी मे वस्तुतः विवक्षाभेद से ही भेद है, न कि परमार्थ से । यदि अश और अशी के वीच परमार्थ से भेद मान जाय तव तो विध्याचल और हिमालय की भॉति उन दोनो के वीच अशांशिभाव = अवयवाऽवयवीभाव ही नामुमकिन हो जायेगा । अतः उन दोनो के वीच कथंचित् अभेद मानना युक्त ही है । जैसे धान्यकण इकट्ठे होते है, तव वे राशि या समुदाय कहलाते है और जव वे स्वतत्र होते है तव समुदाय का एक देश कहलाते है । ठीक वेसे ही सदृश परिणाम और असदृश परिणाम परस्पर मिलित होते है, तव समुदाय या वस्तु कहलाते है । मगर जव वुद्धि से वे अलग किये जाते हे, तव वे वस्तु के एक देश कहलाते है । इस विपय मे अधिक विचार भी किया जा सकता है । यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है । इस वात की सूचना देने के लिए प्रकरणकार ने दिक् शब्द का प्रयोग किया है ।

चित्र घट में नील-पीतादिवर्ण परस्परानुविद्धस्वभाववाले होते हैं

अत्र दृ इति । यहाँ यह प्रश्न हो कि —> 'सामान्य और विशेप तो परस्पर विरुद्ध होने की वजह एक धर्मी मे कैसे समाविष्ट हो सकते है ?' <— तो इसका समाधान देने के लिए मूलकार श्रीमद् हेमचद्रसूरीश्वरजी महाराजा वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की सातवीं कारिका के उत्तरार्ध मे यह वताते है कि नील, पीत, रक्त आदि वर्ण को प्रतिवादी परस्परविरुद्ध मानते है मगर फिर भी वे परस्परमिलितस्वभाव वाले होते है । अतएव अनेकविध वर्ण से आरब्ध अवयवी मे, जिन्हे मेचकवस्तु

वयवाऽऽरब्धावयविषु । नीलपीतादीनां परस्परकरम्बितस्वभावं विना 'एकश्चित्रो घटः' इति विलक्षणप्रतीत्यनुपपत्तेः ।

अथैतत्प्रतीत्यनुरोधाच्चित्रमतिरिक्तमेवास्त्विति चेत् ? न, नीलत्वादिनापि तत्प्रतीतेः । परम्परयाऽवयवनीलादिकमेव तत्प्रतीतेर्विषय इति चेत् ? तर्ह्यवयवानामेवाऽवयवितया

❋ जयलता ❋

सम्भवति'त्याशङ्कायामाह- नीलपीतादीनां परैर्विरुद्धत्वेनाऽङ्गीकृतानामपि वस्तुतः परस्परकरम्बितस्वभावं = इतरेतरानुविद्धशीलं विना 'एकश्चित्रो घटः' इतिविलक्षणप्रतीत्यनुपपत्तेरिति । न हि नानावर्णानामेकत्र प्रमितिः परस्परानुवेधमृते सम्भवतीत्याशयः ।

परः शङ्कते- अथेति । एतत्प्रतीत्यनुरोधात् = 'एकश्चित्रो घटः' इति प्रतीतिबलात्, चित्रं = चित्रपदवाच्यं रूपं, अतिरिक्तमेव = नीलपीतादिव्यतिरिक्तमेव अस्तु । तथा च नैकत्र धर्मिणि नीलपीतादीनि, तदा 'अयं घटोऽत्र नीलः तत्र च पीतः' इत्यादिप्रतीतिर्नैवोपपद्येत । तदन्यथानुपपत्त्या अवयविन्यपि नीलपीतादीनि रूपाणि स्वीकार्याणि, अन्यथानुपपत्तेः सर्वतो बलवत्त्वादित्याशयेन प्रकरणकारः प्रतिकरोति - नेति । नीलत्वादिनाऽपि, किमुत चित्रत्वेनेत्यपिशब्दार्थः तत्प्रतीतेः = अवयविवर्णप्रत्ययात् । यदि चाऽवयविनि चित्रमेव रूपं स्यात् तर्हि 'चित्रोऽयं घटः' इत्येव प्रतीयेत, न तु 'अत्राऽयं नीलः' इत्यादिकम् । अतो नाऽवयविनि क्लृप्तनीलादिव्यतिरिक्तचित्ररूपमभ्युपगन्तव्यमित्यभिप्रायः ।

ननु 'चित्रोऽयं घटः' इति नीलादतिरिक्तचित्ररूपसिद्धौ 'अत्राऽयं नीलस्तत्र च पीतः' इत्यादिप्रतीतिस्त्ववयवसमवेत-नीलपीतादिवर्णैरेवोपपद्येत, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनाऽवयवनीलादिरूपाणामवयविनि सत्त्वात् । ततश्च न चित्रघटादौ समवायेन नीलपीतादिस्वीकारः प्रामाणिक इत्यभिप्रायेण चित्ररूपवादी शङ्कते- परम्परयेति । स्वसमवायिसमवेतत्वलक्षणपरम्परासम्बन्धेन । रूपपदवाच्यानां नीलपीतादिरूपाणां समवायिष्ववयवेषु अवयविनो घटादेः समवेतत्वात्किन्त्वेतत्सम्बन्धेन अवयवनीलादिकमेव = कपालादिसमवेतनीलपीतादिरूपमेव, तत्प्रतीतेः = 'घटोऽयमत्र नीलोऽपरभागे च पीत'इतिधियः विषयः, न तु घटसमवेतनीलपीतादिकमित्येवकारार्थः । वर्णादिव्याप्यवृत्तित्वेन चित्ररूपसमवायिन्यवयविनि न तद्भिन्नानां नीलपीतादीनां सम्भव इति चित्ररूपवादिनोऽभिप्रायः । प्रकरणकृत्समाधत्ते- तर्हीति । 'एतानि कपालान्येव घटतया परिणतानी'त्यादिप्रतीत्या

कहते है, तादृश नील, पीत, रक्त आदि वर्ण का समावेश होता है, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से प्रसिद्ध है । प्रतिवादी नैयायिक वगैरह नील, पीत, रक्त आदि वर्ण को परस्परविरुद्ध मानते है । मगर वस्तुतः वे परस्पर विरोधी नही है, किन्तु परस्परमिश्रितस्वभाव वाले होते है । यदि उन्हे परस्परानुविद्धस्वभाव वाले न माने जाय, तब तो 'यह एक घट चित्ररूपवाला है' इत्यादि प्रतीति ही अनुपपन्न बन जायेगी । एक ही घट मे नील, पीत, रक्त आदि वर्ण के परस्परमिश्रितस्वभाव को नही मानने पर तो 'नीलो घटः पीतो घटः, रक्तो घटः' इत्यादि प्रतीति होगी, न कि 'यह घट चित्ररूप वाला है' इत्याकारक प्रतीति । मगर 'शबलोऽयमेको घटः' इत्याकारक प्रतीति प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक होने की वजह नील, पीत, रक्त आदि वर्ण को परस्परमिश्रितस्वभाववाले मानने आवश्यक है । जैसे नील, पीत, रक्त आदि वर्ण परस्परानुविद्धस्वभाववाले होते है, ठीक वैसे ही प्रत्येक वस्तु मे सामान्य, विशेष आदि भी परस्परानुविद्ध स्वभाववाले ही होते है । अतः एक धर्मी मे उनका समावेश मानने मे कोई विरोध आदि दोष नही है - यह फलित होता है ।

❧ चित्र रूप सर्वथा अतिरिक्त नही है ❧

अथेत इति । यहाँ यह नैयायिकवक्तव्य कि -> ''यदि उपर्युक्त 'एकः चित्रो घटः' इस प्रतीति को प्रामाणिक ही मानी जाय, तब तो उस प्रतीति के बल से ही आपको अतिरिक्त चित्र रूप का स्वीकार करना पडेगा, जो नील, पीत, रक्त आदि प्रत्येक वर्ण से सर्वथा भिन्न ही होगा । अगर यह स्वीकार किया जाय, तब तो नील, पीत, रक्त आदि अनेक वर्ण को परस्परमिश्रित स्वभाव वाले मानने की आवश्यकता नही है, क्योंकि उस घट मे नील, पीत, रक्त आदि वर्ण नही है, किन्तु एक ही चित्र वर्ण है' <-- भी असंगत है । इसका कारण यह है कि चित्र घट मे केवल एक चित्र वर्ण का ही स्वीकार किया जाय, तब तो घट के एक देश मे 'यह नील है', अन्य भाग मे 'यह पीत है', इतर अंश मे 'यह रक्त है' इत्यादि प्रतीति नही हो सकेगी, क्योंकि आप नैयायिक महाशय चित्र घट मे नील, पीत, रक्त आदि वर्ण का स्वीकार करते ही नही है । मगर उपर्युक्त नीलत्वादिप्रकारक प्रतीति तो चित्र घट मे भी होती ही है, यह तो सर्वजनविदित है । इन प्रतीतियो की अन्यथा अनुपपत्ति से चित्र घट मे भी नील, पीत, रक्त आदि अनेक वर्ण का स्वीकार करना उचित है । अतएव उन नील, पीत, रक्त आदि वर्ण को परस्परमिश्रित स्वभाव वाला भी मानना होगा । यहाँ यह शंका हो कि->

परिणमनात्सिद्धमवयविन्यपि नीलादिकं, उद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादिना चित्रत्वव्यवहाराच्च नोद्भूतनीलमात्रवति तदापत्तिः । सामान्यतस्तु चित्रपदाद्रूपविशिष्टरूपत्वेनैव बोधस्तेन नाऽ-

❀ जयलता ❀

अवयवानामेव अवयवितया परिणमनात् परिणामपरिणामिनो स्यादभेदात् **सिद्ध अवयविनि घटादौ अपि नीलादिकम्** । स्ववृत्ते स्वाऽभिन्नवृत्तित्वेऽविवादात् । साक्षात्सम्बन्धेन निरुक्तप्रतीतेरुपपत्तौ परम्परासम्बन्धकल्पने मानाभावात्, गौरवाच्च ।

नन्ववयविनि चित्ररूप तिरस्कृत्य नीलपीतादिवर्णाभ्युपगमे कथ 'एकोऽय चित्रो घट' इतिप्रतीतेर्व्यवहारस्य चोपपत्ति ? नीलादेरेव तत्प्रतीतिविषयत्वे कथ न नीलमात्रवत्यवयविनि चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारप्रसङ्ग ? इत्याशङ्काद्वय 'एकेनैव शस्त्रेणोभयव्याहतिरिति न्यायेनाऽपाकर्तुमुपक्रमते - **उद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादिनेति** । **चित्रत्वव्यवहाराच्चेति** । चकारेण चित्रत्वप्रकारकप्रतीतेरुपग्रह· । प्रतिस्कन्ध पञ्चवर्णानामभ्युपगमात्सर्वस्कन्धे चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारनिराकरणार्थमुद्भूतेत्युक्तमुभयत्र, तेन नाऽनुद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादिमति अनुद्भूतनीलविशिष्टानुद्भूतपीतादिमति वा चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारप्रसङ्ग । वैशिष्ट्यञ्च समवायेनाऽपृथग्भावसम्बन्धेन वा ग्राह्य, तेन नातिप्रसङ्ग । **एतेनातिरिक्तचित्ररूपाऽनङ्गीकारे** 'चित्रोऽय घट'इतिप्रतीतेरनुपपत्तिरपि **प्रत्युक्ता** । दोषान्तरमपाकरोति - ***नोद्भूतनीलमात्रवति तदापत्तिः*** = चित्रत्वप्रकारकप्रतीतिव्यवहारप्रसङ्ग , तन्निमित्तीभूतोद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतादेर्विरहात् । अत एव 'चित्रो द्विरेफ' इत्यादेर्व्यवहाराऽसत्यत्वमुपवर्णित सङ्गच्छते, व्यावहारिकसत्यत्वनिमित्तविरहात्, तत्र पीतादेरनुद्भूतत्वात् ।

ननु तथापि सर्वत्र भवन्नये उद्भूतशुक्लविशिष्टोद्भूतपीतादेरुदस्वित् उद्भूतपीतविशिष्टोद्भूतशुक्लादेरित्यत्र विनिगमनाविरहात्तन्निमित्ताननुगमस्य दुर्वारत्वम् । अत एव चित्रपदजन्यप्रतीतिनिरूपितविशेष्यताया अवच्छेदकमुद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतत्वादिकमुद्भूतपीतविशिष्टोद्भूतनीलत्वादिक वा ? इत्यत्रापि विनिगमनाविरहोऽपरिहार्य इत्याशङ्काया प्रकरणकृदाह - **सामान्यतस्त्विति** ।

'चित्र घट मे जो नील, पीत, रक्त आदि वर्ण की प्रतीति होती है, वह वस्तुतः घटसमवेत वर्ण को अपना विषय नही बनाती है, किन्तु घट के अवयव कपाल मे समवेत नीलादि वर्ण को अपना विषय बनाती है । घट मे स्वाश्रय-समवेतत्वसम्बन्धात्मक परम्परासंसर्ग से नीलादि वर्ण का भान होता है । स्व = कपालवर्ण के आश्रय = कपाल मे घट समवेत होने से स्वाश्रयसमवेतत्वसबन्ध से कपालवर्ण घट मे रहते है । निरुक्त परम्परासम्बन्ध से ही चित्र घट मे नील, पीत, रक्त आदि वर्ण का भान होता है' <— तो यह भी अनुचित है, क्योकि फिर भी अवयव ही अवयवी के स्वरूप मे परिणत होने से अवयवगत वर्ण अवयवी मे भी साक्षात् सम्बन्ध से ही रह सकता है । आशय यह है कि 'ये कपाल ही घट हो गये' इत्याकारक प्रतीति सर्वजनविदित है, जो अवयव-अवयवी मे परिणाम-परिणामिभाव को अपना विषय बनाती है । जिनके बीच परिणाम-परिणामिभाव होता है, वे परस्पर कथचित् अभिन्न होते हे । अतः नैयायिक मनीपी कपाल मे नील, पीत, रक्त आदि वर्ण का स्वीकार करते हे, वे कपालाऽभिन्न घट मे भी सिद्ध हो जाते है । अतएव चित्र अवयवी घट आदि मे भी अनेक वर्ण का समावेश सिद्ध होता है । यहाँ इस शका का कि —> 'यदि अवयवी घट आदि मे नील, पीत, रक्त आदि अनेक वर्ण माने जाय ओर उनसे अतिरिक्त चित्र वर्ण न माना जाय तव तो 'चित्रोऽय घटः' इत्यादि व्यवहार एव प्रतीति कैसे हो सकेगी ?' <— समाधान यह हे कि चित्रत्वप्रकारक प्रतीति एव व्यवहार का निमित्त अतिरिक्त चित्र वर्ण नही है, किन्तु उद्भूतनीलवर्णविशिष्ट पीत रूप आदि हे । घट मे साक्षात् सवन्ध (समवाय या अपृथग्भाव) से नील, पीत, आदि अनेक उद्भूत रहते हे । अतः साक्षात्सवन्धघटित सामानाधिकरण्यसवन्ध से उद्भूतनीलवर्णविशिष्ट पीत वर्ण आदि घट मे रहने से तन्निमित्तक चित्रत्वप्रकारक प्रतीति एव व्यवहार निरावाध है । उद्भूतशब्द का विशेपणविधया निवेश करने का प्रयोजन यह हे कि जेनागम के अनुसार प्रत्येक वादर स्कन्ध मे पॉच वर्ण रहते है । अतः नीलविशिष्टपीत वर्ण आदि को चित्रत्वप्रकारक प्रतीति एव व्यवहार की आपत्ति मुँह फाडे खडी रहती है । उसके निवारणार्थ 'उद्भूत' ऐसा कहा गया है । केवल उद्भूतनीलवर्ण-वाली वस्तु मे भी वही आपत्ति ज्यो कि त्यो बनी रहती है । अतः उद्भूतनीलविशिष्ट उद्भूत पीत वर्ण आदि को उसका निमित्त माना गया हे । अव वह आपत्ति नो-दो-ग्यारह हो जाती है, क्योकि केवल उद्भूत नीलवर्णवाली वस्तु मे सामानाधिकरण्य सवन्ध से उद्भूतनीलवर्णविशिष्ट उद्भूत पीत वर्ण नही हे, जो चित्रत्वप्रतीति एव तथाविध व्यवहार का निमित्त है ।

रूपविशिष्टरूपत्व चित्रपदप्रवृत्तिनिमित्त है - स्याद्वादी

सामा इति । यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'चित्रोऽय घटः' इत्यादि वाक्य को सुन कर सामान्यतः उद्भूतनीलवर्णविशिष्ट

ननुगमः ।

अथैव 'चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपवानि'ति सहप्रयोगो न स्यादिति चेत् ? न, विवरणादिरूपतया तदुपपत्ते ॥७॥

अथानेकान्ते परेषामपि सम्मतिमुपदिदर्शयिषव प्रथमतस्ताथागतसम्मतिमाविष्कुर्वन्ति ->

❀ जयलता ❀

चित्रपदात् = चित्रपदं श्रुत्वा, रूपविशिष्टरूपत्वेनैव = उद्भूतरूपविशिष्टाऽपरोद्भूतरूपत्वेनैव बोध: = शाब्दबोध न तूद्भूतनीलविशिष्टपीतत्वादिना उद्भूतपीतविशिष्टनीलत्वादिनेत्येवकारार्थ । तेन = चित्रपदजन्य-रूपविशिष्टरूपत्वप्रकारकशाब्दबोधाभ्युपगमेन न चित्रपदजन्यशाब्दबोधविशेष्यतावच्छेदके अननुगमः । एतेन चित्रपदप्रवृत्तिनिमित्ताननुगमोऽपि प्रत्याख्यातः । न हि 'चित्रो घट' इति वाक्यात् उद्भूतनीलविशिष्टोद्भूतपीतत्वादिप्रकारिका उद्भूतपीतविशिष्टोद्भूतनीलत्वादिप्रकारिका वा शाब्दी प्रमोपजायते किन्तूद्भूतरूपविशिष्टापरोद्भूतरूपप्रकारिकैव । न च लाघवाच्चित्रत्वमतिरिक्तमेवाभ्युपगन्तव्य, न तूद्भूतरूपविशिष्टापरोद्भूतरूपत्व गौरवादिति वक्तव्यम्, लक्ष्यतावच्छेदकत्वस्येव शक्यतावच्छेदकत्वस्यापि गुरुधर्मे स्वीकारात् । न हि निरुक्तविशिष्टरूपत्व विहायाऽतिरिक्त चित्रत्व स्वप्नेऽपि प्रतीयते प्रेक्षावद्भि ।

पर शङ्कते - अथेति । एव = रूपविशिष्टरूपत्वस्यैव चित्रपदशक्यतावच्छेदकत्वेऽभ्युपगम्यमाने, 'चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपवानि'ति सहप्रयोगः = रूपविशिष्टरूपवत्पदसमभिव्याहृतचित्रपदप्रयोग न स्यात्, पौनरुक्त्यात् । अत चित्ररूपमतिरिक्तमेवेत्यथाभिप्राय । प्रकरणकृत्तन्निराकरोति - नेति । विवरणादिरूपतया तदुपपत्तेः = प्रदर्शितवाक्यप्रयोगस्य सम्भवात् । तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथन विवरणमुच्यते । यथा 'नात्रालोक किन्तु तम' इतिप्रयोगो विवरणेच्छयोच्चरितत्वेनाऽदुष्ट तथैव 'चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपवानि'ति प्रयोगोऽपि दोषानावह इति भाव । ततश्च नास्ति नीलपीतादित सर्वथा व्यतिरिक्त विजातीय चित्ररूपमिति प्रघट्टकार्थ ।

अष्टमकारिकाप्रस्तावार्थमुपक्रमते - अथेति । परेषा = अनेकान्तद्वेषिणामेकान्तवादिना, अपि संमतिमुपदिदर्शयिषव:

उद्भूतपीतवर्णत्वरूप से चित्र वर्ण का भान घट मे नहीं होता है किन्तु रूपविशिष्टरूपत्व प्रकार से ही चित्र रूप का बोध होता है । अत. चित्रपदजन्य प्रतीति का प्रकार कभी उद्भूतनीलविशिष्ट उद्भूतपीतत्व आदि बनने की वजह जो अननुगम दोष प्रसक्त होता था, वह निराकृत हो जाता है । 'घट का वर्ण चित्र है' इस वाक्य से घट मे अनेक रूप का यानी एकरूपसमानाधिकरण अपर रूप का ही भान होता है-यह तो सर्वविदित ही है । अत· चित्रपद के प्रवृत्तिनिमित्तविधया रूपविशिष्टरूपत्व का ही स्वीकार करना उचित है, न कि नीलत्वादि से व्यतिरिक्त चित्रत्व जाति का - यह फलित होता है । यहाँ यह शका करना कि -> ''यदि चित्रपद का प्रवृत्तिनिमित्त रूपविशिष्टरूपत्व है, तब तो 'चित्रो घटो रूपविशिष्टरूपवान्' इत्यादि स्थल मे चित्रपद और रूपविशिष्टरूपवान् पद का सहप्रयोग = एक वाक्य मे पूर्वोत्तर प्रयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि रूपविशिष्टरूप पद से जिस वर्ण का भान कराना है उसका भान तो चित्रपद से ही हो चुका है । मतलब कि 'शुक्लो घटः कुम्भः' यह वाक्य जैसे पुनरुक्ति दोष से ग्रस्त है, ठीक वैसे ही उपर्युक्त वाक्यप्रयोग भी पुनरुक्तिदोष से कलंकित होगा । अत चित्रपद के प्रवृत्तिनिमित्तविधया अतिरिक्त चित्रत्व जाति का स्वीकार करना होगा, जो रूपविशिष्टरूपत्व से भिन्न होने की वजह उपर्युक्त वाक्य से जन्य शाब्दबोध को अधिकाशावगाही बनायेगा । फलतः पुनरुक्ति दोष का निवारण हो जायेगा'' <- भी नामुनासिब है, क्योंकि उपर्युक्त सहप्रयोग की उपपत्ति तो उक्त वाक्य को विवरणरूप मानने से भी हो सकती है । मतलब यह है कि 'घटपदार्थ क्या है ?' इस जिज्ञासा के समाधानार्थ 'घट कुम्भ ' इत्याकारक वाक्यप्रयोग होता है, जो विवरणात्मक होने की वजह पुनरुक्ति दोष का आपादक नहीं है । विवरण का अर्थ है 'तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथन' यानी तत् पद का जो अर्थ है, उसके समान अर्थ के वाचक अन्य पद से उसी अर्थ का कथन करना । प्रस्तुत मे चित्रपद का प्रयोग होने के बावजूद भी रूपविशिष्टरूपवान् पद का प्रयोग निरस्त विवरणस्वरूप होने की वजह पुनरुक्ति दोष का आक्षेपक नहीं है । अतः रूपविशिष्टरूपत्व को चित्रपद का प्रवृत्तिनिमित्त मानने मे कोई क्षति नहीं है - यह ध्वनित होता है ॥७॥

आठवीं कारिका की व्याख्या

अथा इति । सातवीं कारिका मे नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल का एक धर्मी मे समावेश सिद्ध कर के अनेकान्तवाद की प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतिष्ठा की गई है । अब मूलकार श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज अन्य दर्शनीओ की अनेकान्तवाद मे

विज्ञानेति ।

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम् ।
इच्छस्तथागत प्राज्ञो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

विज्ञानस्य = **संविदः**, *एक आकार* = **स्वरूप**, *नानाकारकरम्बित* = **चित्रपटाद्यनेकाकारमिश्रित**, *इच्छन्* = **अभ्युपगच्छन्**, *तथागत* = **बौद्धः**, *नानेकान्तवाद प्रतिक्षिपेत्* = **निराकुर्यात् । तस्याऽनेकान्तवादनिराकरणं न बलवदनिष्टाननुबन्धीत्यर्थः । यदि प्रतिक्षिपेत्तदा** *प्राऽज्ञ* = **प्रकर्षेण अज्ञः = भ्रान्त एव ।** *यदि तु प्राज्ञ* = **पडित· अभ्रान्त इति यावत्तदा न प्रतिक्षिपेदेव । स हि परमाणौ मानाभावात्** *तत्सिद्धयधीनस्थूलावयवित्वस्याऽप्यसिद्धे*

※ जयलता ※

श्रीहेमचन्द्रसूरयः, प्रथमतः ताथागतसमति = योगाचाराभिधानबौद्धविशेषस्वीकृति **आविष्कुर्वन्ति - विज्ञानेति ।** सोपयोगित्वात्सङ्क्षिप्तत्वाच्चात्राऽन्यव्याख्या दर्शयाम । **वीतरागस्तोत्रावचूर्णौ** –> 'विज्ञानस्यैकमाकार = स्वरूप, नाना = विचित्रा ये आकारा घटादीना तै करम्बित = मिश्र इच्छन् = अभिलषन्, तथागत = बौद्ध अनेकान्त = स्याद्वाद न प्रतिक्षिपेत् = उत्थापयेत् । कथम्भूत ? प्राज्ञ = ज्ञाता, प्रकर्षेण अज्ञ = मूर्खोऽपि, यत स्याद्वाद स्वीकुर्वस्त्वा नोपास्ते' (वी स्तो अव पृ ८२) इत्युक्तम् । **वीतरागस्तोत्रविवरणे च** –> 'विज्ञानस्य = सविद एकमेव स्वरूप नानाचित्रपटाद्यनेकाकारमिश्र समभिलषन् बौद्धो नानेकान्त निराकुर्यात् । अत एव प्राज्ञ । ज्ञानाद्वैतवादिना हि मते एकमेव चित्रज्ञान ग्राहक तस्य चाशा ग्राह्या इत्येकस्यैव ग्राह्यत्व ग्राहकत्वश्चाभ्युपगच्छन् कथमनेकान्तवाद निराकुर्यात् ? यदि प्रकर्षेणाऽज्ञो न स्यात् । यत एकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलाऽनीलयो परस्परविरुद्धयोरप्यविरोधेनोररीकारात् । तस्मात्ताथागतैरभ्युपगत एव स्याद्वाद ' <– इति (वी स्तो वि पृ ८२) व्याख्यातम् ।

यदि प्रतिक्षिपेत् स्याद्वाद **तदा प्राऽज्ञः = प्रकर्षेणाऽज्ञः भ्रान्त एव**, एकाकारे ज्ञानेऽनेकाकारानभ्युपगम्य आपेक्षिकविरुद्धधर्मविभूपितधर्मिप्रतिपादकस्याद्वादप्रतिक्षेपे 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापातेन देवानाप्रियत्व स्पष्टमेव । अभ्रान्तत्वस्यानेकान्तवादाऽप्रतिक्षेपित्वव्याप्यत्वसमर्थनार्थमाह - **स** इति । अस्य 'ज्ञानाद्वैतमेव स्वीकुरुत' इत्यनेनान्वय. । तत्र हेतूनावेदयति - **परमाणौ मानाभावादिति ।** पूर्वदिगवस्थितो यथा परदिगवस्थितेन परमाणुना परदिगवच्छेदेनावृत उत्तरकालस्थैव किं पूर्वदिगवच्छेदेनाऽपि, न वा उभयथा वा ? इति विकल्पत्रयी समुपतिष्ठते । तत्र नाद्य सम्यक्, उभयतोऽप्यनुलब्धिप्रसङ्गात् । नापि द्वितीय., उभयतोऽप्युपलम्भापत्ते । तृतीये पुनर्विरोध इति नास्ति परमाणु । तदभावे च कुत· तद्घटिताऽवयविन सिद्धि, ? इत्याह - **तत्सिद्धयधीनस्थूलावयवित्वस्य** = परमाणुसिद्ध्युपजीवकस्य स्थूलावयवित्वस्य अपि

सम्मति बताने की इच्छा से सर्वप्रथम तथागत = बौद्ध की सम्मति को आठवीं कारिका मे प्रकट करते हैं । कारिका का सामान्य अर्थ यह है कि - अनेक आकार से मिश्र एक आकार वाले विज्ञान को मान्य करने वाला प्राज्ञ बौद्ध अनेकान्तवाद का प्रतिक्षेप नही कर सकता । प्रकरणकार श्रीमद् महोपाध्यायजी महाराज इस कारिका मे निहित अर्थ का आविष्कार करते हुए कहते है कि विज्ञान यानी सवेदन के एक स्वरूप को चित्रपट आदि अनेक आकार से मिश्रित मानने वाला बौद्ध अनेकान्तवाद का निराकरण नही कर सकता हैं । अर्थात् अनेकान्तवाद का निराकरण बौद्ध के लिए बलवदनिष्ट का अननुबंधी नहीं है । आशय यह हे कि ग्राहकत्वरूप से ज्ञान का एक स्वरूप होने पर भी नील, पीत, आदि अनेक स्वरूप भी हे - यह मान्यता अनेकान्तवाद का अवलम्बन करने पर ही स्थिर हो सकती है । अपने सिद्धान्त की नींव अनेकान्तवाद को तिरस्कृत करने का मतलब यही हुआ कि वह तिरस्कार अपने पाँव पर ही कुठाराघातुल्य है । अतएव वह बलवान् अनिष्ट का अनुबंधी होगा । बलवदनिष्ट के अनुबन्धी स्याद्वादप्रतिक्षेप करने पर तो बौद्ध (= योगाचार) प्राऽज्ञ यानी प्रकर्ष से अज्ञ = भ्रान्त हो जायेगा, क्योकि अपसिद्धान्त दोष का आश्रय बुद्धिमान् नही करता है, किन्तु मूर्ख ही करता है । यदि बौद्ध प्राज्ञ यानी पडित = अभ्रान्त होगा, तब तो वह सापेक्षवाद का निराकरण कभी भी नहीं करेगा ।

ज्ञानाद्वैतसिद्धि

स हि इति । यहाँ योगाचार बौद्धविशेष का यह मत है कि –> ज्ञान से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है ।

नीलादेः प्रतिभासत्वान्यथानुपपत्त्या विषयं विनापि वासनामात्रेण धिया विशेषाच्च ज्ञानाद्वैतमेव स्वीकुरुते । तच्च ज्ञानं ग्राहकतयैकस्वभावमपि ग्राह्यतयाऽनेकीभवत् स्वांशान्

❀ जयलता ❀

असिद्धेरिति ।

नन्वेवं विषयस्यैवाऽसिद्धौ तत्सिद्ध्यधीनसिद्धिकस्य विषयिणो ज्ञानस्याऽप्यसिद्धिरित्याशङ्कायामाह- नीलादेः प्रतिभासत्वाऽन्यथानुपपत्त्या विषयं विनापि वासनामात्रेण = केवलं वितथविकल्पेन धिया विशेषाच्च ज्ञानाद्वैतमेव स्वीकुरुते इति । यदि हि विषयवत् ज्ञानमपि न स्यात् तर्हि प्रसिद्धप्रतिभासोऽपि नैव सम्भवेत् । न चैवम् । अतो ज्ञानमभ्युपगन्तव्यमेव, नीलादयस्तु तदाकारा एव न तु तद्व्यतिरिक्ताः सहोपलम्भादेः । तदुक्तं प्रमाणवार्तिके - नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् । अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ॥ (प्र. वा.) इति । अयं तदाशयः --> यो नीलादिश्चित्रज्ञाने प्रतिभासते स ज्ञानोपाधिः ज्ञानविशेषणो ज्ञानात्मक इति यावत् । अनन्यभाक् = विज्ञानादन्यमर्थं न भजते, बाह्यवस्तुस्वभावो न भवति ज्ञानात्मभूतत्वात् । अत एव पीताकारविवेकेन केवलो नीलभागो न शक्यते द्रष्टुमित्यशक्यदर्शन उक्तः । यदि च नीलभागं पीतभागविवेकेन पश्येत् पश्यन्नपि च विवेचयेत् प्रतिपत्ता पतत्यर्थे ज्ञानात्मके प्रतिपन्ना वस्तुन्येव प्रवृत्तो भवति, न त्वात्मभूते आत्मभूते वा कृष्णनीलादौ प्रवर्त्तेत न वा क्वचिदर्थापीति । न च विषयमृते ज्ञानाऽसम्भव इति वक्तव्यम्, केशोण्डुकादिज्ञानस्य विषयं विनैव दर्शनात् । एतेन भ्रमगोचरस्य तत्राऽसत्त्वेऽपि देशान्तरे सत्त्वान्न सर्वथाऽर्थाऽसिद्धिरित्यपि प्रत्युक्तम्, वन्ध्यापुत्रादिविकल्पे तथाऽसम्भवात् । तदुक्तं योगसूत्रे 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (यो. सू.) इति । अतो ज्ञेयाकारोऽपि ज्ञानस्वरूप एवेति न ज्ञानातिरिक्तज्ञेयसिद्धिः । तदुक्तं प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारे - 'ग्राह्यग्राहकनीलाद्याकारा बुद्धिरेकैव चित्राद्वैतं' (प्र. वा. अ.) इति । ज्ञानाद्वैतनयं कथमनेकान्ताभ्युपगमः ? इत्याशङ्कायामाह - तच्चेति । वासनामात्रप्रभवं ज्ञानं ग्राहकतया ग्रहणस्वभावतया एकस्वभावमपि सत् ग्राह्यतया नीलाद्याकारविधया अनेकीभवतः स्वांशान्

ज्ञान से अतिरिक्त घट, पट आदि अवयविस्वरूप ज्ञेय पदार्थ अप्रामाणिक है, क्योंकि उनकी सिद्धि परमाणु की सिद्धि के अधीन है, जो प्रामाणिक नहीं है । परमाणु प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध नहीं है । यदि वह होता, तो वह चक्षु आदि से जन्य उपलब्धि का विषय होता । मगर चक्षु आदि से वह अनुपलब्ध होने से उसमें कोई प्रमाण नहीं है । जब परमाणु ही असिद्ध है, तब परमाणुसमूहरूप या अनेकपरमाणुजन्य द्रव्यात्मक अवयवी भी असिद्ध हो जायेगा । अवयव के बिना अवयवी की सिद्धि कैसे हो सकती ? मगर विषय के बिना ज्ञान की असिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि नीलादिप्रकारक प्रतिभास की, जो सर्वजनविदित है, अन्यथा अनुपपत्ति होती है । अतः ज्ञान का अपलाप नहीं किया जा सकता । --> 'विषय के बिना ज्ञान में विशेषता नहीं हो सकती' <-- इस शंका का समाधान यह है कि वासनामात्र से ही ज्ञान में विशेषता हो सकती है । वितथ वासना के प्रभाव से ज्ञान में नील, पीत, रक्त आदि आकारविशेष की उपपत्ति होने से ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय का स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है । अतएव ज्ञान ही केवल एक पारमार्थिक तत्त्व है । विशेषाकार की संपादक वासना भी ज्ञान से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु ज्ञानात्मक ही है । इस तरह ज्ञानाऽद्वैत की सिद्धि होती है । यह योगाचार नाम के बौद्धविशेष का मन्तव्य है ।

योगाचार का स्याद्वाद में प्रवेश

तच्च इति । प्रकरणकार श्रीमद् कहते है कि उपर्युक्त रीति से ज्ञानाद्वैत का स्वीकार करने वाला बौद्ध एक ही ज्ञान में दो स्वभाव का स्वीकार करता है । ज्ञान में एक तो नील, पीत आदि का ग्राहकत्वस्वभाव है, जो एकस्वरूप ही है । दूसरा है ज्ञेयाकारस्वभाव । नील, पीत आदि ज्ञेयाकार भी ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञान का स्वभाव ही है । नील, पीत आदि ज्ञेयाकार अनेक होने की वजह उससे अभिन्न ज्ञान भी अनेकात्मक हो जाता है । एक ही समूहालम्बन ज्ञान में नील, पीत, रक्त आदि अनेक ज्ञेयाकार का भान होता है । वे ज्ञेयाकार भी ज्ञान के अंशात्मक होने की वजह अनेकविध ज्ञेयाकार का ग्राहक ज्ञान भी अनेक स्वभाव वाला होता है । यह योगाचार बौद्ध का सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त में अनेकान्तवाद का प्रतिबिंब स्पष्टतया प्रतीत होता है । ज्ञान में ग्राहकत्वरूप से एक स्वभाव और ग्राह्यत्वरूप से अनेक स्वभाव का स्वीकार सापेक्षवाद के अवलम्बन के बिना कथमपि संगत नहीं हो सकता । इस तरह ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्धविशेष का भी अनेकान्तवादी

गृह्णदनेकमपीति कथं न तस्याऽनेकान्तवादिकक्षापञ्जरे प्रवेशः ? ॥८॥

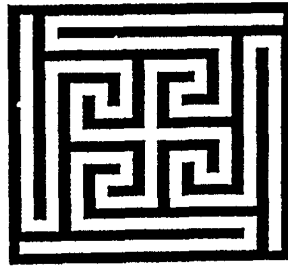
जयलता

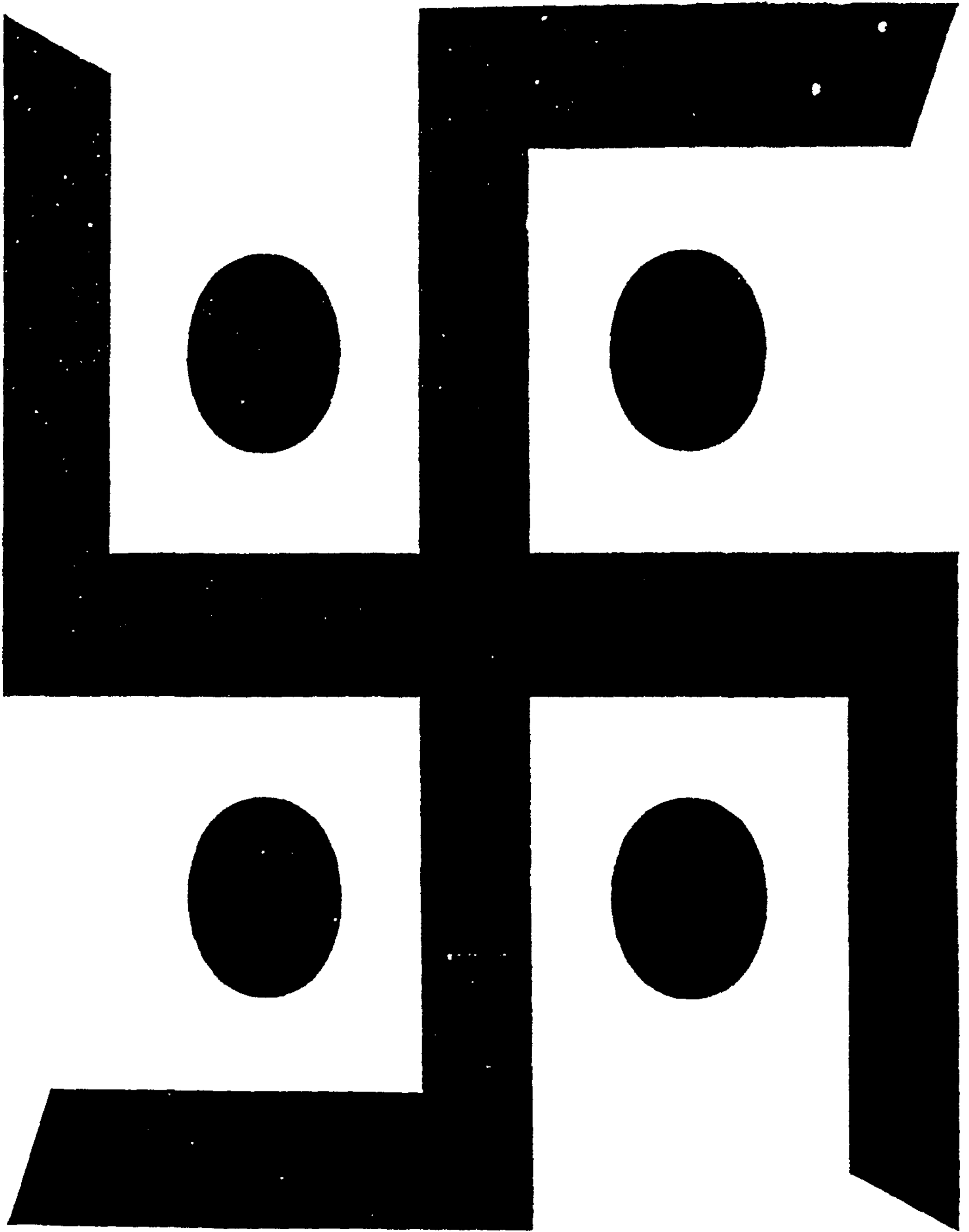
गृह्णत् ज्ञेयाकाराऽभिन्नतया अनेकमपि भवतीति कथं न तस्य = योगाचारस्य अनेकान्तवादिकक्षा-पञ्जरे प्रवेशः ? युतरां तत्र प्रवेश इत्यर्थः । न हि स्याद्वादमृते एकस्मिन् ज्ञाने एकानेकस्वभावोऽभ्युपगम्यमानः सङ्गच्छते । तथापि स्याद्वाद-विद्वेषे 'तुरगारूढो तुरगं विस्मृतवान् भवानि'ति न्यायापातः । ज्ञानाद्वैतनयनिरूपण-तदपाकरणे विस्तरतो बुभुत्सुभिः प्रमाण-वार्त्तिक-तत्त्वसङ्ग्रह-हेतुबिन्दु-स्याद्वादकल्पलता-रत्नाकर-न्यायखण्डखाद्यादिकमभ्यसनीयमिति शम् ॥८॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयविरचितस्य मध्यमपरिमाणोपेतस्य श्रीस्याद्वादरहस्यस्य मुनियशोविजय-विरचिताया जयलताभिधानाया टीकाया द्वितीयः खण्डः ।

की कक्षास्वरूप पिंजरे में प्रवेश हो ही जाता है । इससे स्याद्वाद की व्यापकता सिद्ध होती है ॥८॥

मध्यम स्याद्वादरहस्य की मुनियशोविजयरचित रमणीया व्याख्या का
द्वितीय खंड पूर्ण हुआ ।





परिशिष्ट-१

महोपाध्याय-न्यायाचार्य-श्रीमद्-यशोविजय-प्रकाशितम्

(लघु) स्याद्वादरहस्यम्

ऐँकारस्फारमन्त्रस्मरणकरणतो याः प्रसर्पन्ति वाचः,
स्वच्छास्ताः कर्तुमिच्छुः सकलसुखकर पार्श्वनाथ प्रणम्य ।
वाचाटाना परेषा प्रलपितरचनोन्मूलने वद्धकक्षो,
वाचा श्रीहेमसूरेर्विवृतिमतिरसोल्लासभाजा तनोमि ॥१॥
अभ्यस्य तर्क स्याद्वादरहस्य शस्ययुक्तिकम् ।
निरस्तदुर्नय मार्गप्रवेशाय निवध्यते ॥२॥

इह हि निखिलकुवादिकुतर्कसन्तमसच्छन्न जगतः शुद्धनयलोचनमुन्मिमीलयिषवः श्रीहेमसूरयो यथावस्थितार्थव्यवस्थापनद्वारा भगवत स्तोतुमुपक्रमते "सत्त्वस्ये" ति ।

(मूल-वीतरागस्तोत्र-प्रकाश० ८)

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे कृतनाशाऽकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि कृतनाशाऽकृतागमौ ॥१॥

अत्र सत्त्वमेकान्तनित्य न वेति न विप्रतिपत्तिः, एकान्तनित्यत्वकोट्यप्रसिद्धेः । किन्तु नित्यत्वमनित्यवृत्ति न वा, अनित्यत्व नित्यवृत्ति न वेत्यादिरूपा । न चैवमपि तद्भावाऽव्ययत्वरूप नित्यत्व परमतेऽप्रसिद्धम्, नित्यव्यवहारविषयत्वेनैव तस्योपन्यासात्।

सत्त्वस्य = पदार्थत्वेनोभयमतसप्रतिपन्नस्य । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्येति व्याख्यान तु स्वमतावष्टम्भेन शोभते, परमते धर्मितावच्छेदकाऽनिश्चयात् । एकान्तनित्यत्वे = अनित्यत्वाऽसम्भिन्ननित्यत्वे । कृतनाशो = घटादिपर्यायाणा कुम्भकारादिकृताना सर्वथा नाशः स्यात्, अनित्यस्य नित्यत्वविरोधात् । एतच्च प्रत्यक्षविरुद्ध, पर्यायाणामपि द्रव्यार्थतोऽनाशात् । अय दड्यासीदिति-वदिद मृद्द्रव्य घट आसीदिति प्रतीतेरेकस्यैवातीतविद्यमानत्वभानात्, रूपभेदेनैवोभयधर्मसमावेशसभवात् । न हि कम्वुग्रीवत्वा-दिनेव मृत्त्वेनाऽपि घटो नष्ट इति कश्चित्प्रत्येति, प्रत्युत पूर्वमयमेव मृत्पिण्डः (तत्) कम्वुग्रीवत्वादिनासीदिति सर्वोऽपि प्रत्यभि-जानीते । न चेय विशेषणाभावमेव विषयीकुरुते विशेष्ये नञर्थाऽन्वये वाधकाऽभावात्, प्रतीतिप्रातिव्याच्च ।

यत्तु यदि ह्यतीतविशेषणावच्छेदेन विद्यमानस्यैव विशेष्यस्य ध्वसः स्यात् तदा क्षणरूपातीतविशेषणावच्छिन्नत्वेन प्रतिक्षण घटस्य विनाशः स्यादित्यभिदधे मणिकृता, तत्तु तादृशक्षणभगस्य दोषानावहत्वात् तदीयैरेव दूषितम् । कश्चित्तु ससर्गावच्छिन्न-किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याऽभावस्याऽत्यन्ताभावत्वनियमान्न प्रागुक्तप्रतीतेर्विशेषणावच्छिन्नविशेष्याऽभावविषयत्वमिति, तत्तुच्छ, घटत्वस्य ध्वसप्रतियोगिताऽतिरिक्तवृत्तित्वेऽपि प्रागुक्तविशेषणस्याऽतथात्वात्, यदुत्पत्तौ कार्यस्याऽवश्य विपत्तिस्तस्य प्रध्वसत्वाऽभ्युपगमाच्च । नन्वत्र विपत्तिपदार्थाऽपरिचयो, विभागादेः सयोगादिनाशताऽऽपत्तिश्चेति चेत् ? न, प्रतियोग्युत्तर-कालीनाऽभावत्वादौ तात्पर्यात्, उत्तरत्रेष्टापत्तेश्च ।

स्यादेतत् - घटत्वेन घटध्वसस्येवाऽऽत्मत्वादिनाऽऽत्मादेर्ध्वसाऽभावादात्मादेरेकान्तनित्यत्व स्यादिति । मैव, ध्वसप्रतियोगित्वे सति ध्वसाऽप्रतियोगित्वेनैवैकान्तत्वापायात् । इयास्तु विशेषो-यदात्मत्वेनाऽऽत्मनो नित्यत्व तद्भावाऽव्ययत्वात्, घटत्वेन घटस्य तु नेति । ननु तद्भावेन व्ययश्चेत् प्रसिद्धः तदा तदभाव(त्व)रूप नित्यत्वमात्मत्वादिनाऽऽत्मादौ सम्भवेत्, स एव तु गगना-रविन्दसोदर इति चेत् ? न, ध्वसप्रतियोगितानवच्छेद(क)रूपवत्त्वस्यैव तदर्थत्वात् । न चेव कम्वुग्रीवादिमत्त्वेन घटस्य नित्यत्व स्यादिति वाच्यम्, गुरुधर्मस्यापि प्रतीतिवलेनाऽवच्छेदकत्वस्वीकारात् । ध्वसप्रतियोगिताऽवच्छेदक यद्धर्मवन्निष्ठाऽत्यताऽभावप्रति-योगितानवच्छेदक तदन्यधर्मवत्त्वस्य वा तदर्थत्वात् । अथ कपालनाशादेः कपालादिसमवेतनाश प्रति कारणत्वात् घटत्वेन घटध्वस आकस्मिक इति चेत् ? न, कारणत्वपर्यायाणा प्रतीतिवलेन विशिष्य विश्रान्तानामेव कल्पनादिति दिक् ।

अथाऽकृतागमः - पर्यायाणामपि नित्यानामेव सतामागन्तुकत्वादन्यथा पर्यायवतोऽप्यनित्यत्वाऽऽपत्तो नित्यत्वपक्षहानेः । अथ घटत्वादेरेव कपालादिजन्यताऽवच्छेदकत्वात्, घटत्वस्य च कपालाद्यवृत्तित्वान्नाऽय दोष इति चेत् ? न, कपाल घटीभूतमिति

प्रतीत्या तयोः स्याद्भेदसिद्धेः ।

अत्र किञ्चिद्विचार्यते-नन्वेवं कपालघटयोर्जन्यजनकभावो न स्यात्, अभेदे तदसम्भवात् । न च कथञ्चिद्भेदोऽप्यभ्युपगम्यत इति वाच्यम्, अवच्छेदकभेदं विनैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधात् । तदुक्तं मणिकृता —> तस्यैव तत्राभावोऽवच्छेदकभेदेन वर्त्तते, ज्ञायते च यथा संयोगाऽभावः, श्यामावच्छिन्नस्य तस्यैवाऽन्योन्याऽभावः तत्रैव रक्ताऽवच्छिन्ने, तदन्योन्याभावश्च श्यामावच्छेदेन । तदिहापि नीलस्याऽन्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलाद्घटस्य भेदोऽस्तु, अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाऽभावरूपो घटे न, घटत्वावच्छेदेनैव विरोधात्, एकावच्छेदेन भावाऽभावयोरेकत्राऽवृत्तेरज्ञानाच्च । नाप्यवच्छेदकान्तरेण घटत्वावच्छिन्ने घटे तदभावः, तदज्ञानेऽपि नीलो घट इत्यनुभवाच्चेति <— चेत् ? अत्र वदन्ति - न हि भेदाऽभेदो भेदविशिष्टाऽभेदो, अभेदविशिष्टभेदस्यापि सम्बन्धत्वे विनिगमकाभावात्, किन्तु जात्यन्तररूप एव गुणगुण्यादिविशिष्टप्रतीतिनियामकत्वेन सिद्ध इति क्वावच्छेदकभेदानुपलब्धिबाधः? एकान्तभेदेऽवयवेष्ववयवी किं भेदेन समवेयात्कात्स्न्येन वा ? नाऽऽद्योऽवयवातिरिक्तस्य तद्देशस्याऽभावात् । न द्वितीयः प्रत्यवयवसमवेतावयविबहुत्वप्रसङ्गात् ।

अथ समवाय एव प्रागुक्तप्रतीतिनियामकत्वेन कल्प्यतामिति चेत् ? न तस्यैकत्वेऽतिप्रसङ्गात्, नानात्वे चैतस्यैव नामान्तरकरणात्, अतिरिक्तकल्पनाया गौरवात् । एतेन "समवायसम्बन्धेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति संयोगत्वावच्छिन्नं प्रति वा द्रव्यस्य कारणत्वेन समवायसिद्धिः" इत्यपास्तम्, लाघवाद्भेदाभेदसम्बन्धेन परिणामत्वावच्छिन्नं प्रति परिणामिनस्तत्त्वकल्पनाया एवोचितत्वात् । भेदाभेदस्य जातित्वेऽपि सम्बन्धत्वं प्रतीतिबलादेवाऽविरुद्धम् । ननु "नीलोत्पलं, प्रमेयाऽभिधेयमि"-त्यादौ कर्मधारयेऽभेदस्यैव संसर्गतया प्रदर्शनान्नाऽभेदातिरिक्तभेदाभेदसिद्धिरिति चेत् ? न, कथञ्चित्तस्य तदनतिरेकात् । इयांस्तु विशेषो यद् धर्म-धर्मिभावाऽपेक्षया द्वयोर्भेदाऽभेदः, प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेण केवलाभेदो, गोत्वाश्वत्वादिना तु केवलभेद इति । न चैवमेकान्ताऽनुप्रवेशोऽभेदसम्भिन्नभेदवत्त्वेनैव तदपायात् ।

इत्थञ्चैतदवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्, कथमन्यथा स्याद्भिन्नं स्यादभिन्नमित्यत्र स्यात्पदं नाऽनतिप्रयोजनमिति ध्येयम् । अथ भेदाऽभेदस्याऽभेदत्वे 'कपाले घट' इत्यादावाधाराऽऽधेयभावप्रतीतिर्न स्यादिति चेत् ? न, भेदाभेदत्वेन तस्य वृत्तिनियामकत्वात् । घटाभावे घटो नास्तीत्यादावपि घटाभावत्वेन धर्म-धर्मिभावविवक्षयैव निस्तार इति तत्त्वम् । वस्तुतः तत्तत्प्रतीतिमनुस्मृत्य तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्तत्सम्बन्धस्याऽऽधारतात्वं कल्प्यते, तेन रूपरसयोर्भेदाभेदसम्भवेऽप्याधाराऽऽधेयभावाऽभावेऽपि न क्षतिरिति ध्येयम् ।

नन्वेवमपि भवतु भगवान् भेदाभेदो जात्यन्तररूपः, तथाप्यसावेकत्राऽन्योन्याभावतदभावप्रतीतिव्यंग्यः, तयोश्चैकत्रावच्छेदकभेदं विना प्रतीत्यनुपपत्तिरित्युक्तमेवेति चेत्? न, घटत्वद्रव्यत्वयोरेव तदवच्छेदकयोः सम्भवात् । यदवदाम स्तुतौ "[१]एकत्रे"ति ।

कश्चित्तु भेदोऽन्योन्याभावोऽभेदस्तु धर्मान्तरमित्यभ्युपैति । अत्र तादृशाभेदस्य व्यवहारानौपयिकत्वं यदाविश्चक्रे मणिकृता, तत्तुच्छम्, प्रमेयमभिधेयमित्यादौ तस्यैव शरणीकरणीयत्वात् ।

दिगम्बरमतानुयायिनस्तु - भेदाभेदो भेदविशिष्टाऽभेद एव, सम्बन्धता तु तयोरुभयत्वेन रूपेण । न चोभयत्वमपि एकविशिष्टापरत्वमिति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, अविशिष्टयोरपि गोत्वाश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्तस्याऽतिरिक्तधर्मत्वात्। न च भेदाऽभेदयोरेकत्र विरोधः, न हि वयं यत्र यस्य यो भेदः तत्र तस्य तदभावमेव ब्रूमहे किन्त्वन्यमेवेति । तथाहि - भेदो द्विविधः, पृथक्त्वरूपोऽन्योन्याभावरूपश्च । तत्र पृथक्त्वं प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपमन्योन्याभावस्त्वतद्भाव इति ।

यत्तु पृथक्त्वमन्योन्याभाव एव इत्यभिदध्रे दीधितिकृता, तन्न, एवं सति घटः पटात्पृथगितिवद्रूपात्पृथगित्यपि प्रमीयेत। यदवोचाम श्रीपूज्यलेखे - "[२]अण्ण घडाउ" त्ति । तथा चान्योन्याभावादपि पृथक्त्वस्य भेदाभेद एवेति तत्त्वम् । न चैवमनवस्था, प्रामाणिकत्वात् । तत्र घटपटादीनां नेतदन्यतराभाव इति केवलभेदः, तेषां भेदत्वावच्छिन्नाऽभावासवलितत्वात् । प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेणोभयाभावात्केवलाऽभेदो, अवयवावयव्यादीनां त्वतद्भावसत्त्वेऽपि पार्थक्याभावात् भेदाभेद इति ।

अत्रेदमस्माकमाभाति - प्रविभक्तप्रदेशत्वमित्यत्र बहुव्रीह्याश्रयणे परमाणवः कुतोऽपि न पृथग्भवेयुः । एवं कर्मधारयाश्रयणे देशस्कन्धयोरपि स एव दोषः । स्कन्धाश्रितपरमाणूनामेव प्रदेशत्वसञ्ज्ञया तदनाश्रितपरमाणूनाञ्च कुतोऽपि न पृथक्त्वं घटेत।

किञ्च - प्रदेशेषु किं प्रविभक्तत्वं ? न तावदन्यत्वं, एकद्रव्यस्यैव प्रदेशानां तादृशत्वात् । नापि पृथक्त्वं, तस्य प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपतयाऽन्योन्याश्रयात् । तथाहि - प्रदेशानां प्रविभक्तत्वसिद्धौ प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं स्कन्धानां पार्थक्यं सिध्यति,

---

१ एकत्र वृत्ता हि विरोधभाजोर्येषामवच्छेदकभेदयाञ्चा । द्रव्यत्वपर्यायतयोर्विभेदं विजानतां सा कथमस्तु वस्तु ॥ इति मध्यमस्याद्वादरहस्ये ।

२ अण्णं घडाउ रूवं, ण पडोत्ति विसारदाण ववहारो । भेदा उणो पुढत्तं, भिज्जदि ववहारबाधेण ॥ इति मध्यमे ।

(अन्यत् घटात् रूपं, न पृथगिति विशारदानां व्यवहारः । भेदात्पुनः पृथक्त्वं, भिद्यते व्यवहारबाधेन)

सिद्धे च स्कन्धाना प्रविभक्तत्वे प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूप प्रदेशाना पार्थक्य सिध्यतीति । अथ पृथक्त्व जात्यतररूपमेवेति चेत्तर्हि भेदाभेद एव तादृशः किमिति नास्थीयते ? धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव तद्भासकत्वेन व्यञ्जकगवेषणविश्रामात् ।

एतेन "पृथक्त्वव्यवहाराऽसाधारणकारण तदि" त्यप्युपेक्षितम्, कारणतावच्छेदकरूपपरिचय विना तादृशनिर्वचनाऽसम्भवाच्च । यत्तु - 'विभिन्नाश्रयाऽऽश्रितत्वमेव पार्थक्य, विभिन्नाश्राश्रयाः स्कन्धाना देशा इव देशाना स्कन्धा अपि सम्भवन्ति, तन्तौ पट इतिवत्पटे तन्तव इति प्रतीतेरप्यबाधितत्वात् । अन्यत्र रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदस्याधारतात्वेऽप्यन्यान्यतरप्रतियोगिकत्वविशिष्टस्यैव तस्य प्रतीतिबलेन तथात्वकल्पनात् । तदुक्तमुदयनेनापि "सविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणमिति" । परमाणूनामपि शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाश्रयत्व भाविभूताश्रयसम्भवेनैव वा तदाश्रितत्वमक्षतमन्यथा द्रव्यचतुष्टयस्य सार्वत्रिकत्वाऽसम्भवादिति' तच्चिन्त्यम्, अत्यन्तविभिन्नानामपि आकाशादिरूपैकाश्रयसम्भवेन भेदाभेदसम्बन्धावच्छिन्नाश्रयताविवक्षणे स्फुटदोषात् ।

ऋजवस्तु - सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेव भेदाभेदयोर्न विरोधः । अत एव न सकर-व्यतिकर-सशयाऽनवस्था-दृष्टहान्यदृष्टकल्पना· । भेदश्च स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरूप· । स चैकद्रव्यगुणपर्यायेष्वपि सम्भवति । अयम्भाव· - यथाहि सूत्रग्रथितमुक्ताफलानामपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूप हारत्व सूत्रमुक्ताफलाधारतावच्छेदक तथा गुणपर्यायाणा तादृग् द्रव्यत्वमपि तथा । यथा च हारत्वसूत्रत्वमुक्ताफलत्वावच्छेदेन शुक्लत्वप्रतीतिस्तथा द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वावच्छेदेन सत्त्वप्रतीतिरपि । यथा च शुक्लत्वाद्यवच्छिन्ने हारत्वाद्यवच्छिन्नभेदस्तथा सत्त्वत्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नभेद इति । तदुक्त - [1]"सद्दव्व सच्च गुणोत्ति" । विस्तारः = तत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताः प्रकारताः । नन्वेव वृक्षो वनमितिवत् सद् द्रव्यमिति प्रयोगो न स्यात्, यत्र हि यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकबुद्धिविषयत्व व्यवहारौपयिक तत्तद्धर्मावच्छेदेनेवाभेदेनान्वेतीति व्युत्पत्तेरिति चेत् ? न, एतन्नियमस्य विशिष्य विश्रामादिति दिक् ।

यद्वा कृतस्य = कुम्भकारादिप्रयत्नस्य नाशः = [2]उपधानाऽव्याप्यत्वम्, अकृतस्य कुम्भकारादिप्रयत्नाऽभावस्याऽऽगमाऽनुपधानाऽव्याप्यत्व च स्याताम्, वस्तुनः सर्वथा नित्यत्वात्, तथा च व्यवहारबाध· इति भावः ।

अत्रेद विभाव्यते-साख्यैर्हि सदेव वस्त्वभिमन्यते । तदुक्त - "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाऽभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्" ॥ (साख्यकारिका-९) इति । असतः = शशविषाणादेः कर्तुमशक्यत्वात्, सत एव सत्करणस्वाभाव्यात् । उपादानेन ग्रहणात् = सम्बन्धात् । न ह्यसतः सम्बन्धोऽस्ति । असम्बद्धस्यैव करणमिति चेत् ? न, सर्वसभवाऽभावात् = असम्बद्धत्वाऽविशेषे हि सर्वे सर्वस्माद्भवेयुः, न चैवमिष्टमिति । तथाऽशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसगात् शक्तस्य जनकत्व वाच्यम्, शक्तिश्च कार्यस्य प्रागसत्त्वे नियता न स्यात्, इतोऽपि कारणात् प्राक् कार्यस्य सत्त्वमुपेयम् । तथा तादात्म्यादपि सत्कार्यम्, अवयविनोऽवयवभेदाऽप्रतीतेरिति । तदयुक्तम्, यतो घटश्चेत्कारणव्यापारात्प्रागप्यस्ति तर्हि तदानीमुपलम्भप्रसङ्गः ।

अथाऽनाविर्भावात् नोपलभ्यते इति चेत् ? कोऽयमनाविर्भावः ? १ उपलब्ध्यभावो वा, २ अर्थक्रियाकारिरूपाऽभावो वा, ३ व्यञ्जकाऽभावो वा, ४ योग्यताऽभावो वा, ५ कालविशेषविशिष्टत्वाऽभावो वा, ६ जिज्ञासाऽभावो वा, ७ तिरोधान वा, ८ अन्यद्वा ?

नाद्यः, यस्यैवाक्षेपस्तस्यैवोत्तरे घट्टकुटीप्रभाताऽऽपातात् । अथ घटानुपलब्ध्याक्षेपे सस्थानाद्यनुपलम्भस्योत्तरत्वमिति चेत् ? न, सस्थानज्ञानस्य सस्थानिज्ञानात् पूर्वं नियतमनपेक्षणात्तस्यापि प्राक्सत्त्वे उपलब्धेरापाद्यत्वात्, असत्त्वे वक्ष्यमाणदोषानुपङ्गाच्च ।१। न द्वितीयः, अर्थक्रियारूपस्य प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यवादापातात् ।२। अत एव न तृतीयोऽपि, प्राथमिकोपलब्धौ कुविन्दादिसमुदायस्योपलब्धिमात्रे वा विजातीयसयोगस्य कारणत्वेऽपि तयोः प्राक्सत्त्वावश्यकत्वात् । आविर्भूतयोरेव तयोः तथात्वमिति चेत् ? न, आविर्भावस्यापि सदसद्विकल्पग्रासात् । विजातीयसयोगाद्याविर्भावस्य प्राक्सत्त्वेऽपि विजातीयसयोगेन सम तस्य सम्बन्धो नास्तीत्यप्यसमीक्षिताभिधान, तद्दोषाऽनतिवृत्तेः ।

एतेन "विषयिताविशेषसम्बन्ध एव घटत्वादेः विजातीयसयोगजन्यतावच्छेदकतावच्छेदकोऽस्त्वनतप्रागभावप्रध्वसाद्यकल्पनलाघवात्" इत्यपि परास्तम् । तदभावेऽपि घटत्वविनिर्मुक्तविषयताकघटसाक्षात्काराऽऽपत्तेश्च । किञ्च घटादेः कुम्भकारादिव्यङ्ग्यत्वे जन्यत्वव्यवहारो निरालम्बनः स्यात्, अन्यथा दिनकरकरनिकराऽभिव्यञ्जिते घटे तज्जन्यव्यवहाराऽऽपत्तेः ।३।

नाऽपि तुरीयः - महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वादिरूपायाश्चाक्षुषादियोग्यतायाःप्रागुक्तदिशा प्रागपि सत्त्वात् ।४। नापि

---

१ सद्दव्व सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो । जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतब्भावो ॥ प्रव० भा० अ० २ गा० १५।

२ फलेतरत्त्वव्याप्यत्वमित्यर्थः । घटादिवस्तुनो नित्यत्वात् कुम्भकारादिप्रयत्नस्य वैफल्यमेव, न तु फलनिष्पत्तिव्याप्यत्वमिति भाव ।

पञ्चमः, कालविशेषस्य कारणत्वेनाऽनतिप्रसङ्गे एककारणपरिशेषाऽऽपत्तेः । विशेषस्याऽऽगन्तुकोपाधिरूपस्य सदसद्विकल्पग्रासाच्च ।५। नापि षष्ठः, सत्यामपि जिज्ञासाया कारणव्यापारात्प्रागर्थस्याऽनुपलम्भाज्जिज्ञासाया ज्ञानमात्र प्रत्यहेतुत्वाच्च । जिज्ञासितबोध प्रति जिज्ञासाया हेतुत्वे जिज्ञासा विनापि तत्राऽजिज्ञासितबोधाऽऽपत्तेश्च ।६। नापि सप्तम॰, अनाविर्भावस्यैव तिरोधानपदार्थत्वात्तस्य च लक्ष्यत्वादद्यापि नियतनिर्वचनाऽपरिचयात् ।७। नाप्यष्टमोऽनिर्वचनात् ।८। (इति)

स्यादेतत् - ''विजातीयसयोगस्य जन्यसाक्षात्कारत्व जन्यतावच्छेदकमस्तु न तु जन्यद्रव्यत्व, अनतप्रागभाव-प्रध्वसाऽभावकल्पनागौरवात् । न च विजातीयसयोग विनापि गुणादौ द्रव्यसाक्षात्कारोदयाद् व्यभिचारः, द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतायाः कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेन तदुद्धारात् । एतेन —> ''द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे मूर्त्तसाक्षात्कारत्वादिना विनिगमनाविरहः, स्वाश्रयविषयतासम्बन्धे कार्यतावच्छेदकीकृत्य द्रव्यत्वादिना तथात्वेऽपि मूर्त्तत्वादिना स एव दोषः'' <— इत्यपास्तम् । इत्थश्च द्रव्यमात्र सर्वथा नित्यमस्तु । न चैव ततूनामेव पटत्वात्ततौ पट इति प्रत्ययो न स्यादिति वाच्य, फलबलेन विलक्षणसयोगवत्त्वघटपटत्वादिविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्य विलक्षणसयोगत्वरूपतन्तुत्वे स्वीकारात् । अत एव न तन्तुपट-पदयो. पर्यायताऽपि, विलक्षणसयोगवत्त्वरूपशक्यतावच्छेदकभेदात् । 'ततुसयोगात्पट उत्पन्न' इति व्यवहारस्तु भ्रान्त एव, पटपद वा पटाभिव्यक्तिपरम् । 'पट उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिस्तु पटत्वादिघटकसयोगोत्पादमात्रमवगाहते । 'ततुः पट' इति प्रतीतिस्तु वृक्षो वनमितिवदेव नोदेति । 'पटः ततव' इति प्रतीतिस्तु एकत्वधर्मितावच्छेदककबहुत्वप्रकारिका सतीन्द्रियविशेषसपेक्षते । एकत्र द्वयमिति न्यायेन तदन्वयबोधापादने शब्दाऽसाधुत्वमेव वा । 'अधिक मत्कृतन्यायसिद्धान्तार्थेषु बोध्यम् ।''

अत्र ब्रूम - पर्यायत्वावच्छेदेनैव द्रव्यस्य कारणता सामान्यतो गृहीतत्वसमानजातीयद्रव्यपर्यायरूपस्य घटस्य कथ न जन्यत्वम् ? अन्यथा कपालस्यैव घटत्वात्कपालरूप-घटरूपयोर्भेदो न स्यात्, तथा च प्रत्यक्षबाधः । किञ्च दण्डादौ घटसाधनताज्ञानेन प्रवृत्तिर्न स्यात् । अथ ''विजातीयसयोग(व)त्त्वमेव घटत्व, युक्त चैतत्, कथमन्यथा घटत्वस्य जातित्व ? मृत्त्वस्वर्णत्वादिना साकर्यात् । न च कुलालादिजन्यतावच्छेदकतया मृत्त्वस्वर्णत्वादिव्याप्य नानाघटत्वमेव स्वीकर्तव्यमनुगतधीस्तु कथञ्चित् सौसादृश्यात्, घटपद तु नानार्थकमिति वाच्यम्, कुम्भकारादेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन तत्त्वे घटत्वस्यैकत्वौचित्यात् इति चेत् ?'' न, एव सति घटवत्यपि भूतले सयोगेन घटो नास्तीति प्रतीतेः प्रमात्वापातात्, घटः पटसयुक्त इत्यादिप्रतीतेरप्रमात्वापाताच्चेति दिक् ।

अथ अनित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि दोषमाहु॰ ''स्यातामि''ति । एकान्तनाशे = नित्यत्वाऽसभिन्ननाशे कृतस्य नाशो = अकृततुल्यता । तन्मते हि वस्तुनः सर्वस्य क्षणिकत्वादुत्पत्तिसमनतरमेव घटस्य नाशः, इति पृथुबुध्नोदरत्वादिपर्यायाणामाश्रयेण केन भवितव्यम् ? तथाऽकृतस्याऽऽगम = अर्थक्रियाकारित्वम् । यद्धि कुम्भकारादिना घटादिक कृत तेन तु दुर्जनमनः-प्रणयपरपरावत्तदानीमेव दध्वसे, तथा च जलाहरणादिक्रियासु व्याप्रियमाणेन तेनाकृतेनैवोपस्थानव्यमिति दूषणद्वयमिद बौद्धबुद्ध्युपनीतकाकुव्याकुलीकरणप्रवण प्रसज्येतेति भावः ।

(क्षणिकवादपूर्वपक्षः)

इदमप्यत्र विचार्यते - कि क्षणभगुरमेव वस्त्वन्यथा वा ? तत्र बौद्धाः —> ''मुद्गरादिसमवधानदशाया घटादेर्यत् स्वरूप वर्तिवर्त्ति तेन प्रागासीन न वा ? अन्त्ये स्वरूपभावहान्यापत्ति॰, अनायासेनैव सिद्धा क्षणभगुरता भगवती । किञ्च - तत्तत्क्षणावच्छेदेन घटादे॰ प्रध्वसाऽप्रतियोगित्वकल्पनापेक्षया प्रध्वसप्रतियोगित्वकल्पनैव लघीयसी । वस्तुतः तत्तत्क्षणेष्वेवास्तु घटत्वपटत्वादिकम् । नच सकरः, वासनाकृतविशेषेण तन्निरासात् । अत एव न स्थितिकाले घट उत्पन्नो, घटो ध्वस्त इत्यादि प्रतीति॰ । विशिष्टोत्पादध्वसयोर्विशेषणसत्त्वविरुद्धत्वात् । न च 'स एवाय घट' इति प्रत्यभिज्ञा क्षणिकत्वे बाधिका, स एवाय गकार इत्यादिप्रत्यभिज्ञाया इव तस्यास्तज्जातीयाभेदविषयत्वात् । किञ्च - नित्यस्य सतो वस्तुनः सर्वदार्थक्रियाकारित्वापत्तिः, स्वतः सामर्थ्याऽसामर्थ्याभ्या परोपकारानवकाशात् । स्वतःसमर्थमपि तत्कारणातरसहकृतमेव कार्यमुपदधातीति चेत् ? न, कार्यानुपधानसमये सामर्थ्ये मानाभावात् । तस्मात् कुर्वद्रूपस्यैव कारणत्वाद्वस्तुनो मदुक्तदूषणभारभगुरस्य मत॰ क्षणविश्राम एवोचित इति ।'' <—

(क्षणिकवादनिरासः)

तदतिजरत्तर - विनाशस्वभावत्वेन क्षणिकत्वे स्थितिस्वभावत्वेन नित्यत्वस्याप्याऽऽपत्ते॰ । स्थितिप्रत्ययो भ्रान्तो, विनाशप्रत्ययस्तु प्रमेति तु निजप्रणयिनीमनोविनोदमात्रम् । ध्वसप्रतियोगित्व तु यथा त्वया विधिपर्यायेण कल्प्यते तथा मया निषेधपर्यायेणापीति

१ अधिक = अधिक पूर्वपक्षवचनमित्यर्थ ।

न दोषः । वासनाया ध्रुवत्वे तु नामान्तरेण द्रव्यमेवाऽभ्युपेतवान् भवान्, कृतात च कोपितवान्, अध्रुवत्वे तु किमनयाऽजागलस्तनायमानया ? कुर्वद्रूपत्वेन तु न कारणता, तस्य प्रागपरिचयात् इष्टसाधनताज्ञानविलम्बात् घटार्थिनो दडादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तेरिति दिक् ।

श्रीहेमसूरिवाचामाचामति चातुरीपरविचारम् । व्याख्यातायश्लोको जसविजयस्ता परिचिनोति ॥१॥

(प्रथमश्लोकविवरण समाप्तम्)

ननु भवतु कदाचिद्ग्राह्यवस्तुनो नित्यानित्यत्वम्, प्रमातुस्तु न कथमपि । न च ज्ञानाद्यभेदात् तथात्व, तथा सति दुःखाभेदाद् दुःखध्वसस्यापि आत्मध्वसरूपत्वात्तदर्थिनो यमादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । न च दुःखध्वसत्वमेव काम्यतावच्छेदक, तत्राऽऽत्मध्वसत्वरूपाऽनिष्टतावच्छेदकज्ञानरय प्रवृत्तिप्रतिवधकत्वात् । न चाऽऽत्मत्वावच्छिन्नध्वसत्वमेव चार्वाकादिमतप्रसिद्धमनिष्टतावच्छेदक, विजातीयसुखत्वमेव वा काम्यतावच्छेदकमिति वाच्यम्, तथापि "नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म" (तैत्तरीय-आरण्यक) इत्यादिश्रुत्या तस्य नित्यत्वौचित्यात् नित्यसुखादिनैव सममभेदवोधात् । न च "आनन्द ब्रह्मणो रूप, तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितमि" ति भेदवोधकश्रुतिसद्भावादुपचरितार्थत्वमेव तस्या युक्तमिति वाच्यम्, 'राहोः शिरः' इत्यादो पष्ठ्या अभेदेऽपि दर्शनात् । अत्राऽभेदप्रकारकवोधदर्शनाल्लक्षणैव, श्रुतौ तु सा न युक्तेति चेत् ? नः सुवूविभक्तो लक्षणाऽनभ्युपगमात्, अन्यथा व्यत्ययानुशासनवैयर्थ्यात् ।

अथ विभक्त्यतरार्थे विभक्त्यतरस्य लक्षणाया निषिद्धत्वज्ञापक व्यत्ययानुशासनम् । अत एव घट जानातीत्यादौ द्वितीयाया विपयित्वे लक्षणा नाऽनुपपन्ना । कृन्योगे पष्ठ्यनुशासन च द्वितीयाऽसाधुत्वज्ञापक, निष्ठादिवर्जन च निष्ठाया तत्साधुत्वज्ञापक, कृत्ययोगे विकल्पविधान च निष्ठाया शेपपठ्यसाधुत्वज्ञापकमिति चेत् ? न, तथापि तत्र सम्वन्धत्वप्रकारकवोधस्यैवेष्यमाणत्वात् । अत आहुः 'आत्मनी'ति -

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यात् न भोगः सुखदुःखयो ।
एकान्ताऽनित्यरूपेऽपि न भोगः सुखदुःखयोः ॥२॥

आत्मन्येकान्तनित्येऽभ्युपगम्यमान इति शेषः । सुखदुःखयोर्भोगः = साक्षात्कारो न स्यात् । यद्यपि भोगपद सुखसुःखान्यतरसाक्षात्कारे रूढमिति पुनः "सुखदुःखयो"रित्युपादाने पोनरुक्त्य, तथापि [1]विशिष्टवाचकानामित्यादिन्यायात् भोगपदमत्र साक्षात्कारमात्रपर दृष्टव्यम् । न च शक्यादनन्येऽर्थे कथ लक्षणा, [2]शक्यतावच्छेदकरूपभेदे एव लक्षणास्वीकारात्, यथा जयतेः प्रकृष्टजये । तदाहुः "शक्यादन्येन रूपेण ज्ञाते भवति लक्षणे"ति ।

नैयायिकैकदेशिनस्तु - "भोगत्व चाक्षुपादिसामग्रीप्रतिवध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया सिद्धो जातिविशेषः । न च स्वसमवायिलोकिकविपयितया भोगान्यमानसप्रतिवन्धकतावच्छेदकीभूतसुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवदन्यज्ञानत्वादिकमेव मानासान्यसामग्रीप्रतिवध्यतावच्छेदक, सुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवत्प्रतिवध्यतावच्छेदकमपीदमेव तेन न तत्प्रविष्टतया भोगत्वसिद्धिरिति वाच्य, अनया दिशा साक्षात्, सुखादिवृत्तिर्जातिः प्रतिवध्यतावच्छेदककोटौ प्रवेश्या, साक्षात् मानसवृत्तिर्भोगत्वजातिर्वा स्वसमवायिलोकिकविपयतासम्वन्धेन प्रतिवन्धकतावच्छेदककोटौ प्रवेश्येत्यत्र विनिगमकाभावात्, प्रागुक्तजातेर्ज्ञानत्वपर्यन्तसम्वन्धेन प्रतिवध्यतावच्छेदकत्वप्रसगाच्चे"त्याहुः । ([3]तन्मते सुखदुःखयोरित्यस्य न पोनरुक्त्यम् ।)

[3](अथ प्रकृत प्रस्तुमः ।) 'अय भावः - एकान्तनित्यः सन्नात्मा सुखदुःखे युगपद्भुञ्जीयात्, क्रमेण वा ? नाद्यो, विरोधात् । न द्वितीयः स्वभावभेदेन सर्वथानित्यत्वहानेः । सुखदुःखानुभवकालेऽपि तत्स्वभावत्वमात्मनः कथमिति चेत् ? तस्य गुणरूपत्वात्; गुणगुणिनोश्च भेदाभेदस्य निपुणतरमुपपादितत्वादिति गृहाण । स्वभावो हि स्वद्रव्य-गुण-पर्यायाऽनुगत स्वरूपास्तित्व, तच्च सादृश्या(द)स्तित्वेनैकीभवतोऽप्यन्यस्माद्भेदप्रतीतिमाधत्ते ।

अथेवमपि ध्वसाऽप्रतियोगित्वरूप सर्वथा नित्यत्वमक्षतमेवेति चेत् ? न, ज्ञानत्वादिना तद्ध्वसादात्मत्वादिना नेति तु प्रागेव प्रत्ययीपदाम । आत्मत्व-ज्ञानत्वयोरपि भेदे का प्रत्याशेति चेत् ? न, तथापि ज्ञानादिसाक्षाद्वृत्तेर्ज्ञानत्वादेरेव ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । आत्मत्वव्यापकत्वमपि तस्य न साक्षादिति न कोऽपि दोषः ।

इदमत्र ध्येयम् - यद्यपि यत्किञ्चिद्घटाऽन्यन्ताभाववत्यजायमानया घटाऽत्यताभावप्रतीत्या तत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सिध्यति, ध्वसे तु नैव, तथापि 'घटत्वेनाय ध्वस्तो न तु मृत्त्वेने'त्यादिप्रतीत्या तत्र सा सिध्यति । अवच्छेदकता तु स्वरूपविशेषः । सा च कचिदतिप्रसक्तेऽपि धर्मे प्रतीतिवलात्कल्प्यत इति । प्राञ्चस्तु - पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणतिरूप

---

१ विशिष्टवाचकपदाना सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्वमिति न्यायात् । २ समाधत्ते दाक्ष्यतन्त्यादिना
३ कोष्ठद्वयान्तर्गतो पाठा मध्यमवृत्तेर्याजितो आवश्यकत्वात् । ४ 'अय भग' पाठो नावश्यका नास्ति च [illegible] ।

कार्यत्वमात्मत्वावच्छेदेनेव गायन्ति । नन्वेवमात्मनः कार्यत्वव्यवहारः स्यान्न तु ज्ञानादेः, तस्याऽनीदृशत्वात् इति चेत् ? न, द्रव्यकार्यत्वस्यैवेतल्लक्षणत्वात् । पर्यायकार्यत्वस्य तु ध्वंसप्रतियोगित्वमेव लक्षणम् । अत एव द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागे-नोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वमित्येव रत्नाकरावतारिकायामभिहितम् । ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वस्य नित्यत्वे तदनवच्छेदक-रूपवत्त्वमेवोभयानुगत कार्यत्वमित्यभिप्रेत्य तु प्रागुपदर्शितः पन्थाः । ध्वंसस्यापि किञ्चिदुत्पत्तिरूपत्वात्तद्ध्वंसमभवान्नाऽव्याप्तिः । घटादिनाशस्य कालविशेषविशिष्टकपालत्वादिनयेऽपि कपालत्वादिना तन्नाशमभवोऽनन्यथासिद्धनियतोत्तरवर्त्तितावच्छेदकरूपवत्त्वे वा तात्पर्यमिति ध्येयम् ।

अथाऽनित्यत्वपक्षेऽपि दोषमाहुः - "एकान्तानित्यरूपेऽपि" इति - निगदसिद्धमिदम् । अय भावः - एकान्तानित्यस्यापि सतः आत्मनः सुखदुःखयोर्युगपद्भोगो विरुद्धत्वादेव नेष्टः । क्रमभोगे तु क्षणिकत्वहानिः, तत्तत्क्षणध्वंसाधिकरणसमयस्यैव क्रमपदार्थत्वात्, क्षणिकस्य तु तदसभवादिति ।

हेमसूरिगिरा गुम्फे, यस्यास्ति परमा गतिः । द्वितीयानुष्टुभो व्याख्या, स यशोविजयोऽतनोत् ॥२॥ श्री

अथोभयोः पक्षयोर्दूषणातरमुभाभ्याममनुष्टुब्भ्यामाहुः 'पुण्यपाप' इति

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने ।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥
क्रमाऽक्रमाभ्या नित्याना, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

एकान्तनित्यात्मवादिमते पुण्यपापयोरसम्भवः । ते हि "यागब्रह्महत्यादीना चिरप्रभगुराणा स्वर्गनरकादिक प्रति श्रुतिबोधितकारणतायाः फलपर्यन्तव्यापारव्याप्ततया तत्र व्यापारस्य चान्यस्याऽसभवात् परिशेषाददृष्टसिद्धिः । न च ध्वंसेनैव निर्वाहस्तस्य फलाऽनाश्यत्वात् । न चाऽपूर्वस्यापि प्रथमस्वर्गादिना नाशात् फलसन्तानो न निर्वहेत् इति वाच्यम्, तस्य चरम-फलनाश्यत्वात् । चरमत्व च स्वसमानजातीयप्रागभावाऽसमानकालीनत्वादिक जातिविशेषो वा । न चाऽपूर्वोत्पत्त्यनन्तरमेव फल कुतो न भवतीति वाच्यम्, वृत्तिलाभकालस्यापि नियामकत्वात् । अथ निर्व्यापारस्यैव यागादेरव्यवहितत्वाशविनिर्मुक्तकारण-ताग्रहः सम्भवतीति चेत् ? न, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्रेव कारणताबुद्ध्यनुदयेन तद्धर्मायाः कारणताया औचित्यात्, कीर्त्तनादिनाश्यत्वेनाऽपूर्वसिद्धेश्च ।

तच्चादृष्टमात्मनो गुणरूप विहितनिषिद्धक्रियाजन्यमित्याहुः । तच्चाऽयुक्तम् - स्वभावभेदेनैवात्मना धर्माधर्मयोर्जनने एकान्त-नित्यतापक्षक्षतेः । वस्तुतः शुभाशुभोपयोगावेव धर्माधर्मो, तदुपनीतप्रकृतिविशेषाऽबाधाकालपरिपाकाच्च फलोदय इति दिग् ।

अत एव बन्धमोक्षयोरपि कर्मादानसकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणयोस्तत्पक्षेऽसम्भवः । एवमेकान्ताऽनित्येत्यादिना क्षणिकत्वपक्षेऽपि दोषो विभावनीयः ॥३॥

क्रमाक्रमाभ्यामिति - अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपाणा हि क्रमेण युगपद्वाऽर्थक्रियाकारित्व न घटमटाट्यते । तथाहि - अर्थस्य = घटादेः, क्रिया = ज्ञानादिरूपा, तत्कारित्व-तज्जनकत्वम्, सर्वथा नित्यानामात्मादीना देशक्रमेण कालक्रमेण वा न सम्भवति, यत्किञ्चिद्देशकालावच्छेदेनैव सकलकार्यकरणसामर्थ्यात् । अन्यथा देशकालभेदेन स्वभावभेदादनित्यत्वापातात् । अथात्मादीनामर्थक्रियाकारित्वेऽपि सर्वत्र सर्वदेत्यापादकाऽभावस्तत्स्वभाववता देशकालादीना विलम्बाच्च कार्यविलम्ब इति चेत् ? न, तत्तद्देशप्रतिबद्धेतरकालत्वेन तत्तत्कालप्रतिबद्धेतरदेशत्वेन च कारणताया अध्यात्ममतपरीक्षाया प्रदर्शितत्वात् । एव च तत्त-द्देशकालाद्यवच्छेदेन स्वभावभेदे सर्वथा नित्यत्वापायात् ।

स्यादेतत् - एव सति घटादीना कारणता न स्यात् । मैव, विनिगमनाविरहेण तेषामपि तत्सम्भवात् । न चैव गौरव, प्रतीतिसिद्धस्वभावस्यैवमेव कल्पनात् । किञ्च कारणकालापमेलकस्य कार्योपधायकत्वेऽपि तस्यापि वैचित्र्यात् स्वभावाऽवैचित्र्ये का प्रत्याशा ? तस्मात् स्वभावाऽवैचित्र्येऽप्यन्यादृश नित्यत्वमेव तत्रास्तीति स्वाग्रहमेव गृहाण । तमेव गृह्णामीति चेत् ? पथः स्मर, मोचितोऽसि ततः प्राक् ।

अथ पूर्वपूर्वपरिणामानामेवोत्तरोत्तरपरिणामजननस्वभावत्वादात्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितमिति चेत् ? न, तस्य तदभेदेनैव कर्तृत्वात् । अत एवैकस्य षट्कारकीभावोऽन्यत्र प्रासाधि । अथ नित्यचेतनास्वभावत्वरूपार्थक्रियाकारित्वादात्मनः कूटस्थनित्य-त्वमेवोचितमनित्यचेतनायास्तु प्रधानसाध्यत्वमिति चेत् ? न, चेतनायाः स्वतो नित्यत्वात् पर्यायतोऽनित्यत्वस्यैतदपक्षपातित्वात्। ज्ञानकर्मफलरूपायाः स्वतन्त्रप्राप्यत्वेन कर्मीभूतायाश्चेतनायास्तत्तदुपयोगपरिणतेन स्वतत्रतयाऽऽत्मनैव कर्त्रा सम्भवात्, प्रधाने मानाऽभावात् ।

अथैवमपि द्रव्यकर्मरूपार्थक्रियाकारित्वमात्मनः कथमिति चेत् ? निमित्तीभूतभावकर्मकर्तृत्वेनोपचारादिति गृहाण । एव घटादिकर्तृत्वमप्यात्मनः उपचारादेव वोध्यम्, प्राप्यत्वगर्भकर्मत्वस्य परिणामविशेष एव पर्यवसानात् । न हि क्रियाजन्यफलशालित्वादिक पराभिमत कर्मत्वमपि सार्वत्रिक, घट जानातीत्यादावेव तदभावात् । एतेनाऽर्थक्रियेत्यत्र प्रथमातत्पुरुषेऽपि क्रमपक्षः प्रत्याख्यातः । युगपत्पक्षे तु प्रत्यक्षवाधः । एकान्ताऽनित्यपक्षेऽपि दोषमभिदधाति "एकान्ताऽनित्यपक्षेऽपि" इति - क्रमाक्रमयोरसम्भवप्रतीतिवाधाभ्यामिति भावः ॥४॥

अथैकान्तवादोपकल्पितकर्कशतरतर्कतिमिरनिकरनिराकरणेन प्रकटीभूतप्रताप भास्वतमनेकान्तवादमभिनन्दन्ति - 'यदा त्वि'ति -

यदा तु नित्यानित्यत्वरूपता वस्तुनो भवेत् ।
यथात्थ भगवन्नैव तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥५॥

ननु परेऽपि पृथिव्यादीन्यपि परमाणुरूपाणि नित्यान्यन्यानि अनित्यानि प्रतिजानत इति को विवादोऽतः प्राहुः 'यथात्थे' ति । भगवान् हि घटादिकमप्येक वस्तु 'स्यान्नित्य१, २स्यादनित्य, ३स्यान्नित्यानित्य, ४स्यादवक्तव्य, ५स्यान्नित्यमवक्तव्य, स्यादनित्यमवक्तव्य६, ७स्यान्नित्यश्चाऽनित्यश्चाऽवक्तव्यश्चेति प्रकाशयति न तथा परे स्वप्नेऽपि सविद्रत इति भावः ।

इदमिदानी निरूप्यते । सर्वत्र हि वस्तुनि स्यान्नित्यत्वादयः सप्त धर्माः प्रत्यक्ष प्रतीयन्ते । तथाहि - घटो द्रव्यत्वेन नित्यः, पर्यायत्वेनानित्यः, क्रमिकविधिनिषेधार्पणासहकारेण स्यान्नित्याऽनित्योऽपि प्रतीयते । न च समुदिताभ्या नित्यत्वाऽनित्यत्वाभ्यामेव तन्निर्वाहाद्धर्मान्तरकल्पन किमर्थकमिति वाच्य, समुदितयोस्तयोर्विलक्षणत्वेनैतत्स्थानाऽभिषेचनीयत्वात्। न चात्र प्रत्यक्षे इच्छायाः कथ नियामकत्व, प्रतीतिवलादेतादृशेच्छाविशिष्टवोध प्रत्येतादृशेच्छायाः कारणत्वकल्पनात् । युगपदुभयाऽर्पणासहकारेण स्यादवक्तव्योऽपि न तु सर्वथा, अवक्तव्यपदेनाऽप्यवक्तव्यत्वापत्तेः । न चाऽवक्तव्यत्व शब्दाऽवोध्यत्वरूप कथ योग्यमिति वाच्यम्, उपदेशसहकारेण पद्मरागादिवत्तद्ग्रहात् । नित्यत्वस्यात्र क उपकार इतिचेदवक्तव्यत्वेन परिणमनमित्येव गृहाण । वक्तव्यत्वेन परिणमन तु नित्यत्वादिविशेषेणैव विश्राम्यतीति न तदतिरेकावकाशः । क्रमाक्रमाभ्या विध्युभयकल्पनासहकारेण स्यान्नित्यः स्यादवक्तव्यः । ताभ्या निषेधोभयकल्पनासहकारेण स्यादनित्यः स्यादवक्तव्यश्च । ताभ्यामुभयकल्पनासहकारेण च स्यान्नित्यः, स्यादनित्यः, स्यादवक्तव्यश्च । अत्रापि समुदायपक्षाऽऽशका प्राग्वत् समाधातव्या । न च विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, तथाप्येतत्कृतपरिणत्यनतिरेकात् । नित्यानित्यत्वादयो जात्यन्तररूपा इत्यप्याहुः । अत एव अमूनवलम्ब्य सर्वत्र सप्तभगी सगतिमगति ।

अथ केय सप्तभगीति चेत् ? एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितसप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभगी'ति सूत्रम् । (प्रमाणनयतत्त्वालोक-परिच्छेद-४ सूत्र १४) यः खलु प्रागुपदर्शितान् वस्तुनः सप्त धर्मानवलम्ब्य सशेते, जिज्ञासते, पर्यनुयुङ्क्ते च त प्रतीय फलवती, प्रश्नस्य तुल्योत्तरनिवर्त्त्यत्वात् । यथा च सामान्यतः शब्दः सर्ववाचकोऽपि सकेतविशेष सहकृत्याऽन्वय वोधयति तथेयमप्यर्पणाविशेषसहकृत्वरी सतीति । शाब्दे इच्छाऽनियामकत्ववचो मोघम् । सप्तभगीविनिर्मुक्तशब्दमात्रस्याऽवोधकत्व तु नाऽऽशक्य, विधिप्रतिषेधाभ्या स्वार्थमभिदधान इत्यनेनाऽर्पणाविशेषस्थल एव तदनुवर्त्तनाऽभिधानात् ।

अत्र च स्यान्नित्यत्वादिषु सप्तभगेषु एवकारोऽवधारणार्थकोऽन्यथाऽनुक्तसमत्वापातात् । स्यात् पद तु तत्र तदवच्छेदकरूपपरिचायक, तदपरिचये साकर्यापातात् । सेय सकलादेशस्वभावा, विकलादेशस्वभावा च । तत्र प्रमाणप्रतिपन्नानतधर्मात्मकवस्तुनः १कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा योगपद्येन प्रतिपादक वच' सकलादेशः (प्रमाणनयः परिः ४ सू० ५४) । तदन्यो विकलादेशः । नित्यत्वादीना कालादिभिरभेदे हि एकेनाऽपि शब्देनेकधर्मप्रत्यायनमुखेनाऽनेकधर्मरूपस्य तदात्मकतापन्नस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवात् यौगपद्यम् । भेदविवक्षाया तु २सकृदुच्चरितेत्यादिन्यायादेकशब्दस्याऽनेकार्थाना युगपदवोधकत्वात् क्रमः ।

अथ सकृदुच्चरितेत्यादिन्यायस्य प्रामाणिकत्वे एकशिष्टघटादिपदस्यानेकघटादिवोधकत्व न स्यात् । न स्याच्च कस्मादपि घटपदात् प्रातीतिको घट-घटत्वयोरपि वोधः इति चेत् ? न, अग्रिमसकृत्पदस्यैकधर्मावच्छिन्नार्थकत्वात् । एकशेषस्थले तु पदान्तरस्मरणमेव कल्प्यमन्यथा घटपदात् समवायकालिकविशेषणताभ्या घटत्वाऽवच्छिन्नयोर्युगपद्बोधप्रसक्तिभिया तद्धर्मावच्छिन्नस्य वोध्यतावच्छेदकतावच्छेदकेकसम्बन्धावच्छिन्नत्वगर्भत्वावश्यकतया विषयिता-समवायाभ्या गुणत्ववद्बोधकेकशिष्टतदादिपदादुभयप्रतीतिर्न प्रादुर्भवेत् । एकपदस्यैकस्मिन् काले एकसम्बन्धावच्छिन्नेकधर्मप्रकारतानिरूपितविशेष्यताशालिवोधोपधायकत्वमिति निष्कर्षः । तेन नेकपदस्य वस्तुतो नानाधर्मावच्छिन्नार्थवोधकत्वेऽपि क्षतिरिति ध्येयम् । धर्मे एकत्वञ्च यावद्बोध्यवृत्तित्वादिकम् ।

१ के पुन कालादय ? काल, आत्मरूपम्, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, ससर्ग, शब्द इत्यष्टाविति रत्नाकरावतारिकायाम् ।
२ सकृदुच्चरित शब्द सकृदेवाऽर्थं गमयतीति न्यायात् ।

यत्तु - स्वाश्रयबोध्यतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनैकवृत्तिमत्त्वं तद्बोध्यत्वं, तेन न पशुत्वादेर्नानात्वेऽपि दोष इति न्यायनयानुयायिनः, तन्न, सर्वस्य सर्वपदशक्यत्वात् । न चैव लक्षणायुच्छेदः, साक्षात्संकेताऽसंभवे तदवकाशात् । न च घटत्व-पटत्वादिना शक्तिकल्पने गौरवं, प्रमेयत्वादिनैव तत्कल्पनात्तत्तद्धर्मेण बोधस्य संकेतविशेषनियम्यत्वात् । न चैवं शक्तिरन्तर्गडुरिति वाच्यं, वाचकताप्रतिनियमस्य तया विनाऽनुपपत्तेरित्याकूतं स्पष्टत्वात् । कालाद्यष्टकस्वरूपं च श्रीपूज्यलेखादवसेयमिति दिग्मात्रमेतत् । तर्कास्त्वत्रत्याः अस्मत्कृतसप्तभङ्गीतरङ्गिणीतोऽवसेयाः ।

ननु भवतु कदाचिदन्यस्य वस्तुनो नित्याऽनित्यत्वं, प्रदीपादेस्तु सर्वथाऽनित्यत्वमेवोचितमिति चेत् ? न, प्रदीपादिपुद्गलानामेव तमस्त्वेन परिणमनाद्द्रव्यत्वेनाऽनाशात् । अथैवं तमसो द्रव्यत्वं स्यादिति चेत् ? स्यादेव ।

तेजसः किल निवृत्तिरूपता, यान्धकारनिकरे परोदिता । द्रव्यता वयममी समीक्षिणस्तत्र पत्रमवलम्ब्य तन्महे ॥

तत्र तमसो द्रव्यत्वे रूपवत्त्वमेव मानम् । न च तदेवासिद्धं, तमो नीलमिति प्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् । न चोद्भूतरूपवत्त्वमुद्भूतस्पर्शव्याप्यं, इन्द्रनीलप्रभासहचरितनीलभागस्तु स्मर्यमाणनीलारोपेणैव निर्वाहात् गौरवात् न कल्प्यते इति न तत्र व्यभिचारः, कुङ्कुमादिपूरितस्फटिकभाण्डे बहिरारोप्यमाणपीताश्रयेऽपि न व्यभिचारस्तत्रापि स्मर्यमाणारोपेणैव निर्वाहाद्बहिर्गन्धोपलब्धेस्तु वाय्वाकृष्टानुद्भूतरूपभागान्तरेणैवोपपत्तेरिति वाच्यं, तादृशव्याप्तौ मानाऽभावात्, प्रभाया व्यभिचारात् । न च नीलरूपवत्त्वमेवोद्भूतस्पर्शव्याप्यं, त्रसरेणौ व्यभिचारात् । न च पाटितपटसूक्ष्मावयववत्तत्राप्युद्भूतस्पर्शवत्त्वानुमानं, अनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूपजनकताया इवाऽनुद्भूतस्पर्शस्याऽपि निमित्तभेदसंसर्गेणोद्भूतस्पर्शजनकतासम्भवाद्दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तेः । जन्यानुद्भूतरूपं प्रत्यनुद्भूतेतररूपाऽभावस्य कारणत्वपक्षे तप्ततैलस्थादनुद्भूतरूपाद्वह्नेरुद्भूतरूपभागान्तराकर्षणेनैवोद्भूतरूपोत्पत्तिस्वीकारादत्र दृष्टान्ताऽसम्प्रतिपत्तिरिति चेत् ? न, तथापि त्रसरेणोरुद्भूतस्पर्शवत्त्वे तत्स्पार्शनप्रसङ्गात् । द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकीभूतप्रकर्षवन्महत्त्वाऽभावान्नायं दोष इति चेत् ? न, तादृशप्रकर्षस्यैकत्वेऽपि कल्पयितुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् । अथैकत्वे तादृशजातिकल्पने स्वतन्त्रमतसिद्धद्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकीभूतैकत्वनिष्ठजात्या साङ्कर्यमेव विनिगमकमिति चेत् ? तथापि सा जातिर्महत्त्वे कल्प्यतामियं त्वेकत्वं इत्यत्रैव विनिगमकमन्वेषणीयम् ।

अथ द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातिव्याप्यैव द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकजातिरभ्युपेयता, वायोरचाक्षुषत्वं तु विषयविधयाऽकारणत्वादिति चेत् ? तर्हि एवमेव त्रुटिस्पर्शाऽस्पार्शनस्याप्युपपत्तेर्द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकैकत्वनिष्ठजातेर्द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतस्पार्शनजनकतावच्छेदकजातिव्याप्यत्वे विनिगमकाऽभावः, विषयस्य तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणताया मानाऽभावश्च । यत्तु त्वक्संयुक्तत्वाचवत्समवायत्वेन प्रत्यासत्तित्वान्न त्रुटिस्पर्शस्पार्शनमिति तन्न, आश्रयत्वाचस्य नियमतः पूर्वमभावेन त्वाचवत्त्वस्य विशेषणत्वाऽयोगादुपलक्षणत्वे घटाद्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे स्पर्शादिस्पार्शनाऽपत्तेः कालभेदेनैकस्यामेव व्यक्तावनतत्वाचानासम्भवेन तावत्त्वाचप्रवेशाऽपेक्षया महत्त्वोद्भूतस्पर्शयोरेव प्रत्यासत्तिमध्ये प्रवेशस्य त्रुटिस्पर्शेऽनुद्भूतत्वकल्पनस्य चोचितत्वात्, वायोरत्वाचेन तद्वृत्तिस्पर्शत्वाचानुपपत्तेश्चेत्यधिकमन्यत्र । 'तमस्युद्भूतस्पर्शवत्त्वमपि प्रतीतिसिद्धमेवेति' तु प्राञ्च ।

अथाऽऽलोकाभावेनैव तमोव्यवहारोपपत्तेर्न तस्य द्रव्यत्वकल्पनमिति चेत् ? विपरीतमेव किं न रोचयेः ? आलोकस्य चाक्षुषजनकसंयोगाश्रयत्वेन क्लृप्तत्वान्नैवमिति चेत् ? न, चक्षुरप्राप्यकारितावादिनामस्माकं तमःसंयुक्तचाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषकारणत्वस्यैवेष्टत्वात् । न च तादृशयोग्यतां विनाऽपि किञ्चिद्दर्शनं तमःसंयुक्तद्रव्यग्रहाद्व्यभिचार इति वाच्यम्, मन्दतमःसंयुक्ताशग्रहे तादृशयोग्यताया अवश्याऽपेक्षणात् । अंशांशिनोः कथञ्चिद्भेदस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न च तस्मिन्नेवांशे नयनपराङ्मुखतमःशालिन्यपि प्रत्यक्षोदयादालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसंयोगस्यैव द्रव्यचाक्षुषे हेतुत्वमुचितमिति वाच्यम्, घूकादिचाक्षुषानुरोधेन चक्षुरुन्मुखतमःसंयोगवचाक्षुषं प्रति योग्यताविशेषहेतुत्वस्यैवाऽवश्यमाश्रयणीयत्वात् । आलोकाऽजन्यद्रव्यचाक्षुषं प्रत्येवैतस्य हेतुत्वमस्त्विति तु नाभिधानीयं, आलोकजन्यतावच्छेदकनियतरूपस्यैवापरिचयात् । आलोकासंयुक्तचाक्षुषं प्रति तस्य हेतुत्वमित्यपि न वस्तु युक्तम्, महदुद्भूतरूपवत्तन्निवेशे गौरवादन्यथा स्फुटदोषात् । अधिकमन्यत्र प्रपञ्चितमस्माभिः इति श्रेयः ।

परेण हि चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नमहदुद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकसंयोगत्वेन द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति कारणता वक्तव्या । सा च न सम्भवति आलोकसंयोगस्याप्यवच्छेदकत्वसम्भवे विनिगमनाविरहात् । एतेन स्वावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःप्रतियोगिकसंयोगसम्बन्धेन तस्य कारणताऽपि प्रत्याख्याता । अथ द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयितासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति पर्यवसन्नायास्तस्याः कारणताया अपेक्षया लाघवात् समवायेन तमोभिन्नीयलौकिकविषयतावचाक्षुषं प्रत्यालोकसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगवच्चक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन कारणता कल्प्यते । चक्षुःसंयोगस्य स्वावच्छेदकावच्छिन्नालोकसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नस्ववच्चक्षुःसंयुक्तेत्यादिसम्बन्धेन कारणताया गौरवमेव विनिगमकमिति चेत् ? न, तथापि

कारणतावच्छेदकातर्गतकतिपयभागाना सम्बन्धविधया निवेशाऽनिवेशाभ्या तद्दोपात्, स्वावच्छेदकावच्छिन्नेत्यादिसवधेन तत्र तमः-सयोगस्य प्रतिवन्धकत्वकल्पनाया अप्यवकाशाच्च ।

पेचकादिचाक्षुपे व्यभिचारश्च सर्वत्र साधारणदूपणम् । न च नरचाक्षुप प्रत्येव तस्य कारणता, अञ्जनादिसस्कृतचक्षुपा तस्करादीना चाक्षुपे तथापि व्यभिचारात् । न च स्वभाविकनरचाक्षुपत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वान्नाय दोपः, स्वाभाविकत्वस्यालोकसस्कृतचक्षुर्जन्यत्वरूपस्यालोककारणतापरिचय विनाऽपरिचयात्, अन्यस्य दुर्वचत्वात् । अथाऽञ्जनाद्यसस्कृतचक्षुर्जन्यत्व तदिति चेत् ? न, आदिपदार्थाननुगमेन कार्यतावच्छेदकाऽननुगमात् । नाप्यालोकेतराऽसस्कृतचक्षुर्जन्यत्व तत्, आलोकेतरस्याञ्जनादेर्व्यभिचारेण चाक्षुपाऽजनकत्वेन चक्षुरसस्कारकत्वात् । अजनाद्यभावकालीनचाक्षुप प्रत्यजनादीना जनकत्वे चालोकाभावाऽकालीनचाक्षुपत्वमात्रस्यालोकसयोगकार्यतावच्छेदकौचित्यात् । एवमपि सिद्ध नः समीहितमिति चेत् ? न, तदपेक्षया लाघवेन तमःसयुक्तान्यचाक्षुपत्वस्यैव तत्रोचित्येन तमसो द्रव्यत्वसिद्धेः, पूर्वोक्तमत्पथि लाघवतर्कस्य सर्वातिशायित्वाच्च ।

यत्तु फलवलात्तत्रालोकविशेपः कल्प्यते, व्यभिचारग्रहे सत्यालोकस्य कारणताग्रहस्यैवानुपपत्तेः । कथमेवमिति चेत् ? न, तदवच्छेदेन व्यभिचारग्रहस्यैव तत्सामानाधिकरण्येनापि कारणताग्रहप्रतिवन्धकत्वात्, अत्र चालोकत्वसामानाधिकरण्येनैव तद्ग्रहे तत्सामानाधिकरण्येन कारणताग्रहस्य निरपायत्वात्, अन्यथा क्वचित्प्रथममतिप्रसक्तेनापि धर्मेण कारणताग्रहोत्तर पश्चादनुगतावच्छेदकधर्मकल्पनासिद्धातव्याकोपाऽऽपत्तेरिति, तत्र, तदालोकेनान्येपामपि चाक्षुपापत्तेर्दुर्वारत्वात् । अनन्तप्रतिनियतसस्कारकताकल्पने च महद्गोरवादिति दिग् । एतेन "द्रव्यचाक्षुपसामान्य प्रत्यालोकसयोगकारणतायाः क्लृप्तत्वादालोक विना वीक्ष्यमाणस्य तमस· कथ द्रव्यत्व" इत्यपि दूरमपास्तम् ।

तौतातिकैकदेशिनस्तु - द्रव्यचाक्षुप प्रत्यालोकसयोगस्य हेतुत्वेऽपि तामसेन्द्रियेणेव तमोग्रहसम्भवान्नानुपपत्तिः । न च मीलितचक्षुपोऽपि तद्ग्रहापत्तिः, चक्षुःश्रवश्रोत्रवत्तस्य चक्षुर्गोलकाधिष्ठानत्वात् । न च तद्व्यस्थापकगुणाभावात्तादृशेन्द्रियाऽसिद्धिः, गुणत्वस्य व्यवस्थापकतायामतन्त्रत्वात्, इन्द्रियान्तराऽग्राह्यग्राहकतामात्रस्य प्रकृतेऽपि सत्त्वात् । न च पेचकादीना दिवापि घटादिग्रहापत्तिः, तामसेन्द्रिये तमःसयोगस्यापि सहकारित्वात् । न च तमसि तमःसयोगासभवो गगनतमःसयोगस्यैव जागरूकत्वात् । नन्वेवमपि किञ्चिदवच्छेदेन तमःसयोगवति भित्त्यादावालोकसयुक्तेऽपि तामसेन्द्रियेण प्रतीतिः स्यादिति चेत्? तर्हि तमःसयोगावच्छेदकावच्छिन्नतामसेन्द्रियसयोगस्यैव तद्ग्रहहेतुत्वमस्तु, विनिगमनाविरहस्तु तवापि तुल्यः । चन्द्रिकाया पेचकादेस्तु चाक्षुपमेवाऽभ्युपेयम् । न च दिवाऽपि तद्ग्रहाऽऽपत्तिः, फलवलात्सोरालोकस्य तत्प्रतिवन्धकत्वकल्पनादित्याहु ।

तत्तुच्छम्, तमः पश्यामीति प्रतीतेर्निरालम्वनत्वापत्तेः । अथ पश्यामीति विपयता न्यायनये चक्षुःसनिकर्पदोपविशेपयोरिव मन्मते तामसेन्द्रियसनिकर्पस्यापि नियम्या, अव्यवहितोत्तरत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटो दानेन व्यभिचाराऽप्रचारादिति चेत् ? न, तथापि तामसेन्द्रियेण तमस इव घटादीनामपि, पेचकादीनामिव नराणामपि ज्ञानाऽऽपत्तेः । न च नरतामसेन्द्रियजन्यज्ञान प्रति तादात्म्येन तमसस्तमस्त्वादेश्च कारणत्व, अजनादिसस्कृतचक्षुपा तस्करादीना तु वहलतमे तमसि घटादीना न तामसेन्द्रियजन्य ज्ञान किन्तु चाक्षुपमेव । न चालोक विना कथ तदानी तेपा तचाक्षुपमिति वाच्यम्, आलोकस्येवाञ्जनादेरपि चाक्षुपे चक्षुपः पृथक् सहकारित्वात् ।

अञ्जनादिसस्कृतचक्षुप एवालोकाजन्यचाक्षुपे हेतुत्वादजनादेर्हेतुतावच्छेदकत्वमेवेत्यपि कश्चित् । तन्न, अजनाद्यभावाकालीनचाक्षुप प्रति स्वसस्कृतचक्षुःसयोगसम्बन्धेनाञ्जनादेरेव हेतुत्वोचित्यादित्यपरे । वस्तुतः सामान्यतः एका चाक्षुपजननी योग्यताऽपरा च तमःसयुक्तचाक्षुपजननी । तत्र पेचकादीना दिवा न चाक्षुप मानवाना च नक्त न घटादिचाक्षुपमित्यत्र स्वभाव एव शरणम् । न चैव स्वभाववादिमतप्रवेशः समवायाऽभ्युपगमे तदप्रवेशात्, 'वहिरिन्द्रियज्ञाने उपनीतस्य विशेपणत्वमेव, मानसे तु विशेष्यत्वमपि', इत्यादौ परस्यापि स्वभावरयाश्रयणीयत्वात् । सर्वज्ञानस्वभावावगमे तत्तत्पुरुपतत्तद्देशतत्तत्कालतत्तद्विपयान्याश्रित्य विचित्रज्ञानावरणक्षयोपशमवशाद्विचित्रज्ञानदर्शने को वा विस्मयः *स्याद्वादाऽऽस्वादसुदरधियाम्* ?

किञ्च तमसोऽभावत्वे विधिमुखप्रत्ययो न प्रादुःस्यात् । न च ध्वसादिवदुपपत्तिस्तथापि घटस्य ध्वस इतिवदालोकस्य तमः इति प्रत्ययापत्तेः । न चालोकाभाव एव सकेतितस्तमःशब्दः इति न तदापत्तिस्तथापि करिकलभेत्यादिवत्तत्प्रयोगस्य साधुत्वापत्तेः । किञ्च, अधतमसावतमसाद्युत्कर्पाऽपकर्पदर्शनादपि तस्य द्रव्यत्व, महदुद्भूताऽनभिभूतरूपवद्यावत्तेजोऽभावत्वकतिपयतदभावत्वयोरज्ञानेऽपि तद्व्यवहारात् । इत्थ च तमश्चलतीत्यादि प्रत्यक्षमपि तद्द्रव्यत्वसाक्षि । न च स्वाभाविकगतेरन्यगत्यनुविधानानुपपत्तिः, पद्मरागप्रभायामेवाश्रयचलनानुविधानदर्शनात् । पद्मरागचलन विनापि कुड्यावरणविगमादिनापि तत्प्रभाचलनमुपलब्धमिति चेत् ? तर्हि स्थिरेऽपि स्तम्भादौ प्राक् पश्चात् दीपसम्बन्धादिना तमश्चलनोपलभः कि काकेन भक्षितः ?

१ पेचको - घूकः, तदुक्त श्रीहेमसूरिपूज्यैः, 'घूके निशाट काकारि काशिकोलूकपेचका श्लो० १३२४ अभि० चिन्तामणि ॥

किञ्च, तमसः प्रागभावत्वे उत्पत्तिप्रत्यय इतराभावत्वे विनाशप्रत्ययश्च न स्याताम् ।

स्यादेतत् - तमसो जन्यद्रव्यत्वे स्पर्शवदवयवारभ्यत्व स्यात्, स्पर्शवदनत्याऽवयवित्वस्य द्रव्यारम्कभकतावच्छेदकत्वादिति चेत् ? मैव, तत्र स्पर्शवत्त्वस्येष्टत्वात् । किञ्च, नव्यनैयायिकेन चक्षुरादीन्द्रियावयवेष्वनुद्भूतस्पर्शमनभ्युपगच्छता जातिविशेष एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकत्वेनाऽभ्युपेयः, स च तमस्यपि सम्भवतीति । न च द्रव्यारम्भकत्वाऽन्यथानुपपत्त्येव तत्रानुद्भूत-स्पर्शोऽभ्युपगम्यतामिति वाच्यम्, अनन्तानुद्भूतस्पर्शकल्पनामपेक्ष्य जातिविशेषकल्पनाया एवोचितत्वात् । तादृशजातेरन्त्या-वयविन्यप्यभ्युपगमान्न सुवर्णत्वादिना साकर्यम् । न च घटादीनामप्यारम्भकत्व स्यात्, तत्तदन्त्यावयवित्वेन प्रतिबन्धकत्वात् । मूर्त्तत्वेनेव द्रव्यारम्भकत्व, न च मनसोऽपि मूर्त्तत्वात्तदारम्भकत्वाऽऽपत्तिः, मनोऽन्यमूर्त्तत्वेनैव तथात्वादित्येके । मूर्त्तत्वेनेव तथात्व, मनसि द्रव्यानुत्पत्तिस्तु विजातीयसयोगरूपहेत्वन्तराभावादित्यपरे ।

यत्तु - द्रव्यारम्भकतावच्छेदकतया पृथिव्यादिचतुर्ष्वेव भूतत्वाख्यो जातिविशेषः कल्प्यते, आकाशे भूतत्वव्यवहारस्तु भाक्त इति, तन्न, तमःसाधारणस्याऽपि तस्य कल्पयितु शक्यत्वात् । मनसोऽनतिरिक्तत्वनये भूतमूर्त्तपदयोः पर्यायत्वापत्तेश्च ।

स्वतन्त्रास्तु - एकत्वनिष्ठ एव द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजातिविशेष' कल्प्यते । स चान्त्यावयव्येकत्वव्यतिरिक्त एवेति न तत्तदन्त्यावयवित्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनागोरवमित्याहु ।

इत्थञ्च तमःसद्भावे मानमप्याहुः - तमो भावरूप, घनतरनिकरलहरीप्रमुखशब्दैर्व्यपदिश्यमानत्वात्, आलोकवत् । ननु तमसो नीलरूपवत्त्वे पृथिवीत्वमेव स्यान्नातिरेक इति चेत् ? न, दाहप्रयोजकपृथिवीत्वाभावस्य जल इव तमस्यपि तवानपलप-नीयत्वात् । नन्वेव नीलसमवायिकारणतावच्छेदकपृथिवीत्वाभाववति तमसि नीलमाकस्मिक स्यादिति चेत् ? न, उभयसाधा-रणजातिविशेषस्यैव नीलसमवायिकारणतावच्छेदकत्वात् । विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शस्येव विजातीयनीलस्यैव पृथिवीत्व जनकता-वच्छेदकत्वमित्यप्याहुः । अवयवनीलादिनेवावयविनीलोपपत्तो पृथिवीत्वस्य तत्समवायिकारणताऽनवच्छेदकमित्यप्याहुः । अवयव-नीलादिनेवावयविनीलोपपत्तो पृथिवीत्वस्य तत्समवायिकारणताऽनवच्छेदकत्व, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनावयवनीलादिमिति रूपादौ नीलानुत्पत्तिस्तु जन्यसन्मात्रसमवायिकारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वाभावादेवेति तवेकदेशिनाऽपि स्वीकाराच ।

एव च 'नात्रालोकः किन्त्वधकार' इति व्यवहारोऽपि समर्थितः । न ह्यय 'नात्र घटः किन्तु तदभावः' इतिवत्समर्थयितु शक्यते, नात्रालोकः किन्त्वन्धकारतदभावाविति व्यवहारातरस्यापि दर्शनात् । यत्त्वन्धकारस्याऽऽलोकाभावत्वेऽधकारे नालोक इति प्रतीतिर्न स्यादिति केनचिदुक्त, तत्तु मोघ, घटाभावे घटो नास्तीतिवत्तदुपपत्तेः । एव सत्यधकारेऽन्धकार इति प्रतीत्या-पत्तिस्तु स्यादेव । न ह्यन्धकारत्वमालोकाभावत्वादिदानीमतिरिच्यते । अथैतादृशसमभिव्याहारस्य शाब्दबोधजनकत्वान्नेयमापत्तिः, जायमानप्रतीतेः प्रमात्व त्विष्टमेवेति चेत् ? तथाप्यधकारे नाधकार इति प्रतीतेर्भ्रमत्व स्यात्। अभावचाक्षुष प्रत्यालोकाधिकरण-सनिकर्षस्य हेतुत्वादालोक विना दृश्यमानस्य तमसो नाऽभावत्व इत्यपि कश्चिदिति दिग् ॥५॥

एतदवष्टम्भाय दृष्टान्तमाहुः - 'गुडो ही'ति -

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागर पित्तकारणम् ।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे ॥६॥

निगदसिद्धोऽयम् ॥६॥

अथ नित्यत्वाऽनित्यत्व-भेदाभेद-सत्त्वासत्त्व-सामान्यविशेषात्मकत्वाऽभिलाप्य(त्वा)ऽनभिलाप्यत्वादिधर्माणा विरोधशका-मुदिधीर्षवोऽभिदधति "द्वयमिति" -

द्वय विरुद्ध नैकत्राऽसत्प्रमाणप्रसिद्धितः ।
विरुद्धवर्णयोगो हि दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥७॥

एकत्र = एकाश्रयवृत्तिसत् । द्वय = नित्यत्वाऽनित्यत्वादिक, न विरुद्ध = न परस्परानधिकरणाधिकरणम् । तत्र हेतु-माहुः - असदिति-प्रमाणप्रसिद्धेरसत्त्वात् । न ह्येकत्र सतोर्वस्तुनोर्विरोधग्राहक किञ्चित्प्रमाणमस्ति । तथाहि, न हि जलान-लयोरिव तयोर्विरोधोऽनुभूयते, रूपरसयोरिवेकवृत्तित्वस्यैवानुभविकत्वात् । न चेकज्ञानानन्तरमज्ञायमानत्व तथा, नित्यत्वादिज्ञाने सत्यप्यनित्यत्वादेर्ज्ञानात् । स्वभावतो विरोधाभिधान तु स्ववासनामात्रविजृम्भितम् ।

ननु नित्यानित्यत्व-भेदाभेदयोर्भवतु प्रागुक्तदिशैकत्रवृत्तित्व, सत्त्वाऽसत्त्वयोस्तु कुत इति चेत् ? शृणु । सर्व हि वस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया सत्, परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च न सत् । व्यवहरति हि घटोऽय मार्त्तत्वेन काशीयत्वेनाऽद्यतनत्वेन रक्तत्वेन चास्ति, न तु ग्रावीयत्वेन प्रयागीयत्वेन श्वस्तनत्वेन श्यामत्वेन चेति ।

नन्वेतादृशमसत्त्व व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपर्यवसन्नमिति चेत् ? किं तावता ? तादृशाऽभावे मानमेव नास्तीति चेत्?

न, 'घटत्वेन पटो नास्ती'ति प्रतीतेरेव मानत्वात् । यत्किंचिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व यत्र तृतीयान्ताल्लभ्यते तत्र प्रकारीभूततद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैव व्युत्पत्तिवललभ्यत्वात् । कथमन्यथा घटत्वेन कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीत्यादिप्रतीतेरपि प्रामाण्यम् ? प्रत्यक्षे हि येन रूपेण प्रतियोगिनोऽनुपलम्भस्तद्धर्मावच्छिन्ना प्रतियोगिता ससर्गमर्यादया भासते तादृशधर्म एव च तृतीयान्तेनोल्लिख्यते इति । घटास्तित्व च प्रदेशपुञ्जपरिणमनरूप मार्त्तत्वेन न विरुद्धम् । न च समयकालस्याऽनवच्छेदकत्वाद् द्रव्यादिचतुष्टयवाधस्तत्र प्रतीतिवलात् स्वस्यैव स्वास्तित्वावच्छेदकत्वात् ।

अथ यदेव स्वरूपेणाऽस्तित्व तदेव पररूपेण नास्तित्वमिति द्वयमेव तावत्प्रदर्शनीयमिति चेत् ? नयनमुन्मिलय, ग्रावत्वेन नास्तित्ववति पटादौ कि मार्त्तत्वेनास्तित्वमुपलब्धवानसि ? मार्त्तत्वमार्त्तभिन्नत्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वयोस्तथाप्यद्वैतमेवोपलभे इति चेत् ? तत्किं तत्तन्निमित्तापेक्षाकृतविशेष न ज्ञातवानसि ? साहजिकभेदयाञ्चा तु पृथग्द्रव्ययोरेवोचिता ।

सामान्यविशेषात्मकत्वमपि, वस्तुनः सदृश-विसदृशपरिणती अपेक्ष्य अनुवृत्ति-व्यावृत्तिप्रत्ययजननात् । न ह्येतदनुरोधेन तयोः पदार्थान्तरतास्वीकार उचितः । यतः सामान्य नित्यमेकमनेकसमवेत च परैरभ्युपेयते, तदयुक्त - अत्र मृत्पिंडे घटत्वमासीदिति प्रतीत्या तस्याऽनित्यत्वसिद्धेः । एकत्वमप्यनित्यतया प्रतीयमानस्याऽस्य सदृशपरिणतिरूपस्यैव सग्रहनयार्पणया भ्राजते । तथा (हि)अनेकसमवेतत्वमपि जातेर्यावद्व्यक्तिवृत्तित्वरूप न सगच्छते, अतीताऽनागतव्यक्तिवृत्तित्वस्यैव दुरुपपादत्वादित्याहुः ।

अथ यथा भवन्मते एकस्य शब्दस्य सर्वार्थवाचकत्व अतीतानागतव्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितवाचकताया एकत्वेन निर्वहति तथा ममापि तत्तद्व्यक्तिनिरूपितत्वस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरूपितसमवायस्यैकतयाऽनेकसमवेतत्व जातेर्निर्वक्ष्यते इति चेत् ? न, समवायस्येवाऽविष्वग्भावातिरिक्तस्याऽसिद्धेः । एतेनाऽनेकवृत्तित्व च स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यमिति वर्धमानवचनमप्यपास्त, विशेषेऽतिव्याप्तितादवस्थ्यवारणाय सामानाधिकरण्यस्य समवायगर्भत्वावश्यकत्वात् ।

कि च - अनुगतधीजनकत्वेन सिध्यत् सामान्यमभावादिसाधारण्येनेव स्वीकर्तुमुचितम् । अपि च क्वचिदखडोपाधिस्वीकर्तुस्तव स्वामिप्रेतजात्या पलायितमेव । किञ्च - लाघवाद्व्यञ्जकत्वेनाऽभिमतानामुपाधीनामेव सग्रहनयार्पणयेकीभवता तत्त्वकल्पनमुचितम्, अन्यथा प्रवृत्त्यादिजनकतावच्छेदकत्वेन कारणत्वादीनामप्यतिरेककल्पनाऽऽपत्तेः ।

अथैवमपि ऊर्ध्वतासामान्ये मानाभावोऽगदकुडलादो काचनत्वरूपतिर्यक्सामान्येनैव काचन काचनमित्यनुगतप्रतीतेर्निर्वाहादिति चेत् ? न, यदेव काचनमगदीभूत तदेव कुडलीभूतमित्यादिप्रतीतीनामेकाकारत्वस्योर्ध्वतासामान्य विनाऽनुपपत्तेः । यद्यपीदृशमूर्ध्वतासामान्य चिरस्थायिना गुणपर्यायाणामपि सम्भवति तथापि पूर्वापरपरिणामसाधारण द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यमित्यत्र द्रव्यपद धर्मिपरमिति न कोऽपि दोषः ।

विशेषपदार्थस्वीकारोऽपि तेषा भेदकधर्मान्तराऽभाववता परमाण्वादीना नित्यद्रव्याणा परस्पर योगिभेदप्रत्यक्षानुपपत्तेः । सोऽप्यनुपपन्नस्तद्गुणेष्वपि तत्स्वीकाराऽऽपत्तेः । अथ तत्र शुक्लतरत्वाद्यवातरजातयः स्वीक्रियन्ते, परमाणो त्वन्त्यकार्याऽवत्तिन्यस्ताः स्वीकर्तु न शक्यन्ते इति चेत् ? तथाप्यवातरजातीयेष्वपि रूपादौ परस्परव्यावृत्तिः किमधीना ? स्वाश्रयाश्रितत्वसम्बन्धविशेषाधीना चेत् ? तर्हि स विशेषो गुणनिष्ठ एव कल्प्यता, परमाणौ परस्परव्यावृत्तिस्तु स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेन विशेषाधीनेत्यत्र कि विनिगमक ? गुणाना वहुत्वात् तत्रानन्तविशेषकल्पनाया गौरवमेव विनिगमकमिति चेत् ? तथापि प्रत्येक विनिगमनाविरहः कुत्र लीनः ? रूप एव विशेषः कल्प्यते पृथिवीपरमाणुरूपाणा पाकादिनेव विशेषः, तत्र विशेषाकल्पनलाघवादित्यप्याहुः ।

किञ्च - तादृशविशेषाणामपि भेदः कुतः ? स्वत एवेति चेत् ? तर्हि तदाश्रयाणामपि स्वत एवायमास्थीयतामन्ततस्तद्व्यक्तित्वादीनामपि भेदकत्वसम्भवात्, प्रतिद्रव्यमनतागुरुलघुपर्यायाणा विलक्षणाना सिद्धातसिद्धत्वाच्च ।

अभिलाप्यत्वाऽनभिलाप्यत्वे अपि न विरुद्धे । दृष्ट हि घटस्य यथा घटपदापेक्षयाऽभिलाप्यत्व तथा पटपदापेक्षयाऽनभिलाप्यत्वमपीति । नन्वभिलाप्यभावापेक्षयाऽनतगुणिता अनभिलाप्या भावा भवद्भिरुपेयन्ते - यदुक्त वृहत्कल्पवृत्तौ ''पन्नवणिज्ज''-त्ति'[1] । तेष्वेवेदमनुपपन्नमिति चेत् ? न, तस्याऽनभिलाप्यपदेनैवाऽभिलाप्यत्वात् ।

ननु किमिदमभिलाप्यत्व ? न तावत्पदजन्यवोधविषयत्व, तदविषयेऽपि क्वचिद् घटादावभावात् । नाऽपि तद्बोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्व, घटस्याऽपि पटपदाभिलाप्यत्वापत्तेः, एकस्यापि पदस्य सर्वार्थवाचकत्वात् । नापि गृहीततत्तदर्थनिरूपितसकेतकपदवोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्व तत्, पटपदस्यापि घटे सकेतग्रहसभवात्तद्दोषाऽनतिवृत्तेः । अत एव न तत्तदर्थस्वरूपपरिणामपरिणतपदवोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वमिति चेत् ? मैव, गृहीततत्तदर्थनिरूपित-नियत्रित-सकेतकपदवोध्यतावच्छेदकरूपवत्त्वस्यैव तत्त्वात् । घटे हि घटपदस्येव कोशादिना सकेतो नियम्यते न तु पटपदस्येति नातिप्रसगः । अत एव श्रुतज्ञानाविषयीभूतानामर्थाना प्राति-

[1] 'पन्नवणिज्जा भावा अणतभागो उ अणभिलप्पाण'' । = 'प्रज्ञापनीया भावा अनतभागस्त्वनभिलाप्यानाम् ।

स्विकरूपेण सकेतग्रहासभवात् अनभिलाप्यत्वम् ।

अथ घटादिपदस्येव तत्तदर्थपुरस्कारेणाऽपि सकेतग्रहः कुतो न भवति इति चेत् ? तादृशश्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यताऽभावादिति गृहाण । यत्र च यत्पदस्य नियन्त्रितसकेतो गृह्यते तत्पदप्रयोक्ता पुरुषः तदर्थप्रतिपादकत्वेनैव व्यवह्रियते । अत एव भगवता तत्तत्पदप्रयोक्तॄणामपि श्रुतज्ञानाऽविषयीभूताऽर्थाऽप्रतिपादकत्वम् । इदमेवाऽभिप्रेत्याभ्यधायि '''केवलविन्नेयत्थे'' त्ति ।

दिगम्बरास्तु - परकीयघटादिज्ञानस्य स्वेष्टसाधनताज्ञानात् तत्र प्रयोक्तुरिच्छा, ततः इष्टघटादिज्ञानसाधनतया घटादिपदे, तत्साधनतया च कण्ठताल्वाद्यभिघातादाविच्छा, ततः प्रवृत्त्यादिक्रमेण घटादिपदप्रयोग इत्येतादृशपरिपाट्याः केवलिनामभावात् न ते शब्दप्रयोक्तारः किन्तु विश्रसात एव मूर्ध्नो निरित्वरा ध्वनयस्तत्तच्छब्दत्वेन परिणम्यार्थविशेष बोधयन्तीत्याहु । तत्प्रतिविहितमन्यत्राऽस्माभिः ।

एव च नित्याऽनित्यत्वादिधर्माणा वस्तुतो विरोधाऽभावेऽपि यदि कथञ्चिद्विरोधः परेणाऽभ्युपेयते, अभ्युपेयता तर्हि वाढ, तथापि तेषामेकत्र समावेशे न किञ्चिद्बाधक पश्यामः । कथञ्चिद्विरुद्धत्वेनाऽभ्युपेतानामपि नीलपीतादीनामेकत्र समावेशस्य दृष्टत्वात् इत्याहः ''विरुद्धेति'' । मेचकवस्तुषु = मिश्रवस्तुषु, विरुद्धवर्णाना नीलपीतादीना, योग = एकत्र समावेशो, हि = यतो, दृष्ट = सकलजनानुभवसिद्धः । प्रतियन्ति हि सर्वेऽपि लोकाश्चित्रमपि घट नीलत्वपीतत्वादिना । न च तत्राऽवयवनीलादिमत्त्वेव परम्परया प्रतीतेर्विषयः, एव सति योग्यरूपादीना त्रुटिमात्रगतत्वापत्तेश्चित्रत्वव्यवहारस्तु नीलविशिष्टपीतादिनैकवृत्तिनीलपीतोभयादिना वा । विशिष्टाऽविशिष्टभेद तु स्याद्वादिनो वय न प्रतिक्षिपामः, नीलादिविभाजकोपाधीनामेव पञ्चभ्योऽनतिरेकतात्पर्यात् ॥७॥ (सप्तमश्लोकव्याख्या सपूर्णा)

अथ - अनेकान्ते परेषामपि समतिमुपदिदर्शयिषवः प्रथमतः तथागतसमतिमाविष्कुर्वन्ते -

विज्ञानस्यैकमाकार नानाकारकरम्बितम् ।
इच्छस्तथागत प्राज्ञो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥८॥

''विज्ञाने''ति । विज्ञानस्य सविद एकमाकार स्वरूप नानाकार(करम्बित=) चित्रपटाद्यनेकाकारमिश्रितमभ्युपगच्छन् बौद्धो नानेकान्त(प्रतिक्षिपत् =) निराकुर्यात् = तस्यानेकान्तवादनिराकरण न बलवदनिष्टाननुबन्धीत्यर्थः । स हि परमाणौ मानाभावात्तत्सिद्ध्यधीनस्थूलाऽवयवित्वस्याप्यसिद्धेर्नीलादेः प्रतिभासत्वाऽन्यथानुपपत्त्या विषय विनापि वासनामात्रेण धिया विशेषाच्च ज्ञानादनेकमपि, इति कथ न तस्यानेकान्तवादिकक्षापञ्जरे प्रवेशः ? ॥८॥

अथ अनेकान्ते योगवैशेषिकावपि समानयति - ''चित्रमि''ति ।

चित्रमेकमनेक च रूप प्रामाणिक वदन् ।
योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥९॥

यद्यपि - चित्ररूपाभ्युपगन्तारो साम्प्रदायिको नैयायिकवैशेषिको चित्रे घटे न रूपान्तरमभ्युपगच्छतो, नीलादिप्रतीतेरवयवनीलादिनैवोपपत्तेः । नीलादिसामग्रीसत्त्वात् तत्र नीलादिकमपि कुतो नोत्पद्यत इति चेत् ? स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलेतरादेः प्रतिबन्धकत्वात् । नीलाद्यभावस्येव स्वाश्रयसमवेतत्वसबधेन विरोधित्वमिति तु वायूपनीतसुरभिभागादेर्नीरूपत्वे न शोभते । चित्रसामान्य प्रति च रूपत्वेनैव हेतुता । न च नीलमात्रारब्धे अपि तदापत्ति , रूपजचित्रे नीलाभावादिषट्कस्यापि हेतुत्वात् । नन्वनीलपीतोभयकपालारब्धे घटे पाकनाशितावयवपीतस्वचित्रेऽवयवे व्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्तिकाले तदापत्तिः, कार्यसहभावेन तद्धेतुत्वात् । नील-नीलजनकतेजःसयोगाऽन्यतरत्वावच्छिन्नाभावस्य वा तथात्वात् । नीलेतर-पीतेतरत्वादिनैव तद्धेतुतेत्यप्यन्ये । अग्निसयोगजचित्र प्रति च विजातीयतेजःसयोग एव हेतुः, रूपमात्रजाऽतिरिक्त एव वा स हेतुः फलबलेन वैजात्यकल्पनात्, तेन नोभयजे उभयोः कारणत्वकल्पनम् । पाकजचित्रे वा मानाऽभावः, पाकादवयवे नानारूपोत्पत्त्यनतरमेवाऽवयविनि चित्रस्वीकारे लाघवात् । चित्ररूपे रूपत्वेनेव हेतुता, नीलमात्रारब्धे तु प्रागभावाभावादेव न चित्रोत्पत्तिरिति । अस्तु वा चित्र प्रति चित्रेतररूपाभावस्य चित्रेतरत्प्रति च चित्राभावस्य कार्यसहभावेन हेतुताऽतो नाऽतिप्रसगः इति रामभद्रसार्वभौमा ।

केचित्तु नीलेतररूपाऽसमवायिकारणत्व-पीतेतररूपासमवायिकारणत्वादिनेव चित्र प्रति हेतुतेति पाकरूपयोः न पार्थक्येन कारणतेत्याहु । तच्चिन्त्यम् - असमवायिकारणत्वस्याऽननुगतत्वात्, गुरुत्वाच्च । नीलादिक प्रति नीलेतररूपादेः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसबधः स्वासमवायिकारणसमवायिसमवेतत्वमेव । न चेतरत्वस्यापि सम्बन्धमध्ये निवेशाऽनिवेशाभ्या विनिगमनाविरहः नीले-

[१] केवलविन्नेयत्थे सुअनाणेण जिणा पयासेइ । सुअनाणकेवली वि हु तणेवत्थे पयासेइ । केवलविज्ञेयाथान् श्रुतज्ञानेन जिन प्रकाशयति । श्रुतज्ञानकेवल्यपि खलु तनवाथान प्रकाशयति ॥

तररूपत्वादिना स्वाश्रयसमवेतत्वसवन्धेन प्रतिवन्धकतावादिनोऽपि तुल्यत्वात् । जन्यरूपत्वावच्छिन्न प्रति च रूपत्वेनैवाऽसमवायिकारणत्व न तु नीलादो नीलादेः, प्रयोजनाभावात् । न च प्राक्पक्षोक्तदोषाऽनतिवृत्तिः, सवधाननुगमस्यादोपत्वात् । अन्यथा चाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति चक्षुष्ट्वेनाऽपि कारणता न स्यात्, सयोगादिप्रत्यासत्तीनामननुगमात् ।

इत्थ च नानारूपवदवयवारब्धे चित्ररूपसिद्धिर्निरावाधा । चित्र प्रत्यपि प्रागुक्तदिशा नीलेतरपीतेतरत्वादिनैव हेतुताऽतो न कश्चिद्दोप इति तु न्यायवादार्थेऽस्मदेककल्पनाविजृम्भितम् । विजातीय चित्र प्रति रूपविशिष्टरूपत्वेनैव हेतुत्व, वेशिष्ट्य च स्वविजातीयत्व-स्वसवलितत्वोभयसम्बन्धेन । स्ववैजात्य च चित्रत्वातिरिक्त यत्स्ववृत्ति तद्भिन्नधर्मसमवायित्वम्, स्वसवलितत्व च स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायिवृत्तित्वम् । विजातीयचित्र प्रति च विजातीयतेजःसयोगत्वेन हेतुतेत्यपि कश्चित् ।

यत्तु —> नीलपीतोभयाभाव-पीतरक्तोभयाभावादीना स्वसमवायिसमवेतत्वसवधावच्छिन्नप्रतियोगिताकाना समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकाना च विजातीयविजातीयपाकोभयाभावादीना यावत्तावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एकश्चित्रत्वावच्छिन्न प्रति हेतुरिति <— तत्र, प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाऽप्रवेशाभ्या विनिगमनाविरहात् । चित्रत्वावच्छिन्ने रूपत्वेनेव हेतुता, नीलपीतोभयजन्यचित्रत्वाऽवातरजात्यवच्छिन्ने नीलपीतोभयत्वेनैव, त्रितयारब्धे तत्त्रितयत्वेन हेतुता, नीलपीतोभयारब्धचित्रे च नीलपीतान्यतरादीतररूप प्रतिवन्धकमिति न त्रितयारब्धचित्रवति द्वितयारब्धचित्रापत्तिः, गौरव तु प्रामाणिकत्वाददिष्टमित्यन्ये । अत्र नीलतरनीलतमोभयत्वादिना तदुभयजन्यचित्र प्रत्यपि च नीलतरनीलतमान्यतरेतररूपत्वादिना प्रतिवन्धकता तेन न नीलपीतोभयारब्धचित्रवति तदापत्तिरिति वोध्यम् ।

केचित्तु नानारूपवदवयवारब्धो घटो नीरूप एव । न चेवमप्रत्यक्षः स्यात्, द्रव्यतत्समवेतचाक्षुपसाधारण्येन चाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रत्येव स्वाश्रयसमवेतवृत्तित्वसम्बन्धेन रूपस्य कारणत्वात् । अत एव त्रुटिचाक्षुपानुरोधेन परमाणुद्व्यणुकयोरपि सिद्धिरित्याहु । तच्चित्यम् - चित्रकपालिकास्थले तदसम्भवात् । किं च घटाकाशसयोगाद्यचाक्षुपत्वानुरोधाय चाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति स्वाश्रयसमवेतत्वसवधेन रूपाभावस्य प्रतिवन्धकत्वकल्पनमेवोचितम् । स्वावच्छिन्नगुणाधिकरणतावत्प्रत्यक्षसवधेन पर्याप्तिमतः स्वावच्छिन्नाधेयतावद्गुणप्रत्यक्षत्वसवधेन पर्याप्तिमत्त्वावच्छिन्न प्रति हेतुत्वकल्पनेऽप्यव्यासज्यवृत्त्याकाशादिगुणाचाक्षुपत्वोपपत्तये रूपवत्त्वस्य प्रत्त्यासत्तिघटकत्वे गोरवात् । न च चाक्षुपाभावस्यैवास्तु चाक्षुप प्रति प्रतिवन्धकत्व, आश्रयाचाक्षुपत्वेनैव द्व्यणुकाद्यचाक्षुपत्वोपपत्तो महत्त्वस्यापि प्रत्यासत्त्यघटकत्वे लाघवादिति वाच्यम् - त्रुटिचाक्षुपानुरोधेन द्रव्यान्यत्वस्य प्रतिवध्यतावच्छेदककोटौ दाने गोरवात् । लौकिकविपयतावच्छिन्नचाक्षुपाभावापेक्षया समवायसवन्धावच्छिन्नरूपाभावस्य लघुत्वाच्च ।

अथेव रूपाद्युत्पत्तिक्षणेऽपि रूपादेःप्रत्यक्ष कुतो नेति चेत् ? विपयाऽभावादिति गृहाण । रूपनाशक्षणे सयोगादिचाक्षुप तु न, शपथमात्रश्रद्धेयत्वात् । इत्थ च तादृशघटस्य नीरूपत्वे तादृशघटवृत्तिसयोगादिचाक्षुप न स्यात् । एतेन - उद्भूतैकत्वस्यायोग्यव्यावृत्तधर्मविशेपस्य वा द्रव्यचाक्षुपकारणत्वेन रूप विनाऽपि घटादिचाक्षुपत्वोपपादनेन तादृशघटस्य नीरूपत्वसमर्थनप्रत्याख्यातम् । त्रुटावेव विश्रामे वायो. स्पार्शनत्वे च स्पार्शन प्रति स्पार्शनाभावस्य प्रतिवन्धकत्व न तु स्पर्शाभावस्य, त्रुटिसमवेतास्पार्शनानुरोधेन सयुक्तसमवायप्रत्यासत्तिमध्ये प्रकृष्टमहत्त्वस्य घटकत्वे गौरवात् । एव च तादृशघटस्य निःस्पर्शत्वे तु न क्षतिरिति ध्येयम् ।

एकदेशिनस्तु - तत्र अव्याप्यवृत्तीनि नानारूपाण्येव । न चावच्छेदकतया नीलाद्यभावादिसामग्रीवलात्पीताद्यवयवावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिरवच्छेदकतया रूपत्वाद्यवच्छिन्नाभावस्य तथात्वेऽपि नीलपीतावयवारब्धे पीतावयवावच्छेदेन पाके रक्तोत्पत्तिकाले सा, कार्यसहभावेन तदभावात् । अवच्छेदकतया नीलादीक प्रति समवायेन नीलादेः कारणताभ्युपगमाद्वा । नन्वेव घटादावप्यवच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः स्यात्, सामग्रीसत्त्वादिति चेत्, ? अत्र केचित् अवच्छेदकतया नीलादिक प्रति समवायेनाऽवयवनीलत्वादिना द्रव्यविशिष्टनीलत्वादिना वा हेतुत्वमित्याहु ।

अन्ये तु - अवच्छेदकतया तद्वारणाय स्वाश्रयवृत्तिद्रव्यसमवायसवन्धेनाऽवश्यकल्प्यहेतुताकस्य नीलाद्यभावस्यैव तादृशघटादावभावान्नावच्छेदकतया नीलाद्युत्पत्तिः । तद्द्रव्यत्वादिना हेतुत्वे तु मूर्त्तत्वादिना विनिगमनाविरहाद्बहुहेतुहेतुमद्भावाऽऽपत्तेरिति ध्येयम् ।

केचित्तु - केवलनीलकपालादिष्ववच्छेदकतया नीलादिवारणायावयवान्तरवृत्तिनीलेतररूपादेः स्वसमवायिसमवेतद्रव्यसमवायसवधेन हेतुत्वमभ्युपगच्छन्ति । तन्नेत्यन्ये । कपालातरावच्छेदेन पाकाद्रक्तरूपोत्पत्तिकाले कपालातरविद्यमानान्नीलादेरव्याप्यवृत्तिनीलाऽनापत्तेः । रक्तोत्पत्त्यनतरमेव तत्राऽव्याप्यवृत्तिनीलोत्पत्ति स्वीकुर्वन्त्यपरे । नन्वेवमपि नानारूपवत्कपालाद्यारब्धे घटे तत्कपालावच्छेदेन नीलाद्यापत्तिरिति चेत् ? नीलकपालिकावच्छिन्नतदवच्छेदेनेष्टत्वमेव तस्याः ।

यत्तु - अवच्छेदकतया नीलादिक प्रति समवायेन नीलादीना न कारणत्व किन्तु नीलेतररूपादीनामेव प्रतिवन्धकत्वमिति न तत् नीलाद्यवच्छेदक किन्तु नीलकपालिकैव तादृशीति - तत्तुच्छम् - कपालानीलाद्यवच्छेदिकायाः कपालिकाया घटनीलाद्य-

वच्छेदकत्वाऽयोगात् नीलादीनामपि नीलेतररूपादिप्रतिबन्धकताया विनिगमकाभावाच्च । नीलत्वादिना प्रतिबध्यतायां लाघवं तु न पक्षपाति, प्रतिबन्धकतायामपि तत्सम्भवात् ।

'अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलादिकं हेतुः, अवच्छिन्ननीलादिकं प्रति च स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलाद्यभावो हेतुः' इत्यप्याहु । सामानाधिकरण्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकनीलेतराद्यभावस्यावच्छेदकतया नीलादिकं प्रति कारणता इति कश्चित् । अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकार एव च '''मुखे पुच्छे च पाडुर'' इत्यादावव्वच्छेदकत्वार्थिका सप्तमी सगच्छते। न चैव नीलकपालावच्छेदेन सन्निकर्षे पीतादिग्रहापत्तिः । अव्याप्यवृत्तिचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः सन्निकर्षत्वस्य संयोगादिस्थले क्लृप्तत्वादित्याहुः ।

अत्र केचित् - चित्ररूपवादिना नीलादिकं प्रति नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं, नीलाभावादीनां चित्रं प्रति हेतुता च कल्प्या, अव्याप्यवृत्तिरूपवादिनाऽपि अवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति समवायेन नीलेतरादीनां प्रतिबन्धकत्वं, केवलनीलावच्छेदकतया नीलोत्पत्तिवारणाय प्रागुक्तद्रव्यघटितसम्बन्धेन नीलाभावादीनामवच्छेदकतया नीलादिकं प्रति हेतुत्वं च कल्पनीयमिति यद्यपि तुल्यम्, तथापि चित्ररूपवादिमतेऽनन्ताऽव्याप्यवृत्तिरूपतद्ध्वंसप्रागभावाद्यकल्पनलाघवमित्याहुः। तत्राऽव्याप्यवृत्तिरूपवादिमते विनिगमनाविरहेण नीलेतरादिकं प्रति नीलादीनामपि हेतुत्वस्य कल्प्यत्वात् तुल्यत्वोक्तेरनौचित्यात् । अव्याप्यवृत्तिरूपस्वीकारे नीलपीतवत्यग्निसंयोगान्नीलनाशात्तदवच्छेदेन रक्तं न स्यात्, रूपं प्रति रूपस्य प्रतिबन्धकत्वात् इत्यप्याहुः ।

अपरे तु - तत्र व्याप्यवृत्तीन्येव नीलपीतादीन्युत्पद्यन्ते, नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वनीलाभावादिकारणत्वाऽकल्पनया लाघवात् । न च नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीतादेरुपलम्भापत्तिः, पीतावयवाद्यवच्छिन्नचक्षुःसन्निकर्षस्य पीतादिग्राहकत्वकल्पनात् । यत्तत्तत्कपालावच्छिन्नसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेन तत्कपालानवच्छिन्नवृत्तिकत्वे सति यत्तत्पीतान्य तद्भिन्न यदेतद्घटसमवेत तद्व्यक्तितत्कपालविषयकसाक्षात्कारं प्रत्येतत्कपालावच्छेदेनैतद्घटचक्षुःसंयोगस्य हेतुत्वात् न नीलाद्यवयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीतादिचाक्षुषमिति - तन्न, तथापि नीलावयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे एतत्कपालाविषयकतत्साक्षात्कारापत्तेर्दुर्वारत्वात् । ''मुखे पुच्छे च पाडुर'' इत्यादौ तु मुखवृत्तिपांडुरत्वमेव परम्परयाऽवयविनि प्रतीयत इत्याहु ।

तथाऽपि ये नीलपीतरक्ताद्यारब्धघटादौ नीलपीतरक्तेभ्य एव नीलपीतोभयज-रक्तपीतोभयज-तत्त्रितयजचित्राणां चोत्पत्तिः, सर्वेषां सामग्रीसत्त्वात्, अनुभवसिद्धत्वाच्च, तत्र त्रितयजचित्रं व्याप्यवृत्ति, अन्यत्त्वव्याप्यवृत्ति, एकमेव वा तद्रूपमस्तु जातेरव्याप्यवृत्तित्वोपगमेन तु किञ्चिदवच्छेदेन नीलत्वपीतत्वादिकं विलक्षणचित्रत्वादिकं च व्यवह्रियते - इति येऽनुमन्यते तदभिप्रायेणेदम्[१] । स्वग्रं हि ये एकत्र घटे व्याप्यवृत्त्येकं चित्रमव्याप्यवृत्तिचित्रान्तरं चाभ्युपगच्छन्ति तेषामनेकान्तवादाऽनादरो न ज्यायानिति भावः इति सर्वमवदातम् ॥९॥

अथाऽनेकान्तवादप्रामाणिकतां कापिलमतेनाऽपि संवादयति ''इच्छन्नि'' ति -

इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः ।
साङ्ख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥

सत्त्वाद्यैः = सत्त्व-रजस्तमोभिः, 'सत्त्वं लघुप्रकाशकमित्यादिकारिकालक्षितैः, विरुद्धैः गुम्फितं तत्साम्यावस्थात्वमापन्नं प्रधानमङ्गीकुर्वन् साङ्ख्यो यदि अनेकान्तवादं निराकुर्यात् तर्हि कथं न स्वाश्रितरूढशाखाच्छेदनकौशलमासादयेदिति भावः ॥१०॥

अथ लौकायतिकानां व्यवहारदुर्नयावलम्बिनां सकलतान्त्रिकवादानां किं सम्मत्याऽसम्मत्या वा इति तेषामवगणनामेवाऽऽविष्कुर्वते ''विमति'' रिति -

विमतिः सम्मतिर्वापि चार्वाकस्य न मृग्यते ।
परलोकात्ममोक्षेषु यस्य मुह्यति शेमुषी ॥११॥

येषां परलोकात्ममोक्षेष्वेव मोहः तैः सह विचारान्तरविमतिसमती अपर्यालोचितमूलारोपणकप्रसादकल्पनसकल्पकल्पे इति भावः ।

---

१ - अयमत्र सन्दर्भः - एष्टव्या बहवः पुत्राः, यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् । यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥१॥ अत्र वृषविशेषणभूतनीलपदार्थस्यैव परिभाषालाहितो यस्तु वर्णेन, मुखे पुच्छे च पाडुरः । श्वेतः खुर-विषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥२॥ अत्र सप्तम्या अवच्छिन्नत्वार्थ सङ्गतिः ।
२ एतच्छ्लोकव्याख्यारम्भे विद्यमान 'यद्यपी'ति पदमत्रानुसन्धेयम् । ३ 'चित्रमेकमि'त्यादि श्लोकेनाऽनेकान्तसमर्थनम् । ४ ''सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरुवरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥ (साङ्ख्यकारिका) त्रिविद्व्याख्या-कार्योद्गमने हेतुः धर्मो लाघवम्, गौरवं प्रतिद्वन्द्वि, यथाग्नेः ऊर्ध्वं ज्वलनम्, कस्यचित्तिर्यग्गमनेऽपि हेतुर्यथा वायोः । एवं करणानां वृत्तिपटुत्वहेतुर्लाघवम् । सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये रजसोपष्टभ्येते = स्वकार्ये उत्साहः = प्रयत्नं कार्येते । वरणकं = आवरकम्, आच्छादकमिति यावत् । प्रदीपवच्चेति - यथा वर्त्तितैले अनलविरोधिनी, अथ मिलित्वे महानलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुत एवं सत्त्वादीन्यपि मिथो विरुद्धान्यपि अनुवर्त्स्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च । अर्थतः = पुरुषार्थतः ॥ इति ।

(चार्वाकमतपूर्वपक्षः)

ते हीत्थं ब्रुवते - न खलु निखिलेऽपि संसारे भूतचतुष्टयाऽतिरिक्तं किमप्यात्मादि वस्तु विद्यते, अनुपलब्धेः । किन्तु कायाकारपरिणतं भूतचतुष्टयमेव चैतन्यमाविभर्त्ति । न च प्रत्येकमचेतनानां समुदायेऽपि कथं चैतन्यमिति वाच्यं, मदव्यक्तिवदुपपत्तेः । नव्यचार्वाकास्तु - अवच्छेदकतया ज्ञानादिकं प्रति तादात्म्येन कल्प्यकारणताकस्य शरीरस्यैव समवायेन ज्ञानादिकं प्रति हेतुत्वकल्पनमुचितम् । न चैवं आत्मत्वं जातिर्न स्यात् पृथिवीत्वादिना सांकर्यात् इति वाच्यम्, उपाधिसांकर्यस्येव जातिसांकर्यस्याप्यदोषत्वात् । न चैवं परात्मन इव तत्समवेतज्ञानादीनामपि चाक्षुषस्पार्शने स्यातामिति वाच्यम्, रूपादिषु जातिविशेषमभ्युपगम्य रूपान्यतद्वत्त्वेन चाक्षुषं प्रति स्पर्शान्यतद्वत्त्वेन च स्पार्शनं प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । इत्थमेव रसादीनामचाक्षुषास्पार्शनत्वनिर्वाहात् । अथैवं स्वज्ञानादेरपि प्रत्यक्षं कथमिति चेत् ? मनसैवेत्यवेहि । मनःसिद्धावेव किं मानमिति चेत् ? अनुमानमेव । न चानुमानोपगमेऽपसिद्धान्तः, अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वाभ्युपगमात् । आत्मनः शरीरानतिरेके संयोगस्य पृथक् प्रत्यासत्तित्त्वाऽकल्पनेन लाघवमपि ।

अथ द्व्यणुक - परमाणुरूपाद्यप्रत्यक्षाय चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायत्वादिना प्रत्यासत्तित्वे त्रुटिग्रहार्थं संयोगस्य प्रत्यासत्तित्वमावश्यकमेवेति चेत् ? न, द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षे महत्त्वस्य समवायसामानाधिकरण्याभ्यां पृथग् नियामकत्वात् ।

ननु मम शरीरमित्यादिप्रतीत्यात्मनोऽतिरेकः सेत्स्यतीति चेत् ? न; उक्तलाघवबलेनेदृशप्रतीतेर्भ्रमत्वकल्पनात्, श्यामोऽहं, गौरोऽहं, इत्यादिसामानाधिकरण्यानुभवाच्च । ननु तथापि भूतचतुष्कप्रकृतित्वेन शरीरस्य पृथिव्यादिभिन्नत्वात्पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञासंन्यास इति चेत् ? न स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेन गंधाभावस्य गन्धं प्रति प्रतिबन्धकत्वेन तस्य भूतचतुष्कप्रकृतित्वाऽयोगात्, पार्थिवादिशरीरे जलादिधर्मस्येवौपाधिकत्वादिति दिग् । इत्थं च शरीराद्यतिरिक्तस्यात्मन एवासिद्धौ कस्य नाम परलोकः कस्य वा मोक्ष इत्याहु ॥

(चार्वाकमतनिरसनं उत्तरपक्षः)

तेऽतिपापीयासः सर्वापलापित्वात् । तत्र यत्तावदुक्तं - भूतचतुष्टयातिरिक्तमात्मादि वस्तु नास्त्येवानुपलब्धेरिति तत्र केयमनुपलब्धिः ? स्वभावानुपलब्धिर्वा (१), व्यापकानुपलब्धिर्वा (२), कार्यानुपलब्धिर्वा (३), कारणानुपलब्धिर्वा (४), पूर्वचरानुपलब्धिर्वा (५), उत्तरचरानुपलब्धिर्वा (६), सहचरानुपलब्धिर्वा (७) ? तत्र न तावदाद्या, यतः स्वभावानुपलब्धिर्हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलंभो, भवति चेतादृशो मुण्डभूतले घटादेरनुपलम्भो न तु पिशाचादेः, तस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाऽभावात् । न च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातं, आरोप्ये तद्रूपनिषेधात् । न चादृश्यस्यापि दृश्यतयाऽऽरोप्य प्रतिषेधो युक्तः, आरोपयोग्यस्यैवाऽऽरोपसंभवात् । उपलंभकारणसाकल्ये सति हि यदुपलभ्यते स एव दोषवशात् क्वचित्कदाचिदारोप्यते, तादृशस्तु घटादिरेव न तु पिशाचादिः । एकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादौ घटादेः प्रागनुभूयमानत्वात्, पिशाचादेरतथात्वादिति स्पष्टं स्याद्वादरत्नाकरे ।

अथैवं स्तंभे पिशाचानुपलब्धिः कथं ? तत्रैकज्ञानसंसर्गितया पिशाचस्य पूर्वमननुभूतत्वेनाऽनारोप्यत्वात् इति चेत् ? न, योग्यसहकारिसंपन्नत्वपर्यन्तस्य विवक्षणादत्राऽधिकरणयोग्यताया एव नियामकत्वादिति दिग् । इत्थं चात्मनि चक्षुरादिना स्वभावाऽनुपलब्धिर्नास्त्येवाऽऽत्मनश्चक्षुराद्ययोग्यत्वात् । मनसा तूपलब्धिरेवास्ति वाढं, अहं सुखीत्याद्यनुभवस्य सार्वज-नीनत्वात् (१) ।

न द्वितीयतृतीये, व्यापककार्यज्ञानाद्युपलंभादेव । कारणाद्यनुपलंभस्तु कार्यपूर्वोत्तरनिषेधकत्वादात्मनश्चानीदृशत्वात् न बाधकः (२-३-४-५-६) । सहचरानुपलब्धिरपि नास्ति आत्मसहचराणां चेष्टादीनां वाढमुपलंभादेव । किं च परस्परसांकर्यस्याऽन्योन्याभावाऽनभ्युपगमे दुःपरिहरत्वाद्भूतचतुष्टयमपि लोकायतिकेन कथंकारमुपपादनीयम् ? यदपि मदव्यक्तिवच्छरीरे ज्ञानोत्पादाभिधानं तदपि तुच्छं, प्रत्येकमपि क्रमुकादिष्वस्माभिर्मदशक्तेः स्वीकारात्, त्वया पुनरनुमानापलापिना प्रत्येकं भूतेषु ज्ञानशक्तेः स्वीकर्त्तुमशक्यत्वात् ।

यदपि नव्य-चार्वाकमतानुयायिभिरूचे-अवच्छेदकतयेत्यादिना, तत्तु-नैयायिकैरेव पराकृतम् । तथाहि-ज्ञानादेः प्रत्यक्षं तावत् सार्वजनीनं, तत्तु न चाक्षुषादिकं, चक्षुराद्यव्यापारेऽपि जायमानत्वात् । न च मानसमेव, मनसोऽनुमानापलापेऽभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् । अथ परामर्शजन्यज्ञानाभ्युपगमेऽपि तत्रानुमितित्वे मानाऽभावात् सर्वप्रमायाः प्रत्यक्षरूपत्वान्न प्रमाभेदाधीनः प्रमाणभेदः इति एतावदेवाभिमतमिति चेत् ? न, 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' एतादृशनिश्चयस्यैतदुत्तरदहनानुमितित्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वेन धर्मविशेषसिद्धौ धर्मिविशेषसिद्धेः । न चैतदुत्तरज्ञानत्वमेव तज्जन्यतावच्छेदकं, अप्रामाण्यज्ञानशून्यतादृशनिश्चयं विनापि तदवच्छिन्नसंदेहसंभवेन व्यभिचारात् । विशिष्टाऽव्यवहितोत्तरत्वदाने च गौरवात् ।

यत्त्वप्रामाण्यज्ञानाभावस्य पृथक्कारणत्वान्नाय दोष इति तन्न, तत्तद्व्यक्तित्वेनाप्रामाण्यग्रहाभावाना तत्तदप्रामाण्यग्रहाभाव-विशिष्टधूमादिलिङ्गकानुमिति प्रति हेतुत्वकल्पनापेक्षया सामानाधिकरण्यविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाप्रामाण्यग्रहा-भावानामवच्छेदकत्वकल्पनौचित्यात् ।

यत्तु 'वह्निमनुमिनोमी'त्यनुव्यवसायेनानुमितित्वसिद्धिरिति, तन्न, तत्र विधेयताविशेषस्यैव विषयत्वात् । अन्यथा पर्वतमनु-मिनोमीत्यपि स्यात् । परामर्शजन्यतावच्छेदकतायामपि स एव प्रवेश्यतामिति चेत् ? न, तदीयस्वरूपापेक्षयाऽनुमितित्वीयसम्बन्धस्य समवायरूपस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवात् ।

ननु तथापि अनुमितित्वस्य मानसत्वव्याप्यत्वमेवेति प्रागङ्गीकृतम् । न चानुमितेः साक्षात्कारत्वे 'वह्निं न साक्षात्करो-मी'ति प्रतीतिः कथमिति वाच्य, तत्र लौकिकविषयतया साक्षात्काराभावादेव गुरुत्वादाविव तदुपपत्तेः । अत एव लौकिक-विषयतावत्येव साक्षात्करोमीति प्रतीत्युत्पत्तेः 'पीत शङ्ख साक्षात्करोमी'त्यादिप्रतीतिबलाद्दोषविशेषजन्यतयापि लौकिकविषयता कल्पयन्ति ग्रान्थिकाः । युक्त चैतत्-चाक्षुषादिसामग्रीसत्त्वे मानसत्वव्यापकधर्मावच्छिन्नसामग्र्यभावादेवानुमित्यनुदयोत्पत्तौ अनुमितित्वादेस्तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वाऽकल्पनेन लाघवात् ।

अथानुमित्सायुत्तेजकभेदेन विभिन्नरूपेण प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव आवश्यक इति चेत् ? न, तत्तदिच्छानन्तरोपजायमान-भिन्नमानसे जातिविशेष स्वीकृत्य तदवच्छिन्न प्रति मानसान्यसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनादनुमितित्वादेर्मानसवृत्तित्वकल्पनौ-चित्यात् । अथ तत्तदिच्छाविरहकाले तत्तदिच्छानन्तरोपजायमानमानसापत्तिरिति चेत् ? न, तादृशमानस प्रति तत्तदिच्छाना हेतुत्वात् । न चैव गौरव, फलमुखत्वात् ।

अथ सुस्मूर्षानन्तरोपजायमानभिन्नज्ञाने जातिविशेष स्वीकृत्य तदवच्छेदेन चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वेऽनुमितित्वादेः परोक्षवृत्तित्वमेवाऽस्तु इति चेत् ? न, तदवच्छेदेन स्मृत्यन्यज्ञानसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वात् तज्जातिविशेषस्य स्मृतित्वव्याप्यस्यैव युक्तत्वात् । तज्जातिवदन्यज्ञानसामग्रीत्वादिना प्रतिबन्धकत्वेऽपि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानजन्यतावच्छेदकतया सिद्धस्य प्रत्यक्षस्यैवानुमितौ युक्तत्वात् इति चेत् ?

अत्र वदन्ति-तदानी वह्निमानसस्वीकारे लिङ्गादीनामपि मानसाऽऽपत्तिः । न चाऽऽचार्यमत इव[*] तत्र तज्ज्ञानमात्रे इष्टापत्तिः एवमप्युच्छृङ्खलोपस्थितानां घटादीनां तत्र भानाऽऽपत्तेः । न च तद्धर्मिकतत्ससर्गकतत्तद्धर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ताज्ञानात्मकपरामर्शादि-रूपविशेषसामग्रीविरहात् न तदापत्तिरिति वाच्य, सामान्य-सामग्रीवशात्तदापत्तेः । न च घटमानसत्वस्य परामर्शादिप्रतिबध्यता-वच्छेदकतया न तदापत्तिः, घटमानसत्वादेरप्युच्छृङ्खलोपस्थितघटादिभानवारणाय तत्प्रतिबध्यावच्छेदकत्वेऽनन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धक-भावकल्पनाऽऽपत्तेः ।

अथ भोगपरामर्शजन्यभिन्नज्ञाने जातिविशेष स्वीकृत्य तदवच्छिन्नमानस प्रति तज्जातीयान्यज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वान्न तदानी वह्नीतरज्ञानाऽऽपत्तिरिति चेत् ? न, मानसत्वस्यैव तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वौचित्यात् । न चैव अनुमितिसामग्रीसत्या भोगोऽपि कथ भवेदिति वाच्य, भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया समानीतजातिविशेषवता सुखदुःखानामुत्तेजकत्वात् । न च तादृशसुखदुःखकालेऽप्यनुमितिसामग्रीभूतपरामर्शादौ समवायेन तदभावादनुमित्यापत्तिः, सामानाधिकरण्य-कालिकोभयसम्बन्धा-वच्छिन्नतदभावस्य निवेशात् ।

अत्रेद चिन्त्यम् - अनुमितिसामग्र्या मानस प्रति प्रतिबन्धकत्वस्य तत्तदिच्छारूपोत्तेजकभेदेन विशिष्य विश्रान्त्यानुमितेर्मान-सत्व एव वह्न्यादिधर्मिकमानस प्रत्यप्रतिबन्धकत्वकल्पनया लाघवम्, तत्तदिच्छोपजायमानभिन्ने प्रतिबध्यतावच्छेदकजातिस्वीका-रस्तु परामर्शजन्यभिन्नेऽपि स्वीकर्तु शक्यते इति न वह्न्याद्यनुमितिसामग्रीकाले उच्छृङ्खलोपस्थितघटादिभानवारणाय मानसत्वस्य तत्तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनौचित्येनानुमितेरप्रत्यक्षत्वाभिधान युक्तमिति ।

प्राञ्चस्तु - उपनीतभानस्थले विशेषणज्ञानविशिष्टबुद्ध्योः कार्यकारणभावेनैवास्माक चरितार्थता । अनुमितेर्मानसत्वव्याप्य-तावादे तु पक्षादेर्मुख्यविशेष्यतयैव भानान्नानेन गतार्थता, इत्यतिरिक्तकार्यकारणभावकल्पने गौरवमित्याहुरिति दिग् ।

सिध्यतु वा यथाकथचित् मनः अनुमानेन, तथापि यत्सयोगव्यतिरेकात् सुषुप्तिकाले कार्यानुत्पादस्तस्यैव मनस्त्वात्तस्य च भौतिकाणुत्वे पृथिवीत्वजलत्वादौ विनिगमनाविरहात्, नव्यनये पृथिव्यादेरपि रूपवत्त्वाभावेन वायुत्वेऽपि विनिगमनाविरहादति-रिक्तसिद्ध्या भूतचतुष्टयमात्रस्य पदार्थत्वप्रतिज्ञासन्यासात् । न चात्मनः शरीरानतिरेके सयोगादेः पृथक् प्रत्यासत्तित्वाकल्पन-लाघवमपि, परमाणौ पृथिवीत्वादिग्रहवारणाय महत्त्वोद्भूतरूपयोः प्रत्यासत्तिमध्येऽवश्य निवेश्यत्वेन त्रुटिग्रहार्थ तत्स्वीकारात्, इत्यन्यत्र विस्तरः ।

[*] - उदयनाचार्यमत इव ।

किंच शरीरस्यात्मत्वेऽहमात्मेतिवदहं शरीरमिति प्रत्ययोऽपि प्रमा स्यात्, न स्याच्चाहमात्मवानितिवदहं शरीरवानित्यपि। अपि च [1]-एगे आया इत्याद्यागमोऽप्यात्मानमुद्योतयतीति । स चायं ''चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चेति'' [2]सूत्रम् । इत्थश्चात्मनः सिद्धौ तत्सिद्ध्यधीनौ परलोकमोक्षावपि सिद्धावेव । ननु मोक्षश्चेदशेषविशेषगुणोच्छेदरूपस्तर्हि तत्र कस्यापि प्रवृत्तिर्न स्यात्, विशेषगुणोच्छेदत्वस्याऽनिष्टतावच्छेदकत्वात् । अथ दुःखध्वसत्वमेव काम्यतावच्छेदकमिति चेत् ? न, समनियताभावानामैकत्वेन तदानीतनसुखदुःखध्वंसयोरैक्याद्दुःखध्वंसे सुखध्वंसत्वरूपाऽनिष्टतावच्छेदकज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात् । अथ नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिरूपः स इति चेत् ? न, तादृशसुखे मानाभावादिति चेत् ? अत्राहुः - 'कृत्स्नकर्मक्षय एव मोक्षः' । स च सूक्ष्मर्जुसूत्रनयाऽर्पणया नित्यसुखाभिव्यक्तिक्षणस्वरूपो, व्यवहारनयार्पणया नित्यसुखस्वरूपः, प्रमाणार्पणया तु द्रव्यपर्यायोभयस्वरूप इति दिग् । काम्यतावच्छेदकं तु विजातीयसुखत्वमेव । न च नित्यसुखे प्रमाणाभावः, आगमस्यैव मानत्वात् । न च सुखत्वावच्छेदेन शरीरादीनां कारणत्वात्तादृशं सुखं कथमिति वाच्यं, एवं सति परेषामीश्वरादौ नित्यज्ञानादिकमपि न सिध्येत्, ज्ञानत्वाद्यवच्छेदेनात्ममनोयोगादीनां कारणत्वावधारणात् । प्रमाणान्तरान्नित्यज्ञानादिसिद्धौ कार्यतावच्छेदकसंकोचस्त्वन्यत्रापि तुल्य इति दिग् ।

मीमांसकास्तु प्रायशोऽनेकान्तवादात्स्वयमेव न पराङ्मुखा इति न तेषां पृथक् समत्यनुक्त्या न्यूनत्वमिति ध्येयम् ॥११॥

इत्थमनेकान्तवादं परेषामपि समत्या प्रमाणयित्वा संप्रति वस्तुस्वरूपमाहुः ''तेनेति'' -

तेनोत्पादव्ययस्थेमसंभिन्नं गोरसादिवत् ।
त्वदुपज्ञं कृतधियः प्रपन्ना वस्तु वस्तुसत् ॥१२॥

तेन प्रागुक्तयुक्त्या परेषामपि समत्या च कृतधियः = सत्परीक्षादक्षाः त्वदुपज्ञं = त्वदंगीकृतमेव वस्तुसत् = पारमार्थिकं वस्तु प्रपन्ना = अंगीकृतवन्तः । कीदृशं वस्तु ? उत्पादव्ययध्रौव्यसंभिन्नमेतत्त्रितयस्वभावमित्यर्थः । अयं भावः - द्रव्यस्योत्पादोच्छेदध्रौव्यै-क्यपरिणामः स्वभावस्तथा च पारमर्षं - ''उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ व'' त्ति यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशास्तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनेकस्या अपि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्त्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः । यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबंधनः प्रवाहक्रमोऽपि । यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चोत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं बिभ्रति तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयाऽनुत्पन्नप्रलीनत्वाच्चोत्पत्तिव्ययध्रौव्यत्रितयात्मकमात्मानं बिभ्रति । यथैव च य एव पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतया तदुभयात्मक इति तथेवात्रापि य एव पूर्वपरिणामोच्छेदनात्मको वृत्तिसीमान्तः, स एव तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवृत्तितया तदुभयात्मक इति । दृष्टान्तोऽत्र मुक्तादाम । यथा दीर्घे लम्बे मुक्तादामनि सर्वेष्वपि स्वधामसूत्रकसत्सु मुक्ताफलेषु उत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात् पूर्वेषां पूर्वेषां चानुदयनात् सर्वत्राऽपि परस्परानुस्यूतिसूत्रकसूत्रस्यावस्थानाच्च त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धं तथात्रापि ध्येयमिति ।

अत्र निश्चयतः प्रदेशादीनामुत्पत्तिनाशसंभवेऽपि व्यवहारतः परिणामानामेव तौ । यदवच्छेदेन च ध्रौव्यं तदवच्छेदेन तु नोत्पत्तिनाशौ, अन्यथा संकरापत्तेः । उत्पादव्यययोः द्रव्यत्वं तु स्वावलंबितपर्यायालंबनत्वाद्बोध्यम् । उत्पाद-स्थिति-भंगाश्च न परस्परं सर्वथा भिन्नाः कुंभसर्ग-मृत्पिण्डसंहार-मृत्तिकास्थितीनामैक्येनेवानुभवनात् । द्रव्यस्य स्थितिकाल एव च पर्यायाणामुत्पत्तिनाशसंभवान्न क्षणभेदोऽपीति परमसमयामृतास्वादोद्गारः । इत्थं च सर्वेषां द्रव्याणामेकस्वभावत्वेऽप्ययं कश्चिद्विशेषो यदिह पुद्गलजीवद्रव्य एव परपरिणामाद्वैचित्र्यमनुभवतः । भवन्ति हि यथा परमाणवः स्निग्धरुक्षत्वादिविशेषेण परस्परमेकीभवंतो द्व्यणुकत्र्यणुकादिसमानजातीयद्रव्यपर्यायभाजो रागद्वेषादिप्रवृत्तिपारतन्त्र्येणात्मानश्चासमानजातीयद्रव्यपर्यायभाज इति न ह्येवमाकाशादय इति दिग् ।

नन्वेकस्मिन् समये विरुद्धोत्पत्त्यादिधर्मसमावेशः कथमित्याशंकायां दृष्टान्तमाहुः गोरसादिवदिति । यथाहि गोरसे स्थायिनि पूर्वदुग्धपरिणामविनाशोत्तरदधिपरिणामोत्पादो प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वान्न विरुद्धो, तदुक्तं ''[3]पयोव्रती न दध्यत्ती''त्यादि, तथेहापि द्रव्ये सर्वदा स्थायिनि पूर्वपरिणामोच्छेदोत्तरपरिणामोत्पादो प्रतीतिबलादेव न विरुद्धाविति भाव इति श्रेयः श्रीः ॥१२॥

(अथ ग्रन्थकारप्रशस्त्यादि) - स्याद्वादोपनिषन्निषण्णविलसद्युक्तिप्रचारेऽपि या, व्युत्पत्त्यै दधिरेऽत्र काश्चन महन्नैयायिक-

१ स्थानांगसूत्र प्रथमम् । २ प्रमाणनयतत्त्वालोक - परि० (७) सू० (५६) । ३ पयोव्रती न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ शास्त्रवार्तासमुच्चये स्त० ७ श्लो० ३।

प्रक्रियाः । किं चित्रं भुवि चातुरीपरिचितप्रेमामृतास्वादिना, तत्रास्मद्गुरवो नयादिविजयप्राज्ञाः प्रसन्ना यदि ॥१॥ सोऽय श्रीतपगच्छमटनमभूत् श्रीहीरसूरीश्वरो, रभागीतजगद्गुरुत्वविरुदप्रद्योतमानोदयः । यस्य श्रीमदकब्बरप्रतिहतप्रत्यर्थिगीमतिनी नेत्रास्रैर्मलीनीकृतामपि मही कीर्त्तिः सितामातनोत् ॥२॥ सूरिश्रीविजयादिसेनसुगुरुस्तेजस्विनामग्रणीस्तत्पट्टोदयपर्वते स्म नितमा पुष्णाति पूष्णः प्रभाम् । अशायातदिगीशवृदमहसो दिल्लीपत्तेः पर्षदि धाम्ना येन न के कुवादिनिवहा ध्यान्तप्रबन्धा इव ॥३॥ सूरिः श्रीविजयादिदेवसुगुरुः प्रद्योतते साप्रत, तत्पट्टैकविभूषणं मुनिजनस्तुत्यक्रमाभोरुहः । गायुज्य भजतोऽनुमेयममति भाल्ने शीतयुता, य सेवत्यलमष्टमी प्रतिदिन तादृक् तपोदर्शनात् ॥४॥ भाति श्रीविजयादिसिंहसुगुरुर्नाम्ना समानीजमा, तत्पट्टाभरणी-भविष्णुरनिश योगीन्द्रहृत्पञ्जरे । विध्याद्रौ क्षिपता कुकीर्त्तिनिवहे तस्मात्गुरु सगता, चञ्चच्चल्कर्णतालरचनादिकुंजराः कातरा ॥५॥ न्यायालकृतिकाव्यनाटकमहच्छदःककुबेलगीर्जैनग्रथपिचर्टिला स्फिल मर्तियपा जजृम्भतराम् । श्रीमद्वाचकपुगवा ममभवन् श्रीहीरसूरीशितु श्रीकल्याणविराजमानविजया' शिष्याः जयश्रीभृतः ॥६॥ श्रीहेमसूरिनलिना दधतः शब्दानुशासनोग्रधिया । श्रीलाभविजयविबुधास्तेषा शिष्योत्तमाः शुशुभुः ॥७॥ अभवन् तेषा शिष्या विबुधाः श्रीजीतविजयनामानः । राजन्ति तत्स-तीर्थ्याः श्रीनयविजयाभिधाः विबुधाः ॥८॥ स्याद्वादरहस्यमिद व्यधायि तत्पादपद्मभृगेण । जसविजयाऽभिधगणिना शिष्येण नवीनतर्कधिया ॥९॥

(लघु)श्रीस्याद्वादरहस्यग्रथ' सपूर्णः । सवत् १७०१ जसविजयेनातरपल्या कृत इति श्रेयः ।

अतरपल्या प्रकरणमेनमनुस्मृत्य तर्कशास्त्राणि । अध्यात्ममतपरीक्षादीन्यदसौ यतिर्व्यतनोत् ॥१॥ श्री । स्वैरमिदमुपादातु कृतत्वरा एव सज्जना जगति । परहितमात्रैकफला गुणगृह्याना यतो वृत्तिः ॥२॥श्री॥

(सपूर्णः)

